आयुर्वेदाचार्य

कविराज मदनमोहन चोपड़ा

वैद्य शास्त्री

|| श्रीः ||

विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला

३

|| श्रीः ||

द्रव्य गुण विज्ञान

(द्वितीय-तृतीय भाग)

लेखकः-

प्रियव्रत शर्मा

एम. ए. (द्वितय); ए. एम. एस.

आयुर्वेदाचार्य, साहित्याचार्य

प्राध्यापक, आयुर्वेदिक कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

प्राक्कथनलेखकः-

डॉ० प्राणजीवन माणेकचन्द मेहता

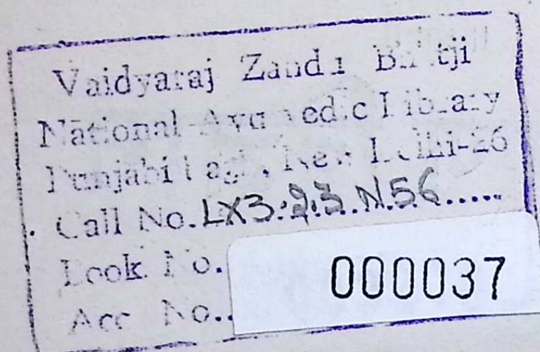
एम. डी., एम. एस., एफ. सी. पी. एस., एफ. आई. सी. एस.

चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस-१

[मूल्य १२॥)

ई० सन् १९५६]

प्रकाशक—
चौखम्बा विद्या भवन
चौक, बनारस-१



The Chowkhamba Vidya Bhawan
Chowk, Banaras.
(INDIA)
1956

मुद्रक—
विद्याविलास प्रेस
बनारस

Foreword

It is really a blissful augury that scholar-vaidyas of India have become conscious of the new era of Ayurvedic education that has set in.

They are concentrating all their intellect and industry to compose the encyclopedic treatise-form literature into a subject-wise simplified text books to suit the present mode of education.

It needs a great industry and perseverance to collect all the related materials scattered in various original books, their commentaries and compendiums, epitomes and abstracts, synopsis and summaries and digests or abridged compilation written during the last two thousand years.

Ayurveda, though not very progressive during the dependent period of India, had produced scholars here and there who have kept up the torch of Ayurveda knowledge burning and bright.

To this collection, one has often to add, useful knowledge that modern science has gained in the common and related branches of the medical science. Thus it becomes not only a laborious task but needs direct acquaintance with all these literatures as the system of introducing a detailed Bibliography has not still come in vogue in Ayurvedic literature.

After the huge collection of varied materials, it needs a mathematical or Sankhya instinct to find the lowest common measure and classify them in definite catagories so that they may be fully informative, instructive and easy to grasp.

Pandit Priya Vrata Sharma luckily possesses both the above qualifications and hence his books are very useful and helpful to the teacher as well as to the taught.

There is passionate controversies going on regarding the mode, method, manner and material of Ayurvedic education since long. Until the fundamental defect or deficiency of supplying the scholarly teachers and standard text-books in these educational institutions is removed, one cannot expect to cut this Gordian knot of Ayurvedic education.

Man is the only clever living being that knows how to adapt to the changing environment of time and space. That genius of him has given to him the supreme position in the world and enabled him to make progress and utilize all the new achievement of science in the interest of himself and humanity.

During the oral era of Education (Vedic period), the man compiled sutra-styled encyclopedic treatises mostly in simple, rhythmic poetry. Oral transmission was the only method for education at that period and this style being convenient to memorize was accepted.

During the manuscript era, the man tried to dilate or abridge, comment or criticize, expound or extract, as writing has been of some help to spread the knowledge and relieve the extra-ordinary burden of memorizing the totality of knowledge.

With the advent of printing process, the man gets a powerful means of expression of his thoughts, ideas and experiences to his full satisfaction. He becomes relieved of memorizing strain, and science has so enabled him today that he can print not only the word but record its sound rhythm, style and even passion with which it is uttered.

With these progressive achievement in the sphere of verbal knowledge on one side and in the change of concept of generalization and all-round distribution of medical knowledge on the other side, it is but natural that there will arise a need for simplifying modification in the writing of medical literature so that people of various grade of intelligence may have full benefit of this knowledge.

A glance in the history of Ayurveda confirms this process of modulation of compilation of medical knowledge to suit the existing circumstances. Medical knowledge began with scattered references in the Vedas. Then there was compiled Ayurvedic Samhita as a comprehensive treatise on the science of life. It is said to be a systematised compilation divided in 1000 chapters. Each chapter containing 100 verses, thus making one hundred thousand verses in all.

इह खल्वायुर्वेदो नामोपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः
श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान्स्वयंभूः ।

'This science known as Ayurveda is a branch of Atharvaveda. The self-created Brahma before creating men, first formulated this science of life consisting of a hundred thousand verses and a thousand chapters.

Then came the creation of scientific encyclopedic treatise divided in eight branches viz. Charaka Samhita and Sushruta Samhita. This was the creator's Age. Vagbhat later on compiled a concise book taking the fundamentals of the above two books, adding the new knowledge and making the book to suit the time (युगानुरूप) and be the cream of knowledge of the disease and drugs of the whole universe (विश्वव्याध्यौषधिज्ञानसारः). This was the transmuter's Age.

Then the separate books on various branches of medicine were compiled viz. Madhav-Nidan, Sharangadhar-Samhita; and the last encyclopedic book Bhav-Prakash was published in the sixteenth century. This was the transmitter's Age.

Vagbhat, Madhav, Sharangdhar, Bhavmisra and all other authors of these periods adopt the method of collecting all the existing literature, extracting the useful parts and compiling them in a simple classified form.

Then came a stagnant period for some time and with the awakening of the renaissance, activities are revived with full enthusiastic spirit.

It is a happy experience for us to note that we are passing through a period when a number of scholars in various parts of Bharat are directing all their energy, enthusiasm and industry to help the progress of Renaissance. Pandit Priya Vrata Sharma thus adds his valuable share in this scholastic endeavour to fulfill the urgent and essential need of text-books-a fundamental step in the revival of Ayurveda.

Jamnagar
Jamnagar
7-5-56

P. M. Mehta.

प्राक्कथन

आयुर्वेदीय शिक्षण के नवयुग के प्रति भारत के विद्वान् वैद्य जागरुक हुये हैं, यह वस्तुतः एक शुभ लक्षण है। वे अपनी समस्त बुद्धि और उद्योग को संहितात्मक साहित्य से विषयप्रधान सरल पाठ्यगन्थों के निर्माण में केन्द्रित कर रहे हैं जो वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के अनुरूप हो। विगत दो सहस्राब्दियों में निर्मित मौलिक ग्रन्थों टीका-टिप्पणियों तथा सारसङ्कलनों में विकीर्ण सम्बद्ध विषयों का संग्रह करना महान् उद्योग और धैर्य का कार्य है। भारत के दासत्व-काल में आयुर्वेद यद्यपि बहुत प्रगतिशील नहीं था तथापि उसने यत्र-तत्र अनेक ऐसे विद्वानों को जन्म दिया जिन्होंने आयुर्वेदीय ज्ञान के प्रकाशपुञ्ज को निरन्तर प्रज्वलित रक्खा। उपर्युक्त संग्रह-ग्रन्थों में आधुनिक विज्ञान के सामान्य तथा संबद्ध विशिष्ट उपयोगी ज्ञान का समावेश प्रायः करना पड़ता है। इस प्रकार यह कार्य न केवल पर्याप्त परिश्रम की अपेक्षा रखता है प्रत्युत उन सभी संबद्ध विषयों का साक्षात् परिचय भी आवश्यक होता है क्योंकि आयुर्वेदीय साहित्य में विस्तृत ग्रन्थविवरण की प्रथा अभी तक प्रचलित नहीं हुई है। विविध सामग्रियों के बृहत् संकलन के अनन्तर, गणित या सांख्य की बुद्धि से उनमें सामान्य का निर्धारण करना पड़ता है और उस आधार पर उन्हें विभिन्न वर्गों में श्रेणीबद्ध किया जाता है जिससे वे पूर्ण ज्ञानप्रद तथा साथ-साथ सुखबोध भी हों।

सौभाग्य से पण्डित प्रियव्रत शर्मा में उपर्युक्त दोनों गुण हैं, अत एव इनके ग्रन्थ अध्यापकों तथा छात्रों के लिए अतीव उपयोगी तथा सहायक हैं।

आयुर्वेदीय शिक्षण की पद्धति, विधि, प्रकार तथा सामग्री के सम्बन्ध में चिरकाल से तीव्र मतभेद चला आ रहा है। जब तक इन शिक्षण-संस्थाओं में विद्वान् अध्यापकों तथा उच्चकोटि के पाठ्यग्रन्थों की कमी को दूर नहीं किया जाता तब तक आयुर्वेदीय शिक्षण की इस जटिल ग्रन्थि का विच्छेद होना संभव नहीं है।

मनुष्य ही एक ऐसा चतुर प्राणी है जो काल और दिक् के परिवर्त्तनशील वातावरण के अनुरूप अपने को बनाना जानता है। उसकी इस प्रतिभा ने विश्व में उसे सर्वोच्च पद प्रदान किया है तथा उसे इस योग्य बनाया है कि वह प्रगति कर सके तथा विज्ञान की नवीन देनों का उपयोग अपने तथा मानवता के हित में कर सके।

शिक्षा के मौखिक युग (वैदिक काल) में, मानव ने सूत्रात्मक पद्धति से विश्वविषयात्मक संहिताओं का सरल छन्दोबद्ध भाषा में निर्माण किया। उस काल में मौखिक सञ्चरण ही शिक्षण की एकमात्र विधि थी और यह शैली स्मरण के लिए सुविधाजनक होने से सर्वतः स्वीकृत हुई।

हस्तलिखित युग में मानव ने उपलब्ध साहित्य को संक्षेप-विस्तार, टीका-टिप्पणी तथा सार-संकलन के द्वारा रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया क्योंकि उस समय लेखन-कला ज्ञान के प्रसार में कुछ सहयोग देने के लिए खड़ी थी और उससे समस्त ज्ञान को स्मृतिबद्ध रखने के असाधारण बोझ से भी मुक्ति मिली।

मुद्रण-कला के आविर्भाव से मनुष्य ने अपने विचारों, भावों तथा अनुभूतियों को पूर्णतः सन्तोषजनक रूप में अभिव्यक्त करने का एक शक्तिशाली साधन प्राप्त किया। वह स्मृति के श्रम से मुक्त हुआ तथा विज्ञान ने आज उसे ऐसा समर्थ बनाया है कि वह न केवल शब्दों को मुद्रित कर सकता है प्रत्युत शब्द-क्रम, वाक्शैली तथा उच्चारणकाल में सहचरित मनोभावों का भी विवरण संग्रहीत कर सकता है।

एक ओर शाब्दिक ज्ञान के क्षेत्र में इन प्रगतिशील सफलताओं तथा दूसरी ओर साधारणीकरण के आधार में परिवर्त्तन और चिकित्सा-ज्ञान के सार्वदेशिक प्रसार के कारण, यह स्वाभाविक है कि वैद्यक-वाङ्मय के लेखन में सरलता लाने की आवश्यकता उत्पन्न हो जिससे विभिन्न बुद्धिस्तर के व्यक्ति उस ज्ञान से पूर्ण लाभ उठा सकें।

वर्त्तमान परिस्थितियों के अनुरूप वैद्यक-ज्ञान को बनाने की प्रक्रिया आयुर्वेद के इतिहास पर दृष्टिपात करने से भी प्रमाणित होती है। प्रारम्भ में, वैद्यक-ज्ञान वेदों में विकीर्ण था। उसके बाद उसका संग्रह करके जीवन-विज्ञान की विस्तृत संहिता का निर्माण हुआ जिसमें विषयों का क्रमबद्ध संकलन १००० अध्यायों में विभक्त था। प्रत्येक अध्याय में १०० श्लोक थे, इस प्रकार कुल एक लाख श्लोक थे।

'इह खल्वायुर्वेदो नामोपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव
प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः।'

अर्थात्—'आयुर्वेद नामक विज्ञान अथर्ववेद की शाखा है। स्वतः प्रसूत ब्रह्मा ने प्राणियों को उत्पन्न करने (सृष्टि) के पूर्व इसे एक लाख श्लोकों तथा एक सहस्र अध्यायों में क्रमबद्ध किया।'

इसके बाद आठ अंगों में विभक्त वैज्ञानिक विश्वविषयात्मक संहिताओं—चरकसंहिता तथा सुश्रुतसंहिता—की रचना हुई। यह स्रष्टा-युग था। तदनन्तर, वाग्भट्ट ने उपर्युक्त दोनों ग्रन्थों के मूलभावों का संग्रह कर तथा नवीन ज्ञान को समाविष्ट कर युगानुरूप एक संक्षिप्त ग्रन्थ का निर्माण किया जिसमें समस्त विश्व के रोगों और द्रव्यों के ज्ञान का सार सन्निहित था। यह प्रतिसंस्कर्त्ता-युग था।

क्रमशः चिकित्सा-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर पृथक् ग्रन्थ बनाये गये यथा माधवनिदान, शार्ङ्गधरसंहिता और अन्तिम विश्वविषयात्मक ग्रन्थ-भावप्रकाश १६वीं शती में प्रकाशित हुआ था। यह प्रसार-युग था। वाग्भट्ट, माधव, शार्ङ्गधर, भावमिश्र तथा इस काल के अन्य सभी लेखकों ने वर्त्तमान साहित्य से संग्रह की पद्धति अपनाई और उपादेय अंशों को संग्रहीत कर उन्हें सरल, वर्गीकृत रूप में व्यवस्थित किया।

इसके बाद कुछ काल के लिए अवरोध-युग रहा और अब पुनरुत्थान-युग का प्रारम्भ होते ही पूर्ण उत्साह और स्फूर्ति के साथ क्रियाशीलता दृष्टिगोचर हो रही है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि हमलोग ऐसे काल से गुजर रहे हैं जब भारत के विभिन्न भागों में अनेक विद्वान् अपनी सारी शक्ति, उत्साह तथा उद्योग पुनरुत्थान की प्रगति में लगा रहे हैं।

पण्डित प्रियव्रत शर्मा पाठ्यग्रन्थों की आत्ययिक आवश्यकता की पूर्त्ति, जो आयुर्वेद के पुनरुज्जीवन का एक मौलिक सोपान है, के पाण्डित्यपूर्ण प्रयास में महत्वपूर्ण योग दे रहे हैं।

जामनगर
७-४-५६

प्राणजीवन मा० मेहता

निवेदन

रामावतारं पितरं मातरं च महीयसीम्।
अग्रजं सुजनं नत्वा द्रव्याणां क्रियते वचः ॥
वाराणस्यां वसन्तौ विकसितसुमनोविद्वनान्ते वसन्तौ।
विश्वस्मिन् वैद्यविद्यावियति विलसतः सूर्यचन्द्रोपमेयौ ॥
सत्यं नारायणोऽन्यः सुविदितवरदो यश्च राजेश्वरोऽन्यः।
वन्दे तावश्विकल्पौ गुरुवरचरणौ लुब्धसच्चञ्चरीकौ ॥

'द्रव्यगुणविज्ञान' प्रथम भाग के प्रकाशित हुए, बारह महीने हो गये। छात्रों की कठिनाई और आवश्यकता को देखते हुए इच्छा थी कि शीघ्र ही यह भाग भी पाठकों के सम्मुख आ जाय किन्तु कारणवश ऐसा संभव न हो सका। इसमें प्रधान कारण तो मेरा आलस्य ही है जिससे निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है और जय–पराजय दोनों समान रूप से विभाजित होती रहती है। ऐसी संघर्षमय स्थिति में यदि प्रकाशक महोदय की निरन्तर प्रेरणा न होती तो अब भी यह सामने आ सकता, यह सन्देह का ही विषय है। अस्तु, 'दूतविलम्बे कार्यसिद्धिः' इस न्याय से इस विलम्ब को पाठकजन क्षमा करेंगे।

आयुर्वेदीय द्रव्यगुण–शास्त्र का महत्व दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है और इसकी ओर देश–विदेश के जिज्ञासुजन आकर्षित हो रहे हैं, यह सर्वविदित है। ऐसी स्थिति में, आयुर्वेदीय द्रव्यों का नये नये दृष्टि कोणों से अध्ययन, वर्गीकरण और मूल्यांकन आवश्यक हो गया है। प्राचीन महर्षियों ने द्रव्यों का विशिष्ट वैज्ञानिक रीति से अध्ययन किया है और उनके संबन्ध में सुलझे हुये विचार भावी परम्परा के लिए रक्खे हैं। नवीन वैज्ञानिकों ने भी द्रव्यों के संबन्ध में कुछ अध्ययन करने का प्रयत्न किया है और कुछ परिणाम भी प्रकाशित किये हैं। अनेक भारतीय द्रव्यों को नवीन 'औषधि विज्ञान' में सम्मिलित भी किया गया है। इन परिणामों की उपेक्षा भी हमें नहीं करनी है। तटस्थ जिज्ञासुवृत्ति से इन परीक्षाविधियों तथा उनसे प्राप्त परिणामों की परीक्षा करने से अवश्य कुछ न कुछ लाभ होगा। दो लाभ तो स्पष्टतः होंगे। एक तो इससे प्राचीन शास्त्र में हमारी आस्था बढ़ेगी और दूसरे हमारे वर्त्तमान ज्ञान में वृद्धि होगी और मध्यकालीन त्रुटियों का परिमार्जन होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विवरण में प्राचीन शैली को सुरक्षित रखते हुए आधुनिक विज्ञान द्वारा उपलब्ध ज्ञान का यथासंभव पूर्ण उपयोग किया गया है। प्राचीनों ने द्रव्यों का कर्मात्मक वर्गीकरण किया था और चिकित्सक समाज अभी तक उससे लाभ उठाता चला आ रहा है। चिकित्सा की दृष्टि से औद्भिद द्रव्यों का वानस्पतिक कुलानुसार वर्गीकरण उतना उपयोगी नहीं जितना कर्मानुसार वर्गीकरण, क्योंकि इस क्रम में चिकित्सक द्रव्यों का तुलनात्मक

विवेचन करने के वाद कर्मोपयोगी आवश्यक द्रव्य का चुनाव आसानी से कर सकता है। अतः यहाँ औद्भिद द्रव्यों के वर्णन में मैंने यही क्रम रक्खा है और द्रव्यों को आधुनिक अधिष्ठानीय क्रम से व्यवस्थित कर उनका वर्णन किया है। वर्णन में यह ध्यान रक्खा गया है कि द्रव्यों का परिचयात्मक, सैद्धान्तिक और प्रायोगिक ये तीनों पक्ष स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हों।

जांगम द्रव्यों का वर्गीकरण यद्यपि संहिताओं में मिलता है तथापि किसी लेखक ने अब तक उसके अनुसार द्रव्यों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चार वर्गों में द्रव्यों को विभाजित कर एक वर्गीकृत अध्ययन का अभिनव प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है। प्राणियों के अनेक अंग-प्रत्यंगों का व्यवहार आधुनिक चिकित्सा में होता है जिनका वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में नहीं पाया जाता किन्तु सिद्धान्त इतने व्यापक हैं कि उनका अन्तर्भाव आसानी से किया जा सकता है। अतः ऐसे द्रव्यों को भी समाविष्ट कर वर्णन किया गया है।

कुछ विद्वानों का मत है कि भौमद्रव्यों का अध्ययन द्रव्यगुण-विभाग में न कर रस-शास्त्र में पृथक् होना चाहिए। इस संबन्ध में दो मत नहीं हैं कि रसशास्त्र का पृथक् अस्तित्व हो किन्तु मेरा नम्र मत है कि जहाँ तक उन द्रव्यों के स्वरूप, शोधन-मारण आदि निर्माण-प्रक्रिया का संबन्ध है वे रसशास्त्र के अन्तर्गत हैं किन्तु उनका गुणकर्मात्मक विवेचन तो द्रव्यगुण में ही होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो द्रव्यगुण का एक अंग ही विच्छिन्न हो जाता है। आधुनिक आयुर्वेदीय पाठ्यप्रणाली में भी रसशास्त्र में द्रव्यों का गुण-कर्मात्मक अंश नहीं पढ़ाया जाता और यदि उसे द्रव्यगुण में भी न बतलाया जाय तो उनका ज्ञान कैसे होगा? यह तो विदित है कि आजकल भस्मों और रसौषधों का कितना व्यावहारिक महत्त्व बढ़ गया है। अतः शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में भी उसे समुचित स्थान देना होगा तभी उस विषय तथा शिक्षण के साथ न्याय होगा। इसी विचार से इस ग्रन्थ में भौमद्रव्यों का गुणकर्मात्मक अंश व्यावहारिक दृष्टि से दिया गया है। द्रव्यों की शोधन-मारण प्रक्रिया इस सम्भावना पर छोड़ दी गयी है कि छात्रों ने रसशास्त्र में उनका अध्ययन कर लिया है।

द्रव्यों के वर्णन के अन्त में संबद्ध शास्त्रीय वचन उद्धृत किये गये हैं। इसका उद्देश्य यह है कि छात्रों में मौलिक ग्रन्थों के अवलोकन की रुचि उत्पन्न हो और आगे चल कर अन्वेषणात्मक कार्य में वे उनका उपयोग कर सकें।

इस ग्रन्थ के निर्माण में मैंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, गुजराती और मराठी भाषाओं के अनेक प्राचीन तथा समसामयिक लेखकों की कृतियों से सहायता ली है। इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। विशेषतः परमपूज्य दिवंगत आचार्य यादवजी का अनुगृहीत हूँ कि उनके महत्वपूर्ण विवेचन से विषय के स्पष्टीकरण में अतीव योग प्राप्त हुआ।

इस कार्य में जितनी कठिनाई और जितना परिश्रम उठाना पड़ा उसे मैं कैसे व्यक्त करूँ? मैं तो यही जानता हूँ कि मुझ जैसा अल्पज्ञ और आलसी व्यक्ति यदि इतने महान कार्य को पूरा कर सका तो यह भगवान् संकटमोचन और गुरुप्रसाद का ही फल है। श्रीयुत बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त भी यदि बराबर सिर पर सवार न रहते तो यह कार्य पूरा न हो पाता, अतः उन्हें मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि आलसी लेखकों से जबर्दस्ती लिखवाने की इस कला को जीवित रख कर वे आयुर्वेद-वाङ्मय की समृद्धि में सदा समर्थ होंगे।

परमादरणीय डा० प्राणजीवन मा० मेहता जी का भी आभारी हूँ कि उन्होंने इतना समय निकाल कर ग्रन्थ का महत्वपूर्ण प्राक्कथन लिखने का कष्ट उठाया।

त्रुटियाँ तो स्वाभाविक हैं, विद्वज्जन उन्हें परिमार्जित करेंगे और मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे जिससे उनका संशोधन भावी संस्करण में कर लिया जाय।

'द्रव्याणां गुणकर्मयोगकथनं स्वल्पं यदा दुष्करम्,
याथार्थ्येन तु सर्वतो विवरणं तेषां कुतः सम्भवम्।
यद् यत्नः क्रियते मयाऽत्र विदुषामग्रे परं लीलया,
तद्दोषानवलोकनप्रमुदितस्वान्तान्तराशावशात् ॥'

काशी
वसन्त-२०१२

विनीत
प्रियव्रत शर्मा

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

औद्भिद-द्रव्य

प्रथम अध्याय–मेध्यादि वर्ग

(नाडीसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य)

(क) मेध्य

(ख) मदकारी

(ग) संज्ञास्थापन

(घ) निद्राजनन

(च) वेदनास्थापन

(छ) आक्षेपजनन

(ज) आक्षेपशमन

द्वितीय अध्याय–चक्षुष्यादि वर्ग

(ज्ञानेन्द्रियों पर कर्म करने वाले द्रव्य)

(क) चक्षुष्य

(ख) कर्ण्य

(ग) नस्य

(घ) रस्य

द्वितीय खण्ड

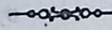
जांगम द्रव्य

पृष्ठांक

चतुर्थ अध्याय-स्वेदज द्रव्य

तृतीय भाग

भौम द्रव्य



प्रथम खण्ड

औद्भिद द्रव्य

प्रथम अध्याय

नाडीसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

नाडीसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्यों के निम्नांकित विभाग किये जा सकते हैं:—

१. **मेध्य** (Brain tonic)—यथा मण्डूकपर्णी, शंखपुष्पी, ज्योतिष्मती, कूष्माण्ड, उस्तूखूदूस आदि।

२. **मदकारी** (Narcotic)—यथा अहिफेन, विजया आदि।

३. **संज्ञास्थापन**—यथा वचा, जटामांसी, कट्फल, हिंगु आदि।

४. **निद्राजनन** (Hypnotic)—यथा सर्पगन्धा, अलाबू आदि।

५. **निद्राशमन** (Anti hypnotic)—यथा तीक्ष्ण संशोधन, रक्तमोक्षण आदि।

६. **वेदनास्थापन** (Analgesic or anodynes)—यथा शाल, सर्ज, कदम्ब, पद्मक, वञ्जुल, एलवालुक, सूची, पारसीक यवानी, गुग्गुलु, एरण्ड, कंकोल, प्रसारिणी, तगर, निर्गुण्डी, पलाण्डु, रसोन, देवदारु, मेदासक, मुचकुन्द आदि।

७. **आक्षेपजनन**—(Convulsant)—यथा कुपीलु आदि।

८. **आक्षेपशमन** (Anti-convulsant)—यथा ऊदसलीब, भूर्ज आदि।

(क) मेध्य

१. मण्डूकपर्णी

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, वयःस्थापन (च०), तिक्तवर्ग (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-हाइड्रोकोटाइल एशियाटिका (Hydrocotyle asiatica) सं०-मण्डूकपर्णी (मण्डूक-मेढक के समान पत्रवाली), माण्डूकी (सम्भवतः मण्डूकवत् जलासन्न स्थानों में होने के कारण या मण्डूक ऋषि के द्वारा प्रचारित होने के कारण या मण्डूकवत् भूमि पर इतस्ततः फैलने के कारण इसे माण्डूकी कहा गया है)।

बं०-थुलकुडी, म०-करिवणा, गु०-खडब्राह्मी, ता०-वाल्लरीकिरि, ते०-मण्डूकब्राम्ही।

स्वरूप—इसकी प्रतानिनी (भूमि पर फैलनेवाली) और वर्षायु **लता** होती है जो कभी कभी दो-तीन वर्षों तक भी रहती है। इसके **काण्ड**के प्रत्येक पर्व से मूल, पत्र, पुष्प तथा फलों का उद्गम होता है। **पत्र**-एकान्तर, वृक्काकृति, $\frac{1}{2}$-२$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे-चौड़े, सात सिराओं से युक्त, स्वाद में तिक्त-कटु और किञ्चित सुगन्धि होते हैं। सूखी पत्तियों में स्वाद और गन्ध नहीं रहती। **पुष्प**-छोटे नीलाभ श्वेत या रक्तवर्ण वसन्त ऋतु में होते हैं। **फल**-छोटे $\frac{1}{8}$-$\frac{1}{6}$ इञ्च के, एक साथ प्रायः २ से ७ तक ग्रीष्मऋतु में होते हैं। **मूल**-सूक्ष्म और सूत्रवत् होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत और लंका में सर्वत्र मिलती और प्रायः जलाशयों के किनारे वर्षाऋतु में विशेषतः देखने में आती है।

रासायनिक संघटन—इसमें 'ब्राह्मीन' (Brahmin) नामक क्षारतत्व होता है। इसकी पत्तियों में ७८% प्रतिशत जल और कुछ उड़नशील तैल होता है जो सूखने

या गरम करने पर उड़ जाता है। सूखी पत्तियों में १२% प्रतिशत भस्म मिलती है जिसमें राल, वसामय सुगन्ध द्रव्य, निर्यास, शर्करा, कषायद्रव्य, अलब्यूमिन और लवण होते हैं।

गुण

गुण—लघु, सर। **रस**—तिक्त; **अनुरस**—कषाय-मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत। **प्रभाव**—मेध्य।

कर्म

दोषकर्म—मण्डूकपर्णी त्रिदोषशामक है किन्तु विशेषतः कफ और पित्त का शमन करती है। यह मधुर विपाक होने से वात; तिक्त-कषाय-मधुर रस, मधुर विपाक एवं शीतवीर्य होनेसे पित्त तथा तिक्तरस एवं लघु गुण होने से कफ का शमन करती है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—त्वचा पर लेप करने से रक्तसंवहन शीघ्र होता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मेध्य है और स्मरण शक्ति को बढ़ाती है। विशेष कर इससे मस्तिष्क की धारण शक्ति बढ़ती है।

पाचन संस्थान—तिक्तरस होने के कारण यह अग्नि को दीप्त करती है। कषाय और शीत होने से यह स्तम्भन भी है।

रक्तवह संस्थान—यह हृद्य है और शोथ को दूर करती है।

श्वसन संस्थान—तिक्तरस होने के कारण इससे कफ का निःसरण सुविधा से होता है और स्वर साफ होता है।

मूत्रवह संस्थान—शीतवीर्य होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजनन संस्थान—मधुरविपाक और शीतवीर्य होने से यह स्तन्यजनन है।

त्वचा—इससे त्वचा की रक्तवाहिनियाँ प्रसारित हो जाती है, अतः त्वचागत रक्त-संवहन उत्तम होने से इसकी क्रिया विविध चर्मरोगों पर लाभकर (कुष्ठघ्न) होती है। इससे व्रणों का शोधन एवं रोपण होता है।

तापक्रम—तिक्तरस होने के कारण यह आमपाचन, एवं ज्वरहर है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक तथा शीत वीर्य होने के कारण यह बल्य एवं वयःस्थापन है। इससे शरीर के सभी अंगों की क्रिया उत्तेजित होती है जिससे आरोग्य होता है और बल तथा आयु की वृद्धि होती है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा एवं वृक्कों से होता है और उत्सर्गकाल में इन अवयवों को उत्तेजित करती है।

अहित प्रभाव—इसके अतियोग से शीतजन्य वातवृद्धि के कारण मद, शिरः-शूल, भ्रम और अवसाद उत्पन्न होते हैं। त्वचा में लालिमा और कण्डू होती है। ऐसी अवस्था में मात्रा कम कर दे या प्रयोग ही बन्द कर दे।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मण्डूकपर्णी त्रिदोषशामक होने के कारण त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होती है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है। व्रणों पर इसके चूर्ण एवं स्वरस का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और स्मृतिशक्तिवर्धक होने के कारण इसका प्रयोग मस्तिष्कदौर्बल्य एवं तज्जनित उन्माद, अपस्मार आदि विकारों में करते हैं।

पाचन संस्थान—दीपन और स्तम्भन होने के कारण इसका प्रयोग अग्निमांद्य, अतिसार, ग्रहणी आदि रोगों में करते हैं।

रक्तवह संस्थान—हृदय की दुर्बलता तथा तज्जन्य शोथ में इसका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, गण्डमाला, श्लीपद तथा शोथों में भी प्रयोग करते हैं।

श्वसन संस्थान—कफनिःसारक होने के कारण कास, श्वास तथा स्वरभेद में देते हैं।

मूत्रवह संस्थान—मूत्रल होने के कारण मूत्रकृच्छ्र में प्रयोग करते हैं। पैत्तिक प्रमेहों में भी आवश्यकतानुसार देते हैं।

प्रजनन संस्थान—स्तन्यजनन होने से प्रसव के बाद स्तन्य की कमी होने पर प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने के कारण कुष्ठ, जीर्ण व्रण तथा क्षयज व्रण में प्रयुक्त होती है। फिरंग की द्वितीयावस्था में जब विकार त्वचा एवं कला में अधिष्ठित होता है तब इसके प्रयोग से लाभ होता है।

तापक्रम—आमपाचन तथा ज्वरघ्न होने के कारण आमदोषों एवं तज्जन्य ज्वर आदि विकारों में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण:—वयः स्थापन और बल्य होने से सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—पञ्चाङ्ग।

मात्रा—स्वरस १–२ तो०, मूलचूर्ण ३–१२ र०; पञ्चाग चूर्ण ३–५ मा०।

विशिष्ट योग—ब्राह्मीपाक, ब्राह्मीपानक, सारस्वतारिष्ठ, सारस्वतघृत, ब्राह्मीतैल, ब्राह्मीसत्त्व, ब्राह्मीमलहर आदि।

निवारण—इसके अहितकर प्रभाव के निवारण के लिए विरेचन तथा अन्य वातशामक औषध विशेषतः सूखी धनियां उपयुक्त होती है।

वक्तव्य—मण्डूकपर्णी को यदि सुखाने की आवश्यकता हो तो छाया में ही सुखाना चाहिए क्योंकि धूप में सुखाने से इसका उड़नशील तैल उड़ जाता है जिससे उसकी शक्ति कम हो जाती है। इसी कारण इसका क्वाथ या फाण्ट भी नहीं बनाया जाता।

× × × ×

'मण्डूकपर्णी········प्रभृतीनि। रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च। कुष्ठमेहज्वर श्वासकासारुचिहराणि च॥ कषाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा। लघ्वी मण्डूकपर्णी तु········।' (सु. सू. ४६)

'ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता लघुः मेध्या च शीतला। कषाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी॥ स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित्। विषशोथज्वरहरी तद्वन्मण्डूकपर्णिनी॥' (भा.प्र)

'मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः········। आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि। मेध्यानि चैतानि रसायनानि········।' (च. चि. १)

'हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तः यथाक्रममागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसा पिबेत्। एवं दशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुः भवति।' (सु. चि. २८)

'रसो मण्डूकपर्ण्यास्तु प्रलेपात् पिटिकामयम्।········प्रणाशयेत्॥ (शोढल)

२. शंखपुष्पी

परिचय

कुल—त्रिवृत्-कुल (कन्वॉल्वुलेसी-Convolvulaceae)

नाम—लै०—कन्वॉल्वुलस प्लुरिकॉलिस (Convolvulus Pluricaulis)

सं०—शंखपुष्पी (शंख के सदृश पुष्प वाली), क्षीरपुष्पी (दूध के समान सफेद फूल वाली), मांगल्यकुसुमा (जिनके पुष्पों के दर्शन से मंगल हो क्योंकि श्वेतवर्ण तथा शंख शकुन कहे गये हैं)

हि०—शंखाहुली; बं०—डानकुणी; म०—सांखवेल, गु०—शंखावली।

स्वरूप—प्रतानिनीलता, बहुवर्षायु, अनेक शाखायुक्त, काण्ड किञ्चित् चतुष्कोण।

पत्र—पतले, लम्बे, तीन सिराओं से युक्त, अवृन्त तथा सूक्ष्मरोमश।

पुष्प—शंखाकृति श्वेतवर्ण।

फल—शाखाओं के अग्रभाग या पार्श्वदेश में छोटे आकार के।

मूल—सूत्रवत् या अंगुलिवत् ½–१ फुट लम्बा, श्वेत-हरित।

जातियां—पुष्पभेद से इसको तीन जातियाँ बतलाई गई हैं, श्वेत, रक्त और नील। 'शंखपुष्पी' शब्द से वस्तुतः श्वेतपुष्पी का ही ग्रहण करना चाहिए। रक्तपुष्पी का नाम निघंटुओं ने सर्पाक्षी तथा नीलपुष्पी का नाम विष्णुक्रान्ता (इवॉल्वुलस अलिसनॉयडिस-Evolvulus alsinoides) बतलाया है।[1] विष्णुक्रान्ता को बंगाली में विष्णुगंधी या विष्णुकान्दी कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः पथरीले और परती मैदानों में उत्पन्न होती है।

गुण

गुण—स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु, सर। **रस**—कषाय, कटु, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत। **प्रभाव**—मेध्य।

कर्म

दोषकर्म—स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु एवं मधुर विपाक होने के कारण यह वात तथा शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करती है। कषाय-कटु-तिक्त रसों के कारण कफ का भी शमन इससे होता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्तशमन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न और केशवर्धन है।

आभ्यन्तर-नाडी संस्थान—यह मेध्य तथा मस्तिष्क और नाडियों के लिए बलप्रद है। मस्तिष्क का शामक भी है।

पाचन संस्थान—कटु तिक्त होने से यह दीपन और पाचन तथा पिच्छिल एवं मधुरविपाक होने से अनुलोमन है।

रक्तवह संस्थान—यह हृदय के लिए वल्य एवं कषाय और शीतवीर्य होने से रक्तस्तम्भन है।

श्वसन संस्थान—कटुतिक्त एवं स्निग्ध होने से कफनिःसारक है और इसके कारण स्वर को ठीक करती है।

---

१. मंगल्याऽन्या रक्तपुष्पी सुभद्रा सूक्ष्मपत्रिका। सर्पाक्षी त्वपरा विष्णुक्रान्ताऽन्या नीलपुष्पिका॥ (कै.)

मूत्रवह संस्थान—शीतवीर्य होने से यह मूत्रविरेचनीय है।

प्रजनन संस्थान—स्निग्ध-पिच्छिल गुण एवं मधुरविपाक होने के कारण यह वृष्य और प्रजास्थापन है।

त्वचा—यह शीतवीर्य एवं मधुरविपाक होने से पित्त को शान्त करता है। विशेषतः पित्त दूषित होने पर अपने समान-गुण रक्त को भी दूषित कर देता है जिससे विविध क्षुद्ररोग उत्पन्न होते हैं। अतः यह पित्तशामक एवं त्रिदोषहर होने से कुष्ठघ्न है और उन चर्म-विकारों में लाभकर होती है।

तापक्रम—शीतवीर्य होने से यह दाह एवं दाह-प्रधान ज्वर को शान्त करती है।

सात्मीकरण—इससे शरीर एवं मन के सभी दोषों की शान्ति, धातुओं की वृद्धि एवं मलों का संशोधन होता है, अतः यह रसायन और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों विशेषतः वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है तथा केशवृद्धि के लिए इससे सिद्ध तैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडी संस्थान—मेध्य होने के कारण इसे मस्तिष्क-दौर्बल्य एवं तज्जनित रोगों में प्रयोग करते हैं। उन्माद, अपस्मार, अनिद्रा एवं भ्रम रोगों में इसका प्रयोग बहुलता से होता है। शामक प्रभाव के कारण उन्माद की उग्रावस्था में देने से उसकी तीव्रता शान्त हो जाती है और धीरे धीरे विकार शान्त हो जाता है।

पाचनसंस्थान—दीपन और पाचन होने से यह अग्निमांद्य को दूर करती है तथा वातशामक होने से उदर के आनाह, गुल्म, अर्श आदि वातप्रधान विकारों में लाभकर होती है। यह अनुलोमन भी है जिससे अन्त्रगत विष बाहर निकलता है और विबन्ध दूर होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य होने से हृद्रोगों में प्रयोग होता है और रक्तस्तम्भन होने से रक्तपित्त में लाभ करती है। ऐन्सली का कथन है कि यह रक्तवमन (Haemete-esis) के लिये अद्वितीय औषध है।

श्वसनसंस्थान—कफनिः सारक एवं स्वर्य होने से वातपैत्तिक कास एवं स्वरभेद में प्रयुक्त होती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल होने के कारण मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि विकारों में दी जाती है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य होने के कारण यह शुक्रदौर्बल्य एवं अन्य शुक्रदोषों में लाभकर है। गर्भाशय-दौर्बल्य के कारण जिनको गर्भधारण नहीं होता या गर्भ नष्ट हो जाता है उनके लिए यह अतीव प्रशस्त मानी गई है।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से कुष्ठ तथा अन्य रक्तविकारों में लाभकर होती है। फिरंग में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

तापक्रम—दाहप्रशमन एवं ज्वरघ्न होने के कारण यह दाह एवं दाहप्रधान ज्वर में प्रयुक्त होती है। विशेषतः त्रिदोषज्वर में जब अनिद्रा, प्रलाप आदि उपद्रव हों तथा

सन्ताप अधिक हो तब इसका प्रयोग करते हैं। गर्मियों में दाह की शान्ति के लिए लोग इसका शर्बत बनाकर पीते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्वल्य में बलवृद्धि एवं रसायन-कर्म के लिए इसका सेवन करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग

मात्रा—स्वरस २-४ तो०; चूर्ण ३-६ मा०; फाण्ट ४-८ तो०

वक्तव्य—इसका प्रयोग विशेषतः स्वरस के रूप में या शर्बत बनाकर करना चाहिए।

विशिष्ट योग—शंखपुष्पी-पानक, अमृतादि रसायन।

× × × ×

'शंखपुष्पी हिमा तिक्ता मेधाकृत् स्वरकारिणी। ग्रहभूतादिदोषघ्नी वशीकरणसिद्धिदा ॥' (रा. नि.)

'शंखपुष्पी सरा स्वर्या कटुस्तिक्ता रसायनी। अनुष्णा वर्णमेधाग्निबलायुःकान्तिदा हरेत् ॥
अपस्मारमथोन्मादमनिद्रां च तथा श्रमम् ॥' (कै०)

'कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः········। मेध्याविशेषेण च शंखपुष्पी ॥' (च. चि. १)

'तत्सेव्यं शंखपुष्पी च यच्च सेव्यं रसायनम्।' (च. चि. १५)

'शंखपुष्पिकास्वरसाः। उन्मादहृतो दृष्टाः पृथगेते कुष्ठमधुमिश्राः ॥' (चक्र.)

'क्षीरान्नभुक् पिबेत् यत्नात् विष्णुक्रान्तां सशर्कराम्।
ऊर्ध्वरक्तार्दितः सम्यक् गव्येन पयसा सह ॥' (शोढल)

३. ज्योतिष्मती

परिचय

गण—शिरोविरेचन (च०), अधोभागहर, शिरोविरेचन (सु०)

कुल—ज्योतिष्मती-कुल (सिलैस्ट्रेसी–Celastraceae)

नाम—लै०-सिलैस्ट्रस पैनिकुलेटा (Celastrus panniculata)

सं०-ज्योतिष्मती (मेध्य, उष्ण या काण्ड पर शुभ्र बिन्दुओं से युक्त); पारावतपदी (कबूतर के समान लतावाली), काकाण्डकी (कौवे के अण्डे के समान फल वाली), कंगुणिका (कंगुनी धान्य के समान बीजों वाली), पीततैला (पीतवर्ण के तैल से युक्त), कट्वीका (कटुरस वाली), वेगा (वेग से बढ़ने वाली या कामवेग को बढ़ाने वाली) हि०—मालकांगनी; म०—मालकांगोणी; गु०—मालकांगणी; ता०—वालुलवै; मल०—पालुरुवम्; अ०—तैलान, तैलाफयून; अं०—स्टाफ ट्री (Staff tree).

स्वरूप—इसकी आरोहिणी **लता** होती है। **पत्र**—अंडाकार, नुकीले एवं दन्तुरधार होते हैं। **पुष्प**—नीलाभ पीतवर्ण, मधुगंधि, गुच्छों में ग्रीष्म ऋतु में लगते हैं। पुष्प-दण्ड—३-४ अंगुल लम्बा होता है। **फल**—मटर के समान गोल, पकने पर लाल, पीले, त्रिखण्ड होते हैं। प्रत्येक खण्ड में एक-एक बीज केशरी रङ्ग के त्रिकोणाकार होते हैं। फल आषाढ श्रावण में पकते हैं। **काण्ड**-मृदु, सूत्रमय होता है जिस पर श्वेत बिन्दु होते हैं। ये बिन्दु नवीनावस्था में स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत, विशेषतः पञ्जाब, काश्मीर आदि पार्वत्य प्रदेशों में।

रासायनिक संघटन—बीजों में ३०% प्रतिशत गाढा, रक्तपीत, तिक्त एवं गन्धयुक्त तैल; एक तिक्त रालयुक्त तत्त्व, कषाय द्रव्य तथा ५% प्रतिशत क्षार होता है। बीजों से

तैल दो प्रकार से निकालते हैं—(१) कोल्हू में दबाकर और (२) पातालयन्त्र से। प्रथम विधि से प्राप्त तैल पीतवर्ण तथा द्वितीय विधि से प्राप्त तैल कृष्णवर्ण (Black oil-oleum nigrum) होता है। द्वितीय विधि से निष्कासित तैल में 'क्रिओजोट' नामक द्रव्य प्राप्त होता है।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, स्निग्ध, सर **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण **प्रभाव**—मेध्य

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध और उष्ण होने से वात का तथा कटुतिक्त एवं उष्ण होने से कफ का शमन करती है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके तैल का अभ्यंग वातहर, वेदनास्थापन एवं उत्तेजक होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य है। उष्ण होने के कारण इससे विशेष कर ग्रहणशक्ति उत्तेजित होती है। इससे नाडियों को भी बल प्राप्त होता है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त एवं उष्ण होने के कारण यह दीपन है। स्निग्धता एवं उष्णता से यह वात का अनुलोमन करती है।

रक्तवहसंस्थान—उष्णता के कारण इससे हृदय उत्तेजित होता है तथा रक्तसंवहन बढ़ जाता है। इससे शोथ भी दूर होता है।

श्वसनसंस्थान—कटु एवं उष्ण होने से यह शिरोविरेचन तथा कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्णता के कारण यह वृक्कों को उत्तेजित करती है जिससे मूत्र अधिक आता है।

प्रजननसंस्थान—यह नाडीबलदायक होने के कारण वाजीकरण है। यह आर्त्तवजनन भी है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं स्वेदजनन है।

तापक्रम—कटु तिक्त होने से यह आमपाचन तथा स्वेदजनन होने के कारण ज्वरघ्न है।

अहित प्रभाव—२-३ माशे की मात्रा खा लेने पर इससे वमन और विरेचन होने लगते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशामक होने के कारण इसका प्रयोग कफवात-विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातहर एवं वेदनास्थापन होने से पक्षाघात, अर्दित, सन्धिवात, गृध्रसी, कटिशूल आदि वातविकारों में इसके तैल का अभ्यंग करते हैं। उत्तेजक होने से ध्वजभंग में इसका तिला बनाकर शिश्न पर लगाते हैं या इसका तैल पान के पत्तों के साथ शिश्न पर बाँधते हैं। उष्ण होने के कारण ग्रन्थि, गण्डमाला आदि पर भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य होने के कारण इसका प्रयोग स्मरणशक्ति को बढ़ाने के लिए किया जाता है। प्राचीनकाल में इसके बीजों का प्रयोग इस कार्य के लिए लोग करते थे। इसका तैल गोघृत में मिलाकर भी प्रयोग करते हैं। मस्तिष्क-नाडी

बलदायक होने से अन्य मस्तिष्क-रोगों तथा नाडीदौर्बल्य के विकारों में लाभकर होता है। इसके पत्र का स्वरस ४ तो० की मात्रा में देने से अहिफेन का अतिसेवनजन्य अभ्यास दूर हो जाता है।

पाचनसंस्थान—दीपन होने के कारण अग्निमांद्य में तथा अनुलोमन होने के कारण विबन्ध एवं गुल्म में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने के कारण हृदयमन्दता में इसका प्रयोग करते हैं। शोथहर होने से विभिन्न प्रकार के शोथों में उपयोगी होता है। विशेष कर इसका कृष्णवर्ण तैल बेरी बेरी में लाभकर प्रमाणित हुआ है।

श्वसनसंस्थान—शिरोविरेचन के लिए इसके बीज नस्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं। वातकफनाशन होने से इसका प्रयोग कास-श्वास में करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण मूत्रल होने से जब शीताधिक्य के कारण मूत्रकृच्छ्र हो तब इसका प्रयोग करना चाहिए।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण होने से क्लैब्य रोग में इसका वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रयोग करते हैं। इस कार्य के लिए कृष्ण तैल का प्रयोग दुग्ध के साथ करते हैं। कष्टार्त्तव में इसका पत्रशाक घी में बनाकर दिया जाता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से यह कुष्ठ, कण्डू आदि अनेक चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—इसका तैल सेवन करने के २-३ घण्टे के बाद जोर से पसीना आता है जिससे ज्वर कम हो जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज और तैल।

मात्रा—बीज ५-१५ र०, तै०—२-१० बूंद (मेध्य प्रयोग के लिए) तथा १०-३० बूंद (स्वेदजनन कर्म के लिए)।

विशिष्ट योग—ज्योतिष्मती तैल।

निवारण—इसके अहितकर प्रभावों के निवारण के लिए गोदुग्ध और गोघृत का सेवन कराते हैं।

प्रतिनिधि—लवंग का तैल

वक्तव्य—ज्योतिष्मती बीज, जायफल, लोबान, लवङ्ग और जावित्री इनको समभाग चूर्ण कर पातालयन्त्र से कृष्णवर्ण का तैल प्राप्त करते हैं।

× × × ×

'पक्वरक्तफला गुच्छा पीततैला च वर्त्तुला। पंक्तिपत्रा रक्तबीजाऽणुपुष्पा वनजा स्मृता॥' (शि.)

'ज्योतिष्मती कटुस्तिक्ता सरा कफसमीरजित्। अत्युष्णा वामनी तीक्ष्णा वह्निबुद्धिमतिप्रदा॥' (भा. प्र.)

'कटु ज्योतिष्मतीतैलं तिक्तोष्णं वातनाशनम्। पित्तसंतापनं मेधाप्रज्ञाबुद्धिविवर्धनम्॥' (रा. नि.)

'सकाञ्जिकं···भृष्टं ज्योतिष्मतीदलम्। प्राश्य वनितात्वार्तवं लभेत्॥' (च. द.)

४. कूष्माण्ड

परिचय

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)

वर्ग—वल्लीफल

नाम—लै०-बेनिन्कासा हिस्पिडा (Benincasa hispida).

सं०—कूष्माण्ड (कु नास्ति ऊष्मा अण्डेषु वीजेषु यस्य स—जिसके बीजों में उष्णता न हो), पुष्पफल (पुष्प के साथ ही फल लगते हैं), पीतपुष्प (पीतवर्ण के पुष्पवाला), बृहत्फल (फल बृहदाकार होने से), वल्लीफल (लताजाति का फल होता है), सोमका (शीतवीर्य), स्थिरफला (चिरस्थायी फलवाला)।

हि०—पेठा, भतुआ; पं०-पेठा; बं०-कुमड़ा; म०-कोहला; मा०-कोहला, कोला; क०-अल; गु०-भुरुँ कोहलुं; ते०-गुम्मडि; मल०-कुम्पलम्; सिं०-पेठो सात्रो; फा०-वदुव; अ०-महदव; अं०-ह्वाइट पम्पकिन (White Pumpkin), ह्वाइट गौर्ड मेलन (White gourd melon).

स्वरूप—इसकी **लता** वर्षायु होती है। **पत्र**-४-६ इञ्च व्यास का, कठिन और श्वेत रोमों से आवृत होता है। पत्रवृन्त लम्वा होता है। **पुंपुष्पदण्ड** ४ इञ्च एवं स्त्रीपुष्पदण्ड १½ इञ्च लम्बा होता है। **फल**-बृहदाकार, अण्डे के समान ऊपर श्वेत फूल से आवृत होते हैं। **बीज** चिपटे, श्वेतवर्ण होते हैं। शीत ऋतु में इसमें फूल लगते हैं और ग्रीष्म तथा वर्षा में फल पक जाते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति होती है जिसे क्षेत्रकूष्माण्ड (बं०), कुकुर्बिटा मास्केटा (Cucurbita Moschata) कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें श्वेतसार, कुकुर्बिटीन (Cucurbitine) नामक क्षारतत्त्व, एक तिक्त राल, मांससार, मायोसिन, वाइटेलिन, शर्करा तथा क्षार होते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर। **विपाक**—मधुर।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—मेध्य।

कर्म

दोष कर्म—यह मधुर स्निग्ध होने से वात शामक तथा मधुर शीत होने से पित्त-शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रलेप सन्तापहर तथा दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए शामक एवं बलदायक है। इससे मेधाशक्ति बढ़ती है। यह निद्राजनन भी है।

पाचनसंस्थान—मधुरस्निग्ध होने से यह अनुलोमन एवं तृष्णानिग्रहण है। इसके बीज कृमिघ्न हैं विशेषतः स्फीतकृमिओं (Tapeworms) पर उनका प्रभाव होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह मधुर और स्निग्ध-शीत होने से हृद्य और रक्तपित्तशामक है। इससे रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है जिससे बहता हुआ रक्त रुक जाता है।

श्वसन संस्थान-यह मधुरस्निग्ध होने से फुफ्फुस के लिए बल्य तथा क्षयनाशक है।

मूत्रवह संस्थान—शीतवीर्य होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजनन संस्थान—मधुरस्निग्ध होने से यह शुक्रधातु को बढ़ाता है।

त्वचा और तापक्रम—यह शीत होने से दाह एवं सन्ताप को दूर करता है।

सात्मीकरण—मधुर-स्निग्ध होने से यह बल्य और बृंहण है।

अहित प्रभाव—इसके अति प्रयोग से शीत के कारण कफ और वायु का प्रकोप हो जाता है।

प्रयोग—

दोषप्रयोग—वातपित्तशामक होने से वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में फलमज्जा का लेप करते हैं। अग्निदग्ध में पत्र-स्वरस लगाने से लाभ होता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मस्तिष्क के लिए बलदायक होने से इसका प्रयोग उन्माद आदि मानस विकारों तथा सामान्य मस्तिष्कदौर्बल्य, स्मृतिहास आदि में किया जाता है।

पाचन संस्थान—अनुलोमन होने से इसका प्रयोग विबन्ध में तथा तज्जन्य उदर विकारों में करते हैं। तृष्णानिग्रहण होने से तृष्णारोग में यह लाभकर होता है। स्फीतकृमि को मारने के लिए यह मेल फर्न (Male fern) के समान गुणकारी होता है। उसके लिए २-४ तो० बीजकल्क देकर ऊपर से विरेचन देते हैं। इससे कृमि मर कर निकल जाते हैं। बीज तैल का भी १-२ तो० की मात्रा में प्रयोग करते हैं। अनुलोमन एवं रक्त-स्तम्भन होने से रक्तार्श में इसका प्रयोग लाभकर है। इसका क्षार उदरशूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसका प्रयोग हृद्दौर्बल्य में करते हैं। रक्तरोधक होने से रक्तपित्त एवं उरःक्षत के लिए यह प्रसिद्ध औषधि है।

श्वसनसंस्थान—बल्य होने के कारण इसका प्रयोग क्षय, राजयक्ष्मा आदि में करते हैं। इससे फुफ्फुस को तथा सारे शरीर को बल मिलता है, खाँसी, ज्वर, दाह आदि शान्त होते हैं और यदि मुँह से खून आता हो तो वह भी बन्द हो जाता है। पित्तप्रधान प्रतमक श्वास में भी यह लाभकर है।

मूत्रवह संस्थान—इसकी फलमज्जा एवं बीज मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी आदि में देते हैं।

प्रजनन संस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

त्वचा और तापक्रम—दाह की शान्ति के लिए बीजों को पीसकर ठंढई के रूप में देते हैं। इसी कारण गर्मियों में फलका अवलेह तथा पेठे का मुरब्बा खाया जाता है। जीर्णज्वर में देने से दाह और ज्वर शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण होने से सामान्य दौर्बल्य एवं कृशता में पौष्टिक के रूप में दिया जाता है। इसका फलस्वरस पारदविष को दूर करने में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल, फलस्वरस, बीज, बीज तैल, पत्र।

मात्रा—फल १-२ तो०, फलस्वरस १-२ तो०, बीज चूर्ण ३-६ मा०, बीजतैल ½-१ तो०, पत्र (बाह्य प्रयोग में)।

विशिष्ट योग—कूष्माण्डखण्ड, कूष्माण्डगुडकल्याणक, कूष्माण्डघृत, कूष्माण्डचूर्ण।

निवारण—इसके अहित प्रभाव के निवारण के लिए नमक, सौंफ और काली मिर्च का प्रयोग करना चाहिए।

प्रतिनिधि—अलाबू (लौकी)।

'मूत्राघातहरं प्रमेहशमनं कृच्छ्राश्मरीच्छेदनं, विण्मूत्रग्लपनं तृषार्तिशमनं जीर्णाङ्गपुष्टिप्रदम्।
वृष्यं स्वादुतरं स्वरोचकहरं बल्यं च पित्तापहं, कूष्माण्डं प्रवरं वदन्ति भिषजो वल्लीफलानां पुनः॥'
(रा. नि.)

'कूष्माण्डं बृंहणं वृष्यं गुरु पित्तास्रवातनुत्। बालं पित्तापहं शीतं मध्यमं कफकारकम्॥
वृद्धं नातिहिमं स्वादु सक्षारं दीपनं लघु। बस्तिशुद्धिकरं चेतोरोगहृत् सर्वदोषजित्॥' (भा. प्र.)
'सक्षारं पक्वकूष्माण्डं मधुराम्लं तथा लघु। सृष्टमूत्रपुरीषं च सर्वदोषनिबर्हणम्॥' (च. सू. २७)
'पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं, मध्यं कफावहम्। शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम्॥
सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम्।' (सु. सू. ४६)

'कूष्माण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुरविपाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्यन्दीनि सृष्टमूत्राण्यग्निसादनानि च।' (सु. सू. ४६)

५. उस्तूखूदूस

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-लैवेण्डुला स्टीकस (Lavendula Steachas); हि०-धारू, उस्तूखूदूस; अ०-आनिसुल् अरवाह, मुम्सिकुल् अरवाह, हाफ़िज़ुल् अरवाह; अं०-अरेबियन या फ्रेञ्च लैवेण्डर (Arabian or French Lavender)।

स्वरूप—**पुष्प**-बैंगनी रंग के रक्तपीताभ, सूक्ष्मरोमयुक्त और कर्पूरगन्धि होते हैं। इसके सूंघने से छींकें आती हैं। **बीज**-ज्योतिष्मती के बीज के समान छोटे, चपटे और श्यामपीत वर्ण के होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह यूरोप, एशिया माइनर, अरब तथा भारत के बिहार, बंगाल, काश्मीर और दक्षिण प्रदेश में कोंकण से कुर्ग तक होता है। विदेश में होने वाली जातियां अधिक वीर्यवान होती हैं।

रसायनिक संघटन—इसके पुष्पों से एक रक्ताभ पीतवर्ण का तैल प्राप्त होता है।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, रूक्ष। **रस**—तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—मेध्य।

कर्म

दोषकर्म—तीक्ष्ण, रूक्ष, तिक्त एवं उष्ण होने से यह कफ का तथा उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-इसका लेप शोथहर है।

आभ्यन्तर—नाडी संस्थान-उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह तमोदोष के आवरण को नष्ट करता है जिससे मेधाशक्ति बढ़ती है और नाड़ियों को बल मिलता है।

पाचन संस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण यह दीपन, अनुलोमन एवं यकृदुत्तेजक है।

रक्तवह संस्थान—उष्णता के कारण यह हृदय एवं रक्तसंवहन को उत्तेजित करता है और शोथ को नष्ट करता है।

श्वसन संस्थान—यह शिरोविरेचन होने से कफ का संशोधन करता है। कफवातशमन होने से कासहर और श्वासहर है।

अहित प्रभाव—इसका अधिक सेवन करने से हृल्लास, तृष्णा आदि विकार होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशमन होने से कफवातिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

सांस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य होने के कारण मानसिक दौर्बल्य तथा तज्जन्य उन्माद, अपस्मार आदि विकारों में इसका प्रयोग होता है। नाड़ियों के लिए बल्य होने से पक्षाघात, अर्दित, नाडीशूल आदि में इसका उपयोग लाभकर होता है।

पाचन संस्थान—दीपन होने के कारण अग्निमान्द्य, अनुलोमन होने से आध्मान, उदरशूल आदि तथा यकृदुत्तेजक होने से यकृच्छोथ, जलोदर आदि रोगों में इसका प्रयोग किया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में इसके प्रयोग से हृदय में शक्ति और उत्तेजना आती है। अतः हृद्रोग और तज्जन्य शोथ में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

श्वसनसंस्थान—कफवात-शमन होने से यह प्रतिश्याय, कास और श्वास में प्रयुक्त होता है। जूफा, सौंफ और मुलेठी के साथ इसका क्वाथ कर श्वास में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प और पत्र। **मात्रा**—चूर्ण ३ से ६ माशे।

निवारण—इसके अहितकर प्रभाव को शान्त करने के लिए पित्तशामक द्रव्यों तथा नींबू का शर्बत आदि का प्रयोग किया जाता है।

प्रतिनिधिः—इसके अभाव में अफतीमून का प्रयोग कर सकते हैं।

(ख) मदकारी

६. अहिफेन

परिचय

कुल—अहिफेन-कुल (पापावरेसी-Papaveraceae)।

वर्ग—उपविष।

नाम—लै०-पापावर सॉम्निफेरम (Papaver somniferum); सं०-आफूक, अहिफेन (निर्यास), तिलभेद, खसतिल, खाखस (क्षुप); हि०-अफीम; क०-आफीन; बं०-आफिम; मा०-अफीम, अमल; म०-अफू; गु०-अफीण; अ०-अफयून; अं०-ओपियम (Opium)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** ३-४ फीट ऊँचा होता है, इसे 'पोश्ता' कहते हैं। इसका **काण्ड**-हरित वर्ण, कोमल, रोमश और स्निग्ध होता है। **मूल**-साधारण और सूक्ष्म होता है। इसके **पत्र** लम्बे, चौड़े, वृन्तरहित, एकान्तर होते हैं। पत्र का प्रान्तभाग खण्डित होता है। **पुष्प**-श्वेत, रक्त या कृष्ण वर्ण होते हैं। **फल**-छोटे, अनार के समान, विषमकोषीय तथा स्वतःस्फोटी होते हैं। इसे 'डोडा' कहते हैं। फल के छिलके को पोश्त' कहते हैं। **बीज**-श्वेत या कृष्ण मधुर-स्निग्ध होते हैं। ये 'पोश्तदाना' या 'खशखश' कहलाते हैं।

कच्चे फल के चारों ओर सायंकाल गहरे चीरे लगा कर छोड़ देते हैं और उनसे जो दूध के समान निर्यास निकल कर जम जाता है उसे प्रातःकाल उन पर से खुरचकर सुखा लेते हैं। यही निर्यास 'अफीम' कहलाता है।

जाति—पुष्पभेद से इसकी तीन जातियाँ होती हैं:—

(१) खशखश सफेद-इसका पुष्प पीताभ श्वेत होता है। (२) खशखश मन्सूर-इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं। (३) खशखश स्याह-इसके पुष्प कृष्ण या नील वर्ण के होते हैं।

खशखश सफेद के बीज श्वेतवर्ण तथा खशखश मन्सूर और स्याह के बीज कृष्णवर्ण होते हैं।

प्राचीन निघण्टुओं में पुष्पभेद से श्वेत, पीत, कृष्ण और चित्र तथा कर्मानुसार क्रमशः

जारण, मारण, धारण और सारण इन चार जातियों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक विद्वानों ने देशभेद से तुर्की, यूरोपीय, फारसी और भारतीय से चार जतियाँ मानीं हैं।

उत्पत्तिस्थान—अहिफेन उत्तरी समशीतोष्ण कटिबन्ध के देशों यथा एशिया माइनर, फारस, चीन, नेपाल, और भारत में होता है। भारत में विशेषतः उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, विन्ध्यप्रदेश, मालवा, आसाम और वर्मा में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक मीठा, स्थिर, पीताभ और निर्गन्ध तैल होता है। अफीम में सेन्द्रिय अम्ल, अनेक क्षारतत्त्व तथा कुछ अन्य पदार्थ होते हैं। इन पदर्थों की पूरी सूची निम्नाङ्कित है:—

(१) प्राथमिक क्षारत्त्व (Primary alkaloids)

मॉर्फीन (Morphine) ५–२१%
कोडीन (Codeine) ०.३–४%
थीबेन (Thebaine) ०.३%
नार्कोटीन (Narcotine) २–७%
नार्सीन (Narceine)
पापावरीन (Papaverine)
सिउडोमार्फीन (Pseudomorphine)
क्रिप्टोपीन (Cryptopine)
प्रोटोपीन (Protopine)
हाइड्रोकेटार्निन (Hydrocatarnine)
लॉडेनिन (Laudanine)
लॉडेनोसिन (Laudanosine)
मेकोनिडिन (Meconidine)
रियेडिन (Rhoeadine)
कोडेमिन (Codamine)
नॉस्कोपिन (Nascopine)
लैन्थोपीन (Lanthopine)
जैन्थेलिन (Xanthaline)

(२) द्वितीयक क्षारतत्त्व (Secondary alkaloids)

एपोमार्फीन (Apomorphine)
ऑक्सिडीमार्फीन (Oxydimorphine)
एपोकोडीन (Apocodeine)
डेसोक्सीकोडीन (Desoxycodeine)
थिबेमीन (Thebamine)
पॉर्फिरॉक्सिन (Porphyroxine)
केटार्निन (Catarnine)
रियेडेनिन (Rhoeadenine)

(३) उदासीन तत्त्व

ऑपिओनिन (Opionin)
मेकोनॉयडिन (Meconoidin)
मेकोनिन (Meconin)

(४) सेन्द्रिय अम्ल

दुग्धाम्ल (Lactic acid)
मेकोनिक एसिड (Meconic acid)

(५) जल—१६%

(६) राल, ग्लुकोज, वसा, उड़नशील तैल, गन्धद्रव्य, अमोनिया, खटिक तथा मैग्नीशियम के लवण।

मॉर्फीन में वेदनास्थापन तथा नार्कोटीन में विषमज्वरप्रतिबन्धक कर्म अधिक है। भारतीय अफीम में विषमज्वरप्रतिबंधक शक्ति तथा तुर्की अफीम में वेदनास्थापन शक्ति अधिक देखी जाती है।

गुण

गुण—सूक्ष्म, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण। **प्रभाव**—मादक।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण वीर्य होने से यह कफवात का शामक एवं पित्त का प्रकोपक है। अधिक मात्रा में लेने पर ओजःक्षय होने से वायु की वृद्धि हो जाती है जिससे प्रलाप आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—उष्ण होने से इसका प्रयोग वेदनास्थापन एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह व्यवायी और विकाशी होने से मादक एवं उष्ण होने से वात का शमन करने के कारण वेदनास्थापन, निद्राजनन एवं आक्षेपहर है।

पाचन संस्थान—रूक्ष और कषाय होने के कारण यह लालाप्रसेक को कम करता है, अग्नि को मन्द करता है और स्तम्भन है। स्तम्भन होने के कारण यह शरीर के सभी स्रावों (मूत्र, स्तन्य और स्वेद इन तीन के अतिरिक्त) को कम करता है। इसी कारण यह पित्त के स्राव को भी कम करता है और इसके सेवन से रक्त में शर्करा की मात्रा कम हो जाती है। वातशमन होने से यह प्रसिद्ध शूलप्रशमन है।

रक्तवह संस्थान—इससे हृदय की गति मन्द किन्तु शक्ति तीव्र होती है। कषाय होने से रक्तस्तम्भन भी होता है।

श्वसन संस्थान—यह श्वसनकेन्द्र का अवसादक है। उष्ण होने से यह कफ-नाशक और श्वासहर है।

मूत्रवह संस्थान—यद्यपि सामान्यतः मूत्रस्राव पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता तथापि कभी कभी इससे मूत्राघात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

प्रजनन संस्थान—रूक्ष, कषाय, व्यवायी और विकाशी होने के कारण यह धातुओं को क्षीण करता है अतः पुंस्त्वोपघाती है। इससे शुक्र का स्तम्भन भी होता है।

त्वचा—उष्णता के कारण यह स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—व्यवायी और विकासी होने के कारण धातुओं का शोषण होने से यह शरीर को कृश और दुर्बल बनाता है।

तापक्रम—यह तिक्त और स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न, विशेषकर विषमज्वर—प्रति-बन्धक है।

नेत्र—इससे नेत्र की तारकायें संकुचित हो जाती हैं और नेत्रगत दबाव भी बढ़ जाता है।

उत्सर्ग—यह मुख्यतः पुरीष द्वारा बाहर निकलता है। इसका कुछ अंश मूत्र, स्तन्य और स्वेद से भी निकलता है। स्तन्य के द्वारा निकलने के कारण यह स्तनपायी शिशुओं को भी प्रभावित करता है। अपरा द्वारा भी यह निःस्यन्दित होता है और रक्तसंवहन में मिलकर गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशमन होने से यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ तथा शरीर के अन्य अंगों में शोथ और पीडा होने पर इसका अकेले या अन्य द्रव्यों के साथ मिला कर लेप करते हैं। नेत्र तथा कर्ण के शोथ-वेदनाप्रधान रोगों में इसका आश्च्योतन या लेप किया जाता है। इसकी वर्त्ति और मलहर का प्रयोग अर्श तथा गुदविदार में करते हैं। मूत्राशय तथा मलाशय के प्रदेश में पीडा होने पर गुदा द्वारा इसका अन्तःक्षेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन होने के कारण इसका प्रयोग वेदना की सभी अवस्थाओं यथा उदरशूल, अश्मरी, गृध्रसी, पार्श्वशूल आदि में लाभकर होता

है। वेदनाशामक होने के साथ साथ यह निद्राजनन भी है, अतः निद्रानाश, विशेषतः वेदनाजन्य में, विशेष उपयोगी होता है। आक्षेपहर होने के कारण इसका प्रयोग अपस्मार, अपतन्त्रक, कम्पवात, धनुस्तम्भ, कुपीलुविष आदि आक्षेप की अवस्थाओं में किया जाता है।

पाचनसंस्थान—शूलप्रशमन और स्तम्भन होने से उदरशूल, आमाशयशोथ, पक्वातीसार और वातातीसार में यह उपयुक्त होता है। प्रलापशमन, निद्राजनन तथा पुरीष एवं रक्त का स्तम्भन होने के कारण इसका प्रयोग आन्त्रिक ज्वर में विशेष लाभ कर होता है। विसूचिका की प्रारंभिक अवस्था में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृच्छक्तिवर्धक होने के कारण यह हृद्विकारजन्य श्वासकष्ट एवं हृदयशूल में उपयोगी होता है। स्तम्भन होने से यह रक्तस्राव, विशेषतः भीतरी अंगों में होने वाले रक्तस्राव को बन्द करता है।

श्वसनसंस्थान—वातकफशामक होने के कारण यह वातश्लैष्मिक कास, कुकुर-कास, तीव्र फुफ्फुसावरणशोथ, प्रतिश्याय एवं श्वास रोग में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मधुरकशमन होने के कारण मूत्र में शर्करा की मात्रा इससे कम होती है। अतः इक्षुमेह में लाभ करता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्र का स्तम्भन करने के कारण यह शीघ्रपतन रोग में दिया जाता हैं। गर्भपात एवं प्रसवोत्तर वेदना को शान्त करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है।

त्वचा—उष्ण होने से यह शीतजन्य उपद्रवों में लाभकर होता है।

तापक्रम—इसके सेवन से विषमज्वर के विष का प्रभाव कम होता है और कभी कभी तो अन्य अचूक औषधों से भी लाभ न होने पर इससे कार्य हो जाता है। श्लीपद-ज्वर में भी इससे लाभ होता है।

प्रयोज्य अंग—फलनिर्यास (अफ़ीम)।

मात्रा—$\frac{1}{8}$-१ र०।

विशिष्टयोग-अहिफेनासव, निद्रोदय वटी, कर्पूर रस, महावातराज रस, दुग्धवटी आदि।

प्रयोगनिषेध—अहिफेन का प्रयोग निम्नाङ्कित अवस्थाओं में निषिद्ध है:—

(१) फुफ्फुसशोथ, छिन्नश्वास (२) केन्द्रीय नाडीमण्डल के व्रणशोथ एवं रक्तसंचय से उत्पन्न विकार यथा मस्तिष्कावरणशोथ, ज्वर, अतिश्रम तथा मस्तिष्कगत रक्तस्राव। (३) अन्त्र तथा आमाशय का प्रसार और अशक्तता।

निम्नाङ्कित रोगों में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए:—

(१) वृक्कशोथ, विशेषतः मूत्रविषमयता की स्थिति में। (२) शिशुओं और वृद्ध पुरुषों में। (३) सभी जीर्ण रोगों में क्योंकि निरन्तर सेवन से इसका व्यसन हो जाता है।

आवश्यक विचारः—अहिफेन का प्रयोग करते समय निम्नाङ्कित बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए:—

१. **आयु**—शिशुओं में इसके विषाक्त लक्षण शीघ्र उत्पन्न होते है अतः उनमें इसका प्रयोग यथाशक्य नहीं करना चाहिए और यदि करे भी तो अत्यल्प मात्रा में।

२. **लिंग**—स्त्रियों में हानिकर प्रभाव शीघ्र और अधिक होता है, विशेषतः गर्भिणी और प्रसूता स्त्रियों में इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

३. **प्रकृति**—वातप्रकृति के व्यक्ति इसका सहन नहीं कर पाते अतः उनमें इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए। इनमें अधिक प्रयोग करने पर अनिद्रा, प्रलाप, भ्रम, छर्दि, अवसाद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

४. **अभ्यास**—निरन्तर अधिक काल तक प्रयोग करने से अभ्यास हो जाता है और फिर अभीष्ट कर्म के लिए अधिक मात्रा की आवश्यकता होने लगती है।

५. **रोग**—तीव्र वेदना-प्रधान रोगों में अधिक मात्रा आवश्यक होती है। फुफ्फुस, हृदय, वृक्क और मस्तिष्क के रोगों में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

६. **योग**—इसका योग ऐसे द्रव्यों के साथ होना चाहिए जो इसके धातुशोषण, मलशोषण आदि दोषों का निराकरण कर सकें।

अहिफेन विष के लक्षण—अधिक मात्रा में अफीम लेने पर निम्नांकित विषाक्त लक्षण क्रमशः उत्पन्न होते हैं:—

१. तन्द्रा	३. सन्यास	५. श्वासावरोध
२. निद्रा	४. अवसाद	६. मृत्यु

नेत्रतारकायें संकुचित हो जाती हैं जो मृत्यु के कुछ मिनट पूर्व प्रसारित हो जाती हैं। प्रायः ४-६ घंटों में अवसाद की अवस्था और ६-१२ घंटों में मृत्यु होती है।

अहिफेन-विष की चिकित्सा:—

१. **शोधन**—रीठे के जल या सरसों या राई मिले गरम जल से वमन कराना तथा आमाशय नलिका से आमाशय का प्रक्षालन।

२. **प्रतिविषों का प्रयोग**—रीठा, हींग, अखरोट, अरहर, आँवला, एरण्ड, कार्पासबीज, कलमीशाक, नाडीशाक, केले का पानी, द्रोणपुष्पी, जिंगिनी, घृत, तम्बाकू, तूतिया, तेजपात, धामन, नीम, पातालगरुड़ी, और मकोय ये द्रव्य अहिफेन-विषनाशक है। अतः इनके जल का पान रोगी को बराबर कराना चाहिए।

३. **उत्तेजक और हृद्य योग**—हृदय को उत्तेजित करने के लिए कॉफी का गरम क्वाथ पिलाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, मकरध्वज, कस्तूरी, जुन्दबेदस्तर, जद्वार, जहर-मोहरा आदि हृद्य औषधें मधु के साथ देनी चाहिए।

४. रोगी को सोने भी न दे जब तक विष न उतर जाय।

अहिफेन-शोधन—अफीम को पानी में घोल, कपड़े से छान कर आग पर गाढ़ा कर ले। तदनन्तर अदरख के स्वरस की इक्कीस भावना देने से वह शुद्ध हो जाता है।

संग्रह—माघ और फाल्गुन मास में अफीम का संग्रह किया जाता है।

वक्तव्य—(१) अहिफेन के बीज को 'खसखस' कहते हैं। यह मधुर, बल्य और वृष्य है। फलत्वचा के गुण-कर्म अफीम के समान ही हैं।

(२) इसका वर्णन संहिताओं में नहीं मिलता। राजनिघण्टु एवं भावप्रकाश में इसका वर्णन उपलब्ध है। ऐतिहासिकों का मत है कि यह सर्वप्रथम ई० पू० तृतीय शती में एशिया माइनर में प्रस्तुत और व्यवहृत किया गया। यहाँ से अरबवालों ने लेकर इसका नाम 'अफियम' दिया। भारत एवं फारस में इसका प्रसार अरब वालों के सम्पर्क से हुआ।

'तिलभेदः खसतिलः खाखसश्चापि संस्मृतः। स्यात् खाखसफलोद्भूतं वल्कलं शीतलं लघु ॥
ग्राहि तिक्तं कषायं च वातकृत् कफकासहृत्। धातूनां शोषकं रुक्षं मदकृद्वाग्विवर्धनम् ॥
मुहुर्मोहकरं रुच्यं सेवनात् पुंस्त्वनाशनम्।'
'उक्तं खसफलक्षीरमाफूकमहिफेनकम्। आफूकं शोषणं ग्राहि श्लेष्मघ्नं वातपित्तलम् ॥' (भा.प्र.)
'खस्खसः सूक्ष्मबीजः स्यात्सुबीजः सूक्ष्मतंडुलः। खस्खसो मधुरः पाके कान्तिवीर्यबलप्रदः॥' (रा.नि.)

७. भंगा

परिचय

कुल—भंगा-कुल (कैनाविनेसी-Cannabinacae)।

नाम—लै०-कैनेबिस सेटाइवा (Cannabis sativa); सं०-भंगा (भज्यते बुद्धिरनया-जिससे बुद्धिभ्रंश-मद-उत्पन्न हो), मातुलानी (जो मातुल-लक्ष्मी वाहन-के समान अन्धा बना दें), मादनी (मदकारी होने से), विजया (जो बुद्धि को जीत ले) गञ्जा (इसकी एक जाति से गाँजा उत्पन्न होता है। अतः), हि०-भांग; बं०-भाङ्, सिद्धि; म०-भांग; गु०-भांग; अ०-क़िन्नब; फा०-किनब; अं०-इण्डियन हेम्प (Indian hemp)।

स्वरूप—इसके **क्षुप** एक वर्षायु, ८ फीट तक ऊँचे होते हैं। **शाखायें** पतली और कोमल होती हैं। **पत्र**-नीम के समान, एकान्तर, एक पत्रवृन्त पर ३-७ उपपत्र होते हैं। **पुष्प**-छोटे, और गुच्छों में होते हैं। **फल**-छोटे, गोल और दानेदार होते हैं।

पत्र और बीजयुक्त कोमल शाखाओं को 'भाँग', स्त्री-जाति के क्षुप की रालयुक्त पुष्पमंजरी को 'गाँजा' तथा शाखाओं पर जमे हुये राल सदृश पदार्थ को 'चरस' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत, ईरान, ईराक तथा मिश्र में बहुधा होता है। भारत वर्ष में बिहार, बंगाल तथा उत्तरप्रदेश में विशेष रूप से मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें राल, कैनेबिनोन, (Cannabinone) नामक क्षारतत्व, उड़नशील तैल, निर्यास, वसा, शर्करा, मोम तथा पोटाशियम नाइट्रेट पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, रूक्ष। **रस**—तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—मादक।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने के कारण यह वातश्लेष्महर तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—उष्णता के कारण इसका लेप और स्वेदन वेदनास्थापन होता है। इसके पत्रस्वरस से बाह्य कृमि भी नष्ट होते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह एक प्रसिद्ध मदकारी द्रव्य है। प्रारम्भिक अवस्था में सौमनस्यजनन किन्तु बाद में प्रलापजनन होता है। वातशामक होने से मात्रा पूर्वक प्रयोग करने पर यह वेदनास्थापन, निद्राजनन एवं आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—उष्णता के कारण यह दीपन, पाचन, रोचन, ग्राही एवं पित्तसारक है। यह अन्त्रों के आक्षेप को भी दूर करता है अतः शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—मद की प्रारंभिक अवस्थाओं में हृदय उत्तेजित और नाडी तीव्र हो जाती है किन्तु बाद में नाडी मन्द हो जाती है। कषाय होने के कारण यह शोणितास्थापन भी है।

श्वसनसंस्थान—प्रारंभिक अवस्था में श्वसन तीव्र हो जाता है । यह श्वासनलिकाओं के आक्षेप को दूर करता है, अतः श्वासहर है ।

मूत्रवहसंस्थान—इससे मूत्र का परिमाण बढ़ जाता है ।

प्रजननसंस्थान—इससे शुक्र का स्तम्भन होता है और गर्भाशय का संकोच तीव्र होने लगता है ।

त्वचा—इससे त्वचा की संज्ञावह नाड़ियाँ शून्य हो जाती हैं जिससे झुनझुनी और संज्ञाराहित्य उत्पन्न हो जाता है ।

सात्मीकरण—व्यवायी और विकाशी होने के कारण यह शरीर के समस्त धातुओं एवं ओज का शोषण करता है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में करते हैं ।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य-अर्श एवं गुदविदार में लेप करते हैं तथा इसकी धूनी देते हैं । इससे पीड़ा एवं क्षोभ कम हो जाता है । कफवातविकारों में इसका स्वेदन एवं उपनाह भी देते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन होने के कारण शिरःशूल, अर्धावभेदक आदि वेदनाप्रधान विकारों में दिया जाता है । निद्राजनन होने से अनिद्रा में तथा आक्षेपहर होने से शूल, अपतानक, धनुःस्तम्भ आदि में इसका प्रयोग करते हैं ।

पाचनसंस्थान—दीपन-पाचन होने से अग्निमांद्य में; ग्राही होने से अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में; पित्तसारक एवं शूलप्रशमन होने से यकृच्छूल, उदरशूल, अर्श आदि में दिया जाता है ।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन होने से शरीर के किसी अंग से रक्तस्राव होने पर उसे रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं ।

श्वसनसंस्थान—आक्षेपहर एवं कफवातहर होने से यह कुकुरखाँसी एवं श्वासरोग में प्रयुक्त होता है ।

मूत्रवहसंस्थान—इसका उपयोग वृक्कशूल एवं मूत्राशयस्तम्भ-जन्य मूत्राघात में करते हैं ।

प्रजननसंस्थान—स्तम्भन होने से क्लैब्य और शीघ्रपतन में तथा गर्भाशयसंकोचक होने से रजःकृच्छ्र एवं कष्ट प्रसव में उपयोगी होता है ।

प्रयोज्य अंग—भांग, गाँजा और चरस ।

मात्रा—भांग-१-२ र०; गाँजा-½ -१ र०; चरस ⅛ र० ।

विशिष्ट योग—जातीफलादि चूर्ण, विजयावटिका, मदनानन्द मोदक ।

शोधन—गोदुग्ध में दोलायन्त्र से एक प्रहर तक स्वेदन करने के बाद जल से धोकर सुखाले और फिर हलकी आँच पर गोघृत में भून ले ।

विष-लक्षण—अत्यधिक मात्रा में सेवन करने पर इसका विषप्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है । गाँजा पीने पर शीघ्र ही तथा भांग खाने पर आधा घण्टे के बाद ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । इन लक्षणों को दो अवस्थाओं में विभक्त किया गया है । प्रथम अवस्था में भ्रम, हास, असम्बद्ध वचन, प्रलाप, झुनझुनी, त्वचा में शून्यता, पेशीदौर्बल्य तथा तन्द्रा; ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । कभी कभी रोगी उग्र होकर परहत्या का भी प्रयत्न

करता है। तन्द्रा के बाद रोगी द्वितीय अवस्था में प्रविष्ट होता है जब मद का गम्भीर आक्रमण होता है और वह गम्भीर निन्द्रा से आक्रान्त हो जाता है। मृत्यु बहुत कम प्रायः श्वासावरोध से होती है।

इसके निरन्तर अभ्यास से व्यसन हो जाता है जिसके कारण अग्निमान्द्य, अनिद्रा, कृशता, कामावसाद, स्मृतिह्रास, कम्प, उन्माद आदि जीर्ण विष के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अहित प्रभाव—इसका अहित प्रभाव विशेषकर दृष्टि और मस्तिष्क पर होता है।

निवारण—विषलक्षणों को शान्त करने के लिए आमाशय प्रक्षालन के बाद स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। कुपीलु-सत्त्व का भी अन्तःक्षेप किया जाता है।

× × × ×

'भंगा गंजा मातुलानी मादनी विजया जया। भंगा कफहरो तिक्ता ग्राहिणी पाचनी लघुः॥ तीक्ष्णोष्णा पित्तला मोहमदवाग्वह्निवर्धनी।' (भा० प्र०)

'भंगा तु दीपनी रुच्या ग्राहिणी पाचनी लघुः। निद्रापित्तप्रदोष्णा च कामदा कफवातनित्॥' (शो०)

'भंगा भंगकरी मतेः रतिपतेरत्यादरं कारिणी,
प्रौढत्वान्न समासमेषु विभवप्रद्योतहृत् संगमे।
तीक्ष्णोष्णा मदमोहपित्तशमनी वाग्वर्द्धनी ग्राहिणी,
तिक्ता श्लेष्महरा लघुश्च कथिता सन्दीपनी पाचनी॥' (रा० नि०)

(ग) संज्ञास्थापन

८. वचा

परिचय

गण—विरेचन, लेखनीय, अर्शोघ्न, तृप्तिघ्न, आस्थापनोपग, शीतप्रशमन, संज्ञास्थापन, तिक्तस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०); पिप्पल्यादि, वचादि, मुस्तादि, ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—सूरण-कुल (एरेसी-Araceae)।

नाम—लै०-एकोरस कैलेमस (Acorus calamus); सं०-वचा (वचनशक्तिवर्धक) उग्रगन्धा (तीक्ष्णगन्धयुक्त), षड्ग्रन्था (छः गांठों वाली), गोलोमी (गौ के समान रोमयुक्त), शतपर्विका (अनेक पर्वयुक्त), क्षुद्रपत्रा (पतली पत्तीवाली), मङ्गल्या (भूतबाधा को दूर करने के कारण); हिं०-बच, घोड़बच; म०-वेखण्ड; गु०-वज, घोड़ावज; पं०-वर्च, वरज; सिं०-किनी काठी; क०-वय; अ०-वज्ज, ऊदुल्वज्ज; फा०-अगरे तुर्की, कारूनक; अं०-स्वीट फ्लैग (Sweet flag)।

स्वरूप—इसका सदा हरित **क्षुप** जलप्राय भूमि में ३-५ फीट ऊँचा होता है। इसका **कन्द** भूमि में अदरख के समान फैलता है और मध्यमाङ्गुलि के समान स्थूल, ५-६ पर्ववाला, खुरदरा, झुर्रीदार, रोमश, अरुणवर्ण और सुगन्धि होता है। **पत्र**-चिकने, हरित वर्ण और ईख की तरह लम्बे होते हैं। **पुष्प**-पीताभश्वेत वर्ण के होते हैं।

जाति—भावप्रकाश ने चार जातियों का वर्णन किया है—१. वचा (घोड़वच), २. पारसीकवचा (वालबच)-यह ईरान और काश्मीर में होता है। हिमालय प्रदेश में होने से हैमवती भी कहते है। यह बहुधा मुसलमानों की कब्र पर लगाई हुई मिलती है अतः इसे मजारपोश (कब्र का फूल) 'या मजारमुण्ड (कब्र का मूल) भी कहते हैं। पुष्पभेद से यह तीन प्रकार की होती है—श्वेत, रक्त और नील। हकीम लोग श्वेत जाति

को सोसन और नील जाति को इरसा कहते हैं। बालबच बाजार में बेखसोन के नाम से मिलती है। इसके गुणकर्म घोड़बच के समान ही हैं। चरक ने इसका उल्लेख षोडश मूलिनी और लेखनीय गण में तथा सुश्रुत ने मुस्तादि गण में किया है। इसका लैं० नाम आइरिस वर्सिकलर (Iris versicolor) है। ३. मलयवचा या महाभरीवचा (कुलञ्जन) ४. द्वीपान्तरवचा (चोपचीनी)-इनका वर्णन आगे पृथक् किया जायगा।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः अनूपदेश, आसाम, मनीपुर और वर्मा आदि में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी मूलत्वचा में १·५ से ३·५ प्रतिशत उड़नशील तैल होता है जिसमें प्रधानतः एसारिल ऐल्डीहाइड (Asaryl aldehyde) होता है। इसके अतिरिक्त, एकोरिन (Acorin) नामक एक तिक्त ग्लुकोसाइड, युजिनौल (Eugenol), एसारोन (Asarone), कैफीन (Caffeine), श्वेतसार तथा किञ्चित् कषाय द्रव्य भी पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, सर। **रस**—तिक्त, कटु। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—मेध्य।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु और उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य कर्म वेदनास्थापन एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य, संज्ञास्थापन एवं वेदनास्थापन है। तीक्ष्ण होनेके कारण यह तमोदोषके आवरण को हटाकर चेतना को उद्‌बुद्ध करता है और संज्ञानाश को दूर करता है।

पाचनसंस्थान—कटु और उष्ण होने के कारण यह दीपन, तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, कृमिघ्न और शूलप्रशमन है। तीक्ष्ण होने से यह वमन और अनुलोमन है। वातहर होने से आस्थापन में भी उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से यह हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफवातहर होने से यह कास-श्वासहर और कण्ठ्य है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशय पर इसकी संकोचक क्रिया होती है।

त्वचा—उष्णता के कारण यह स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—यह लेखन है और धातुओं को क्षीण करता है। अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

तापक्रम—स्वेदजन होने के कारण यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफ-वातविकारों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, आमवात, पक्षाघात आदि में इसका लेप किया जाता है। कर्णनाद तथा कर्णशूल में इसका स्वरस कानों में देते हैं। शूलयुक्त अर्श में इसकी धूनी देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मानसदोषहर होने से उन्माद, अपस्मार आदि मानस रोगों में इसका भूरिशः प्रयोग किया जाता है। वातहर और वेदनास्थापन होने से पक्षाघात, अपतन्त्रक आदि वातविकारों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमान्द्य, अरुचि, विबन्ध, आध्मान, उदरशूल, अर्श और कृमि में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृदय के मन्द होने पर उसे उत्तेजित करने के लिए वचा का प्रयोग किया जाता है।

श्वसनसंस्थान—वातश्लैष्मिक कास, प्रतिश्याय, कण्ठशोथ, स्वरभेद में इसका प्रयोग करते हैं। इन रोगों में बच कर टुकड़ा मुँह में रख कर चूसते भी हैं। श्वासरोग में ४-५ माशे बच का चूर्ण ½-१ तो० सेंधानमक और आधा सेर पानी मिलाकर पीने से वमन होता है और श्वास का वेग कम हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र में इसके प्रयोग से लाभ होता हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव में केशर और पिप्पलीमूल के साथ इसका प्रयोग करते हैं। कष्टार्तव में भी इसका प्रयोग लाभकर है।

त्वचा—स्वेदजनन और उत्तेजक होने से विविध त्वग्दोषों में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में कर्शन के लिए इसका प्रयोग होता है। बुद्धिवर्धनार्थ कुमाररसायन में इसका प्रयोग किया जाता है। जो बच्चे जन्म के बाद जल्दी नहीं बोलते या हकलाते हैं उनमें वाक्शक्ति को बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—सन्निपातज्वर में देने से ज्वर शान्त होता है और मस्तिष्क भी ठिकाने रहता है। बालकों दाँत निकलते समय जो ज्वर, दौर्बल्य आदि उपद्रव होते हैं उनको यह दूर करता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—१-५ रत्ती; वमनार्थ-५-१५ रत्ती।

विशिष्टयोग—सारस्वत चूर्ण, मेध्य रसायन।

अहितप्रभाव—यह पित्तप्रकृति के लिए हानिकर होता है।

निवारण—इसके अहित प्रभाव के निवारण के लिये सौंफ और नींबू का शर्बत देना चाहिए।

प्रतिनिधि—जीरा और रेवन्द चीनी।

× × × ×

'वामनी कटुतिक्तोष्णा वातश्लेष्मरुजापहा। कण्ठ्या मेध्या च कृमिहृद्विबन्धाध्मानशूलनुत्॥
(ध० नि०)

'वचोग्रगन्धा षड्ग्रन्था गोलोमी शतपर्विका। क्षुद्रपत्री च मंगल्या जटिलोग्रा च लोमशा॥'
वचोग्रगन्धा कटुका तिक्तोष्ण वान्तिवह्निकृत्। विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधनी॥
'अपस्मारकफोन्मादभूतजन्त्वनिलान् हरेत्।' (भा० प्र०)

'सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा'।.........कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः॥'
(सु० शा० १०)

'गुडूच्यपामार्गविडङ्गशङ्खिनीवचाभयाकुष्ठशतावरीसमाः।
घृतेन लीढाः प्रकरोति मानवं त्रिभिर्दिनैः श्लोकसहस्रधारिणम्॥' (भै० र०)

'यः खादेत् क्षीरभक्ताशी माक्षिकेण वचारजः। अपस्मारं महाघोरं सुचिरोत्थं जयेद्ध्रुवम्॥'
(चक्र०)

'दिवारात्रिं वचाग्रन्थिं मुखे संधारयेत् भिषक्। तेन सौख्यं भवेत्तस्य मुखरोगाद्विमुच्यते॥'(हा०)

६. जटामांसी

परिचय

गण—संज्ञास्थापन (च०)।

कुल—मांसी-कुल (वेलिरियनेसी-Valerianaceae)।

नाम—लै०-नार्डोस्टैकिस जटामांसी (Nordostachys Jatamansi); सं०-जटामांसी (जटायुक्त मांसलकन्द वाली या मांसप्रिय भूतघ्न होने के कारण), भूतजटा (भूतों के समान जटा वाली), तपस्विनी (जटायुक्त होने से), सुलोमशा (अधिक रोमों वाली), नलदा (नलं गन्धं ददाति-सुगन्धित); हि०-बालछड़, जटामांसी; म० गु०-जटामांसी; क०-भूतजटा; अ०-सुंबुलुतिब, सुंबुले हिन्दी; फा०-नारद हिन्दी; अं०-जटामांसी (Jatamansi)।

स्वरूप

क्षुप—१-२ हाथ ऊँचा, बहुवर्षायु। **मूल**—रोमश और सुगन्धि।

पत्र—पतले, लम्बे लगभग १ इञ्च चौड़े और ६-७ इञ्च लम्बे।

पुष्प—गुलाबी, गुच्छेदार। **फल**—रोमश।

उत्पत्तिस्थान—यह ६-१७ हजार फीट की ऊँचाई पर काश्मीर, नेपाल आदि के जलप्रायः स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें मुख्य सत्त्व के रूप में एक उड़नशील तैल १ प्रतिशत होता है। यह तैल हरिताभ पीतवर्ण का, जल से हलका, हवा में जमने वाला, कर्पूरगन्धि और कटु-तिक्त होता है। इसके अतिरिक्त, काला रालसदृश पदार्थ ६ प्रतिशत, कपूर और गोंद ९ प्रतिशत, सुगन्धित अम्ल द्रव्य और जलविलेय पदार्थ १२ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

प्रभाव—भूतघ्न (मानसदोषहर)

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध होने से वात, शीत और तिक्त-कषाय मधुर होने से पित्त एवं तिक्त तीक्ष्ण होने से कफ का शामक है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर विशेषतः कफपित्त-शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका प्रलेप दाहप्रशमन, वर्ण्य एवं वेदनास्थापन है। इसका अवचूर्णन स्वेदाधिक्य को रोकता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह संज्ञास्थापन, मेध्य, बल्य, वेदनास्थापन एवं उत्तेजक है।

पाचन संस्थान—तिक्त और तीक्ष्ण होने के कारण यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक और पित्तसारक है। अनुलोमन और वातप्रशमन होने से यह शूलप्रशमन भी है।

रक्तवह संस्थान—यह तीक्ष्ण होने से हृद्य और हृदयोत्तेजक है। कषाय-मधुर होने के कारण यह रक्तवाहिनीसंकोचक और रक्तस्तम्भन है। यह शोथहर भी है।

श्वसन संस्थान—तिक्त, तीक्ष्ण होने से यह कफनिःसारक है।

मूत्रवह संस्थान—यह तीक्ष्ण होने के कारण वृक्कों को उत्तेजित करता है जिससे मूत्र अधिक निकलता है।

प्रजनन संस्थान—यह सुगन्धि और तीक्ष्ण होने से वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और पित्तशामक होने से कुष्ठघ्न और तीक्ष्ण होने से केश-वर्धन है।

सात्मीकरण—यह बलवर्धक है।

तापक्रम—तिक्त होने से ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

अहित प्रभाव—बड़ी मात्रा में देने से इससे वमन, पेट में मरोड़ और विरेचन होता है। वृक्कों में भी क्षोभ होता है।

प्रयोग

दोष प्रयोग—यह त्रिदोषहर होने से सान्निपातिक विकारों में विशेषतः कफपित्तजन्य रोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, शूल एवं दाह में इसका प्रलेप करते हैं। व्रण-शोथ पर लेप करने से लाभ होता है। वर्ण विकार में भी इसका लेप करते हैं। स्वेदाधिक्य एवं स्वेददौर्गन्ध्य में इसका अवचूर्णन किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अपस्मार, अपतन्त्रक, मूर्च्छा आदि रोगों में जिनमें भूतावेश जैसी चेष्टा हो जाती है इसके प्रयोग से लाभ होता है। अत एव यह भूतघ्न और रक्षोघ्न कहा गया है। इन रोगों में इसका पुष्प भी व्यवहृत होता है। मेध्य होने से स्मृतिह्रास आदि मस्तिष्कदौर्बल्यजनित लक्षणों में इसका प्रयोग होता है। शिरःशूल की यह प्रसिद्ध औषध है।

पाचन संस्थान—दीपन, पाचन और अनुलोमन होने से इसका प्रयोग अग्निमांद्य, आनाह, उदरशूल और आमाशयशोथ में करते हैं। पित्तसारक होने से यकृच्छोथ और कामला में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवह संस्थान—हृद्य और रक्तवाहिनी संकोचक होने से हृदयशैथिल्य, हृद्द्रव, रक्तपित्त आदि विकारों में इससे लाभ होता है। १ तो० जटामांसी ५ तो० गरम जल में ४-५ घण्टे भिगोकर देने से हृद्द्रव शान्त होता है। इसी कारण सर्वांग शोथ में भी यह उपयोगी है।

श्वसन संस्थान—कफघ्न होने से कास-श्वास में प्रयोग करते हैं।

मूत्रवह संस्थान—मूत्रकृच्छ्र और बस्तिशोथ में इसका उपयोग करते हैं।

प्रजनन संस्थान—वाजीकरण होने से यह क्लैब्य में उपयोगी है। आर्त्तवजनन होने से रजःकृच्छ्र और गर्भाशयशोथ में लाभकर होता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से विभिन्न चर्मरोगों और विसर्प आदि में प्रयुक्त होता है। केशवृद्धि के लिए इसका तैल लगाते हैं। दक्षिण में इस तैल का प्रचार अधिक है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—सन्निपात ज्वर में यह विशेष उपयोगी है। इसके प्रयोग से ज्वर कम होता है, नाडी को शक्ति मिलती है, मस्तिष्क शान्त रहता है और दाह आदि उपद्रव भी दूर होते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल। **मात्रा**—१–३ माशे।

विशिष्ट योग—मांस्यादि क्वाथ, रक्षोघ्न घृत, सर्वौषधि स्नान।

निवारण—गुलरोगन। **प्रतिनिधि**—इजखिर मक्की।

वक्तव्य—इसकी विदेशी जाति (वैलिरियन ऑफिशिनैलिस–Valerian officinalis) के मूल एवं सत्त्व का प्रयोग आधुनिक चिकित्सा में होता है।

× × × ×

'जटामांसी भूतजटा जटिला च तपस्विनी। मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा॥
स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्त्रदाहवीसर्पकुष्ठनुत्॥' (भा. प्र.)

'सुरभिस्तु जटामांसी कषाया कटुशीतला। कफहृद्भूतदाहघ्नी पित्तघ्नी मोदकान्तिकृत्॥' रा. नि.

'जटामांसी तु तुवरा शीतला कान्तिकारका। बल्या कटूवी स्वादुतिक्ता कफान्तर्दाहपित्तहा॥
विसर्पकुष्ठत्वग्दोषभूतबाधाज्वरापहा। दाहं त्रिदोषं वातं च रक्तदोषं विषं हरेत्॥' (नि. स.)

१०. कट्फल

परिचय

गण—सन्धानीय, शुक्रशोधन, वेदनास्थापन (च०), लोध्रादि, सुरसादि (सु०)।

कुल—कट्फल-कुल (मिरिकेसी–Myricaceae)।

नाम—लै०–माइरिका नैगी (Myrica nagi); सं०—कट्फल, कुंभिका (कुम्भाकार फल वाला), श्रीपर्णिका (सुन्दर पत्रयुक्त), महावल्कल (मोटी छाल वाली), रोहिणी (रक्तवर्णयुक्त); हि० म० गु०—कायफल; बं०—कायछाल, कट्फल; अ०—अजूरी, उदुलवर्क, कन्दूल; फा०–दारशीश् आन; अं०–बॉक्स मिर्ट्ल (Box myrtle)

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का सदा हरित, छायायुक्त और अतिसुगन्धित होता है। इसकी **छाल** रक्ताभ, भारी, $\frac{1}{2}$ इञ्च मोटी होती है और इसमें छोटे छोटे लम्बे दाग होते हैं। काष्ठ धूसर वर्ण और कठिन होता है। **पत्र**—४–५ इञ्च लम्बे, चौड़े और सुगंधित होते हैं। **पुष्पदण्ड** छोटा और मृदुरोमश होता है। स्त्री और पुरुष पुष्प भिन्न भिन्न वृक्षों पर लगते हैं ये लाल और सुगन्धित होते हैं। **फल**—$\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बे खिरनी के समान जो पकने पर लाल और खटमिठे होते हैं। शीतकाल के प्रारम्भ में फूल लगते हैं और ग्रीष्म ऋतु में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर पञ्जाब, गढवाल, कुमाऊँ, खासिया पर्वत और सिलहट में विशेषतः होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक कषाय द्रव्य, शर्करा और लवण होते हैं।

गुण

गुण—तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से यह वातकफशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल तीव्र शिरोविरेचन है और सूंघने से बहुत छींकें आती हैं। इसके अतिरिक्त यह नाडियों के लिए बलप्रद, कोथप्रशमन और गर्भाशयसंकोचक भी है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उष्ण होने से यह वेदनास्थापन और नाडियों के लिये बलप्रद है।

पाचन संस्थान—कटु और उष्ण होने से यह रोचन, दीपन, ग्राही एवं शूलप्रशमन है।

रक्तवह संस्थान—यह उष्ण होने से उत्तेजक और संधानीय एवं शोथहर है।

श्वसन संस्थान—वातकफशामक होने से यह कफनिःसारक और श्वासहर है।

मूत्रवह संस्थान—कटु और उष्ण होने से यह मूत्र संग्रहणीय है।

प्रजनन संस्थान—यह शुक्रशोधन, वाजीकर और आर्त्तवजनन हैं।

त्वचा—यह उष्ण होने से स्वेदजनन और कण्डूघ्न है।

तापक्रम—उष्णता के कारण ज्वरहर और शीतप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातहर होने से इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—

(१) शिरोविरेचन होने से मूर्च्छा, प्रतिश्याय और शिरःशूल में नस्य देते हैं।

(२) कृमिघ्न और कषाय होने से व्रण में इसकी छाल का चूर्ण छिड़कने से शीघ्र शोधन और रोपण होता है।

(३) उष्ण और उत्तेजक होने से अवसाद की अवस्था में शरीर ठंढा हो जाने पर चूर्ण का उद्घर्षण करते हैं।

(४) नाडियों के लिए बलप्रद होने से तैल में मिलाकर या तैलपाक कर पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में अभ्यंग करते है।

(५) कोथप्रशमन होने से मुखपाक तथा दन्तशूल में इसका गण्डूषधारण या मञ्जन का प्रयोग करते हैं।

(६) गर्भाशयसंकोचक होने से इसके चूर्ण की पोटली योनि में रखने से कष्टार्तव दूर होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन एवं नाडी के लिए बल्य होने से इसका प्रयोग अर्दित, पक्षाघात, शिरःशूल, नाडीशूल आदि में करते हैं।

पाचनसंस्थान—कटु, उष्ण और ग्राही होने के कारण अरुचि, अग्निमांद्य, अतिसार, उदरशूल तथा अर्श में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और संधानीय होने से यह हृदयशैथिल्य, रक्तष्ठीवन और शोथ में उपयोगी होता है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और श्वासहर होने के कारण प्रतिश्याय, कास और श्वास रोगों में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्र को कम करता है अतः प्रमेह में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रदोष और क्लैब्य में दिया जाता है और आर्तवजनन होने से कष्टार्तव में भी देते हैं।

त्वचा—कण्डू आदि चर्मरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—स्वेदजनन एवं शीतप्रशमन होने से इसका प्रयोग ज्वर विशेषतः शीतज्वर में उपयुक्त है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्

मात्रा—चूर्ण-१-२ माशे

विशिष्टयोग—कट्फलादि क्वाथ। हकीम लोग इसके पुष्पों का तैल (दुह्नुल् कंदूल्) का भी प्रयोग करते हैं।

अहितकर—यह यकृत् प्लीहा के लिए हानिकर है।

निवारण—मस्तगी। **प्रतिनिधि**—असारून।

× × × ×

'कट्फलः सोमवल्कश्च कैटर्यः कुम्भिकापि च। श्रीपर्णिका कुमुदिका भद्रा भद्रवतीति च॥
कट्फलस्तुवरस्तिक्तः कटुर्वातकफज्वरान्। हन्ति श्वासप्रमेहार्शः कासकण्डवामयारुचीः॥'(भा.प्र.)
'कट्फलः कटुरुष्णश्च कफश्वासज्वरापहः। प्रतिश्यायहरो रुच्यो मुखरोगशमप्रदः॥' (रा.नि.)

'कट्फलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात्।' (च. चि. १०)
'प्रियंगुकाकट्फलशंखगैरिकाः पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः।
सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः रक्तं सपित्तं शमयन्ति योगाः॥' (च. चि. ४)
'घ्रेयं कट्फलचूर्णं वा।' (सु. उ. २६)
'कट्फलचूर्णान्तर्गलघर्षो गलगण्डमपहरति।' (च. द.)

११. हिंगु

परिचय

गुण—संज्ञास्थापन, दीपनीय, कटुकस्कन्ध (च०); पिप्पल्यादि, ऊषकादि (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-फेरुला नार्थेक्स (Ferula narthex); सं०—हिंगु, सहस्रवेधि (हजारों कर्म करने वाला), जतुक (लाक्षा के समान), बाह्लीक (बल्ख देशोत्पन्न), रामठ (रमठदेशोद्भव); हि०—हींग; बं०—हिंग् ; म०—हिंग; गु०—हींग, वघारणी; ता०—पेरुङ्गायाम् ; ते०—इङ्गु; क०—यंग; फा०—अंगजद, अंगोज; अ०—हिल्तीत; अं०—असाफिटिडा (Asafoetida)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु **वृक्ष** ह्रस्व प्रमाण का ६-८ फीट लम्बा होता है। **पत्र**-कोमल, रोमश और २-४ पक्षयुक्त होता है। पत्र दण्ड के अग्रभाग में एक ही पत्र होता है और पत्रों के किनारे कटे होते हैं। **फल** ½ इञ्च लम्बा और ¼ इञ्च चौड़ा होता है, गर्भाशय में मृदु रोम होते हैं। इसके फल को अञ्जुदान और निर्यास को हींग कहते हैं।

जाति—इसकी श्वेत और कृष्ण दो जातियां होती हैं। श्वेत वृक्ष का निर्यास सुगन्धित और हीरकवत् शुभ्र, स्फटिकाकार होता है इसे 'हीरा हींग' कहते हैं। इसी का व्यवहार औषध में होता है। कृष्ण जाति का निर्यास दुर्गन्धित होता है इसे 'हींग' 'हींगड़ा' कहते हैं। आजकल हिंगु के अनेक प्रकार बाजार में मिलते हैं वे उत्पत्तिस्थान, वृक्षभेद, संग्रहविधि आदि में भेद होने से होते हैं।

संग्रहविधि—इसका संग्रह दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम विधि यह है कि वसन्तऋतु में हिंगुवृक्ष के मूल के ऊपर वाले भाग में चाकू से त्वचा छील दी जाती है। वहाँ जो निर्यास सञ्चित होता है उसे १-२ दिन में पुनः छीलकर हटा लेते हैं और फिर वहां नया निर्यास संचित होता है। इस प्रकार कई बार करने से सार निर्यास निकल आता है तब उसे छोड़ दिया जाता है। इस निर्यास को सुरक्षित रखने एवं धूप

आदि से बचाने के लिए इसके चारों ओर पत्थरों की दीवाल सी बना दी जाती है। यह विधि प्रायः बल्ख, बुखारा, पारस आदि में प्रचलित है।

इसकी दूसरी विधि अफगानिस्तान, काबुल, काश्मीर और सीमाप्रान्त में व्यवहृत होती है। वहाँ वृक्ष के काण्ड को मूल से कुछ ऊपर काट देते हैं जिससे मूल के छिन्न भाग पर निर्यास जम जाता है। इसे हटाकर पुनः थोड़ा और काट देते हैं। इस प्रकार कई बार काटने से सब निर्यास आ जाता है तब छोड़ देते हैं। निर्यास को सुरक्षित रखने के लिए छिन्न मूल भाग को पत्थरों से ढँक देते हैं।

अग्राह्य हिंगु—व्यापारी लोग उपर्युक्त विधि से निर्यास का संग्रह कर उसमें गेहूँ, पत्थर के टुकड़े आदि मिला देते हैं जिससे उसका वजन बढ़ जाता है और असल निर्यास कम रह जाता है। ऐसी हींग को जल में घोलने पर वह पात्रतल में नीचे बैठ जाता है। आग लगाने से पूरी जलती भी नहीं। गन्ध और स्वाद में भी अन्तर आ जाता है। ऐसी हींग का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

प्रशस्त हिंगु—जो जल में डालने पर शनैः शनैः श्वेतधारा देकर पूरा मिल जाय और जल स्वच्छ दुग्धवत् हो जाय तथा कोई अवशेष पात्रतल में न बैठे वह हिंगु प्रशस्त माना गया है। दियासलाई लगाने से हींग पूरी जल जानी चाहिए। उसका वर्ण शुभ्र, गन्ध तीक्ष्ण और स्वाद कटु होना चाहिए।

शोधन—हिंगु का शोधन दो प्रकार से किया जाता है—१. अभर्जित और २. भर्जित। प्रथम विधि में हींग को आठगुने जल में घोलकर छान लेते हैं और फिर किसी स्निग्ध लोहपात्र में रख कर मन्द आँच से जलहीन करते हैं। दूसरी विधि में हींग में गाय का घी देकर खूब भूनते हैं। जब शुष्क और खर हो जाता है तब उतारते हैं।

उत्पत्तिस्थान—ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान, पंजाब, पेशावर **रासायनिक संघटन**—इसमें एक उड़नशील तैल ६ से १७ प्रतिशत होता है जिसमें रसोनतैल और एलिल परसल्फाइड (Allyl persulphide) होता है। इसी के कारण हींग की विशिष्ट गन्ध होती है। इसके अतिरिक्त, राल (Asaresinotannol) ६५ प्रतिशत, गोंद २५ प्रतिशत, क्षार और लवण ३-४ प्रतिशत तथा Ferualic, acetic, malic, formic और Valerianic acid होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सर। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप वेदनास्थापन, शूलप्रशमन और वातहर और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह उत्तेजक, वेदनास्थापन, संज्ञास्थापन और आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन और रोचन; स्निग्ध और तीक्ष्ण होने से अनुलोमन, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने के कारण जन्तुघ्न, कफनिःसारक (छेदन) और कफवातहर होने से श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्णता से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्णता और तीक्ष्णता से यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और बल्य है।

त्वचा—उष्णता के कारण यह शोणितोत्क्लेशक एवं गन्धक का अंश होने से कण्डूघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न, शीतप्रशमन और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग श्वासनलिका, त्वचा और वृक्कों द्वारा होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आध्मान आदि उदरविकारों में हींग का लेप करते है या बत्ती बनाकर सेंकते हैं। ऐसे विकारों में एरण्ड तैल में मिलाकर इसकी बस्ति भी दी जाती है। १५ रत्ती हींग २ छटाँक जल में मिलाकर कृमिरोग में बस्ति देते हैं। ध्वजभंग में शिश्न पर लेप करते हैं तथा कास-श्वास में छाती पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातहर और संज्ञास्थापन होने से इसका प्रयोग पक्षाघात, अर्दित, मन्यास्तम्भ, गृध्रसी, आक्षेपक और अपतन्त्रक आदि वातविकार और संज्ञानाश की अवस्थाओं में करते हैं।

पाचन संस्थान—दीपन और अनुलोमन होने के कारण अग्निमांद्य, आध्मान, गुल्म, उदरशूल, विबन्ध और कृमि में इसका उपयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातहर और हृद्य होने से वातजन्य हृद्रोग यथा हृद्द्रव हृदयशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—छेदन और श्वासहर होने से फुफ्फुसशोथ, जीर्णकास, श्वास और कुकुरखाँसी में यह लाभकर होता है।

मूत्रवहसंस्थान—वातिक मूत्राघात और बस्तिशूल में इसके प्रयोग से कष्ट दूर हो जाता है और मूत्र आने लगता है।

प्रजननसंस्थान—रजःकृच्छ्र में तथा प्रसव के बाद देने से गर्भाशय शुद्ध होता। क्लैब्य रोग में देने से जननेन्द्रिय उत्तेजित होती है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देने से भूख ठीक होती है, पाचन ठीक होता है, रक्ताभिसरण बढ़ता है और उससे सामान्य बल की वृद्धि होती है।

त्वचा—कण्डू में इसका प्रयोग लाभकर है।

तापक्रम—सन्निपातज्वर, शीतज्वर एवं विषमज्वर में यह विशेष उपयोगी है। हींग के सेवन से विषमज्वर का आक्रमण रुकता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—१-४ रत्ती।

विशिष्टयोग—हिंग्वादि वटी, हिंग्वष्टक चूर्ण, हिंगुकर्पूर वटिका, रजःप्रवर्त्तनी वटी।

वक्तव्य—उदर रोगों भर्जित हींग एवं फुफुस रोगों में कच्ची हींग देनी चाहिए। कच्ची हींग में अधिक तीक्ष्णता और छेदनशक्ति होती है जिससे इसका प्रभाव फुफुस पर अधिक होता है। उदर रोगों में ऐसी हींग उत्क्लेशकर और क्षोभक हो जाती है अतः उसे घृतभृष्ट करने के बाद ही प्रयोग करते हैं।

अहित प्रभाव—यकृत्, मस्तिष्क एवं उष्ण प्रकृति वालों के लिए यह अहितकर होता है।

निवारण—अनार, कतीरा, अनीसूं, सेव और चन्दन।

× × × ×

सहस्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिंगु रामठम्। हिंगूष्णं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातबलासहृत्॥
शूलगुल्मोदरानाहक्रिमिघ्नं पित्तवर्धनम्। 'स्त्रीपुष्पजननं बल्यं मूर्च्छापस्मारहृत् परम्॥' भा.प्र.
'हिंगुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्।' च. सू. २५
'हृद्यं हिंगु कटूष्णं च कृमिवातकफापहम्। विबन्धानाहशूलघ्नं चक्षुष्यं गुल्मनाशनम्॥' रा.नि.

(ग) निद्राजनन

१२. सर्पगन्धा

गण—अपराजित (सु०)।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी-Apocynaceae)

नाम—लै०-रावोल्फिया सर्पेण्टिना (Rauwolfia serpentina); सं०-सर्पगन्धा (सर्प के समान गन्धयुक्त), धवलविटप (काण्डत्वक् श्वेतवर्ण होने के कारण); हि०-धवलबरुआ; विहार-धनमरवा, चँदमरवा, इसरगज; बं०-चांदर, छोटा चांद; म०-अडकई, सायसन; गु०-अमेलपोदी; ते०-पाटलागन्धि; ता०-चिवनमेलपोडी; मल०-चिवन अवलपोरी; क०-सूत्रनवी।

स्वरूप—इसका **क्षुप** छोटा ½ से २ फीट तक लम्बा होता है। इसके **काण्ड** की त्वचा श्वेत वर्ण होती है और उस पर सूक्ष्म रोम होते हैं। **पत्र**—३-७ इञ्च लम्बे, १½-२½ इञ्च चौड़े लम्बे या डिम्बाकृति होते हैं। नीचे की ओर इनका रंग हलका हरा और ऊपर की ओर मृदु गहरा हरा होता है। पत्र सिरायें—४-१२ जोड़े तथा पत्रवृन्त ⅓ इञ्च होते हैं। प्रत्येक काण्डसन्धि से ३-४ पत्र निकलते हैं। **पुष्प**-श्वेत, गुलाबी या नीलाभ रक्तवर्ण प्रायः १ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्पदण्ड में अनेक पुष्प होते हैं और पुष्प दल संख्या में पांच होते हैं। **फल**—मटर के समान लाल या नीले तथा व्यास में ¼ इञ्च होते हैं। ग्रीष्मकाल में पुष्प और वर्षाकाल में फल निकलते हैं। **मूल**-अङ्गुलि के समान मोटा, धूसर वर्ण होता है और तोड़ने पर भीतर गोल चक्र और केन्द्ररेखा मिलती है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विकीर्णरूप से होता है, कहीं भी एकत्र अधिक परिमाण में नहीं मिलता। बिहार में अधिक और उससे कम बंगाल, कोंकण और उत्तर प्रदेश में मिलता है। इसके अतिरिक्त बर्मा, लंका, जावा, अंडमन आदि में भी मिलता है।

रासायनिक संघटन—कुल क्षारतत्व १ प्रतिशत जिससे अनेक सक्रियतत्त्व निकाले गये हैं। इसके अतिरिक्त राल, श्वेतसार, गोंद और लवण होते हैं। लवण में पोटाशियम कार्बोनेट, फास्फेट और सिलिकेट, खटिक तथा मैगनीज होता है।

गुण

गुण—रूक्ष। **रस**—तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—निद्राजनन।

कर्म

दोषकर्म—उष्णता के कारण यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म—नाडीसंस्थान-उष्णवीर्य होने से वेदनास्थापन एवं निद्राजनन है। वात शामक होने से यह मस्तिष्कगत उत्तेजना को शान्त करता है। आधुनिक दृष्टि से इसमें उपस्थित राल द्रव्य के द्वारा निद्राजनन कर्म होता है।

पाचन संस्थान—तिक्त और उष्ण होने से यह दीपन, पाचन, पित्तसारक, शूलप्रशमन एवं कृमिघ्न है।

रक्तवह संस्थान—इसका क्षारतत्त्व हृदयावसादक और रक्तवाहिनीप्रसारक है जिससे रक्तभार कम हो जाता है।

प्रजनन संस्थान—यह कामावसादक है तथा आर्त्तवजनन है।

तापक्रम—तिक्तरस के कारण यह आमपाचन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफ, वात और पित्त तीनों दोषों के विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—नाडीसंस्थान, उन्माद और अपस्मार में जब रोगी बहुत उत्तेजित रहता है तब इसे देते हैं। इससे मन शान्त रहता है और धीरे धीरे मस्तिष्क का विकार दूर हो जाता है। अनिद्रा में नींद लाने के लिए रात में सोते समय घी के साथ इसका प्रयोग करते हैं। बिहार में इसी कारण इसे 'पागलपन की जड़ी' कहते हैं।

पाचन संस्थान—इसका प्रयोग अग्निमांद्य, उदरशूल और कृमिरोग में करते हैं। उदरशूल में १ भाग सर्पगन्धामूल, २ भाग कुटजत्वक् और ३ भाग व्याघ्रैरण्डमूल मिलाकर दुग्ध के साथ सेवन कराते हैं।

रक्तवह संस्थान—रक्तभाराधिक्य (High blood pressere) में इसका भूरिशः प्रयोग आजकल हो रहा है और विश्व भर में इस रोग की यह सर्वोत्तम औषध मानी जाती है। इससे रक्तभार में पर्याप्त कमी आ जाती है, नींद भी आती है, भ्रम आदि मानसिक विकार भी शान्त रहते हैं और अन्य कोई उपद्रव भी नहीं होने पाता।

प्रजनन संस्थान—कामावसादक होने से अकारण ध्वजोच्छ्राय एवं कामातिशय की अवस्था में इसका प्रयोग करते हैं। कष्टार्तव में भी देते हैं।

तापक्रम—तीव्रज्वर में इसका प्रयोग करने से ज्वर भी कम हो जाता है और प्रलाप, उद्वेग, अनिद्रा आदि उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—रक्तभार कम करने के लिए—२-५ रत्ती।
निद्राजनन के लिए—७-१५ रत्ती।
उन्माद में—१½-३ माशे।

विशिष्ट योग—सर्पगन्धादि चूर्ण, सर्पगन्धा योग, सर्पगन्धा वटी।

वक्तव्य—उत्तेजित और बलवान् रोगियों पर ही इसका प्रयोग करना चाहिए। दुर्बल और मनोवसादयुक्त रोगियों पर सावधानी से प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

कुक्कुटी सर्पगन्धा च तथा काणविषाणिके।...नैपाली हरितालश्च रक्तोघ्ना ये च कीर्तिताः॥
(सु. उ. ६०)

'वर्षासु छत्राकारा' (डल्हण)

ईषन्नीलारुणसुमदला पुष्पिता ग्रीष्मकाले। वर्षाकाले फलपरिचितिं नीलरक्तां दधाति ॥
मूलं यस्या हरिणधवलं स्थूलमन्तःस्थचक्रम्। चन्द्राख्या सा धवलविटपा सर्पगन्धा प्रसिद्धा॥
सर्पगन्धाऽतितिक्तोष्णा रूक्षा कटुविपाकिनी। दीपनी पाचनी रुच्या शूलप्रशमनी सरा ॥
कफवातहरा निद्राप्रदा हृदवसादिनी। कामावसादिनी चैव हन्ति शूलज्वरक्रिमीन् ॥
अनिद्रां भूतमुन्मादमपस्मारं भ्रमं तथा। अग्निमान्द्यं विषं रक्त-वाताधिक्यं व्यपोहति॥'(स्व०)

१३. अलाबू

परिचय

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी–Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-कुकुर्बिटा लैगिनेरिया (Cucurbita lagenaria) सं०—अलाबू, तुम्बी; हि०—लौआ, लौकी, कद्दू; बं०—लऊ, कोदू; म०—दूध-भोपला; गु०—दूधी, वोपला; अ०-क़रअ, क़रउल् हुलुव्व; फा०-कदूए दराज़, कदूए शीरीं, खियार कदू; अं०—ह्वाइट पम्पकिन (White pumpkin)

स्वरूप—इसकी **लता** भारत में सर्वत्र प्रसिद्ध है। **पुष्प** पीतवर्ण होता है। इसकी दो **जातियाँ** होती हैं-मधुर और कटु। मधुर जाति का फल मधुर एवं कटु जाति का कटु होता है। मधुर का **फल** भी आकारभेद से दो प्रकार का होता है—दीर्घ (लम्बा) और वर्त्तुल (गोल)। श्वेत, कोमल, ताजा और मधुर हो; जो न बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा हो तथा जिसमें रेशे न हों वही अलाबू प्रशस्त माना जाता है। यहां मधुर अलाबू का ही वर्णन किया जाता है। कटु जाति का वर्णन आगे किया जायगा।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ग्राम्य या वन्य रूप में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—ताजे फल में ९०:२६ प्रतिशत जल होता है। सूखे फल में ईथर एक्स्ट्रैक्ट (Ether extract) १.२४%, मांसतत्त्व ०.८७%, शाकतत्त्व ७५.२८%, काष्ठसूत्र १८.०५%, भस्म ४.५६% होते हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ सैपोनिन और वसाम्ल भी होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, सर। **रस**—मधुर। **विपाक**—मधुर।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—निद्राजनन।

कर्म

दोष कर्म—यह वातपित्तशामक है। मधुर-स्निग्ध होने के कारण वात का तथा मधुर-शीत होने के कारण पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-इसका बाह्य प्रयोग दाहप्रशमन, शामक और निद्राजनन है।

आभ्यन्तर-नाडी संस्थान—यह मेध्य, मस्तिष्कशामक एवं निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान—लघु और मधुर शीत होने से यह रोचन और तृष्णानिग्रहण और पित्तशामक है। पत्रस्वरस रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह मधुर शीत होने से हृदय के लिए बल्य और रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध होने से यह कफनिःसारक तथा सन्धानीय है।

मूत्रवह संस्थान—मधुर-शीत होने से फलमज्जा और बीज दोनों मूत्रजनन हैं।

प्रजनन संस्थान—मधुर-स्निग्ध होने से यह शुक्रवर्धक है।

सात्मीकरण—मधुर-स्निग्ध होने के कारण यह बृंहण है।

तापक्रम—मधुर-शीत होने से यह ज्वरहर और दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्निपातज्वर, उन्माद, शिरःशूल तथा मदात्यय में इसकी फलमज्जा का प्रलेप शिर पर करते हैं और इसके बीजों का तैल शिर में लगाते हैं। मस्तिष्कगत रूक्षता एवं निद्रानाश में इसका लेप और नस्य दिया जाता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान-मेध्य और निद्राजनन होने से इसका प्रयोग मस्तिष्कोद्वेग, मानसिक दौर्बल्य, उन्माद तथा अनिद्रा में करते हैं।

पाचनसंस्थान—वातपित्तहर होने से तृष्णा, दाह, अरुचि तथा आमाशय शोथ में इसकी फलमज्जा एवं बीज का प्रयोग होता है। कामला में पत्रस्वरस देते हैं जिससे पित्त का संशोधन एवं संशमन होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तस्तम्भन होने से हृद्रोग एवं रक्तपित्त में यह अत्यन्त प्रशस्त माना गया है।

श्वसनसंस्थान—वातपैत्तिक कास, उरःक्षत, यक्ष्मा तथा रक्तष्ठीवन में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और स्निग्ध होने से मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह तथा पूयमेह में यह अत्यधिक उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसके फल और बीज का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—साधारण दुर्बल व्यक्तियों के लिए पौष्टिक के रूप में यह उपयोगी होता है। ज्वरातिसार आदि से दुर्बल रोगियों के लिए इसका पथ्य दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर, दाह का शामक होने के कारण ज्वर विशेषतः जीर्णज्वर में इसके फल शाक का प्रयोग करते हैं। दाह की शान्ति के लिए इसके बीजों को पीस कर पानक के रूप में देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, बीज, पत्र।

मात्रा—फलस्वरस ५-१० तोले, बीजचूर्ण ३-५ माशे, पत्रस्वरस १-२ तोले

विशिष्टयोग—बीज तैल (रोगन मग्ज तुख्म कद्दू) कद्दू का मुरब्बा।

अहित प्रभाव—इसके अधिक सेवन से कफ की वृद्धि हो जाती है जिससे शरीर में गुरुत्व, अरुचि आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

निवारण—लवंग। **प्रतिनिधि**—कूष्माण्ड।

वक्तव्य—इसके फल का स्वरस पुटपाक विधि से निकालना चाहिए।

× × × ×

'अलाबूः कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्त्तुला। मिष्टतुम्बीफलं हृद्यं वातपित्तापहं गुरु॥
वृष्यं रुचिकरं प्रोक्तं धातुपुष्टिविवर्धनम्।' (भा. प्र.)

'तुम्बी सुमधुरा स्निग्धा पित्तघ्नी गर्भपोषकृत्। वृष्या वातप्रदा चैव बलपुष्टिविवर्धनी॥' (रा. नि.)

(घ) वेदनास्थापन

१४. शाल

परिचय

गुण—वेदनास्थापन, कषायस्कन्ध, आसवयोनिवृक्ष (च०), सालसारादि, रोध्रादि (सु०)

कुल—शाल-कुल (डिप्टरोकार्पी–Dipterocarpeae) ।

नाम—लै०-शोरिया रोबस्टा (shorea robusta); सं०-शाल (शोभायमान), शक्रद्रु (बड़ा वृक्ष), धूपवृक्ष (राल्युक्त); हि०-साल, साखू, सखुआ; बं०-शाल; म०-गु०-शालवृक्ष; ते०-जलरीचेट्टू; ता०-तालूर, कुंगिलियम; म०-कारिमरुथु; क०-बाइल-बोवु; अं०-शाल ट्री (Sal tree) ।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** बड़ा लम्बा, सीधा और अल्पछाय होता है। छोटे वृक्ष की छाल कोमल और बड़े वृक्ष की १–२ इञ्च मोटी, ऊबड़खाबड़ और फटी हुई होती है। **काण्ड** अतिदृढ, सारबहुल और रक्ताभ कपिश होता है। **पत्र**–एकान्तर, साधारण और उज्ज्वल वर्ण होता है। उसकी लम्बाई ६–१० इञ्च और चौड़ाई ४–६ इञ्च होती है। पत्र वृन्त १ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**–श्वेतपीत, कोमल, रोमयुक्त, गुच्छेदार और शाखाप्रलम्ब होते हैं। **फल** ½ इञ्च लम्बा श्वेत वर्ण और कोमल होता है पकने पर धूसर वर्ण हो जाता है। इसके साथ चमसाकार (Spatulate) ५ पत्र लगे रहते हैं। मार्च मास में पुष्प और मई जून में फल लगते हैं। इसका निर्यास पारदर्शक और स्वच्छ होता है इसे राल या धूना कहते हैं। संस्कृत में इसे शालनिर्यास, सर्जरस और यक्षधूप कहते हैं। इसके गुणकर्म प्रायः गन्धाबिरोजा के समान होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की तराई में विशेष होता है। उत्तर भारत में कांगड़ा से आसाम तक तथा दक्षिण भारत में कोरोमण्डल एवं पञ्चमढी में अधिक देखा जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में कषाय द्रव्य होते हैं जो जल में उबालने पर खदिरसार के समान प्राप्त होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, कटु–तिक्त (त्वक्), कषाय-मधुर (राल)।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत (त्वक्), उष्ण (राल)।

प्रभाव—कफपित्तशामक (त्वक्) त्रिदोषहर (राल)।

कर्म

दोषकर्म—यह प्रभाव से तीनों दोषों का विशेषतः-कषायशीत होने से पित्त का तथा कषायकटुतिक्त होने से कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग उत्तेजक, वेदनास्थापन और जन्तुघ्न है। राल का मलहम व्रणशोधन और व्रणरोपण है। इसका धूप भी जन्तुघ्न होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातहर होने से यह वेदना स्थापन है। यह कर्ण-रोगों को दूर करता है एवं चक्षुष्य है।

पाचनसंस्थान—कषाय होने से यह स्तम्भन है। राल उष्ण होने से दीपन-पाचन भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—इसकी छाल कफघ्न है। राल कफनिःसारक और कफदुर्गन्धिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय है। राल मूत्रगत जीवाणुओं को नष्ट करता है।

प्रजननसंस्थान—इससे गर्भाशय का शोथ दूर होता है तथा वाजीकरण है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न और स्वेदापनयन है।

सात्मीकरण—यह कषाय होने से अस्थिभग्न आदि का सन्धानीय है। रूक्षता के कारण इससे मेद का शोषण भी होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—राल त्रिदोषज विशेषतः कफपित्तजनित रोगों में प्रयुक्त होती है। राल त्रिदोषज विकारों में उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण एवं वेदनाशोथयुक्त रोगों में इसकी त्वचा एवं राल का लेप किया जाता है। पूतिहर एवं जन्तुनाशन कर्म के लिए राल का मलहम लगाते हैं। फोड़े, विद्रधि, अग्निदग्ध, दद्रु, विपादिका आदि चर्मरोगों में भी राल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शरीर में कहीं पर वेदना हो तो इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं। विशेष कर अभिघात, व्रण आदि से उत्पन्न वेदना में यह लाभकर होता है। राल का अञ्जन दृष्टिशक्ति को बढ़ाता है तथा कर्ण रोगों में भी प्रयुक्त होता है। कर्णपूय में इसकी छाल के क्वाथ से कान धोते हैं।

पाचनसंस्थान—यह पाचन को ठीक करता है और स्तम्भन होने से अतिसार, रक्तप्रवाहिका और रक्तार्श आदि में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्राव तथा रक्तस्रावजन्य पाण्डु में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कासश्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह में जन्तुघ्न होने के कारण तथा प्रमेह में स्तम्भन होने के कारण इसे देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रदर (रक्त और श्वेत में) शालत्वक् क्वाथ एवं राल का प्रयोग किया जाता है। १½ माशे राल का चूर्ण आध सेर दूध में मिला कर लेने से कामशक्ति को बढ़ाता है।

त्वचा—यह अतिस्वेद एवं कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—अस्थिभग्न, व्रण एवं मेदोरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, निर्यास (राल)।

मात्रा—त्वक् क्वाथ-५-१० तो०, रालचूर्ण—१-३ माशे।

विशिष्टयोग—सर्जरसादि मलहर, अतस्यादि लेप।

अहित प्रभाव—राल उष्ण होने के कारण पित्तप्रकृति वालों के लिए हानिकर है।

निवारण—स्निग्ध पदार्थ दूध, घी आदि।

× × × ×

'शालः कषायो ग्राह्यस्त्वग्दग्धरुक्कफजिद्धिमः। कर्णरोगहरो रूक्षो विषहा व्रणशोधनः॥' (कै. नि.)

'अश्वकर्णः कषायः स्यात् व्रणस्वेदकफक्रिमीन्। ब्रध्नविद्रधिबाधिर्ययोनिकर्णगदान् हरेत्॥' (ध. प्र.)

'कुष्ठकण्डूकृमिश्लेष्मवातपित्तरुजो जयेत्। सर्जयुग्मं कषायं स्याद्वर्ण्यं रुक्षं कफापहम्॥' (ध. नि.)

'रालः स्वादुः कषायश्च स्तम्भनो व्रणरोपणः। विपादीभूतहन्ता च भग्नसंधानकृन्मतः॥' (सा. नि.)

१५. सर्ज

परिचय

गण—कषायस्कन्ध (च०)

कुल—शाल-कुल (डिप्ट्रोकार्पी-Dipterocarpeae).

नाम—लै०-वेटिरिया इण्डिका (Vateria indica); सं०-सर्जक, मरिच-पत्रक (मरिच के समान पत्रवाला), हि०-कहरुवा, सफेद डामर; बं०=कुन्दरो, चन्द्रस; ते०-तेल्लदामरु; ता०-वेल्लै कुनरिकम् ; मल०-पयन ।

स्वरूप—निघण्टुकारों ने इसे शाल का ही भेद बतलाया है। राजनिघण्टु ने 'सर्जयुग्म' से शाल और सर्ज दोनों का वर्णन किया है। इसका वृक्ष शाल के समान ही सदाहरित होता है। इसका निर्यास चन्द्रस, सफेद डामर (हि०) या सुंदरस (पं०) कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण-पश्चिम भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों से ४९.२ प्रतिशत एक तैल प्राप्त होता है जो हरिताभ पीत, सुगन्धि और जमा हुआ होता है। इसमें ओलिक एसिडतथा अन्य वसाम्ल होते हैं।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म शाल के समान हैं। इसका तैल स्नेहन, उत्तेजक और वेदनास्थापन है तथा जीर्ण आमवात में प्रयुक्त होता है। इसका निर्यास धूप में प्रयुक्त होता है।

× × × ×

'सर्जस्तु तुवरस्तिक्तः हिमः स्निग्धोऽतिसारजित् ।
पित्तास्रदोषकुष्ठघ्नः कण्डूविस्फोटवातजित् ॥' (रा. नि.)

१६. कदम्ब

परिचय

गण—वेदनास्थापन, शुक्रशोधन, वमनोपग (च०), न्यग्रोधादि, रोध्रादि (सु०)।

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)

नाम—लै०-ऐन्थोकिफेलस कदम्ब (Anthocephalus cadamba); सं-कदम्ब, नीप, प्रियक, वृत्तपुष्प (गोलपुष्पवाला), हलिप्रिय (वर्षाकाल में पुष्पित होने से किसानों का प्रिय); हि०-कदम; बं०-कदमगाछ; म०-राजकदम्ब; गु०-कदम्ब ।

स्वरूप—इसके वृक्ष बड़े, छायायुक्त और ५०-६० फीट तक ऊँचे होते हैं। **पत्र**-महुये के पत्र के समान, स्निग्ध होते हैं और इस पर सिरायें बड़ी स्पष्ट होती हैं। **पुष्प**-छोटे-छोटे, पीतवर्ण, केशर के समान होते हैं। **फल**-गोल और कठिन तथा पकने पर मधुराम्ल होते हैं।

जातियाँ—निघंटुओं में इसकी अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है। राजनिघण्टु ने तीन प्रकार का बतलाया है—१. धाराकदम्ब-जिसके पुष्प बरसात में आते हैं। यही नीप और राजकदम्ब है। २. धूलिकदम्ब-इसके पुष्प वसन्त में आते हैं। ३. भूमि-कदम्ब-इसका वृक्ष छोटा होता है और पुष्प भी छोटे होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः वंग, उत्तरप्रदेश और मलयदेश में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय। **विपाक**—कटु।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—विषघ्न, त्रिदोषहर।

कर्म

दोषकर्म—यह तीनों दोषों को नष्ट करता है

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह बाह्य प्रयोग करने पर वेदनास्थापन, शोथहर और व्रण का शोधन एवं रोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान को बल देने वाला और वेदना-स्थापन है।

पाचनसंस्थान—इसकी छाल कटु-तिक्त होने से दीपन-पाचन तथा कषाय होने से ग्राही, तृष्णानिग्रहण एवं छर्दिनिग्रहण है। इसका फल गुरु एवं विष्टम्भकारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका मूल मूत्रजनन, मूत्रविरजनीय एवं अश्मरीशर्करानाशन है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रशोधन, स्तन्यजनन तथा योनिदोषहर है।

त्वचा—यह वर्ण्य है अतः वर्णविकारों को दूर करता है।

तापक्रम—कटुतिक्त होने से आमपाचन एवं ज्वरघ्न है और इसका कार्य कुनैन के समान होता है अतः इसे वन्य कुनैन (Wild cinchona) कहते भी हैं। शीत होने से यह दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—कटुतिक्त होने से यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है तथा शरीर में धातुओं की वृद्धि करता है। यह विषनाशक भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों के आच्छादनार्थ इसके पत्र का प्रयोग करते हैं। व्रणशोथ एवं वेदना में इसके पत्रों को गरम कर बाँधते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसकी छाल का लेप नेत्र के चारों ओर करते हैं। कदम्बपत्र-क्वाथ से व्रण धोते हैं तथा मुख रोगों में गण्डूष करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदना की शान्ति के लिए कदम्बत्वक् का क्वाथ एवं निर्यास उपयोगी होता है।

पाचनसंस्थान—अतिसार और ग्रहणी में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं। इसकी त्वक् का चूर्ण या रस जीरा का चूर्ण और चीनी के साथ देने से वमन रुक जाता है। इसके फल का रस ज्वरजन्य पिपासा को शान्त करने के लिए देते हैं। रक्तातिसार में भी इसकी छाल का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्त और शोथ रोग में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग किया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके मूल का क्वाथ अश्मरी, शर्करा एवं मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह एवं योनिव्यापद् में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

प्रदर में इसके पत्रस्वरस एवं क्वाथ का प्रयोग करते हैं। स्तन्यवृद्धि के लिए इसके फल-स्वरस का उपयोग होता है।

त्वचा—व्यङ्ग, न्यच्छ आदि क्षुद्र रोगों में कदम्बत्वक् का लेप करते हैं।

तापक्रम—इसकी छाल तीव्र ज्वरघ्न है अतः इसका प्रयोग ज्वर, दाह में करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में तथा विषों में इसकी छाल एवं फल का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र, फल।

मात्रा—त्वक्चूर्ण-६-१२ रत्ती, फलस्वरस-१-२ तो०, पत्रस्वरस-१-२ तो०।

× × × ×

'सुगन्धिपुष्पः स्वाद्वम्लपक्वसस्यो महोन्नतः। मधूकपत्रसदृशपत्रो राजकदम्बकः॥' (शि. द.)
'कदम्बस्तिक्तकटुकः कषायो वातनाशनः। शीतलः कफपित्तार्तिनाशनः शुक्रवर्धनः।
त्रिकदम्बाः कटुवर्ण्या विषशोफहरा हिमाः। कषायास्तिक्तपित्तघ्ना वीर्यवृद्धिकराः पराः॥'
(रा. नि.)
'कदम्बस्तु कषायःस्याद्रसे शीतो गुणेऽपि च। व्रणसंरोहणश्चापि कासदाहविषापहः॥' (ध.नि.)
'कदम्बो मधुरःशीतः कषायो लवणो गुरुः। सरो विष्टम्भकृद्रूक्षः कफस्तन्यानिलप्रदः॥' (भा.प्र.)
'शीतवीर्यं तत्प्रवालं कषायं दीपनं लघु। रक्तपित्तातिसारघ्नमरोचकविनाशनम्॥' (नि. र.)
'तत्फलं मधुरं शीतं गुरु पित्तास्रवातजित्।' (कै. नि.)

१७. पद्मक

परिचय

गुण—वेदनास्थापन, वर्ण्य, कषायस्कन्ध (च०), सारिवादि, चन्दनादि (सु०)।

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

नाम—लै०-प्रुनस किरेसॉयडिस (Prunus cirasoides); सं०-पद्मगन्धि (कमल के समान गन्धयुक्त), पद्मक (कमल के समान); हि०-पद्माख, पद्मकाठ; म० गु०-पद्मकाष्ठ; अं०-बर्ड चेरी (Bird cherry)।

स्वरूप—इसके बड़े वृक्ष होते हैं जो पुष्प निकलने पर बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। **काण्ड**-गोलाकार, लोहिताभ, ग्रन्थियुक्त होता है तथा इसमें कमल के समान गन्ध होती है। इसकी त्वचा कृष्णरक्त होती है। **पत्र**-३-५ इञ्च लम्बे, दन्तुरधार, चिकने तथा रोमश होते हैं। **पुष्प**-श्वेत या रक्त वर्ण, कदम्ब के समान, पत्रकोणों में होते हैं। इनसे भी कमल की गंध निकलती है। **फल**-गोलाकार आड़ू के समान तथा कषायाम्ल होता है जो खाया जाता है। यह पीत या रक्त वर्ण होता है। इसमें मज्जाभाग कम तथा बीज कठिन होता है। पौष मास में पुष्प एवं फाल्गुन मास में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालयप्रदेश-शिमला, गढ़वाल, सिक्किम, नेपाल, भूटान आदि स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में हाइड्रोसायनिक एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तत्त्व पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कषाय, तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—त्रिदोषहर।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। विशेषतः इसका कांड कफपित्तशमन एवं त्वक् वातशमन है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-इसका प्रलेप वर्ण्य, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न एवं दाह-प्रशमन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान-इसकी छाल में स्थित तत्त्व की क्रिया इस संस्थान पर विशेष होती है, अतः यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तिक्त होने से दीपन-पाचन एवं कषाय होने से स्तम्भन तथा छर्दिनिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—इस संस्थान पर इसका शामक प्रभाव पड़ता है। त्वचा में स्थित तत्त्व के कारण हृदयकेन्द्र पर शामक क्रिया होती है। पित्तशामक होने से यह रक्तस्तम्भन तथा रक्तपित्तहर है।

श्वसनसंस्थान—श्वसनसंस्थान के केन्द्र पर भी इसका शामक कर्म होता है। स्निग्ध होने के कारण यह कासहर, श्वासहर एवं हिक्का निग्रहण है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका बीज मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह स्निग्ध-शीत तथा कषाय होने के कारण शुक्रजनन एवं गर्भस्थापन है।

सात्मीकरण—यह स्निग्ध होने से बल्य है।

त्वचा—शीत कषाय होने से स्वेदापनयन एवं तिक्त होने से कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—तिक्त होने के कारण यह आमपाचन और ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य-वर्णविकार, कण्डू, कुष्ठ, विसर्प एवं दाह में इसका लेप करते हैं।

आभ्यान्तर—नाडीसंस्थान-वेदनास्थापन होने से नाडीशूल आदि वेदना-प्रधान रोगों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—दीपन और स्तम्भन होने से अग्निमांद्य, आमाशयशैथिल्य, वमन, और तृष्णा रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—शामक और स्तम्भन होने से हृद्द्रव, रक्तप्रत्यावर्तन (Regurgitation) मेदःक्षय (Fatty degeneration) तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—इसका प्रयोग कास, श्वास एवं हिक्का में लाभकर है। हिक्का और श्वास में इसके काष्ठ का धुआँ भी लेते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—इसकी बीजमज्जा का प्रयोग अश्मरी और शर्करा में करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य एवं गर्भस्राव आदि गर्भाशय-दौर्बल्यजनित विकारों में इसका प्रयोग होता है। गर्भावस्था में बराबर इसका सेवन करने से गर्भपात आदि का भय नहीं रहता।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह उपयोगी है।

त्वचा—अतिस्वेद एवं कुष्ठ में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—कांड, त्वक् और बीजमज्जा। स्तम्भन और कटुपौष्टिक कर्म कांड में, वेदनास्थापन तथा शामक कर्म त्वक् में एवं अश्मरीनाशन कर्म बीजमज्जा में होते हैं, अतः उन-उन कर्मों के लिए तत्तत् विशिष्ट अंगों का प्रयोग करना चाहिए।

मात्रा—५-१५ रत्ती चूर्ण, २-४ तो० फाण्ट।

वक्तव्य—(१) हाइड्रोसायनिक अम्ल तीव्र विष है अतः इसकी छाल का प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

(२) इसका काण्ड नया काम में लाना चाहिए।

(३) क्काथ बनाने में इसका सत्त्व उड़ जाता है, अतः फाण्ट के रूप में देना चाहिए।

× × × ×

'पद्मकः सूक्ष्मविच्छिन्नपत्रोऽद्रौ पादपोऽफलः। ईषत्पद्मसुगंधि स्यात् पद्मकं रक्तवल्कलम्॥
पद्मकाष्ठं नवं ग्राह्यं रक्तपीतं च वर्णतः।' (शि० द०)

'पद्मकं शिशिरं स्निग्धं कषायं रक्तपित्तनुत्। गर्भस्थैर्यकरं प्रोक्तं ज्वरच्छर्दिविषापहम्॥
मोहदाहज्वरभ्रान्तिकुष्ठविस्फोटशान्तिकृत्।' (ध० नि०)

'पद्मकं शीतलं तिक्तं रक्तपित्तविनाशनम्।' (रा० नि०)

'पद्मकं तुवरं तिक्तं शीतलं वातहृल्लघु। विसर्पदाहविस्फोटकुष्ठश्लेष्मास्रपित्तनुत्॥
गर्भसंस्थापनं वृष्यं वमिव्रणतृषाप्रणुत्।' (भा० प्र०)

'उशीरकालीयकलोध्रपद्मक'''। पृथक्पृथक्चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः।' (च० चि० ४)

१८. वेतस

परिचय

गण—वेदनास्थापन, हृद्य, श्वासहर (च), न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—वेतस-कुल (सैलिकेसी-Salicaceae)।

वर्ग—पञ्चवल्कल।

नाम—लै०-सैलिक्स कैप्रिआ (Salix caprea); सं०-वेतस, वानीर, वञ्जुल, गन्धपुष्प (सुगन्धि पुष्पयुक्त); अभ्रपुष्प (जिसमें श्यामवर्ण के या बरसात में पुष्प हों), हि०-पं०-बेदमुश्क; क०-भ्रेडमुश्क; अ०-खिलाफुल बल्खी; फा०-बेदेमुश्क; अं०-ब्रोड लीव्ड विलो (Broad-leaved willow), गोट्स सैलो (Goat's sallow)।

स्वरूप—इसका वृक्ष १५-३० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-एकान्तर, नोकदार, दन्तुर और हरित वर्ण होते हैं। **पुष्प**-पीत वर्ण और सुन्धित होते हैं। **बीज**-रोमश होते हैं। **शाखायें**-अभिमुख होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ईरान, पश्चिमोत्तर भारत विशेषतः पञ्जाब, काश्मीर में तथा यूरोप में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ४-१० प्रतिशत कषायाम्ल; मोम, वसा, गोंद और २-७ प्रतिशत एक तिल स्फटिकीय ग्लुकोसाइड-सैलिसिन (Salicine) होते हैं। सैलिसिन लालारस के प्रभाव से सैलिजनिन (Saligenin) तथा शर्करा में परिणत हो जाता है। सैलिजनिन का भी कुछ परिणाम वेतसाम्ल (Salicylic acid)

में हो जाता है। पत्तियों पर एक मधुर निर्यास जमकर सूख जाता है जिसे बेद-अङ्गबीन कहते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, **रस**—कषाय, कटु, तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—त्रिदोषहर।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। स्निग्ध होने से वात का, मधुरशीत होने से पित्त का तथा कटुतिक्त होने से कफ का शमन करता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग वेदनास्थापन और दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और मेध्य है। इससे मस्तिष्क को शान्ति एवं नडियों को बल मिलता है।

पाचनसंस्थान—स्निग्ध होने से कोष्ठमार्दवकर, तिक्त होने से दीपन और यकृदुत्तेजक तथा कषाय होने से ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को बल देने वाला तथा रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कषाय होने से सन्धानीय और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने के कारण यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—स्निग्ध होने से वृष्य तथा कषाय होने से योनिदोषहर है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—तिक्त एवं शीत होने के कारण यह ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषहर होने के कारण इसका प्रयोग तीनों दोषों से उत्पन्न विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्राभिष्यन्द और शिरःशूल में अर्क बेदमुश्क का परिषेक करते हैं। इसकी छाल के क्वाथ से अर्श का परिषेक करते हैं। इससे वेदना और दाह की शान्ति होती है और रक्तस्राव बन्द होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मानसिक शैथिल्य, शिरःशूल एवं सन्धिवात आदि वेदनाप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—दीपन होने से अग्निमांद्य, ग्राही होने से ग्रहणी तथा यकृदुत्तेजक होने से यकृद्विकारों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य होने के कारण हृद्दौर्बल्य, हृद्द्रव, हृदयशूल (Angina) में यह अतिशय उपयोगी है। इससे हृदय को शक्ति मिलती है तथा पीड़ा शान्त होती है। रक्तस्तम्भन होने से रक्तपित्त की सभी अवस्थाओं में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—इसका प्रयोग क्षय, रक्तनिष्ठीवन, उरःक्षत और श्वास रोग में करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल होने के कारण मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा तज्जनित क्लैब्य में यह उपयोगी है। स्वप्नदोष

की भी यह अच्छी औषध है। सोने के आध घण्टा पहले रात्रि में २० बूँद इसके तरल सत्त्व को आधा छटाँक जल के साथ लेने से स्वप्नदोष रुक जाता है। योनिशैथिल्य में इसका क्वाथ देते हैं।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से इसका प्रयोग रक्तविकार, विसर्प एवं कुष्ठ में करते हैं।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन होने से ज्वर विशेषतः पित्तज्वर, विषमज्वर और दाहज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—छाल और पुष्प। छाल का स्वरस और क्वाथ तथा पुष्प का अर्क प्रयुक्त होता है। इनके अतिरिक्त, पत्र और मधु (बेद अंगबीन) भी प्रयुक्त होता है।

मात्रा—स्वरस २-५ तो०, क्वाथ ५-१० तो०, अर्क ५-१० तो०।

विशिष्ट योग—अर्क बेदमुश्क।

अहितकर—इसका अतिसेवन करने से शैत्य के कारण वातप्रकोप होने से वातविकार विशेषतः कटिशूल होता है।

निवारण—अर्क गुलाब और शर्करा।

प्रतिनिधि—अर्क बेदसादा और नीलोत्पल।

× × × ×

'वेतसः शीतलो दाहशोथार्शोयोनिरुक्प्रणुत्। हन्ति वीसर्पकृच्छ्रास्रपित्ताश्मरिकफानिलान्॥' (भा० प्र०)

'वञ्जुलस्तुवरस्तिक्तो हन्ति पित्तकफानिलान्। अनुष्णो दाहशोफार्शोविसर्पाश्मरीकृच्छ्रनुत्॥
अतिसारतृषायोनिरुजारक्तव्रणापहा।' (कै० नि०)

'वेतसस्य द्वयं शीतं रक्षोघ्नं व्रणशोधनम्। रक्तपित्तहरं तिक्तं सकषायं कफापहम्॥' ध० नि०

१९. जलवेतस

परिचय

गण—वेदनास्थापन, आसवयोनिसार (च०)।

कुल—वेतस-कुल (सैलिकेसी-Salicaceae)।

नाम—लै०-सैलिक्स टेट्रास्पर्मा (Salix tetrasperma); सं०-जलवेतस (जलासन्न प्रदेश में होने से), नादेय (नदी के किनारे होने के कारण), निकेतन (गृह-निर्माण में उपयोगी), हि०, पं०-बेद, म०-वालुञ्ज, फा०-बेद, बेदसादा, अ०-खिलाफ़, सफ़साफ़, का०-वीर, वेद।

स्वरूप—इसका वृक्ष वेतस से बड़ा लगभग १५-५० फीट ऊँचा होता है। त्वचा श्वेत, काण्डसार लोहिताभ होता है। **पत्र**-३-६ इंच लम्बा, सूक्ष्मरोमश, अण्डाकार तथा दन्तुरधार होते हैं। पत्रपृष्ठ श्वेत एवं पत्रोदर हरा होता है। **पुष्प**-पाण्डुवर्ण, कोमल, मखमली, बाँस के समान और कुछ सुगन्धि होते हैं। पुष्प एक लिंगी होते हैं। **फल**-कठिन और ५ इञ्च लम्बा होता है तथा प्रत्येक फल में ४-६ बीज होते हैं। वसन्त में पुष्प तथा वर्षा में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—नदीनालों के किनारे हिमालय प्रदेश में ६००० फीट की ऊँचाई पर होता है। विशेषतः पश्चिमोत्तर भारत, काश्मीर आदि प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में सैलिसिन (Salicin) नामक तत्व पाया जाता है।

जाति—इसकी बेदमजनूँ, बेदलैला, बेदस्याह आदि अनेक जातियाँ होती हैं। इनकी टहनियों से टोकरे बनाते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, **रस**-तिक्त, कटु, कषाय, **विपाक**-कटु, **वीर्य**-शीत।

कर्म

इसके कर्म, प्रयोग आदि वेतस के समान ही हैं।

× × × ×

'गुणे वेतसवद्बेद्यो जलजो वेतसोऽपि च।' (रव०)

२०. सूची

परिचय

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-ऐट्रोपा बेलाडोना (Atropa belladonna), हि०-साग-अंगूर, अंगूरशफा, पं०-सूची, बं०-येबरुज, बम्बई-गिरबूटी, क०-झलाकफल।

परिचय—इसका क्षुप ४-५ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-स्थूल और मृदु होता है। **पत्र**-३-८ इञ्च लम्बे, प्रान्तभाग पर पतले होते हैं। नये पत्ते रोमश तथा पुराने रोमरहित, एवं नीचे के पत्ते एकान्तर और ऊपर के अभिमुख होते हैं। **फल**-करौंदे के समान काले, चमकीले होते हैं। **मूल**-१ फुट तक लम्बा, १-२ इञ्च मोटा और मांसल होता है।

उत्पत्तिस्थान—६-१२ हजार फीट की ऊँचाई पर-काश्मीर, शिमला, कुमाऊँ, बलूचिस्तान, ईरान में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल और पत्र में ऐट्रोपीन (Atropine) तथा हायोसाइमिन (Hyoscymine) नामक दो क्षारतत्त्व पाये जाते हैं। विदेशी जाति की अपेक्षा भारतीय जाति के क्षुप में क्षारतत्व का परिमाण अधिक होता है। भारतीय जाति के मूल और पत्र में क्षारतत्त्व क्रमशः ०·८१ तथा ०·५० प्रतिशत होते हैं जब कि यूरोपियन जाति में ०·४५ तथा ०·३ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**-तिक्त, कटु। **विपाक**-कटु।
वीर्य-उष्ण। **प्रभाव**-मादक।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से कफवातहर एवं पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—सुरा और स्नेह के साथ मिला कर प्रयोग करने से इसके क्षारतत्त्वों का शोषण त्वचा से होता है। यह त्वचा में स्थित संज्ञावह नाडियों के अग्रभाग को शून्य कर देता है और इस प्रकार स्थानिक संज्ञाहर तथा वेदनास्थापन का कार्य करता है। चेष्टावह तथा स्रावक नाडियों पर भी इसका कुछ आघातक प्रभाव पड़ता

है। इसके सम्पर्क से स्थानीय रक्तवाहिनियाँ पहले संकुचित होती हैं और बाद में प्रसारित। नेत्र में प्रयोग करने से तारकायें विस्फारित होती हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मादक, उत्तेजक, प्रलापजनन एवं वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह दीपन, लालाप्रसेकशमन एवं शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय का अवसादक है।

श्वसनसंस्थान—कफवातहर होने से यह कासहर और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—इससे मूत्र की मात्रा में कोई अन्तर नहीं आता किन्तु मूत्रमार्ग पर शामक प्रभाव पड़ता है।

प्रजननसंस्थान—रूक्ष और उष्ण होने से यह स्तम्भन, शुक्रशोषण एवं स्तन्यनाशक है।

त्वचा—उष्ण और रूक्ष होने से यह कण्डूघ्न और स्वेदापनयन है।

तापक्रम—स्वेदापनयन कर्म के कारण तापक्रम ३-४ डिग्री बढ़ा देता है।

सात्मीकरण—कटु और रूक्ष होने से यह धातु शोषण है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग मूत्र द्वारा १०-२० घण्टों में होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, ग्रन्थिशोथ, आमवात, गृध्रसी आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप या अभ्यंग किया जाता है। नेत्राभिष्यन्द में इसका आश्च्योतन करते हैं। नेत्रगत दवाव बढ़ने पर इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन होने से कम्पशूलप्रधान वातव्याधि में यह उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—दीपन तथा शूलप्रशमन होने से अग्निमांद्य, उदरशूल में इसका प्रयोग होता है। लालाप्रसेक एवं जीर्ण विबन्ध में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, हृदयशूल, हृद्द्रव, हृदय का अनियमित स्पन्दन आदि हृद्विकारों में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—वातश्लैष्मिक कास, श्वास, कुकुरखाँसी में इसका उपयोग लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रमार्गशूल, शय्यामूत्र, वस्तिशोथ एवं वृक्काश्मरी में इसका उपयोग किया जाता है।

त्वचा—अतिस्वेद को रोकने के लिए विशेषतः क्षयजन्य रात्रिस्वेद में लाभकर है।

सात्मीकरण—यह अहिफेन, वत्सनाभ तथा वातामाम्ल विषों का प्रतिविष है।

प्रयोज्य अंग—पत्र और मूल।

मात्रा—चूर्ण $\frac{१}{४}$-$\frac{१}{२}$ र०, टिंक्चर वेलाडोना ५-३० बूंद, ऐट्रोपीन $\frac{१}{२४०}$-$\frac{१}{६०}$ ग्रेन।

विषलक्षणः—मुखशोष, तारकाविस्फार, दृष्टिमांद्य, त्वचाशोष, मूत्रकृच्छ्र, निगलने में कष्ट, उदर्द ये विषलक्षण होते हैं। मृत्यु श्वासावरोध से होती है। उपर्युक्त लक्षण होते ही इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। विशेषतः जब नेत्रतारका विस्फारित हो जाय तो प्रयोग बन्द कर दे।

चिकित्सा—विषलक्षण प्रारम्भ होने पर निम्नांकित उपाय करना चाहिए:—

(१) वामक औषधं या नलिका द्वारा आमाशय प्रक्षालन।

(२) बस्तिशोधन।

(३) प्रतिविष यथा अहिफेन, वत्सनाभ, वातादाम्ल आदि।

(४) इसके अतिरिक्त, टैनिन, चाय, कॉफी, उत्तेजक योग और स्वेदन आदि।

(५) कृत्रिम श्वसन।

सहिष्णुता—शिशु इसकी अधिक मात्रा का सहन करते हैं, वृद्धों में यह सहनशक्ति अत्यल्प होती है। इसके सम्बन्ध में वैयक्तिक असहिष्णुता भी देखी जाती है और यह प्रायः वंशगत होती है। ऐसे व्यक्तियों में इसके सेवन से मुख में लालिमा, मुखशोष तथा रक्तविकार आदि पैत्तिक विकार उत्पन्न होते हैं। अतः पित्तप्रकृति पुरुषों में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

× × × ×

अन्नपाह्वा बलादाना मादनी गिरिसंभवा। करमर्दफला दीर्घमूला सूची प्रकीर्त्तिता॥
सूची तिक्ता कटुर्लघ्वी रूक्षोष्णा मदकारिणी। कफवातहरा पित्तकरा धातुप्रशोषणी॥
लालाप्रसेकशमनी दीपनी शूलनाशिनी। प्रलापजननी हृद्या वेदनास्थापनी तथा॥
कासे श्वासे व्रणे शोथे वातव्याधौ हृदामये। अग्निमांद्ये विषे शूले प्रस्वेदे च प्रशस्यते॥ (स्व.)

२१. पारसीक यवानी

परिचय

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी Solanaceae)।

नाम—लै०-हायोसॉयमस रेटिकुलेटस (Hyoscyamus Reticulatus); सं०-पारसीक यवानी (पारस देश में होने वाली), यावनी (यवन देश में होने वाली), तुरुष्का (तुर्क देश में उत्पन्न होने वाली), मदकारिणी (मादक), हि०-खुरासानी अजवायन; पं०-खुरासानी अजवैन; म०-खुरासानी ओवा; गु०-खुरासानी अजमा; का०-बगरभांग; ता०-कुरासानी मोमाम; ते०-कुरासानी यमानी; अ०-बजुलवज्ज; फा०-तुख्मबङ्ग; अं०-हेनबेन (Henbane)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**-अजवायन से कुछ बड़ा होता है। **कांड**-स्थूल और रोमश तथा **पत्र**-गुलदाउदी के समान मोटे, चौड़े, लम्बे एवं रोमश होते हैं। इनके किनारे कटे हुये होते हैं और वर्ण श्यामहरित होता है। **पुष्प**-अनार के समान किन्तु पुष्पदल मध्य और मूल भाग में रक्ताभ होते हैं। वर्णभेद से ये तीन प्रकार के होते हैं—श्वेत, रक्त और कृष्ण। **बीज**-अजवायन से बड़े, वृक्काकार एवं भूरे या कृष्णवर्ण होते हैं। पुष्प और फल जुलाई-अगस्त मास में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ८ से ११ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। हिमालय प्रदेश में काश्मीर, गढ़वाल, कुमाऊँ आदि में तथा यूरोप, साइबेरिया, मिश्र, एशिया माइनर, खुरासान, बलूचिस्तान में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ¼ स्थिर तैल होता है। पत्र और बीजों में हायोसायमिन (Hyoscyamine) तथा हायोसिन (Hyoscine) नामक क्षारतत्त्व पाये जाते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—मादक।

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक एवं पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-उष्णता के कारण इसका लेप शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान-यह मादक है तथा वातशामक होने से निद्राजनन, वेदनास्थापन तथा आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त होने के कारण रुचिवर्धक, पाचन और क्रिमिनाशन है। उष्ण होने से ग्राही एवं शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—अल्पमात्रा में यह हृदयावसादक है तथा हृदय के विश्राम-काल को बढ़ाने से हृदयबलकारक है। कषाय होने से रक्तस्तम्भन भी है।

श्वसनसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह कफघ्न तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—वातहर होने से मूत्रवहसंस्थान पर भी इसका शामक प्रभाव होता है।

प्रजननसंस्थान—जननेन्द्रिय पर भी इसकी शामक क्रिया होती है अतः यह कामावसादक है।

सात्मीकरण—उष्ण और मादक होने से व्यवायी, विकासी तथा धातुशोषण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य-शोथहर और वेदनास्थापन होने से स्तनशोथ, अंडशोथ, अर्श, सन्धिशूल आदि शोथ-वेदनाप्रधान विकारों में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान-शामक और वेदनास्थापन होने से इसका प्रयोग उन्माद, मस्तिष्कावरणशोथ, अनिद्रा, शूल एवं प्रलाप में करते हैं।

पाचनसंस्थान—उदरशूल, आनाह, गुल्म आदि वातप्रधान उदरविकारों में इसका प्रयोग करते हैं तथा कृमिरोग में भी इसका प्रयोग लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य एवं रक्तस्राव में इसका प्रयोग किया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने के कारण कास में तथा श्वासहर होने से श्वास रोग में प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—शामक होने से वस्तिशोथ, अश्मरी, हस्तिमेह आदि विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शामक होने से शीघ्रपतन, स्वप्नदोष, रजःकृच्छ्र, प्रदर तथा अनियमितार्त्तव में यह लाभकर है। अतिकामवासना को शान्त करने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र-बीज। **मात्रा**—चूर्ण-२-५ रत्ती।
विशिष्ट योग—पाराशीयादि चूर्ण।

विषलक्षण—इसका अतिमात्रा में सेवन करने से भ्रम, कंठशोथ, उन्माद, सन्यास आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। शरीर पाण्डुर एवं शिथिल हो जाता है।

चिकित्सा—विषाक्त लक्षणों के निवारण के लिए आमाशय का प्रक्षालन करके गाय या बकरी का दूध पिलाना चाहिए।

निवारण—शुद्ध मधु।

प्रतिनिधि—अफीम और पोस्तदाना।

वक्तव्य—इसके बीज में प्रायः एक वर्ष तक वीर्य रहता है। हायोसायमिन के अन्य कर्म प्रायः ऐट्रोपीन के समान होते हैं।

× × × ×

'यवानी यावनी रूक्षा ग्राहिणी मोहिनी कटुः।' (रा. नि.)

'पारसीकयवानी तु यवानीसदृशा गुणैः। विशेषात् पाचनी रुच्या ग्राहिणी मादिनी गुरुः॥' (भा. प्र.)

'पारसीकयवानिका पीता पर्युषितवारिणा प्रातः। गुडपूर्वा कृमिजातं कोष्ठगतं पातयत्याशु॥' (च. द.)

२२. गुग्गुलु

परिचय

गण—एलादि (सु०)।

कुल—गुग्गुलु-कुल (बर्सरेसी-Burseraceae)।

नाम—लै०-बाल्समोडेण्ड्रोन मुकुल (Balsamodendron mukul), सं०-गुग्गुलु गुजो व्याधेर्गुडति रक्षति-जो व्याधि से रक्षा करे); देवधूप (देवताओं के धूपमें प्रयुक्त होने वाला); कौशिक (वृक्ष के कोश में होने वाला); पुर (औषधों में श्रेष्ठ); महिषाक्ष (भैंस की आँख के समान कृष्णवर्ण); पलंकष (पलं मांसं कषति हिनस्ति-मांस को कम करनेवाला लेखन होने के कारण); कुम्भ (वृक्ष के कुम्भाकार कोश से निकलने वाला); उलूखल (वृक्ष के उलूखलाकार कोश से निःसृत); हि०-गूगल, गुग्गुल; गु०-गुगल; सिं०-गुगरु; क०-काण्ठगण; ता०-गुक्कुलु, गुक्कल, मैसाच्चि कुंगिलियम; ते०-मैषाक्षी, गुम्बुलु; अ०-मुक्लूल् यहूद; फा०-बूए जहूदान; अं०-गमगुग्गुल (Gum-guggul), इण्डियन बेडिलियम (Indian bedellium)।

स्वरूप—इसका वृक्ष ४-६ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-नीम के समान संयुक्त, एकान्तर तथा पत्रकोणोद्भूत होते हैं। **पुष्प**-रक्तवर्ण और पञ्चदल होते हैं। **फल**-मांसल, लंब-गोल और रक्तवर्ण होते हैं। इसका निर्यास-गाढ़ा, सुगंधि तथा अनेक वर्ण का होता है। यह अग्नि में जलता है, धूप में पिघल जाता है तथा गरम जल में डालने पर दूध के समान हो जाता है।

जातियां—भावमिश्र, कैयदेव आदि ने गुग्गुलु की वर्णभेद से महिषाक्ष, महानील, कुमुद, पद्म और कनक ये पाँच जातियाँ बतलाई हैं जो क्रमशः कृष्ण, नील, कपिश, रक्त और पीतवर्ण होते हैं। इनमें प्रथम और अन्तिम मनुष्य में उपयोगी है तथा शेष तीन पशुचिकित्सा में उपयुक्त होती हैं। व्यवहार में दो प्रकार का गुग्गुलु मिलता है-१. कणगूगल, २. भैंसा गूगल। कणगूगल मारवाड़ में होता है और इसके रक्ताभ पीत कण होते हैं, यह कोमल भी होता है। भैंसा गूगल सिन्ध और कच्छ आदि में होता है और इसका वर्ण

हरिताभ पीत होता है। कणगूगल और भैंसा गूगल शास्त्रोक्त कनक और महिषाक्ष गुग्गुलु की जातियाँ प्रतीत होती हैं। कण और भैंसा क्रमशः कनक और महिषाक्ष के अपभ्रंश रूप हैं। यूनानी विद्वानों ने देश और वर्ण के भेद से इसकी अनेक जातियाँ मानी हैं जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं:—

१. **मुक़्ले अर्ज़क**—रक्ताभ। २. **मुक़्ले यहूद**—पीताभ।
३. **मुक़्ले सक़लावी**—कपिश। ४. **मुक़्ले अरबी**—रक्तकपिश।
५. **मुक़्ले हिन्दी**—श्यामवर्ण।

प्रथम दो जातियाँ क्रमशः आयुर्वेदोक्त पद्म और कनक प्रतीत होती हैं।

प्रशस्त गुग्गुलु का लक्षण—स्निग्ध, कोमल, पिच्छिल, मधुरगंधि, तिक्त, पीताभ, पानी में शीघ्र घुलने वाला तथा मिट्टी, बालू आदि से रहित गुग्गुलु प्रशस्त माना जाता है। इसके विपरीत शुष्क, दुर्गन्धि, विवर्ण तथा निर्वीर्य गुग्गुलु नहीं लेना चाहिए। गुग्गुलु में प्रायः बीस वर्षों तक वीर्य रहता है।

उत्पत्ति स्थान—इसके पौधे विशेषतः मरुभूमि में होते हैं। अरब, अफ्रीका तथा भारतवर्ष के सिन्ध, मारवाड़, कच्छ, काठियावाड़, आसाम, पूर्व बंगाल, बरार, मैसूर आदि प्रदेशों में होता है।

संग्रहकाल—सूर्य की किरणों से पिघल कर ग्रीष्म ऋतु में इसके वृक्षों से निर्यास प्रचुर मात्रा से निकलता है। शिशिर और हेमन्त ऋतुओं में जब वह जम जाय तब संग्रह करना चाहिए।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, राल्युक्त गोंद तथा एक तिक्त सत्त्व पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, पिच्छिल, सूक्ष्म, सर।
रस—तिक्त, कटु, मधुर, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण। **प्रभाव**—त्रिदोषहर।

कर्म

दोषकर्म—गुग्गुल मधुर उष्ण तथा स्निग्ध-पिच्छिल होने के कारण वात का, कषाय-मधुर होने के कारण पित्त का तथा तिक्तकटु एवं तीक्ष्ण होने से कफ का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण एवं जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक होने के कारण वेदनास्थापन एवं बल्य होने से नाडियों के लिए बलकर है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त और सूक्ष्म होने से दीपन; स्निग्ध-पिच्छिल सर और तीक्ष्ण होने से अनुलोमन, तिक्त और उष्ण होने से यकृदुत्तेजक, अर्शोघ्न और कृमिघ्न होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तकणवर्धक, श्वेतकणवर्धक तथा रक्तप्रसादन है। यह शोथहर तथा गंडमालानाशक भी है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्धपिच्छिल होने से यह कफनिःसारक और संधानीय तथा सुगंधि और कृमिघ्न होने के कारण कफदुर्गन्धहर है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने से यह अश्मरीभेदन और मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण-तीक्ष्ण होने से कामोत्तेजक और आर्त्तवजनन, स्निग्ध-पिच्छिल होने से वृष्य एवं वन्ध्यात्वदोष का निवारक है।

सात्मीकरण—इसका शरीर के सभी संस्थानों को उत्तेजना एवं शक्ति मिलती है अतः यह रसायन और बल्य है। नया गुग्गुलु स्निग्ध होने के कारण बल्य तथा पुराण गुग्गुलु रूक्ष होने के कारण लेखन होता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं वर्ण्य है।

तापक्रम—उष्ण होने से यह शीतप्रशमन है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषज विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, आमवात, गण्डमाला, अपची, चर्मरोग, प्लेग, अर्श आदि पर इसका लेप करते हैं। दुर्गन्ध और कृमि को नष्ट करने के लिए निवासस्थान एवं व्रणों का धूपन इससे करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गुग्गुलु नाडीशूल, सन्धिवात, आमवात, गृध्रसी, अर्दित, पक्षाघात आदि समस्त वातव्याधि के लिए सर्वप्रसिद्ध महौषध है। वातरक्त में भी इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान-अग्निमांद्य, विबन्ध, यकृद्रोग, अर्श, कृमि में इसका प्रयोग लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, पांडु आदि में इसका उपयोग करते हैं। उपदंश-जनित रक्तविकार में भी इसका प्रयोग होता है। शोथ, गंडमाला, अपची, ग्रन्थि, श्लीपद आदि में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और बल्य होने से जीर्णकास, श्वासकास एवं क्षय की अवस्थाओं में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि मूत्रगत विकारों में इसका प्रयोग होता है। इससे अश्मरी टूट कर निकल जाती है और मूत्र भी स्वच्छ होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, क्लैब्य, कष्टार्त्तव तथा अन्य योनिव्यापत् में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—नये गुग्गुल का प्रयोग दौर्बल्य और कृशता में तथा पुराने गुग्गुलु का प्रयोग प्रमेह और मेदोरोग में करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ और वर्णविकार में यह उपयोगी है।

तापक्रम—शीतजन्य विकार एवं शीतज्वर आदि में शीतजन्य उपद्रवों की शान्ति के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—४-१२ रत्ती।

विशिष्ट योग—योगराज गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुलु, चन्द्रप्रभा वटी।

शोधन—गोदुग्ध में स्वेदन करने से गुग्गुलु शुद्ध हो जाता है।

गुग्गुलुसेवनकाल में परिहार—गुग्गुलु का सेवन करते समय अम्ल, तीक्ष्ण, मद्य, अजीर्ण भोजन, मैथुन, व्यायाम, आतपसेवन तथा क्रोध का सेवन निषिद्ध है।

अहित प्रभाव—इसके मिथ्यायोग से यकृत् और फुफ्फुस को हानि पहुँचती है।

निवारण—इसके अहित प्रभावों के निवारण के लिए कतीरा और केशर का प्रयोग करते हैं।

प्रतिनिधि—एलुका और बोल।

× × × ×

'सुगंधिः सुलघुः सूक्ष्मस्तीक्ष्णोष्णः कटुको रसः। कटुपाकः सरो हृद्यो गुग्गुलुः स्निग्धपिच्छिलः॥
स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वतिलेखनः। तैक्ष्ण्यौष्ण्यात् कफवातघ्नः सरत्वान्मलपित्तनुत्॥
सौगन्ध्यात् पूतिकोष्ठघ्नः सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः।' (सु.)

'गुग्गुलुर्देवधूपश्च जटायुः कौशिकः पुरः। कुम्भोलूखलकं क्लीबे महिषाक्षः पलंकषः॥
महिषाक्षो महानीलः कुमुदः पद्म इत्यपि। हिरण्यः पञ्चमो ज्ञेयो गुग्गुलोः पञ्च जातयः॥
भृङ्गाञ्जनसवर्णस्तु महिषाक्ष इति स्मृतः। महानीलस्तु विज्ञेयः स्वनामसमलक्षणः॥
कुमुदः कुमुदाभः स्यात् पद्मो माणिक्यसंनिभः। हिरण्याख्यस्तु हेमाभः पञ्चानां लिंगमीरितम्॥
महिषाक्षो महानीलो गजेन्द्राणां हितावुभौ। हयानां कुमुदः पद्मः स्वस्त्यारोग्यकरौ परौ॥
विशेषेण मनुष्याणां कनकः परिकीर्त्तितः। कदाचिन्महिषाक्षश्च मतः कैश्चिन्नृणामपि॥
गुग्गुलुर्विशदस्तिक्तो वीर्योष्णः पित्तलः सरः। कषायः कटुकः पाके कटुरूक्षो लघुः परः॥
भग्नसन्धानकृद्वृष्यः सूक्ष्म स्वर्यो रसायनः। दीपनः पिच्छिलो बल्यः कफवातव्रणापचीः॥
मेदोमेहाश्मवातांश्च क्लेदकुष्ठाश्ममारुतान्। पिडकाग्रन्थिशोफार्शोगंडमालाकृमीञ्जयेत्॥
माधुर्याच्छमयेद्वातं कषायत्वाच्च पित्तहा। तिक्तत्वात् कफजित्तेन गुग्गुलुः सर्वदोषहा॥
स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वतिलेखनः। स्निग्धः काञ्चनसंकाशः पक्वजम्बूफलोपमः॥
नूतनो गुग्गुलुः प्रोक्तः सुगन्धिर्यस्तु पिच्छिलः। शुष्को दुर्गन्धिकश्चैव त्यक्तप्रकृतिवर्णकः॥
पुराणः स तु विज्ञेयो गुग्गुलुर्वीर्यवर्जितः।
अम्लं तीक्ष्णमजीर्णं च व्यवायं श्रममातपम्। मद्यं रोषं त्यजेत् सम्यग् गुणार्थी पुरसेवकः॥'
(भा. प्र.)

'मरुभूमिषु जायन्ते प्रायशः पुरपादपाः। भानोर्मयूखैः सन्तप्ताः ग्रीष्मे मुञ्चति गुग्गुलुम्॥
हिमान्विते हेमन्ते च विधिना तं समाहरेत्।'
'आतपैस्ते विलीयन्ते क्षिप्ताश्चाग्नौ ज्वलन्ति हि। स्वभावविशदाः स्निग्धाः स्वामोदाः कण्ठशोधाः॥
सर्वे समानवीर्यास्ते सर्वे रसगुणैः समाः। आस्वादे तिक्तकटुकाः कषायाः स्वादवः परम्॥'
'कृष्णः शोणितपित्ते च श्लेष्मपित्ते च पिंगलः। वातपित्ते तथा श्वेतो गुग्गुलुः शस्यते परम्॥'
(कै. नि.)

'वह्नौ ज्वलन्ति तपने विलयं प्रयान्ति, क्लिद्यन्ति कोष्णसलिले पयसा समानाः।
ग्राह्याः शुभाः परिहरेच्चिरकालजाता-नङ्गारवर्णसमपूयविगन्धवर्णान्॥' (प्रयोगामृत)

२३. एरण्ड

परिचय

गण—भेदनीय, स्वेदोपग, अंगमर्दप्रशमन, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि, अधोभागहर, वातसंशमन (सु०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युफॉर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-रिसिनस कॉम्युनिस (Ricinus communis), सं०-एरण्ड (आ समन्तात् ईरयति अंगानि-वायु का शमन करने से स्तब्धता को दूर कर अंगों को गतिशील बनाने वाला); गन्धर्वहस्त (गन्धर्वों के हाथ के समान पत्र वाला); पञ्चांगुल (पाँच

अंगुलियों से युक्त पत्र वाला); वर्धमान (शीघ्र बढ़ने वाला गुल्म); दीर्घदण्ड (पत्रवृन्त लम्बा होने के कारण); चित्रक (बीज चित्रित होने के कारण); वातारि (वातशामक होने से); उत्तानपत्रक (फैले हुये पत्र होने के कारण); व्याघ्रपुच्छ (व्याघ्रपुच्छ के समान पुष्पमञ्जरी होने से); चञ्चु (फल फटने पर चञ्च्वाकार होने से या गमनशक्ति को बढ़ाने से-चञ्चयति गमयति इति); उरुबूक (उरुं महान्तं वायुं वायति शोषयति-प्रकुपित वात को शान्त करने वाला); व्यडम्बक (व्यडं मलमम्बयति स्रंसयति-जो मल का शोधन करे); हि०-रेंड़ी, अंडी; बं०-भेरेंडा; म०-एरंडी; गु०-एरंडो, एरंडियो; अ०-खिर्वअ; फा०-बेद अञ्जीर; ता०-अमनक्कु, चित्तमणि; ते०-एरामुडपु; मलचित्तमनकु; क०-हरलु।

स्वरूप—इसका गुल्म ५-१२ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-हरित या रक्ताभ, चौड़े, खण्डित तथा अङ्गुलिवत् प्रवर्धनों से युक्त होते हैं। पत्रवृन्त ४-१२ इञ्च लम्बा होता है। पुष्पदण्ड मोटा अनेक शाखायुक्त होता है। **पुष्प** एकलिंगी होता है। पुंपुष्प-$\frac{१}{२}$ इञ्च व्यास का स्त्रीपुष्प के ऊपर होता है। पुंकेशर अनेक होते हैं। गर्भाशय तीन आवरण वाला, स्त्रीकेशर फैला हुआ रक्तवर्ण होता है। **फल**-कंटकयुक्त और द्विकोषीय होता है। **बीज**-लम्बे, स्निग्ध, मांसल, धूसर और कृष्ण तथा श्वेतचित्रित होते हैं। **मूल**-सूक्ष्म होता है।

जाति—इसकी दो जातियां होती हैं-श्वेत और रक्त। रक्तजाति के एरण्ड का काण्ड और पत्र रक्तवर्ण होते हैं। श्वेत भी दो प्रकार का होता है-छोटा और बड़ा। छोटे एरण्ड के बीजों का तैल और मूल तथा बड़े एरण्ड के पत्र प्रायः औषध में प्रयुक्त होते हैं। रक्त एरण्ड का तैल प्रयुक्त होता है। आयु की दृष्टि से भी यह दो प्रकार का होता है-(१) बहुवर्षायु और (२) एकवर्षायु। बहुवर्षायु के फल और बीज बड़े होते हैं तथा उनमें तैल की मात्रा भी अधिक होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारतवर्ष में होता है किन्तु विशेषतः मद्रास, बंगाल और बम्बई के प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें स्थिर तैल ४५%, मांससार २०%, पिच्छिलद्रव्य, शर्करा, श्वेतसार और क्षार १०% होते हैं। इनके अतिरिक्त, बीजों में एक मांसजातीय विषाक्त तत्व होता है जिसे 'राइसिन' (Ricin) कहते हैं। तैल सुरासार में विलेय होता है और इसमें मुख्यतः राइसिन ओलिएट, पामिटिन, स्टीयरिन आदि होते हैं।

वक्तव्य—इसका तैल दो प्रकार से प्राप्त किया जाता है:—१. शीतविधि-इसमें विना ताप दिये बीजों को दबाकर तैल निकाल लिया जाता है। यह तैल वर्णरहित या हलका पीला, गन्ध-रहित तथा किंचित् कटुरस होता है। २. उष्णविधि-इसमें बीजों को जल में उबाल कर या दबाने के समय कुछ ताप देकर तैल प्राप्त किया जाता है। ताप से शीघ्र द्रवीभूत होने से इस विधि के द्वारा तैल अधिक मात्रा में प्राप्त होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सूक्ष्म। **रस**—मधुर, कटु, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशमन एवं पित्तवर्धक है। इसका तैल माधुर्यातिशय के कारण पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—वातहर होने से यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक और बल्य होने से यह वेदनास्थापन, मेध्य और अंगमर्दप्रशमन है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, तीक्ष्ण होने से भेदन, कृमिघ्न और कृमिनिःसारक तथा स्निग्ध होने से स्नेहन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने के कारण यह मूत्रविशोधन है।

प्रजननसंस्थान—मधुरस्निग्ध होने से वृष्य, स्तन्यजनन और तीक्ष्ण होने से शुक्रशोधन तथा गर्भाशयशोधन है।

सात्मीकरण—मधुरस्निग्ध होने से यह बल्य और वयःस्थापन है। विषघ्न भी है।

त्वचा—उष्ण होने से यह स्वेदोपग और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—स्वेदजनन और पाचन होने से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। तैल पैत्तिक विकारों में भी देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कटिशूल, गृध्रसी, पार्श्वशूल, हृदयशूल, आमवात, सन्धिशोथ, नाडीदौर्बल्य, चर्मरोग, वातरक्त, स्तनशोथ, कण्ठशोथ आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में पत्र गरम कर बांधते हैं या एरण्ड तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन और बल्य होने से इसका प्रयोग नाडीशूल, पक्षाघात, अर्दित, कम्पवात, गृध्रसी आदि वातविकारों में तथा शिरःशूल, अंगमर्द आदि रोगों में किया जाता है।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग उदररोग, शूल, गुल्म, प्लीहा, यकृत्, अर्श, व्रध्न और कृमिरोग में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृदयशूल तथा शोथरोग में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कास और श्वासकष्ट में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और वस्तिशूल में देने से वेदना शान्त होती है और मूत्र भी साफ होता है।

प्रजननसंस्थान—इसका प्रयोग शुक्रमेह, शुक्रविकार, स्तन्यदोष, योनिव्यापत् तथा वृद्धिरोग में करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है। एरण्ड के पत्रांकुर को जल में पीस छानकर सर्पदष्ट रोगी को पिलाते हैं। इससे वमन और विरेचन के द्वारा विष निकल जाता है। कल्क को दंशस्थान पर बाँधते भी हैं। यह योग वत्सनाभ और अहिफेन के विष में भी लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ आदि रक्तविकारों में इसका उपयोग किया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में भी इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, बीज, तैल।

मात्रा—मूलकल्क ३–६ मा०, पत्रकल्क १–२ तो०; बीज २–६ दाने; तैल २–५ तो०।

विशिष्ट योग—एरण्डपाक, एरण्डमूलादि क्वाथ, एरण्डसप्तक क्वाथ।

× × × ×

'एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम्।' (च.)
'लघु भिन्नशकृत्तिक्तं लांगलक्युरुबूकयोः (शाकम्)।' (च.)
'एरण्डतैलं मधुरमुष्णं तीक्ष्णं कटुकषायानुरसं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वयःस्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृतिबलकरं वातकफहरमधोभाग-दोषहरं च। (सु. सू. ४५)
'शुक्ल एरण्ड आमण्डश्चित्रो गन्धर्वहस्तकः। पञ्चांगुलो वर्धमानो दीर्घदण्डो व्यडम्बकः॥
रक्तोऽपरो रुबूकः स्यादुरुबूको रुबुस्तथा। व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुत्तानपत्रकः॥
एरण्डयुग्मं मधुरमुष्णं गुरु विनाशयेत्। शूलशोथकटीबस्तिशिरःपीडोदरज्वरान्॥
ब्रध्नश्वासकफानाहकासकुष्ठाममारुतान्। एरण्डपत्रं वातघ्नं कफक्रिमिविनाशनम्॥
मूत्रकृच्छ्रहरं चापि पित्तरक्तप्रकोपणम्। वातार्यग्रदलं गुल्मबस्तिशूलहरं परम्॥
कफवातकृमीन् हन्ति वृद्धिं सप्तविधामपि। एरण्डफलमत्युष्णं गुल्मशूलानिलापहम्॥
यकृत्प्लीहोदरार्शोघ्नं कटुकं दीपनं परम्। तद्वन्मज्जा च विड्भेदी वातश्लेष्मोदरापहा॥'
(भा. प्र.)
'निष्कुष्यैरण्डबीजानि पिष्ट्वा क्षीरं विपाचयेत्। तत् पानं तु कटीशूले गृध्रस्यां परमौषधम्॥'
(भा. प्र.)
'दशमूलकषायेण पिबेद्वा नागराम्भसा। कटिशूलेषु सर्वेषु तैलमेरण्डसंभवम्॥' (च. द.)
'श्वेतैरण्डः सकटुकरसस्तिक्त उष्णः कफार्त्तिध्वंसं धत्ते ज्वरहरमरुत्कासहारी रसार्हः।
रक्तैरण्डः श्वयथुपवनभ्रान्तिरक्तार्त्तिपाण्डु-भ्रान्तिश्वासज्वरकफहरोऽरोचकघ्नो लघुश्च॥' (ए. नि.)
'एरण्डो हन्ति वृष्यो गुरुमधुरतरः शोधनः श्वासवर्ध्मान्,
गुल्मानाहोदरार्शःकसनकफमरुत्पित्तमेहामवातान्।
हन्यात् पक्वस्याख्यशूलक्रिमिपवनरुजान् रक्तपित्तप्रकोपी
पुष्पं तस्यापि वर्ध्मानिलकफगुदजान् गुल्मशूलोर्ध्ववातान्॥' (शोढल)
'आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः। एक एव निहन्तायमेरण्डस्नेहकेसरी॥' (भा. प्र.)
'क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः। बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीररसौदनः॥' (च. चि. २९)

२४. अङ्कोल

परिचय

कुल—अंकोल-कुल (कॉर्नेसी–Cornaceae)।

नाम—लै०–एलेञ्जियम लेमार्की (Alangium lamarckii); सं०–अंकोल, अंकोट, दीर्घकील (लम्बे कीलों वाला); रेची (रेचक त्वक् होने से); गन्धपुष्प (सुगंधि पुष्पयुक्त); पीतसार (पीतवर्ण काष्ठयुक्त); ताम्रफल (ताम्रवर्ण फलवाला); गुप्तस्नेह (बीज और काष्ठ में स्नेह होने के कारण)। हि०–अंकोल, ढेरा; म० गु०–अंकोल; बं०–आंकोड़, वाघ आँकड़ा; ते०–आसकोलामु चेट्टू; ता०–एलाङ्गि; अं०–एलाङ्गि (Alangy)।

स्वरूप—इसका वृक्ष अत्यन्त सुन्दर १०–२० फीट ऊंचा होता है। **छाल**–½ इञ्च मोटी, धूसर वर्ण होती है। **शाखायें**–श्वेत और तीक्ष्णाग्र कंटकों से युक्त होती हैं। **पत्र**–३–६ इञ्च लंबे, १–२ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रदण्ड के दोनों ओर जोड़े पत्रक होते हैं और अग्रभाग में केवल एक पत्र होता है। पत्तियों में गन्ध भी होती है। **पुष्प**–गुच्छों

में, पीताभ श्वेत और सुगंधि होते हैं। पुष्पदल–५–१० तथा पुंकेशर २०–३० होते हैं। **फल**–लीची के समान किन्तु स्निग्ध, सूक्ष्मरोमयुक्त, कृष्ण या रक्तवर्ण होते हैं। **बीज**–रक्तवर्ण और तैलयुक्त होते हैं। इस वृक्ष में पुष्प वसन्त में और फल ग्रीष्म में देखे जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह जांगल और पार्वत्य भूमि में विशेषतः होता है। भारत के कोंकण प्रदेश में अधिक देखा जाता है। इसके अतिरिक्त, चीन, मलाया, लंका और फिलिपाइन्स आदि देशों में भी होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एलेञ्जीन (Alangine) नामक एक तिक्त सत्त्व पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सर। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय। **विपाक**—कटु। **वीर्य**—उष्ण। **प्रभाव**—विषघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, कटु एवं उष्ण होने से कफवातशामक तथा पित्तसंशोधन है। फल वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल वेदनास्थापन एवं व्रणरोपण है। छाल विषघ्न और शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—स्निग्ध, उष्ण होने से यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह रेचन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है। अधिक मात्रा में देने पर वामक भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय एवं रक्तवाहिनियों का प्रसार करता है जिससे रक्तभार कम होता है। ऐसा देखा गया है कि ऐलेञ्जिन सलफेट (Alangine sulphate) का सिरा में अन्तःक्षेप करने से रक्तभार ३०–४० मि॰ मी॰ शीघ्र कम हो जाता है किन्तु यह कमी केवल १–२ मिनट तक ही रहती है और फिर रक्तभार प्राकृत हो जाता है। यह कुष्ठघ्न और शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—इसके प्रयोग से श्वसन अनियमित हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से मूत्रल है।

सात्मीकरण—इसका फल शीतल, बल्य और बृंहण है। त्वक् विषघ्न है तथा विशेष कर जांगम विष (सर्प, मूषक, कुत्ते आदि) में प्रयुक्त होता है। अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक भी है।

त्वचा—यह स्वेदजनन एवं त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है तथा इसका फल दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोष प्रयोग—इसकी छाल का प्रयोग कफवातविकारों में तथा फल का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वेदनाप्रधान रोगों तथा व्रण में तैल लगाते हैं और

चूहे, साँप, कुत्ते आदि के काटने पर दंशस्थान पर छाल का लेप करते हैं। इससे विष दूर हो जाता है और पीड़ा, शोथ आदि शान्त हो जाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन होने से सन्धिवात, नाडीशूल आदि वातविकारों में उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—संशोधन होने के कारण जलोदर, अर्श तथा कृमि में इसका प्रयोग करते हैं। यह इपीकैकुआना का प्रतिनिधि माना जाता है।

रक्तवहसंस्थान—इसका प्रयोग रक्तभाराधिक्य तथा रक्तविकारों में करते है। शोथ में भी यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह में देने से मूत्र स्वच्छ आता है तथा वेदना शान्त होती है।

सात्मीकरण—मूषक, सर्प आदि के काटने पर इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं। इसके फल का प्रयोग क्षय, रक्तपित्त आदि में करते हैं। अंकोलतैल का नस्य रसायन है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प, फिरंग आदि त्वग्दोषों में इसका प्रयोग किया जाता है।

तापक्रम—तिक्त और स्वेदजनन होने से ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, बीज।

मात्रा—३-५ रत्ती (स्वेदजनन, मूत्रजनन आदि कर्मों के लिए), ३ माशे (वमन के लिए), १-२½ रत्ती (रक्तशोधक-कुष्ठ आदि में)

बीजतैल—बाह्य प्रयोग के लिए।

विशिष्ट योग—अंकोलतैल।

× × × ×

'अंकोलोऽङ्कुलिपत्रः स्यात् पादपो दृढमूलकः। शुभ्रपुष्पो ताम्रफलः कंटकी वनवासी च ॥' (शि. द.)

'अंकोलः स्निग्धतीक्ष्णोष्णः कटुको वातनाशनः। कुकुराखुविषं हन्ति ग्रहजन्तुविषापहः ॥ भूतहृद्विषहृच्चैव कण्ठशूलस्य शोधनः।' (ध. नि.)

'अंकोटो दीर्घकीलः स्यादंकोलश्च निकोचकः। अंकोटकः कटुस्तीक्ष्णः स्निग्धोष्णस्तुवरो लघुः ॥ रेचनः कृमिशूलामशोफग्रहविषापहा। विसर्पकफपित्तास्रमूषिकाहिविषापहा ॥ तत्फलं शीतलं स्वादु श्लेष्मघ्नं बृंहणं गुरु। बल्यं विरेचनं वातपित्तदाहक्षयास्रजित् ॥' (भा. प्र.)

'अंकोलः कटुकः स्निग्धो विषलूतादिदोषनुत्। कफानिलहरः सूतशुद्धिकृत् रेचनीयकः ॥ (रा. नि.)

'अंकोलमूलकल्को वा बस्तमूत्रेण कल्कितः। पानालेपनयोः युक्तः सर्वाखुविषनाशनः ॥ (अ. हृ.)

'नस्यं चांकोलतैलेन कुर्यान्मृत्युजरापहम्। निष्कार्धनिष्कं वर्षैकं जीवेद्वर्षशतत्रयम् ॥ (र. र.)

२५. प्रसारिणी

परिचय

कुल-मञ्जिष्ठा—कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)

नाम—लै०-पिडेरिया फिटिडा (Paederia foetida), सं०-प्रसारिणी (प्रसार्यतेऽङ्गमनया-स्तब्ध और संकुचित अंगों को फैलाने वाली या शाखा-प्रशाखाओं से फैलने वाली); प्रतानिनी (भूमि पर फैलने वाली); सरणी (अंगों को फैलाने वाली या स्वयं फैलने वाली); भद्रपर्णी (सुन्दर पत्र वाली); राजवला (बलानां बलप्रदानां राजेव—

वलवर्धक होने के कारण); सारणी (रेचक), हि०-पसरन, गन्धप्रसारनी; म०-हिरनवेल, गु०-गन्धान; ता०-पिनरीसंगाई; ते०-सविरेल; बं०-गन्धभादुलिया; अं०-चाइनीज फ्लावर प्लाण्ट (Chinese flower plant)।

स्वरूप—इसकी विशाल प्रतानिनी रोमश लता होती है। **पत्र**-काण्ड पर दूर दूर दो की संख्या में अभिमुख लगते हैं। ये भालाकार, लट्वाकार या हृदयाकृति, २-६ इञ्च लम्बे और $\frac{3}{4}$-२$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े होते हैं। नीचे के पत्ते बड़े, चौड़े और ऊपर के कुछ छोटे और पतले होते हैं। इन्हें मसल कर सूँघने से बड़ी दुर्गन्ध आती है। उबालने से यह दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है। **पुष्प**-नीललोहित, पीकाकार, पुष्पाधार, रोमयुक्त और पुष्पदल ५ होते हैं। **फल**-पंखाकार, पीत वर्ण और वर्तुल $\frac{1}{3}$-$\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे होते हैं। **बीज**-दानेदार और छोटे होते हैं। वर्षा के अन्त और शरत्काल में पुष्प एवं शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—जलप्राय स्थानों में पूर्वी हिमालयप्रदेश में पाँच हजार फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। विशेषतः नेपाल, आसाम, बंगाल आदि में होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक दुर्गन्धि उड़नशील तैल, अल्फा पिडेरिन (Alpha paederine) और विटा पिडेरिन (Beta pacderine) नामक दो क्षारतत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, सर। **रस**-तिक्त। **विपाक**-कटु। **वीर्य**-उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशमन तथा सर होने से पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उष्ण होने से वेदनास्थापक, शोथहर तथा स्तब्धता-नाशक है।

अभ्यान्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापक तथा नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह वातानुलोमन तथा मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्तरस होने से रक्तप्रसादन है तथा उष्ण होने से रक्तगत वात को शान्त करता है।

प्रजननसंस्थान—गुरु होने के कारण यह वृष्य है।

सात्मीकरण—तिक्त होने से कटु पौष्टिक का कार्य करता है और गुरु होने से बल्य और सन्धानीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग विशेष कर कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, आमवात, सन्धिजाड्य आदि आम-कफ तथा वात के विकारों में इसका लेप तथा इसके तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह समस्त वातव्याधि तथा सन्धिजाड्य की प्रशस्त महौषध है।

पाचनसंस्थान—अनुलोमन तथा वातहर होने के कारण उदरशूल, आनाह, विबन्ध और गुल्म में प्रयुक्त होता है। पत्रकल्क उष्ण करके उदरशूल में देते हैं और पत्र का शाक भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह वातरक्त में भी परम उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—ज्वर के बाद या सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करने से बलवृद्धि होती है।

प्रयोज्य अंग—मूल और पत्र (पंचांग)

मात्रा—स्वरस १–२ तो०, क्वाथ ५–१० तो०।

विशिष्ट योग—प्रसारिणी तैल, प्रसारिणी लेह।

वक्तव्य—इसका संग्रह शरत्काल में करना चाहिए। शुष्क होने पर गुणहीन हो जाती है।

× × × ×

'प्रसारिणी राजबला भद्रपर्णी प्रतानिनी। सरणी सारणी भद्रा बला चापि कटंभरा॥
प्रसारिणी गुरुर्वृष्या बलसंधानकृत्सरा। वीर्योष्णा वातकृत्तिक्ता वातरक्तकफापहा॥' (भा.प्र.)

'प्रसारिणी सरा तिक्ता वीर्योष्णा शुक्रला गुरुः। वर्णसन्धानबलकृद् वातरक्तत्रिदोषहा॥'
(कै. नि.)

'प्रसारिणी गुरूष्णा च तिक्ता वातविनाशिनी। अर्शःश्वयथुहन्त्री च मलविष्टम्भहारिणी॥'
(रा. नि.)

'प्रसारिणी गुरुस्तिक्ता सरा संधानकृन्मता। त्रिदोषशमनी वृष्या तेजःकान्तिबलप्रदा॥'
(ध. नि.)

'समूलपत्रामुत्पाट्य शरत्काले प्रसारिणीम्।'

२६. तगर

परिचय

गण—शीतप्रशमन, तिक्तस्कन्ध (च०); एलादि गण (सु०)

कुल-मांसी—कुल (वेलिरियनेसी–Valerianaceae)

नाम—लै०–वेलिरियना वालिचिआई (Valeriana wallichii), सं०–तगर, नत (झुका हुआ), वक्र (टेढ़ा), कुटिल (टेढ़ा), नहुष, हि०–तगर, म०–नगरमूल, गु०–तगरगंठोडा, पं०–सुगन्धबाला, क०–मुश्कबाला, फा०–असारून, अं०–इण्डियन वेलिरियन (Indian valerian)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप होता है। कांड–छोटा और गुच्छेदार होता है। **पत्र**–चौड़े, लोमश और पत्रवृन्त २–३ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**–श्वेतवर्ण या गुलाबी पुष्पदण्ड लम्बा लोम विशिष्ट होता है। **फल**–केशयुक्त होता है। **फूल**–जुलाई मास में तथा फल सितम्बर–अक्टूबर में लगते हैं। **मूल**–१–½ इञ्च लम्बा, ग्रन्थियुक्त, भंगुर, वक्र और उग्रगन्धि होता है।

जाति—निघण्टुओं में 'तगर' और 'पिण्डतगर' दो जातियों का उल्लेख मिलता है। पिंडतगर कुछ गोलाकार और कम गन्धवाला माना जाता है।

उत्पत्तिस्थान—फ्रांस, रोम, अफ्रीका, श्याम, अफगानिस्तान, फारस में होता है। इसकी एक जाति भारत में हिमालयप्रदेश में काश्मीर से भूटान तक ५ से १० हजार फीट की ऊँचाई तक होती है।

रसायनिक संघटन—इसके मूल में एक उड़नशील तैल, पीला पदार्थ, तिक्तसत्व, राल और मधुर द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण–लघु, स्निग्ध, सर **विपाक**–कटु
रस–तिक्त, कटु, मधुर, कषाय **वीर्य**–उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-उष्ण होने से वात का, तिक्त-मधुर-कषाय होने से पित्त का तथा लघु-तिक्त-कटु होने से कफ का शमन करता है, अतः त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन, आक्षेपहर, मेध्य एवं मस्तिष्क के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—तिक्त-उष्ण होने के कारण यह दीपन, शूलप्रशमन, सारक और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कटु-उष्ण होने से यह कफघ्न और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न और कटुपौष्टिक (बल्य) है।

त्वचा—यह कुष्ठ को दूर करता है।

तापक्रम—पित्तशामक होने से यह ज्वरघ्न है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका लेप अस्थिभग्न, आमवात आदि में करते हैं। व्रणों में इसके फांट का प्रयोग करने से पीड़ा कम होती है रोपण शीघ्र होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका प्रयोग अर्दित, पक्षाघात, अपस्मार, संधिवात, आमवात और वातरक्त में करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, उदरशूल, आनाह, यकृच्छोथ, कामला, जलोदर और प्लीहवृद्धि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं किन्तु अधिक मात्रा में देने पर रक्तभार कम हो जाता है।

श्वसनसंस्थान—कुकुरखाँसी और श्वासरोग में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में प्रयोग करने से मूत्रनिःसरण सुविधा से होता है।

प्रजननसंस्थान—उत्तेजक होने से क्लैब्य और कष्टार्त्तव में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य और विष की अवस्थाओं में यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प तथा अन्य रक्तविकारों में इसका प्रयोग लाभकर होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में प्रयोग करने से ज्वर शान्त होता है तथा शरीर को शक्ति मिलती है।

प्रयोज्य अंग—मूल। **मात्रा**—१-३ माशे।

अहित प्रभाव—अधिक मात्रा में देने से भ्रम, हिक्का और वमन होते हैं।

निवारण—मुनक्का।

× × × ×

'तगरं स्यात् कषायोष्णं स्निग्धं दोषत्रयप्रणुत्। दृक्शीर्षविषदोषघ्नं भूतापस्मारनाशनम् ॥
(ध. नि.)

'तगरं कटुकं तिक्तं कटुपाकरसं लघु। स्निग्धोष्णं तुवरं भूतमदापस्मारनाशनम् ॥
विषचक्षुःशिरोरोगरक्तदोषामयापहम्।' (कै. नि.)

'कालानुसार्यं तगरं कुटिलं नहुषं नतम्। अपरं पिण्डतगरं दण्डहस्तं च बर्हिणम् ॥
तगरद्वयमुष्णं स्यात स्वादु स्निग्धं लघु स्मृतम्। विषापस्मारशूलाक्षिरोगदोषत्रयापहम् ॥'
(भा. प्र.)

२७. निर्गुण्डी

परिचय

गण—विषघ्न, क्रिमिघ्न (च०), सुरसादि गण (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी-Verbenaceae)।

नाम—लै०-वाइटेक्स निगण्डो (Vitex negundo); सं०-निर्गुण्डी (निर्गुडति शरीरं रक्षति रोगेभ्यः—जो रोगों से शरीर की रक्षा करे); हि०-सम्हालू, मेउड़ी; म०-निगड, निर्गुण्डी; गु०-नगद, नगोड़; बं०-निशिन्दा; ते०-तेल्लावाविलि, ता०-नौची; मल०-इन्द्राणी; क०-बाइलनेक्की; अ०-अस्लक; फा०-पंजंगुस्त; अं०-फाइवलीव्ड चेस्ट (Five-leaved chaste)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय वनस्पति है। इसका पौधा झाड़ी के समान ८–१० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-अरहर के समान कभी खंडित और कभी अखंडित तथा मसृणरोमयुक्त होते हैं। एक वृन्त पर तीन या पाँच पत्रक १–५ इञ्च लम्बे और ½–१½ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्तियों के मसलने से विशिष्ट गन्ध आती है। **पुष्प**-छोटे, गुच्छेदार और नील वर्ण होते हैं। पुंकेशर-४ तथा गर्भाशय २–४ कोष्ठयुक्त होता है। **फल**-गोलाकार और पकने पर कृष्ण वर्ण होते हैं। **त्वचा**-नीलाभ धूसरवर्ण होती है।

जाति—निघंटुओं में इसकी नीलपुष्पी और श्वेतपुष्पी दो जातियाँ बतलाई गई हैं। नीलपुष्पी का नाम निर्गुण्डी तथा श्वेतपुष्पी का नाम सिन्दुवार दिया है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारतवर्ष में होता है तथा विशेषकर बगीचों में तथा पहाड़ों पर देखा जाता है।

रासायनिक संघटन—पत्र में सुगंधित उड़नशील तैल और राल होती है। फल में अम्ल राल, कषाय सेन्द्रिय अम्ल, सेवाम्ल, एक क्षारतत्त्व और रंग होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **विपाक**—कटु।

रस—तिक्त, कटु, कषाय। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशमन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण, केश्य तथा जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातनाशक होने से यह वेदनास्थापन एवं मेध्य है।

पाचनसंस्थान—कटु तिक्त और उष्ण होने के कारण यह दीपन, आमपाचन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—कफवातशामक होने से यह शोथहर है (सिन्दुं शोथं वारयति इति सिन्दुवारः)।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने के कारण यह कफघ्न और कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है।

तापक्रम—आमपाचन होने से यह ज्वरघ्न है विशेषतः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह शरीर के समस्त संस्थानों को उत्तेजित करता है तथा बल्य और रसायन है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है तथा दृष्टिशक्ति को बढ़ाता है।

कर्ण—कर्णस्राव को दूर करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल, अंडशोथ, संधिशोथ, आमवात आदि शोथवेदनाप्रधान रोगों में इसके पत्रको गरम कर बाँधते हैं या उसका उपनाह देते हैं। गर्भाशयशोथ, पक्वाशयशूल, वृषणशोथ, गुदशोथ आदि में इसके क्वाथ से कटिस्नान कराते हैं। कंठशूल और मुखपाक में इसके क्वाथ का गंडूष देते हैं। शुष्कपत्रों के धूपन से शिरःशूल तथा प्रतिश्याय शान्त होता है। इससे सिद्ध तैल का व्रणों में प्रयोग होता है। इसके तैल का प्रयोग पालित्य रोग में भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शिरःशूल, गृध्रसी आदि तथा आमवात, सन्धिशोथ आदि वेदनाप्रधान रोगों में इसका प्रयोग होता है। मस्तिष्क-दौर्बल्य में भी इसका उपयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमान्द्य, अरुचि, आमदोष, यकृच्छोथ, कृमि आदि रोगों में प्रयुक्त होता है। इसके पत्रस्वरस का गोमूत्र के साथ प्रयोग करने से प्लीहोदर में लाभ होता है।

रक्तवह संस्थान—शोथ रोग में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और कासहर होने से कासरोग, फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में यह लाभकर होता है।

प्रजननसंस्थान—रजःकृच्छ्र और सूतिकारोग में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू, विस्फोट आदि त्वचा के विभिन्न रोगों में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न होने से विविध ज्वरों में अनुपान के रूप में इसका पत्रस्वरस देते हैं। विषमज्वर के आक्रमण को रोकने में भी यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—यह रसायन होने के कारण सामान्य दौर्बल्य में उपयुक्त है।

नेत्र—नेत्ररोगों में इसके पत्रस्वरस का आश्च्योतन तथा बीजों का अंजन करते हैं।

कर्ण—इसके पत्रस्वरस से सिद्ध तैल का कर्णरोगों में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—पत्रस्वरस-१-२ तो०; मूलचूर्ण-१-३ माशे; बीजचूर्ण ६-१२ र०।

विशिष्ट योग—निर्गुण्डीकल्प, निर्गुण्डीतैल।

अहित प्रभाव—इसके अतियोग से दाह आदि पैत्तिक विकार उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इसके अहितकर प्रभावों के निवारण के लिए बबूल की गोंद और कतीरा का प्रयोग करते हैं।

× × × ×

'सिन्दुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः। नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा॥
सिन्दुकः स्मृतिदस्तिक्तः कषायः कटुको लघुः। केश्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममारुतान्॥
कृमिकुष्ठारुचिश्लेष्मव्रणान्नीला हि तद्विधा। सिन्दुवारदलं जन्तुवातश्लेष्महरं लघु॥'
(भा. प्र.)

'निर्गुण्डी कटुतिक्तोष्णा कृमिकुष्ठरुजापहा। वातश्लेष्मप्रशमनी प्लीहगुल्मारुचीर्जयेत्॥'
(ध. नि.)

'सिन्दुवारः कटुस्तिक्तः कफवातक्षयापहः। कुष्ठकण्डूतिशमनः शूलहृत् कासमिद्धिदः॥
कटूष्णा नीलनिर्गुण्डी तिक्ता रूक्षा च कासजित्। श्लेष्मशोफसमीरार्त्तिप्रदराध्मानहारिणी॥'
(रा. नि.)

'समूलफलपत्रायाः निर्गुण्ड्याः स्वरसैः घृतम्। सिद्धं पीत्वा क्षयक्षीणो निर्व्याधिः भाति देववत्॥'
(चक्र०)

'समूलपत्रां निर्गुण्डीं पीडयित्वा रसेन तु। तेन सिद्धं समं तैलं नाडीदुष्टव्रणापहम्॥
हितं पामापचीनान्तु पानाभ्यञ्जननावनैः। विविधेषु च स्फोटेषु तथा सर्वव्रणेषु च॥' (चक्र.)

'एरण्डतैलं निर्गुण्डीस्वरसे च पृथक् पृथक्। पीत्वा कटीप्रदेशस्थं वातं जित्वा सुखी भवेत्॥'
(वैद्यमनोरमा)

'प्राचीगतं पाण्डुरसिन्धुवारमूलं शिशूनां गलके निबद्धम्।
करोति दन्तोद्भववेदनायाः निःसंशयं नाममकाण्डमेव॥' (राजमार्त्तण्ड)

२८. पलाण्डु

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-ऐलियम सिपा (Allium cipa); सं०-पलाण्डु (पलति रक्षति शरीरं रोगेभ्य इति-जो रोगों से शरीर की रक्षा करे); दुर्गन्ध (उग्र गन्ध वाला); हि०-प्याज; पं०-गंडा; म०-कोंदा; गु०-डुंगली, डुंगरी, कांदो; सि०-बसर; क०-प्राण; ते०-निरुली; ता०-ईरुल्लि; अ०-बस्ल; फा०-पियाज; अं०-बल्ब ओनियन (Bulb-onion)।

स्वरूप—यह एक प्रसिद्ध शाक है। इसका क्षुप-२-३ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-स्थूल, गोलाकार और हरे रंग के होते हैं। पत्र के ऊपरी भाग में हरे रंग का लम्बा पुष्पदण्ड बाहर निकलता है। इसके अग्रभाग में गुच्छेदार, श्वेतपुष्प होते हैं। **बीज** त्रिकोणाकार और कृष्णवर्ण होते हैं। शीतकाल और उसके बाद इसमें फूल और फल आते हैं।

जाति—इसका कन्द रक्त और श्वेत दो प्रकार का होता है। आकारभेद से भी यह बड़ा और छोटा दो प्रकार का होता है। बड़ा और श्वेत क्षीरपलांडु तथा रक्त राजपलाण्डु कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है। बम्बई प्रदेश में इसका कन्द अतिबृहत् होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कटु, उग्र गन्धि, उड़नशील तैल, गन्धक, बाहरी त्वक् में कर्सेटीन नामक पीत रञ्जक द्रव्य, श्वेतसार, शर्करा, पिच्छिल द्रव्य, कैल्शियम साइट्रेट तथा क्षार २ प्रतिशत होते हैं। इसमें सिलापिक्रिन (Scillapicrine), सिलामेरिन (Scillamarine) और सिलिनाइन (Scillinine) ये तीन कार्यकारी तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, तीक्ष्ण, स्निग्ध
रस—मधुर, कटु
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—गुरु, स्निग्ध, मधुर और उष्ण होने से यह प्रमुख वातशामक है। गुरु, स्निग्ध और मधुर होने से यह कफ को तथा उष्ण, तीक्ष्ण और कटु होने से पित्त को बढ़ाता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग वेदनास्थापन, शोथहर, लेखन, व्रणशोथपाचन एवं त्वग्दोषहर है। इसका स्वरस दृष्टिशक्तिवर्धक तथा कर्णशूलहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है तथा मन के रज और तम दोषों को बढ़ाने के कारण अमेध्य है।

पाचनसंस्थान—उष्ण होने से यह दीपन, रोचन, अनुलोमन एवं यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—उष्णता और तीक्ष्णता के कारण यह रक्तवहसंस्थान को उत्तेजित करता है। यह शोथ को भी दूर करता है। यह रक्त का स्तम्भन भी करता है।

श्वसनसंस्थान—तीक्ष्ण और स्निग्ध होने से यह छेदन और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह स्निग्ध मधुर होने से शुक्रजनन, उष्ण और तीक्ष्ण होने से वाजीकरण तथा आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—मधुर, स्निग्ध और गुरु होने से यह बल्य और ओजोवर्धक है।

त्वचा—इसमें गन्धक का अंश होने से यह कण्डूघ्न और त्वग्दोषहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि के लिए यह प्रसिद्ध औषध है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नाडीशूल, व्रणशोथ में इसका कल्क गरम कर बांधते हैं। किलास, व्यङ्ग, न्यच्छ आदि मुखरोगों में इसके स्वरस या कल्क का लेप या उद्वर्त्तन करते हैं। दृष्टिमांद्य में इसके रस का मधु के साथ अञ्जन करते हैं तथा कर्णशूल में इसका स्वरस गरम कर कान में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका प्रयोग नाडीशूल, गृध्रसी, सन्धिवात, आक्षेपक, योषापस्मार, जलसंत्रास आदि विभिन्न वातरोगों में करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध, अर्श, कामला तथा गुदभ्रंश में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और शोथरोग में इसका उपयोग लाभकर होता है। रक्तस्राव (नासारक्तस्राव, रक्तार्श) को रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में देने से कफ आसानी से निकलता है और रोगी को बल मिलता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन होने से वातिक मूत्रकृच्छ्र में यह प्रशस्त है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, क्लैब्य एवं रजःकृच्छ्र में इससे लाभ होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं तथा ओजोवर्धक होने से विसूचिका, प्लेग आदि मरक रोगों से बचने के लिए इसका उपयोग करते हैं।

त्वचा—कण्डू आदि विभिन्न चर्मरोगों में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द और बीज।

मात्रा—कन्दस्वरस-१-२ तो; बीजचूर्ण १-३ माशे।

अहित प्रभाव—पित्तप्रकृति व्यक्तियों पर इसका हानिकर प्रभाव होता है। विशेष कर मस्तिष्क के लिए यह हानिकर है।

निवारण—इसके दोषों के निवारण के लिए अनार का रस देना चाहिए।

वक्तव्य—बीजों का प्रयोग वाजीकरण और लेखन कर्मों में विशेष होता है।

× × × ×

पलाण्डुर्यवनेष्टश्च दुर्गन्धो मुखदूषकः। पलाण्डुस्तु गुणैर्ज्ञेयो रसोनसदृशो बुधैः॥
स्वादुः पाके रसेऽनुष्णः कफकृन्नातिपित्तलः। हरते केवलं वातं बलवीर्यकरो गुरुः॥'
(भा० प्र०)

श्लेष्मलो मारुतघ्नश्च पलाण्डुर्न च पित्तहृत्। आहारयोगी बल्यश्च गुरुर्वृष्योऽथ रोचनः॥
(च० सू० २७)

'नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च।
बलावहः पित्तकरोऽथ किञ्चित् पलाण्डुरग्निं परिवर्धयेत्तु॥
स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकारी बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः सपिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः॥ (सु० सू० ४६)
'बीजं पलाण्डोः वृष्यं स्यात् दंतकीटप्रमेहजित्।' (नि० र०)
'रसखडयूषयवागूसंयुक्तः केवलोऽथवा जयति।
रक्तमतिवर्त्तमानं वातञ्च पलाण्डुरुपयुक्तः॥' (च० चि० ९)
'लशुनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्।
साक्षादवस्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥
यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विषण्णः॥
स्निग्धाङ्गत्वं गौरता कान्तिमत्ता वह्नेर्दीप्तिश्चर्मशुद्धिर्घृषत्वम्।
सम्प्राप्यन्ते यन्त्रणोद्वेगयुक्तैर्यस्याभ्यासाद्दीर्घमायुः सुखं च॥
लभते बलवर्णौजःस्वरसौमनस्यतेजांसि।
क्षीणशक्रुत् बधिरोऽपि च रसोनवत्तद्रसं पीत्वा॥' (गदनिग्रह)

२९. रसोन

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)

नाम—लै०-एलियम सेटाइवम् (Allium sativum); सं०-रसोन (रसेन ऊनः-अम्लरस से रहित)[1], लशुन, उग्रगन्ध (तीक्ष्णगन्धयुक्त), यवनेष्ट (यवनजाति का प्रिय), हि०-लहसुन; बं०-रशुन; म०-लसूण; गु०-लसण; मा०-लहसण; पं० सिं०-थूम; अं०-सूम, फूम; फा०-सीर, अं०-गार्लिक (Garlic)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय वनस्पति है। इसका क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। इसका कांड कोमल और आवरण तथा कोषयुक्त होता है। **पत्र**-चपटे, पतले और लम्बे होते हैं। इसका पुष्पदण्ड कांड के ठीक बीच से निकलता है जिसके शीर्षभाग पर गुच्छेदार श्वेत पुष्प होते हैं। **कन्द**-श्वेत, रक्ताभ तथा ५-१२ यवाकार खण्डों से युक्त होता है। इसके फूल और फल शीत ऋतु में आते हैं।

जाति—रसोन दो प्रकार का होता है—रसोन और महारसोन। रसोन के कन्द और पत्र छोटे तथा महारसोन के बड़े होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है।

रसायनिक संघटन—इसमें उड़नशील तैल, श्वेतसार, पिच्छिल द्रव्य, अल्ब्युमिन, शर्करा आदि पदार्थ होते हैं। उड़नशील तैल पीतवर्ण होता है जिसमें गन्धक के सेन्द्रिय यौगिक होते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, तीक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, सर।

रस—इसमें अम्ल को छोड़कर शेष पाँच (मधुर, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) रसों की स्थिति होती है जिनमें कटु और मधुर मुख्य होते हैं। अवयवभेद से रसों का अधिष्ठान इस प्रकार बतलाया गया है:—मूल-कटु; पत्र-तिक्त; नाल-कषाय; नालाग्र-लवण; बीज-मधुर[2]।

विपाक—कटु, **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु और तीक्ष्ण होने से कफ का तथा स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु एवं उष्ण होने से वात का शमन करता है। उष्ण होने से रक्तपित्त को बढ़ाता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-इसका लेप रक्तोत्क्लेशक, शोथहर और वेदनास्थापन है। यह विष को भी नष्ट करता है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान-यह उष्ण होने से उत्तेजक, वेदनास्थापन तथा मेध्य है। इसके सेवन से इन्द्रियों की शक्ति बढती है विशेषतः दृष्टिशक्ति का विकास होता है।

पाचनसंस्थान—कटु और उष्ण होने से यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, शूल-प्रशमन, कृमिघ्न तथा यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह हृदय को उत्तेजित करता है। शोथ को भी दूर करता है।

---

१. पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः। तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः॥

२. कटुकश्चापि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः। नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः॥
बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः। (भा० प्र०)

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध और तीक्ष्ण होने से यह कफनिःसारक और कण्ठ्य है। उग्रगन्ध के कारण यह कफ की दुर्गन्ध को नष्ट करता है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—पिच्छिल और स्निग्ध होने से शुक्रजनन तथा उष्ण और तीक्ष्ण होने से आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—सभी संस्थानों पर उत्तेजक क्रिया होने से यह रसायन है तथा शरीर और मन के बल को बढ़ाता है। सन्धानीय भी है।

त्वचा—इसमें गन्धक का अंश होने के कारण यह कुष्ठघ्न और कोथप्रशमन है।

तापक्रम—आमपाचन और स्वेदजनन होने से यह ज्वरघ्न है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, फुफ्फुस और वृक्क से होता है और उत्सर्गकाल में इन तीनों अंगों को उत्तेजित करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

सस्थानिक प्रयोग—बाह्य-सन्धिवात, गृध्रसी, अर्दित, पक्षाघात, ऊरुस्तम्भ आदि शोथ-वेदनाप्रधान रोगों में इसका लेप करते हैं। पार्श्वशूल में भी इसके कल्क का लेप या स्वरस का मर्दन करते हैं। दद्रु आदि चर्मरोगों पर घर्षण करने से लाभ होता है। विषाक्त प्राणियों के दंश पर भी लगाते हैं। इसका रस या पक्व तैल कर्णशूल में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातघ्न होने के कारण पक्षाघात, गृध्रसी, सन्धिवात आदि समस्त वातविकारों में तथा मस्तिष्कदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। दृष्टिमान्द्य में इसके स्वरस का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमान्द्य, अरुचि, अजीर्ण, विबन्ध, शूल, गुल्म, कृमि और अर्श रोगों में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने के कारण हृद्रोगों में तथा हृज्जन्य शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास, यक्ष्मा और स्वरभेद में इसका प्रयोग होता है। उड़नशील तैल के कारण यह क्षय के कीटाणुओं को नष्ट करता है और सन्धानीय होने से फुफ्फुस के तन्तुओं का सन्धान करता है।

मूत्रवहसंस्थान—वातिक मूत्रकृच्छ्र में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन होने से शुक्रदौर्बल्य तथा आर्तवजनन होने से कष्टार्त्तव में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—रसायन होने से यह सामान्य दौर्बल्य तथा सन्धानीय होने से अस्थिभग्न में प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ और कोथ आदि त्वचा के विविध रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न होने के कारण यह जीर्णज्वर में उपयोगी है। टायफायड, डिप्थीरिया आदि रोगों में प्रतिषेधक रूप में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द, तैल।

मात्रा—कन्दकल्क-१½ माशा से ६ माशे तक, तैल-१-२ बूँद।

विशिष्ट योग—रसोनवटी, रसोनपिण्ड, रसोनाष्टक, लशुनाद्य घृत।

अहित प्रभाव—तीक्ष्ण-उष्ण होने के कारण यह पैत्तिक प्रकृति तथा गर्भिणी स्त्रियों के लिए अहितकर है।

निवारण—इसके अहित प्रभाव के निवारण के लिए धनिया का प्रयोग करना चाहिए।

सेवन-विधि—रसोन का प्रयोग पैत्तिक विकारों में शर्करा, कफज में मधु तथा वातज में घृत के साथ करना चाहिए। इसके सेवनकाल में मद्य, अम्ल, मांस का सेवन हित तथा व्यायाम, आतप, क्रोध, अति-जलपान, दूध, गुड़ का सेवन अहित होता है।

वक्तव्य—काश्यपसंहिता के कल्पस्थान में 'लशुनकल्प' नामक अध्याय में लशुन का गुणकर्म तथा प्रयोग विस्तार से वर्णित है। जिज्ञासुओं के लिए वह प्रकरण अवलोकनीय है।

× × × ×

'कृमिकुष्ठकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः। स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः॥' (च. सू. २७)

'स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्यः।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षुर्भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूलविबन्धगुल्मारुचिकासशोषान्।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तुसमीरणश्वासकफांश्च हन्ति॥' (सु. सू. ४६)

'रसोनोऽम्लरसोनः स्याद् गुरूष्णः कफवातनुत्।
अरुचिकृमिहृद्रोगशोफघ्नश्च रसायनः॥
रसोनोऽन्यो महाकन्दो गृञ्जनो दीर्घपत्रकः।
पृथुपत्रः स्थूलकन्दो यवनेष्टो बले हितः॥' (रा. नि.)

'रसोनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धोष्णः पाचनः सरः।
रसे पाके च कटुकस्तीक्ष्णो मधुरको मतः॥
भग्नसंधानकृत् कण्ठ्यो गुरुः पित्तास्रवृद्धिदः।
बलवर्णकरो मेधाहितो नेत्र्यो रसायनः॥'

× × × ×

'मद्यं मांसं तथाऽम्लं च हितं लशुनसेविनाम्।
व्यायाममातपं रोषमतिनीरं पयोगुडम्॥
रसोनमश्नन् पुरुषस्त्यजेदेतान्निरन्तरम्।' (भा. प्र.)

३०. देवदारु

परिचय

गण—स्तन्यशोधन, अनुवासनोपग, कटुकस्कन्ध (च०); वातसंशमन (सु०)।

कुल—देवदारु-कुल (कोनिफेरी-coniferae)।

नाम—लै०-सेड्रस देवदार (Cedrus deodara), सं०-देवदारु (देवताओं के प्रदेश-हिमालय-में होने वाली लकड़ी), भद्रदारु (श्रेष्ठ वृक्ष), सुरभूरुह (देवभूमि में होने वाला वृक्ष), हि०-देवदार, म० गु०-देवदार; पं०-दियार; क०-दीवदार; बं०-देवदारु; ता०-देवदारु; ते०-देवदारी; अं०-देवदार (Deodor)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बहुत ऊँचा प्रायः २५० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सीधा और मोटा प्रायः ३६ फीट परिधि का होता है। शाखायें नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं। ऊपर की ओर शाखायें क्रमशः छोटी होती जाती हैं जिससे वृक्ष दूर से देखने पर कोणाकृति मालूम होता है। **छाल**-मोटी और फटी-फटी दिखाई देती है। **पत्र**-हरित-

वर्ण, लंबे, कुछ गोलाई लिये और नुकीले होते हैं। **पुष्प**–गुच्छेदार, हरिताभ पीतवर्ण होते हैं। **फल**–पकने पर कृष्णवर्ण होते हैं जिनमें एक बीज ½ इञ्च लम्बा होता है। अक्टूबर मास में फल निकलते हैं और एक वर्ष के बाद फल पकते हैं। देवदारु का वृक्ष बहुवर्षायु होता है और प्रायः ६०० वर्षों तक जीवित रहता है।

जाति—देवदारु दो प्रकार का होता है—एक स्निग्धदारु और दूसरा काष्ठदारु। स्निग्धदारु की लकड़ी भारी और चिकनी होती है तथा धूप के नाम से बाजार में बिकती है। यही असली देवदारु है। काष्ठदारु वह वृक्ष है जिसे साधारणतः अशोकवृक्ष कहते हैं और जिसकी पत्तियाँ उत्सवों में तोरण–द्वार पर लगाई जाती हैं। इसका लैटिन नाम–पौलिऐल्थिया लाँगिफोलिया (Polyalthia longifolia) तथा वानस्पतिक कुल–सीताफल–कुल (एनोनेसी–Anonaceae) है।

उत्पत्तिस्थान—इसकी उत्पत्ति हिमालयप्रदेश में ७ से ९ हजार फीट की ऊँचाई पर होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक गाढ़े रंग का तेल तथा अम्ल राल पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, कटु एवं उष्ण वीर्य होने से कफ का तथा स्निग्ध एवं उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप शोथहर, वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, क्रिमिघ्न, व्रणशोधन एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से यह प्रमुख वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त होने से दीपन–पाचन तथा कृमिघ्न एवं स्निग्ध होने से अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—उष्णवीर्य होने से यह हृदयोत्तेजक एवं कटुतिक्त होने से रक्त-प्रसादन है। शोथ को भी नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—यह स्निग्ध और कटुतिक्त होने से कफनिःसारक तथा सुगन्धि होने से श्लेष्मपूतिहर है। कफवातशमन होने से हिक्कानिग्रहण भी है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण–स्निग्ध होने से मूत्रजनन तथा कटुतिक्त होने से प्रमेहघ्न है। इसके सेवन से मूत्रगत अनेक दोष नष्ट होते हैं।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से गर्भाशय-शोधन तथा कटुतिक्त होने से स्तन्यशोधन है।

सात्मीकरण—कटुविपाक होने से यह लेखन है और शरीर के स्थौल्य को दूर करता है।

त्वचा—यह स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—स्वेदजनन तथा पाचन होने के कारण यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में तथा विविध चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं या तैल लगाते हैं। इसका तैल उत्तम व्रणशोधन और व्रणरोपण है। अतः व्रणों और क्षतों में लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—प्रमुख वातशामक एवं वेदनास्थापन होने के कारण इसका प्रयोग जीर्ण सन्धिवात, आमवात, गृध्रसी, शिरःशूल आदि वातविकारों में किया जाता है।

पाचनसंस्थान—आमदोष के पाचन के लिए इसका प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त, आध्मान, विबन्ध और क्रिमि रोगों में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक एवं रक्तशोधक होने के कारण हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकार में इसका प्रयोग होता है। इनके अतिरिक्त, शोथ, गलगण्ड तथा श्लीपद में भी यह लाभकर है। उपदंश में इसका तैल प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास और पीनस में इसका प्रयोग करते हैं। इससे दूषित कफ बाहर निकल जाता है और कफ की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है। हिक्का में भी इससे लाभ होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह तथा प्रमेह में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यदोष तथा सूतिकारोग में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—लेखन होने के कारण मेदोरोग में यह उपयोगी है।

त्वचा—यह विविध चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग अधिक होता है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार और तैल।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे। तैल २०-४० बूंद।

विशिष्ट योग—देवदार्वादि क्वाथ, देवदार्वादि चूर्ण, रास्नादि क्वाथ।

× × × ×

'देवदारु लघु स्निग्धं तिक्तोष्णं कटुपाकि च। विबन्धाध्मानशोथामतन्द्राहिक्काज्वरास्रजित्॥ प्रमेहपीनसश्लेष्मकासकण्डूसमीरनुत्॥' (भा. प्र.)

'देवदार्वनिलं हन्ति स्निग्धोष्णं श्लेष्मपाकतः।' (ध. नि.)

'देवदारुस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च।' (सु. सू. ४५)

'दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः। तृषितो मदिरां वापि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः॥' (च. चि. १७)

३१. मेदासक

परिचय

कुल—कर्पूर-कुल (लॅारेसी-Lauraceae)।

नाम—लै०-लिट्सिया चायनेन्सिस (Litsea chinensis); हि०-मैदा लकड़ी; पं०-मेदासक; मा०-कर्कमेदा, मैदा लकड़ी; स० गु०-मेदा लकड़ी; बं०-कुकुरचिते; ता०-मेदालाकवि; ते०-मेदा; अ०-मगासे हिन्दी; फा०-किल्ज।

स्वरूप—इसका वृक्ष सदाहरित मध्यमप्रमाण का २०-५० फीट ऊँचा होता है। **छाल**-१ इंच मोटी, ऊपर से धूसरवर्ण और भीतर से रक्ताभ होती है। जो जल में

डालने पर पिच्छिल हो जाती है। शाखाओं, पत्रों और पुष्पदण्ड पर सूक्ष्म कोमल रोम होते हैं। **पत्र**-३-६ इंच लम्बा और सुगंधि होता है जिसमें १०-१२ जोड़ी सिरायें होती हैं। **पुष्प**-छोटे-छोटे ¼ इञ्च, गुच्छेदार और देखने में श्वेतपीत होते हैं। **फल**-मटर के समान छोटे और गोलाकार होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प एवं वर्षा ऋतु में फल का उद्गम होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर भारत विशेषतः बंगाल, मिर्जापुर, देहरादून आदि के वन्य प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें लॉरोटिटैनीन नामक क्षारतत्त्व होता है। फल में एक तैल होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध। **रस**—कटु-तिक्त-कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—कटु और उष्ण होने से कफ का तथा स्निग्ध और उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल और तैल शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से यह वेदनास्थापन और आक्षेपहर है। इससे नाडियों का बल भी बढ़ता है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त और उष्ण होने से यह दीपन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथहर तथा किंचित् रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध और कटुतिक्त होने से यह कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह कामोत्तेजक है।

त्वचा—इसका तैल मार्दवकर एवं वातशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, अस्थिभग्न, अभिघात, सन्धिजाड्य आदि रोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—प्रमुख वातशामक होने से गृध्रसी, वातरक्त, कटिशूल, आक्षेपक, आमवात आदि वातविकारों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—दीपन और ग्राही होने से अग्निमांद्य, अतिसार आदि उदर रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग एवं रक्तस्राव को रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्यरोग में देने से शैथिल्य दूर होता है।

त्वचा—रूक्षताप्रधान चर्मविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्। **मात्रा**—चूर्ण १-३ माशे।

वक्तव्य—मेदासक का वर्णन प्राचीन निघण्टुओं में उपलब्ध नहीं होता तथापि लोक में अत्यन्त उपयोगी औषध के रूप में यह प्रचलित है। डाक्टर श्री कालीपद विश्वास ने अपने 'भारतीय वनौषधि' में लिखा है कि इसके नाम के अनुसार अष्टवर्गोक्त मेदा के स्थान पर इसका प्रयोग किया जा सकता है किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि मेदा कन्दजातीय द्रव्य है और मेदासक वृक्ष है। गुणकर्म भी दोनों के नितान्त भिन्न हैं।

× × × ×

'मेदासकः सदापर्णः गन्धपर्णश्च स स्मृतः। मध्यमाकृतिवृक्षश्च वन्यदेशोद्भवोऽपि च॥
मेदासको लघुः स्निग्धः कटुस्तिक्तः कषायकः। उष्णो वातकफौ हन्ति शोथशूलविनाशनः॥
दीपनः स्तम्भनश्चैव सर्ववातविकारनुत्। अग्निमांद्येऽतिसारे च रक्तस्रावे च युज्यते॥ (स्व०)

३२. मुचकुन्द

परिचय

कुल—पिशाचकार्पास-कुल (स्टर्कुलिएसी-Sterculiaceae)।

नाम—लै०-टेरोस्पर्मम सुबरिफोलियम (Pterospermum suberifolium), सं०-मुचकुन्द, क्षत्रवृक्ष (ढाल के समान पत्र वाला), चित्रक (रंगीन पुष्पयुक्त), प्रतिविष्णुक। हि० म० गु० क०-मुचकुन्द; फा०-गुले मुचकुन; बं०-मुचकुन्द चाँपा।

स्वरूप—इसका वृक्ष बड़ा होता है। **छाल**-लंबाई में फटी हुई होती है और काण्डसार रक्ताभ होता है। **शाखायें**-खूब घनी होती हैं। **पत्र**-छत्राकार, सूक्ष्म लोमयुक्त, कर्कश, अखरोट के समान होते हैं। उनका ऊपरी भाग हरित तथा निचला भाग श्वेत या ईषत् पीत होता है। **पुष्प**-४-५ इंच लम्बे, रक्तपीताभ और सुगन्धि होते हैं। **फल**-लंबगोल, काष्ठवत् होते हैं जिनके परिपक्व होने में लगभग एक वर्ष का समय लगता है। **बीज**-पक्षयुक्त होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्पोद्गम होता है।

उत्पत्तिस्थान—भारतवर्ष के जांगल प्रदेश, विशेषतः उड़ीसा, कर्नाटक, बर्मा आदि स्थानों में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्प में एक उड़नशील तैल होता है जिसके कारण इसमें सुगन्ध होती है।

गुण

गुण—रूक्ष। **रस**—कषाय, किंचित् कटुतिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय रस के कारण पित्त और कफ तथा उष्ण होने के कारण वात का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग वेदनास्थापन तथा रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातहर होने से यह वेदनास्थापन है।

रक्तवहसंस्थान—कषाय होने के कारण यह रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और कण्ठ्य है।

सात्मीकरण—यह विषों को नष्ट करता है।

त्वचा—त्वचा में उत्पन्न होनेवाले विविध कुष्ठ इससे नष्ट होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—विशेषतः वातपित्तजन्य विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका प्रलेप शिरःशूल और रक्तार्श आदि रक्तपित्त की अवस्थाओं में लाभकर है। मसूरिका में भी दाह की शान्ति के लिए इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—विविध वेदनाप्रधान वातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त के सभी प्रकारों में इसका प्रयोग करते हैं। वातपित्त-शामक तथा रक्तस्तम्भन होने के कारण रक्तार्श में इसका प्रयोग अत्यन्त उपयोगी है। इसके पुष्पों के चूर्ण का घी और चीनी में हलुआ बनाकर देने से रक्तार्श में अतिशय लाभ होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और स्वरभेद में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—विभिन्न विषों में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—त्वचागत अनेक रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प।

मात्रा—२ रत्ती से १२ रत्ती तक। **विशिष्ट योग**—हिमांशु तैल।

× × × ×

'मुचकुन्दः क्षत्रवृक्षश्चित्रकः प्रतिविष्णुकः। मुचकुन्दः शिरःपीडापित्तास्रविषनाशनः॥'
(भा० प्र०)

'मुचकुन्दो बहुपत्रः सुदलो हरिवल्लभः सुपुष्पश्च।
अर्घ्यार्हो लक्ष्मणको रक्तप्रसवश्च वसुनामा॥
मुचकुन्दः कटुतिक्तः कफकासविनाशनश्च कण्ठकरः।
त्वग्दोषशोफशमनो व्रणपामाविनाशनश्चैव॥' (रा. नि.)

(च) आक्षेपजनन

३३. कुपीलु

परिचय

कुल—कुपीलु-कुल (लोगेनिएसी–Loganiaceae)।

नाम—लै०-स्ट्रिक्नस नक्सवोमिका (Strychnos Nuxvomica)। सं०-कुपीलु (कुत्सित पीलु–पीलु के समान फल किन्तु विषाक्त होने से अग्राह्य); विषतिन्दुक (तिन्दुक के समान किन्तु विषाक्त); काकतिन्दुक (वन्यप्रदेश में होने के कारण पक्षियों का प्रिय तिन्दुकवत् फल); कालपीलुक (पीलुवत् किन्तु कृष्णवर्ण वृक्ष), हि०-कुचला; बं०-कुँचिला; म०-काजरा; गु०-झेरकोचला; ता०-येट्टिकोट्टाई; ते०-मुष्टि-विट्टुलु; मल०-काञ्जील; अ०-अजराकि, हब्बुल गुराब्; फा०-कुचूला, फुलूसेमाही; अं०—नक्सवोमिका (Nuxvomica)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बड़ा लगभग ४०–५० फीट ऊँचा होता है। **शाखायें**—पतली और दृढ होती हैं। **छाल**—पतली, कोमल और धूसरवर्ण होती है। काण्डसार काटने पर श्वेत किन्तु कुछ देर बाद पीताभ धूसर हो जाता है। **पत्र**—चिकने, अभिमुख,

किंचित् दुर्गन्धि होते हैं। **पत्रवृन्त**-स्थूल और पत्र २-३½ इंच लम्बे होते हैं। **पुष्प**-छोटे, हरिताभ श्वेत तथा हलदी के समान गन्धवाले होते हैं। पुंकेशर पाँच और गर्भाशय दो भागों में विभक्त होता है। **फल**-गाभ या अमरूद के समान गोलाकार पकने पर पीतवर्ण हो जाता है। फलावरण अतिकठिन तथा फलमज्जा कोमल श्वेतवर्ण तथा अतितिक्त होती है। **बीज**-प्रत्येक फल में २ से ५ तक, ½ इंच चौड़े और ⅛ इंच मोटे, बटन के समान गोल और कठिन, श्वेतधूसरवर्ण होते हैं। वसन्त ऋतु में फूल आते हैं और हेमन्त में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह वृक्ष जंगली होता है और भारत के उष्णप्रदेशीय जंगलों में, विशेषतः मानभूम, मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन, कोंकण-मालाबार, उड़ीसा और लंका में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—भारत में होने वाले कुपीलु में लगभग २·६ से ३ प्रतिशत तक कुल क्षारतत्व होते हैं जिनमें १·२५ से १·५ प्रतिशत स्ट्रिक्नीन होता है। इसके अतिरिक्त, ब्रुसीन १·७%, वोमिसिन, स्ट्रिक्निक अम्ल से संयुक्त आइगास्युरीन; लोगानिन (एक ग्लुकोसाइड), प्रोटीड ११%, पीत रञ्जक पदार्थ, स्नेह, गोंद, श्वेतसार, शर्करा ६%, मोम, पार्थिव फास्फेट और भस्म २% होते हैं। स्ट्रिक्नीन केवल बीज में तथा ब्रुसीन ताजी छाल में सबसे अधिक (३·१ प्रतिशत) और काष्ठ एवं पत्तियों में कुछ कम होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—तिक्त-कटु रस एवं रूक्ष-लघु गुण के कारण कफ का तथा उष्ण होने के कारण वात का शमन करता है। अतिमात्रा में तथा अशोधित अवस्था में देने पर यह ओजःक्षय के द्वारा वायु को प्रकुपित करता है जिससे आक्षेप उत्पन्न होते हैं। अल्पमात्रा में तथा शोधित कर देने से आक्षेप नहीं होता।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप शोथहर, पूतिहर एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वातशामक होने से यह वेदनास्थापन तथा तीक्ष्ण होने से उत्तेजक और नाडीबल्य है। अधिक मात्रा में मदकारी और आक्षेपजनन भी है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त होने के कारण दीपन, पाचन तथा ग्राही है। वातशामक उष्ण होने से शूलप्रशमन भी है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से हृदयोत्तेजक और रक्तभारवर्धक है। कफनाशक होने से शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने से कफघ्न और कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—उत्तेजक होने से यह बस्तिशैथिल्य को दूर करता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक तथा बल्य है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न एवं स्वेदापनयन है।

तापक्रम—विषमज्वर को रोकने के लिए यह अतिप्रशस्त है।

शोषण और उत्सर्ग—स्ट्रिक्नीन का शोषण आँतों से शीघ्र होता है। उत्सर्ग मुख्यतः मूत्र द्वारा होता है। कुछ अंश यकृत् में भी चला जाता है।

प्रयोग

दोष-प्रयोग—कफवातजन्य विकारों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, आमवात आदि में इसके बीजों का लेप करने से वेदना शान्त हो जाती है। व्रणों और क्षतों में पत्तियों की पुल्टिस दी जाती है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से नाडीशूल, अर्दित, पक्षाघात, अनिद्रा आदि वातविकारों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—कफवातशामक एवं दीपन-पाचन और ग्राही होने से यह अग्निमांद्य, आमाशयशोथ, आमदोष, ग्रहणी, उदरशूल और अर्श में लाभकर है। क्रिमिरोग में भी लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक और शोथहर होने से हृदयशैथिल्य, हृत्कपाटविकृति, हृदयोदर आदि विकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और फुफ्फुसशोथ में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्ति की शिथिलता के कारण जब मूत्र बूंद बूंद कर बराबर आया करता है या बच्चों को शय्यामूत्र होता है तब यह लाभ करता है।

प्रजननसंस्थान—शीघ्रपतन, ध्वजभंग आदि दौर्बल्यजनित रोगों में दिया जाता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन करते हैं। विशेषतः वृद्धावस्थाजन्य दौर्बल्य में यह अतिशय प्रयुक्त होता है जब नाडियाँ शिथिल हो जाती हैं, नींद कम आती है तथा भूख भी कम हो जाती है।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू, अतिस्वेद में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—शीतप्रधान विषमज्वर में देने से शीतजन्य उपद्रव दूर होते हैं और ज्वर का वेग रुक जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीजमज्जा।

मात्रा—$\frac{1}{2}$–२ रत्ती।

विशिष्ट योग—अग्नितुण्डी, विषमुष्टि, नवजीवन, लक्ष्मीविलास, क्रिमिमुद्गर, शूलहरणयोग।

विष-लक्षण—अतिमात्रा में तथा अशोधित रूप में सेवन करने से समस्त शरीर की पेशियों में आक्षेप आने लगते हैं और धनुःस्तम्भ के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। १०–३० मिनट में ही ये लक्षण प्रकट होते हैं और थोड़ी देर में ही श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—विषलक्षण प्रारम्भ होते ही आमाशय का प्रक्षालन करे और वातपित्त-शामक द्रव्यों का प्रयोग करे यथा गोदुग्ध में घी मिलाकर पिलावे या विहीदाने का लुआब पिलावे। अफीम, बेलाडोना, कपूर, गांजा, तम्बाकू आदि प्रतिविषों का भी प्रयोग करे।

शोधन—सात दिन तक गोमूत्र में रखने के बाद छिलका निकाल कर गोदुग्ध में उबाल ले। तत्पश्चात् गोघृत में भून ले। इस प्रकार शुद्ध कुचले का प्रयोग निरापद होता है।

वक्तव्य—(१) कुछ व्यक्ति अभ्यास से इसकी अधिक मात्रा का सेवन करने लगते हैं। अतः इसके प्रयोग-काल में सहिष्णुता पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

(२) इसका अधस्त्वक (Hypodermic) प्रयोग अधिक कार्यकर होता है।

× × × ×

'कारस्करः कटूष्णश्च तिक्तः कुष्ठविनाशनः। वातामयास्रकण्डूतिकफामार्शोव्रणापहः॥' (रा.नि.)

(छ) आक्षेपशमन

३४. ऊदसलीब

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी—Ranunculaceae).

नाम—लै०-पिओनिआ एमोडी (Peonia emodi). हि०-ऊदसालप; बं०-ऊदसालाम; पं०-मामेख; का०-मिद, महामेद; अ०-ऊदुलसलीब्, ऊदसलीब; अं०-हिमालयन पिओनी (Himalayan peoni).

स्वरूप—इसका पौधा १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-६-१२ इञ्च लम्बा २-३ भागों में विभक्त होता है। **पुष्पदंड**-लम्बा, टेढ़ा और बैंगनी रंग का होता है। पुष्प एकलिंगी होता है। पुष्पदल-५-१० श्वेतवर्ण होते हैं और उनका अग्रभाग कुछ कटा हुआ होता है। पुंकेशर-अनेक पीतवर्ण होते हैं। **फल**-१-३ इञ्च लम्बे, $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च मोटे, गोपुच्छाकार, बाहर की ओर धूसरवर्ण रेखायुक्त और भीतर की ओर श्वेत पिष्टमय भाग होता है। इसकी **छाल**-कुछ पीतवर्ण और कठिन होती है। मई मास में फूल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय के नातिशीतोष्ण प्रयोग में ५-१० हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, श्वेतसार, शर्करा, वसा, मैलेट, ऑक्जलेट, फास्फेट और टैनिन होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त-कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—रुक्ष-लघु और तिक्त-कटु होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य, नाडीबल्य, आक्षेपशमन और वेदना-स्थापन है।

पाचनसंस्थान—इसका मूल शूलप्रशमन, पित्तसारक और यकृदुत्तेजक है। बीज वामक और रेचक है तथा पुष्प स्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—वर्ण्य और कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य रोगो में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका मूल निम्बपत्र के साथ पीसकर अभिघात और भग्नस्थान पर लेप करने से शोथ और वेदना नष्ट हो जाती है। लेखन होने से व्यङ्ग, न्यच्छ आदि क्षुद्र रोगों में लगाते हैं। इसका मूल बालकों के गले में पहना देने से बालापस्मार नहीं होता।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक और विशेषतः आक्षेपशमन होने से आक्षेपक, अपस्मार, अपतन्त्रक, कम्पवात, अर्दित, पक्षाघात, उन्माद, मस्तिष्कशोथ आदि रोगों में फलप्रद है।

पाचनसंस्थान—उदरशूल, जलोदर, यकृच्छोथ और कामला में इसका मूल देते हैं। पुष्पों का फाण्ट अतिसार में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशूल, वृक्कशूल और अश्मरी में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन होने से कष्टार्तव और अन्य गर्भाशयविकारों में शोधनार्थ देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ तथा अन्य रक्तविकारों में इसके मूल का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशा।

अहित-प्रभाव—इसके अधिक मात्रा में सेवन से शिरःशूल, भ्रम, कर्णनाद, वमन आदि उपद्रव होते हैं।

निवारण—इसके अहित-प्रभाव के निवारण के लिए गुलकन्द, मुलेठी आदि वातपित्तशामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'बृहत्खण्डितपर्णः सितपुष्पस्तूदसालपः। बहिर्धूसरवचान्तः श्वेतमूलः प्रकीर्त्तितः॥
रूक्षस्तीक्ष्णो लघुस्तिक्तः कटुरुष्णो विनाशयेत्। आक्षेपकार्दितोन्मादशूलोदरयकृद्रुजः॥
बस्तिवृक्काश्मरीशूलं कष्टार्त्तवमसृग्व्यथाम्। पुष्पं स्तम्भनमत्रातिप्रशस्तमतिसारिणाम्॥' (स्व.)

३५. भूर्जपत्र

परिचय

कुल—मायाफल-कुल (कुपुलिफेरी-Cupuliferae)।

नाम—लै०-बेटुला भोजपत्र (Betula bhojapattra); सं०-भूर्जपत्र, भूर्ज, चर्मी (प्रशस्त मृदु चर्म वाला); बहुलवल्कल (अनेक छाल वाला), बहुपुट (छालों की पर्त वाला), लेख्यपत्रक (त्वचा कागज के समान लिखने योग्य), चित्रपत्र (चित्रित पत्रयुक्त); भूतहा (भूतविकारों को दूर करने वाला), हि०-भोजपत्र; म०-भूर्जपत्र; गु०-भोजपत्र; बं०-भूर्जपत्र; अं०-जैक्वीमन ट्री (Jacquemon tree)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का कभी-कभी ४०-६० फीट ऊँचा होता है। **छाल**-कोमल, चमकीली, रक्ताभश्वेत और कागज की तरह पतली होती है। इस पर अनुप्रस्थ रेखायें होती हैं। **काष्ठ**-श्वेतवर्ण होता है जिस पर लाल रंग के दाग होते हैं। **पत्र**-२-३ इंच लम्बा, १½ इञ्च चौड़ा, लट्वाकार, लम्बाग्र विन्दुयुक्त और दन्तुरधार होता है। पत्रसिरायें ४-१२ जोड़ी होती हैं। **बीज**-पक्षयुक्त होता है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प-निकलते हैं एवं शरद् ऋतु में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ५ हजार फीट से ऊपर विशेष कर सिक्किम और भूटान में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें 'बेटुलिन' नामक क्षारतत्त्व तथा एक उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कषाय। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—भूतनाशन।

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय होने से कफ और पित्त का एवं स्निग्ध उष्ण होने से वात का शामक है। इस प्रकार यह प्रभाव से तीनों दोषों को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग कीटाणुओं को नष्ट करता है एवं पूतिहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से यह मेध्य और आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—कषाय होने से यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—कषाय होने के कारण रक्तपित्तशामक एवं रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

सात्मीकरण—लघु और कषाय होने से यह मेदोधातु को कम करता है और विषनाशक भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके क्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं जिससे कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और उनका रोपण शीघ्र होता है। कर्णशूल, कर्णस्राव में भी इससे प्रक्षालन करते हैं और इसका तैल डालते हैं। भूतबाधा एवं ग्रहदोष में इसका धूप देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार, आक्षेपक, अपतंत्रक आदि विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन होने से अतिसार, प्रवाहिका में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देने से पित्त शान्त हो जाता है और रक्तस्राव बन्द होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में यह प्रयुक्त होता है।

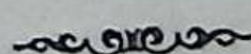
सात्मीकरण—मेदोरोग और विष की अवस्थाओं में यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण—१-३ माशे, क्वाथ—५-१० तोले।

× × × ×

'भूर्जः कषायो जयति बलासं पित्तशोषितम्। मेदोभूतग्रहरक्षः कर्णरोगविषप्रणुत्॥' (कै नि.)
'भूर्जपत्रः स्मृतो भूर्जश्चर्मी बहुलवल्कलः। भूर्जो भूतग्रहश्लेष्मकर्णरुक्पित्तरक्तजित्॥
कषायो राक्षसघ्नश्च मेदोविषहरः परः।' (भा. नि.)
'भूर्जो वल्कद्रुमो भूर्जः सुचर्मा भूर्जपत्रकः। चित्रत्वग्बिन्दुपत्रश्च रक्षापत्रो विचित्रकः॥
भूतघ्नो मृदुपत्रश्च शैलेन्द्रस्थो द्विभूमितः। भूर्जः कटुकषायोष्णो भूतरक्षाकरः परः।
त्रिदोषशमनः पथ्यो दुष्टकौटिल्यनाशनः॥' (रा. नि.)



द्वितीय अध्याय

ज्ञानेन्द्रियों पर कर्म करने वाले द्रव्य

यहाँ 'ज्ञानेन्द्रिय' शब्द से नेत्र, कर्ण, नासा, जिह्वा और त्वचा इन इन्द्रियाधिष्ठानों का ग्रहण अभिप्रेत है। अतः इस अध्याय में इन अंगों पर विशेषरूप से कर्म करने वाले द्रव्यों का वर्णन किया जायगा।

(क) नेत्र

नेत्र पर कर्म करने वाले द्रव्यों के निम्नांकित विभाग किये जा सकते हैं, यथा—

१. **चक्षुष्य**—ममीरा, पियारांगा, चक्षुष्या, कतक आदि।

२. **तारकाविकासी**—सूची, धतूर आदि।

३. **तारकासंकोचक**—अहिफेन आदि।

३६. ममीरा

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)

नाम—लै०—कॉप्टिस तीता (Coptis teeta); सं०-पीतमूला; हिं०, म०-ममीरा, ममीरी, चवन्नी गाछ, हलदिया बछनाग; गु०-ममीरो, ममीरी; आ०-मिष्मी तीता; अ०-मम्मीरान; अं०-गोल्डेन थ्रेड रूट (Golden Thread root)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**-४-८ फुट ऊँचा बहुवर्षायु होता है। **पत्र**-पक्षाकार, संयुक्त और पत्राधार कोषमय होता है। पत्रक आकृति में बड़ी पुरानी चवन्नी की तरह होते हैं और उनकी धार प्रायः गोल दन्तुर होती है इसीलिए इसे पहाड़ी स्थानों में 'चवन्नी गाछ' कहते हैं। **पुष्प**-छोटे और श्वेतवर्ण होते हैं। **मूल**-गांठदार उपमूलों से युक्त, ऊपर से श्यामवर्ण तथा भीतर पीले रंग का होता है। रंग के आधार पर ही 'हलदिया बछनाग' एवं 'गोल्डेन थ्रेड रूट' संज्ञायें हैं। इसका रस अतितिक्त होता है अतएव इसे 'मिष्मी तीता' आसामी लोग कहते हैं। कारण कि यह आसाम की मिष्मी पहाड़ियों में होता है और स्वाद में तिक्त होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में ८·५ प्रतिशत बर्बेरिन (Berberine) नामक क्षारतत्त्व पाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ३ से ९ हजार फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है। चीन में भी होता है। चीनी ममीरा उत्तम माना जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष। **रस**—तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से वात तथा रूक्ष और तिक्त होने से कफ और पित्त का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है और विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, शोथहर एवं दृष्टिशक्तिवर्धक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तिक्त और उष्ण होने से यह दीपन, पाचन, अनुलोमन और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ को नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—रूक्षतिक्त होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह तिक्त होने के कारण कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

त्वचा—तिक्त होने के कारण यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह आमपाचन होने के कारण ज्वरघ्न है विशेष कर विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में विशेष कर कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्राभिष्यन्द में आँख पर इसका लेप करते हैं। अन्य औषधों के साथ इसका द्रव बनाकर नेत्ररोगों में भी डालते हैं। इसका सुरमा भी बनाते हैं जिसका उपयोग दृष्टिदौर्बल्य; अव्रणशुक्ल, तिमिर आदि नेत्ररोगों में करते हैं। श्वित्र तथा क्षुद्ररोगों में भी इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य और विबन्ध में लाभ करता है। यकृदुत्तेजक होने से पित्त का स्राव बढ़ाता है जिसके कारण अवरोधज कामला में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने के कारण कास-श्वास में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और पूयमेह में दिया जाता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य विशेषतः ज्वरोत्तर दौर्बल्य में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ और श्वित्र में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः विषमज्वर में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण—१-२ माशे, १½-२ माशे (विषमज्वर प्रतिबन्ध के लिए ज्वर के पूर्व तीन मात्रा), ५-१० रत्ती (कटुपौष्टिक कर्म के लिए)।

वक्तव्य—पियारांगा (Thalictrum foliolosum) की जड़ भी आजकल मर्मीरे में मिला कर बेची जाती है।

× × × ×

'ममीरा पीतमूला स्यात् हिमाचलसमुद्भवा। वृत्तदन्तुरपत्रा च सितपुष्पाऽतितिक्तिका॥
पीतमूला कटुस्तिक्ता रूक्षोष्णा दीपनी सरा। चक्षुष्या पाचनी रुच्या कफपित्तहरा मता॥
यकृदुत्तेजनी चैव विषमज्वरनाशिनी। नेत्रामये यकृद्रोगे कुष्ठे शोथे कफामये॥
कासे श्वासे तथा मूत्रकृच्छ्रे मेहे च पूयजे। ज्वरौत्तरिकदौर्बल्ये ज्वरे चापि प्रशस्यते॥' (स्व.)

३७. पियारांँगा

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae).

नाम—लै०-थैलिक्ट्रम फॉलिओलोजम (Thalictrum foliolosum); सं-पीतरंगा; हि०-पियारांँगा, पीली जड़ी।

स्वरूप—यह एक लम्बा बहुवर्षायु क्षुप होता है। इसके **मूल**-रक्ताभ पीत ६-८ इञ्च लम्बे होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में ५ से ९ हजार फीट की ऊँचाई पर विशेषतः खासिया और नीलगिरि पहाड़ों पर मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें बर्बेरिन नामक क्षारतत्त्व होता है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म ममीरा के समान हैं किन्तु यह उष्ण अधिक होता है इसलिए इसमें वेदनास्थापन, कफनिःसारक, विसूचिकाहर तथा सर्पविषनाशक कर्म विशिष्ट होते हैं।

प्रयोग

बाह्य—शोथ और वेदना में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विसूचिका के लिए यह उत्तम औषध है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने के कारण कास, श्वास, फुफ्फुसशोथ आदि विकारों में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—४-८ रत्ती।

× × × ×

'पीतरंगा ममीरायास्तुल्या किन्तु विशेषतः। वातश्लेष्महरा सर्पविषघ्नी सूचिकाहरा ॥' (स्व०)

३८. चक्षुष्या

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae).

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae).

नाम—लै०-कैसिया ऐबसस (Cassia Absus); सं०-चक्षुष्या (नेत्रों के लिए हितकर), अरण्यकुलत्थिका (वन में होने वाली कुलथी के समान); हि०, पं०-चाकसू, बनकुलथी; म०-चिनोल; गु०-चिमेड़, चमेड़; सिं०-चचर; क०-क्रीड, निन्द्रताछ; ता०-करुम; ते०-चनुपलविट्टुलु; अ०-जश्मीजज़; फा०-चश्मीजज़।

स्वरूप—इसका क्षुप एकवर्षायु १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-संयुक्त; पत्रक चार, १-२ इंच लम्बे प्रायः कुण्ठिताग्र होते हैं। पत्रकद्वय के बीच में एक ग्रन्थि होती है। **पुष्प**-रक्ताभ पीत होते हैं। **फल**-१-१½ इञ्च लम्बा और कुछ टेढ़ा होता है। **बीज**-संख्या में पाँच, चिपटे, चमकीले और काले-भूरे होते हैं। **बीजमज्जा**-पाण्डु होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश से लेकर लंका तक सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में क्षार ३-७ प्रतिशत और कुछ मैंगनीज पाया जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—चक्षुष्य।

कर्म

दोषकर्म—यह विशेषकर कषायतिक्त होने के कारण कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग लेखन, शोथविलयन और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कषाय होने के कारण यह ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—काषायरस के कारण यह रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने से यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न और लेखन होने से मेदोनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्रशोथ में पलकों पर लेप करते हैं तथा दृष्टिमांद्य, नेत्राभिष्यन्द, पोथकी, नेत्रस्राव आदि नेत्ररोगों में सुरमा के रूप में प्रयोग करते हैं। पूययुक्त नेत्राभिष्यन्द में इसका अवचूर्णन नेत्र में करते हैं। इसका प्लास्टर बनाकर क्षतों में तथा व्रणों में विशेष कर जननेन्द्रिय के व्रणों में लगाते हैं। दद्रु आदि चर्मरोगों में भी लाभकर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—ग्राही होने से ग्रहणी, प्रवाहिका और रक्तातिसार में प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्राव के रोकने के लिए विशेषतः अधोग रक्तस्राव में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—छिलके सहित बीजों का चूर्ण मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी आदि में देते हैं।

सात्मीकरण—स्थावर-जंगम विषों में तथा मेदोरोग में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे।

वक्तव्य—चाकसू के बीजों को साने हुये आँटे में रख आग पर गरम करते हैं। तत्पश्चात् छिलका निकाल कर बीजमज्जा का नेत्ररोगों में प्रयोग करते हैं।

× × × ×

'चक्षुष्या दृक्प्रसादा च सैव प्रोक्ता कुलत्थिका। कुलाली लोचनहिता कुम्भकारी मलापहा॥
हिमा प्रोक्ता कषाया च विषं स्थावरजंगमम्। छिनत्ति योजिता सम्यक् नेत्रस्रावाननेकशः॥
सा च विस्फोटकण्ड्वर्त्तिव्रणदोषनिबर्हणी। (ध. नि.)
'कुलत्थिका तु चक्षुष्या कषाया कटुका हिमा। विषविस्फोटकण्डूतिव्रणदोषनिबर्हिणी॥' (रा.नि)

३६. कतक

परिचय

कुल—कुपीलु-कुल (लोगैनिएसी-Loganiaceae).

नाम—लै०-स्ट्रिकनस पोटैटोरम (Strychnos potatorum); सं०-कतक, पयःप्रसादी (जल को स्वच्छ करने वाला), चक्षुष्य (नेत्रों के लिए हितकर); हि०-निर्मली; बं०-पं०-निर्मली; ता०-टेटन-कोट्टई; ते०-चिल्लचेट्टु; अं०-क्लियरिंगनट (Clearing nut)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** कुचले के समान किन्तु उससे ऊँचा होता है। **पुष्प**-पीतवर्ण तथा फल कृष्णवर्ण होते हैं। **बीज**-कुचले के सदृश किन्तु छोटे, उन्नतोदर और श्वेत होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिणभारत, बंगाल तथा बर्मा में विशेषतः होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में स्ट्रिकनीन नहीं होता किन्तु कुछ ब्रुसीन होता है।

गुण

गुण—लघु, विशद। **रस**—मधुर, कषाय, तिक्त। **विपाक**—मधुर।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—चक्षुष्य।

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय और तिक्त होने से कफ का तथा मधुर होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लोक में अतिप्राचीन काल से जलशोधन के कार्य में व्यवहृत होता है। जलपूर्ण पात्र में इसे घिस देने से सारी गन्दगी नीचे बैठ जाती है और ऊपर का जल स्वच्छ हो जाता है। यह लेखन है अतः मधु में घिस कर अञ्जन करने से नेत्र के जीर्ण अभिष्यन्द, शुक्र आदि कफवातप्रधान विकार नष्ट हो जाते हैं। इसके बीजों का चूर्ण मधु में मिलाकर विद्रधि पर लगाने से पाचन होता है।

आभ्यन्तर-पाचसंस्थान—यह रुचिवर्धक, दीपन, स्तम्भन और छेदन है। अधिक मात्रा में वामक है तथा फल भी वामक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है और मूत्रगत शर्करा को कम करता है।

त्वचा—इसका मूल कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह जीर्ण अभिष्यन्द, शुक्र आदि नेत्ररोगों में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—बीजों का प्रयोग अग्निमांद्य, अरुचि, अतिसार एवं गुल्म में होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह एवं इक्षुमेह में प्रयुक्त होता है। फल का प्रयोग भी इक्षुमेह में करते हैं।

त्वचा—मूल का प्रयोग कुष्ठ रोग में होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-२ माशे; वमनार्थ-६ माशे।

'कतं कतफलं कात्थं श्लदणं वारिप्रसादनम्। तोयप्रसादनफलं चक्षुष्यं लेखनात्मकम्॥
कतकं तुवरं तिक्तं विशदं शीतलं लघु। विकाशि मधुरं छेदि चक्षुष्यं कफवातनुत्॥
तृष्णां दाहं विषं गुल्मं हन्ति तोयमलापहम्। (कै. नि.)
'तस्यैव च फलं पक्वं वातकृन्मेहनाशनम्। सुपिच्छिलं छर्दिकरं श्लेष्मपित्तप्रसेककृत्॥
शोफपाण्डुप्रतिश्यायकामलागरनाशनम्। कतकस्य च मूलं तु सर्वकुष्ठप्रणाशनम्॥' (कै. नि.)
'कतकं शीतलं प्राहुस्तृष्णाविषविनाशनम्। नेत्रोत्थरोगविध्वंसिविधिनाऽञ्जनयोगतः॥
कतकस्य फलं तिक्तं चक्षुष्यं शीतलं मृदु। वारिप्रसादनं कृच्छ्रशर्करामश्मरीं जयेत्॥' (ध. नि.)
'पयःप्रसादी कतकः कतकं तत्फलं च तत्। कतकस्य फलं नेत्रं जलनिर्मलताकरम्॥
वातश्लेष्महरं शीतं मधुरं तुवरं मधु।' (भा. प्र.)

(ख) कर्ण्य

सुदर्शन, पारिभद्र आदि द्रव्य कर्ण्य कहलाते हैं। इनका कर्ण पर विशेष कर्म होता है।

४०. सुदर्शन

परिचय

कुल—तालमूली-कुल (एमेरिलिडेसी-Amaryllidaceae)।

नाम—लै०-क्राइनम जिलेनिकम (Crinum zeylanicum); सं०-सुदर्शना (देखने में सुन्दर); सोमवल्ली (सुन्दर क्षुप), चक्रांगी (गोल कन्द वाला), मधुपर्णिका (पत्तियों में मधु के समान रस), हि०-सुदर्शन, बं०-सुखदर्शन; गु०-नागदौन; ता०-टुडैवाचि; ते०-केसरीचेट्टु।

स्वरूप—यह बहुवर्षायु क्षुप-२-३ हाथ ऊँचा होता है। **पत्र**-२-३ फुट लम्वा और ३-४ इञ्च चौड़ा होता है। पत्र हरितवर्ण और भूमि से निकलता प्रतीत होता है। **पुष्प**-श्वेतवर्ण सुन्दर होता है जो क्षुप के मध्य से निकलता दिखाई देता है। पुंकेशर की अपेक्षा स्त्री-केशर अधिक लंवा होता है। **फल**-ईषत् गोलाकार होता है। ग्रीष्म और वर्षाकाल में पुष्प तथा वाद में फल निकलता है।

उत्पत्तिस्थान—उड़ीसा, छोटानागपुर, बंगाल आदि में विशेषरूप से उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें लाइकोरिन (Lycorin) नामक तत्त्व होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष, तिक्त एवं उष्ण होने से कफ का तथा मधुर और उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, कुष्ठघ्न, वेदनास्थापन विद्रधिपाचन एवं जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से वामक और रेचक है।

रसवहसंस्थान—शोथ को दूर करता है।

त्वचा—स्वेदजनन एवं कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वर को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका पत्रस्वरस कर्णशूल, कर्णस्राव आदि कर्णरोगों में उपयोगी है। सन्धिवात आदि शोथवेदनाप्रधान रोगों में इसकी पत्तियों से स्वेदन करते हैं या गरम करके उनका लेप करते हैं। इसका कन्द पीस कर गरम लेप देने से अर्श की पीड़ा शान्त होती है तथा विद्रधि पर देने से वह पक कर फूट जाती है। इसका पत्र प्रबल जन्तुघ्न है। इसकी पत्तियाँ घरों में रखने से कीड़े मर जाते हैं। सूखी पत्तियों के धूपन से मच्छड़ नष्ट हो जाते हैं। चर्मरोगों में इसके पत्रस्वरस से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उभयतोभागहर होने से विष आदि की अवस्थाओं में संशोधनार्थ उपयोग करते हैं।

रसवहसंस्थान—शोथरोग में भी यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ और अन्य रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर के लिए प्रसिद्ध औषध है।

प्रयोज्य अंग—पत्र और कन्द।

मात्रा—पत्रस्वरस-२-६ माशे, कन्दचूर्ण-४-८ रत्ती।

× × × ×

'सुदर्शना सोमवल्ली चक्रांगी मधुपर्णिका। वत्सादनी च दध्याली मेचका मेचका तथा॥
दध्याली स्वादुतिक्तोष्णा कफशोफास्रवातजित्।' (कै. नि.)

४१. पारिभद्र

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-एरिथ्रिना इण्डिका (Erythrina indica), सं०-पारिभद्र (सर्वथा कल्याणकारक); निम्बतरु (नीम के समान तिक्तरस); कंटकीपलाश (पलाश के समान वृक्ष किन्तु कंटकयुक्त); रक्तपुष्प (रक्तवर्ण पुष्प वाला), हि०-फरहद; बं०-पाल्ते मादार; म०-पांगारा; गु०-पararू; ता०-कालियान; ते०-वादाचिपा चेट्टु; अं०-इण्डियन कोरल ट्री (Indian coral tree)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** १०-२० फीट ऊँचा होता है। **छाल**-धूसरवर्ण और पतली होती है तथा इसमें छोटे-छोटे काले रंग के काँटे होते हैं। **पत्र**-पलाश के समान संयुक्त और त्रिपत्रक होता है जिनमें दो पत्रक पत्रदंड के दोनों ओर और एक पत्रक आगे की ओर होता है। **पत्रक**-४-६ इंच लम्बे, विषम चतुर्भुज के समान होते हैं। **पुष्प**-रक्तवर्ण होते हैं। पुष्पमूल में एक मधुर द्रव होता है जिसे उलट कर चूसा जा सकता है। **फल**-सेम के समान ½-१ फुट लंबा होता है जिसमें २-८ बीज, एक इञ्च लंबे और कुछ लाल रंग के होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प तथा ग्रीष्म में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तरी भारत के उद्यानों में तथा दक्षिणी भारत के तटवर्त्ती जंगलों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में दो राल तथा एरिथ्रीन (Erythrine)

नामक तिक्त और विषाक्त तत्त्व पाया जाता है। यह तत्त्व कुपीलुसत्त्व (Strychnine) का प्रतिविष है। एरिथ्रीन पत्तियों में भी पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु। **रस**—तिक्त-कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—तिक्त और उष्ण होने के कारण यह कफ एवं वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग शोथहर, व्रणशोधन और कर्णरोगघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से यह मस्तिष्कशामक, आक्षेपहर और निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान—तिक्त और उष्ण होने से यह रोचन, दीपन, पचान, अनुलोमन, शूलहर और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने से यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्त्तवजनन एवं वाजीकरण हैं।

सात्मीकरण—मेदोनाशक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—तिक्त-होने से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पत्रस्वरस कर्णरोगों में डालते हैं। ग्रन्थिशोथ, सन्धिशोथ, व्रणशोथ एवं नेत्राभिष्यन्द में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—आक्षेपक, अनिद्रा आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, शूल, कृमि और विबन्ध में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—अनेक रक्तविकारों फिरंग-उपदंश आदि में तथा शोथ में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव एवं ध्वजभंग में इसका प्रयोग लाभकर है।

सात्मीकरण—यह मेदोरोग में दिया जाता है। कुपीलुविष में भी देते हैं।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र।

मात्रा—त्वक् क्वाथ-५-१० तो०; पत्रस्वरस-½-१ तोला।

विशिष्ट योग—पारिभद्रावलेह।

निम्बद्रुमो रक्तपुष्पः प्रभद्रः पारिभद्रकः । मन्दारकः पारिजातः कंटकी कंटकिंशुकः ॥
पारिभद्रोऽनिलश्लेष्मशोफमेदःक्रमीन् हरेत्। तत्पुष्पं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम् ॥(कै.नि.)
'अथ भवति पारिभद्रो मन्दारः पारिजातको निम्बतरुः ।
रक्तकुसुमः क्रमिघ्नः बहुपुष्पो रक्तकेसरो वसवः ॥
पारिभद्रः कटूष्णः स्यात्कफवातनिकृन्तनः। अरोचकहरः पथ्यो दीपनश्चापि कीर्त्तितः॥'(रा.नि.)

(ग) नासा

नासा पर कर्म करने वाले (नस्य) द्रव्यों के निम्नाङ्कित विभाग किये जा सकते हैं:—

१. **रेचन**—यथा क्षवक, मरिच आदि ।
२. **तर्पण**—यथा घृत आदि ।
३. **शमन**—यथा दूर्वा आदि ।

४२. क्षवक

परिचय

गण—शिरोविरेचनोपग (च०), मुस्तादिगण (सु०)

कुल—भृंगराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae).

नाम—लै०-सेण्टीपीडा ऑर्बिक्युलरिस (Centipeda orbicularis); सं०-क्षवक (छींक लाने वाला); छिक्कनी; छिक्किका, तीक्ष्णा, घ्राणदुःखदा (तीक्ष्णता के कारण नासा में क्षोभ उत्पन्न करने वाली); हि०-नकछिकनी; बं०-मेचेता, हाचुति; म०-नाकशिंकणी; गु०-नाकछींकणी; अ०-अफकुर; अं०-स्नीज-वर्ट (Sneeze-wort) ।

स्वरूप—यह एकवर्षायु **क्षुप** ४–६ इञ्च लम्बा होता है । **काण्ड**-अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, रोमश और भूमि पर फैला होता है । **पत्र**-डिम्बाकृति $\frac{1}{6}$–$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, पुष्कल, वृन्तरहित और मृदुरोमयुक्त होते हैं । **पुष्प**-छोटे, दण्डरहित, पीतवर्ण और गुच्छों में होते हैं । **फल**-छोटे और रोमयुक्त होते हैं । शीतऋतु के अन्त में यह पौधा उत्पन्न होता है ।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत और लंका में विशेषतः आर्द्रप्रदेश में देखा जाता है ।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल और तिक्तसत्त्व होता है ।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, रूक्ष, लघु । **रस**—कटु ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—तीक्ष्ण, रूक्ष और लघु गुण, कटुरस एवं उष्णवीर्य होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप कुष्ठघ्न वेदनास्थापन एवं नस्य शिरोविरेचन है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए बल्य है ।

पाचनसंस्थान—कटु और उष्ण होने से यह रोचन, दीपन और क्रमिघ्न है ।

प्लीहा—यह प्लीहा के काठिन्य को दूर करता है ।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है ।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह वाजीकरण है ।

त्वचा—कुष्ठघ्न है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—प्रतिश्याय और शिरःशूल में इसका नस्य देते हैं। दन्तशूल होने पर इसका लेप गण्डस्थल पर करते हैं। दद्रु आदि चर्मरोगों में भी इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उत्तेजक होने से इसका प्रयोग नाडीदौर्बल्य, वातरक्त पक्षाघात आदि में करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य और कृमि में प्रयुक्त होता है।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्य रोग में यह लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोग अंग—बीज।

मात्रा—१-३ माशे।

विशिष्टयोग—छिक्किकामोदक (वाजीकरण)।

× × × ×

'छिक्कनी क्षवकृत्तीक्ष्णा छिक्किका घ्राणदुःखदा। छिक्कनी कटुका रुच्या तीक्ष्णोष्णा वह्निपित्तकृत्॥ वातरक्तहरी कुष्ठकृमिवातकफापहा॥' (भा. प्र.)

'छिक्किका छिक्कपत्रा च नासासंवेदनस्तथा। क्षवकः क्षुरकस्तीक्ष्णः क्रूर उद्वेजनस्तथा। क्षुधातिजननो राजक्षवको बुद्धिबोधनः। क्षवकः कटुकः पाके रसे रुच्योऽग्निपित्तकृत्॥ तीक्ष्णोष्णः कफवातास्रहृत्कुष्ठकृमिजिल्लघुः॥' (कै. नि.)

(घ) जिह्वा

कुछ द्रव्यों का जिह्वा पर विशेष रूप से कर्म दृष्टिगोचर होता है यथा आकारकरभ आदि।

४३. आकारकरभ

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी—Compositae).

नाम—लै०-एनासाइक्लस पाइरेथ्रम (Anacyclus pyrethrum). सं०-आकारकरभ, अकल्लक। हि०-अकरकरा, बं०-आकरकरा; म०-अक्कलकरा; गु०-अकोरकरो; ता०-अक्किरकरम; ते०-अकरकरम; अं०-पेलिटरी (Pellitory)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय उद्भिद है। इसके काण्ड पर ग्रन्थियाँ दूर दूर पर होती हैं और रोम होते हैं। **छाल**-धूसरवर्ण और तिक्तरस होती है। **मूल**-३-४ इञ्च लम्बा और $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च मोटा होता है। इसका वीर्य सात वर्षों तक नष्ट नहीं होता। **पत्र**-का स्वाद कपित्थ के समान होता है। **पुष्प**-डाली के ऊपर गेंदा के फूल की तरह निकलता है। **पुष्पदल**-श्वेत और गुलाबी एवं मध्य में पीतवर्ण होते हैं। **फल**-चपटे और लम्बे होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—प्राचीन संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता केवल मध्यकालीन भावप्रकाश आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन पाया जाता है। अतः लोगों का अनुमान है कि यह ओषधि मूलतः अरब की है और वहाँ से भारत में आई।

यह उत्तर अफ्रिका, अरब और सीरिया देशों में प्रचुर परिमाण में उत्पन्न होता है। भारत में, बंगाल में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल तथा पाइरेथ्रीन (Pyrethrin) नामक क्षारतत्व पाया जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष-तीक्ष्ण और कटु होने से कफ तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उत्तेजक, वेदनास्थापन, शोथहर और जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए बल्य और उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह तीव्र क्षोभक है। इसके जिह्वा पर रखते ही चुनचुनाहट, दाह और ऐंठन होने लगती है और लालास्राव अधिक होने लगता है। खाने पर आमाशय में भी प्रदाह होने लगता है। अल्पमात्रा में यह दीपन है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से यह तीव्र उत्तेजक, रक्तशोधक एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और कण्ठ्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्र को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण और उत्तेजक होने से यह वाजीकरण है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजनित रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पक्षाघात, नाडीदौर्बल्य आदि रोगों में तैल में मिश्रित कर मर्दन करते हैं। इसके मूल के क्वाथ का गण्डूष, दन्तक्रिमि, दन्तशूल, कण्ठशालूक आदि मुखरोगों में करते हैं। विद्रधि पर लेप करने से उसका पाचन और दारण शीघ्र होता है। त्वचा पर लेप करने से त्वचा लालरंग की हो जाती है और अधिक देर तक रखने से स्फोट उत्पन्न होता है। कहीं वेदना होने पर इसका लेप करते हैं। पीनस और प्रतिश्याय में इसका नस्य देते है। वाजीकर तिलाओं में भी दिया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अपस्मार, कम्पवात, आमवात तथा सामान्य नाडीदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में यह दीपन कार्य के लिए अग्निमांद्य और पित्तक्षय के रोगों में किया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। इससे हृदय की गति तीव्र होती है और रक्तसंचार बढ़ता है। फिरंगरोग में भी यह प्रयुक्त होता है। शोथ रोग में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह कफजन्य कास, स्वरभेद आदि विकारों में दिया जाता है। दक्षिण में यह वचा के समान बच्चों के कण्ठरोगों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—नाडीदौर्वल्यजनित ध्वजभंग में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्वल्य में भी इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल।

मात्रा—४-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—आकारकरभादि चूर्ण।

अहित प्रभाव—लालाप्रसेक, रक्तपित्त, नाडी की तीव्रता एवं संज्ञाहीनता ये लक्षण अधिक मात्रा में देने पर होते हैं।

निवारण—अहित प्रभाव के निवारण के लिए कतीरा, दूध आदि पित्तशामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'आकारकरभश्चैव कल्लकोऽथ ह्यकल्लकः। अकल्लकोष्णो वीर्येण बलकृत् कटुको मतः॥ प्रतिश्यायं च शोथं च वातं चैव विनाशयेत्।' (भा. प्र.)

(च) त्वचा

त्वचा पर कर्म करने वाले द्रव्यों के निम्नांकित विभाग किये जा सकते हैं:—

१. **स्वेदजनन**—वत्सनाभ आदि।
२. **स्वेदोपग**—शोभाञ्जन आदि।
३. **स्वेदापनयन**—उशीर आदि।
४. **रोमसञ्जनन**—हस्तिदन्त आदि।
५. **रोमशातन**—क्षार आदि।
६. **केश्य**—नारिकेल, तिल, भृंगराज, नीलिनी आदि।
७. **विदाही**—राजिका, अजगन्धा आदि।
८. **स्नेहन**—घृत आदि।
९. **स्नेहोपग**—मृद्वीका, श्लेष्मातक, इसवगोल आदि।
१०. **रूक्षण**—यव आदि।
११. **वर्ण्य**—केशर, केतकी आदि।
१२. **कण्डूघ्न**—करञ्ज, निम्ब, सर्षप, जयन्ती, अरण्यजीरक, जलनिम्ब आदि।
१३. **कुष्ठघ्न**—खदिर, हरिद्रा, भल्लातक, आरग्वध, जाती, तुवरक, वाकुची, मदयन्तिका, काकोदुम्बर, सैरेयक, चक्रमर्द, यूथिकपर्णी आदि।
१४. **उदर्दप्रशमन**—तिन्दुक, प्रियाल आदि।

स्वेदजनन

४४. वत्सनाभ

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)।

नाम—लै०-एकोनाइटम फेरोक्स (Aconitum ferox); सं०-वत्सनाभ (बछड़े की नाभि के समान); विष (विषाक्त); अमृत (युक्तिपूर्वक प्रयोग करने पर हितकर); हि०-बछनाग, मीठा विष; बं०-काठविष, मीठाविष; म०-वचनाग; गु०-वछ-

नाग, क०-मोहक, (जम्मू) मोहरा; मा०-सिंगी मोहरा; बिहार-डकरा; ता०-वसनवि; ते०-वसनुंभि; अं०-एकोनाइट (Aconite), मौंक्स हुड (Monk's hood)।

स्वरूप—यह १-२ फुट ऊँचा क्षुप होता है। **पत्र**-तरबूज की तरह किन्तु छोटे होते हैं। पत्र के गात्र एवं वृन्त में रोम होते हैं। **पुष्प**-कांड के दोनों ओर होते हैं। **पुष्पदंड**-सीधा तथा पुष्प का बाहरी भाग नीलवर्ण और रोमश होता है। बाहर से देखने पर पुष्प मटर के फूल के समान मालूम होते हैं। **फल**-हुरहुर के समान कांटेदार, छोटा और मोटा होता है। **बीज**-कृष्णवर्ण और पक्षयुक्त होते हैं। **मूल**-१-३ इंच लम्बे, ½-१ इञ्च मोटे, बाहर धूसरवर्ण तथा भीतर की ओर किंचित् श्वेत, स्निग्ध और चमकीले होते हैं।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—'जिसके पत्र सिन्दुवार के सदृश हों, जिसकी आकृति बछड़े की नाभि के समान हो और जिसके आस-पास पौधे न हों उसे वत्सनाभ समझना चाहिए।'[1] (भा० प्र०)

'जिसका कन्द गोस्तनाकार और पांच अंगुल से बड़ा न हो गोस्तन से अधिक स्थूल भी न हो तथा वर्ण में पाण्डुर हो वही वत्सनाभ है।'[2] (र० र० स०)

उत्पत्तिस्थान—हिमालय प्रदेश में सिक्किम से गढ़वाल तक १० से १४ हजार फुट की ऊँचाई पर उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एकोनाइटिन के सदृश स्यूडो-एकोनाइटिन (Pseudo-Aconitine) नामक एक विषाक्त तत्त्व पाया जाता है। यह आधा सेर मूल में लगभग ४ माशे निकलता है। इसके अतिरिक्त, एकोनाइटिन (Aconitine) ०.९७-१.२३ प्रतिशत, पिक्रो-एकोनिन, एकोनिन, बेञ्जोइल एकोनिन और होमोनेपेलिन नामक तत्त्व भी अल्पमात्रा में होते हैं।

प्रकार—व्यापारिक दृष्टि से बाजारों में जो द्रव्य वत्सनाभ के नाम से मिलता है उसमें एकोनाइट की अनेक प्रजातियां मिश्रित रहती हैं क्योंकि इसका यह असली प्रकार बहुत कम और कठिनाई से प्राप्त होता है। वर्णभेद से आजकल बाजारों में बछनाग दो प्रकार का मिलता है:—(१) सफेद और (२) काला। वास्तव में वत्सनाभ का प्राकृतिक वर्ण धूसर पांडुर होता है इसीको सफेद बछनाग कहते हैं। इसीको कृत्रिम विधि से काला रंग देकर काला बछनाग बना लेते हैं। इस प्रकार के कृत्रिम संस्कार से लाभ इतना ही होता है कि इसमें कीड़े नहीं लगने पाते।

गुण

गुण—रूक्ष, तीक्ष्ण, लघु, व्यवायि, विकाशि। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, तीक्ष्ण और लघु होने से कफ का, मधुर होने से पित्त का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है। विशेष कर वात और कफ का शामक है।

---

१. 'सिन्धुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा। यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिः वत्सनाभः स उच्यते॥' (भा. प्र.)

२. 'यः कन्दो गोस्तनाकारो न दीर्घः पंचमांगुलात्। न स्थूलो गोस्तदूर्ध्वं'—'वत्सनाभं तु पाण्डुरम्।' (र. र. स.)

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका वाह्य लेप वेदनास्थापन और शोथहर है। किसी स्नेहपदार्थ के साथ त्वचा पर मालिश करने से यह संज्ञावह नाड़ियों के प्रान्तभागों को पहले उत्तेजित करता है और वाद में शून्य करता है जिससे झुनझुनी और शून्यता मालूम होती है। सभी श्लेष्मक कलाओं से इसका शीघ्र शोषण होता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—व्यवायि और विकाशि होने के कारण यह संज्ञावह नाड़ियों के प्रान्तभागों को पहले उत्तेजित और वाद में अवसादित करता है। चेष्टावह नाड़ियों पर भी वहुत कुछ ऐसी ही क्रिया होती है। प्राणदा, रक्तवाहिनीसंकोचक और श्वसन के केन्द्रों पर भी ऐसा ही प्रभाव होता है। तारकायें पहले संकुचित और वाद में प्रसारित होती हैं। मस्तिष्क पर कोई प्रभाव नही होता।

पाचनसंस्थान—जिह्वा पर रखने से वही झुनझुनी और शून्यता उत्पन्न होती है तथा नाड़ियों के क्षोभ के कारण लालाप्रसेक और वाद में हृल्लास उत्पन्न होता है। औषधीय मात्रा में यह रुचिवर्धक, दीपन, पाचन और शूलप्रशमन है। इससे आमाशय के संज्ञावह नाड़ीतन्तु शून्य हो जाते हैं और आमाशयिक रस एवं कफ कम होता है। यकृदुत्तेजक भी है।

रक्तवहसंस्थान—अशुद्ध वत्सनाभ हृदयावसादक है किन्तु शोधित वत्सनाभ हृदयोत्तेजक है। विशेषतः यदि गोदुग्ध में शोधन किया जाय तो यह हृदय को बल देता है एवं रक्तभार को वढ़ाता है। यह शरीर में कहीं भी शोथ हो उसको दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है और अल्पमात्रा में श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है और मूत्र में शर्करा की मात्रा को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्र का स्तम्भन करता है तथा आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह बल्य और बृंहण है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है तथा स्वेदजनन है।

तापक्रम—इससे ज्वर नष्ट होता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग मुख्यतः मूत्र से तथा अंशतः लाला, आमाशय रस, पित्त एवं स्वेद से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषकर कफवातजन्य रोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथ-वेदनायुक्त विकारों यथा गृध्रसी, आमवात, सन्धिवात, शिरःशूल, दन्तशूल आदि में लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—पक्षाघात तथा अन्य नाड़ीदौर्बल्य की अवस्थाओं में यह उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमान्द्य, उदरविकार, शूल एवं यकृत्प्लीहा के विकार में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्वल्य में इसका प्रयोग होता है। गला, श्वासनलिका, फुफ्फुस, हृदय आदि के शोथ में देने से विकार रुक जाता है और व्याधि शान्त हो जाती है।

श्वसनसंस्थान—यह कास-श्वास में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—नाड़ीदौर्बल्य के कारण उत्पन्न बहुमूत्र, शय्यामूत्र आदि विकारों को यह दूर करता है। मूत्रगत शर्करा को कम करने से इक्षुमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह और नष्टार्त्तव में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। एक वर्ष तक सेवन करने से शरीर बिलकुल नीरोग हो जाता है।

त्वचा—तीन मास तक इसके नियमित सेवन से कुष्ठरोग समूल नष्ट हो जाता है।[1]

तापक्रम—ज्वर की यह प्रसिद्ध औषध है। विशेषकर शोथवेदनायुक्त ज्वर (Inflammatory fevers) में उपयुक्त होता है। इससे पसीना आता है, मूत्र आता है, नाड़ी की गति कम होती है तथा शोथ, पीड़ा और ज्वर कम होते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—$\frac{1}{8}$ रत्ती।

विशिष्ट योग—मृत्युञ्जय रस, हिंगुलेश्वर रस, आनन्दभैरव, ज्वरमुरारि, पञ्चवक्त्र, सौभाग्यवटी, रामबाण, कफकेतु।

विषलक्षण—वत्सनाभ की अधिक मात्रा लेने पर कुछ मिनटों के बाद ही मुख और अन्नमार्ग में तीव्र झुनझुनी और दाह उत्पन्न होता है। आमाशय में भी तीव्र दाह होता है। वमन आता है। अत्यधिक स्वेद आने से त्वचा आर्द्र-शीत, झुनझुनीयुक्त और शून्य हो जाती है। नाडी मन्द और अनियमित हो जाती है। तारकायें विस्फारित हो जाती हैं और नेत्र स्तब्ध हो जाते हैं। श्वासकष्ट होने लगता है। अवसाद और मूर्च्छा होने लगती है। कभी-कभी आक्षेप भी आते हैं और अन्त में श्वास या हृदय की गति रुकने से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—आमाशय का प्रक्षालन और वमन कराने के बाद गौ के घी में सुहागा मिला कर पिलावे या अर्जुन की छाल का चूर्ण गोघृत और मधु से दे। इसके अतिरिक्त कस्तूरी या जद्वार पानी में घिस कर चटावे।

प्रतिनिधि—जद्वार।

शोधन—वत्सनाभ के छोटे-छोटे टुकड़े कर गोमूत्र में डुबोकर तीन-चार दिनों तक रक्खे। फिर जल से धोकर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करे। इस प्रकार यह शुद्ध हो जाता है।

सेवनविधि—रसरत्नसमुच्चय के २९ वें अध्याय (विषकल्प) में इसकी सेवनविधि विस्तार से बतलाई गई है। वत्सनाभ का सेवन विशेषकर शीत और वसन्त ऋतुओं में करना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में, गम्भीर व्याधि में, वर्षा में, पैत्तिक प्रकृति में, क्रोधी में, क्लीब में, राजपुरुष में, भूख, प्यास, भ्रम, आतप, मार्गसेवन तथा अन्य विकारों से पीडित व्यक्तियों में, गर्भिणी में, बाल, वृद्ध, रूक्ष पुरुषों में तथा मर्मस्थान में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। विष-सेवनकाल में कटु, अम्ल, लवण, तैल, दिवास्वप्न, अग्नि और धूप का सेवन वर्जित है। इस काल में गौ के दूध-घी का तथा चावल, गेहूँ, शीतल जल और मधुर पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

---

१. मासत्रयप्रयोगेण कुष्ठान्यष्ट हरेद्विषम्। षण्मासस्य प्रयोगेण कामरूपो भवेन्नरः॥ संवत्सरप्रयोगेण सर्वरोगान् व्यपोहति। (र. र. स. २९ अ.)

'विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकाशि च। आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहि मदावहम्॥
तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम्। योगवाहि त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्धनम्॥' (भा.प्र.)
'वत्सनाभोऽतिमधुरः सोष्णो वातकफापहः। कण्ठरुक्संनिपातघ्नः पित्तसंशोधनोऽपि च॥'
(रा. नि.)
'विषं रसायनं बल्यं वातश्लेष्मविकारनुत्। व्यवायि शीतनुद्दाहि कुष्ठशोथविनाशनम्॥
अग्निमान्द्यश्वासकासप्लीहोदरज्वरापहम्। कण्ठरुक्सन्निपातघ्नं मधुमेहहरं तथा॥
प्रलेपाच्छ्वयथुं पीडामपचीं च विनाशयेत्।'
'विषं युञ्जीत नित्यं हि रसायनगुणैषिणः। घृतोपस्कृतदेहस्य विशुद्धस्य हिताशिनः॥
सात्विकस्योदिते भानौ योऽयं शीतवसन्तयोः। ग्रीष्मे चात्ययिके व्याधौ न वर्षासु न दुर्दिने॥
न क्रोधिनि न पित्तार्त्ते न क्लीबे राजवेश्मनि। क्षुत्तृष्णाश्रमघर्माध्वव्याध्यन्तरनिपीडिते॥
गर्भिण्यां बालवृद्धेषु न रूक्षेषु न मर्मसु। अभ्यस्तेऽपि विषे यत्नाद् वर्जनीयान् विवर्जयेत्॥
कट्वम्ललवणं तैलं दिवास्वप्नानलातपान्। ब्रह्मचर्यं वरारोहे विषकाले समाचरेत्॥
गव्ये क्षीरघृते पेये शाल्यन्नं गोधुमं तथा। शीतलं च पिबेत्तोयं मधुराणि च सेवयेत्॥'
(र. र. स. २९ अ०)
'अतिमात्रं यदा भुक्तं तदाऽयं टंकणं पिबेत्। लिह्याद्वा मधुसर्पिभ्यां संपिष्टामर्जुनत्वचम्॥ (र. का.)

स्वेदोपग

४५. शोभाञ्जन

परिचय

गण—स्वेदोपग, कृमिघ्न, शिरोविरेचनोपग, कटुकस्कन्ध, हरितकवर्ग (च.); वरुणादि, शिरोविरेचन (सु.)।

कुल—शोभाञ्जन-कुल (मॉरिङ्गेसी—Moringaceae)।

नाम—लै०-मॉरिङ्गा टेरिगोस्पर्मा (Moringa Pterygosperma), सं०-शोभाञ्जन (शोभायुक्त वृक्ष), शिग्रु (तीक्ष्ण-गुणयुक्त), तीक्ष्णगन्धा (तीक्ष्ण-गन्धयुक्त), अक्षीव (मद को नष्ट करने वाला), मोचक (रोगों से मुक्त करने वाला)। हि०-सहिजन, मुनगा, बं०-शजिना, पं०-सोहांजना। म०-शेवगा, शेगटा, गु०-सरगवो, सेक्टो, सिं०-सुहाँजिडो। मा०-सहजणो, ता०-मुरुंगई, ते०-मुनगा, अं०-हार्स-रेडिश ट्री (Horse-radish tree), ड्रमस्टिक प्लाण्ट (Drum-stick plant)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का २०-२५ फीट ऊँचा होता है। छाल और काष्ठ मृदु होता है। **पत्र**-संयुक्त, पक्षाकार, १-२ फुट लंबा होता है जिसमें पत्रक ६-९ जोड़े, आध इञ्च से पौन इञ्च लम्बे, अभिमुख क्रम में लगे रहते हैं। **पुष्प**-नीलाभ श्वेतवर्ण गुच्छों में निकलते हैं। **फल**-६-१८ इञ्च लम्बे, ६ सिराओं से युक्त और धूसर अथवा कृष्णवर्ण होते हैं। **बीज**-तीन सिराओं से युक्त और पक्षसहित और कटु होते हैं ये श्वेत और मरिच के समान होते हैं अतः इन्हें कुछ लोग श्वेत मरिच भी कहते हैं। फरवरी मास में पुष्प और मार्च-अप्रैल मास में फल निकलते हैं। इसकी फलियों का शाक बनाते हैं।

जाति—पुष्प-भेद से शास्त्रकारों ने शोभाञ्जन की कई जातियाँ बतलाई हैं। भावप्रकाश ने श्वेत और रक्त दो भेद किये हैं। श्वेतजाति कटु होती है इसलिए उसे कटुशिग्रु और रक्तजाति मधुर होती है इसलिए इसे मधुशिग्रु भी कहते हैं। कटुशिग्रु सर्वत्र सुलभ है, इसी का वर्णन इस प्रसंग में किया गया है। मधुशिग्रु कम मिलता है और बंगाल के

मालदह जिले में तथा राजपुताना और सिन्ध में देखा जाता है। इसका लैटिन नाम मॉरिङ्गा कॉन्कानेन्सिस (Moringa concanensis) है। राजनिघण्टु ने नीलशिग्रु का भी उल्लेख किया है किन्तु यह बहुत कम मिलता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारतवर्ष और बर्मा में प्रायः सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एक स्फटिकीय क्षारतत्व, दो राल, एक निरिन्द्रिय अम्ल, पिच्छिल द्रव्य और क्षार ८ प्रतिशत होते हैं। मूल में एक अत्यन्त कटु और दुर्गन्धि उड़नशील तैल होता है। बीजों के दबाने से एक एक स्थिर तैल (३६.६ प्रतिशत) निकलता है जो स्वच्छ, वर्णरहित और गाढ़ा होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, सर। **रस**—कटु, क्षार।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और कटु होने से कफ को तथा उष्ण होने से वात को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी त्वचा और पत्र का लेप विदाही, शोथहर और विद्रधिपाचन होता है। बीजों के चूर्ण का नस्य शिरोविरेचन है। बीजों का तैल वेदनास्थापन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—तीक्ष्ण-उष्ण होने से यह नाड़ियों को उत्तेजित करता है। रासायनिक दृष्टि से त्वचागत कार्यकारी तत्त्व का दो अंशों में विश्लेषण किया गया है। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि स्फटिकीय तत्त्व का कोई विशेष कर्म नहीं होता बल्कि अस्फटिकीय अंश का तीव्र प्रभाव अद्रिनिलीन और इफेड्रिन के समान होता है। इसका कर्म सांवेदनिक नाडीसंस्थान के द्वारा शरीर के समस्त अंगों पर होता है, यथा रक्तभार की वृद्धि, हृदयगति की तीव्रता, रक्तवाहिनियों का संकोच आदि। पाचनयंत्र तथा श्वासप्रणालिओं की स्वतन्त्र पेशियों की गति कम होती है और नेत्र की तारकायें विस्फारित होती हैं।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से रोचन, दीपन, पाचन, विदाही, ग्राही, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है। मधुशिग्रु पिच्छिलता और मधुरता के कारण सारक होता है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से यह हृदयोत्तेजक है और इससे रक्तभार बढ़ता है। शोथ को भी नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने से वृक्कों को उत्तेजित करता है जिससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है और उसकी क्षारीयता भी बढ़ती है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह शुक्र और मेद को नष्ट करता है तथा विषघ्न है।

त्वचा—तीक्ष्ण-उष्ण होने से यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह ज्वरघ्न है।

नेत्र—इसके बीजों का प्रयोग लेखन और चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ और विद्रधि पर इसको त्वचा और पत्र का लेप करते हैं। बीजों के चूर्ण का नस्य शिरःशूल में देते हैं। सन्धिवात, आमवात आदि शोथवेदनाप्रधान विकारों में इसके बीजों के तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात, अर्दित आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमांद्य, अरुचि, शूल, उदररोग, गुल्म तथा क्रिमिरोग में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में यह प्रयुक्त होता है। वृक्कविकार और जलशोथ में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे वृक्कों में क्षोभ होता है और शोथ बढ़ता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ्र में तथा मूत्रगत अम्लाधिक्य में करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में इसका प्रयोग लाभकर होता है।

सात्मीकरण—यह मेदोरोग एवं विष की अवस्थाओं में उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में इसका फाण्ट पिलाते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में इसका प्रयोग होता है और इसकी फलियों का शाक ज्वरोत्तर पथ्य में देते हैं।

नेत्र—इसके बीजों का अञ्जन नेत्ररोगों में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र, बीज, तैल।

मात्रा—त्वक् स्वरस–१–३ माशे। पत्रस्वरस–२–४ माशे।
त्वक् क्वाथ–२–५ तोला। बीजचूर्ण–१ माशा।

विशिष्ट योग—शोभाञ्जनादि लेप, श्यामादि चूर्ण।

अहित प्रभाव—यह रक्तपित्तकर और विदाही होता है अतः पित्तप्रकृति वालों के लिए अहितकर है। इसके अतिसेवन से दाह आदि पैत्तिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इन दोषों के निवारण के लिए इसके साथ दुग्ध आदि पित्तशामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'शोभाञ्जनः शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीबमोचकाः। तद्बीजं श्वेतमरिचं मधुशिग्रुस्तु लोहितः॥
शिग्रुः सरः कटुः पाके तीक्ष्णोष्णो मधुरो लघुः। दीपनः रोचनो रूक्षः क्षारस्तिक्तो विदाहकृत्॥
संग्राहशुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपणः। चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्वयथुक्रिमीन्॥
मेदोपचीविषप्लीहगुल्मगण्डव्रणान् हरेत्। श्वेतः प्रोक्तगुणो ज्ञेयो विशेषाद्दीपनः सरः॥
प्लीहानं विद्रधिं हन्ति व्रणघ्नः पित्तरक्तकृत्। शिग्रुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्त्तिहृत्॥
चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्। अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्तिहृत्॥'
(भा. प्र०)

'शिग्रुतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमि-कुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि चेति ।' (सु. सु. ४५)
'शिग्रुस्तिक्तः कटुश्चोष्णः कफशोफसमीरजित् । कृम्यामविषमेदोघ्नो विद्रधिप्लीहगुल्मनुत् ॥'
(ध. नि.)

'सोंठ, सुहागा, सेंधा, गाँधी । सहिजन के रस में बरिया बाँधी ॥
सत्तर शूल औ अस्सी बाई । कहे धनन्तर छन में जाई ॥' (लोकोक्ति)

स्वेदापनयन

४६. उशीर

परिचय

गण—वर्ण्य, स्तन्यजनन, छर्दिनिग्रहण, दाहप्रशमन, तिक्तस्कन्ध (च०); सरिवादि, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लैं०-वेटिवेरिया जिजेनिऑयडिस (Vetiveria zizanioidis) सं० उशीर (कान्तिवर्धक), नलद (गन्ध देने वाला), सेव्य (सेवन करने योग्य), अमृणाल (कमलनाल के समान), समगन्धक (प्रशस्त गन्धयुक्त), जलवास (जलप्राय स्थान में होने वाला); हि०-खस; म०-वाला; गु०-वालो; बं०-खसखस, वेनाघास; ता०-वेट्टिवेर; ते०-वेट्टिवेल्लु; अं०- खसखस ग्रास (Khaskhas grass)।

स्वरूप—यह वीरण (गाँडर) नामक तृण की जड़ है। यह तृण कुश के समान होता है। इसका काण्ड २-५ फुट, सुगन्धयुक्त होता है। **पत्र**-१-२ फुट, सीधा होता है। **पुष्पदण्ड**—४-१२ इञ्च लम्बा होता है। वर्षाकाल में पुष्प और उसके बाद फल होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिणभारत, बंगाल, राजपुताना एवं छोटा नागपुर में विशेषकर नदियों के उपकूल और जलप्राय स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, राल, रंगद्रव्य, स्वतन्त्र अम्ल, चूने का एक लवण, लौह का ऑक्साइड और काष्ठभाग होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—तिक्त-मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, रूक्ष, लघु होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन, त्वग्दोषहर एवं स्वेदापनयन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क और नाडीसंस्थान का शामक एवं बलप्रद है।

पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन, पाचन और शीत होने से तृष्णानिग्रहण छर्दिनिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने से रक्तप्रसादन और शीत होने से हृदय-शामक बल्य एवं रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त होने से कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—शीत होने से मूत्रजनन है।
त्वचा—यह स्वेदजनन, स्वेददौर्गन्ध्यहर और कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—तिक्त और स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का भी कार्य करता है तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, चर्मरोग और अतिस्वेद में इसका लेप करते हैं। गर्मियों में इसकी टट्टियाँ दरवाजों पर दाह-शान्ति के लिए लगाई जाती हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मद-मूर्च्छा आदि पित्तप्रधान तथा मस्तिष्क-दौर्बल्यजनित विकारों में लाभकर है।
पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, अजीर्ण, तृष्णा, वमन और अतिसार में दिया जाता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में और हृदय की अतितीव्रता एवं दुर्बलता में इसका उपयोग किया जाता है। रक्तपित्त में भी अत्यन्त प्रशस्त है।
श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का एवं श्वास में इसका प्रयोग धूम एवं चूर्णरूप में किया जाता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल होने से मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।
त्वचा—स्वेददौर्गन्ध्य एवं कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।
तापक्रम—ज्वर में, विशेषतः दाहतृष्णायुक्त ज्वर में, देने से ज्वर भी शान्त होता है और दाह आदि उपद्रव भी शान्त होते हैं।
सात्मीकरण—शोषरोग, सामान्य दौर्बल्य में तथा विष की अवस्थाओं में इसका प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अंग—मूल।
मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे। अर्क-२-४ तोला।
हिम-२½-५ तोला। फाण्ट-४-८ तोला।
इसका प्रयोग अर्क, हिम, फाण्ट या शर्बत के रूप में विशेष हितकर होता है।
विशिष्ट योग—उशीरासव, उशीरादिक्वाथ, उशीरादिचूर्ण, उशीराद्यतैल, षडंगपानीय।

× × × ×

'वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदं च तत्। अमृणालं च सेव्यं च समगन्धकमित्यपि॥
उशीरं पाचनं शीतं स्तम्भनं लघुतिक्तकम्। मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदजित् कफपित्तनुत्॥
तृष्णास्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम्।' (भा. प्र.)
'उशीरं शीतलं रूक्षं स्वादुतिक्तं हिमं लघु। पाचनं स्तम्भनं हन्ति शोषदाहमदज्वरान्॥
तृष्णास्रविषदौर्गन्ध्यकृच्छ्रकुष्ठवमिव्रणान्।' (कै. नि.)
लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्।' (च. सू. २५)
'मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरः। शृतशीतं जलं देयं पिपासाज्वरशान्तये॥ (च. चि. ३)
'उशीरकालीयकलोध्रपद्मकप्रियंगुकाकट्फलशंखगैरिकाः।
पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः।' (च. चि. ४)

केश्य

४७. नारिकेल

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-कोकस् न्युसिफोरा (Cocos nucifora); सं०-नारिकेल, नालिकेर, दृढफल (कठिन फलवाला), लांगली (वायु के द्वारा गतिशील), कूर्चशीर्षक (शिरोभाग में कूची के समान), तुंग (अत्युच्च वृक्ष), स्कन्धफल (स्कन्धदेश में लगने वाला फल), तृणराज (तृणजाति का सर्वोच्च वृक्ष), सदाफल (सदा फल लगे रहने से), दाक्षिणात्यक (दक्षिण देश में विशेष उत्पन्न होने वाला); हि०-नारियल; बं०-नारिकेल; पं०-नरेल, खोपा; म०-माड (वृक्ष), नारल (फल); गु०-नालियर; ता०-तेन्नामारम्; ते०-नारिकादाम; अ०-नारजील; फा०-नारगील; अं०-कोकोनट पाम (Cocoanut palm)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**-लगभग ४०-६० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-स्थूल (व्यास १-२ फुट) कृष्ण या धूसरवर्ण होता है और उसके बाहरी भाग में गोलाकार चिह्न होते हैं। **पत्र**-संयुक्त, १२-१६ फुट लम्बे होते हैं। **पत्रक**-२-३ फुट लम्बे हरितवर्ण होते हैं और अग्रभाग में क्रमशः नुकीले होते हैं। **पुंपुष्प**-छोटे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-अण्डाकृति ६-१० इंच लम्बा होता है जिसका ऊपरी आवरण अत्यन्त कठिन और भीतर जल भरा होता है। इसमें फूल और फल वर्षभर लगते हैं। निघण्टुओं में इसके फल की तीन अवस्थायें बतलाई गई हैं—(१) बाल (२) मध्यम और (३) पक्व। बाल्यावस्था में केवल जल रहता है, मध्यमावस्था में जल कम और गिरी मृदु दुग्धवत् होती है और पक्वावस्था में मज्जा अत्यन्त कठोर, स्वादरहित और प्रायः निर्जल हो जाती है।

उत्पत्तिस्थान—समुद्रतटवर्त्ती प्रदेशों यथा दक्षिणभारत, पूर्वीबंगाल, उडीसा, लंका, बर्मा आदि में प्रचुर संख्या में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके ताजे फल में मांसजातीय पदार्थ, वसा, लिग्निन, क्षार, तालशर्करा और निरिन्द्रिय द्रव्य होते हैं। नारियल फल के पीसने से जो दूध निकलता है उसमें शर्करा, गोंद, अलब्युमिन, टार्टरिक, अम्ल, खनिज और जल होते हैं। पत्र की भस्म में पोटाश अधिक परिमाण में होता है। तैल में लॉरिक, मिरिस्टिक,पामिटिक और स्टियरिक अम्लों के ग्लिसरायडों के अतिरिक्त स्वतन्त्र कैप्रिलिक अम्ल होता है। पक्व फल से लगभग ६० से ७१ प्रतिशत तैल निकलता है।

कोमल डाभ के जल का रासायनिक संघटन निम्नाङ्कित है:—

प्रोटीन	०·६२ प्रतिशत	फास्फेट	लेशमात्र
ग्लुकोज	५·५ ,,	कुल ठोस भाग	७·६८ प्रतिशत
इक्षुशर्करा	लेशमात्र	जल	९२·३२ ,,
क्लोराइडस	·५५ ,,	कुल अम्ल	·०५ ,,

मध्यावस्था के नारिकेल फल के जल का रासायनिक विश्लेषण निम्नलिखित है:—

ग्लुकोज	४·८२ प्रतिशत	कुल ठोस भाग	८·७२ प्रतिशत
इक्षुशर्करा	१·११ "	जल	९१·२८ "
प्रोटीन	·५९ "	कुल अम्ल	·०८४ "
क्लोराइड	·८६ "		

इनके अतिरिक्त इसमें ए और बी विटामिन भी होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर। **विपाक**—मधुर
वीर्य—शीत। **विपाक**—केश्य।

कर्म

दोषकर्म—गुरु-स्निग्ध होने से वात तथा मधुर-शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका जल वर्ण्य और दाहशामक है। तैल-केश्य, कुष्ठघ्न और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह पित्तशामक, अनुलोमन और शूलप्रशमन है। इसका क्षार भेदन है। जल-अग्निदीपन है। तैल-क्रिमिघ्न है। पुष्प-स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका जल, पुष्प एवं कोमल फल रक्तपित्त को शान्त करता है।

श्वसनसंस्थान—इसका जल हिक्कानिग्रहण है। तैल-कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—डाभ का पानी और मूल मूत्रजनन, मूत्रविरेचन है और कोमल फल भी वस्तिशोधन है किन्तु पुष्प मूत्रस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—पक्वफल उष्ण होने से वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—ताजा फल बृंहण और बल्य है किन्तु इसका तैल कर्शन है।

तापक्रम—यह ज्वर को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके जल से मसूरिका के दानों को धोते हैं जिससे दाह शान्त होता है और उसका दाग भी मिट जाता है। इसका तैल केश बढ़ाने के लिए प्रसिद्ध है। चर्मरोगों और व्रणों में इसका तैल कपूर मिला कर लगाते हैं। कवच को जलाकर निकाला हुआ तैल कुष्ठघ्न है और इसका बाह्यप्रयोग कुष्ठ और व्रणों में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—डाभ का पानी तृष्णा, दाह आदि पैत्तिक विकारों को शान्त करता है। कोमल फल महास्रोत के पैत्तिक विकार-अम्लाधिक्य आदि-में अत्यन्त लाभकर है। अनुलोमन होने से आध्मान आदि वातविकारों को नष्ट करता है और पुरीषोत्सर्ग में सहायक होने से पित्तसंशोधन भी करता रहता है। इसलिए अम्लपित्त रोग में यह अत्यन्त प्रसिद्ध औषध है। पैत्तिक शूल में भी इसी कारण दिया जाता है। नारिकेलक्षार भेदन होने से गुल्म, श्लैष्मिक शूल आदि में देते हैं। जल अग्निमांद्य में, तैल क्रिमिरोग में तथा पुष्प अतिसार-विशेषतः रक्तातिसार-में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—जल, पुष्प एवं कोमल फल रक्तपित्त में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जल हिक्कारोग में लाभ करता है। तैल का प्रयोग कासश्वास में करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—डाभ का पानी और मूल मूत्रकृच्छ्र और मूत्रगत वर्णविकारों में दिया जाता है। पुष्प-बहुमूत्रता में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—पकी गिरी कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होती है। वाजीकरण योगों में भी डालते हैं।

सात्मीकरण—ताजे फल का प्रयोग सामान्य दौर्बल्य एवं कृशता में करते हैं। इससे निकाला हुआ तैल क्षयरोग में प्रयुक्त होता है। गवेषकों का कथन है कि यह क्षय में कॉड लिवर आयल के समान लाभ करता है केवल थोड़ा पचने में गुरु होता है। पके फल के तैल का मेदोरोग में करते हैं।

तापक्रम—नारियल के जल का प्रयोग विषमज्वर आदि में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प, तैल, मूल, क्षार आदि।

मात्रा—फल-२-३ तो०, तैल-१०-२० बूँद, क्षार-४-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—नारिकेलखण्ड, नारिकेललवण, नारिकेलामृत।

अहित प्रभाव—चिरपाकी।

निवारण—शर्करा और मिश्री।

× × × ×

'नारिकेलफलानि च। बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च॥ (च. सू. २७)

'नालिकेरं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम्। बलमांसप्रदं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम्॥

(सु. सू. ४६)

**'नारिकेलो दृढफलो लांगली कूर्चशीर्षकः। तुंगः स्कन्धफलश्चैव तृणराजः सदाफलः॥
नारिकेलफलं शीतं दुर्जरं बस्तिशोधनम्। विष्टम्भि बृहणं बल्यं वातपित्तास्रदाहनुत्॥
विशेषतः कोमलनारिकेलं निहन्ति पित्तज्वरपित्तदोषान्।
तदेव जीर्णं गुरुपित्तकारि विदाहि विष्टम्भि मतं भिषग्भिः॥
तस्याम्भः शीतलं हृद्यं दीपनं शुक्रलं लघु। पिपासापित्तजित् स्वादु बस्तिशुद्धिकरं परम्॥'**

(भा. प्र.)

'नारिकेलो गुरुः स्निग्धः शीतः पित्तविनाशनः। अर्धपक्वस्तृषाशोषशमनो दुर्जरः परः॥'

(रा. नि.)

**'नारिकेलं हिमं स्निग्धं स्वादुपाकरसं गुरु। तर्पणं प्रीणनं वृष्यं बृंहणं बलमांसकृत्॥
विष्टम्भि दुर्जरं हृद्यं श्लेष्मलं बस्तिशोधनम्। दाहक्षतक्षयहरं वातपित्तास्रनाशनम्॥'
तस्योदकं हिमं स्निग्धं मधुरं बस्तिशोधनम्। दीपनं शुक्रलं हृद्यं तृट्पित्तदाहनुत्॥**

× × × ×

नारिकेलोद्भवं तैलं बृंहणं बलवर्धनम्। केश्यं पित्तानिलहरं दन्त्यं मधुरमेव च॥

× × × ×

**'नारिकेलप्रसूनं तु रक्तपित्तप्रमेहनुत्। रक्तातिसारं हरति महालोहितनाशनम्॥
शीतलं सोमरोगघ्नं विबन्धं कुरुते भृशम्।'** (कै. नि.)

४८. तिल

कुल—तिल-कुल (पिडैलिएसी-Pedaliaceae)

नाम—लै०-सिसेमम इण्डिकम (Sesamum indicum); सं०-तिल, हि०-तिल; बं०-तिल; म०-तिल; गु०-तल; सिं०-तिर; ता०-एल्लु; ते०-गुब्बुलु; अं-सिमसिम, समसम; हल; फा०-कुंजद; अं०-सिसेमम (Sesamum)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। इसका **काण्ड**-मृदुरोमश होता है। **पत्र**-३-५ इञ्च लम्बे, छोटे-बड़े अनेक आकार के होते हैं। ऊपर की पत्तियाँ कुछ लम्बी और नीचे की डिम्बाकृति होती हैं। **पुष्प**-कोमल; लोमयुक्त; नीलाभ श्वेत, रक्त या पीत चिह्नों से युक्त होते हैं। **बीज**-छोटे, चिकने और वर्ण में श्वेत, रक्त या कृष्ण होते हैं।

जाति—बीजों के वर्णभेद से यह तीन प्रकार का होता है—१. श्वेत २. रक्त और ३. कृष्ण। श्वेत जाति में तैल अधिक निकलता है। रक्तजाति को 'रामतिल' भी कहते हैं। इसका क्षुप कृष्णतिल के समान ही होता है किन्तु इसके पुष्प चित्र-विचित्र और पत्र कुछ बड़े होते हैं। कृष्णतिल गुणकर्म की दृष्टि से प्रशस्त माना जाता है और औषध-कार्य में इसीका प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में स्थिर तैल ५० से ६० प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त, मांसतत्व २२%, शाकतत्त्व १८%, पिच्छिलद्रव्य ४%, काष्ठभाग ४% और भस्म ४.८% होते हैं। तैल में ७० प्रतिशत तरल स्नेह, १२-१४ प्रतिशत घन स्नेह, सिसेमिन नामक एक स्फटिकीय द्रव्य और सिसेमॉल नामक एक फेनोल-यौगिक होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर **अनुरस**-कषाय-तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—केश्य।

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध, मधुर एवं उष्ण होने से वात का शमन करता है तथा कफ और पित्त का प्रकोप करता है। योगवाही होने के कारण द्रव्यान्तर के संयोग और संस्कार से त्रिदोषशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्नेहन, वेदनास्थापन, सन्धानीय, व्रणशोधन, व्रण-रोपण और केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य है।

पाचनसंस्थान—स्निग्ध होने से दन्त्य, उष्ण होने से दीपन, ग्राही और शूल प्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—कषाय होने के कारण यह रक्तस्राव को रोकता है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध होने से यह श्वासनलिकागत रूक्षता को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह उष्ण होने से मूत्र को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह वाजीकरण, आर्त्तवजनन और स्निग्ध होने से स्तन्यजनन है।

सात्मीकरण—स्निग्ध-मधुर होने से यह बल्य और वृष्य है।

त्वचा—त्वचा के लिए स्नेहन और हितकर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में इसका प्रचुर प्रयोग होता है। विशिष्ट द्रव्यों से सिद्ध होने पर तैल त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—त्वचा में रूक्षता अधिक होने से इसके तैलका अभ्यंग करते हैं। पक्षाघात, अर्दित आदि वात-विकारों में विशिष्ट द्रव्यों से संस्कृत कर अभ्यंग करते हैं। शिर आदि अंगों में पीड़ा होने पर इसकी मालिश करते हैं। पीड़ा की शान्ति के लिए अर्श में इसका कल्क गरम कर बाँधते हैं। छिन्न-भिन्न, भग्न-क्षत आदि में इसका परिषेक, अवगाह, अभ्यंग आदि के रूप में प्रयोग होता है। व्रणों के शोधन एवं रोपण के लिए इसका लेप और इसके तैल का आश्च्योतन भी करते हैं। केशों को बढ़ाने तथा काला करने के लिए तिल के पत्र एवं जड़ के क्वाथ से बाल धोते हैं और उसके तैल का शिर में अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क-दौर्बल्य एवं तज्जनित विकारों में तिल का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—दाँतों की दुर्बलता में तिल के बीज चबाते हैं जिससे दाँत मजबूत होते हैं। अग्निमांद्य एवं ग्रहणी आदि रोगों में भी यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—अर्शरोग में रक्तस्राव को रोकने के लिए मक्खन के साथ खाने को देते हैं। तिल स्वतः कषाय होने से स्तम्भन है और फिर उष्णता के कारण उसमें जो दोष होते हैं उन्हें मक्खन का संयोग दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का, श्वास आदि वातप्रधान विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह के लिए यह उत्कृष्ट औषध है। इससे मूत्र कम होता है और बल भी बढ़ाता है। तैल का प्रयोग पूयमेह में करते हैं। इससे स्नेहन होता है और पूय नष्ट होता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्टार्त्तव, स्तन्याल्पता एवं कामशक्ति-ह्रास में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में तिल के मोदक प्रसिद्ध हैं।

त्वचा—त्वचागत विकारों में तिल खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, तैल।

मात्रा—बीजचूर्ण-३-६ माशे।

विशिष्ट योग—तिलादि गुडिका, तिलादि लेप, तिलाष्टक।

अहित प्रभाव—गुरु होने से यह देर में पचता है और क्रमशः आमाशय को शिथिल बना देता है।

× × × ×

'स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः। त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत्॥
(च. सू. २७)

'ईषत् कषायो मधुरः सतिक्तः सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः।
तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः स्निग्धो व्रणालेपन एव पथ्यः॥
दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्रस्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च।
तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये॥' (सु. सू. ४६)
'तिलः कृष्णः सितो रक्तः स वन्योऽल्पतिलः स्मृतः।
तिलो रसे कटुस्तिक्तो मधुरस्तुवरो गुरुः॥
विपाके चापि मधुरः स्निग्धोष्णः कफपित्तकृत्।
बल्यः केश्यो हिमस्पर्शस्त्वच्यः स्तन्यो व्रणे हितः॥

दन्त्योऽल्पमूत्रकृद्ग्राही वातघ्नोऽग्निमतिप्रदः।
कृष्णः श्रेष्ठतमस्तेषु शुक्लो मध्यमः सितः॥
अन्ये हीनतराः प्रोक्तास्तज्ज्ञैः रक्तादयस्तिलाः॥' (भा. प्र.)

'कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च। पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्धनम्॥
वातघ्नेषूत्तमं बल्यं त्वच्यं मेधाग्निवर्धनम्। तैलं संयोगसंस्कारात् सर्वरोगापहं स्मृतम्॥'
(च. सू. २७)

'नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति रक्तानि॥ (च. चि. १४)
'तिलकुसुमलवणगोजलकटुतैलं लौहभाजने कृत्वा।
शोषितमर्कमयूखैः पादस्फुटनं निहन्ति लेपेन॥' (भै. र.)
'तिलैश्च गुटिकां कृत्वा लेपयेज्जठरोपरि। गुडिका शमयत्येषा शूलं चैवातिदुस्तरम्॥' (भै. र.)
'तिलकल्कः सलवणः द्वे हरिद्रे त्रिवृद् घृतम्। मधुकं निम्बपत्रं च लेपः स्याद्व्रणशोधनः॥' (भै. र.)
'तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च। श्लेष्मगुल्मपयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक्॥' (भै.र.)

४९. भृङ्गराज

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae)।

नाम—लै०-वेडिलिया कैलेण्डुलेसिया (Wedelia calendulacea), सं०-भृङ्गराज (जिससे केश भौंरे के समान शोभायमान हों); मार्कव (जो बालों की सफेदी को दूर करे); केशरञ्जन (केश को रंगने वाला), हि०-भँगरा, भंगरैया; पं०-भंगरा; म०-माका; गु०-भांगरो; मा०-जलभांगरो; बं०-भीमराज;ता०-काइकेशी; ते०-गलगरा; अ०-कदीमुलबिंत।

स्वरूप—इसका क्षुप छोटा ८-१० अंगुल ऊँचा होता है और प्रायः भूमि पर फैला रहता है। **काण्ड**-कृष्ण होता है। **पत्र**-३-४ इञ्च लंबे, कुछ चौड़े अरहर की तरह, दन्तुर, लोमश और कर्कश होते हैं। **पुष्पदण्ड**-लम्बा और कुछ टेढा होता है जिसके शिरोभाग में पीतवर्ण पुष्प निकलता है। **बीज**-लंबे, छोटे, काली जीरी के समान १ पुष्प में करीब २० होते हैं। वर्षाऋतु में उत्पन्न होता है और शरद् में पुष्प-फल लगते हैं।

जाति—पुष्पभेद से निघण्टुओं में इसकी तीन जातियों का उल्लेख मिलता है:—(१) श्वेत, (२) पीत और (३) नील। श्वेत जाति का पुष्प और काण्ड श्वेत होते हैं। इसका लैटिन नाम—एक्लिप्टा ऐल्बा (Eclipta alba) तथा हिन्दी नाम केशराज है। यह विशेषतः बंगाल, आसाम और बम्बई में मिलता है। पीत भृङ्गराज का क्षुप और पत्र श्वेतजाति से बड़ा होता है तथा इसका पुष्प पीतवर्ण होता है। यह विशेषकर उत्तर भारत में मिलता है। नील भृङ्गराज का काण्ड और पुष्प कृष्ण वर्ण होता है। यह दुर्लभ है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारतवर्ष के जलप्राय स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें प्रचुर मात्रा में राल और एक्लिप्टिन (Ecliptine) नामक क्षारतत्त्व होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष, लघु, कटुतिक्त और उष्ण होने से यह कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण, सवर्णीकरण और चक्षुष्य है। सर्वोपरि यह केशवर्धन और रञ्जन है।

आभ्यन्तर–नाड़ीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है।

नेत्र—इससे दृष्टिशक्ति बढ़ती है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन और यकृदुत्तेजक है। इसकी मुख्य क्रिया यकृत् पर होती है जिससे पित्तस्राव ठीक होता है और उससे आमदोष का पाचन ठीक होता है। यह पित्तरेचक है और इससे उदरस्थ क्रिमि नष्ट होते हैं। यह शूलप्रशमन भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन एवं रक्तवर्धक है। इससे शोथ भी नष्ट होता है।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने से कफनाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज वाजीकरण हैं।

सात्मीकरण—बलवर्धक और रसायन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है और त्वचा के कुष्ठ आदि विविध विकारों को नष्ट करता है।

तापक्रम—स्वेदजनन और आमपाचन होने से ज्वर को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—श्लीपद, ग्रंथि आदि शोथों में इसका लेप करते हैं। व्रणों और क्षतों पर लेप करने से पीड़ा कम होती है और रोपण शीघ्र होता है तथा त्वचा का रंग ठीक होता है। इसके रस का आश्च्योतन नेत्ररोगों में तथा कर्णशूल में करते हैं। शिरःशूल में इसका स्वरस शिर में मलते हैं और इसके स्वरस को बकरी के दूध में मिला कर नस्य लेने से सूर्यावर्त्त रोग दूर होता है। 'पालित्य आदि केश के रोगों में भृंगराजस्वरस बालों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—शिरःशूल, भ्रम आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

नेत्र—नक्तान्ध्य एवं दृष्टिमांद्य में इसका सेवन कराते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्वृद्धि, प्लीहावृद्धि, कामला, अर्श और उदरशूल में लाभ करता है। एरंडतैल के साथ इसका स्वरस पिलाने से उदरस्थ क्रिमि बाहर निकल आते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह अनेक रक्तविकारों और पांडु तथा शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रदाह में यह लाभ करता है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीजों का प्रयोग कामशक्ति को बढ़ाने के लिए करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है विशेषतः रसायनकर्म के लिए नील भृङ्गराज के सेवन का विधान है।

त्वचा—यह अनेक चर्मरोगों में यथा कुष्ठ, किलास, शीतपित्त, क्षुद्ररोग आदि में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में भी दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, बीज।

मात्रा—स्वरस-६ माशे से १ तोले तक। बीजचूर्ण—१-३ माशे।

उबालने से इसका गुण नष्ट हो जाता है अतः स्वरस का ही प्रयोग करना चाहिए।

विशिष्ट योग—भृङ्गराज तैल, षड्विन्दु तैल, भृङ्गराजादि चूर्ण, भृङ्गराजघृत।

× × × ×

'भृङ्गराजो भृङ्गरजो मार्कवो भृङ्ग एव च। अंगारकः केशराजो भृङ्गारः केशरञ्जनः॥
भृङ्गारः कटुकस्तिक्तो रूक्षोष्णः कफवातनुत्। केश्यस्त्वच्यः कृमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत्॥
दन्त्यो रसायनो बल्यः कुष्ठनेत्रशिरोऽर्तिनुत्।' (भा. प्र.)
'ये मासमेकं स्वरसं पिबन्ति दिने दिने भृङ्गरजःसमुत्थम्।
क्षीराशिनस्ते बलवीर्ययुक्ताः समाः शतं जीवितमाप्नुवन्ति॥' (वा. उ. ३९)
धात्रीतिलान् भृङ्गरजोविमिश्रान् ये भक्षयेयुर्मनुजाः क्रमेण।
ते कृष्णकेशा विमलेन्द्रियाश्च निर्व्याधयो वर्षशतं भवेयुः॥ (भै. र.)
'भृङ्गराजास्तु चक्षुष्यास्तिक्तोष्णाःकेशरञ्जनाः।कफशोफविषघ्नाश्च तत्र नीलो रसायनः॥' (रा. नि.)

५०. नीलिनी

परिचय

गण—विरेचन (च०); अधोभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बीकुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-इण्डिगोफेरा टिंक्टोरिया (Indigofera tinctoria), सं०-नीलिनी (नीलवर्णयुक्त), नीली, रञ्जनी (केश को रंगनेवाली); तुत्था (तुत्थ के समान नीलवर्ण), ग्रामीणा (ग्रामीण क्षेत्रों में होने वाली), नीलपुष्पा (नीलपुष्पवाली), शारदी (शरदृतु में पकनेवाली), हि०-नील; बं०-नील; म०-नीली; गु०-गली; मा०-लील; ता०-नीलम्, अवरि; ते०-अविरि, नीलिचेट्टु; अ०-नीलज; फा०-दरख्ते-नील; अं०-इण्डिगो (Indigo)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** ६-७ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-श्वेतवर्ण और रोमयुक्त होता है। **पत्र**-श्यामाभ हरितवर्ण, १-२ इंच लंबा,शरपुंखा के समान, **पत्रक**-२-६ जोड़े और अन्त में एक अयुग्म होता है। **पुष्प**-नीलाभ गुलाबी रंग के होते हैं। **पुष्पदण्ड**-२-४ इञ्च लम्बा होता है। **फली**-१-२ अंगुल लंबी और अग्रभाग में जरा टेढी होती है। एक फली में ८-१० **बीज**-बेलनाकार, दोनों छोरों पर कटे हुये होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प और शरद् में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः बिहार, बंगाल, उड़ीसा, सिन्ध, अवध और बम्बई में होता है। दक्षिण भारत के जंगलों में भी देखा जाता है। पहले इसकी खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी किन्तु अब कृत्रिम नील बनने के कारण इसकी खेती प्रायः बन्द हो गई।

रासायनिक संघटन—इसमें मुख्यतः इण्डिकन (Indican) नामक सत्त्व पाया जाता है जो इसके पञ्चांग के किण्वीकरण से प्राप्त किया जाता है। इसके पौधे से ५० प्रतिशत नील निकाला जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष । **रस**—तिक्त ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष, तिक्त एवं उष्ण होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—लेखन, वेदनास्थापन, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न, विषघ्न, कृमिघ्न, केशवर्धन और केशरञ्जन है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उत्तेजक है ।

पाचनसंस्थान—रेचन, यकृदुत्तेजक, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तप्रसादन एवं शोथहर है ।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है ।

सात्मीकरण—यह अनेक विषों विशेषकर जांगम विषों को नष्ट करता है ।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है ।

तापक्रम—यह विषमज्वर-प्रतिबन्धक है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—लेखन होने के कारण इसके बीजों का चूर्ण बनाकर मोतियाबिन्द और फूली में सुरमा के रूप में प्रयोग करते हैं । वेदनास्थापन होने से अर्श, आमवात आदि में लेप करते हैं । व्रणों पर लेप करने से रोपण शीघ्र होता है । कुष्ठ, किलास, दद्रु आदि त्वचा के विविध रोगों में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं । पागल कुत्ता के काटने पर दंशस्थान पर इसका लेप करते हैं । बीजों को मद्य में सात दिन रखने के बाद वह मद्य बालों के जूँ को मारने के लिए प्रयुक्त होता है । विसर्प का प्रसार रोकने के लिए इसका लेप करते हैं । केशवर्धन एवं रञ्जन के लिए पत्तियों का उपयोग किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मद, मूर्च्छा, भ्रम आदि मस्तिष्क-दौर्बल्यजनित विकारों में प्रयुक्त होता है ।

पाचनसंस्थान—विबन्ध, आमवात, उदावर्त्त, जलोदर, यकृत्-प्लीहवृद्धि, शूल और क्रिमि में दिया जाता है ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रव, वातरक्त आदि विविध रक्तविकारों एवं शोथरोग में प्रयुक्त होता है ।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं फुफ्फुसशोथ में उपयोगी है ।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी रोग, मूत्रकृच्छ्र में इसके मूल का क्वाथ देते हैं ।

सात्मीकरण—पागल कुत्ता काटने पर ५ तोला पत्रस्वरस समान गोदुग्ध के साथ प्रतिदिन सवेरे देते हैं इससे जलसन्यास होने का भय नहीं रहता और विष शान्त हो जाता है । मूल का क्वाथ शंखिया विष के निवारण के लिए देते हैं ।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं ।

तापक्रम—विषमज्वर में काली मिर्च के साथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला।

× × × ×

'नीली तु नीलिनी तूली काला दोला च नीलिका। रञ्जनी श्रीफली तुत्था ग्रामिणा मधुपर्णिका॥
क्लीतिका कालकेशी च नीलपुष्पा च सा स्मृता। नीलिनी रेचनी तिक्ता केश्या मोहभ्रमापहा॥
उष्णा हन्त्युदरप्लीहवातरक्तकफानिलान्। आमवातमुदावर्त्तं मदं च विषमुद्धतम्॥' (भा. प्र.)

'नीली तिक्ता रसे पाके सरोष्णा भ्रममोहकृत्। कफानिलहरा केश्या प्लीहोदरविषापहा॥
वातरक्तमुदावर्त्तमामवातगदं हरेत्॥' (कै. नि.)

'नीली तिक्ता रसे चोष्णा कटिवातकफापहा। केश्या विषोदरं हन्ति वातासृक्कृमिनाशिनी॥'
(ध. नि.)

'नीली तु कटुतिक्तोष्णा केश्या कासकफामनुत्। मरुद्विषोदरव्याधिगुल्मजन्तुज्वरापहा॥'
(रा. नि.)

विदाही

५१. राजिका

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae)।

नाम—लै०-ब्रासिका जन्सिया (Brassica Juncea); सं०-राजिका; आसुरी (तीक्ष्ण होने के कारण), तीक्ष्णगन्धा (गन्ध तीक्ष्ण होने के कारण), क्षुज्जनिका (भूख बढ़ाने वाली); हि०-राई; बं०-राई सरिषा; पं०-ओहर; म०-मोहरी; गु०-राई; ता०-कडुगु; ते०-अवलु; अ०-खरदल; फा०-सिपंदाँ; अं०-ब्राउन मस्टर्ड (Brown Mustard)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप सरसों के समान २-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-लम्बे, **पुष्प**-पीतवर्ण गुच्छों में तथा **बीज** भूरे रंग के सरसों से कुछ छोटे होते हैं। वसन्त में पुष्प आते तथा ग्रीष्म में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में २०-२५ प्रतिशत स्थिर तैल होता है। जल की क्रिया से एक उड़नशील तैल भी उत्पन्न होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु-तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—लघु, तीक्ष्ण और कटु-तिक्त होने से यह कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजों का लेप शोथहर, लेखन, विदाही, स्फोटजनन एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उष्ण और कटु होने से दीपन-पाचन, शूलहर, कृमिघ्न और प्लीहवृद्धिहर है और बड़ी मात्रा में देने से तीक्ष्णता के कारण वामक भी होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक एवं रक्तपित्तकोपक है।

त्वचा—यह उष्ण होने से स्वेदजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शीतप्रधान वातव्याधि में इसके बीजों का लेप करते हैं। पक्षाघात, सन्धिवात, कटिशूल, फुफ्फुसावरणशोथ, फुफ्फुसशोथ, यकृच्छोथ, आमाशयशूल आदि रोगों में इसका लेप करते हैं। हृदय को उत्तेजित करने के लिए हृद्दौर्बल्य की अवस्था में हृत्प्रदेश में लेप लगाते हैं। कण्डू, किलास आदि चर्मरोगों में भी लेप करते हैं। शीतजन्य रजोरोध हो तो रोगिणी को कमर तक राई के क्वाथ में बैठाते हैं। गलशोथ और दन्तशूल में इसके काढ़े से कुल्ला कराते हैं। राई का तेल वातव्याधि में मालिश करते हैं।

वक्तव्य—राई का लेप ठंढ़े जल में महीन पीसकर कपड़े पर लगाकर देना चाहिए। १० मिनट से अधिक यह लेप किसी अवस्था में न रखना चाहिए। दाह का अनुभव हो तो उसके पूर्व ही हटाले।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, अरुचि और अजीर्ण रोगों में इससे बड़ा लाभ होता है। उदरशूल, गुल्म, क्रिमिरोग तथा प्लीहावृद्धि में भी यह उपयोगी है। कफाधिक्य या विष की स्थिति में थोड़ी राई (लगभग ½ तोला) और सेंधानमक गरम जल में मिलाकर थोड़ी-थोड़ी देर पर देते हैं जब तक पूरा वमन न हो जाय।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने से अल्पमात्रा में यह हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—स्वेदजनन होने से त्वचा के विकारों में लाभप्रद है।

प्रयोज्य अंग—बीज, तैल।

मात्रा—बीज चूर्ण-१-३ माशे।

अहित प्रभाव—अधिक सेवन से तृष्णा, दाह आदि पैत्तिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इसके निवारण के लिए पित्तशामक मधुर-स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'राजी तु राजिका तीक्ष्णगन्धा क्षुजनिकासुरी। राजिका कफवातघ्नी तीक्ष्णोष्ण रक्तपित्तकृत्॥ किंचिद्रूक्षाग्निदा कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमीन् हरेत्॥' (भा. प्र.)

'तीक्ष्णं तु राजिकातैलं ज्ञेयं वातादिदोषनुत्। शिशिरं कटु स्वच्छं केश्यं त्वग्दोषनाशनम्॥' (रा. नि.)

'आसुरी कटुतिक्तोष्णा वातप्लीहार्त्तिशूलनुत्। दाहपित्तप्रदा हन्ति कफगुल्मक्रिमिव्रणान्॥' (रा. नि.)

५२. अजगन्धा

परिचय

कुल—वरुण-कुल (कैपरिडेसी-Capparidaceae).

नाम—लै०-श्वेतपुष्पा-गाइनेण्ड्रोप्सिस पेण्टाफाइला (Gynandropsis Pentaphylla), पीतपुष्पा-क्लिओम विस्कोजा (Cleome Viscosa), सं०-अजगन्धा (बकरे के समान गन्धवाला); उग्रगन्धा (तीक्ष्ण गन्धयुक्त), तिलपर्णी (तिल

के सदृश पत्रवाली), हि०-हुलहुल, हुरहुर; वं०-हुड़हुड़िया; म०-तिलवण; गु०-तलवणी; पं०-बोगरा; मा०-वगरो; ता०-नाइवेलै; ते०-कुक्कवामिन्त; अं०-डॉग मस्टर्ड (Dog mustard)।

स्वरूप—यह वर्षायु गुल्म १-३ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड** और शाखायें कोमल तथा रोमयुक्त होती हैं। **पत्र**-संयुक्त; पत्रकों की संख्या ३-७; पत्तियों के मसलने से उग्रगन्ध आती है। **पुष्प** छोटे श्वेत या पीतवर्ण होते हैं। **फल**-२-इंच लंबे जिनमें सरसों के सदृश कृष्णवर्ण **बीज** होते हैं। वर्षाऋतु में इसके क्षुप उत्पन्न होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारतवर्ष के उष्णप्रदेशों में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक तैल होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह गुण, रस एवं वीर्य के द्वारा कफ का तथा वीर्य के द्वारा वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग विदाही, वेदनास्थापन, पूतिहर और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से आक्षेपशामक है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन-पाचन, अनुलोमन, शूलहर और कृमिघ्न है।

त्वचा—उष्ण होने से यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह ज्वर को कम करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका पत्रस्वरस कर्णशूल में डालते हैं तथा तैल में मिलाकर कर्णशूल में देते हैं। पत्तियों या बीजों का लेप सन्धिवात आदि में करते हैं। जीर्ण व्रणों में इसके बीजों के क्वाथ से प्रक्षालन करते हैं जिससे कृमि मर जाते हैं। विद्रधि पर पत्तियों का लेप करते हैं। जीर्ण श्लीपद आदि में पत्तियों का लेप करते हैं जिससे स्फोट निकलते हैं और फोड़ा फूटने पर पानी निकलने से शोथ कम हो जाता है। सर्पविष और बिच्छू के दंश में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह बच्चों के आक्षेपक रोग में विशेषतः प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, गुल्म एवं कृमिरोगों में करते हैं। १½-३ माशे बीजों का चूर्ण चीनी मीला कर दिन में दो बार २ दिनों तक देते हैं और तीसरे दिन एरण्ड तैल का विरेचन देते हैं। इससे विशेषतः गण्डूपद कृमि निकल आते हैं।

त्वचा—स्वेदजनन होने से त्वचा के विकारों में उपयुक्त है।

तापक्रम—ज्वरों में मिल जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, पत्र, मूल।

मात्रा—बीज चूर्ण-१-३ माशे। पत्रस्वरस-½-१ तो०। मूलकल्क-१-३ माशे।

अहित प्रभाव—इसके अतिसेवन से पित्त प्रकुपित होता है और तज्जन्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इसके शमन के लिए पित्तशामक उपचार करना चाहिए।

× × × ×

'अजगन्धा कटूष्णा स्याद्वातगुल्मोदरापहा।
कर्णव्रणार्त्तिशूलघ्नी कृमिघ्नी च ज्वरापहा॥' (रा. नि.)
'अजगन्धा कटुः पाके रसे रूक्षाग्निदीपनी।
हृद्या रूच्या लघुस्तीक्ष्णा हृक्शुक्रकफवातहा॥' (कै. नि.)

स्नेहोपग

५३. द्राक्षा

परिचय

गण—स्नेहोपग, विरेचनोपग, कासहर, ज्वरहर (च.); काकोल्यादि, परूषकादि (सु.)

कुल—द्राक्षा-कुल (वाइटेसी-Vitaceae)।

नाम—लै०-वाइटिस विनिफेरा (Vitis Vinifera), सं०-द्राक्षा, (जो मन को प्रिय हो), मृद्वीका, (जो शरीर को मृदु-स्निग्ध करे); गोस्तनी (गोस्तन के आकार का), हि०-दाख, मुनक्का, अंगूर; बं०-द्राक्षा, आंगूर; पं०-दाख, अंगूर; म०-द्राक्ष; गु०-दराख; मा०-दाख, मिनका; ते०-द्राक्षापाण्डु; ता०-कड़िमण्डि; फा०-अंगूर (हरा); मवेफ (सूखा), मवेफ मुनक्की (सूखा और बीज निकाला हुआ); अं-ग्रेप (grape)।

स्वरूप—इसकी आरोही लता होती है। **पत्र**-देखने में करैले के जैसा और रोमयुक्त होता है। पत्तियों के मध्य में ४-५ जोड़ी सिरायें होती हैं। **पुष्प**-हरितवर्ण, सुगन्धि और गुच्छों में लगते हैं। **फल**-गोस्तनाकार होते हैं जिनमें २-५ बीज होते हैं। वसन्त में पुष्प और ग्रीष्म में फल आते हैं। शीत प्रदेशों में शरद् ऋतु तक फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर पश्चिम भारत पंजाब, काश्मीर तथा बलूचिस्तान और अफगानिस्तान में होता है।

रासायनिक संघटन—ताजे द्राक्षाफल में निम्नांकित पदार्थ होते हैं:—

आर्द्रता—७२·८ से ७७·२ प्रतिशत
भस्म—०·३६ से ०·६४ प्रतिशत
अम्लता—०·२३ से ०·५३ प्रतिशत
शर्करा—१५·६९ से १८·६० प्रतिशत

फलों में द्राक्षशर्करा (ग्लुकोज), गोंद, कषायद्रव्य, टार्टरिक, साइट्रिक, रैसेमिक और मैलिक अम्ल; सोडियम और पोटाशियम क्लोराइड; पोटाशियक सल्फेट; टार्टरेट ऑफ लाइम, मैग्नीशियम, फिटकिरी, लौह, कुछ अल्ब्युमिन और एसिड टार्टरेट ऑफ पोटाशियम रहते हैं। टार्टरिक एसिड फलों में मुख्यतः होता है किन्तु कच्चे फलों में ऑक्ज़लिक एसिड भी होता है। मुनक्के में कैल्शियम, मैग्नीशियम, पोटाशियम, फॉस्फोरस

और लौह होते हैं। इसके अतिरिक्त, गोंद और शर्करा भी होती है। बीजों में स्थिर तैल तथा कषायाम्ल ५ प्रतिशत होता है। ऊपर के छिलके में टैनिन तथा लता और पल्लव में टंकणाम्ल होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, मृदु। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—स्निग्ध, गुरु, मृदु, मधुर होने से वात का तथा मधुर और शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और सौमनस्यजनन है।

पाचनसंस्थान—यह स्निग्ध एवं शीतमधुर होने से तृष्णानिग्रहण, स्नेहन, अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को बल देने वाला, रक्तप्रसादन और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—यह फुप्फुसबलदायक, सन्धानकारक, कफनिःसारक और उष्ण है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने से यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और गर्भस्थापन है।

सात्मीकरण—मधुर होने से यह जीवनीय, बल्य और बृंहण है।

त्वचा—यह दाह आदि पैत्तिक विकारों को दूर करता है।

तापक्रम—यह तापक्रम को कम करता है और ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मस्तिष्क दौर्बल्य, मदात्यय आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णा, विबन्ध, उदावर्त्त और कामला में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य, वातरक्त आदि रक्तविकार एवं रक्तपित्त में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—फुफुसरोग, उरःक्षत, क्षय, स्वरभेद, कास और श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह आदि में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्र-दौर्बल्य एवं गर्भाशय की कमजोरी में इसका सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य, कृशता, शोष आदि में प्रयोग होता है।

त्वचा—दाह तथा सामान्य वातपैत्तिक त्वचारोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे सन्ताप भी कम होता है और तृष्णा, दाह आदि उपद्रव भी शान्त होते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—पाचन-शक्ति के अनुसार।

विशिष्ट-योग—द्राक्षारिष्ट; द्राक्षादिक्वाथ, द्राक्षादिलेह, द्राक्षाद्य घृत।

वक्तव्य—द्राक्षा देश, अवस्था एवं आकृति के भेद से अनेक प्रकार की होती है।

× × × ×

'तृष्णादाहज्वरश्वासरक्तपित्तक्षतक्षयान्। वातपित्तमुदावर्त्तं स्वरभेदं मदात्ययम्॥
तिक्तास्यतामास्यशोषं कासं चाशु व्यपोहति। मृद्वीका बृंहणी वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला॥
(च. सू. २७)

'तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्निग्धशीतला। रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा॥'
(सु. सू. ४६)

'द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरुः। स्वादुपाकरसा स्वर्या तुवरा सृष्टमूत्रविट्॥
कोष्ठमारुतहृद् वृष्या कफपुष्टिरुचिप्रदा। हन्ति तृष्णाज्वरश्वासवातवातास्रकामलाः।
कृच्छ्रास्रपित्तसम्मोहदाहशोषमदात्ययान्।' (भा. प्र.)

'द्राक्षा तु मधुराऽम्ला च शीता पित्तार्त्तिदाहजित्।
मूत्रदोषहरा रुच्या वृष्या सन्तर्पणी परा॥' (रा. नि.)

५४. श्लेष्मातक

परिचय

गण—विषघ्न (च०)।

कुल—श्लेष्मातक-कुल (बोरेजिनेसी-Boraginaceae)।

नाम—लै०-कॉर्डिया मिक्सा (Cordia Myxa); सं०-श्लेष्मातक (श्लेष्मा को बराबर बाहर निकालने वाला); बहुवार (अनेक रोगों का निवारण करने वाला), उद्दालक (रोगों को उखाड़ने वाला); शेलु (पुरुष को जीवनदान देने वाला); हि०-लसोड़ा; बं०-वहनारी; पं०-लसूड़ा; म०-भोंकर; गु०-वडगुंदा; मा०-वडगूंदा; ता०-विदि; अ०-दिल्क; फा०-सपिस्ताँ; (कुत्ती के चूचुक के सदृश) अं०-लार्ज सेपेस्टन प्लम (Large sebesten plum)।

स्वरूप—इसका वृक्ष २०-४० फुट ऊँचा होता है। काण्ड वक्र एवं त्वक् धूसरवर्ण होता है। **पत्र**—वृन्त की ओर हृदयाकृति, ३-५ इंच लम्बा होता है। इसमें ३-५ सिरायें होती हैं। **पुष्प**—छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**—गोल, सुपारी के सदृश, कच्ची अवस्था में हरित तथा पक्वावस्था में पाण्डुवर्ण होते हैं। फलमज्जा पिच्छिल होती है तथा उसके भीतर एक बीज होता है। वसन्तऋतु में पुष्प तथा ग्रीष्म के अन्त में फल पकते हैं।

जाति—इसकी एक और छोटी जाति होती है जिसे गोंदी या गोंदनी कहते हैं। यह पंजाब में अधिक होता है। इसका लैटिन नाम कॉर्डिया ऑबलिका (Cordia Obliqua) है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारतवर्ष में ५ हजार फुट की ऊँचाई तक होता है। इसके अतिरिक्त, मिस्र से कोचीन-चीन तक और आस्ट्रेलिया में होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल। **रस**—मधुर होता है। छाल कषाय और तिक्त होती है।

विपाक—फल का विपाक मधुर और छाल का कटु होता है।

वीर्य—शीत। **प्रभाव**—विषघ्न।

कर्म

दोषकर्म—फल स्निग्ध-मधुर-पिच्छिल होने से वातपित्तशामक और कफवर्धक है किन्तु छाल कषाय और तिक्त होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह विषघ्न, व्रणशोधन, रोपण एवं कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल ग्राही और कृमिघ्न है। फल स्नेहन और तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—यह शीत होने से रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—यह स्निग्ध होने से कफनिःसारक है और गले एवं श्वासनलिकाओं की रूक्षता को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत स्निग्ध होने से मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—इसका फल वृष्य है।

सात्मीकरण—इसकी छाल विष को नष्ट करती है तथा कटुपौष्टिक है।

त्वचा—इसकी छाल कुष्ठ आदि त्वग्दोषों को दूर करती है।

तापक्रम—फल एवं छाल ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका फल वातपित्तजन्य विकारों में एवं छाल का कफपित्तजन्य रोगों में प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विषों में, व्रणों में एवं कर्णरोगों में छाल का लेप करते हैं और उसके क्वाथ से प्रक्षालन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल का प्रयोग ग्रहणी, प्रवाहिका और कृमिरोग में करते हैं। फल कोष्ठगत रूक्षता को दूर करने के लिए, तृष्णा में दिया जाता है। विरेचन की तीक्ष्णता को दूर करने के लिए उसमें मिलाकर देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—वातिक कास और प्रतिश्याय में इसके फल का शर्बत देते हैं। इससे कफ आसानी से निकल आता है और श्वासमार्ग स्निग्ध होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्रदाह में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—इसका फल शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

सात्मीकरण—इसकी छाल का क्वाथ विषों को दूर करने के लिए प्रयुक्त होता है और सामान्य दौर्बल्य में भी देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि त्वचा के रोगों में लाभ करता है।

तापक्रम—ज्वर में सन्ताप कम करता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल।

मात्रा—त्वक् क्वाथ-५-१० तोला। फलपानक (शर्बत) १-२ तोला।

विशिष्टयोग—श्लेष्मातक पानक (शर्बत लसोड़ा)।

'बहुवारस्तु शीतः स्यादुद्दालो बहुवारकः। शेलुः श्लेष्मातकश्चापि पिच्छिलो भूतवृत्तकः॥ बहुवारो विषस्फोटव्रणवीसर्पकुष्ठनुत्। मधुरस्तुवरस्तिक्तः केश्यश्च कफपित्तकृत्॥ फलमामं तु विष्टम्भि रूक्षं पित्तकफास्रजित्। तत्पक्वं मधुरं स्निग्धं श्लेष्मलं शीतलं गुरु॥' (भा. प्र.)

'श्लेष्मातकः कटुहिमो मधुरः कषायः, स्वादुश्च पाचनकरः कृमिशूलहारी।
आमास्रदोषमलरोधबहुव्रणार्त्ति-विस्फोटशान्तिकरणः कफकारकश्च॥' (रा. नि.)

५५. ईषद्गोल

परिचय

कुल—ईषदगोल-कुल (प्लैण्टेजिनेसी-Plantaginaceae)।

नाम—लै०-प्लैण्टेगो ओवेटा (Plantago ovata)। सं०-ईषद्गोल (डिम्बाकृति बीज होने से); अश्वकर्ण-बीज (घोड़े के कान के सदृश बीज), स्निग्धजीरक (जीरे के समान किन्तु स्निग्ध)। हि०-इसबगोल; बं०-इसबगुल; गु०-ऊथमी जीरू; अं०-बज्कतूना; फा०-अस्पगोल; अं०-स्पोगल सीड्स (Spogel seeds)।

स्वरूप—यह एक वर्षायु क्षुप होता है। **कांड**-कठिन और सघन रोमों से आवृत होता है। **पत्र**-लंबे, दन्तुर होते हैं जिनमें तीन सिरायें होती हैं। **पुष्प**-स्तवक डिम्बाकृति और सूक्ष्मरोमयुक्त होता है। **बीजकोष**-द्विकोष्ठी होता है और प्रत्येक कोष्ठ में एक बीज होता है। **बीज**-हल्के गुलाबी रंग के नौकाकार होते हैं जो देखने में घोड़े के कान के सदृश मालूम होते हैं। इसी आधार पर इसका फारसी नाम अस्प (घोड़ा) गोल (कर्ण) है। पानी में भिगोने से ये गन्ध और स्वाद रहित प्रचुर लवाब से भर जाते हैं।

जाति—बीजों के वर्णभेद से यह तीन प्रकार का होता है—(१) श्वेत, (२) रक्त और (३) कृष्ण। औषधकर्म में कृष्ण निकृष्ट माना जाता है और बाकी दोनों का प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—ईरान, पंजाब और सिन्ध। बंगाल, मैसूर आदि प्रदेशों में इसकी कुछ खेती भी होती है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्थिर तैल, अलब्युमिन और इतने प्रचुर परिमाण में लवाब (म्युसिलेज) होता है कि १ भाग बीज २० भाग जल में थोड़े ही समय में मिला कर पिच्छा (जेली) के रूप में परिणत हो जाता है। इसमें आकुबिन (Aucubin) नामक एक ग्लुकोसाइड अल्प परिमाण में होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोष—यह स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा मधुर-शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और शामक है। स्निग्धता के कारण यह अन्ननलिका की रूक्षता को दूर करता है और पिच्छिलता के कारण मल

को बाहर निकालने में सहायक होता है। यह जीवाणुओं की वृद्धि को रोकता है, जीवाणुज विषों का शोषण करता है और अन्त्रगत क्षतों के ऊपर एक पिच्छिल आवरण बना देता है जिससे उनके ऊपर क्षोभक पदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ने पाता। भुना हुआ बीज ग्राही है। तृष्णा-निग्रहण भी है।

श्वसनसंस्थान—यह स्नेहन और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन और स्नेहन है।

सात्मीकरण—यह बल्य और बृंहण है।

त्वचा—शीत होने से दाहप्रशमन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषकर्म—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह वातपैत्तिक शिरोरोग, शोथ, विसर्प, विस्फोट आदि में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—थोड़ा सा गाय का घी लगा, जरा सा भून कर अतिसार और प्रवाहिका में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह शुष्क कास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य और कृशता में भी देते हैं।

त्वचा—दाह की शान्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में विशेषतः पैत्तिक ज्वर में सन्ताप, तृष्णा, ज्वर आदि की शान्ति के लिए दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज और बीज का छिलका (भूसी)। प्रायः बीजों का प्रयोग जीर्ण प्रवाहिका में करते हैं और भूसी का प्रारंभिक अवस्था में।

मात्रा—½-१ तोले तक।

प्रयोगविधिः—प्रायः निम्नांकित चार प्रकार से इसका प्रयोग किया जाता है:—

१. बीजों को साफ कर एक कप (पाव भर) पानी में छोड़ देते हैं और उसमें १-२ चम्मच चीनी मिला देते हैं। इसे खूब हिला कर पी जाते हैं।

२. बीजों को एक कप पानी में डालकर लगभग आध घंटे तक छोड़ देते हैं। जब पूरा लवाब बन जाय तब चीनी मिलाकर खा जाय।

३. बीजों को एक सेर जल में डालकर उबाले जब आधा रह जाय तो उतार ले। इसे १-२ छटाँक की मात्रा में २-३ घंटे पर लिया करे।

४. बीजों से भूसी अलग कर भूसी को एक कप पानी में डाल दें और थोड़ी चीनी मिला कर पी जाय।

सामान्यतः जीर्ण प्रवाहिका और अतिसार में प्रथम विधि को ही उत्तम समझते हैं क्योंकि इसमें बीज पूर्णतः अन्त्रों में फैल जाते हैं और सम्पूर्ण श्लेष्मल कला पर उनके लुआब से समानरूप से आवरण बन जाता है। लुआब बनाकर लेने से उसका अन्त्रों पर समान रूप से वितरण नहीं हो पाता और वह गुठलियों के रूप में बाहर निकल जाता है।

अहित प्रभाव—अधिक प्रयोग से गुरुता के कारण इससे अग्निमांद्य हो जाता है।

निवारण—इस दोष के निवारण के लिए इसके साथ अरिष्ट, आसव का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

ईषद्गोलमश्वकर्णबीजं च स्निग्धजीरकम्। ईषद्गोलं गुरु स्वादु स्निग्धं शीतं च पिच्छिलम्॥
स्नेहनं मूत्रजननं श्लेष्मनिःसरणं परम्। दाहतृष्णाहरं बल्यं ज्वरघ्नं चाथ शस्यते।
प्रवाहिकातिसारामदाहतृष्णाज्वरादिषु। वातपित्तामये कासे दौर्बल्ये मूत्रकृच्छ्रजे॥ (स्व०)

वर्ण्य

५६. कुङ्कुम

गण—शोणितास्थापन (च०), एलादि (सु०)।

कुल—केशर-कुल (इरिडेसी-Iridaceae)।

नाम—लै०-क्रॉकस सेटाइवा (Crocus sativa); सं०-कुङ्कुम, घुसृण, रक्त (रक्ताभ होने के कारण), काश्मीर (कश्मीर में उत्पन्न होने से), बाह्लीक (बलख देश में उत्पन्न होने वाला); हि०-केसर; म०, गु०-केसर; बं०-जाफरन, कुम्कुम्; ता०-कुंकुमाप्पु; ते०-कुंकुम-पुव्वा; अ०-ज़ाफ़रान; फा०-करकीमास; अं०-सैफ्रन (Saffron)।

स्वरूप—यह बहुवर्षायु गुल्म होता है। **पत्तियां**-नीचे की ओर अधिक सघन होती हैं। **पुष्प**-२-३ एक साथ या १-१ पत्र के साथ होते हैं। पुष्प-बैंगनी रंग का होता है जिसमें पुंकेशर पीतवर्ण के तीन होते हैं। बीजकोष में तीन कोष्ठ होते हैं और प्रत्येक में अनेक गोलाकार **बीज** होते हैं। स्त्रीकेशर का योनिसूत्र तीन भागों में विभक्त हो जाता है और प्रत्येक के ऊपर रक्ताभ सूत्राकार योनिछत्र होता है। यही कुंकुम कहलाता है। एक पुष्प से तीन तन्तु केसर के प्राप्त होते हैं। इस प्रकार १ रत्ती केसर बीस पुष्पों से प्राप्त होता है और ½ छटाँक ४३२० पुष्पों से निकलता है। इसका पुष्प शरत्काल में होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पौधा एशिया माइनर के लिवाण्ट नामक स्थान का आदि-निवासी है किन्तु अब काश्मीर, स्पेन, ईरान में भी पाया जाता।

रासायनिक संघटन—इसमें तीन स्फटिकीय रंगद्रव्य, एक उड़नशील तैल ८ से १३·४ प्रतिशत, क्रोसीन (Crocin) नामक एक ग्लुकोसाइड, पिक्रोक्रोसीन (Picrocrocein) नामक तिक्तसत्त्व, मोम, प्रोटीड, पिच्छिल द्रव्य, शर्करा, भस्म और आर्द्रता १२ प्रतिशत होते हैं।

प्रशस्त लक्षण—भावप्रकाश ने उत्तमता की दृष्टि से तीन प्रकार का केसर बतलाया है। (१) काश्मीरज-काश्मीर देश में उत्पन्न केसर रक्ताभ, सूक्ष्म और कमल के समान गन्ध वाला होता है, यह उत्तम माना गया है। उत्तम केसर का वर्ण उदीयमान सूर्य के समान अरुण होता है। (२) बाह्लीकज-बाह्लीकदेश में उत्पन्न केसर सूक्ष्म, पाण्डुवर्ण और केवड़े के समान गन्धयुक्त होता है। यह मध्यम माना जाता है। (३) पारसीक-पारसदेश में उत्पन्न केसर स्थूल, ईषत् पाण्डुवर्ण और मधु के समान गन्ध वाला होता है। यह निकृष्ट माना गया है।

गुण

गुण—स्निग्ध, लघु। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से पित्त एवं उष्ण और कटु होने से वात और कफ का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, शोथहर, जन्तुघ्न, सौमनस्यजनन एवं चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है तथा अधिक मात्रा में मादक है। मस्तिष्क को वल देता है तथा वेदनास्थापन भी है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, रोचन, ग्राही, छर्दिनिग्रहण और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण और गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, वर्ण्य और दौर्गन्ध्यहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का भी कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में हितकर है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह व्यङ्ग, न्यच्छ आदि वर्णविकारों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। शिरःशूल और व्रणों में लेप करते हैं। दृष्टिदौर्बल्य में गुलावजल के साथ घिसकर नेत्र में डालते हैं। यकृच्छोथ में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्वल्यजनित विकारों में केसर खिलाते हैं। अधकपारी में चीनी और घी मिलाकर खिलाते हैं। आमवात और नाडीशूल में भी देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, अरुचि, अतिसार, वमन और यकृद्विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्वल्य एवं रक्तविकारों में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देने से मूत्र आसानी से आने लगता है।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभंग, रजोरोध, कष्टार्त्तव एवं कष्टप्रसव में इसका सेवन कराते हैं। प्रसव के वाद भी गर्भाशय-शोधन के लिए केसर की गोली खिलाई जाती है।

त्वचा—वर्णविकारों एवं अन्य चर्मरोगों में केसर हितकर है। [मसूरिका आदि में देने से दाने ठीक निकल आते हैं।

तापक्रम—ज्वरों में भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में भी रसायन के रूप में इसका प्रयोग चिरकाल से होता आ रहा है।

प्रयोज्य अंग—केसर। **मात्रा**—५-२० रत्ती।
विशिष्टयोग—कुङ्कुमादि घृत, कुङ्कुमाद्य तैल।

× × × ×

कुङ्कुमं घुसृणं रक्तं काश्मीरं पीतकं वरम्। संकोचं पिशुनं धीरं बाह्लीकं शोणिताभिधम्॥
काश्मीरदेशजे क्षेत्रे कुङ्कुमं यद्भवेद्धि तद्। सूक्ष्मकेसरमारक्तं पद्मगन्धि तदुत्तमम्॥
बाह्लीकदेशसंजातं कुङ्कुमं पाण्डुरं मतम्। केतकीगन्धयुक्तं तन्मध्यमं सूक्ष्मकेसरम्॥
कुङ्कुमं पारसीकं यन्मधुगन्धि तदीरितम्। ईषत्पाण्डुरवर्णं तत् ह्यधमं स्थूलकेसरम्॥
कुङ्कुमं कटुकं स्निग्धं शिरोरुग्व्रणजन्तुजित्। तिक्तं वमिहरं वर्ण्यं व्यङ्गदोषत्रयापहम्॥'
(भा. प्र.)

'कुङ्कुमं कटुकं तिक्तमुष्णं श्लेष्मसमीरजित्। व्रणदृष्टिशिरोरोगविषहृत् कायकान्तिदम्।'
(ध. नि.)

५७. केतक

परिचय

कुल—केतक-कुल (पैण्डेनेसी-Pandanaceae)।

नाम—लै०-पैण्डेनस टेक्टोरियस (Pandanus Tectorius)। सं०-केतक, सूचीपुष्प (सूई की तरह नुकीला पुष्प वाला), क्रकचच्छद (आरे की तरह दन्तुर और कण्टकित पत्र वाला), तृणशून्य, जम्बुक (जामुन के समान फल होने से); हि०-केवड़ा; बं०-केया; म०-केवड़ा; गु०-केवड़ो; ता०-जवनान चेदी; ते०-मोगालि चेट्टु; अ०-काज़ी; फा०-कादी; अं०-स्क्रू पाइन (Screw Pine)।

स्वरूप—इसका वृक्ष खजूर के सदृश अधिक से अधिक ७-८ हाथ ऊँचा होता है। **काण्ड**-टेढ़ा अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त और निःसार होता है तथा उससे अनेक प्ररोह निकल कर बरोहर की तरह जमीन में घुसे रहते हैं। काण्ड का मध्यभाग कोमल होता है। **पत्र**-४-१२ फीट लम्बे, २-३ फीट चौड़े, झुके हुए, स्निग्ध और हरितवर्ण होते हैं। इनका अग्रभाग नुकीला और किनारे के भाग कण्टकित होते हैं। **पुष्प**-काण्ड के मध्यभाग से निकलता है और श्वेतवर्ण का सुगन्धित होता है। पुष्प एकलिंगी होता है। उपर्युक्त वर्णन पुंपुष्प का है। **स्त्री पुष्प**-पीतवर्ण का, पुंपुष्प से छोटा और अधिक सुगन्धित होता है। स्त्रीपुष्प वाले वृक्ष को पुष्प के वर्ण के अनुसार 'सुवर्णकेतकी' नाम दिया गया है। **फल**-नारंगी के समान किन्तु कठिन होता है। वर्षाऋतु में पुष्प और शरदऋतु में फल आते हैं।

जाति—पुष्प के अनुसार इसकी दो जातियाँ निर्दिष्ट की गई हैं:—(१) पुंपुष्प वाले वृक्ष को 'केतक' और (२) स्त्रीपुष्प वाले वृक्ष को 'स्वर्णकेतकी' कहते हैं।

उत्पत्ति स्थान—यह समस्त भारतवर्ष, ईरान और अरब आदि उष्ण प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्पों में एक सुगन्धित उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, मधुर, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—अनुष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध होने से वात का, तिक्तमधुर होने से कफ तथा पित्त का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषशामक है किन्तु विशेषतः तिक्तमधुर होने से कफ और पित्त को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, वेदनास्थापन, सौमनस्यजनन, आक्षेपहर, केश्य, दौर्गन्ध्यहर एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क एवं ज्ञानेन्द्रियों को बल प्रदान करता है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त होने से दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह वृष्य और रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका मूल मूत्रसंग्रहणीय और स्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल प्रजास्थापन है। पुष्प वाजीकरण है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, वर्ण्य और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों विशेषतः कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका तैल कटिशूल, आमवात एवं शिरःशूल में लगाते हैं। इसके पराग का नस्य अपस्मार में देते हैं, इससे रोग का वेग शान्त होता है। कानों में डालने से कर्णशूल शान्त होता है और व्रणों पर लगाने से उनका रोपण शीघ्र होता हैं। केश के रोगों में एवं शरीरदौर्गन्ध्य में भी उनका प्रयोग होता है। इसके सूँघने से श्रम, क्लम दूर होता और मन प्रसन्न होता हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क-दौर्बल्यजनित रोगों में दिया जाता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमान्द्य, अजीर्ण एवं विबन्धरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृदय की धड़कन को दूर करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। रक्तविकारों में भी इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके मूल का प्रमेह में प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—इसके मूल का क्षीरपाक करके वन्ध्यारोग एवं गर्भपात को रोकने के लिए दिया जाता है। पुष्प का प्रयोग कामशक्तिवर्धन के लिए करते हैं।

त्वचा—यह त्वचागत वर्णविकारों एवं कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—यह ज्वर में विशेषकर विस्फोटयुक्त ज्वरों में प्रयुक्त होता है। मसूरिका में इसका प्रयोग करने से दाने कम निकलते हैं और उपद्रव भी कम होते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, मूल।

मात्रा—केतकार्क (अर्क केवड़ा) ४-६ तो०। केतकपानक (शर्बत केवड़ा) २-४ तो०।

× × × ×

'केतकः सूचिकापुष्पो जम्बुकः क्रकचच्छदः। सुवर्णकेतकी त्वन्या लघुपुष्पा सुगन्धिनी॥
केतकः कटुकः स्वादुर्लघुस्तिक्तः कफापहः। उष्णस्तिक्तरसो ज्ञेयः चक्षुष्या हेमकेतकी॥
(भा. प्र.)

'पुष्पाणां प्रवरं हेमकेतकीपुष्पमुच्यते। ईषदुष्णं सुगन्धं च सुतिक्तं दृष्टिदायकम्॥' (कै. नि.)
'केतकी कटुका पाके लघुतिक्ता कफापहा।' (ध. नि.)
'केतकीकुसुमं वर्ण्यं केशदौर्गन्ध्यनाशनम्। हेमाभं मदनोन्मादवर्धनं सौख्यकारि च॥
तस्य स्तनोऽति शिशिरः कटुः पित्तकफापहः। रसायनकरो बल्यो देहदार्ढ्यकरः परः॥'
(रा. नि.)

कण्डूघ्न

५८. करञ्ज

परिचय

गण—कण्डूघ्न, विरेचन, कटुकस्कन्ध, तिक्तस्कन्ध (च०),
आरग्वधादि, वरुणादि, अर्कादि, श्यामादि, शिरोविरेचन, कफसंशमन (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-पौंगेमिया ग्लेब्रा (Pongamia Glabra); सं०-करञ्ज, नक्तमाल (रात्रि में धारण करने योग्य); गुच्छपुष्पक (गुच्छेदार फूलों से युक्त); घृतपूर (बीजों में घृत के समान गाढ़ा तैल होने के कारण); स्निग्धपत्र (चिकने पत्तों वाला); हि०-डिठौरी, करुअइनी; म०-करञ्ज; गु०-करंज, कणझी; बं०-डहर करञ्ज; ते०-कानगु; ता०-पुग्गुम्; म०-पोन्नम्; का०-होंगे; अं०-इण्डियन बीच (Indian beech)।

स्वरूप—इसके वृक्ष मध्यम आकार के २५-५० फीट ऊँचे होते हैं। **पत्र**-पाकड़ के समान चिकने, कोमल, हरितवर्ण एवं पक्षाकार होते हैं। **पत्रक**-संख्या में ५-७ तथा २-५ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्पदण्ड**-शाखा-प्रशाखायुक्त होते हैं जिनमें $\frac{1}{2}$ लम्बे, नीलाभ पुष्प गुच्छों में लगते हैं। पुंकेशर १७ होते हैं जिनमें दसवाँ केशर पुष्प के ठीक बीच में होता है। **फल**-१$\frac{1}{2}$-२ इञ्च लम्बा, चपटा, अण्डाकार, अत्यन्त कठिन तथा पीछे की ओर कुछ टेढा होता है। **बीज**-प्रत्येक फल में एक, १$\frac{1}{2}$-२ इञ्च लम्बा, तेल से भरा होता है। वसन्तऋतु में इसमें फूल लगते हैं।

जाति—निघण्टुओं में इसकी चार जातियों का संकेत मिलता है:—
(१) करञ्ज। (२) पूतिकरञ्ज। (३) चिरबिल्व। (४) करञ्जी।
करञ्जी के वृक्ष आदि करञ्ज के समान ही केवल आकृति में छोटे होते हैं। पूतिकरञ्ज और चिरबिल्व का वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ केवल करञ्ज का ही वर्णन अभिप्रेत है।

उत्पत्तिस्थान—यह वृक्ष मध्य और दक्षिण भारत एवं लंका में प्रचुर संख्या में मिलता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में तिक्त और गाढ़े रंग का तैल (करञ्ज तैल-(Pongamia oil) २७ प्रतिशत होता है। छाल में एक तिक्त क्षारसत्त्व, राल, पिच्छिल द्रव्य तथा शर्करा होती है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफ और वात का शमन करता है तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल और पत्र जन्तुघ्न, कण्डूघ्न एवं शोथहर है। बीजों का तैल कृमिनाशक, व्रणरोपण एवं वेदनास्थापन है। इसका चूर्ण शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटु और तिक्त होने से दीपन, पाचन है। उष्ण और तीक्ष्ण होने से भेदन, कृमिघ्न तथा यकृदुत्तेजक हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने के कारण रक्तप्रसादन तथा उष्ण होने से शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न एवं कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—किंचित् कषाय और उष्ण होने से मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से गर्भाशय-विशोधन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशामक होने से कफवातजन्य रोगों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके बीजों का तैल चर्मरोगों और व्रणों में लगाते हैं। वातव्याधि में इसका अभ्यंग भी करते हैं और पत्तियों को गरम कर बाँधते हैं। व्रणशोथ में पत्तियों का लेप करते हैं। शिरोरोगों में इसके चूर्ण का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, पाचनविकार, विबन्ध, उदावर्त्त, गुल्म, कृमि और अर्श में इसकी छाल एवं पत्तियों का रस देते हैं। कृमिरोग में बीज-तैल का भी प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधन होने से यह रक्तविकारों तथा शोथ में प्रयुक्त होता है। आमवात में भी लाभकर होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, विशेषतः कुकुरखाँसी (Whooping Cough) में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं या बीज पानी में घिस कर देते हैं। इस रोग से बचने के लिए इसके बीजों की माला बच्चों को पहनाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग करते हैं। इक्षुमेह में इसके पुष्पों का प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ आदि रोगों में इसका सेवन कराया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र, पुष्प और बीज।

मात्रा—त्वक् तथा पत्रस्वरस १–२ तो०, पुष्पस्वरस ६ मा०—१ तो०; बीजचूर्ण १–३ माशे।

विशिष्ट योग—करञ्जादि चूर्ण, करञ्जाद्य घृत, करञ्जादि तैल।

वक्तव्य—इसके बीज 'मत्स्य-विष' में भी प्रयुक्त होते हैं।

× × × ×

'करञ्जो नक्तमालः स्यान्नक्ताह्वो गुच्छपुष्पकः। घृतपूरः स्निग्धपत्रः प्रकीर्या पुष्पमञ्जरी॥
करञ्जः कटुकः पाके रसे तिक्तकषायकः। कटुको गुणतस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो विनियच्छति॥
बलासपित्तकुष्ठार्शोमेहोदरव्रणक्रिमीन्। तत्पत्रं कटुकं पाके रसे दीपनपाचनम्॥
कफवातापहं शोफविषार्शःकृमिकुष्ठजित्।' (कै. नि.)
'करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो योनिदोषहृत्। कुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शोव्रणक्रिमिकफापहा॥

तत्पत्रं कफवातार्शःकृमिशोथहरं परम् । भेदनं कटुकं पाके वीर्योष्णं पित्तलं लघु ॥
तत्फलं कफवातघ्नं मेहार्शःकृमिकुष्ठजित् ।' (भा. प्र.)
'करञ्जश्चोष्णतिक्तः स्यात् कफपित्तास्रदोषजित् । व्रणप्लीहकृमीन् हन्ति भूतघ्नो योनिरोगहा ॥
(ध. नि.)
'करञ्ज''फलं जन्तुप्रमेहजित् । रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघुवातकफापहम् ॥ (सु. सू. ४६)
'करञ्ज''तैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगहराणि च ।' (सु. सू. ४५)

५९. निम्ब

परिचय

गण—कण्डूघ्न, वमन, तिक्तस्कन्ध (च०); आरग्वधादि, गुडूच्यादि, लाक्षादि (सु०)।

कुल—निम्ब-कुल (मेलिएसी-Meliacae)।

नाम—लै०-मेलिया एजाडिरेक्टा (Melia Azadirachta) सं०-निम्ब (निम्बति सिञ्चति स्वास्थ्यम् इति—जो स्वास्थ्य को बढ़ावे); पिचुमर्द (पिचुं कुष्ठं मर्दयति नाशयति इति—कुष्ठ को नष्ट करने वाला); तिक्तक (तिक्तरसवाला); अरिष्ट (न रिष्टमशुभमस्मात् इति—जिससे शरीर को कोई हानि न हो); पारिभद्र (परितो भद्रं यस्मात्—जिससे सब प्रकार का लाभ हो); हिंगुनिर्यास (हींग के समान गोंद जिससे निकले); हि०-नीम; बं०-निम; म०-कडूनिंब, गु०-लीमडो; ता०-वेंबु, वेंपु; पं०-निंब; मल०-वेप्पु; सिं०-निमु; फा०-आज़ाद दरख्ते हिन्दी; अ०आजादरख्तुल हिन्द; अं०-मार्गोसा ट्री (Margosa tree)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बड़ा २५-३० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सरल होता है जिससे चारों ओर शाखा-प्रशाखायें निकली रहती हैं। **काष्ठत्वक्**-कृष्णवर्ण, स्थूल और खुरदरी होती है। इससे एक प्रकार का रस (मद्य-जिसे नीम की ताड़ी कहते हैं) तथा निर्यास निकलता है। **पत्र**-संयुक्त, एकान्तर और ८-१० इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रक**-१-३ इञ्च लंबे, ½-१½ इञ्च चौड़े, नेत्राकृति, पत्रदण्ड के दोनों ओर प्रायः ६-१४ जोड़ों में होते हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण के होते हैं जिनसे सुगंध आती है। **फल**-कच्ची अवस्था में हरे तथा पकने पर पीले हो जाते हैं। इनका आकार खिरनी से बहुत मिलता जुलता है। इन्हें ग्रामीण लोग 'निमौली' कहते हैं। प्रत्येक फल में एक बीज होता है जिससे तैल निकलता है। पतझड़ में इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वसन्त में ताम्रलोहित पल्लव निकलते हैं। पुष्पोद्गम भी वसन्त में होता है और फल ग्रीष्म ऋतु के अन्त एवं वर्षा के प्रारंभ में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में तिक्त रालमय सत्त्व मार्गोसीन (Margosine), उड़नशील तैल, गोंद, श्वेतसार, शर्करा तथा कषायद्रव्य होते हैं। बहिस्त्वक् में कषाय द्रव्य तथा अन्तस्त्वक् में तिक्तद्रव्य अधिक होता है। मद्य में तिक्तद्रव्य ६० प्रतिशत, इक्षुशर्करा, द्राक्षशर्करा, निर्यास, रञ्जकद्रव्य, प्रोटीड्स और क्षार जिसमें पोटाशियम, लौह, खटिक, अलम्युनियम और कार्बन द्विओषिद् होते हैं। पत्र में तिक्तद्रव्य कम है किन्तु त्वक्स्थित तिक्तद्रव्य की अपेक्षा जल में सुविलेय है। बीज में ४० प्रतिशत स्थिर तैल (Margosa oil) होता है जिसमें गन्धक का अंश रहता है।

गुण

गुण—लघु। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से कफ और पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र एवं त्वक् जन्तुघ्न, व्रणपाचन, व्रणशोधन, पूतिहर, दाहप्रशमन एवं कण्डूघ्न है। बीजों का तैल-व्रणरोपण, कुष्ठघ्न एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त कषाय होने से रोचन, ग्राही (फल-भेदन), कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—तिक्तरस होने के कारण यह रक्त को शुद्ध करता है तथा रक्तविकारजन्य शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त होने के कारण यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तिक्त होने से मूत्रगत कफपैत्तिक विकारों (प्रमेहों) को दूर करता है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—तिक्त होने से कुष्ठघ्न एवं शीत होने से दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है और बल को बढ़ाता है।

तापक्रम—तिक्त होने से यह आमपाचन, ज्वरघ्न और विशेषतः नियतकालिक ज्वर-प्रतिबन्धक है।

नेत्र—इसकी कोमल पत्तियाँ और पुष्प चक्षुष्य हैं तथा अनेक नेत्र रोगों को दूर करते हैं।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा होता है अतः उस पर इसकी उत्तेजक क्रिया होती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विद्रधि, ग्रन्थि और व्रण में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। कण्डू आदि त्वग्दोषों में पत्रक्वाथ से स्नान कराते हैं तथा इसका तैल लगाते हैं। अपची और नाडीव्रण में इसके तैल की वर्त्ति देते हैं और सन्धिशोथ, आमवात आदि वातिक रोगों में इसका अभ्यङ्ग करते हैं। सिर के कृमियों को मारने के लिए बीजों को पीस कर लगाते हैं। पालित्य और खालित्य रोग में तैल का नस्य देते हैं। दाह में पत्रस्वरस का फेन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, ग्रहणी, कृमि तथा यकृद्विकारों में इसकी छाल का स्वरस मधु के साथ देते हैं। अर्श में इसके बीजों का प्रयोग किया जाता है। फल का प्रयोग विबन्ध में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—विविध रक्तविकारों, फिरंग, उपदंश आदि में इसका प्रयोग करते हैं। शोथ में भी लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास रोग में भी इसकी छाल का रस या क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह रोग में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव एवं सूतिका रोग में बीजों का चूर्ण देते हैं।

त्वचा—कुष्ठरोग तथा दाह में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसकी कोमल पत्तियों एवं गोंद का प्रयोग करते हैं। इस कर्म के लिए विशेषतः इसका मद्य प्रयुक्त होता है जो धातुक्षय, यक्ष्मा आदि को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वर विशेषतः विषमज्वरों एवं जीर्णज्वरों में प्रयुक्त होता है।

नेत्र—अभिष्यन्द आदि नेत्ररोगों में पुष्प तथा पत्र का स्वरस डालते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, पत्र, त्वक्, बीज, तैल।

मात्रा—त्वक् चूर्ण-१-२ माशे; पत्रस्वरस-१-२ तो०; तैल-४-१० बूँद।

विशिष्टयोग—निम्बादिचूर्ण, निम्बारिष्ट, निम्बहरिद्राखण्ड।

× × × ×

'निम्बः स्यात् पिचुमर्दश्च पिचुमन्दश्च तिक्तकः। अरिष्टः पारिभद्रश्च हिंगुनिर्यास इत्यपि॥
निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुस्तिक्तोऽग्निवातकृत्। अहृद्यः श्रमतृट्कासज्वरारुचिक्रमिप्रणुत्॥
व्रणपित्तकफच्छर्दिकुष्ठहृल्लासमेहनुत्। निम्बपत्रं स्मृतं नेत्र्यं क्रमिपित्तविषप्रणुत्॥
वातलं कटुपाकं च सर्वारोचककुष्ठनुत्। नैम्बं फलं रसे तिक्तं पाके तु कटु भेदनम्॥
स्निग्धं लघूष्णं कुष्ठघ्नं गुल्मार्शःक्रमिमेहनुत्।' (भा. प्र.)

'निम्बस्तिक्तरसः शीतो लघुः श्लेष्मास्रपित्तनुत्। कण्डूकुष्ठव्रणान् हन्ति लेपाहारादिशीलितः॥
अपक्वं पाचयेच्छोथं व्रणं पक्वं विशोधयेत्।' (ध. नि.)

'निम्बस्तिक्तः कटुः पाके लघुः शीतोऽग्निवातकृत्। ग्राही हृद्यो जयेत्पित्तकफमेहज्वरक्रिमीन्॥
कुष्ठकासारुचिच्छर्दिहृल्लासश्वयथुव्रणान्। ग्राहि प्रवालं निम्बस्य रक्तपित्तकफक्रिमीन्॥
कुष्ठघ्नं वातजननं नेत्ररोगान् विनाशयेत्। तद्वत्पत्राणि निम्बस्य व्रणघ्नानि विशेषतः॥
शलाका निम्बपत्रस्य कासश्वासविनाशिनी। क्रमिघ्ना तु वरिष्ठा स्यात् कुष्ठज्वरविनाशिनी॥
चक्षुष्यं निम्बपुष्पं च क्रमिपित्तविषप्रणुत्। वातलं कटुपाकं स्यात् सर्वारोचकनाशनम्॥
फलं तिक्तरसं पाके कटुकं भेदनं लघु। अरूक्षमुष्णं कुष्ठघ्नं गुल्मार्शःक्रमिमेहनुत्॥
निम्बस्य पक्वं मधुरं सतिक्तं स्निग्धं फलं शोणितपित्तरोगे।
कफे प्रशस्तं नयनामयघ्नं क्षतक्षयघ्नं गुरु पिच्छिलं च॥'
निम्बबीजस्य मज्जा च क्रमिकुष्ठविशोधनः।' (कै. नि.)

'निम्ब''''''फलतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफक्रमिकुष्ठशिरोरोगापहराणि चेति।' (सु. सू. ४५)

'निम्बस्यतैलं प्रकृतिस्थमेव नस्तो निषिक्तं विधिना यथावत्।
मासेन गोक्षीरभुजो नरस्य यवाग्रभूतं पलितं निहन्ति॥ (भै. र.)

६०. सर्षप

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae)।

नाम—लै०-(श्वेतसर्षप)-ब्रासिका ऐल्बा (Brassica Alba), रक्तसर्षप-ब्रासिका नाइग्रा (Brassica Nigra); सं०-सर्षप (सरति स्नेहोऽस्मात्-जिससे तैल निकाला जाय); कटुस्नेह (जिसका स्नेह कटु हो); तन्तुभ (पीले पुष्पकेशरों से जो शोभित हो); हि०-सरसों; म०-शिरसी; गु०-सरसव; बं०-सरिषा; मा०-सरसुं;

पं०-सरेयाँ; क०-तिलगुगुल; ते०-अवालु; अ०-हुर्फ अबयज्; फा०-सर्षफ; अं०-रेप (Rape)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप १-३ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सरल और पत्तियाँ बड़ी लगभग १-१½ फुट लम्बी होती हैं। **पुष्प**-गुच्छों में पीतवर्ण होते हैं। **फल**-छोटे, बेलनाकार होते हैं जिनमें पीले या लाल रंग के अनेक बीज होते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं:—(१) श्वेत या गौरसर्षप-इसे 'सिद्धार्थ' भी कहते हैं। लोकभाषा में इसे 'पीली सरसों' कहते हैं। (२) रक्तसर्षप-इसके बीज लाल रंग के राई के दानों से कुछ बड़े होते हैं। औषधीय कर्मों में गौरसर्षप श्रेष्ठ माना गया है।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में २३ से २५ प्रतिशत स्थिर तैल होता है जिसे 'कटु तैल' कहते हैं। इसके अतिरिक्त सिनाल्बिन (Sinalbin) नामक स्फटिकीय द्रव्य, सिनापिन, सल्फोसायनाइड, लेसिथिन, पिच्छिल द्रव्य, माइरोसिन, प्रोटीड और क्षार जिसमें पोटाशियम, मैगनीशियम और खटिक के फास्फेट होते हैं।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, रूक्ष (शाक); स्निग्ध (तैल और बीज)।

रस—कटु, तिक्त। **विपाक**—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातनाशक और पित्तवर्धक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके बीज लेखन, कुष्ठघ्न, वर्ण्य और शोणितोत्क्लेशक होते हैं। इसका तैल जन्तुघ्न, वेदनास्थापन और स्नेहन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्ण और उष्ण होने से दीपन, विदाही एवं कृमिघ्न है।

प्लीहा—इसका तैल प्लीहनाशन है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से हृदय को उत्तेजित करता है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण, उष्ण होने के कारण यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—तीक्ष्ण होने से वाजीकरण एवं गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका प्रयोग राई के समान होता है। कुष्ठ में इसके बीजों का लेप या तैल का मर्दन किया जाता है। किसी अंग में पीड़ा होने पर इसके बीजों का लेप या तैल का अभ्यंग किया जाता है। बलवृद्धि के लिए भी इसके तैल से दैनिक अभ्यंग का विधान है। जन्तुघ्न होने से व्रणों में लगाते हैं और दन्तपूय (पायरिया) में गण्डूषधारण करते हैं या सेंधानमक मिलाकर दाँतों में लगाते हैं। शरीर के वर्ण एवं कान्ति को बढ़ाने के लिए इसके बीजों का प्रयोग उद्वर्त्तन (उबटन) में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य एवं कृमिरोग में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में इसका तैल बहुत उत्तम माना गया है। काश्यपसंहिता ने प्लीहावृद्धि में इसे सर्वश्रेष्ठ औषध बतलाया है।

रक्तवहसंस्थान—सामान्य अवसाद एवं शैथिल्य में इसका प्रयोग करते हैं जिससे उत्तेजना आती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में इसके बीजों का चूर्ण खिलाते हैं और पेडू पर उसका लेप भी करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना की कमी होने पर तथा रजोरोध में उसके प्रयोग से लाभ होता है।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, तैल।

मात्रा—बीज चूर्ण-३-५ माशे। **विशिष्ट योग**—सर्षपादि प्रलेप।

× × × ×

'सर्षपः कटुकस्नेहस्तन्तुभश्च कदम्बकः। गौरस्तु सर्षपः प्राज्ञैः सिद्धार्थ इति कथ्यते॥
सर्षपस्तु रसे पाके कटुः स्निग्धः सतिक्तकः। तीक्ष्णोष्णः कफवातघ्नो रक्तपित्ताभिवर्धनः॥
रक्षोहरो जयेत् कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमिग्रहान्। यथा रक्तस्तथा गौरः किन्तु गौरो वरो मतः॥'
(भा. प्र.)

'विदाहि बद्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च। त्रिदोषं सार्षपं शाकम्।' (सु. सू. ४६)
'सर्षपशाकं शाकानाम् (अहिततमम्)' (च. सू. २५)
'कट्वुष्णं सार्षपं तैलं रक्तपित्तप्रदूषणम्। कफशुक्रानिलहरं कण्डूकोठविनाशनम्॥'(च. सू. २७)
'कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं बहुपित्तलम्। क्रिमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डूकुष्ठापहं लघु॥'(सु. सू. ४५)
'कटुतैलोपदेशं तु वक्ष्यामि प्लीहनाशनम्। नातः परतरं किञ्चिदौषधं प्लीहशान्तये॥'
(काश्यपसंहिता)

६१. जयन्ती

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-सिसबेनिया ईजिप्टियाका (Sesbania Aegyptiaca); सं०-जयन्ती, जया (रोगों को जीतनेवाली); सूक्ष्ममूला (पतली जड़ वाली), सूक्ष्मपत्रा (छोटे पत्रवाली), केशरुहा (केशों को बढ़ानेवाली); हिं०-जैंत; म०-शेवरी; गु०-रायशींगणी; बं०-जयन्ती; ता०-चप्पाई; ते०-सोमान्ती।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यमप्रमाण का प्रायः ६-१० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-देखने में इमली के समान, संयुक्त ३-६ इंच लम्बे होते हैं जिनमें २०-२४ पत्रक मृदुरोमयुक्त होते हैं। इसका रस तिक्त और गन्ध विशिष्ट होती है। **पुष्प**-छोटे, पीतवर्ण होते हैं। प्रत्येक पुष्पदण्ड में ३-१२ पुष्प लगते हैं। **फल**-शिम्बी, सहिजन के समान किन्तु पतली और कुछ छोटी होती है जिसमें २५-२० छोटे बीज होते हैं। वर्षाकाल में पुष्प और शीतकाल में फल आते हैं।

जाति—इसकी तीन जातियाँ होती है:—(१) पीत (जिसका वर्णन ऊपर किया गया है) (२) रक्त, (३) कृष्ण।

उत्पत्तिस्थान—यह मूलतः अफ्रीका देश का है। संप्रति समस्त भारत, लंका, श्याम देशों में होता है। दक्षिणभारत में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में स्नेह ४·८ प्रतिशत, अलव्युमिनायड ३३·७ प्रतिशत, कार्बोहाइड्रेट १८·२ प्रतिशत, सेल्युलोज २८·३ प्रतिशत और क्षार ४·२ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—विषघ्न, ज्वरघ्न।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से कफ और वात का शामक एवं तिक्त होने से पित्तशामक है। इस प्रकार त्रिदोषहर है। विशेषत; कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके पत्र का कल्क केश्य, शोथहर, वेदनास्थापन व्रणपाचन, कुष्ठघ्न एवं स्वरस जन्तुघ्न है। इसके बीज और मूल विषघ्न है। इसके पुष्प ज्वर को दूर करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधन और गलगंडनाशक है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु, रूक्ष होने के कारण कण्ठ्य एवं कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका पत्र मूत्र की मात्रा एवं उसमें वर्त्तमान शर्करा की मात्रा को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—इसके पुष्पों को काञ्जी में पीसकर पुराने गुड़ के साथ आर्त्तव के बाद तीन दिन तक सेवन करने से गर्भधारण नहीं होता। इसके बीज आर्त्तवजनन और उत्तेजक है।

त्वचा—इसका मूल और छाल कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह स्वेदजनन और ज्वरघ्न है। विस्फोट-ज्वरों का प्रतिषेधक भी है।

सात्मीकरण—कृष्ण जयन्ती का कर्म रसायन होता है। इसका मूल विषघ्न है।

प्लीहा—इसके बीज प्लीहा के काठिन्य को दूर करते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तजन्य रोगों में करते हैं। वातिक विकारों में प्रायः बाह्य प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों का गरम कल्क विद्रधि, अण्डवृद्धि, सन्धिशोथ आदि में बाँधते हैं। इसके क्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं। खालित्य और पालित्य रोग में इसकी पत्तियों का लेप लगाते हैं या उसके क्वाथ से शिर धोते हैं। जांगम विषों, विशेषतः वृश्चिकदंश में दंशस्थान पर मूल या बीजों का लेप करने से कष्ट दूर हो जाता है। इसके ताजे मूल को हाथ में रखने से वृश्चिकविष उतर जाता है ऐसा वैद्यों का अनुभव है। सहदेवी के समान इसके मूल या पुष्प को मस्तक पर धारण करने से ज्वर उतर जाता है। गलगंड में इसके पत्र का लेप करते हैं। कण्डू, कुष्ठ आदि में भी इसके पत्र का लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य और अतिसार में बीजों का चूर्ण और छाल का स्वरस देते हैं। कृमिरोग में पत्रस्वरस देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों तथा गलगंड आदि में छाल का क्वाथ पिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, प्रतिश्याय आदि श्लैष्मिक विकारों में जयन्ती-पत्रक्वाथ देते हैं। जिन्हें बराबर जुकाम हो जाया करता है उन्हें इसके पत्र का शाक सेवन कराते हैं, बड़ा लाभ होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इक्षुमेह और बहुमूत्र में पत्र का क्वाथ देते हैं। पत्र का कल्क आटे में मिलाकर उसकी रोटी भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—पुष्पों का प्रयोग गर्भनिवारण के लिए करते हैं। बीजों का प्रयोग कष्टार्त्तव, रजोरोध आदि में करते हैं।

त्वचा—इसके मूल का दुग्ध के साथ सेवन करने से कुष्ठ तथा श्वित्र दूर हो जाते हैं।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग होता है। २०-२५ बीजों को पीस कर गाय के घी के साथ सेवन करने से मसूरिका रोग का आक्रमण नहीं होता।

सात्मीकरण—कृष्ण जयन्ती के मूल का सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग होता है। विषों में छाल या मूल का क्वाथ स्वरस पिलाते हैं।

प्लीहा—इसके बीज प्लीहावृद्धि में प्रयुक्त होते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, पत्र, पुष्प, बीज।

मात्रा—चूर्ण २-६ माशे; स्वरस १-२ तो०; क्वाथ ५-१० तो०।

विशिष्टयोग—जयावटी।

वक्तव्य—जयन्तीपत्रस्वरस रसशास्त्र में द्रव्यों के शोधन में बहुशः प्रयुक्त होता है।

× × × ×

'बला मोटा सूक्ष्ममूला जयन्ती विजया जया। हरिता चैव विज्ञेया सूक्ष्मपत्रापराजिता॥
बलामोटा कटुस्तिक्ता लघुः पित्तकफापहा। मूत्रकृच्छ्रं विषं हन्ति विवादे कुरुते जयम्॥(कै.नि.)
'श्वेतजयन्तीमूलं पीतं पिष्टञ्च पयसैव। श्वित्रं निहन्ति नियतं रविवारे वैद्यनाथाज्ञा॥ (भै.र.)

६२. अरण्यजीरक

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-सेण्ट्राथीरम ऐन्थेलमिण्टिकम् (Centratherum anthelminticum); सं०-अरण्यजीरक, वनजीरक, सोमराजी; हि०-काली जीरी, करजीरी; बं०-सोमराज; म०-कड्डुजिरें; गु०-काली जीरी, कड़वी जीरी; ता०-आदावी जिलाकारा; ते०-काटाक जिरागाम्; अ०-कमूनबर्री; फा०-जीरए बर्री (सोहराई) अं०-पर्पल फ्लीबेन (Purple Fleabane)।

स्वरूप—इसका एकवर्षायु क्षुप ३-५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-२-८ इञ्च लंबे, शल्याकृति, कंगूरेदार होते हैं। **पुष्प**-बैंगनी रंग के होते हैं। **बीज**-भूरे काले रंग के, लंबे बेलनाकार होते हैं जिनके पृष्ठभाग पर लंबाई में दस उभरी रेखायें होती हैं। बीजों से तीक्ष्ण गन्ध आती है। **पुष्प**-वर्षाकाल एवं फल वसन्त में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में, विशेषतः हिमालय प्रदेश में उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में स्थिर तैल १८%, एक उड़नशील तैल लगभग ०.०२% तथा एक तिक्त सत्त्व प्रायः १% पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफ और वात का शमन करता है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—लेप करने से यह शोथहर, वेदनास्थापन, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, वमनकारक एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह मूत्रस्राव को उत्तेजित करता है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयशोधक एवं स्तन्यजनन है।

त्वचा—यह कण्डूघ्न एवं कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों, फोड़े-फुन्सियों तथा चर्म विकारों में इसका लेप करते हैं। जूँ आदि बाह्यकृमियों को मारने के लिए इसका लेप किया जाता है। ४ भाग कालीजीरी और १ भाग हरताल गोमूत्र में पीसकर श्वित्र में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य और कृमिरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्राघात में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—प्रसूतिरोग एवं स्तन्यविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—७½ रत्ती कालीजीरी और ७½ रत्ती काला तिल के चूर्ण गरम जल के साथ सेवन करने से समस्त कुष्ठरोग नष्ट हो जाते हैं।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और कटुपौष्टिक होने से जीर्णज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं। जांगम विषों में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज। **मात्रा**—१ माशा से १ तोले तक।

विशिष्टयोग—सोमराजी तैल, सोमराजी घृत।

वक्तव्य—निघण्टुकारों ने 'सोमराजी' को 'बाकुची' का पर्याय दिया है, अतः अनेक ग्रन्थकारों ने 'सोमराजी' शब्द से कहीं कालीजीरी और कहीं बाकुचीबीज का ग्रहण किया है। वस्तुतः ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं और 'सोमराजी' शब्द से कालीजीरी का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। फारसी एवं लोकभाषा में इसीका अपभ्रंश 'सोहराई' है जो कालीजीरी के लिए प्रयुक्त होता है।

'सोमराजी कटुस्तिक्ता कृमिकुष्ठकफापहा । तीक्ष्णोष्णा विषकण्डूतिज्वरप्रशमनी च सा ॥' (स्व.)

'तीव्रेण कुष्ठेन परीतदेहो यः सोमराजीं नियमेन खादेत् ।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां स सोमराजीं वपुषातिशेते ॥' (भै. र.)

६३. जलनिम्ब

परिचय

कुल—कटुका-कुल (स्क्रोफुलेरियेसी—Scrophulariaceae)।

नाम—लै०-ग्रैटिओला मोनियेरा (Gratiola monniera) सं०-जलनिम्ब (जल में उत्पन्न होने तथा नीम के समान तिक्तरस होने के कारण), जलज ब्राह्मी, लघु ब्राह्मी, हि०-जलनीम; बरमी; बं०-विरमी; ता०-नीरब्राह्मी; तें०-शाम्ब्रानी चेट्टु; क०-ऑदेगल; फा०-जरनव; अं०-इण्डियन पेनीवर्ट (Indian Pennywort)।

स्वरूप—यह छोटा क्षुप होता है । इसका **काण्ड**-अतिकोमल, सरस, सूक्ष्मरोमश और ग्रंथियुक्त होता है । इसकी प्रत्येक ग्रंथि से मूल निकलता है । **पत्र**-मांसल, $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बा, युग्मपत्र, पत्रधारा अखंडित, अग्रभाग गोलाकार तथा वृन्तदेश डिम्बाकृति होता है । **पुष्प**-फीके नील या श्वेतवर्ण होते हैं । पुंकेसर ४ (२ छोटे और २ बड़े) होते हैं । **बीजकोष**-दो कोष्ठों में विभक्त होता है जिसमें अनेक फीके रंग के बीज होते हैं । समस्त क्षुप अत्यन्त तिक्त होता है । ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और फल आते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के आर्द्र और जलासन्न भूमि में होता है । विशेषकर गाँवों में कुँओं के आसपास जहाँ पानी बराबर गिरता रहता है यह क्षुप अधिक देखने में आता है ।

रासायनिक संघटन—इनमें एक तैल, क्षारतत्त्व, ऐन्द्रिक अम्ल और राल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध । **रस**—तिक्त ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातनाशक होता है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं विषघ्न होता है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य, नाडीबल्य और आक्षेपहर है ।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, पाचन एवं अनुलोमन है ।

रक्तवहसंस्थान—तिक्त होने के कारण रक्तशोधक है तथा शोथ को दूर करता है। यह हृदय को उत्तेजित करता है जिससे रक्तभार बढ़ता है ।

श्वसनसंस्थान—तिक्त और उष्ण होने से यह कफघ्न है ।

मूत्रवहसंस्थान—यह उष्ण होने से मूत्रल है ।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक है ।

त्वचा—उष्ण होने से स्वेदजनन, कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है ।

तापक्रम—तिक्त होने से यह आमपाचन तथा उष्ण होने से स्वेदजनन है । अतः ज्वर को शान्त करता है ।

सात्मीकरण—यह विष को नष्ट करता है । स्निग्ध होने से यह बल्य है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त रोगों में तथा विष में इसका प्रलेप करते हैं। बच्चों के कास तथा फुफ्फुस के रोगों में इसका गरम लेप वक्ष पर किया जाता है। वातकफ-ज्वर में जलनीम का कल्क, प्याज और बालू की पोटली बनाकर स्वेदन भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार, नाडीदौर्बल्य आदि नाडीसंस्थान के रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष और विबन्ध में यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार शोथ एवं हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न होने के कारण कास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—विभिन्न विषों में इसका प्रयोग होता है। सामान्य दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग। **मात्रा**—स्वरस १ तोला, चूर्ण ४-१२ रत्ती।

वक्तव्य—यह बंगाल में ब्राह्मी के स्थान पर लिया जाता है, अतः इसे 'वंगीय ब्राह्मी' भी कहते हैं। वस्तुतः यह 'क्षुद्रपत्रा ब्राह्मी' है।

× × × ×

'ब्राह्मी तु क्षुद्रपत्राऽन्या लघुब्राह्मी जलोद्भवा।
ब्राह्मी तिक्तरसोष्णा च सरा वातामशोफजित्॥' (रा. नि.)

'जलनिम्बो लघुः स्निग्धस्तिक्तोष्णो दीपनः सरः। मेध्यो हृद्यश्च कुष्ठघ्नो ज्वरघ्नः कफवातजित्॥
उन्मादवह्निमांद्यामविबन्धासृग्रुजापहः। ज्वरे कासे विषे शोथे दौर्बल्ये चाथ शस्यते॥' (स्व.)

कुष्ठघ्न

६४. खदिर

परिचय

गण—कुष्ठघ्न, कषायस्कन्ध (च०), सालसारादि गण (सु०)

कुल—बब्बूल-कुल (माइमोसेसी—Mimosaecee)।

नाम—लै०-१. खदिर-एकेशिया कैटेचु (Acacia catechu) २. सोमवल्क (श्वेत खदिर) एकेशिया पौलिकैन्था (Acacia Polycantha) ३. अरिमेद (विट्खदिर) एकेशिया फार्निसियाना (Acacia Farnisiana) सं०-खदिर (रोगों को नष्ट करने तथा शरीर में स्थिरता लाने वाला); रक्तसार (सारभाग जिसका रक्तवर्ण हो), दन्तधावन (दाँतों को साफ करने वाला), कण्टकी (कण्टकयुक्त), बालपत्र (छोटे पत्तों वाला), यज्ञिय (इसकी लकड़ी यज्ञ में उपयोगी होने के कारण)।

श्वेतखदिर—सोमवल्क (चन्द्रमा के समान श्वेतवर्ण वल्कल वाला), कदरः

हि०-म०-खैर; पं० गु०-खेर; बं०-खयेर; ते०-पोडलमानु; ता०-कचुकट्टि;मल०-कदरम्; अं०-कैटेचु ट्री (Catechu tree)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का होता है। **काण्डत्वक्**-खुरदरा, कण्टकयुक्त तथा धूसरवर्ण होती है। बाहर का काष्ठ पीताभ श्वेत तथा भीतर का रक्तवर्ण होता है। **पत्र**-बबूल के समान संयुक्त, पक्षाकार लगभग ३-४ इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रक**-३०-५० जोड़े मृदुरोमयुक्त होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीताभ होते हैं जिनमें तीन पुष्पदल होते हैं। **फल**-शिम्बी २-४ इञ्च लंबी, पतली, किञ्चित् धूसरवर्ण और चमकीली होती है जिनमें ५-८ गोलाकार छोटे बीज होते हैं। वसन्तऋतु में पत्र, वर्षा में पुष्प, हेमन्त में फल आते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ व्यवहार में आती हैं:—

१. **श्वेत** २. **रक्तकपिश**-यह बाहर से रक्तकपिश और भीतर पीताभ एवं कोमल तथा भंगुर होता है। इसे पपड़िया, भगूरी या पखरा कत्था कहते हैं। इसीका अधिक प्रयोग औषध में होता है। ३. **रक्त**-यह विशेषतः ताम्बूल में लिया जाता है। ४. **कृष्ण**-यह निकृष्ट माना जाता है। ५. **विट्खदिर**-इसे अरिमेद या इरिमेद भी कहते हैं। इसमें पुरीष या चर्बी के समान दुर्गन्ध आती है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक रूक्ष वायुमंडल में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ३५ प्रतिशत खदिसार (कत्था) और ५७ प्रतिशत कषायद्रव्य होते हैं। इसमें कैटेचीन (Catechin) नामक सत्त्व पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय। **विपाक**—कटु।
वीर्य—शीत। **प्रस्ताव**—कुष्ठघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय एवं शीत होने से कफ और पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन एवं कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तिक्तकषाय होने से यह रुचिवर्धक, स्तम्भन एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्तकषाय और शीत होने से शोणितास्थापन (रक्तप्रसादन, रक्तस्तम्भन और रक्तवर्धक) है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—तिक्तकषाय होने से कफनाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—कषाय होने से मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—कषाय होने के कारण शुक्रशोषण एवं गर्भाशयशैथिल्यहर है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है।

तापक्रम—यह तिक्त और शीत होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धातुशोषण, विशेषतः मेदोधातु का शोषण करता है।

प्लीहा—यह प्लीहा के शोथ को दूर करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह उत्तम रक्तस्तम्भन एवं श्लेष्मलकला-संकोचक

है, अतः रक्तस्राव को बन्द करने के लिए इसका अवचूर्णन करते हैं। दन्तरोगों में मञ्जन के रूप में तथा व्रणों में भी प्रयुक्त होता है। स्वरभेद तथा कास में इसके क्वाथ का गण्डूष धारण करते हैं। श्वित्र में भी इसका लेप करते हैं। कुष्ठ के रोगियों को इसके क्वाथ से स्नान कराते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अतिसार एवं कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन होने से इसका प्रयोग रक्तस्राव (रक्तपित्त), रक्तविकार एवं पाण्डु में करते हैं। शोथ में भी प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कास में प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—कफनाशक एवं मूत्रसंग्रहणीय होने से प्रमेह रोग में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—कामातिशय, प्रदर एवं योनिशैथिल्य में यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि समस्त चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में यह प्रयुक्त होता है।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अङ्ग—त्वक्, खदिरसार (कत्था)।

मात्रा—चूर्ण-१-३ मा०; क्वाथ-५-१० तो०; खदिरसार-३-६ रत्ती।

विशिष्ट योग—खदिरारिष्ट, खदिरादि क्वाथ, खदिराष्टक, खदिरादि वटी।

वक्तव्य—खदिर की लकड़ी से कत्था तैयार किया जाता है जिसे 'खदिरसार' कहते हैं।

× × × ×

'खदिरो रक्तसारश्च गायत्री दन्तधावनः। कण्टकी बालपत्रश्च बहुशल्यश्च यज्ञियः॥
खदिरः शीतलो दन्त्यः कण्डुकासारुचिप्रणुत्। तिक्तः कषायो मेदोघ्नः कृमिमेहज्वरव्रणान्॥
श्वित्रशोथामपित्तास्रपाण्डुकुष्ठकफान् हरेत्।' (भा. प्र.)

'खदिरस्तु रसे तिक्तः शीतपित्तकफापहः। पाचनः कुष्ठकासास्रशोथकण्डूव्रणापहः॥'(रा. नि.)

'खदिरः कृमिकुष्ठघ्नः कफरेतोविशोषणः।' (ध. नि.)

'खदिरः कुष्ठघ्नानाम्।' (च. सू. २५)

'शनैर्मेहिनं खदिरकषायम्।' (सु. चि. ११)

'दिदृक्षुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः। सर्वथैव प्रयुञ्जीत स्नानपानाशनादिषु॥' (सु. चि. ९)

'यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ। तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः॥' (सु. चि. ६)

६५. हरिद्रा

परिचय

गण—कुष्ठघ्न, लेखनीय, कण्डूघ्न, विषघ्न, तिक्तस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०), हरिद्रादि, मुस्तादि, श्लेष्मसंशमन (सु०)।

कुल—हरिद्रा-कुल (सिटामिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम—लै०-कर्कुमा लौंगा (Curcuma Longa); सं०-हरिद्रा (हरिं वर्णं द्राति संशोधयति-जो शरीर के वर्ण को ठीक करे), काञ्चनी (सुवर्ण के समान पीतवर्ण होने के कारण), निशा (चाँदनी रात की तरह सुन्दर), वरवर्णिनी (सुन्दर वर्णवाली), गौरी (पीतवर्ण होने से), कृमिघ्ना (कृमिनाशक होने के कारण), योषित्प्रिया (उबटन

इत्यादि तथा स्त्रीरोगों में उपयोगी होने के कारण), हट्टविलासिनी (बाजारों की शोभा बढ़ाने वाली); हि०–हलदी, हरदी; पं०–हरदल; बं०–हलुद; म०–हलद; गु०–हलदर; क०–लेदिर; ता०–मञ्जल; ते०–पसुपु; अ०–ऊरुकुस्सफर; फा०–ज़र्दचोब; अं०–टर्मेरिक (Turmeric)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप अदरख के समान होता है। **पत्तियाँ**–१–१½ फुट लम्बी और चौड़ी होती हैं जिनसे आम की तरह गन्ध आती है। पत्रवृन्त भी पत्तों की तरह चौड़ा होता है। **पुष्पदण्ड**–४–६ इञ्च लम्बा होता है जिसमें हल्दी के रंग के लगभग १½ इञ्च लम्बे पुष्प निकलते हैं। **फल**–लम्बा, गोलाकार और गाँठदार होता है। इसका भीतरी भाग अधिक पीला होता है। वर्षाऋतु के प्रारंभ में पुष्प निकलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है।

रासायनिक-संघटन—इसमें उड़नशील तैल १%, राल, कर्कुमीन (Curcumin) नामक सत्त्व, पीतरञ्जक द्रव्य, हरिद्रातैल (Turmeric oil or Turmerol) नामक गाढ़ा पीला तथा विशिष्ट गन्ध और स्वाद से युक्त तैल होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक, पित्तरेचक और तिक्त होने से पित्तशामक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, लेखन है। इसका धूम हिक्कानिग्रहण, श्वासहर और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह उष्ण होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, अनुलोमन, पित्तरेचक एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—तिक्त होने से यह रक्तप्रसादन, रक्तवर्धक एवं रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय एवं मूत्रविरजनीय है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से गर्भाशयशोधन तथा तिक्त होने से स्तन्य-शोधन एवं शुक्रशोधन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—पित्तशामक एवं आमपाचन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक एवं विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वात, पित्त, कफ तीनों दोषों से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों में विशेषतः आघात लगने पर इसका लेप करते हैं। कुष्ठ, कण्डू आदि त्वग्दोषों में इसे लगाते हैं। वर्ण को सुधारने के लिए उबटन में भी प्रयुक्त होता है। व्रणों के पाचनार्थ इसकी पुल्टिस लगाते हैं तथा

शोधन एवं रोपण के लिए इसका चूर्ण या मलहम लगाते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका आश्च्योतन (१ भाग हलदी १० भाग जल में पका कर छान लेते हैं) तथा विडालक देते हैं। यकृत्प्लीहा की वृद्धि होने पर इसका लेप यकृत्प्लीहा के प्रदेश में करते हैं। अर्श में भी इसका लेप लगाते हैं। हलदी के टुकड़े या चूर्ण को अंगारों पर रखने से जो धूम निकलता है वह मूर्च्छा, श्वास एवं हिक्का रोगों में प्रयुक्त होता है। इस धूम से वृश्चिकदंश की वेदना भी शान्त होती है :

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अभिघातज वेदना तथा नाडीशूल में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, विबन्ध, कामला, जलोदर एवं कृमि में प्रयोग किया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार, पाण्डु तथा रक्तस्राव में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कास एवं श्वासकष्ट में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह रोग में इसका स्वरस या चूर्ण देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रसव के बाद एवं स्तन्यविकारों में हलदी का सेवन कराते हैं। शुक्रमेह में भी यह लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, कंडू, उदर्द आदि विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य तथा विष की अवस्थाओं में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—स्वरस १-२ तो०, चूर्ण १-३ मा०।

विशिष्ट योग—हरिद्रा खण्ड।

वक्तव्य—'वनहरिद्रा' तथा 'आम्रगन्धिहरिद्रा' हरिद्रा के ही भेद माने जाते हैं अतः उनका वर्णन भी इसी प्रसंग में आगे किया जायगा।

× × × ×

'हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाख्या वरवर्णिनी। कृमिघ्ना हलदी योषित्प्रिया हट्टविलासिनी॥
हरिद्रा कटुका तिक्ता रूक्षोष्णा कफपित्तनुत्। वर्ण्या त्वग्दोषमेहास्रशोथपाण्डुव्रणापहा॥'
(भा. प्र.)

'हरिद्रा तु रसे तिक्ता रूक्षोष्णा विषकुष्ठनुत्। मेहकण्डूव्रणान् हन्ति देहवर्णविधायिनी॥
विशोधनी कृमिहरा पीनसारुचिनाशिनी।' (ध. नि.)

(क) वनहरिद्रा

परिचय

कुल—हरिद्रा-कुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम—ले०-कर्क्युमा एरोमेटिका (Curcuma aromatica) सं०-वनहरिद्रा, (जंगलों में होने से), कर्पूरहरिद्रा (कर्पूर के समान गन्धयुक्त); हिं०-आमा हलदी; म०-आंबेहलद, गु०-आँबा हलदर; बं०-वनहलूद; ता०-कस्तूरी-मञ्जाल; ते०-अदाविप-सुपु; फा०-दारचोबा; अं०-वाइल्ड टर्मेरिक (Wild Turmeric)।

वक्तव्य—फारसी नाम दारचोबा दारुहरिद्रा का वाचक है, संभवतः पीताभ होने के कारण इसे भी यह संज्ञा दी गई।

स्वरूप—इसका क्षुप हलदी के समान ही होता है। **पत्र**–३–४ फुट लंबे होते है। **कन्द**–आलू के समान बाहर से भूरा और वृत्ताकार चिह्नयुक्त तथा भीतर गहरे नारंगी रंग का और स्थूल होता है। यह अनेक उपमूलों से युक्त होता है और इसमें कपूर के समान तीक्ष्ण गन्ध आती है। ग्रीष्मऋतु में पुष्प आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में, विशेषतः मैसूर और मलाबार प्रदेश के जंगलों में होता है। इसकी खेती भी की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें उड़नशील तैल, राल, श्वेतसार, पिच्छिल द्रव्य, शर्करा, निर्यास, पीत रञ्जक द्रव्य, अलव्युमिनायड्स और कर्क्युमिन नामक तत्त्व होते हैं।

गुणकर्म और प्रयोग

इसके गुणकर्म और प्रयोग हरिद्रा के समान ही हैं किन्तु इसका विशेषतः बाह्य प्रयोग ही होता है। हकीम लोग इसका प्रयोग सर्पविष में भी करते हैं।

× × × ×

'अरण्यरजनीकन्दः कुष्ठवातास्रनाशनः। सर्वदोषविषघ्नश्च हिध्माश्वसनकासजित् ॥ (कै. नि.)

(ख) आम्रगन्धि हरिद्रा

परिचय

कुल—हरिद्रा-कुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम—लै०-कर्क्युमा अमादा (Curcuma Amada), सं०-आम्रगन्धिहरिद्रा (आम के समान गन्ध आने से), सुगन्धा (अच्छी गन्धसे युक्त) हि०-सफेद हलदी; बं०-आम आदा; म०-पांढरी हलद; गु०-सफेद हलदर; ता०-सामिदि-आल्लाम्; ते०-कारु-पासुपु; अं०-मैंगो जिञ्जर (Mango ginger)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप हलदी के समान होता है। **पत्र**–२–३ फुट लंबा होता है। **पुष्प**–फीके पीले रंग के होते हैं। **कन्द**–गोलाकार, स्थूल होता है जो देखने में अदरख के समान होता है और जिससे आम के समान गन्ध आती है। शरत्काल में पुष्प आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—बंगाल और पश्चिम भारत में उत्पन्न होता है। इन स्थानों में इसका अचार, चटनी आदि बनाया जाता है।

गुणकर्म और प्रयोग

इसके गुण हल्दी के समान हैं किन्तु इसका वीर्य शीत होता है, अतः जहाँ हल्दी के कर्म अभीष्ट हों और शीतवीर्य द्रव्य की आवश्यकता हो वहाँ इसका प्रयोग करते हैं।

× × × ×

'आम्रगन्धिहरिद्रा या सा शीता वातला मता। पित्तहृन्मधुरा तिक्ता सर्वकण्डूविनाशिनी ॥' (भा. प्र.)

६६. भल्लातक

परिचय

गण—कुष्ठघ्न, दीपनीय, मूत्रसंग्रहणीय (च०), न्यग्रोधादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी—Anacardiaceae)।

नाम—लै०-सेमीकार्पस एनाकार्डियम (Semecarpus Anacardium), सं०-भल्लातक (भाले के समान तीक्ष्णगुणयुक्त); अरुष्कर (स्पर्श से व्रण उत्पन्न करने वाला); अग्निक (अग्नि के समान उष्णवीर्य), शोफकृत् (स्पर्श या धूम से शोथ उत्पन्न करने वाला), अग्निमुख (फल का मुखभाग आग के समान लाल रंग का होने से), हि०-भिलावा; वं०-भेला; म०-बिम्बा; गु०-मा०-भिलामो; पं०-भिलांवा; क०-बिलावा; ता०-सेनकोट्टुई; ते०-फिदिविट्टुलु; अ०-हब्बुलकल्ब (हृदयाकृति फल); फा०-बलादुर; अं०-मार्किंग नट (Marking nut)। धोबी लोग इसके फल से कपड़ों में निशान लगाते हैं इसलिए अंग्रेजी में इसे मार्किंग नट (निशान लगाने वाली गुठली) कहते हैं।

स्वरूप—इसका वृक्ष लगभग २५–३० फुट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**–धूसरवर्ण होता है किन्तु उसका स्वरस कृष्णवर्ण होता है। **पत्र**–शाखाओं के अग्रभाग से निकलते हैं और लगभग ३–८ इञ्च लंबे तथा ५–१२ इञ्च चौड़े होते हैं। ये नीचे की ओर हृदयाकृति और ऊपर की ओर मृदुरोमों से युक्त होते हैं। इनका अग्रभाग कुछ मोटा होता है। पत्रसिरायें संख्या में १५–२५ और कठिन होती हैं। वसन्त में पत्ते झड़ जाते हैं। **पुष्प**–पीताभ और एकलिंगी होते हैं। स्त्रीपुष्प और पुंपुष्प भिन्न-भिन्न वृक्षों पर होते हैं। पुष्पदंड पत्र के समान लम्बा होता है। **फल**–१ इञ्च लम्बा, हृदयाकृति होते हैं। अपक्वावस्था में ये हरितवर्ण तथा पकने पर चमकीले कृष्णवर्ण हो जाते हैं। कच्चे फल के भीतर का रस दूध की तरह सफेद होता है जो हवा लगने पर काले रंग का हो जाता है। पके फल का रस मधु के समान गाढ़ा और कृष्णवर्ण होता है। फल के ऊपर की टोपी लाल रंग की होती है जो पकने पर खाई जाती है। फल के भीतर बादाम की तरह मीठा एक बीज होता है। **पुष्प**–ग्रीष्मऋतु तथा फल शरद्-हेमन्त में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में, हिमालय के निचले भाग में विशेषतः बिहार, बंगाल, उड़ीसा, आसाम आदि में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में एक स्फोटजनक तैल ३२ प्रतिशत रहता है जो ईथर में विलेय है तथा वायु के संपर्क से कृष्णवर्ण हो जाता है। फल की मज्जा में एक मधुर तैल अल्पमात्रा में रहता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—मधुर, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण कफवातशामक और पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्फोटजनक, शीतप्रशमन और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और नाडियों के लिए बलप्रद होता है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से दीपन, पाचन, भेदन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को उत्तेजित करता है और श्वेतकणों को बढ़ाता है। शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रारम्भ में इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है किन्तु शीघ्र ही वृक्कों के थक जाने से मात्रा कम हो जाती है और इसके वाद भी यदि इसका प्रयोग जारी रक्खा जाय तो मूत्र में रक्त आने लगता है।

प्रजननसंस्थान—यह मधुर होने से वृष्य है तथा शिश्नगत नाडियों को उत्तेजित करने से कामोत्तेजना भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह शुक्रस्राववृद्धिकर (देहमनोबलकर) वाजीकरण है। उष्ण और तीक्ष्ण होने से गर्भाशयोत्तेजक भी है।

त्वचा—इसका उत्सर्ग त्वचा के मार्ग से होता है, अतः यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। प्रारंभ में इससे त्वचा में लाली और खुजली मालूम होती है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह समस्त धातुओं को बढ़ाने के कारण बृंहण एवं रसायन है।

प्लीहा—यह प्लीहा के शोथ को कम करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग विशेषतः कफवातज रोगों में होता है। पैत्तिकविकारों में भी पित्त का निर्हरण करने के कारण यह लाभकर होता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—सर्पदंश में चीरे लगाकर इसका लेप करते हैं। अर्शरोग में इसकी धूनी देने से अंकुर सूखकर गिर जाते हैं। योनि पर लेप करने से यह गर्भस्रावक होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कदौर्बल्य, नाडीदौर्बल्य, अपस्मार आदि रोगों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमांद्य, पाचनविकार, विबन्ध, आनाह, गुल्म, उदर, ग्रहणी, अर्श एवं कृमि में होता है। यह अर्शरोग की श्रेष्ठ औषध मानी गई है कारण कि इससे यकृत् का रक्तसंवहन ठीक होने से प्रतीहारिणी सिरा में रक्त का दबाव कम होता है, फलतः गुदा की सिराओं में संचित रक्त हट जाता है और अंकुर सूख जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय-दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। रसग्रन्थियों पर इसका उत्तेजक प्रभाव होने के कारण यह ग्रंथिशोथ एवं अन्य शोथों में लाभकर होता है।

श्वसनसंस्थान—कफवातशामक एवं छेदन होने से कास, श्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—कफवातशामक होने से तथा वल्य होने के कारण यह प्रमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रदौर्बल्य, ध्वजभंग तथा कष्टार्त्तव में दिया जाता है।

त्वचा—कुष्ठ, श्वित्र, वातरक्त आदि त्वचा के विकारों में यह अतिशय उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्णज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है। इससे ज्वर भी शान्त होता है, यकृत्प्लीहा भी दूर होती है और बल भी बढ़ता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में रसायन के रूप में प्रयुक्त होता है।

प्लीहा—भल्लातक, हरीतकी और कृष्णजीरक इन तीनों का गुड़ में मोदक बनाकर सेवन कराने से प्लीहावृद्धि नष्ट हो जाती है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—कल्क ३-६ मा०; स्वरस ½-२ रत्ती।

विशिष्ट योग—अमृतभल्लातक, भल्लातक तैल।

निवारण—इसके हानिकर प्रभावों को दूर करने के लिए नारियल और तिल का प्रयोग करना चाहिए।

प्रशस्त भल्लातक—जो जल में डूब जाय वही भल्लातक औषध में लेना चाहिए।

शोधन—भल्लातक का वृन्तमुख काट कर एक सप्ताह तक ईंट के चूर्ण (सुरखी) में गाड़ कर रखना चाहिए। तत्पश्चात् खूब रगड़ कर जल से धो दे और फिर दूध में उबाले। इस प्रकार भल्लातक शुद्ध हो जाता है। अशुद्ध भल्लातक का प्रयोग न करे क्योंकि यह तीव्र विष है।

भल्लातक-सेवन के अयोग्य व्यक्ति—शिशु, सगर्भा स्त्रियों, वृद्ध एवं पित्तप्रकृति वाले पुरुषों को इसका सेवन नहीं कराना चाहिए।

पथ्य—भल्लातक-सेवन करते समय पित्तवर्धक द्रव्यों यथा उष्णवीर्य, कटु-अम्ल लवण रसों का परित्याग कर दें। आग के पास या धूप में न बैठे। ककाराष्टक भी वर्ज्य है। पित्तशामक द्रव्यों यथा-दूध, घी, चीनी और भात का सेवन लाभकर है। तिल और नारियल का सेवन भी उत्तम है।

अनिष्ट लक्षण—अशुद्ध भल्लातक का या अतिमात्रा में सेवन करने से सर्वप्रथम गुदा और शिश्न के अग्रभाग पर कण्डू या दाह मालूम होता है। पसीना वहुत आता और प्यास अधिक लगती है। मूत्र की मात्रा कम हो जाती है और उसका रंग धूम्र या रक्तवर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में, उसकी मात्रा कम कर दें या प्रयोग ही बन्द कर दे तथा दोषों के निवारक और शामक द्रव्यों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्रारंभ कर दे। त्वचा में खुजली, जलन या कभी कभी शोथ भी हो जाता है। ऐसी अवस्था में, तिल का तेल, नारियल तेल, घी या राल का मलहम उस स्थान में लगाना चाहिए। इससे ये उपद्रव ३-४ दिनों में शान्त हो जाते हैं।

× × × ×

'भल्लातकं त्रिषु प्रोक्तमरुष्कोऽरुष्करोऽग्निकः। तथैवाग्निमुखो भल्ली वीरवृत्तश्च शोफकृत्॥
भल्लातकफलं पक्वं स्वादुपाकरसं लघु। कषायं पाचनं स्निग्धं तीक्ष्णोष्णं छेदि भेदनम्॥
मेध्यं वह्निकरं हन्ति कफवातव्रणोदरम्। कुष्ठार्शोग्रहणीगुल्मशोथानाहज्वरक्रिमीन्॥
तन्मज्जा मधुरा वृष्या बृंहणी वातपित्तहा। वृन्तमारुष्करं स्वादु पित्तघ्नं केश्यमग्निकृत्॥
भल्लातकः कषायोष्णः शुक्रलो मधुरो लघुः। वातश्लेष्मोदरानाहकुष्ठार्शोग्रहणीगदान्॥
हन्ति गुल्मज्वरश्वित्रवह्निमान्द्यक्रिमिव्रणान्।' (भा. प्र.)

'भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च। भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन। यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम्॥'
(च. चि. १)

'यथा कुष्ठानि सर्वाणि हतः खदिरबीजकौ। तथैवार्शांसि सर्वाणि वृत्तकारुष्करौ हतः॥
(सु. चि. ६)

६७. आरग्वध

परिचय

गण—कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, विरेचन, तिक्तस्कन्ध (च०), आरग्वधादि, श्यामादि, अधोभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बीकुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०-कैसिया फिस्टुला (Cassia Fistula) सं०-आरग्वध (रोगों को नष्ट करने वाला); राजवृक्ष (सुन्दर वृक्ष), शम्पाक (कल्याणकारी फल देने वाला); चतुरंगुल (पर्वों का प्रमाण चार अंगुल होने से), आरेवत (मलों को निकालने वाला); व्याधिघात (रोगों को दूर करने वाला), कृतमाल (पुष्पों की माला धारण करने वाला); सुवर्णक (सुन्दर वर्ण वाला); दीर्घफल (लम्बे फल वाला); स्वर्णभूषण (पीतवर्ण के सुवर्णसदृश पुष्पों से युक्त)। हि०-अमलतास, सियरलाठी; म०-बाहवा; गु०-गरमालो; पं०-गिर्दनली; मा०-गिरमालो, किरमाल; सिं०-छिमकणी; बं०-सोंदाल; ता०-कोंड्रै, इराघविरुट्टम्; ते०-आरग्वधमु, रेल; म०-कणिकोन्ना; क०-फलूस, अ०-खियारशंबर, फा०-खियार चंबर; अं०-ड्रम स्टिक या पर्जिङ्ग कासिया (Drum stick or purging cassia)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का २५-३० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सरल और काण्डत्वक् हरिताभ धूसरवर्ण या किंचित् रक्ताभ होती है। **पत्र**-संयुक्त, लगभग १ फुट लंबा होता है जिसमें ८-१६ जोड़े पत्रक लगे रहते हैं। पत्रक २-६ इञ्च लंबे, चिकने जामुन के पत्ते की तरह होते हैं। **पुष्प**-पीले रंग के, गुच्छों में और सुगंधित होते हैं। **पुष्पदल**-संख्या में ५ और पुंकेसर १० होते हैं जिसमें ३ बहुत बड़े और ३ बहुत छोटे होते हैं। **पुष्पदण्ड**-पत्र के समान ही लम्बा होता है। **फल**-१-२ फुट लंबा, १ इञ्च मोटा, कठिन, नुकीला और बेलनाकार होता है। यह कच्ची अवस्था में हरे रंग का और पकने पर कृष्ण वर्ण हो जाता है। **फलमज्जा**-गहरे काले रंग की, पैसे के आकार के खंडों में एक दूसरे के ऊपर व्यवस्थित होती है। **बीज**-अनेक, चपटे, कोमल, चिकने, पीताभ धूसरवर्ण होते हैं जो फलमज्जा के बीच में पड़े रहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी फलमज्जा में शर्करा ६०% पिच्छिलद्रव्य, ग्लूटीन, पेक्टीन, रंजक द्रव्य, कैलशियम ऑक्जलेट, क्षार, निर्यास एवं जल होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, मृदु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर और स्निग्ध होने से वात तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है। रेचन होने से कोष्ठगत पित्त और कफ का संशोधन भी करता है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह तिक्त होनेसे रुचिवर्धक और यकृदुत्तेजक तथा स्निग्ध होनेसे अनुलोमन और स्रंसन है। यह मृदुविरेचन द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह मधुरस्निग्ध होने से कफनिःसारक है तथा मृदु होने से संस्थान के अवयवों में मृदुता उत्पन्न करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह शीत होने से मूत्रजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न और दाहप्रशमन है।

तापक्रम—यह तिक्त होने से आमपाचन एवं पित्तशामक है तथा स्रंसन होने से कोष्ठगत मलों को दूर करता है। इस कारण से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में संशमनार्थ प्रयुक्त होता है तथा पित्त और कफ के विकारों में संशोधन के लिए देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, ग्रंथिशोथ, वातरक्त, आमवात, संधिवात आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में फलमज्जा और पत्र का लेप करते हैं। मुख तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। कुष्ठ एवं कण्डू में इसके पत्र का लेप एवं उद्वर्त्तन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, विबन्ध, उदावर्त्त, शूल, यकृच्छोथ और कामला में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, वातरक्त एवं शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—शुष्ककास एवं श्वासकष्ट में इसके पुष्पों का अवलेह बना कर देते हैं। इससे कफ निकलता है और श्वासमार्ग का स्नेहन होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं। इससे मूत्र अधिक आता है और मूत्रमार्ग का स्नेहन होता है।

त्वचा—कुष्ठ एवं दाह में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह अतीव उपयोगी है। मूलत्वक् का भी प्रयोग ज्वर में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फलमज्जा, मूलत्वक्, पुष्प, पत्र।

मात्रा—फलमज्जा १-२ तो०; विरेचनार्थ २-४ तो०, मूलत्वक् क्वाथ ५-१० तो०, पुष्प ½-१ तो०। पत्र का बाह्य प्रयोग होता है।

विशिष्टयोग—आरग्वधादि तैल, आरग्वधादि लेह, आरग्वधारिष्ट।

संग्रह-विधि—इसके पके फलों को सात दिनों तक बालू के भीतर रख दे उसके बाद निकाल कर धूप में सुखा दे। खूब सूख जाने पर फलमज्जा निकाल कर शुद्ध पात्र में रख लें।

वक्तव्य—क्वाथ करने से फलमज्जा की शक्ति कम हो जाती है, अतः इसका प्रयोग हिम या फाण्ट के रूप में करना अच्छा है।

× × × ×

'आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरंगुलः। आरेवतो व्याधिघातः कृतमालः सुवर्णकः॥
कर्णिकारो दीर्घफलः स्वर्णाङ्गः स्वर्णभूषणः। आरग्वधो गुरुः स्वादुः शीतलः स्रंसनो मृदुः॥

ज्वरहृद्रोगपित्तास्रवातोदावर्त्तशूलनुत् । तत्फलं स्रंसनं रुच्यं कोष्ठपित्तकफापहम् ॥
ज्वरे तु सततं पथ्यं कोष्ठशुद्धिकरं परम् ।' (भा. प्र.)
'चतुरंगुलो मृदुविरेचनानां (श्रेष्ठः) (च. सू. २५)
'ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्त्तादिरोगिषु । राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः ॥
बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे । योज्यो मृद्वनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरंगुलः ॥' (च. क. ८)

६८. तुवरक

परिचय

कुल—तुवरक-कुल (बिक्सिनी-Bixineae)।

नाम—लै०-हिडनोकार्पस वाइटियाना (Hydnocarpus wightiana), सं०-तुवरक (रोगों को नष्ट करने वाला-तवीति हिनस्ति रोगान्), कटुकपित्थ (कटुरस-युक्त कपित्थ के सदृश आकृति वाला फल होने के कारण), कुष्ठवैरी (कुष्ठरोग का नाशक) हि०-चालमोगरा, पपीता; म०-कडुकवीठ, कडुकवठी; का०-गरुड़फल; बं०-चौलमुगरा; ता०-मरवत्तायि; ते०-अडविबादामु; हैल०-कोडि; फा०-विरंजमोगरा।

स्वरूप—इसका वृक्ष लगभग ४०-५० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-४-९ इञ्च लम्बा, ३-४ इञ्च चौड़ा, लट्वाकार या भालाकार होता है। पत्ते शरीफे के समान चिकने किन्तु चमड़े की तरह कड़े और किनारों पर दाँतयुक्त होते हैं। **पुष्प**-श्वेत गुच्छों में लगते हैं। **फल**-गोल, छोटे सेव के बराबर होते हैं जिन पर सूक्ष्म कोमल रोम होते हैं। **बीज**-अनेक, पीतवर्ण के, बादाम के सदृश होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट के पर्वतों पर तथा दक्षिण कोंकण और ट्रावनकोर में होता है। लंका में भी प्रचुर प्रमाण में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ४४ प्रतिशत स्थिर तैल होता है जिसमें चालमोगरिक एसिड (Chaulmugric acid), हिडनोकार्पिक एसिड (Hydnocarpic acid) तथा अल्प मात्रा में पामिटिक एसिड (Palmitic acid) होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बाह्यप्रयोग से यह कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, जतुन्घ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, रक्तोत्क्लेशक और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उष्ण होने से यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तीक्ष्ण-उष्ण होने से यह वामक, रेचक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह कटुतिक्तकषाय होने से प्रमेहनाशक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों की यह रामबाण औषध मानी जाती है। इन रोगों में इसका तैल लगाते हैं। व्रणों में विशेषतः क्षयजन्तुओं से उत्पन्न, गंडमाला, नाडीव्रण, अस्थिव्रण आदि में यह तैल लगाया जाता है। आमवात, वातरक्त आदि वेदनायुक्त रोगों में भी यह लगाते हैं। फलमज्जा की अन्तर्धूम भस्म का अञ्जन नेत्ररोगों में लेखन कर्म के लिए लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीशूल, आमवात, वातरक्त आदि विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे वेदना शान्त हो जाती है।

पाचनसंस्थान—उदर रोग और कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में मुख्यरूप से प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ, कंडू आदि चर्मविकारों में इसके तैल और चूर्ण का सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल।

मात्रा—बीजचूर्ण १-३ मा०; तैल वमन-विरेचन के लिए १ तो०; संशमन के लिए ५-१० बूँद तक क्रमशः बढ़ाकर २०-६० बूँद तक। तेल, मक्खन, घी या मलाई के साथ मिलाकर देते हैं।

विशिष्ट योग—तुवरकादि तैल।

संग्रहविधि—वर्षाऋतु के आरंभ में तुवरक के पके फलों को एकत्रित कर उनके भीतर का बीज निकाल कर सुखा ले और पूरा सूख जाने पर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को कोल्हू में पीसकर या जल के साथ पकाकर तैल निकाल ले। घड़े में इस तैल को बन्द कर १५ दिनों तक कंडों के चूर्ण में रखे, फिर निकाल, कपड़े से छानकर काचपात्र में रख ले। इस तैल को त्रिगुण खदिरक्वाथ से सिद्ध कर ले तो विशेष गुणकारी होता है।

सेवनविधि—प्रारंभ में कुष्ठरोगी को स्नेहन-स्वेदन के अनन्तर इसकी १ तोला की मात्रा पिलावे। इससे वमन और विरेचन होंगे जिनके द्वारा दोष बाहर निकल जायेंगे। इसके बाद अल्पमात्रा में नियमित रूप से कुछ काल तक सेवन कराना चाहिए। इस काल में कटु, अम्ल, लवण एवं उष्ण पदार्थों का सेवन न करे। दूध, घी तथा मधुर फलों का विशेष व्यवहार करे। औषध बन्द करने के बाद भी लगभग १५ दिनों तक रोगी मूँग का यूष और भात सेवन करे।

वक्तव्य—इस कुल के अनेक वृक्ष यथा गाइनोकार्डिया ओडोरेटा (Gynocardia odorata), टेरेक्टोजेनस कुर्जाई (Taraktogenos Kurzii) आदि आकृति एवं गुणकर्म में तुवरक के समान हैं और उनका प्रयोग भी तुवरक के नाम से व्यवहार में किया जाता है।

× × × ×

पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम्। योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्॥
वृक्षास्तुवरका येः स्यु पश्चिमार्णवभूमिषु। ·········
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम्। अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम्॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया। महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः॥
सान्तर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः क्षिप्तस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च।
पैल्लं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान्नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन॥ (सु. चि. १४)

६९. बाकुची

परिचय

कुल—शिम्बीकुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-सोरेलिया कौरिलीफोलिया (Psoralia Corylifolia) सं०-बाकुची (वायु का शमन करने वाली); कृष्णफला (काले फलों वाली), पूतिफली (फल से दुर्गन्ध आने के कारण); कुष्ठघ्नी (कुष्ठनाशक होने से), हि०-वाकुची; बावची; बं०-हावुच; पं० म० गु०-बावची; ता०-कर्पोकरिशी; ते०-भावञ्चि; अं०-पर्पल फ्लीबेन (Purple Fleabane)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप १-४ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सरल और शाखायें दृढ़ होती हैं। **पत्र**-एकान्तर १-३ इञ्च लम्बे, ईषत् गोलाकार या हृदयाकृति, किनारों पर दाँतयुक्त होते हैं। **पुष्प**-पीताभ या नीलवर्ण होते हैं। पुष्पदंड लंबा होता है जिस पर गुच्छों में १-३० पुष्प लगे रहते हैं। **फल**-कृष्णवर्ण गुच्छों में होता है। **बीज**-छोटे, कृष्णवर्ण, कोमल तथा गंधयुक्त होते हैं। बीजमज्जा श्वेत होती है। शीतकाल में पुष्प और ग्रीष्मऋतु में फल होते हैं। सावधानी से रखने पर इसका क्षुप ५-७ वर्षों तक जीवित रह सकता है।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत और लंका विशेषतः आसाम और उत्तरप्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक पीताभ उड़नशील तैल २०·१५%, एक स्थिर तैल, राल, क्षार ७½%, अलब्युमिन, शर्करा, मैंगनीज और वर्मोनिन (Vermonine) नामक क्षारतत्त्व पाया जाता है। इनमें सर्वाधिक क्रियाशील तत्त्व उड़नशील तैल है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफ और वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण एवं केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय और रक्तसंवहन को उत्तेजित करता है। शोथ को भी नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह उत्तेजक और वाजीकरण है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। बीजों में स्थित उड़नशील तैल की क्षोभक और विशिष्ट क्रिया त्वचा और श्लेष्मल कला पर होती है। श्वेत कुष्ठ पर लगाने से लाली हो जाती है और कभी कभी फोड़े भी निकल आते हैं। यह त्वचा के ऊपरी आवरण के भीतर घुसकर कार्य करता है और त्वचा के वर्ण में भी विकार नहीं लाता। इसकी विशिष्ट क्रिया त्वचा के रंगोत्पादक कोषाणुओं पर होती है जो उत्तेजित होकर रंगकण अधिक उत्पन्न करते हैं जिससे श्वित्र धीरे धीरे दूर हो जाता है।

तापक्रम—ज्वर को भी दूर करता है।

सात्मीकरण—कटुरस होने के कारण कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—महाकुष्ठ, क्षुद्रकुष्ठ, श्वित्र तथा खालित्य में इसका लेप किया जाता है और इसका तैल भी लगाया जाता है। व्रणों में इसके चूर्ण या तैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, विबन्ध में लाभकर है। कृमि, विशेषतः गण्डूपद कृमि, में सेवन किया जाता है। यकृदुत्तेजक होने से अर्श में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने से हृदय की शिथिलता तथा शोथ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह रोग में सेवन किया जाता है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्य में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह कुष्ठ, श्वित्र तथा सभी चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है। तैल का इतना ही प्रयोग हो जिससे उस क्षेत्र में लालिमा हो जाय किन्तु फोड़े न निकलें।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक होने से ज्वरोत्तर दौर्बल्य तथा पाण्डु में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल।

मात्रा—चूर्ण १-३ मा०; कृमिरोग में ४-६ मा०।

शोधन—बाकुची के बीज गोमूत्र या अदरख के रस में एक सप्ताह तक रखने से शुद्ध हो जाते हैं।

× × × ×

'बाकुची कटुतिक्तोष्णा कृमिकुष्ठकफापहा। त्वग्दोषविषकण्डूतिश्वित्रप्रशमी परा॥' (रा. नि.)
तत्फलं पित्तलं कुष्ठकफानिलहरं कटु। केश्यं त्वच्चं वमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत्॥' (भा. प्र.)

'So Far as is Known, P. Corylifoia is the only drug that has a dual action, ie. action on both Rougets' cells and the melanoblastic Cells of the Skin. In leucoderma the melanoblastic cells are not functioning Properly and their stimulation by the oil leads them to form and exude pigment wnich gradually diffuses into the decolorised areas'. Chopra.

'The oil Bowchi (oil Psoralea) Changes white skin, grey hair, rough, scaly, discoloured skin, nails, hairs etc. to normal Colour within 3 months and that it is well tried and Prescribed by eminent doctors.'

—N. C. Basu, School of tropical medicines, Calcutta.

७०. जाती

परिचय

गण—कुष्ठघ्न (च०)।

कुल—पारिजात-कुल (ओलिएसी-Oleaceae)।

नाम—लै०-जैस्मिनम ग्रैण्डिफ्लोरम (Jasminum Grandiflorum) सं०-जाती, सौमनस्यायनी (मन को प्रसन्न करने वाली); चेतिका (चेतना को प्रफुल्लित करने वाली); हृद्यगन्धा (सुन्दर गन्धवाली) हि०-चमेली; बं०-चामेली; म० गु०-चंबेली; ता०-मल्लिगाई; ते०-मल्लि; अ०-यासमीन; फा०-समन; अं०-स्पेनिश जैसमीन (Spanish Jasmine)।

स्वरूप—इसकी प्रतानिनी लता होती है। **शाखायें**-कठिन और कोणयुक्त होती हैं। **पत्र**-संयुक्त, सामान्यतः ३ जोड़े पत्रक होते हैं, अग्रभाग पर एक पत्रक होता है। **पुष्प**-श्वेतवर्ण और सुगन्धित होते हैं। **पुष्पदल**-संख्या में पाँच होते हैं। वर्षाऋतु में इसके पुष्प निकलते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ पुष्पभेद से होती हैं—(१) श्वेत और (२) पीत। पीत ज़ाति को 'स्वर्ण जाति' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पत्र में राल, वेतसाम्ल (Salicylic acid); जैस्मिनीन (Jasminine) नामक क्षारतत्त्व और कुछ कषायद्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, मृदु। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, कषाय होने से कफपित्तशामक तथा उष्ण होने से वातशामक होता है। अतः यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र मुख रोगों को नाश करता है तथा दाँतों को मजबूत बनाता है। पुष्प-सौमनस्यजनन, मेध्य एवं वाजीकरण है। इसके पत्र और मूल का क्वाथ व्रणशोधन और व्रणरोपण है। इसका मूल-वर्ण्य, वाजीकरण और वेदनास्थापन है। पत्र-कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न भी है। पत्र और पुष्प-आर्तवजनन है। इसका तैल-वातशामक और सौमनस्यजनन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्निग्धता के कारण अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका त्रिदोषज विकारों में प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चमेली का मूल उबटन में मिला कर या अकेले लगाते हैं, इससे वर्ण सुधरता है। दन्तशूल और दन्तदौर्बल्य में चमेली की पत्तियाँ चबाते हैं। मुख रोगों में पत्र का क्वाथ बना कर कुल्ला करते हैं। शिरःशूल तथा अन्य शूलों में मूल के क्वाथ का परिषेक या लेप किया जाता है। पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में इसके मूल का लेप करते हैं या तैल का अभ्यंग करते हैं। शिरःशूल तथा मानसिक दौर्बल्य, भ्रम, मूर्च्छा आदि में शिर पर इसका तैल मलते हैं। ध्वजभंग में इसकी जड़ का लेप शिश्न पर किया जाता है। कंडू, कुष्ठ आदि त्वग्दोषों में पुष्प एवं पत्र का लेप त्वचा पर करते हैं। कर्णशूल, कर्णपूय आदि में पत्र से सिद्ध तैल कान में डालते हैं। नेत्ररोगों में पुष्पों का लेप करते हैं और उसका स्वरस नेत्रों में डालते हैं। मूत्राघात एवं रजोरोध में पत्र और पुष्प का लेप बस्तिप्रदेश में करते हैं। व्रणों के शोधन एवं रोपण के लिए इसके पत्र का क्वाथ तथा तत्सिद्ध तैल लगाते हैं।

पाचनसंस्थान—उदावर्त्त, आनाह में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका क्वाथ पिलाते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध और नपुंसकता में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

सात्मीकरण—अनेक प्रकार के विषों में भी इसका सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, पुष्प।

मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०; चूर्ण-१-३ मा०।

विशिष्ट योग—जात्यादि तैल, जात्याद्य घृत, जात्यादि वर्त्ति।

× × × ×

**'जातिर्जाती च सुमना मालती राजपुत्रिका। चेतिका हृद्यगंधा च सा पीता स्वर्णजातिका॥
जातीयुगं तिक्तमुष्णं तुवरं लघु दोषजित्। शिरोऽक्षिमुखदन्तार्त्तिविषकुष्ठव्रणास्रजित्॥'** (भा.प्र.)
'मालती तुवरा तिक्ता कटूष्णा दोषनाशिनी। शिरोऽक्षिमुखदन्तार्त्तिविषकुष्ठव्रणास्रजित्॥' (कै.नि.)
'मुखपाके सिरावेधः शिरःकायविरेचनम्। कार्यञ्च बहुधा नित्यं जातीपत्रस्य चर्वणम्॥' (भा.प्र.)
'जातीपत्ररसैस्तैलं विपक्वं पूतिकर्णजित्।' (च. द.)

७१. मदयन्तिका

परिचय

कुल—मदयन्तिका-कुल (लिथरेसी-Lythraceae)।

नाम—लै०-लॉसोनिया इनर्मिस (Lawsonia inermis)। सं०-मदयन्तिका हि०-मेहँदी; म० गु०-मेंदी; मा०-मेंहदी; क०-माञ्ज, मोञ्ज; बं०-मेहेदी; ता०-ऐवणम्; ते०-क्रोम्मि; मल०-मैलाञ्चि; अ०-हिन्ना; फा०-हिना; अं०-हिना (Henna)।

स्वरूप—यह एक प्रसिद्ध गुल्मजातीय पौधा है। इसके **पत्र**-सनाय के सदृश होते

हैं जो पीसने पर लाल रंग के हो जाते हैं। **पुष्प**–गुलाब के समान सुगन्धित, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**–मटर के समान छोटे, गोलाकार होते हैं जिनके भीतर छोटे छोटे बीज रहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पत्र में रञ्जक द्रव्य १२ से १५ प्रतिशत, हेनोटैनिक अम्ल (Hennotannic acid) तथा एक हरे रंग का सुविलेय राल होता है। पुष्प में एक सुगन्धित तैल तथा बीज में भी एक तैल पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष और तिक्तकषाय होने से कफ का तथा तिक्तकषाय और शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, स्तम्भन, केश्य, वर्ण्य, दाहप्रशमन, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पुष्प मेध्य और निद्राजनन हैं।

पाचनसंस्थान—इसके बीज स्तम्भन और पत्र यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—पुष्प हृद्य तथा पत्र रक्तप्रसादन और रक्तस्तम्भन है। शोथहर भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—पुष्पों का प्रयोग ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल, संधिशोथ तथा हाथ पैर की जलन में पत्तियों का लेप करते हैं। वर्ण को सुन्दर बनाने के लिए तथा रंगने के लिए स्त्रियाँ इसका प्रयोग करती हैं। शोथ, क्षत एवं व्रणों में इसका प्रयोग करते हैं इससे शोथ उतरता, रक्त बन्द होता, वेदना शान्त होती तथा व्रण का शोधन और रोपण होता है। कुष्ठ आदि चर्मविकारों में पत्तियों का प्रलेप लाभकर है। मुख तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं। बालों को काला करने के लिए नीलिका के साथ इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य और अनिद्रा में पुष्पों का फाण्ट देते हैं।

पाचनसंस्थान—प्रवाहिका और रक्तातिसार में बीजों का कल्क तथा कामला में पत्रस्वरस देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में फूलों का फाण्ट तथा रक्तविकार और रक्तपित्त में पत्र का क्वाथ या स्वरस देते हैं। शोथ में भी पत्रस्वरस है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में पत्रस्वरस के साथ चीनी या मिश्री मिला कर देते हैं। इससे पेशाब साफ होता है, उसकी जलन कम होती है और मूत्रमार्ग का स्नेहन होता है।

त्वचा—कुष्ठ, उपदंश आदि में पत्तियों का क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में पुष्पों का फाण्ट देते हैं। इससे शिरःशूल और दाह शान्त होते हैं तथा ज्वर कम होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प, बीज।

मात्रा—स्वरस-½-१ तोला; बीज चूर्ण-१-३ माशा।

विशिष्ट योग—मदयन्त्यादि चूर्ण।

× × × ×

'मदयन्ती लघू रूक्षा कषाया तिक्तशीतला। कफपित्तप्रशमनी कुष्ठघ्नी सा प्रकीर्त्तिता॥
निहन्ति ज्वरकण्डूतिदाहासृक्पित्तकामलाः। रक्तातीसारहृद्रोगमूत्रकृच्छ्रभ्रमव्रणान्॥' (स्व०)

हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम्।
पत्रं च दद्यान्मदयन्तिकाया लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः।' (सु० चि० २५)

७२. काकोदुम्बर

परिचय

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)

नाम—लै०-फाइकस हिस्पिडा (Ficus hispida) सं०-काकोदुम्बर (कौवे के समान कृष्णवर्ण फलवाला या जंगली उदुम्बर), फल्गु (छोटे फल वाला), मलयू (मलों को दूर करने वाला), जघनेफला (वृक्ष के निम्नभाग में फल लगने से), मूलकर्कटी (जड़ के पास ककड़ी के समान फल होने से), श्वित्रभैषज्य (श्वित्ररोग में उपयोगी), काष्ठोदुम्बर (काठ के समान कठिन फल होने से) हि०-कठूमर, कठगूलर, वं०-काकडुम्वुर; म०-भुई डंबर, बोखाड़ा; गु०-ढेडडंवरो; ता०-कट्टु-अत्ति; ते०-अदावि-अत्ति; अ०-तीन बर्री; फा०-अंजीरदश्ती।

स्वरूप—यह गुल्मवत् छोटा वृक्ष होता है। इसके **पत्र**-गूलर के समान किन्तु बड़े ४-१२ इञ्च लम्बे और खुरदरे होते हैं। इनका वृन्तदेश गोलाकार होता है और पृष्ठ भाग पर रोम होते हैं। **फल**-गूलर के समान, कुछ छोटे और रोमश होते हैं जो वृक्ष के काण्डदेश में लगते हैं। फल कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर जामुन के रंग के और मधुर हो जाते हैं। **बीज**-चतुष्कोणाकार और रोमश होता है। इसका वृक्ष बहुत शीघ्र बढ़ता है और २-३ वर्षों में फल देने लगता है। ग्रीष्म से शरद् ऋतु तक पुष्प आते हैं। फल पकने में तीन मास का समय लगता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पञ्जाब, बंगाल, मध्यभारत, दक्षिण भारत और राजस्थान में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें टैनिन, मोम तथा सैपोनिन होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय और रूक्ष होने से कफ का तथा तिक्त-कषाय एवं शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप कुष्ठघ्न, व्रणशोधन एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर—पाचन संस्थान-इसका फल एवं छाल वामक, रेचक और पित्तसारक होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्त प्रसादन है तथा शोथहर है। पका फल रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—इसका पका फल स्तन्यजनन है।

त्वचा—इसका मूल एवं फल कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—छाल नियतकालिक-ज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—इसका पका फल मधुर, बल्य, वृष्य और बृंहण है। मूलत्वक् कटु पौष्टिक एवं विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, श्वित्र, किलास आदि विविध चर्मरोगों में मूलत्वक् एवं दुग्ध का लेप करते हैं। इसका दूध स्फोटजनन एवं लेखन होने से दद्रु आदि में लगाते हैं। व्रण में इसके चूर्ण या क्वाथ का प्रयोग करते हैं। गंडमाला में पका फल पीस कर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंथान—आनाह, उदर, अर्श और कामला रोगों में फलों का क्वाथ या त्वक् चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में तथा शोथ में छाल का क्वाथ देते हैं। रक्तपित्त में पक्व फल का स्वरस देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रसूता स्त्रियों में स्तन्यवृद्धि के लिए इसका पका फल सेवन कराते हैं।

त्वचा—मूल एवं कच्चे फल का कुष्ठ में प्रयोग करते हैं। सु० चि० ९ अ० में इसकी सेवन विधि इस प्रकार बतलाई गई है:—श्वित्र रोगी को गूलर और कठगूलर का गरम काढ़ा पिलाकर धूप में बैठावें। इससे श्वित्र में फोड़े उठेंगे। उनको फोड़ कर वहां चीते या हाथी का चमड़ा जला तैल में मिला कर लेप करे। इस विधि से सेवन करने पर श्वित्र अच्छा होता है।

तापक्रम—छाल का क्वाथ विषमज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका पका फल देते हैं। अग्नि मन्द रहने पर ज्वरोत्तर दुर्बलता में मूलत्वक् का चूर्ण अल्पमात्रा में देते हैं। कुक्कुर विष में चार आना भर मूलत्वक् और एक आना भर धतूर बीज को पीस कर तण्डुलोदक के साथ पान कराया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल त्वक्, फल, दूध।

मात्रा—त्वक् चूर्ण-२-५ मा०; (संशोधन के लिए); १-२ मा० (कटु पौष्टिक) फल ½-१ नग।

× × × ×

'काकोदुम्बरिका फल्गुर्मलयूर्जंघनेफला। मलयूः स्तम्भकृत्तिक्ता शीतला तुवरा जयेत्॥ कफपित्तव्रणश्वित्रकुष्ठपाण्ड्वर्शकामलाः।' (भा. प्र.)

'फल्गुस्तु तुवरा तिक्ता शीतला स्तम्भनी जयेत्। कफपित्तव्रणश्वित्रकुष्ठपाण्ड्वस्रकामलाः॥ फलं तु शीतलं स्वादु कषायं गुरु तर्पणम्। शुक्रलं मधुरं पाके स्निग्धं विष्टम्भि बृंहणम्॥ ग्राहि वातकफपित्तक्षतदाहविषास्रजित्।' (कै. नि.)

'भद्रासंज्ञोदुम्बरीमूलतुल्यं दत्त्वा मूलं चोदयित्वा मलय्वाः।
सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं स्फोटाङ्श्वित्रे पुण्डरीके च कुर्यात्॥
द्वैपं दग्धं चर्म मातंगजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः।' (सु. चि. ९)

'काकोदुम्बरमूलन्तु धुस्तूरफलकान्वितम्। पिबेत्तण्डुलतोयेन सारमेयविषापहम्॥' (वंगसेन)

७३. सैरेयक

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-१. श्वेत-बार्लेरिया कैक्रुलिया (Barleria Cacrulea)।
२. पीत- " प्रायोनाइटिस (" Prionitis)।
३. रक्त- " क्रिस्टेटा (" Cristata)।
४. नील- " स्ट्रिगोसा (" Strigosa)।

सं०-सैरेयक, सहचर, झिण्टी, हि०-कटसरैया, पियावासा; बं०-झाँटि; म०-कोरण्टा; गु०-काँटासेरियो; ता०-शेम्मुलि; ते०-मुल्लुगोरण्ट।

स्वरूप—घनी शाखा-प्रशाखाओं से युक्त यह गुल्म २-५ फुट ऊँचा होता है। इसमें बहुत से कांटे होते हैं। **पत्र**-वासा के समान, ४ इंच लम्बे और ½ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्र कोणों में लंबे, सरल और तीक्ष्णाग्र कंटक जोड़ों में होते हैं। **पुष्प**-वर्णभेद से श्वेत, पीत, रक्त और नील होते हैं। प्रत्येक बीजकोष में दो चपटे और अंडाकार बीज होते हैं।

जाति—पुष्पभेद से सैरेयक चार प्रकार का होता है। इन सभी जातियों के लैटिन नाम ऊपर दिये गये हैं। संस्कृत में भी इन जातियों के विशिष्ट नाम हैं यथा—सहचर (श्वेत), कुरण्टक (पीत), कुरण्टक (रक्त), बाण, दासी और आर्त्तगल (नील)।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण पर्वतीय प्रदेशों में अधिक होता है यथा बम्बई, मद्रास, आसाम, पञ्जाब, लंका आदि। इनमें पीत सैरेयक सर्वत्र सुलभ है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणपाचन, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न एवं केश्य है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए बलप्रद होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त, उष्ण होने से यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न है।

तापक्रम—तिक्त होने से तथा स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ और कंडू में इसके पत्र का लेप करते हैं। शोथ, विद्रधि, गंडमाला आदि में भी पत्र का लेप करते हैं। इससे सिद्ध तैल व्रणों में लगाते हैं। पत्रस्वरस दाँतों में लगाने से दन्तशूल दूर होता है। पत्रस्वरस से सिद्ध तैल पालित्य रोग में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीदौर्बल्य की अवस्था में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों, वातरक्त, उपदंश आदि में प्रयुक्त होता है। सर्वांगशोथ में भी लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, श्लैष्मिक कास आदि में विशेष कर बच्चों में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—श्वेत सैरेयक का पत्र स्वरस जीरकचूर्ण के साथ शुक्रमेह में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका मूल मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में यह अतीव लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः वातश्लैष्मिक में इसका पत्रस्वरस प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—विष की अवस्थाओं में भी इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, विशेषतः पत्र।

मात्रा—स्वरस १-२ तो०; क्वाथ ५-१० तो०।

× × × ×

'सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका। सहाचरः सहचरः स च झिण्ट्यपि कथ्यते॥
कुरण्टकोऽत्र पीते स्याद्रक्ते कुरबकः स्मृतः नीले बाणा द्वयोरुक्तो दासी चार्त्तगलश्च सः॥
सैरेयः कुष्ठवातास्त्रकफकण्डुविषापहः। तिक्तोष्णो मधुरोऽनम्लः सुस्निग्धः केशरंजनः॥' (भा. प्र.)

७४. चक्रमर्द

गण—ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपक्रम—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०-कैसिआ टोरा (Cassia Tora); सं०-चक्रमर्द (दद्रु को नष्ट करने वाला); दद्रुघ्न (दद्रुनाशक), एडगज (आकार में छोटा होने से-एडो मेष एव गजो यस्य); मेषलोचन (मेष के नेत्र की आकृति के पुष्प वाला); प्रपुन्नाड (लेखन

होने के कारण पुरुष को दुर्बल बनाने वाला-प्रकर्षेण पुमांसं नाडयति भ्रंशयति) पद्माट (कमल के समान जलप्रिय-वर्षाऋतु में उत्पन्न होने के कारण), चक्री (गोलाकार बीज होने से); हि०-चकवड़, पवाँड़, बं०-चावुका; म०-टाकला; गु०-कुवाडियो; ता०-तघरै; ते०-तगिरिसे; मल०-तघर; अ०-कुल्व; फा०-संगेसबूया; अं०-रिंगवर्म प्लाण्ट (Ringworm plant)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप २-५ फुट ऊँचा दुर्गन्धयुक्त होता है। **पत्र**-संयुक्त, पत्रक तीन जोड़े, मेथी के समान १-१½ इंच लवे होते हैं। पत्र रात में परस्पर मिल जाते हैं। **पुष्प**-कक्षीय पीतवर्ण होते हैं। **फल**-शिम्वी लंबी, पतली ४-६ इंच की चतुष्कोण होती है। **बीज**-प्रत्येक शिम्वी में २०-३०, वेलनाकार, धूसरवर्ण के होते हैं। वर्षाकाल में पुष्प और शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः उष्ण प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में क्राइसोफेनिक अम्ल (Chrysophanic acid) के समान एक ग्लुकोसाइड होता है। पत्र में कैथार्टीन के समान एक रेचक तत्त्व, लाल रंजक द्रव्य और कुछ खनिज द्रव्य होते है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

ये गुण बीजों के हैं। पत्र मधुर और शीतवीर्य होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप लेखन, कुष्ठघ्न और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडियों के लिए यह बलप्रद है।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से अनुलोमन, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है। इसका पत्र सनाय की तरह रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका पत्र हृद्य और रक्तप्रसादन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न, ओजोवर्धक और मेदोहर (लेखन) है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। पत्र का प्रयोग वातपैत्तिक रोगों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ आदि त्वचा के समस्त विकारों तथा वर्ण के विकारों में बीजों का लेप करते हैं। विषों में भी लेप किया जाता है। अर्श में भी लगाते हैं। बीजों को दही या कांजी में सड़ा कर या नींबू के रस में घिस कर कुष्ठ में लेप करते हैं। विशेषतः यह दद्रु में लाभकर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—विबन्ध, गुल्म, कृमि और अर्श रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और हृद्रोग में सेवन कराते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ में इसकी पत्तियों का साग खिलाते हैं और उसका स्वरस देते हैं। बीजचूर्ण का भी प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—अनेक विषों नें, मेदोरोग में तथा औपसर्गिक रोगों के प्रतिषेधार्थ प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, पत्र।

मात्रा—बीज चूर्ण १-३ मा०; पत्रस्वरस ½-१ तो०।

विशिष्ट योग—दद्रुघ्नी वटी।

× × × ×

'चक्रमर्दः कटूष्णः स्यात् मेदोवातकफापहः। दद्रुकण्डूहरः कान्तिसौकुमार्यकरो मतः॥' (ध.नि.)
'चक्रमर्दः प्रपुन्नाडो दद्रुघ्नो मेषलोचनः। पद्माटः स्यादेडगजः चक्री पुन्नाट इत्यपि॥
चक्रमर्दो लघुः स्वादू रूक्षः पित्तानिलापहः। हृद्यो हिमः कफश्वासकुष्ठदद्रुकृमीन् हरेत्॥
हन्त्युष्णं तत्फलं कुष्ठकण्डूदद्रुविषानिलान्। गुल्मकासकृमिश्वासनाशनं कटुकं स्मृतम्॥ (भा.प्र.)

७५. यूथिपर्णी

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-राइनाकैन्थस कॉम्युनिस (Rhinacanthus Communis) सं०-यूथिकपर्णी; हि०-पालकजुही; बं०-जोईपाणी; म०-गजकर्णी; गु०-गजकरण; ता०-नागमल्लि; ते०-नेगामुलि; फा०-गुलवगला।

स्वरूप—इसका गुल्म ४-५ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**—सरल, अनेक शाखाओं से युक्त होता है। काण्डत्वक् भस्मवर्ण की होती हैं। **पत्र**—अभिमुख, भालाकार २-४ इञ्च लंबे, १-२ इञ्च चौड़े होते हैं जिनके मसलने से दुर्गन्ध आती है। **पुष्प**—श्वेत, गुच्छों में होते हैं। बीजकोष में ४ गोलाकार बीज होते हैं। दिसम्बर से अप्रिल तक पुष्प-फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः दक्षिणभारत, उड़ीसा, बंगाल, छोटा नागपुर में होता है। लंका में भी पर्याप्त मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल और छाल में राइनाकैन्थीन (Rhinacanthine) नामक एक लाल रालयुक्त कार्यकारी तत्त्व होता है जिसकी क्रिया क्राइसोफेनिक एसिड (Chrysophanic acid) के समान होती है

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष तथा कटुतिक्त होने से कफ का एवं उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—इसका मूल लेखन, स्फोटजनन और कुष्ठघ्न (विशेषतः दद्रुघ्न) होता है।

पाचनसंस्थान—यह कृमिघ्न है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने से रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से उत्तेजक एवं वाजीकरण है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके मूल को जल, नीबू के रस या चूने के पानी में पीसकर दाद में लेप करते हैं। इसके पत्र का लेप व्यङ्ग, न्यच्छ आदि क्षुद्र रोगों में किया जाता है। कुष्ठ में इसके मूल एवं पत्र का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका मूल एवं पत्र का कल्क चूर्णोदक के साथ कृमिरोग में लेते हैं। बीजों का भी सेवन कराते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—इसके मूल के साथ क्षीरपाक करके कामोत्तेजना बढ़ाने के लिए देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ रोगों में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

सात्मीकरण—इसके मूल का प्रयोग सर्पविष में किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—पत्रस्वरस ½-१ तो०; मूलचूर्ण ४-१२ रत्ती, बीजचूर्ण ६-१२ रत्ती।

उदर्दप्रशमन

७६. तिन्दुक

परिचय

गण—उदर्दप्रशमन (च०) न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—तिन्दुक-कुल (एबिनेसी-(Ebenaceae)।

नाम—लै०-डायोस्पाइरस इम्ब्रिऑप्टेरिस (Diospyros Embryopteris) सं०-तिन्दुक, स्फूर्जक, कालस्कन्ध (काले तने वाला), असितकारक (कृष्णवर्ण उत्पन्न करने वाला), हि०-गाभ; तेंदू; बं०-गाव; म०-टेंबुरणी; गु०-टींबरवो; ता०-पानिचिका; ते०-तुमिक; अ०-फा०-आबनूसे हिन्दी; अं०-इण्डियन पर्सिमन (Indian persimon)।

स्वरूप—यह मध्यप्रमाण का वृक्ष अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त और सघन सदाहरित पत्रों से आच्छादित होता है जिसके कारण इसकी छाया बड़ी घनी होती है। काण्डत्वक्-गाढ़ा धूसरवर्ण का या कृष्णवर्ण का होता है। काण्डसार कठिन और कृष्णवर्ण होता है जिसका फर्नीचर बनता है। **पत्र**-हरे, स्निग्ध, आयताकार; ५-८ इञ्च लंबे, १½-२ इञ्च चौड़े और दो पंक्तियों में क्रमबद्ध होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, सुगंधित होते हैं।

फल–गोल, लड्डू के समान कठिन कच्चे में मुरचई रंग के और अति कषाय तथा पकने पर पीले रंग के और मधुर हो जाते हैं। प्रत्येक फल में वृक्काकृति शरीफा के समान ६–८ बीज होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—फलों में कषाय द्रव्य (Tannin), पेक्टीन (Pectin) और ग्लुकोज़ (Glucose) होते हैं। कच्चे फल, छाल और पुष्प में प्रचुर परिमाण कषाय द्रव्य होता है इतना कि उसके खाते ही गला घुटने सा लगता है। फलों में गैलोटैनिक अम्ल के समान एक कषायाम्ल १२·८ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

इसका पका फल मधुर और गुरु होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष एवं कषाय होने से कफ तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—यह कषाय होने से स्तम्भन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन एवं रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—यह स्तम्भन है।

त्वचा—यह उदर्द, कुष्ठ आदि चर्मविकारों को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह सर्पविषनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तजन्य रोगों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी त्वचा का लेप विस्फोटों और ग्रन्थियों पर करते हैं। सद्योव्रण पर फल का लेप करने से रक्त बन्द हो जाता है और उसका रोपण शीघ्र होता है। फल के क्वाथ का गंडूषधारण मुखपाक, उपजिह्विकाशोथ आदि में करते हैं। इसके क्वाथ की योनिवस्ति श्वेतप्रदर में देते हैं। इससे स्राव और गर्भाशय की श्लेष्मलकला का शोथ दूर हो जाता है। किसी अंग से रक्तस्राव होने पर छाल का चूर्ण छिड़कते हैं इससे रक्त शीघ्र बन्द हो जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल या फल का क्वाथ प्रवाहिका और अतिसार में उपयोगी है। इन रोगों में बीज तथा बीज तैल का भी प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त में इसका क्वाथ देते हैं और पके फल का सेवन कराते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में इसकी छाल का घनसत्त्व लेते हैं या उसकी वटी बनाकर मुँह में चूसते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल का क्वाथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रमेह, शीघ्रपतन में उपयोगी है। स्त्रियों के रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में भी लाभकर है।

त्वचा—यह कुष्ठ और उदर्द में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में छाल का क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—इसकी छाल का क्वाथ मधु मिलाकर विषमज्वरों में देते हैं।

सात्मीकरण—अनेक वैद्य इसका सर्पविष में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, बीज, बीजतैल।

मात्रा—क्वाथ ४-८ तो०; बीजचूर्ण १-३ माशे; तैल १०-२० बूँद।

वक्तव्य—इसकी त्वचा व्यापार में चमड़ा रंगने के काम में भी आती है।

× × × ×

'तिन्दुकः स्फूर्जकः कालस्कन्धश्चासितकारकः।
स्यादामं तिन्दुकं ग्राहि वातलं शीतलं लघु॥
पक्कं पित्तप्रमेहास्रश्लेष्मघ्नं मधुरं गुरु।' (भा. प्र.)

७७. प्रियाल

परिचय

गण—उदर्दप्रशमन, श्रमहर (च०), न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-बुकनानिआ लैटिफोलिया (Buchanania Latifolia); सं०-प्रियाल, खरस्कन्ध (खुरदरे काण्डवाला); बहुलवल्कल (मोटी छाल वाला); तापसेष्ट (वन में होने के कारण तपस्वियों का प्रिय), सन्नकद्रु (झुका हुआ वृक्ष), धनुष्पट (इसकी छाल से धनुष का कपड़ा बनाते हैं), चार; हि०-चिरौंजी; बं०-चिरोंगी; म०, गु०-चारोली; पं०-चिरोली; ता०-करका; ते०-चारमामिडि; अं०-कुडापा अलमॉण्ड (The Cuddapa almond)।

स्वरूप—इसका वृक्ष ४०-५० फीट ऊँचा होता है। **त्वक्**-१ इञ्च मोटी धूसरवर्ण होती है। **पत्र**-६-१० इञ्च लम्बे, ५-६ इञ्च चौड़े, नोंकदार, कठिन और कोमल-रोमयुक्त होते हैं। पुष्पमञ्जरी ऊपर के भाग में मन्दिर के शिखर के सदृश होती है। **पुष्प**-शाखाग्रलग्न, नीलाभ श्वेत, छोटे होते हैं। **फल**-गोल, कुछ चपटे, कृष्णवर्ण, मांसल और स्वाद में मधुराम्ल होते हैं, फल के भीतर की गिरी छोटी, पाण्डुवर्ण और स्निग्ध होती है। फल और फल की गिरी खाई जाती है। फरवरी मास में पुष्प और मार्च में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पार्वत्य प्रदेशों में विशेष होता है। हिमालय, मध्यभारत, दक्षिणभारत, उड़ीसा, छोटा नागपुर और बर्मा के निचले पहाड़ों पर अधिक मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें मांसतत्त्व २८ प्रतिशत, स्टार्च २३ प्रतिशत, सूत्र और क्षार ३·५ प्रतिशत होते हैं। बीजमज्जा में ५८ प्रतिशत स्थिर तैल होता है जिसे 'चिरौंजी का तेल' कहते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, सर। **रस**—मधुर

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध, गुरु और मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, वर्ण्य, शोथहर और केशरञ्जन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए बलप्रद है।

पाचनसंस्थान—यह शीत होने से तृष्णाशामक तथा स्निग्ध और गुरु होने से दुर्जर, विष्टम्भी, सारक और आमदोष को बढ़ाने वाला होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन और हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल एवं मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और वाजीकर है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न, दाहप्रशमन और उदर्दप्रशमन है।

सात्मीकरण—स्निग्ध-मधुर होने से बल्य और बृंहण है।

तापक्रम—ज्वरघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में इसका उद्वर्त्तन करते हैं। झांई वगैरह को दूर करने के लिए मुख पर इसका लेप करते हैं। चिरौंजी का तैल रसग्रन्थियों की वृद्धि होने पर लगाते हैं। पालित्य रोग में भी चिरौंजी का तैल सिर में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि, शिरःशूल, मूर्च्छा आदि रोगों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—तृष्णारोग और विबन्ध में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार तथा हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—खाँसी में चिरौंजी की पेया बना कर सेवन कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह, उष्णवात आदि में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य और क्लैब्य में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ, दाह, उदर्द आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्यदौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर में यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक् और बीजमज्जा।

मात्रा—त्वक् क्वाथ-५-१० तोला; बीजमज्जा-१-२ तोला।

प्रियालस्तु खरस्कन्धश्चारो बहुवल्कलः। राजादनस्तापसेष्टः सन्नकद्रुर्धनुष्पटः॥
चारः पित्तकफास्रघ्नस्तत्फलं मधुरं गुरु। स्निग्धं सरं मरुत्पित्तदाहज्वरतृषापहम्॥
प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः। हृद्योऽतिदुर्जरः स्निग्धो विष्टम्भी चामवर्धनः॥'
(भा. प्र.)

'वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम्। प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः॥
(सु. सू. ४६)

गुरूष्णस्निग्धमधुराः......बलप्रदाः। वातघ्नाः बृंहणाः वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः॥
प्रियालमेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः'।' (च. सू. २७)
'प्रियालतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम्। हितमिच्छन्ति नात्यौष्ण्यात् संयोगे कफपित्तयोः॥'
(च. सू. २७)

तृतीय अध्याय

रक्तवह संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

हृद्य

७८. अर्जुन

गुण—कषायस्कन्ध, उदर्दप्रशमन (च०); न्यग्रोधादि गण; सालसारादि गण (सु०)

कुल—हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रेटेसी-combretaceae)

नाम—लै०-टर्मिनेलिया अर्जुन (trminalia Arjuna); सं०-अर्जुन, धवल (बाह्यत्वक् श्वेत होने के कारण), ककुभ (विस्तृत होने के कारण); इन्द्रद्रु (बड़ा वृक्ष होने से); वीरवृक्ष (काण्ड दृढ होने से); नदीसर्ज (आनूपदेश में अधिक और शालवृक्ष के सदृश होने के कारण), हि०-अर्जुन, काहू, कहुआ; म०-अर्जुनसादड़ा; गु०-अर्जुन; पं०-जुमरा; ता०-मरुतै; ते०-तेल्लमद्दि; अं०-अर्जुन (Arjuna)

स्वरूप—इसका बड़ा वृक्ष लगभग ६०-८० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सरल और काण्डत्वक् बाहर से सफेद और चिकनी तथा भीतर से कोमल, स्थूल और रक्तवर्ण होती है। **पत्र**-संयुक्त, अमरूद के सदृश होते हैं जिनमें पत्रक जिह्वाकार प्रतिपत्र ४-६ इञ्च लम्बे और ३-४ इञ्च चौड़े १०-१५ जोड़े और एक शीर्ष भाग में होता है—पत्रवृन्त में दो अर्बुद होते हैं। **पुष्प**-श्वेत या पीत पुष्पदंड के चारों ओर लगे रहते हैं। **फल**-कमरख के सदृश किन्तु आकार में छोटा और ५-७ पक्षवाला होता है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं और शीत ऋतु में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की तराई, बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश और बर्मा में विशेषतः देखा जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में कैल्शियम कार्बोनेट ३४%, कैल्शियम के अन्य लवण ९%, तथा कषाय द्रव्य (टैनिन) १६% रहता है। इनके अतिरिक्त अल्युमिनियम, मैगनीशियम, एक सेन्द्रिय अम्ल, रंजक पदार्थ, शर्करा आदि होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत
प्रभाव—हृद्य

कर्म

दोषकर्म—कषाय, लघु, रूक्ष होने से यह कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कषाय होने से रक्तस्तम्भन, सन्धानीय और व्रण-रोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—इससे हृदय की पोषण क्रिया अच्छी होती है, हृत्पेशी को शक्ति प्राप्त होती है जिससे हृदय का स्पन्दन ठीक और सबल होता है तथा स्पन्दन की संख्या भी कम होती है। इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का संकोच भी होता है जिससे रक्तभार बढ़ता है। इस प्रकार इससे हृदय सशक्त और उत्तेजित होता है। यह रक्तप्रसादन तथा रक्तस्तम्भन भी है। इसमें स्थित कषाय रस तथा खटिक के लवण रक्तस्तम्भन में सहायक होते हैं। इससे रक्तवाहिनियों (केशिकाओं) के द्वारा होने वाले रस का स्राव भी कम होता है जिससे यह शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—कषाय होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—कषाय होने से यह मूत्रसंग्रहणीय और शामक है।

प्रजननसंस्थान—यह स्तम्भन है।

त्वचा—त्वचा के विकारों को दूर करता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न भी है।

सात्मीकरण—यह कषाय होने से सन्धानीय, मेदोहर, विषघ्न और हृदय को पुष्ट करने के कारण वल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव रोकने के लिए तथा व्रणों में इसके स्वरस या चूर्ण का प्रयोग करते हैं। अस्थिभग्न में इसकी छाल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन और रक्तरोधक होने से रक्तातिसार, रक्तार्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य होने से हृद्रोग, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में सेवन कराते हैं। शोथरोग में भी प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह क्षयज कास और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। इससे रक्त आना बन्द होता है। वक्ष का दाह शान्त होता है और खाँसी भी बन्द होती है। इसकी छाल के चूर्ण को वासापत्र-स्वरस से भावित कर मिश्री, गोघृत और मधु के साथ सेवन करने से क्षयज कास दूर होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेह में उपयोगी है। पूयमेह में भी इसका प्रयोग करते हैं इससे मूत्र का दाह शान्त होता है और मूत्र निकलने में कष्ट नहीं होता।

प्रजननसंस्थान—अर्जुन की छाल और श्वेत चन्दन का क्वाथ शुक्रमेह में देते हैं। स्त्रियों के रक्तप्रदर और श्वेतप्रदर में भी लाभकर है।

त्वचा—कंडू आदि चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्ण ज्वर में सेवन कराने से ज्वर शान्त होता है और बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—यह कषाय, रूक्ष होने से मेदोरोग में व्यवहृत होता है। सन्धानीय होने से अस्थिभग्न में इसकी छाल का सेवन दूध के साथ कराते हैं। विषों में तथा सामान्य दौर्बल्य (विशेषतः रक्तभार की कमी से उत्पन्न) में भी प्रयुक्त होता है।

प्रयोग-विधि—विशेषतः इसकी त्वचा से सिद्ध दुग्ध का प्रयोग लाभकर होता है। इसके अतिरिक्त स्वरस, क्वाथ, घृत और चूर्ण का भी प्रयोग करते हैं। क्षीरपाक करने से अर्जुन की रूक्षता दूर हो जाती है तथा दुग्ध का कफकारित्व कम हो जाता है।

प्रयोज्य-अंग—त्वक्।

मात्रा—क्षीरपाक में-½-१ तोला; स्वरस-१-२ तोला; क्वाथ-५-१० तोला; चूर्ण-१-३ माशा।

विशिष्ट योग—ककुभादि चूर्ण, अर्जुनारिष्ट, अर्जुनघृत।

वक्तव्य—अर्जुन के कर्मों के सम्बन्ध में प्राचीन और नवीन आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। इस दिशा में अभी अनुसन्धान शेष है।

× × × ×

'ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्त्तितः। इन्द्रद्रुर्वीरवृक्षश्च वीरश्च धवलः स्मृतः॥
ककुभः शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषास्रजित्। मेदोमेहव्रणान् हन्ति तुवरः कफपित्तकृत्॥'
(भा. प्र.)

'अर्जुनस्य त्वचा सिद्धं क्षीरं योज्यं हृदामये।
सितया पञ्चमूल्या वा बलया मधुकेन वा॥
घृतेन दुग्धेन गुडाम्भसा वा पिबन्ति चूर्णं ककुभत्वचो ये।
हृद्रोगजीर्णज्वररक्तपित्तं हत्वा भवेयुश्चिरजीविनस्ते॥' (च. द.)
'भग्नः पिबेत्त्वक् पयसाऽर्जुनस्य गोधूमचूर्णं सघृतेन वाथ।' (च. द.)

७९. कर्पूर

परिचय

कुल—कर्पूर-कुल (लॉरेसी-Lauraceae)।

नाम—लै०-सिनेमोमम् कैम्फरा (Cinnamomum Camphora); सं०-कर्पूर (कर् चासौ पूरश्च-जो रोगों को नष्ट कर शरीर स्वस्थ रक्खे); घनसार (ठोस सारभाग); चन्द्र (चन्द्रमा के समान श्वेत और शीत होने से); हिमाह्व (बर्फ के समान श्वेत और शीत होने से); हि०, म०, गु०-कपूर; बं०-कर्पूर; ता०, ते०-कर्पूरम्; अ०-काफूर; फा०-कापूर; अं०-कैम्फर (Camphor)।

स्वरूप—इसके वृक्ष ३०-४० फीट ऊँचे सदाहरित होते हैं। **त्वचा** ऊपर से खुरदरी और भीतर चिकनी होती है। **पत्र** एकान्तर या अभिमुख, पीताभ हरितवर्ण तेजपत्र के

सदृश होते हैं। **पुष्प**—हरिताभ पीतवर्ण के मंजरियों में होते हैं। **फल**—मटर के समान गुच्छों में होते हैं। वृक्ष से कपूर की सी गंध आती है। वसन्त ऋतु में पुष्प और ग्रीष्म में फल लगते हैं। एक वृक्ष से ४-५ सेर कर्पूर प्राप्त होता है।

जाति—कर्पूर देशभेद, निर्माणभेद तथा वर्णभेद से अनेक प्रकार का होता है।

(क) **देशभेद से**:—उत्पत्तिस्थान के भेद से कर्पूर तीन प्रकार का होता है:—

(१) **भीमसेनी कपूर**—इसे बोर्निओ कैम्फर या सुमात्रा कैम्फर (Borneo or sumatra camphor) भी कहते हैं क्योंकि यह बोर्नियो और सुमात्रा द्वीपों में अधिकांश मिलता है। इसका वृक्ष शाल-कुल (डिप्टेरोकार्पी-Dipterocarpae) का है और इसका लैटिन नाम ड्रायोबैलेनाप्स एरोमेटिका (Dryobalanops aromatica) है। इसके वृक्ष बड़े होते हैं जिनके काण्ड में अवकाश या क्षत होने पर निर्यास एकत्रित हो जाता है। यही कर्पूर है। वृक्ष से एक प्रकार का तैल भी प्राप्त होता है जिसे कर्पूर तैल कहते हैं।

(२) **जापानी कपूर**—इसे चीनी कपूर भी कहते हैं। इसका लैटिन नाम सिनेमोमम कैम्फेरा है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है।

(३) **भारतीय कपूर**—यह भारत के देहरादून, आदि स्थानों में होता है। इसका क्षुप तुलसी के समान होता है तथा इसकी पत्तियों से तीक्ष्ण सुगन्ध आती है। इसे 'कपूरी तुलसी' भी कहते हैं। यह तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae) का है तथा इसका लैटिन नाम ऑसिमम किलिमैण्ड्सकैरिकम (Ocimum kilimandscharicum) है।

(ख) **निर्माण भेद से**:—निघण्टुकारों ने कपूर दो प्रकार का बतलाया है—१. पक्व, २. अपक्व। पक्व कर्पूर वह है जो कृत्रिम रूप से पाकविधि द्वारा निर्मित किया जाता है। इसकी निर्माणविधि इस प्रकार है:—इसके मूल, कांड तथा शाखाओं को बन्द बर्तन में जिसमें कुछ दूर तक पानी भरा रहता है इस ढंग से रखते हैं कि उनका संपर्क जल से न रहे। पात्र के नीचे आग जलाई जाती है। ताप के कारण उन वृक्षांगों से उड़कर कपूर ऊपर के ढक्कन में जम जाता है। उसे पृथक् कर ऊर्ध्वपातन विधि से शुद्ध कर लेते हैं। यही पक्व कर्पूर है। यह स्वच्छ स्फटिकीय या चूर्णरूप में मिलता है। गन्ध तीक्ष्ण होती है। इसका सापेक्ष गुरुत्त्व ०·९९५ है। ताप से यह ज्वलनशील एवं उड़नशील है। यह जल में तैरता है।

अपक्व कर्पूर वह है जो पाकक्रिया के बिना ही वृक्ष के कोटरों में प्राकृतिक रूप से सञ्चित होता है। यह जल में डूब जाता है। पक्व कर्पूर की अपेक्षा अपक्व कर्पूर उत्कृष्ट माना जाता है।

वक्तव्यः—आजकल रासायनिक प्रक्रिया से कृत्रिम कर्पूर भी बनता है।

(ग) **वर्णभेद से**—यूनानी वैद्यों ने वर्णभेद से कपूर तीन प्रकार का माना है:—

१. **रियाही**—यह रक्ताभ श्वेत और प्राकृतिक होता है। यह आयुर्वेदीय निघण्टुकारों का अपक्व कर्पूर है जिसे भीमसेनी कपूर कहते हैं।

२. **कैसूरी**—यह श्वेत, उज्ज्वल और स्तरयुक्त होता है। इसे 'फार्मोसा कैम्फर' भी कहते हैं। यह अपक्व कर्पूर है।

३. **काफूर मोती**—यह मृत्तिकावर्ण होता है तथा पाकविधि के द्वारा कृत्रिम रूप से प्राप्त होता है। यह पक्व कर्पूर है। इसे 'ब्लूमिया कैम्फर' (Blumea Camphor) भी कहते हैं।

भौतिक गुणधर्म—यह श्वेतवर्ण, पारदर्शक स्फटिकाकार या कणों के रूप में मिलता है। इसकी गन्ध तीक्ष्ण और विशिष्ट होती है। १ भाग कपूर ७०० भाग जल, १ भाग सुरासार (९०% अलकोहल), ४ भाग जैतून का तेल, डेढ़ भाग तारपीन का तेल और ¼ भाग क्लोरोफार्म में घुल जाता है। ईथर में यह अतिशीघ्रता से घुलता है। ३ भाग कपूर, १ भाग कार्बोलिक अम्ल; तथा २ भाग कपूर, १ भाग क्लोरल हाइड्रेट के साथ मिलाकर रगड़ने से द्रव बन जाता है। इसके अतिरिक्त, कपूर को पिपरमिण्ट (मेन्थोल), यवानीसत्त्व (थायमल), फेनोल, नेफ्थोल, सैलोल या सैलिसिलिक एसिड में से किसी एक के साथ मिलाने से द्रव बन जाता है।

उत्पत्तिस्थान—भीमसेनी कपूर बोर्निओ और सुमात्रा द्वीपों में, जापानी कपूर चीन, जापान, फार्मोसा आदि में तथा अल्पप्रमाण में भारत के देहरादून, नीलगिरि, कलकत्ता आदि स्थानों में और भारतीय कपूर देहरादून के आस-पास पर्वतीय स्थानों एवं उद्यानों में प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म—तिक्त होने से कफ का, मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शामक है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप तीक्ष्ण होने से कोथप्रशमन, रक्तोत्क्लेशक, वेदनास्थापन और चक्षुष्य है। स्थानीय नाडियों को यह पहले उत्तेजित और बाद में अवसादित करता है जिससे शैत्य का अनुभव होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अल्पमात्रा में मेध्य और वेदनास्थापन है। मद्य के समान यह प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं को पहले उत्तेजित और बाद में अवसादित करता है इसलिए आक्षेपहर भी है। इससे श्वसन और रक्तसंचालक केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं।

पाचनसंस्थान—सुगन्धित होने से यह मुखदौर्गन्ध्यनाशक और तिक्त होने से मुखशोधक है। मुख में रखने पर पहले ठंढक और बाद में उष्णता का अनुभव होता है। यह मुखगत रक्तसंवहन, लालास्राव एवं कफनिःसारण को बढ़ा देता है। अतएव यह रुचिवर्धक है। वातपित्तशामक होने से तृष्णा को शान्त करता है। यह आमाशयगत रक्तसंवहन को बढ़ाने तथा आमाशयिक पाचक रस के स्राव की वृद्धि करने के कारण दीपन-पाचन है। यह परिसरण गति को बढ़ाता एवं संकोचक पेशियों को प्रसारित करता है, अतः अनुलोमन है। अन्त्र में इसकी जन्तुघ्न एवं आक्षेपहर क्रिया होती है। अतिमात्रा में यह तीक्ष्ण होने के कारण आमाशय पर लेखनकर्म करता है तथा अरुचि, हृल्लास एवं वमन होने लगते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक, हृदयसंरक्षक एवं रक्तवाहिनीसंकोचक अतः रक्तभारवर्धक है। हृदय तथा रक्तसंवहन पर इसकी क्रिया किस प्रकार होती है इसका

अभी ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका है। फिर भी ऐसा समझा जाता है कि यह हृत्पेशी को उत्तेजित करता है तथा अवसादित या अनियमित अवस्था में हृदय की रक्षा करता है। इससे त्वचा की रक्तवाहिनियों का प्रसार होता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासप्रणालियों की श्लेष्मल कला का रक्तसंवहन बढ़ा देता है जिसके कारण यह कफ का स्राव बढ़ा देता है और कफ ढीला होकर आसानी से निकल जाता है। यह कफनिःसारक, कासहर, श्वासहर तथा कण्ठ्य है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्कों से उत्सर्ग होने से कारण यह उन्हें उत्तेजित करता है और मूत्र अधिक आता है।

प्रजननसंस्थान—यह अल्पमात्रा में देने पर वाजीकरण (कामोत्तेजक) किन्तु अधिक मात्रा में कामावसादक होता है। यह स्तन्यशमन भी है।

त्वचा—यह त्वचा की रक्तवाहिनियों को प्रसारित करता है तथा स्वेदग्रन्थियों को उत्तेजित करता है। इस कारण स्वेदजनन और दाहप्रशमन है।

तापक्रम—यह स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लघु और तीक्ष्ण होने से लेखन है। विषघ्न भी है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, फुफ्फुस और वृक्क के द्वारा होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग वात, पित्त एवं कफ तीनों दोषों से उत्पन्न रोगों में किया जाता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—यह मलहर के रूप में व्रणों में प्रयुक्त होता है। अनेक तैलों में मिलाकर आमवात, संधिशूल तथा कास, पार्श्वशूल, न्यूमोनिया आदि में अभ्यंग करते हैं। विचर्चिका आदि चर्मरोगों में विविध औषधों के साथ मिलाकर अवचूर्णन करते हैं। पिपरमिण्ट आदि के संयोग से द्रावित कर्पूर नाडीशूल में स्थानिक वेदनाहर के रूप में लगाते हैं। नेत्ररोगों में अञ्जनों में प्रयुक्त होता है। दन्तमंजन और द्रव के रूप में दन्तपूय और दन्तशूल में देते हैं। जीर्ण प्रतिश्याय में नस्य भी देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कदौर्बल्य, वातव्याधि, अपतन्त्रक, कम्प आदि आक्षेप-प्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह मुखरोगों में प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त, अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान, अतिसार और विसूचिका और वृक्करोग में यह प्रशस्त औषध है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयशैथिल्य में इसका प्रयोग करते हैं। सन्निपातज्वरों में हृदय की रक्षा के लिए यह उपयुक्त है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं कंठरोगों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और जन्तुघ्न होने से मूत्रकृच्छ्र और पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्यरोग में यह दिया जाता है। अधिक मात्रा में अति कामोत्तेजना को शान्त करने के लिए दिया जाता है। स्तन्य का स्राव कम करने के लिए स्तनों पर इसका लेप करते हैं और खिलाते भी हैं।

त्वचा—यह दाह और चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—दाहरोग में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—लेखन होने से मेदोरोग में दिया जाता है। अनेक आभ्यन्तर एवं बाह्य विषों में यह लाभकर होता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास (सत्त्व)।

मात्रा—१–३ रत्ती।

विशिष्टयोग—कर्पूर रस, कर्पूरासव, अर्क कपूर, अमृत बिन्दु।

प्रयोगविधि—यह चीनी के साथ या दूध में मिलाकर दिया जाता है इससे इसका तिक्तरस आवृत हो जाने से खाने में सुविधा हो जाती है और माधुर्य से कुछ तीक्ष्णता भी कम हो जाती है।

तीव्र विषलक्षण—अधिक मात्रा में कर्पूर लेने पर कभी कभी तीव्र विष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं यथा उदरशूल, हृल्लास, छर्दि, भ्रम, दृष्टिमांद्य, प्रलाप, आक्षेप, नीलिमा, पक्षाघात, अवसाद, मूत्राघात और संन्यास और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

जीर्ण विषलक्षण—अधिक दिनों तक सेवन करते रहने से तन्द्रा, दौर्बल्य, रक्ताल्पता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—विषलक्षणों के उत्पन्न होते ही वमन, आमाशय-प्रक्षालन तथा विरेचन के द्वारा संशोधन करना चाहिए। उसके बाद उष्ण एवं उत्तेजक द्रव्यों यथा कुपीलु, कस्तूरी, अंबर, जुन्दबदेस्तर आदि का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'पुंसि क्लीबे च कर्पूरो हिमाह्वो हिमवालुकः। घनसारश्चन्द्रसंज्ञो हिमनामापि स स्मृतः॥
कर्पूरः शीतलो वृष्यः चक्षुष्यो लेखनो लघुः। सुरभिर्मधुरस्तिक्तः कफपित्तविषापहः॥
दाहतृष्णास्यवैरस्यमेदोदौर्गन्ध्यनाशनः। कर्पूरो द्विविधः प्रोक्तः पक्वापक्वप्रभेदतः॥
पक्वात् कर्पूरतः प्राहुरपक्वं गुणवत्तरम्।
चीनसंज्ञस्तु कर्पूरः कफक्षयकरः स्मृतः। कुष्ठकण्डूवमिहरस्तथा तिक्तरसश्च सः॥' (भा. प्र.)
'कर्पूरं कटुतिक्तं च मधुरं शिशिरं विदुः। तृण्मेदोविषदोषघ्नं चक्षुष्यं मदकारकम्॥' (ध. नि.)
'चीनकः कटुकस्तिक्तो हृद्यः शीतः कफापहः। कण्ठदोषहरो मेध्यः पाचनः कृमिनाशनः॥'
(रा. नि.)

'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता।......'कर्पूरनिर्यास'.....। (च. सू. ५)

'स्वच्छं भृङ्गारपत्रं लघुतरविशदं तोलने तिक्तकं चेत्,
स्वादे शैत्यं सुहृद्यं बहलपरिमलामोदसौरभ्यदायि।
निःस्नेहं दार्ढ्यपत्रं शुभतरमिति चेद्राजयोग्यं प्रशस्तं,
कर्पूरं चान्यथा चेद्बहुतरमशने स्फोटदायि व्रणाय॥' (रा. नि.)

८०. हृत्पत्री

परिचय

कुल—कटुका-कुल (स्क्रौफुलोरियेसी–Scrophulariaceae)।

नाम—लै०–डिजिटैलिस पर्प्युरिया (Digitalis purpurea)। सं०–हृत्पत्री (हृद्रोगों में इसके पत्र का विशिष्ट उपयोग होने से), तिलपुष्पी (तिल के सदृश पुष्प होने से)। हि०–डिजिटेलिस; अं०–डिजिटेलिस (Digitalis)।

स्वरूप—इसका क्षुप ३–४ फुट ऊँचा वर्षायु या बहुवर्षायु होता है। नीचे की पत्तियाँ ऊपर की अपेक्षा बड़ी और सघन होती हैं। **पत्र**-डिम्बाकृति, धतूरे या तमाखू जैसे, ४–१२ इंच लंबे और २–६ इंच चौड़े होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ फीके हरे रंग के और निचला पृष्ठ पाण्डु और धूसरवर्ण होता है। इन पर मृदु रोम होते हैं और किनारा गोल दाँत युक्त होता है। **पुष्पदण्ड**-प्रायः १४ इंच लंबे होते हैं जिनके चारो ओर नीचे से ऊपर तक गुच्छों में ६०–७० तिल के समान किन्तु उससे कुछ बड़े पुष्प होते हैं। इनका रंग श्वेताभ बैंगनी होता है। **फल**-बहुत छोटे होते हैं जिनमें अनेक बीज होते हैं। जून मास में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह बालुकामय और पथरीली भूमि में ५–७ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। यूरोप, अमेरिका के अनेक प्रदेशों में होता है। भारत में हिमालय और नीलगिरि की पहाड़ियों पर तथा विशेषतः काश्मीर, सिक्किम, दार्जिलिंग में होता है।

रासायनिक संघटन—इसका विश्लेषण करने पर दो प्रकार के तत्व मिलते हैं:— (१) सुरा-विलेय और (२) जलविलेय। सुराविलेय तत्त्वों में-डिजिटॉक्सिन (Digitoxin) जिटॉक्सिन (Gitoxin) और डिजिटेलिन (Digitalin) तथा जलविलेय तत्त्वों में डिजिटैलीन (Digitalein) और डिजिटॉनिन (Digitonin) होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रुक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—हृद्य।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—त्वचा पर इसका लेप करने से अतितीव्र क्षोभ, व्रणशोथ एवं पीड़ा होती है। श्लेष्मल कला पर भी ऐसी ही क्रिया होती है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—पाचनयंत्र पर इसकी कोई विशेष क्रिया नहीं होती। अधिक दिनों तक या अतिमात्रा में सेवन करने पर इसका प्रभाव होता है और उससे हृल्लास और वमन होते हैं। यह संस्थानिक क्षोभ के कारण नहीं बल्कि वमनकेन्द्र के उत्तेजित होने से होती है। अन्न से इसका शोषण शनैः शनैः होता है और सिरागत रक्तसंचय में और भी मन्द हो जाता है। शोषण अति मन्द होने से इससे कुछ कार्यकारी तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। सुरासत्त्व का प्रभाव शीघ्र (लगभग४–६ घंटों में) हो जाता है। पाचकरसों का भी इस पर प्रभाव नहीं पड़ता। गुदा द्वारा प्रविष्ट करने पर इसका शोषण शीघ्र होता है।

रक्तवहसंस्थान—इससे हृदय की गति कम होती है, हृदय की संकोचशक्ति बढ़ती है। विश्रान्तिकाल बढ़ता है तथा हृदय की पेशी का बल बढ़ता है। इसकी क्रिया हृत्पेशी, सिराग्रन्थि, अलिन्दनिलयगुच्छ, हार्दिकी धमनी तथा शरीर की अन्य धमनियों का संकोच होने से रक्तभार बढ़ता है। औषधीय मात्रा में देने पर हृदय को शक्ति मिलने के कारण

धमनियों में रक्तसंवहन समुचित होता है और उससे हृदय एवं अंत्रों को पोषण पर्याप्त प्राप्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह तिक्त होने से कफघ्न है।

नाड़ीसंस्थान—औषधीय मात्रा में आक्षेपशामक होता है किन्तु बड़ी मात्रा में देने पर मस्तिष्कगत रक्तसंवहन में विकृति होने के कारण भ्रम, शिरःशूल, दृष्टिमांद्य, श्रवणविकार आदि लक्षण होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह हृद्विकारजन्य मूत्राल्पता को दूर करता है और इसके सेवन से ४८ घंटों के बाद मूत्रल प्रभाव होता है। वृक्कों पर इसकी कोई क्रिया नहीं होती, केवल वृक्कगत रक्तसंवहन को ठीक करने से मूत्र आता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण एवं गर्भाशयसंकोचक है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

कर्म का प्रारम्भ और अवधि—मुख द्वारा देने पर इसका कर्म बहुत शनैः शनैः और विलम्ब से प्रारम्भ होता है। अल्प मात्रा में देने पर हृदय पर क्रिया २४-३६ घंटों में तथा मूत्र पर क्रिया ७२ घंटों में प्रारम्भ होती है। पूर्ण मात्रा में देने पर २-४ घंटों में ही प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाता है। इसके सभी कार्यकारी तत्त्वों में डिजिटॉक्सिन का प्रभाव सर्वाधिक स्थायी होता है। हृत्पेशी पर इसका प्रभाव इस प्रकार स्थिर हो जाता है कि औषध बन्द कर देने पर भी कुछ काल तक बना रहता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग मुख्यतः वृक्कों से और अंशतः पाचनसंस्थान की श्लेष्मल कला से होता है किन्तु इसका उत्सर्ग शोषण की अपेक्षा भी मन्द होता है जिससे संचय-जन्य विषाक्त लक्षणों के उत्पन्न होने का भय रहता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह त्वचा के विकारों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के अनेक रोगों यथा रक्तप्रत्यावर्त्तन, हृदय की अनियमिता, अलिन्दसूत्रता, हृत्कार्यावरोध, हृदन्तःशोथ, हृदय की धड़कन आदि में लाभकर होता है। हृदय के प्रसार में देने से लाभ होता है। हृदय के मेदस अपकर्ष में इसका प्रयोग नहीं किया जाता। शोथरोग में अतीव प्रशस्त माना जाता है।

श्वसनसंस्थान—यह, कास, श्वास, फुफुस शोथ आदि में उपयोगी है।

नाडीसंस्थान—यह आक्षेपयुक्त विकारों तथा अनिद्रा में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका प्रयोग हृद्दौर्बल्यजन्य शोथ (Cardiac oedema) में विशेष रूप से करते हैं, यों सामान्य रक्ताल्पताजन्य शोथ में भी इससे लाभ होता है। इन रोगों में मूत्र कम आता है और इसके प्रयोग से दो लाभ साथ साथ होते हैं—एक तो हृदय को शक्ति मिलती है, दूसरे मूत्र अधिक आने से शोथ कम हो जाता है।

प्रजननसंस्थान—यह क्लैब्यरोग तथा रजोरोध में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—यह तीव्र ज्वरों में प्रयुक्त होता है। इससे ज्वर कम होता और हृदय भी सुरक्षित रहता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—चूर्ण-¼-½ रत्ती; सुरासत्त्व-५-१५ ंद।

प्रयोगविधि—इसका प्रयोग सुरासत्त्व के रूप में सबसे अच्छा होता है। सुरासत्त्व दिन में तीन बार जल मिला कर देना चाहिए। हृल्लास, वमन, अतिसार या मन्द नाडी होने पर इसका प्रयोग कुछ दिनों के लिए बन्द कर देना चाहिए। इसका प्रयोग आंशिक हृदवरोध, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अन्तःशल्यता तथा हृदय के मेदस अपकर्ष में निषिद्ध है। रक्तभाराधिक्य में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

विषलक्षण—इसके अतियोग से हृल्लास, वमन (हरे रंग का), अतिसार, मूत्राल्पता, शिरःशूल. नाडीमन्दता एवं हृदय की अनियमितता आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—वामक द्रव्यों से या आमाशय नलिका से संशोधन करने के बाद हृदयोत्तेजक द्रव्य यथा कॉफी, मद्य, अमोनिया आदि देना चाहिए। शरीर का सेंक भी करना चाहिए। साथ ही रोगी को लिटाकर रक्खें और पूर्ण विश्राम दें।

संग्रहविधि—दूसरे वर्ष के क्षुप में फूल आने से पूर्व ही उसके पत्र एकत्रित कर लेते हैं और तुरन्त छाया में (५५ से ६० डिग्री के बीच में) सुखा लेते हैं। सुखा कर वायुरहित पात्र में सुरक्षित रख देते हैं। अच्छी तरह नहीं सुखाने से या अधिक धूप या आर्द्रता से इसके गुण नष्ट हो जाते हैं।

८१. वनपलाण्डु

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-अर्जिनिया इण्डिका (Urginea indica)। सं०-वनपलाण्डु (वन प्रदेशों में अधिक होने के कारण), कोलकन्द (बड़े बेर के समान कन्द होने के कारण) हि०-बं०-जंगली प्याज, काँदा; म०-रानकाँदा, कोलकाँदा; गु०-जंगली कांदो; पाणकंदो; ता०-नारीभेंगामाम्; ते०-अदावितेलगडा; अ०-उन्सुल; फा०-पियाज सहराई; अं०-इण्डियन स्क्विल (Indian squill)।

स्वरूप—यह कन्दजातीय वर्षायु क्षुप प्याज के सदृश होता है। इसका पत्र निकलने के पूर्व ही पुष्प निकलते हैं। **पत्र**-६-१८ इञ्च लंबे और ½ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्पदण्ड**-१-१½ इञ्च ऊँचा और कोमल होता है। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, पुष्पदंड के अग्रभाग पर दूर दूर पर इस प्रकार लगे रहते हैं कि देखने में घण्टे के समान मालूम होते हैं। बीजकोष तीन भागों में विभक्त होते हैं जिनमें प्रत्येक में ५-१० चपटे, काले रंग के बीज होते हैं। ग्रीष्म में पुष्प और वर्षाऋतु में फल लगते हैं। इसका कन्द छोटे नीबू या बेर के सदृश होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में समुद्र के किनारे बालुकामय प्रदेशों में तथा हिमालय की निचली सूखी पहाड़ियों में यथा कोरोमंडल तट, मध्यभारत, छोटानागपुर, शिमला, सहारनपुर, पंजाब, सीमाप्रान्त तथा बंगाल में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक निष्क्रिय ग्लुकोसाइड (सिल्लिनिन-Scillinine), एक विषाक्त ग्लुकोसाइड, दो तिक्त सत्त्व-सिल्लिपिक्रिन (Scillipicrin) और सिल्लिटॉक्सिन (Scillitoxin) पिच्छिलद्रव्य, शर्करा और भस्म ५ प्रतिशत जिसमें कैल्शियम ऑक्जलेट और साइट्रेट के स्फटिक होते हैं।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, लघु । **रस**—कटु, तिक्त ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से वातशामक एवं कटुतिक्त होने से कफशामक है। तीक्ष्ण और उष्ण होने से पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तोत्क्लेशक एवं व्रणकारक है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह हृत्पत्री के समान हृदय के लिए वल्य और उत्तेजक है। सिरा द्वारा अन्तःक्षेप करने पर यह रक्तभार को अधिक बढ़ाता है किन्तु मुख मार्ग से देने पर यह कर्म उतना स्पष्ट नहीं होता। यह शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है। यह क्रिया तीक्ष्णता के कारण आमाशयिक क्षोभ के कारण प्रत्यावर्त्तित रूप से होती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह हृत्पत्री की अपेक्षा अधिक मूत्रल है। यह तीक्ष्ण होने से वृक्कगत रक्तसंवहन एवं वृक्ककोषाणुओं को उत्तेजित करता है जिससे मूत्र अधिक आता है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह आर्त्तवजनन है।

पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण पाचनसंस्थान में हृत्पत्री की अपेक्षा अधिक क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे हृल्लास, वमन और रेचन होने लगते हैं। ये लक्षण पूर्णमात्रा में और कभी कभी औषधीय मात्रा में देने पर भी होते हैं। यह कृमिघ्न भी है।

त्वचा—उष्ण होने से यह स्वेदजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—यह चर्मरोगों में तथा द्रवयुक्त शोथों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—इसका प्रयोग हृद्रोग तथा शोथ विशेषतः हृद्रोगजन्य शोथ में किया जाता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण प्रतिश्याय, जीर्ण कास, जीर्ण फुफ्फुस रोग एवं श्वासरोग में यह लाभकर है। इन रोगों में कफ को दूर करने के साथ साथ यह हृदय को भी शक्ति प्रदान करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह जीर्ण वृक्करोगों एवं मूत्राघात में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध एवं कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—कृमि एवं उदररोग विशेषतः जलोदर में प्रयुक्त होता है। जलोदर में इससे शोथ कम होता है और हृदय को भी शक्ति मिलती है।

त्वचा—कंडू आदि चर्मरोगों में इसका सेवन कराते हैं।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, फुफ्फुस और वृक्क के द्वारा होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण १-१½ रत्ती, पानक-३०-६० बूँद, सुरासत्त्व-५-३० बूँद।

विशिष्टयोग—पानक (Syrup) एवं सुरासत्व (Tincture) के रूप में इसका व्यवहार विशेष होता है।

वक्तव्य—(१) अन्ननलिकाक्षोभ, तीव्र वृक्करोग तथा तीव्रकास में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(२) औषधीय प्रयोग के लिए एक वर्ष का नवीन कन्द लेना चाहिए क्योंकि अधिक बढ़ने पर क्रमशः इसकी शक्ति नष्ट हो जाती है।

(३) कन्द की त्वचा हटाकर उसे टुकड़ों में काट लेते हैं और बीच का अंश निकालकर अवशिष्ट भाग को सुखाकर रख लेते हैं।

८२. शैलेय

कुल—शैलेय-कुल (लाइचेनिस-Lichenes)।

नाम—लै०-परमिलिया पर्फोरेटा (Parmelia perforata); सं०-शैलेय (पथरीले पहाड़ों पर होने के कारण); शिलापुष्प (पहाड़ों पर पुष्प के सदृश होने से); हि०-छड़ीला; कु०-फ्योलो; मा०-छाड़छड़ीला; म०-दगडफूल; गु०-छडीलो; अ०-फा०-उश्न; अं०-स्टोनफ्लावर्स (Stone flowers)।

स्वरूप—यह छोटा क्षुप पुराने वृक्षों, मकान की दीवालों तथा पत्थर के चट्टानों पर पाया जाता है। इसका ऊपर का पृष्ठ हरा काला सा और भीतर का श्वेत होता है। समस्त क्षुप में एक विशिष्ट गन्ध होती है। नया और सुगन्धित क्षुप औषध में ग्रह्य करना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकतर हिमालयप्रदेश, पंजाब, फारस आदि प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक पीत रञ्जकद्रव्य, गोंद, शर्करा, लाइचेनिन नामक तत्त्व तथा क्राइसोफेनिक एसिड होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।
प्रभाव—हृद्य।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्तकषाय होने से कफ और शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, व्रणरोपण, वेदनास्थापन और कण्डूघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन और कषाय होने से ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय-बलकारक है तथा शोथहर भी है। रक्तविकारों को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल और अश्मरीनाशन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह दाहप्रशमन तथा ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, शिरःशूल तथा कण्डू आदि चर्मविकारों में इसका लेप करते हैं। इसको गरम कर मूत्राघात में वस्ति, कटि तथा वृक्क के प्रदेश में लेप करते हैं। व्रणों में इसका चूर्ण लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णा, वमन, अग्निमान्द्य, अतिसार, प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ एवं रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में एक तोला छड़ीले का क्वाथ मिश्री और जीरे का चूर्ण मिलाकर पिलाते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर एवं दाह में सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—चूर्ण-६-१२ रत्ती, क्वाथ-२-४ तोला।

× × × ×

'शैलेयं तु शिलापुष्पं वृद्धं कालानुसार्यकम्। शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु। कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविषहृल्लासरक्तजित्' (भा. प्र.)

'शैलेयं शिशिरं तिक्तं सुगन्धि कफपित्तजित्। दाहतृष्णावमिश्वासव्रणदोषविनाशनम्॥' (रा. नि.)

८३. यूथिका

परिचय

कुल—पारिजात-कुल (ओलिएसी-Oleaceae)।

नाम—लै०—जैस्मिनम ऑरिकुलेटम (Jasminum Auriculatum); सं०-यूथिका (झुण्डों में होने के कारण), गणिका (मनोहर होने से); हि०-जुही; बं०-जुई; म०, गु०-जुई।

स्वरूप—इसकी लता चमेली के सदृश होती है। **पत्र**-संयुक्त, पत्रक प्रायः पाँच होते हैं। पुष्प श्वेत वा पीतवर्ण होते हैं। इसकी गन्ध बड़ी मोहक होती है।

जाति—पुष्पभेद से यह दो प्रकार की मानी जाती है—(१) यूथिका (जुही) और (२) पीतयूथिका या स्वर्णयूथिका (पीली जुही या सोनाजुही)।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः बंगाल और मद्रास में होता है। पीतयूथिका मद्रास में अधिक होती है और वहाँ स्त्रियों के केशप्रसाधन में व्यवहृत होती है।

गुण

गुण—लघु। **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

प्रभाव—हृद्य।

कर्म

दोषकर्म—यह शीतवीर्य होने से पित्तशामक और कफवातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म—यह हृद्य, रक्तरोधक, व्रणरोपण, विषघ्न और कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—हृद्रोग, रक्तपित्त, उरःक्षत, व्रण, विष और चर्मरोगों में यह प्रयुक्त होता है। मुखरोग, दन्तरोग, नेत्ररोग तथा शिरोरोगों में भी लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, पत्र।

मात्रा—पुष्पस्वरस-१-२ तो०; पत्रक्वाथ-४-८ तो०।

× × × ×

'यूथिका गणिकाऽम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका। यूथीयुगं हिमं तिक्तं कटुपाकरसं लघु॥
मधुरं तुवरं हृद्यं पित्तघ्नं कफवातलम्। व्रणास्रमुखदन्ताक्षिशिरोरोगविषापहम्॥' (भा. प्र.)

८४. तरुणी

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

नाम—लै०-रोजा सेण्टोफोलिया (Rosa Centifolia)। सं०-तरुणी (सरस होने से); शतपत्री (अनेक पुष्पदल होने से), कर्णिका (कान के समान पेंचदार पुष्पदल वाली); चारुकेशरा (सुन्दर केशर वाली); लाक्षा (लोहित वर्ण वाली); गन्धाढ्या (सुगन्धित); हि० म० गु०-गुलाब; बं०-गोलाप; ता०-इराशा; ते०-गुलाबि; अ०-वर्दे अहमर; फा०-गुलेसुर्ख; अं०-रोज (Rose)।

स्वरूप—इसका क्षुप ५-१० फीट ऊँचा होता है। **शाखाएँ**–कण्टकयुक्त होती हैं। **पत्र**–पक्षाकार, दन्तुरधार होते हैं। **पुष्प**–श्वेत, लाल, पीले आदि अनेक रंग के होते हैं। जंगली गुलाब के फूल में पाँच तथा रोपित गुलाब के फूल में अनेक पंखड़ियाँ होती हैं। **फल**–अंडाकार होता है जो पकने पर लाल हो जाता है।

जाति—गुलाब की अनेक जातियाँ होती हैं। इनमें वैज्ञानिकों का अनुमान है कि १२ जातियाँ भारत की मौलिक हैं तथा शेष विदेशों से आई हुई हैं। जंगली गुलाब की एक जाति में पीताभ श्वेतवर्ण के पुष्प आते हैं। उसे सेवती (रोजा ऐल्बा-Rosa Alba) कहते हैं। गन्धभेद से सुगन्ध और निर्गन्ध ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार स्वदेशी-विदेशी, वन्य-ग्राम्य तथा सुगन्ध-निर्गन्ध के भेद से इसके जाति-भेद किये गये हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में यह विशेषतः कश्मीर, गढ़वाल; पश्चिमोत्तर प्रदेश और सन्थाल परगना में तथा लगभग ३००० फीट की ऊँचाई पर पार्वत्य प्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके एक तैल (Oleum Rosi), टैनिक एसिड तथा गैलिक एसिड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय और मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत। **प्रभाव**—हृद्य।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर, स्निग्ध होने से वात; शीत होने से पित्त तथा तिक्तकटु-कषाय होने से कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, शोथहर, व्रणरोपण तथा दुर्गन्धनाशक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और सौमनस्यजनन है।

पाचनसंस्थान—यह आमाशय, अन्त्र तथा यकृत् के लिए बलकारक है। दीपन, पाचन, अनुलोमन, अल्पमात्रा में ग्राही एवं अधिक मात्रा में मृदु रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य एवं शोणितास्थापन है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है।

त्वचा—यह स्वेदापनयन एवं त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—शीत होने से यह दाहप्रशमन तथा ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक होने से यह धातुवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य— वर्णविकारों तथा पैत्तिक व्रणशोथ में इसका लेप करते हैं। व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। स्वेद से दुर्गन्ध आने पर त्वचा पर इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क-दौर्बल्यजनित विकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह पाचनविकार, कोष्ठवात एवं विबन्ध में उपयोगी है। अल्पमात्रा में कषाय होने के कारण अतिसार और प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रोग, रक्तपित्त एवं अन्य रक्तविकारों में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्य रोग में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—अतिस्वेद तथा चर्मरोगों में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—शरीर में दाह होने पर तथा ज्वरों में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में यह उपयुक्त है।

प्रयोज्यअङ्ग—पुष्प।

मात्रा—चूर्ण १–३ मा०; गुलकन्द १–२ तो०; अर्क २–४ तोला।

विशिष्ट योग—गुलकन्द, अर्क गुलाब।

× × × ×

'शतपत्री तरुण्युक्ता कर्णिका चारुकेशरा। महाकुमारी गन्धाढ्या लाक्षा वृष्यातिमंजुला॥
शतपत्री हिमा हृद्या ग्राहिणी शुक्रला लघुः। दोषत्रयास्त्रजिद्वर्ण्या कट्वी तिक्ता च पाचनी॥'
(भा. प्र.)

८५. सिम्बितिका

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी–Rosaceae)।

नाम—लै०-पाइरस मैलस (Pyrus Malus); सं०-सिम्बितिका, सेव, मुष्टिप्रमाण (मुष्टी के बराबर होने से); हि०–सेव; बं०–सेव; म०–सफरचन्द; गु०–सफरजन; सिं०–सूफ; का०–सूंत; क०–चूंठ; अं०–ऐप्ल (Apple)।

स्वरूप—यह एक प्रसिद्ध वृक्ष है। इसका फल मीठा या खटमिठ्ठा होता है।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। रसभेद से यह खट्टा और मीठा दो प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—इसकी उत्पत्ति पश्चिमोत्तर भारत—काश्मीर, कांगड़ा, कुमाऊँ, सिन्ध—मध्यभारत तथा दक्षिण भारत में होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें ८० प्रतिशत जल तथा अलब्युमिन, शर्करा, निर्यास, रञ्जक द्रव्य, सेवाम्ल और कैलशियम के लवण विशेषकर फास्फेट होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

प्रभाव—हृद्य।

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध और मधुर होने से वात एवं मधुरकषाय-शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बलप्रद तथा शूलहर है। इसका मूल निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, यकृद्बल्य, अल्पमात्रा में ग्राही और अधिक मात्रा में मृदुरेचन है। यह क्षारीय कार्बोनेट में परिणत होने के कारण आमाशय की अम्लता को कम करता है। यह जन्तुघ्न भी है और अन्त्रगत जीवाणुज विषों को नष्ट करता है। इसका मूल कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को शक्ति प्रदान करता और रक्तगत अम्लता को दूर करता है। इस प्रकार यह रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है तथा मूत्रगत लवणों को जमने नहीं देता और उसे बाहर निकालता रहता है, अतः अश्मरीनाशन भी है।

सात्मीकरण—यह बृंहण और वृष्य है।

त्वचा—यह वर्ण्य है।

तापक्रम—यह दाहप्रशमन एवं ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क-दौर्बल्य एवं शिरःशूल में प्रयुक्त होता है। यह नाडीशूल, गृध्रसी आदि वातविकारों में भी दिया जाता है। इसका मूल अनिद्रा में लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य में पका मीठा फल चबाकर खाते हैं और अजीर्ण में उसे आग या बाष्प में पका कर खाया जाता है। अतिसार आदि में इसके रस का प्रयोग करते हैं। विबन्ध में दो या तीन सेब का पका फल रात में सोते समय लेते हैं। आमाशयगत अम्ल का आधिक्य होने पर अम्लपित्त, विदग्धाजीर्ण आदि में फल का

रस लेते हैं। जन्तुघ्न होने के कारण यह जीर्ण विबन्ध आदि में विषों को नष्ट करता है और शरीर में फैलने नहीं देता। मुख और गले के जन्तुजन्य रोगों में भी लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रोगों में अत्युत्तम माना जाता है। यूरिक एसिड के कारण उत्पन्न रक्त की अम्लता को नष्ट करने तथा उसको वृक्कों के द्वारा बाहर निकालने में सहायक होने के कारण यह आमवात, सन्धिवात आदि में लाभकर होता है। रक्तपित्त में भी प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासरोग में दिया जाता है। इससे कफ आसानी से निकलता है तथा हृदय को भी शक्ति मिलती है, अतः विशेषकर हृद्विकारजन्य श्वास (Cardiac Asthma) में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी रोग में अत्यन्त प्रशस्त माना गया है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में उपयोगी है।

त्वचा—यह त्वग्दोषों एवं वर्णविकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—यह दाह एवं ज्वरों में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल।

मात्रा—फल का मुरब्बा १–२ तो०; पानक २–४ तो०; रसक्रिया १–१½ तो०; मूलक्वाथ ४–८ तो०।

× × × ×

'मुष्टिप्रमाणं बदरं सेवं सिम्बितिकाफलम्। सेवं समीरपित्तघ्नं बृंहणं कफकृद् गुरु॥
रसे पाके च मधुरं शिशिरं रुचिशुक्रकृत्।' (भा. प्र.)
'कषायमधुरं शीतं ग्राहि सिम्बितिकाफलम्।' (च. सू. २७)
'कषायं स्वादु संग्राहि शीतं शिञ्चितिकाफलम्।' (सु. सू. ४६)

८६. आरुक

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

नाम—लै०-प्रुनस पर्सिका (Prunus Persica) सं०-आरुक; हि०-बं०-आड़ू; गु०-पीच; क०-चुनुन; फा०-शफतालु; अं०-पीच (Peach)।

स्वरूप—इसके मध्यमाकार वृक्ष होते हैं। **पुष्प**-गुलाबी तथा **फल**-लंबगोल और खटमिट्ठे होते हैं।

जातिः—इसकी चार जातियाँ होती हैं जो विभिन्न नामों से प्रचलित हैं—

१. आड़ू (Prunus Persica) २. आलूबुखारा (प्रुनस कम्युनिस-Prunus Communis) ३. एलवालुक-इसे 'गिलास' कहते हैं। इसका लै० नाम-प्रुनस सिरेसस (Prunus cerasus) ४. आलूचा (प्रुनस अलूचा-Prunus Aloocha)। आड़ू की ही एक विशिष्ट जाति 'सतालू' है जिसका फल आड़ू से बड़ा और मीठा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, कश्मीर, पंजाब, आसाम और बर्मा में १० हजार फुट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—फल में आरुकाम्ल (Prussic acid) होता है। बीजमज्जा में एक स्थिर तैल होता है जो स्वरूप और गुणकर्म में कटु बादाम तैल के समान होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

इसका बीजतैलउष्णवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध होने से वात का तथा मधुर, शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बीज वेदनास्थापन और केश्य तथा पत्र कृमिघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, स्नेहन, भेदन, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तप्रसादन एवं रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—शीत होने से दाहप्रशमन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धातुओं को बढ़ाता (बृंहण) है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजमज्जा का तैल कर्णशूल, बाधिर्य और अर्श में लगाते हैं। इससे वेदना शान्त होती है। तैल केश में भी लगाया जाता है। कृमिरोग में इसके पत्र का लेप उदर पर करते हैं और पत्रस्वरस गुदा में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, तृष्णा, विबन्ध, गुल्म और अर्श में प्रयुक्त होता है। पत्र का क्वाथ कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रोग, रक्तविकार और रक्तपित्त में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में तथा पैत्तिक प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—दाह में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र, बीज।

मात्रा—फल-३-५ तक; पत्रस्वरस-½-१ तोला; पत्रक्वाथ-४-८ तोला।

× × × ×

'आरूकाणि च हृद्यानि मेहार्शोनाशनानि च।' (ध. नि.)
'अर्शःप्रमेहगुल्मास्रदोषविध्वंसनानि च।' (रा नि.)
'नात्युष्णं गुरु संपक्वं स्वादुप्रायं मुखप्रियम्।
बृंहणं जीर्यति क्षिप्रं नातिदोषलमारुकम्॥' (च. सू. २७)

८७. विही

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

हि०-बं०-विहीदाना; क०-बमचूठ; ता०-सामाई-मादाला-विराई; अ०-सफरजल, फा०-बिही; अं०-क्विन्स (Quince)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यमाकार होता है। शाखा-प्रशाखायें बहुत सी और वक्र होती हैं। काण्डत्वक् कृष्णवर्ण होता है। **पत्र**—डिम्बाकृति होते हैं। **पुष्प**—श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**—सेब के समान, सुनहले रंग के और सुगन्धित होते हैं तथा ऊपरी भाग में कठिन रोम होते हैं। फल के भीतर पाँच विभाग होते हैं जिनमें अनेक बीज होते हैं बीजों को पानी में भिगोने पर लुआब होता है। वसन्त ऋतु में इसमें पुष्प आते हैं।

जाति—रसभेद से यह तीन प्रकार का होता है:—

(१) मधुर (मीठा), (२) अम्ल (खट्टा) और (३) मधुराम्ल (खटमिट्ठा)।

उत्पत्तिसंस्थान—इसका आदिस्थान यूरोप है। यूरोप और अमेरिका में यह प्रचुर परिमाण में होता है। भारत में काश्मीर, पंजाब तथा पेशावर, ईरान और अफगानिस्तान में ५-६ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—बीज में साइडोनिन (Cydonin) नामक एक निर्यास-युक्त पिच्छिल द्रव्य तथा एक पीतवर्ण तैल १५·२ प्रतिशत होता है। बीजों के भस्म में यवक्षार ७%, सज्जीखार ३%, मैगनीशियम १२%, खटिक ७$\frac{1}{3}$%, लौह १%, फास्फोरिक एसिड ४२%, सल्फ्युरिक एसिड २$\frac{3}{4}$%, लवण २$\frac{1}{2}$% होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु-स्निग्ध होने से वात का तथा मधुरशीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और सौमनस्यजनन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, रोचन, स्नेहन और यकृद्बल्य है। इसकी त्वचा ग्राही होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तप्रसादन, रक्तवर्धक और रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह स्निग्ध होने से कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह दाहप्रशमन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह बलवर्धक और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्करोग, मूर्च्छा तथा शिरःशूल आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, अरुचि, हृल्लास, छर्दि, तृष्णा, कोष्ठगत रौक्ष्य, उदरशूल, रक्तातिसार तथा यकृद्विकार में दिया जाता है। त्वचा का विशेष प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका में होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार, रक्ताल्पता एवं रक्तपित्त आदि में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक होने से वातपैत्तिक कास एवं श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—दाह आदि पैत्तिक उपद्रवों में सेवन किया जाता है।

तापक्रम—यह ज्वर में लाभ करता है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, बीज।

मात्रा—फल-मुरब्बा-१-२ तोला; पानक-१-५ तोला; बीजचूर्ण-३-५ माशा।

हृदयोत्तेजक

८८. कॉफी

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)।

नाम—लै०-कॉफिया अरेबिका (Coffea Arabica); हि०-बं०-काफी; म०-गु०-बुंद, बुंददाणा; ता०-कापिकोट्टई; ते०-कापिविट्टुलु; अ०-फा०-कहवा, बुन्न; अं०-कॉफी (Coffee)।

स्वरूप—यह प्रसिद्ध द्रव्य है। इसके बीजों को थोड़ा घी लगा सेंक लेते हैं और फिर चूर्ण कर रख लेते हैं। इसे चाय की तरह फाण्ट बना कर दूध और चीनी के साथ पीते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदि जन्मस्थान अरब है किन्तु अब दक्षिणभारत-मद्रास, मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर-कोचीन में प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक उड़नशीन तैल तथा एक वर्णगन्धरहित सूच्याकार तिक्त सत्त्व होता है जिसे कैफीन (Caffeine) कहते हैं। यह सत्त्व विभिन्न प्रजाति के बीजों में विभिन्न परिमाण में होता है किन्तु सामान्यतः १ से ३ प्रतिशत मिलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—हृद्य।

कर्म

दोषकर्म—कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और दुर्गन्धनाशक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अल्पमात्रा में यह वातशामक है तथा केन्द्रीय नाडीमंडल के उच्च केन्द्रों को उत्तेजित करता है, फलतः श्रम, अवसाद को दूर करता है और सौमनस्य उत्पन्न करता है। अधिक मात्रा में तिक्त होने से वात को बढ़ाता है।

पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में यह दीपन, वातानुलोमन और ग्राही है किन्तु अधिक मात्रा में अग्निमांद्य और विष्टम्भन करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के लिए बलकारक और हृदयोत्तेजक है। इसका प्रभाव हृत्पेशी और नाडी पर होता है। रक्तवाहिनियों का संकोच होने से रक्तभार बढ़ता है किन्तु हृदय और वृक्क की धमनियाँ प्रसारित हो जाती हैं। शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वसन को उत्तेजित करता है तथा कासहर और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीव्र मूत्रल है। इसकी क्रिया साक्षात् वृक्ककोषों पर होती है। वृक्क-धमनियों के प्रसारित होने तथा वृक्कगत मूत्रवह स्रोतों में लवणों का पुनः शोषण बाधित हो जाने से भी मूत्रजनन कर्म में सहायता मिलती है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में इससे शरीर का पोषण होता है किन्तु अधिक मात्रा में इससे धातुओं का क्षय होता है। विषघ्न भी है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य रोगों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दन्तकृमि और मुखदुर्गन्धि में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मानसिक शैथिल्य, प्रलाप, शिरःशूल एवं अपतन्त्रक, आक्षेपक आदि वातिक रोगों में प्रयुक्त होता है। सन्धिवात और आमवात में भी लाभकर है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, अतिसार और प्रवाहिका में अल्पमात्रा में दिया जाता है। बच्चों की विसूचिका में यह अतिशय लाभकर होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य एवं तज्जन्य शोथ में पह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कुकुरखाँसी और श्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में अल्पमात्रा में देते हैं। अफीम, मद्य आदि मादक विषों में विषनिवारण के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—मलेरिया आदि विषमज्वरों को यह रोकता है। कुनैन, मैगसल्फ आदि तिक्त औषधद्रव्य भी इसके साथ मिला कर दिये जाते हैं। इससे उनकी तिक्तता दूर हो जाती है। टायफायड की प्रारम्भिक अवस्था में भी यह लाभकर है। इसकी पत्तियों का क्वाथ भी ज्वर में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, पत्र।

मात्रा—बीज (कैफीन) १-२½ रत्ती; पत्रक्वाथ २-४ तो०।

शोषण और उत्सर्ग—इसका शोषण शीघ्र और पूर्ण हो जाता है। इसका उत्सर्ग मूत्र द्वारा होता है।

तीव्र विषलक्षण—अधिक मात्रा में लेने पर वातपैत्तिक उपद्रव होते हैं—यथा तृष्णा, कण्ठदाह, उदरशूल, छर्दि, अतिसार, भ्रम, कम्प, आक्षेप, पक्षाघात आदि।

जीर्ण विषलक्षण—अधिक दिनों तक अधिक मात्रा में लेते रहने से अग्निमांद्य, रक्ताल्पता, कृशता, शिरःशूल, हृद्द्रव, श्वासकष्ट, बेचैनी आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—विषाक्त लक्षणों के उत्पन्न होने पर वातपैत्तिक शामक स्निग्ध चिकित्सा होनी चाहिए। रोगी को दूध, घी, मक्खन आदि का सेवन कराना चाहिए।

रसवह-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

शोथहर

८६. बिल्व

परिचय

गण—शोथहर, अर्शोघ्न, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग (च०); बृहत्पंचमूल, वरुणादि, अम्बष्ठादि (सु०)।

कुल—जम्बीर-कुल (रूटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-ईग्ल मार्मेलस (Aegle Marmelos) सं०-बिल्व (रोगान् बिलति भिनत्ति-जो रोगों को नष्ट करे); शाण्डिल्य (पीड़ा को दूर करने वाला); शैलूष (सुन्दर फल), श्रीफल (सुन्दर फल); मालूर (शरीर की शोभा को बढ़ाने वाला); गन्धगर्भ (गन्धयुक्त); कण्टकी (कंटकयुक्त); सदाफल (सदा फल लगने के कारण); महाकपित्थ (बड़े कपित्थ के समान होने से); ग्रन्थिल (शाखायें गाँठदार होने से); इसकी मज्जा को बिल्वपेशिका, बिल्वकर्कटी कहते हैं। हि०-बेल; म०-बेल; गु०-बीली; पं०-बिल; वं०-बेल; ता०-अलुविघम्; ते०-बिल्वमु; सिं०-कठोरी; अ०-सफ़रजले हिन्दी; फा०-बेह हिंदी; अं०-बेल (Bael), बेंगाल क्विन्स (Bengal quince) सूखे हुये गूदे को 'बेलसोंठ' या 'बेलगिरी' कहते हैं।

स्वरूप—इसका २५-३० फुट ऊँचा वृक्ष होता है। **पत्र**-संयुक्त, त्रिपत्रक और गंधयुक्त होता है। **पुष्प**-श्वेतवर्ण ४-५ दलयुक्त होते हैं। गर्भाशय विस्तृत होता है तथा उसका मध्यभाग काठ के सदृश कठिन होता है। **फल**-बड़ा, गोलाकार और कठोर होता है जिसके भीतरी भाग में ८-१५ खण्ड होते हैं। **बीज**-छोटे, कड़े, अनेक होते हैं। पुष्प मई मास में तथा फल दूसरे वर्ष मार्च-अप्रिल मास में होते हैं। गर्मियों में पत्ते झड़ जाते हैं।

जाति—यह वन्य और ग्राम्य दो प्रकार का होता है। जंगली बेल में फल छोटा और कांटे अधिक तथा ग्राम्य में फल बड़ा और कांटे कम होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में, विशेषतः बंगाल, बिहार, मध्यभारत एवं दक्षिण भारत में, पाया जाता है। बर्मा में भी मिलता है।

रासायनिक-संघटन—फलमज्जा में म्युसिलेज, पेक्टिन, शर्करा, टैनिन, उड़नशील तैल, तिक्त सत्त्व, निर्यास तथा भस्म २% होते हैं। इसमें एक और कार्यकारी द्रव्य होता है जिसे 'मार्मेलोसिन' (Marmelosine) कहते हैं। ताजे पत्र से एक विशिष्ट गंधयुक्त हरा-पीला तैल निकलता है। बीजों को दबाने से भी एक हलके पीले रंग का तैल निकलता है जिसमें रेचक धर्म होता है। जड़, पत्र और छाल में मुख्यतः कषायद्रव्य होता है। काण्ड की भस्म में सोडियम और पोटाशियम के लवण, कैल्शियम और लौह के फास्फेट, कैल्शियम कार्बोनेट, मैगनीशियम कार्बोनेट, सिलिका आदि होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, लघु, कषाय और तिक्त होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शामक है। इस प्रकार यह कफ-वात को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र शोथहर एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका मूल नाडीतन्तुओं का शामक है।

पाचनसंस्थान—कच्चा फल दीपन, पाचन एवं ग्राही है। पका फल कषाय, मधुर और मृदुरेचन है। अधिक लेने से यह विष्टम्भ उत्पन्न करता है। पत्रस्वरस यकृदुत्तेजक और पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है। शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्र को कम करता है तथा तद्गत शर्करा भी इससे कम होती है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय-शोथ को दूर करता है।

तापक्रम—इसका मूल एवं पत्र ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक के रूप में कार्य करता है और पका फल मधुर होने से बल को बढ़ाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग-बाह्य—नेत्राभिष्यन्द में पत्र का स्वरस नेत्र में डालते हैं तथा पत्तियों का लेप पलक पर लगाते हैं। पार्श्वशूल, शोथ आदि में पत्तियों से स्वेदन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका मूल वातव्याधि, आक्षेपक, उन्माद, अनिद्रा आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—मूलत्वक् एवं कच्चे फल का प्रयोग अग्निमान्द्य, अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में होता है। उदरशूल में भी लाभकर है। कच्चे फल का गूदा आग में पकाकर चीनी के साथ मिलाकर देने से रक्तातीसार, रक्त-प्रवाहिका, रक्तार्श आदि में लाभ करता है। पका फल भी इन रोगों में देते हैं। विष्टम्भी होने के कारण पके फल का अधिक मात्रा में तथा अर्श आदि रोगों में अधिक नहीं करना चाहिए। ग्रहणी रोग जिसमें विबन्ध और अतिसार क्रमशः हुआ करते हैं

पका फल देते हैं। इससे मल साफ होता है और पाखाना भी बँध जाता है। पत्रस्वरस काली मिर्च के साथ विबन्ध तथा कामला में देते हैं। विसूचिका के प्रतिषेध के लिए इसका फल नित्य खिलाते हैं। मधुमेह मे भी यही प्रयोग कालीमिर्च सहित

रक्तवहसंस्थान—इसका मूल हृद्दौर्बल्य तथा हृत्कम्प आदि में देते हैं। फल कषाय होने से रक्तस्तम्भन है। मूलत्वक् एवं पत्रस्वरस का शोथरोग में प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—पत्र का स्वरस प्रतिश्याय, कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—पत्रस्वरस का प्रयोग इक्षुमेह में करते हैं। ताजे फल का गूदा कबाबचीनी का चूर्ण मिलाकर दूध के साथ पूयमेह में देते हैं। इससे शोथ और वेदना कम होती है। छाल का स्वरस जीरा का चूर्ण और दूध के साथ शुक्रमेह में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय-शोथ, श्वेतप्रदर तथा सूतिकारोग को दूर करता है।

तापक्रम—इसकी मूलत्वक् विषमज्वर में देते हैं। पत्रस्वरस भी ज्वरनाशक है।

सात्मीकरण—बलवृद्धि के लिए पके फल का प्रयोग करते हैं। मूलत्वक् कटु पौष्टिक के रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, पत्र, फल। चूर्ण आदि के लिए कच्चा फल, मुरब्बे के लिए अधपका फल और पानक (शर्बत) के लिए पका फल लेना चाहिए। दशमूल आदि कषायों में मूल या मूल की त्वचा ली जाती है।

मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे; स्वरस-१-२ तो०; पानक-२-४ तोला।

विशिष्ट योग—बिल्वपंचक क्वाथ, बिल्वादि चूर्ण, बिल्वादि घृत, बिल्वतैल; बिल्वमूलादि गुडिका।

× × × ×

'बिल्वः शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि। गन्धगर्भः शलाटुश्च कण्टकी च सदाफलः॥
श्रीफलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तकृत्। वातश्लेष्महरो बल्यो लघुरुष्णश्च पाचनः॥'
(भा. प्र.)

'कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम्। कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम्॥
विद्यात्तदेव संपक्वं मधुरानुरसं गुरु। विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम्॥' (सु. सू. ४६)

'बिल्वं साङ्ग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

'बिल्वमज्जाभवं तैलमुष्णं वातहरं परम्।' (कै. नि.)

९०. अग्निमंथ

परिचय

गण—शोथहर, शीतप्रशमन, अनुवासनोपग (च०); बृ० पंचमूल, वातसंशमन, वीरतर्वादि, वरुणादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी-Verbenaceae)।

नाम—लै०-क्लेरोडेण्ड्रोन फ्लोमिडिस (Clerodendron Phlomidis); सं०-अग्निमन्थ (इसकी लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से आग निकाली जाती है यज्ञादि में); जय (रोगों को जीतने वाला), श्रीपर्ण (सुन्दर पत्रों वाला), गणिकारिका

(गणिका चासावारिका च—समूह में होने वाला सुन्दर वृक्ष और स्वास्थ्य प्रदान करने वाली), वातघ्नी (वात को नष्ट करने वाली); हि०-अरनी, गनियार, अगेथू; म०-ऐरण, टाकली; गु०-अरणी; बं०-गणिभारी; ता०-थलनजी; ते०-नेलीचेट्ट ।

स्वरूप—यह २५-३० फुट ऊँचा वृक्ष होता है। इसकी **काण्डत्वक्**-धूसरवर्ण होती है। **पत्र**-अभिमुख, डिम्बाकृति और कुछ नुकीले तथा कोमल होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, गुच्छों में, सुगन्धयुक्त होते हैं। **फल**-छोटे, करौंदे के समान होते हैं। चसन्त ऋतु में पुष्प लगते हैं।

जाति—यह दो प्रकार का होता है:—(१) अग्निमन्थ—जिसे व्यवहार में 'बड़ी अरणी' कहते हैं और जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। (२) 'तर्कारी'—जिसे हिन्दी में 'टेकार' या 'छोटी अरणी' कहते हैं और इसका लैटिन नाम प्रेम्मा इण्टेग्रिफोलिया (Premna integrifolia) है। भावप्रकाश में 'जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका' इसीके पर्याय दिये गये हैं। कहीं-कहीं तर्कारी को 'सफेद टेकार' तथा 'अग्निमन्थ' को 'काला टेकार' लिखा है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। विशेषकर गंगा के मैदानों तथा उत्तरप्रदेश, विहार, उड़ीसा में पाया जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उष्ण होने से शोथहर तथा वेदनस्थापक होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए शामक तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, पाचन एवं अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक, हृदयोत्तेजक एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहघ्न है।

त्वचा—यह त्वग्दोषों को दूर करता है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कहीं शोथ और पीडा होने पर इसकी पत्तियों को गरम कर बाँधते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि में बहुशः प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, आमदोष, विबन्ध आदि में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार, हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कफ के विकारों यथा कास, श्वास, प्रतिश्याय आदि में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, विशेषतः वसामेह और पूयमेह में यह उपयोगी है। अग्निमन्थ के मूल का क्वाथ वसामेह एवं पूयमेह में दिया जाता है।

त्वचा—शीतपित्त आदि त्वचा के विकारों में अग्निमन्थ के मूल का कल्क सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य, पांडु आदि में पत्रस्वरस तथा छाल का क्वाथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण-५-१० रत्ती; स्वरस-१-२ तोला; क्वाथ-४-८ तोला।

विशिष्ट योग—अग्निमन्थकषाय, अग्निमन्थमूलकल्क, दशमूलारिष्ट।

× × × ×

'अग्निमन्थो जयः स स्यात् श्रीपर्णी गणिकारिका। जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका॥
अग्निमन्थः श्वयथुनुद् वीर्योष्णः कफवातहृत्। पाण्डुनुत् कटुकस्तिक्तस्तुवरो मधुरोऽग्निदः॥'
(भा. प्र.)

'तर्कारी कटुका तिक्ता तथोष्णाऽनिलपाण्डुनुत्। शोथश्लेष्माग्निमांद्यामविबन्धांश्च विनाशयेत्॥'
(ध. नि.)

'तर्कारी कटुका तिक्ता तुवरा मधुराऽग्निदा। वीर्योष्णा हरते वातकफश्वयथुपाण्डुताः॥
अग्निमन्थो गुणैस्तद्वद्विशेषाद्वातशोथहा।' (कै. नि.)

९१. श्योनाक

परिचय

गण—शोथहर, पुरीषसंग्रहणीय, शीतप्रशमन, अनुवासनोपग, कषायस्कन्ध (च०), बृहत् पञ्चमूल, अम्बष्ठादि (सु०)।

कुल—श्योनाक-कुल (बिगनोनिएसी-Bignoniaceae)।

नाम—लै०-ओरोक्सिलम इण्डिकम् (Oroxylum indicum); सं०-श्योनाक, अरलु; शोषण (शरीरस्थ द्रवधातु को सुखाने वाला); कट्वङ्ग (कटुरस होने से); टुण्टुक (घण्टाकार पुष्पों वाला), शुकनास (तोते की नासिका के समान रक्त पुष्पों वाला), दीर्घवृन्त (पत्रवृन्त तथा पुष्पवृन्त बड़ा होने के कारण); पृथुशिम्ब (फल बड़ा और मोटा होने के कारण); हि०-सोनापाठा (छाल का भीतरी अंश पीतवर्ण होने के कारण); बं०-शोणा; म०-टेंटू; गु०-अरडूशो; ता०-चंगमारम्; ते०-डुण्डिल्लम्।

स्वरूप—इसका वृक्ष २५-३० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-संयुक्त, २-४ फुट लंबा, पक्षाकार होता है जिसके अग्रभाग में एक पत्र होता है। **पत्रक**-५ इंच लंबे, ३-४ इंच चौड़े, तीक्ष्णाग्र एवं तरंगित-धार होते हैं। **पुष्पदण्ड**-८-१० इञ्च लंबे बिगुल के आकार के होते हैं जिनके अग्रभाग पर रक्ताभ बैंगनी रंग के पुष्प लगे रहते हैं। **पुष्पदल**-मांसल होते हैं और उनकी गन्ध अच्छी नहीं होती। **फल**-१-३ फुट लंबे, २-४ इञ्च चौड़े तलवार के सदृश होते हैं। इनमें **बीज** चपटे और पंखयुक्त लगभग ३ इञ्च लंबे और २ इञ्च चौड़े सेम के बीजों के सदृश होते हैं। इनके साथ कुछ रूई भी होती है। पुष्प-वर्षाकाल में आते हैं तथा शीत काल में फल पकते हैं।

जाति—एक जाति इसकी और है जिसका पेड़ बहुत बड़ा और पत्ते नीम के समना और दुर्गन्धित होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत तथा लंका में सर्वत्र निचले स्थानों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी मूल त्वक् में 'ओरोक्सिलिन' (Oroxylin) नामक स्फटिकीय तिक्त ग्लुकोसाइड, एक कटु तत्त्व, पेक्टीन, वसा, मोम, क्लोरोफिल, कषायद्रव्य और क्रिटिक अम्ल पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। गुण और रस से यह कफ को तथा वीर्य से पित्त को शान्त करता है। इन दोषों तथा आमदोष के द्वारा आवृत वात को भी यह शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, व्रणरोपण एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तिक्त होने से यह दीपन, पाचन, रोचन, कृमिघ्न तथा कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह सैलिसिले के समान स्वेदजनन है किन्तु उसके समान यह अवसादक नहीं है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह तिक्त होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः इसका प्रयोग कफपित्तविकारों तथा कफपित्त एवं आम से आवृत वात में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, सन्धिवात आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में इसके क्वाथ से स्नान कराते हैं। व्रणों में इसकी छाल का स्वरस देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि, आमवात-सन्धिवात आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, कृमिरोग में तथा अतिसार एवं प्रवाहिका में में इसकी छाल का रस या क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—आमवात आदि में स्वेदजनन के लिए इसका प्रयोग होता है। इससे कब्जियत होती है अतः उसे दूर करने के लिए आवश्यकतानुसार एरण्ड तैल देना चाहिए।

तापक्रम—ज्वरों विशेषतः सन्निपात में इसका प्रयोग होता है। इससे आमदोष का पाचन होता है, पसीना खूब आता है और मूत्र साफ आता है। इससे ज्वर शीघ्र उतरता है।

सात्मीकरण—कटु पौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य में विशेष कर पेट की गड़बड़ी से उत्पन्न दुर्बलता में इसका प्रयोग करते हैं। इससे पेट ठीक होता है, अग्नि बढ़ती है और क्रमशः बल की वृद्धि होती है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१०-२० रत्ती, स्वरस-१-२ तो०।

विशिष्ट योग—श्योनाक-पुटपाक, बृ० पंचमूल्यादि क्काथ।

× × × ×

'श्योनाकः शोषणश्च स्यान्नटकट्वंगटुण्टुकः। मण्डूकपर्णपत्रोर्णशुकनासकुटंनटाः॥
दीर्घवृन्तोऽरलुश्चापि पृथुशिम्बः कटम्भरः। श्योनाको दीपनः पाके कटुकस्तुवरो हिमः॥
ग्राही तिक्तोऽनिलश्लेष्मपित्तकासामनाशनः।' (भा. प्र.)
'टिण्टुकः शिशिरस्तिक्तो बस्तिरोगहरः परः। पित्तश्लेष्मामवातातीसारकासारुचीर्जयेत्॥'
(ध. नि.)
'स्योनाकयुगलं तिक्तं शीतलं च त्रिदोषजित्। पित्तश्लेष्मातिसारघ्नं सन्निपातज्वरापहम्॥'
(ए. नि.)

९२. पाटला

परिचय

गण—शोथहर (च०); बृहत् पञ्चमूल, अधोभागहर, आरग्वधादि (सु०)

कुल—श्योनाक-कुल (बिगनोनिएसी-Bignoniaceae)

नाम—लै०-स्टिरिओस्पर्मम् स्वैविओलेन्स (stereospermum suaveolens) सं०-पाटला (पुष्प-पाटलवर्ण-रक्तवर्ण-होने के कारण); कृष्णवृन्ता (काले डंठल वाली); मधुदूती, अलिवल्लभा (पुष्प सुगन्धित और मधुमय होने से इनकी ओर भ्रमर अधिक आकर्षित होते हैं), ताम्रपुष्पी (ताम्रवर्ण के पुष्पों से युक्त), कुबेराक्षी (करञ्ज के समान बीज होने के कारण) अमोघा (अन्वर्थ औषध), कुम्भीपुष्पी (कुम्भाकार पुष्प युक्त), अम्बुवासिनी (अनूपदेशज) हि०-पाढ़ल, अधकपारी; पं०-पाडल; बं०-पारुल; म० गु०-पाडल; ता०-पाडरि; ते०-कलिगोट्टु।

स्वरूप—इसके वृक्ष ३०-६० फीट ऊँचे होते हैं। **काण्ड**-बाहर से धूसर वर्ण होता है जिस पर काले दाग होते हैं और भीतर से कुछ पीताभ होता है। **पत्र**-अभिमुख, संयुक्त, १-१½ फुट लम्बे, पक्षाकार और विषमदल होते हैं। पत्रक ७-८ इञ्च लम्बे और ३-४ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**-पीताभ रक्त वर्ण या ताम्र वर्ण के सुगन्धित होते हैं। **फल**-१½ फीट लम्बा और ½ इञ्च चौड़ा, सूक्ष्म रोमश तथा चार सिराओं से युक्त होता है। इनमें १२-३० **बीज** १-१½ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प ग्रीष्म ऋतु में आते हैं तथा फल शीतकाल में पकते हैं।

जाति—भावमिश्र ने दो प्रकार की पाटला का उल्लेख किया है—(१) रक्तपुष्प (२) श्वेतपुष्प। श्वेतपुष्पा पाटला का नाम उन्होंने घण्टापाटला, काष्ठपाटला, मुष्कक आदि नाम दिया है। कुछ निघण्टुकारों ने एक और पीत पुष्प जाति का भी वर्णन किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के जलप्राय प्रदेशों यथा बिहार, बंगाल आदि में विशेष होता है। तराई के इलाकों में भी मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्पों में अलब्युमिन, शर्करा, म्युसिलेज तथा मोम होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रुक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु।

वीर्य—उष्ण (किञ्चित्)।

इसके पुष्प और फल कषाय-मधुर तथा शीत हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोष शामक है। रूक्ष, लघु होने से कफ का, तिक्त-कषाय होने से पित्त का तथा उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है। विशेषतः छाल कफवातशामक और पुष्प-फल वातपित्तशामक होते हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, तृष्णाशामक, ग्राही एवं यकृदुत्तेजक हैं। इससे आमाशयगत अम्लता कम होती है।

रक्तवहसंस्थान—इसकी छाल शोथहर तथा पुष्प हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और हिक्कानिग्रहण है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल और अश्मरीनाशक है।

प्रजननसंस्थान—इसके पुष्प वाजीकरण हैं।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न तथा दाह प्रशमन है।

सात्मीकरण—पुष्प मधुर होने से पौष्टिक होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। छाल का प्रयोग कफवातज विकारों तथा पुष्पों का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके पत्रकल्क का लेप व्रणों में करते हैं। इसके बीजों को घिस कर अर्धावभेदक (अधकपारी) में ललाट में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, तृष्णा, अतिसार एवं अर्श में प्रयुक्त होता है। अम्लपित्त में इसकी छाल का फाण्ट देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसकी छाल का प्रयोग शोथरोग में तथा पुष्पों का हृद्रोग में करते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह कास-श्वास में प्रयुक्त होता है। इसके पुष्पों को मधु के साथ मिला कर देने से हिक्कारोग शान्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्राघात तथा अश्मरी रोग में प्रयुक्त होता है, इन रोगों में इसका क्षार देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसके पुष्पों का सेवन किया जाता है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में पुष्पों का गुलकन्द बनाकर देते हैं। तञ्जोर प्रदेश में इसके पुष्पों की मिठाई बनाते हैं और उसका प्रयोग बलवृद्धि के लिए करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, पुष्प, क्षार।

मात्रा—त्वक्चूर्ण १०-२० रत्ती; पुष्पस्वरस १-२ तो०; क्षार ६-१२ रत्ती,।

विशिष्ट योग—बृ. पंचमूलादि क्वाथ, पाटलीतैल।

× × × ×

'पाटली पाटलामोघा मधुदूती फलेरुहा। कृष्णवृन्ता कुबेराक्षी काचस्थाल्यलिवल्लभा॥
ताम्रपुष्पी च कथिता परा स्यात् पाटला सिता। मुष्कको मोक्षको घण्टापाटलिः काष्ठपाटला॥
पाटला तुवरा तिक्ताऽनुष्णा दोषत्रयापहा। अरुचिश्वासशोथार्शश्छर्दिहिक्कातृषाहरी॥
पुष्पं कषायं मधुरं हिमं हृद्यं कफास्रनुत्। पित्तातिसारहृत् कण्ठ्यं फलं हिक्कास्रपित्तहृत्॥'
(भा. प्र.)

'पटोलपाटलाक्वाथो धान्यनागरकान्वितः। जलेन सहितः प्रोक्तश्चाम्लपित्तनिवारणः॥' (च. द.)

९३. गम्भारी

परिचय

गण—शोथहर, विरेचनोपग, दाहप्रशमन (च०); बृ० पंचमूल, सारिवादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्विनेसी-Verbenaceae)।

नाम—लै०-मेलिना आर्बोरिया (Gmelina arborea); सं-गम्भारी, श्रीपर्णी (सुन्दर पत्रों वाली), मधुपर्णिका (पत्तों में मधु के सदृश रस होने के कारण), काश्मरी (सुन्दर वृक्ष होने से); पीतरोहिणी (पीत पुष्पों से युक्त), काश्मीरी (काश्मीर आदि पार्वत्य प्रदेश में होने से); हि०-गँभार; पं०-गंभारी; म०-शिवण; गु०-शीवण, सवन; बं०-गामार; ता०-गुमादि; ते०-पद्मगोमरु।

स्वरूप—इसके वृक्ष ४०-६० फीट ऊँचे होते हैं। काण्डत्वक्-श्वेतवर्ण होती है। **पत्र**-१ इञ्च लंबे, ६/इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त ३ इञ्च लम्बा होता है तथा वृन्तभाग में पत्र हृदयाकृति होते हैं पत्तियों का अग्रभाग पतला सूच्याकार होता है। **पुष्प**-पीतवर्ण और अड्डसे के पुष्प के सदृश होते हैं। **फल**-मौलसिरी के फल के समान, अंडाकार और पीले रंग का तथा स्वाद में मधुर कषाय होता है। इसके भीतर २-३ बीज होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प एवं ग्रीष्म में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पार्वत्यप्रदेश-हिमालय, नीलगिरि तथा पूर्वी और पश्चिमी किनारों में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में एक पीतवर्ण का गाढ़ा तैल, राल, एक क्षारतत्त्व और कुछ बेञ्जोइक एसिड होता है। फल में ब्यूटिरिक और टार्टरिक अम्ल, एक क्षारतत्त्व, शर्करा, राल और कुछ कषाय द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—गुरु। **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

इसका फल शीतवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। कषाय, तिक्त और मधुर होने से पित्त एवं उष्ण होने से कफ और वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियाँ शीतल और स्नेहन होती है। अतः दाह और पीडा को शान्त करती हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य एवं वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, दीपन एवं अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका फल हृद्य एवं रक्तपित्तशामक है। छाल-शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—इसका फल सन्धानीय और बल्य है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके फल तथा पत्तियाँ मूत्रजनन हैं।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भस्थापन तथा स्तन्यजनन है। इसका फल वृष्य है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न एवं दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—इसकी छाल कटुपौष्टिक और बृंहण और रसायन है। यह विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ज्वर में जब शिरःशूल होता है तब इसकी पत्तियों का शिर में लेप करते हैं। इससे दाह और पीड़ा शान्त होती है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह भ्रम, मस्तिष्कदौर्बल्य तथा वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—इसका मूल अग्निमांद्य, विबन्ध और अर्श में दिया जाता है। इसका फल तृष्णा में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—इसकी मूलत्वक् शोथरोग में प्रयुक्त होती है तथा पका फल हृद्रोग एवं रक्तपित्त में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—इसका फल उरःक्षत तथा क्षयरोग में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—इसका फल एवं पत्तियों का स्वरस मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह, बस्तिशोथ में देते हैं। इन रोगों में पत्रस्वरस गोदुग्ध और मिश्री में मिलाकर सेवन कराते हैं। इससे मूत्र साफ आता है, वेदना शान्त होती है तथा शोथ कम होता है।

प्रजननसंस्थान—इसका फल शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भपात आदि में दिया जाता है। मूलत्वक् का क्वाथ सूतिकारोग में देते हैं। इससे गर्भाशय का शोथ कम होता है, ज्वर आदि उपद्रव शान्त होते हैं तथा स्तन्य की वृद्धि होती है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका फल तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं। सांप तथा बिच्छू के विषों में भी इसकी छाल का बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, फल।

मात्रा—मूलत्वक् स्वरस १-२ तो०, क्वाथ ४-८ तो०।

विशिष्ट योग—श्रीपर्ण्यादिक्वाथ, श्रीपर्णी तैल, बृ० पंचमूल्यादि क्वाथ।

'काश्मरी तुवरा तिक्ता वीर्योष्णा मधुरा गुरुः। दीपनी पाचनी मेध्या भेदनी भ्रमशोथजित्॥
दोषतृष्णामशूलार्शोविषदाहज्वरापहा। तत्फलं बृंहणं वृष्यं गुरु केश्यं रसायनम्॥
वातपित्ततृषारक्तक्षयमूत्रविबन्धनुत्। स्वादु पाके हिमं स्निग्धं तुवराम्लं विशुद्धिकृत्॥
हन्याद् दाहतृषावातरक्तपित्तक्षतक्षयान्।' (भा. प्र.)
'हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्तासृग्वातनाशनम्। केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्यं फलमुच्यते॥'
(सु. सू. ४६)

'काश्मर्यफलं रक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)
'काश्मर्यतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि।' (सु. सू. ४५)

६४. मानकन्द

परिचय

कुल—सूरण-कुल (एरेसी–Araceae)।

नाम—लै०-एलोकेसिया इण्डिका (Alocasia indica); सं०-मानकन्द, मानक, महापत्र (बड़ी पत्तियों वाला); हि०-मानकन्द; बं०-मानकचू; अं०-ग्रेट ली० ड कैलिडियम (Great-leavedslalediun)।

स्वरूप—इसका क्षुप अरुई या सूरन के समान होता है। **काण्ड**-३-८ फुट लंबा होता है। **पत्र**-२-३ फुट लंबा, अंडाकृति, वृन्तभाग में हृदयाकृति तथा अग्रभाग में क्रमशः सीधा होता है। **पत्रवृन्त**-कठिन और लंबा होता है। **कन्द**-लम्बगोल १-२ फुट लंबा होता है। वर्षा-शरद् ऋतु में पुष्प एवं बाद में फल लगते हैं।

जाति—यह कन्द के स्वादभेद से दो प्रकार का होता है—१. कटु और २. मधुर। मधुर जाति का औषध में प्रयोग होता है। यह बंगाल में 'सत्रागाछी मान' कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में विशेषतः बंगाल और बिहार में उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में पोटाशियम ऑक्जलेट, चूना तथा स्टार्च होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर-शीत होने से वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियाँ तथा कन्द शोथहर और वेदनास्थापन होती हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह शूलप्रशमन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका पत्र रक्तरोधक एवं कन्द शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह बलवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग वातपैत्तिक विकार में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके पत्र या कन्द को गरम कर सन्धिवात, आमवात आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में ऊपर से बाँधते हैं। इसके काण्ड का स्वरस गरम कर कर्णशूल, कर्णस्राव में कान में डालते हैं। मानकन्द की अन्तर्धूम भस्म सरसों के तैल और सेंधा नमक के साथ जिह्वास्तम्भ में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका कन्द वातव्याधि में सेवन करते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका कन्द उदररोग, उदरशूल, विबन्ध एवं अर्श में लाभकर है। अर्श और विबन्ध में इसका शाक भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसके पत्र या कांड का स्वरस रक्तपित्त में व्यवहृत होता है। सर्वाङ्गशोथ में इसके पुराने कन्द का चूर्ण देते हैं। शोथ रोग में इसका एक विशिष्ट कल्प प्रयुक्त होता है, इसे 'मानमण्ड' कहते हैं। पुराने मानकन्द का चूर्ण ८ तोला, चावल का चूर्ण १६ तोला, दुग्ध २४ तोला और जल २४ तोला मिला कर उबालते हैं और जलांश शुष्क होने पर उतार लेते हैं। यही मानमण्ड है। प्लीहावृद्धि में भी कन्द चूर्ण देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य एवं पाण्डु में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द, कांड, पत्र।

मात्रा—कन्दचूर्ण-½-१ तोला; स्वरस-१-२ तोला।

विशिष्ट योग—मानकादि गुडिका, मानमण्ड।

× × × ×

'मानकः स्यान्महापत्रः कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। मानकः शोथहृच्छीतो रक्तपित्तहरोऽलघुः॥'
(भा. प्र.)

'मानकं स्वादु शीतं च गुरु चापि प्रकीर्त्तितम्।' (सु. सू. ४६)
**'पुराणं मानकं पिष्ट्वा द्विगुणीकृततण्डुलम्। साधितं क्षीरतोयाभ्यामभ्यसेत् पायसन्तु तत्॥
हन्ति वातोदरं शोथं ग्रहणीं पाण्डुतामपि। सिद्धो भिषग्भिराख्यातः प्रयोगोऽयं निरत्ययः॥**
(च. द.)

९५. व्याघ्रनखी

परिचय

कुल—वरुण-कुल (कैपरिडेसी-Capparidaceae)।

नाम—लै०-कैपरिस जिलैनिका (Capparis zeylanica); सं०-व्याघ्रनखी (वाघ के नख के सदृश इनकी शाखाओं में तीक्ष्ण और टेढ़े काँटे होते हैं); व्याघ्राटक; गान्धारी (गन्धार देश में अधिक होने के कारण); हि०-करुआ; बं०-कालकेरा; ता०-अन्थुण्डिकाई।

स्वरूप—यह छोटा सा गुल्म अनेक शाखाओं से युक्त होता है। शाखाओं में पत्तियों के निकलने के स्थान पर बाघ के नख के सदृश तीक्ष्ण और टेढ़े काँटे होते हैं। **पत्र**-१-३ इञ्च लम्बे और १-१½ इञ्च चौड़े अण्डाकार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं जिनमें नीचे के दल कुछ बैंगनी रंग के होते हैं। **फल**-२ इञ्च लम्बे, कोमल

होते हैं। **बीज**–फल के भीतर चक्राकार व्यवस्थित रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और वर्षा ऋतु में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तरप्रदेश, बंगाल, कर्नाटक और मलाबार प्रदेशों में अधिक मिलता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—कटु, तिक्त और उष्ण होने से यह रुचिवर्धक और दीपन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक और शोथहर है। रक्तशोधक भी है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—श्लीपद, आमवात आदि में इसकी जड़ को पीस कर गरम लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, पाचनविकार में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य तथा शोथ, श्लीपद आदि में लाभकर है। रक्तविकारों में भी देते हैं।

तापक्रम—ज्वरों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण-१-२ माशे।

× × × ×

'गान्धारी कटुतिक्तोष्णा कफवातनिकृन्तनी।
शोफघ्नी दीपनी रुच्या रक्तग्रन्थिरुजापहा॥' (रा. नि.)

९६. अधःपुष्पी

परिचय

कुल—श्लेष्मातक-कुल (बोरेजिनेसी–Boraginaceae)।

नाम—लै०–ट्राइकोडेस्मा इण्डिकम (Trichodesma indicum); सं०–अधःपुष्पी (पुष्प खिलने पर नीचे की ओर लटक जाते हैं); हि०–अन्धाहुली; म०–जिन्धी, गावोजा; गु०–ऊँधाहुली; बं०–चेतरहूली।

स्वरूप—इसका **क्षुप** बरसात के दिनों में अधिक उत्पन्न होते हैं। यह १–२½ फुट ऊँचा होता है। **शाखायें** रक्ताभ हरितवर्ण की जमीन पर झुकी रहती हैं। इसके काण्ड और पत्र में बड़े-बड़े कठिन रोम होते हैं। **पत्र**–१–२ इञ्च लम्बे तथा १–१½ इञ्च

चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त छोटा होता है। **पुष्प**–श्वेत-नीलवर्ण के नीचे की ओर लटके रहते हैं। **फल**–श्वेतवर्ण और पकने पर बैंगनी रंग का हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र स्वाभाविक रूप से उत्पन्न मिलता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक एवं शोथहर है।
मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।
प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक है।
त्वचा—यह चर्मरोगों को नष्ट करता है।
तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—यह विषघ्न है।
नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, व्रणशोथ आदि में इसके पंचांग का लेप करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में भी इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, प्रवाहिका और ग्रहणी में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार तथा शोथरोग में देते हैं। सन्धिवात, आमवात आदि में भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तव-कष्ट तथा मूढ़गर्भ में अतीव लाभकर है।
त्वचा—यह चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—यह ज्वर में उपयोगी है।
सात्मीकरण—सर्पविष में इसके मूल को जल के साथ पीस कर पिलाते हैं।
प्रयोज्य अंग—मूल और पंचांग।
मात्रा—मूलकल्क-½-१ तोला, पंचांगस्वरस-१-२ तोला।

× × × ×

'ऊँधाफूली जड़ को आन, दो पैसा भर जल संग पान।
सर्पविष कोई ना रहे, सिद्धनाथ योगी यूँ कहे॥' (लोकोक्ति)

गण्डमालानाशक

९७. काञ्चनार

परिचय

गण—वमनोपग (च०); ऊर्ध्वभागहर, कषायवर्ग (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल-(लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०- बॉहिनिया वेरीगेटा (Bawhinia variegata), सं०-काञ्चनार, कोविदार, गण्डारि (गण्डमाला को नष्ट करने वाला); चमरिक (चमर के समान पुष्प वाला); युगपत्रक (पत्र के अग्रभाग में ऐसा गहरा चीरा रहता है जिससे मालूम होता है कि दो पत्ते एक साथ जुटे हों), स्वल्पकेसरी (अल्प केसर होने से)। हि०-कचनार; पं०-कचनाल, कुलाड़; बं०-काञ्चन; म०-कोरल, काञ्चन; गु०-चंपाकाटी; ता०-मंदारै; ते०-देवकाञ्चनसु।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का होता है। **काण्ड**-सरल एवं काण्डत्वक् धूसर तथा खर होता है। **पत्र**-का अग्रभाग खण्डित होता है और ऐसा प्रतीत होता है मानों दो पत्र परस्पर मिले हों। **पुष्प**-श्वेत, पीत या रक्त होते हैं। **शिम्बी**-लगभग एक इञ्च की कठिन और चपटी होती है जिसमें १०-१५ बीज होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प और वर्षा में फल आते हैं।

जाति—पुष्पभेद से यह तीन प्रकार का होता है-श्वेत, पीत और रक्त। श्वेत और रक्त तो प्रायः सदृश होते हैं किन्तु पीत का वृक्ष बड़ा होता है और पार्वत्य प्रदेशों में अधिक होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टैनिन (कषाय द्रव्य), शर्करा और भूरे रंग की गोंद होती है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—कषाय। **विपाक**—कटु।
वीर्य—शीत। **प्रभाव**—गण्डमालानाशन।

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष, लघु एवं कषाय होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य— यह व्रणशोधन, व्रणरोपण कुष्ठघ्न एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन और कृमिघ्न है तथा बड़ी मात्रा में वामक है। पुष्प मधुर होने से अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह कषायशीत होने से रक्तस्तम्भन है। रसग्रन्थियों पर इसकी क्रिया विशिष्ट होती है और उनके शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—यह कषाय होने से आर्त्तवस्राव को कम करता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—रूक्ष होने के कारण यह लेखन है और मेद को कम करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य-इसके क्वाथ से व्रणों एवं चर्मरोगों का प्रक्षालन करते हैं। गंडमाला में इसकी छाल का लेप करते हैं। इसकी छाल बबूल की फली और अनार के फूलों का क्वाथ बनाकर लालाप्रसेक और मुखपाक में गण्डूष धारण कराते हैं। गुदभ्रंश में इसके क्वाथ से परिषेक करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन होने से इसका प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, अर्श इन रोगों में करते हैं। कृमि में भी देते हैं। वामकद्रव्यों के साथ सहायक रूप में इसका प्रयोग होता है। पुष्पों का गुलकन्द विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। गण्डमाला एवं रसग्रंथियों की वृद्धि में यह प्रशस्त औषध है।

श्वसनसंस्थान—कास में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहरोग में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह स्तम्भन होने से रक्तप्रदर में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह कुष्ठरोग में दिया जाता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक् और पुष्प।

मात्रा—त्वक्चूर्ण-३-६ मा०; क्वाथ-४-८ तो०; पुष्पस्वरस-१-२ तो०।

विशिष्ट योग—काञ्चनारगुग्गुलु; काञ्चनारादिक्वाथ, काञ्चनगुडिका।

× × × ×

'काञ्चनारो हिमो ग्राही तुवरः श्लेष्मपित्तहृत्। कृमिकुष्ठगुदभ्रंशगण्डमालाव्रणापहा॥
कोविदारोऽपि तद्वत् स्यात् तयोः पुष्पं लघु स्मृतम्। रूक्षं संग्राहि पित्तास्रप्रदरक्षयकासनुत्॥'
(भा. प्र.)

'कोविदारपुष्पाणि मधुराणि मधुरविपाकानि रक्तपित्तहराणि च।' (सु. सू. ४६)

'कोविदारस्य······। पुष्पं ग्राहि प्रशस्तं च रक्तपित्ते विशेषतः॥' (च. सू. २७)

९८. काण्डीर

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)

नाम—लै०-रैननकुलस स्किलरेटस-Ranunculus sceleratus) सं०-काण्डीर (काण्ड-बाण के समान तीक्ष्ण होने से); काण्डकटुक (कटुरसयुक्त काण्डवाला); नासासंवेदन (तीक्ष्ण होने के कारण); तोयवल्ली (जलीय प्रदेश में उत्पन्न होने के कारण); सुकाण्डक (सुन्दर, सरल काण्डवाला)। हि०-देवकांडर, जलधनिया; विहार-पलिका; कुमायूँ-सिम; अ०-कबीकजज; फा०-करफ्स दश्ती; अं०-वाटर सेलरी (Water celery).

स्वरूप—यह एक कोमल १-३ फुट ऊँचा क्षुप है। **पत्र**-कटावदार, कई खण्डों में विभक्त, धनिया के पत्ते के समान (इसीलिए इसे जलधनिया कहते हैं) होते हैं। **पुष्प**-

पीले रंग के होते हैं। **फल**—लंबा, गोलाकार, रोमश होता है। इसकी पत्तियों और शाखाओं में राई के सदृश तीक्ष्ण गन्ध होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह सामान्यतः नदियों या झीलों के किनारे उत्पन्न होता है और आनूप प्रदेशों में पाया जाता है-यथा उत्तरी भारत, बंगाल, सिंध, स्याम आदि।

रासायनिक संघटन—समस्त क्षुप में एक प्रबल का 'कारी तत्त्व होता है जिसे ऐनिमोनिन (Anemonin) कहते हैं।

गुण

गुण—रुक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तीक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से वातकफशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तोक्लेशक एवं स्फोटजनन होता है।

आभ्यन्तर—यह अतितीक्ष्ण और विषाक्त होता है, अतः इसका अन्तः प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन एवं भेदन होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रस ग्रन्थियों के शोथ को कम करता है तथा रक्तशोधक है। आयोडिन के समान इसका कार्य होता है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह रसग्रंथियों के शोथ में लगाया जाता है। प्लेग की गिल्टियों के लिए यह लाभकर माना जाता है। ध्वजभंग में इसका लेप शिश्न पर करते हैं। इसके अतिरिक्त, चर्मरोग, आमवात आदि में भी लेप लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग, गुल्म, प्लीहा, उदरशूल, मन्दाग्नि आदि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रसग्रन्थियों के शोथ एवं रक्तविकारों में उपयोगी है। प्लेग में इसकी गोली देने से प्रतिषेध और निवारण दोनों होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—पञ्चांग—

मात्रा—चूर्ण ४-८ र०।

× × × ×

[1]काण्डीरः काण्डकटुको नासासंवेदनः पटुः। उग्रकाण्डस्तोयवल्ली कारवल्ली सुकाण्डकः॥
काण्डीरः कटुतिक्तोष्णः सरो दुष्टव्रणार्त्तिजित्। लूतागुल्मोदरप्लीहशूलमन्दाग्निनाशनः॥
(ध. नि.)

चतुर्थ अध्याय

श्वसन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

छेदन (श्लेष्महर)

६९. बिभीतक

परिचय

गण—ज्वरहर, विरेचनोपग, (च०); त्रिफला, मुस्तादि (सु०)।

कुल—कॉम्ब्रेटेसी (Combretaceae)।

नाम—लै०-टर्मिनेलिया बेलरिका (Terminalia belerica); सं०-विभीतक (विगतं रोगभयमस्मात्-विभ्यति रोगा अस्मात् इति वा-जिसके सेवन से रोगों का भय जाता रहे); कर्षफल (इसका फल १ कर्ष = २ तोले वजन का होता है); अक्ष (इसके बीज जुआ खेलने में प्रयुक्त होते थे) कलिद्रुम (जुआ में प्रयुक्त होने के कारण ही इसे कलि-कलह-का वृक्ष कहते हैं) हि०-म०-गु०-बहेड़ा; बं०-बयड़ा; ता०-अक्कम्; ते०-ताडि; अ०-बलीलज; फा०-बलील।

स्वरूप—इसका लगभग ५०-१०० फीट ऊँचा वृक्ष होता है। **काण्डत्वक्**-धूसरवर्ण तथा काण्डसार कठिन होता है। **पत्र**-वटपत्र के सदृश ३-६ इंच लम्बे होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीताभ होते हैं। पुंकेशर १० होते हैं जिनमें ५ बड़े और ५ छोटे होते हैं। **फल**-गोलाकार, धूसर वर्ण होते हैं। प्रत्येक फल में एक बीज होता है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल होते हैं।

जाति—फल की दृष्टि से विभीतक दो प्रकार का होता है:—एक का फल छोटा और दूसरे का बड़ा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत और बर्मा में सर्वत्र पाया जाता है विशेषकर पार्वत्यप्रदेशों में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में गैलोटैनिक एसिड (Gallo-tannic acid), रंजक द्रव्य, राल तथा इसके बीजों में एक हरिताभ पीतवर्ण तैल २५ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, लघु, कषाय होने से कफ का कषाय-मधुर होने से पित्त का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है किन्तु विशेष कर्म कफ पर होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, रक्तस्तम्भन एवं कृष्णीकरण है।

नाडीसंस्थान—इसकी मज्जा मादक और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने के कारण दीपन, अनुलोमन एवं कृमिघ्न है। इसका अर्धपक्व फल रेचन और पक्व-शुष्क फल ग्राही है। यह तृष्णानिग्रहण और छर्दिनिग्रहण भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह कषाय होने से रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासनलिकाओं के शोथ को दूर करता है और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—इसकी मज्जा वाजीकरण है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—इसका कर्म विशेष रूप से रस, रक्त, मांस और मेद धातुओं पर होता है। मधुरविपाक होने यह धातुवर्धक है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में होता है किन्तु कफप्रधान विकारों में यह विशेष उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों में इसके फल का लेप करते हैं तथा इसके बीजों का तैल लगाते हैं। तैल का प्रयोग चर्मरोग, अग्निमान्द्य, श्वित्र तथा पालित्य में करते हैं। इसके फल का टुकड़ा प्रतिश्याय, कास, श्वास तथा स्वरभंग में मुख में रख कर चूसते हैं। इससे कफ आसानी से निकल जाता है। सद्योव्रण में इसका चूर्ण देने से रक्त रुक जाता है। अभिष्यन्द में इसका लेप नेत्र पर करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वातव्याधि, अनिद्रा आदि में इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, आध्मान, तृष्णा, छर्दि, अर्श एवं कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। इसका अर्धपक्व फल विबन्ध में तथा पक्व शुष्क फल अतिसार-प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह आभ्यन्तर रक्तस्राव को रोकता है, विशेषकर रक्तनिष्ठीवन में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, कास, श्वास, स्वरभेद में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—इसका एक बीज प्रतिदिन सेवन करने से क्लैब्य रोग में लाभ होता है और कामोत्तेजना बढ़ती है।

तापक्रम—ज्वर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में विशेषतः रस, रक्त, मांस और मेद के विकारों में प्रयुक्त होता है।

नेत्र—यह अनेक नेत्ररोगों में व्यवहृत होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे।

विशिष्ट योग—बिभीतक तैल, त्रिफलाचूर्ण, फलत्रिकादि क्वाथ, तालीशादि चूर्ण, लवंगादि वटी।

'विभीतकं स्वादुपाकं कषायं कफपित्तनुत्। उष्णवीर्यं हिमस्पर्शं भेदनं कासनाशनम्।
रूक्षं नेत्रहितं केश्यं कृमिवैस्वर्यनाशनम्। विभीतमज्जा तृट्छर्दिकफवातहरी लघुः॥
कषाया मदकृच्चाथ धात्रीमज्जापि तद्गुणा।' (भा. प्र.)
'रसासृङ्मांसमेदोजान् दोषान् हन्ति विभीतकम्। स्वरभेदकफोत्क्लेदपित्तरोगविनाशनम्॥'
(च. सू. २७)
'भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यकृमिनाशनम्। चक्षुष्यं स्वादुपाक्याक्षं कषायं कफपित्तजित्॥'
'बैभीतको मदकरः कफमारुतनाशनः।' (सु. सू. ४६)

१००. वासा

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-अधाटोडा वासिका (Adhatoda Vasica); सं०-वासा, वासक, वासिका (वासयति आच्छादयति—जो सघन होने के कारण प्रदेश को शीघ्र आच्छादित कर ले); सिंहास्य (सिंह-मुख के सदृश पुष्प वाला); वाजिदन्त (घोड़े के दाँत के सदृश श्वेत पुष्प वाला); वृष (वर्षति मधु—इसके पुष्पों में अधिक मधु होता है); आटरूषक; हिं०-अडूसा, वाकस; बं०-वाकस; पं०-वांसा; म०-अडुलसा; गु०-अरडुसो; ता०-एधाडोड; ते०-आदासरा; अं०-मलाबार नट (Malabar Nut)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**-४-८ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-३-८ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण और ऐसे खुले होते हैं कि दूर से देखने पर सिंह के मुख के सदृश मालूम होते हैं। बीजकोष में चार बीज होते हैं।

जाति—वासा दो प्रकार का होता है—(१) श्वेत और (२) कृष्ण। कृष्ण वासा को असितपर्णी भी कहते हैं। इसके पत्र गहरे रंग के होते हैं। पुष्प ताम्रवर्ण के होते हैं तथा शाखाओं की ग्रन्थियाँ रक्ताभ होती हैं। इसका क्षुप कुछ अधिक ऊँचा होता है किन्तु तिक्तता कम होती है। कृष्ण वासक अधिक गुणकारी होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत, बर्मा एवं सिंगापुर में पाया जाता है। कृष्ण वासक हिमालय प्रदेश में ४ हजार फुट की ऊँचाई तक प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें गन्धयुक्त उड़नशील तैल, वसा, राल, एक तिक्त क्षारतत्त्व 'वासिकिन' (Vasicine), एक सेन्द्रिय अम्ल 'अधाटोडिक अम्ल' (Adhatodic acid), शर्करा, गोंद, रंजक द्रव्य और लवण पाये जाते हैं। पत्तियों से एक पीला रंग भी निकाला जाता है। वासिकिन नामक क्षारतत्त्व की अधिक मात्रा मूलत्वक् में होती है, पत्तियों में ०.२५ प्रतिशत तक होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष तथा तिक्त-कषाय होने से कफ का एवं शीत तथा तिक्त-कषाय होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप शोथहर, वेदनास्थापन, जन्तुघ्न तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह प्राणदा नाडी को अवसादित करता है।

पाचनसंस्थान—कषाय और शीत होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है। अधिक मात्रा में देने पर हृत्पेशी एवं हृत्पेशी की नाडी (प्राणदा) को अवसादित करने के कारण यह रक्तभार को कुछ कम करता है। यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन भी है क्योंकि यह छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करता है।

श्वसनसंस्थान—इस संस्थान पर इसकी मुख्य क्रिया होती है। यह कफ को पतला कर बाहर निकालता है तथा श्वासनलिकाओं का प्रसार करता है। यह प्रसार कम किन्तु स्थायी होता है। इस प्रकार यह श्लेष्महर, कासहर, कण्ठ्य एवं श्वासहर है। इसकी क्रिया बहुत कुछ इपीकैकुआना के सदृश होती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धात्वग्नियों को उद्दीप्त कर धातुनिर्माण-क्रिया को ठीक करता है जिससे क्षय दूर होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तविकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, व्रणशोथ तथा नाडीशूल में इसके कल्क का प्रलेप करते हैं। चर्मरोगों में भी इसके पत्र का लेप करते हैं। अपतंत्रक, अपस्मार आदि में इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं। इसका पत्रस्वरस बाह्य कृमियों को मारने के लिए भी प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन होने से अतिसार एवं प्रवाहिका विशेष कर रक्तज में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, रक्तनिष्ठीवन तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं यक्ष्मा में अतीव उपयोगी है। इससे कफ पतला होकर आसानी से बाहर निकलता है, कास का जो निरन्तर वेग आता रहता है वह कम होता है, श्वासनलिकाओं का प्रसार होकर दम फूलना कम हो जाता है और यदि कफ के साथ या खाँसी के बाद मुँह से रक्त आता हो तो वह भी बन्द हो जाता है। इसके अतिरिक्त क्षय, ज्वर आदि भी दूर होता है। पत्तियों के चूर्ण में थोड़ी धतूरे की की पत्ती मिलाकर धूम्रपान करने से श्वास का वेग शान्त हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके पुष्प मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह एवं पैत्तिक प्रमेह में प्रयुक्त होते हैं।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मविकारों में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम—इसका प्रयोग ज्वर में करते हैं।

सात्मीकरण—यह क्षयरोग में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र एवं पुष्प।

मात्रा—पत्रस्वरस-१-२ तोला; पुष्प-५-१० रत्ती; मूलत्वक् चूर्ण-२-५ रत्ती; मूलक्वाथ-४-८ तोला।

विशिष्ट-योग—वासावलेह, वासारिष्ट, वासापानक, वासाचन्दनादि तैल।

× × × ×

'वासको वातकृत् स्वर्यः कफपित्तास्रनाशनः। तिक्तस्तुवरको हृद्यो लघुः शीतस्तृडर्त्तिहृत्॥ श्वासकासज्वरच्छर्दिमेहकुष्ठक्षयापहः।' (भा. प्र.)

'वृषपुष्पं···कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते।' (च. सू. २७)

'वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासापहानि च।' (सु. सू. ४६)

'वासायां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च। रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति॥'

१०१. तालीस

परिचय

गण—शिरोविरेचन (सु०)।

कुल—देवदारु-कुल-(कोनीफेरी-Coniferae)।

नाम—लै०-एबीज वेबियाना (Abies webbiana) सं०-तालीस, पत्राढ्य (सदा हरित पत्रों से युक्त); धात्रीपत्र (आमले के सदृश पत्र वाला)। हि०-तालीस पत्र; बं०-तालीशपत्र; ता०-ते०-तालीसपत्री; कश्मीर०-बुदुल; अं०-सिलवर फर (Silver fir)।

स्वरूप—इसके सदा हरित पत्राच्छादित वृक्ष १५०-२०० फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड की परिधि प्रायः ३० फीट होती है। नवीन शाखायें सूक्ष्म और भूरे रंग के रोमों से ढँकी और झुकी हुई होती है। **पत्र**—१-२ इञ्च लंबे, $\frac{1}{12}$ इञ्च चौड़े, रेखाकार, नताग्र और अग्रभाग पर दो तीक्ष्ण और कठोर नोकों से युक्त होते हैं। पत्रोदर चिकना और गहरे रंग का होता है तथा पत्रपृष्ठ उज्ज्वल तथा एक लंबी रेखा द्वारा विभक्त रहता है। ये कांड में पेंचदार क्रम में निकलते हैं किन्तु देखने में दो पंक्तियों में निकले मालूम होते हैं। **फल**—लंबगोल, प्रायः ६ इञ्च लंबे, बैंगनी या नीलवर्ण के होते हैं। **बीज**—पक्षयुक्त $\frac{1}{2}$-१ इञ्च लंबे होते हैं।

वक्तव्य—देशभेद से तीन द्रव्य तालीसपत्र के नाम पर व्यवहृत होते हैं—(१) वंगीय (Abies webbliana) जिसका वर्णन यहाँ किया गया है। (२) नैपाली (रोडोडेण्ड्रोन ऐन्थोपोगोन-Rhododendron Anthopogon) यह नेपाल में अधिक प्रचलित है। (३) मध्यदेशीय (टैक्सस बकाटा-Taxus Baccata) यह युक्तप्रान्त, राजपूताना, महाराष्ट्र, गुजरात आदि में प्रयुक्त होता है। इसे 'थुनेर' भी कहते हैं। यह विषाक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भूटान, कुमायूँ, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान आदि ऊँचे पार्वत्य प्रदेशों में ८-१२ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पत्र में एक स्फटिकीय क्षारतत्त्व-टैक्सिन (Taxine) तथा एक उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त-उष्ण होने से रोचन, दीपन, वातानुलोमन है।

श्वसनसंस्थान—यह तिक्तकटु, तीक्ष्ण और उष्ण होने से श्लेष्महर तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह मधुरविपाक होने से बलवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान एवं गुल्मरोग में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास, स्वरभेद तथा यक्ष्मा में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रवह स्रोत के शोथ एवं मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में विशेषकर वातश्लैष्मिक में अधिक लाभकर है। ब्रॉन्कोन्यूमोनिया (Broncho-pneumonia) में भी अतिशय उपयुक्त है। इससे ज्वर शान्त होता है, कफ आसानी से निकलता है तथा छाती का दर्द दूर होता है।

सात्मीकरण—क्षयरोग एवं दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—चूर्ण-४-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—तालीसाद्य चूर्ण, तालीसादि वटी।

× × × ×

'तालीसयुक्तं पत्राढ्यं धात्रीपत्रंच तत् स्मृतम्। तालीसं लघु तीक्ष्णोष्णं श्वासकासकफानिलान्॥ निहन्त्यरुचिगुल्मामवह्निमान्द्यक्षयामयान्।' (भा. प्र.)

'तालीसपत्रं तिक्तोष्णं मधुरं कफवातनुत्।
कासहिक्काक्षयश्वासच्छर्दिदोषविनाशकृत्॥' (रा. नि.)

१०२. लवंग

परिचय

कुल—लवंग-कुल-(मिर्टेसी-Myrtaceae)।

नाम—लै०-कैरियोफाइलस एरोमेटिकस (Caryophyllus Aromaticus); सं०-लवंग, देवकुसुम (देवताओं का फूल-फूलों में श्रेष्ठ); श्रीप्रसून (सुन्दर पुष्प वाला); चन्दनपुष्पक (चन्दन के समान सुगन्धित पुष्प), वारिज (जलवेष्ठित द्वीपों में होने से); हि०-लवंग, लौंग; म०-गु०-लवंग; बं०-लवंग; ता०-किराम्बु; ते०-कारावाल्लु; अं०-क्लोव (Clove)।

स्वरूप—इसका सदाहरित वृक्ष ३०-४० फीट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-पीताभ, धूसरवर्ण कोमल होता है। काण्ड से चारो ओर कोमल और अवनत शाखायें निकल कर फैली रहती हैं। **पत्र**-हरितवर्ण, ३-६ इञ्च, अण्डाकृति तथा आगे और पीछे की ओर सरल होते हैं। **पुष्प** का वहिर्भाग रक्तवर्ण चार त्रिकोण भागों में विभक्त होता है। **फल**-मांसल लगभग एक इञ्च लम्बा होता है। **बीज**-प्रत्येक फल में एक होता है। वसन्त ऋतु में पुष्प एवं ग्रीष्म में फल आते हैं। ९ वर्ष की आयु में लवंगवृक्ष में सर्वप्रथम पुष्प आते हैं। पुष्पकलिओं को ही सुखाकर बाजारों में लवंग के नाम से बेचते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान मलाया एवं सैलिबिस द्वीप है किन्तु अब सुमात्रा, मलाक्का, जंजीबार, पिनांग, मारिशस एवं बोर्निओ द्वीपों में उपजाया जाता है। अमेरिका में ब्राजिल, गियाना तथा पश्चिम भारतीय द्वीपों में पाया जाता है। दक्षिण भारत में ट्रावनकोर में अधिक परिणाम में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक गुरु उड़नशील तैल १६-२० प्रतिशत, कर्पूरराल ६ प्रतिशत, एक स्फटिकीय तत्त्व-युजिनिन (Eugenine) या कैरियोफाइलिन (Coryophyllin), टैनिन, गोंद, काष्ठभाग आदि रहते हैं। लवंगतैल में फेनोल के सदृश एक तत्त्व युजिनॉल (Eugenol) ८५ से ९२ प्रतिशत तक होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—तिक्त-कटु होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण होने से यह रक्तोत्क्लेशक, उत्तेजक एवं कृमिघ्न होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त होने से दीपन, पाचन, रुचिवर्धक है। यह तीक्ष्णता के कारण लालाग्रंथियों को उत्तेजित करता है जिससे लालास्राव अधिक होता है और मुखशोष दूर होता है। सुगन्ध के कारण मुख-दुर्गन्धनाशन तथा कटुता के कारण वैशद्यकर है। स्निग्ध होने से वातानुलोमन एवं शूलप्रशमन है। यह यकृत् को भी उत्तेजित करता है।

रक्तवहसंस्थान—तीक्ष्णता के कारण यह हृदय एवं रक्तसंवहन को उत्तेजित करता है तथा रक्तभार को बढ़ाता है। रक्तविकारों को भी तिक्तशीत होने के कारण दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर, श्लेष्मपूतिहर तथा श्वासहर है। यह श्वासनलिकाओं की श्लेष्मल कला को उत्तेजित करता है जिससे कफ आसानी से बाहर निकलता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण, स्तन्यजनन एवं स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह वृक्कों को उत्तेजित करता है और मूत्रजनन है।

त्वचा—यह त्वचा को उत्तेजित करता है तथा उसके विकारों को दूर करता है।

तापक्रम—यह तिक्त होने से आमपाचन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुतिक्त होने से यह कटुपौष्टिक के रूप में कार्य करता है और क्षय को दूर करता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग श्वास, पित्त, स्तन्य, स्वेद एवं मूत्र के द्वारा होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल तथा प्रतिश्याय में ललाट में इसका लेप करते हैं। मुखरोगों तथा कण्ठरोगों में लवंग चूसते हैं। लवंग का लेप चर्मरोगों में भी करते हैं। लवंग का तैल आमवात, कटिशूल, गृध्रसी आदि वातविकारों में मालिश करते हैं। दन्तकोटर या दन्तशूल में इसका तैल रूई में भिंगोकर कोटर में दबाकर रखते हैं इससे कृमि मर जाते हैं और शूल शान्त हो जाता है। ध्वजभंग रोग में इसका तैल शिश्न पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, अम्लपित्त, छर्दि एवं तृष्णा में इसका प्रयोग होता है। यकृद्विकारों में भी यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—इसका व्यवहार हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकारों में किया जाता है। फिरंग, उपदंश में भी यह कार्यकर होता है। इसका एक योग 'देवकुसुमादि रस' इन रोगों में दक्षिण भारत में बहुत प्रचलित है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं हिक्का में प्रयुक्त होता है। क्षयरोग में यह कास को शान्त करता है, कफ की दुर्गन्ध को दूर करता है और उदरविकारों को ठीक करता है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रस्तम्भन योगों में दिया जाता है। स्तन्यवृद्धि तथा स्तन्यशोधन के लिए भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह चर्मविकारों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग होता है। लवंगोदक का प्रयोग ज्वरों के लिए प्रशस्त माना गया है। इससे आमदोष का पाचन होता है तथा तृष्णा, छर्दि आदि उपद्रव शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य तथा क्षयरोग में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्पकलिका।

मात्रा—४-१२ रत्ती; तैल-४-६ बूँद।

विशिष्ट योग—लवंगादि चूर्ण, लवंगचतुःसम, लवंगादि वटी, लवंगोदक।

× × × ×

'लवंगं देवकुसुमं श्रीसंज्ञं श्रीप्रसूनकम्। लवंगं कटुकं तिक्तं लघु नेत्रहितं हिमम्।
दीपनं पाचनं रुच्यं कफपित्तास्रनाशनम्। तृष्णां छर्दिं तथाध्मानं शूलमाशु विनाशयेत्॥
कासं श्वासं च हिक्कां च क्षयं क्षपयति ध्रुवम्।' (भा. प्र.)
'…लवंगं च तिक्तं कटु कफापहम्। लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्॥' (सु. सु. ४६)
'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता। …लवंगस्य फलानि च॥' (च. सू. ५)
'पिपासायामनूत्क्लेशे लवंगस्याम्बु शस्यते।' (च. द.)
'देवपुष्पोद्भवं तैलमग्निकृद्वातनाशनम्। दन्तवेष्टकफार्त्तिघ्नं गर्भिण्या वमनापहम् (आ. सं.)

१०३. त्वक्

परिचय

गण—एलादि (सु०), त्रिजात (भा० प्र०)।

कुल—कर्पूर-कुल (लॉरेसी-Lauraceae)।

नाम—लै०-सिनेमोमम् जिलेनिकम् (Cinnamomum Zeylanicum); सं०-त्वक् (छाल का प्रयोग होने के कारण); उत्कट (तीक्ष्ण होने के कारण); गुडत्वक् (मधुर रस होने से); लाटपर्ण (लाट-दक्षिण देश-में उत्पन्न होने के कारण)। हि०-दालचीनी, तज; बं०-दारुचिनि; म०-गु०-तज, ता०-कारुया; ते०-सानलिफु; अ०-दारसीनी, क़िर्फा; फा०-दारचीनी; अं०-सिनेमन (Cinnamon)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का होता है। इसकी त्वचा धूसरवर्ण रक्ताभ लगभग ½-१ इञ्च मोटी होती है। काण्डसार हलके लाल रंग का होता है। **पत्र**-अभिमुख, चर्मवत्, सूक्ष्मरोमश होते हैं। उनका ऊपरी भाग चमकीला होता है और सिरायें ३-५ होती हैं। **पुष्प**-धूसरवर्ण होते हैं। **फल**-गहरे बैंगनी रंग के लगभग १ इञ्च लम्बे होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—देश भेद से यह तीन प्रकार की व्यवहार में मिलती है:—(१) चीनी-यह चीन, सिंगापुर आदि स्थानों से आती है। (२) सिंहली-यह लंका से आती है और सबसे पतली, चीनी जाति से अधिक मधुर तथा कम तीक्ष्ण होती है। (३) भारतीय-यह हिमालय प्रदेश में ५-६ हजार फीट की ऊँचाई पर मिलती है। इसे लैटिन में 'सिनेमोमम् तमाल' (Cinnamomum Tamala) कहते हैं। यह सबसे मोटी, कम तीक्ष्ण तथा जल में पीसने से लुआबदार हो जाती है। इसके पत्र का व्यवहार 'तेजपत्र' या 'तमालपत्र' के नाम से तथा अपक्व सूखे फल का 'काला नागकेशर' के नाम से होता है। व्यवहार में चीनी और सिंहली जाति को दालचीनी (दारुसिता) तथा भारतीय जाति को 'तज' कहते हैं। इन सब में सिंहली सर्वोत्तम मानी जाती है क्योंकि यह विशेष सुगंधि और मधुर होती है।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम और प्रमुख स्थान लंका है किन्तु संप्रति बर्मा, चीन, दक्षिण भारत एवं हिमालय प्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल (Oil of Cinnamon) २%, सिनेमिक एसिड, राल, टैनिन, शर्करा, स्टार्च, पिच्छिल द्रव्य, भस्म आदि होते हैं। छाल के अतिरिक्त इसकी पत्तियों तथा मूल से भी पृथक् पृथक् तैल निकाले जाते हैं। पत्तियों से निकाला तेल गहरे रंग तथा लवंग के सदृश गन्ध वाला होता है। मूल का तेल पीले रंग का और जल से हलका होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक एवं पित्तवर्धक है। जिसमें माधुर्य अधिक होता है वह पित्तशामक भी होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तोत्क्लेशक, उत्तेजक, वेदनास्थापन एवं लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह कटु तिक्त और उष्ण होने से दीपन, पाचन, वातानुलोमन यकृदुत्तेजक एवं ग्राही है। यह संस्थानगत जन्तुओं को भी नष्ट करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है तथा रक्त में श्वेतकणों की संख्या को बढ़ाता है। रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर और यक्ष्मानाशक है। इसमें स्थित सिनेमिक एसिड नामक तत्त्व यक्ष्मानाशक (Anti-tubercular) माना जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से वृक्कों को उत्तेजित करता है, अतः यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक तथा वाजीकरण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुखशोधन, मुखदुर्गन्धनाशन एवं दाँतों को मजबूत बनाने के लिए दालचीनी मुख में रखते और चबाते हैं। इससे वमन और उत्क्लेश भी बन्द होता है। न्यच्छ, व्यंग आदि चर्मरोगों में इसका पतला लेप करते हैं। नाडीशूल एवं शिरःशूल में इसका लेप लाभकर होता है। शोथवेदनायुक्त स्थानों पर भी इसका लेप करते हैं। दाँतों में कोटर और शूल होने पर दालचीनी का तेल १-२ बूंद रूई में देकर कोटर में रखते हैं या दाँतों के तले दबाते हैं। ध्वजभंग में इसके तैल का शिश्न पर मर्दन करते हैं या पीस कर लेप करते हैं। विच्छू आदि के काटने पर भी दंशस्थान में इसका तेल लगाते हैं। इससे शोथ और वेदना शान्त हो जाती है। क्षयजव्रण (T. B. ulcers) पर इसका तेल लगाने से शीघ्र शोधन और रोपण होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आमदोष, उदरशूल, ग्रहणी तथा अर्श में लाभकर है। जन्तुघ्न भी होने से आन्त्रिक ज्वर में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है। अनेक रक्तविकारों तथा कैन्सर आदि एवं अन्य जीवाणुजन्य रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर होने से कास, श्वास में प्रयुक्त होता है। राजयक्ष्मा में इसका तैल खिलाते हैं या सूचीवेध से देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, गर्भाशयशैथिल्य एवं क्लैब्य रोग में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, तैल, पत्र।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ५-१५ र०; पत्रचूर्ण ५-१५ र०; तैल २-५ बूंद।

विशिष्ट योग—सितोपलादि चूर्ण।

× × × ×

त्वचं लघूष्णं कटुकं स्वादु तिक्तं च रूक्षकम्। पित्तलं कफवातघ्नं कण्ड्वामारुचिनाशनम्॥
हृद्बस्तिरोगवातार्शःक्रिमिपीनसकासजित्।'

'त्वक् स्वाद्वी तु तनुत्वक् स्यात्तथा दारुसिता मता।
उक्ता दारुसिता स्वाद्वी तिक्ता चानिलपित्तहृत्॥

सुरभिः शुक्रला वर्ण्या मुखशोषतृषापहा ।' (भा. प्र.)
'पत्रकं मधुरं किञ्चित्तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं लघु । निहन्ति कफवातार्शोहृल्लासारुचिपीनसान् ॥'
(भा. प्र.)
'वह्निमान्द्यानिलहरमाध्मानाक्षेपनाशनम् । वान्त्युत्क्लेशप्रशमनं संग्राहि दशनार्त्तिहृत् ॥
त्वाचं तैलं रजःस्रावि तोये क्षिप्तं निमज्जति ।' (आ. सं.)

१०४. यष्टीमधु

परिचय

गण—कण्ठ्य, जीवनीय, सन्धानीय, वर्ण्य, कण्डूघ्न, मूत्रविरजनीय, शोणितास्थापन, छर्दिनिग्रहण, स्नेहोपग, वमनोपग, आस्थापनोपग (च०); काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।
उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionceae)।
नाम—लै०-ग्लिसिराइजा ग्लैब्रा (Glycyrrhiza Glabra); सं०-यष्टीमधु (मधुर कांड और मूल वाला); मधुक (मीठा); क्लीतक; हि०-मुलेठी, जेठीमध; बं०-यष्टिमधु; म०-जेष्ठीमध; गु०-जेठीमध; ता०-अतिमधुरम्; ते०-यष्टिमधुकम्; अ०-अस्लुस्सूस; फा०-बेखमरुक; अं०-लाइकरिस (Liquorice)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु गुल्म २-४ फुट ऊँचा होता है। **मूल**-लम्बा, लाल या पीताभ होता है। मूल तथा काण्ड से बहुत सी शाखा-प्रशाखायें निकलती हैं। **पत्र**-संयुक्त, पत्रक पक्षाकार ४-७ जोड़े होते हैं। **पुष्प**-हलके गुलाबी रंग के होते हैं। **शिम्बी**-१ इञ्च लम्बी और चपटी होती है जिसमें २-५ बीज चतुष्कोणाकार होते हैं। वसन्त में पुष्प तथा वर्षा में फल आते हैं।

जाति—यह जलज और स्थलज दो प्रकार का होता है। जलज को मधूलिका, मधुपर्णी कहते हैं। अब यह कम मिलता है। स्थलज मुलेठी की देशभेद से तीन जातियाँ होती हैं:—(१) मिश्री (२) अरबी और (३) तुर्की। इनमें उत्तरोत्तर माधुर्य कम होता है, अतः मिश्री सर्वोत्तम, अरबी मध्यम और तुर्की अधम मानी जाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह मिश्र, अरब, तुर्किस्तान, ईरान, अफगानिस्तान, एसिया माइनर, मध्य एशिया, दक्षिण यूरोप, चीन में विशेष रूप से होता है। सम्प्रति पंजाब, सिंध और पेशावर में इसका उत्पादन किया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में ग्लिसिराइजिन (Glycyrrhizin) नामक तत्त्व जो पीले चूर्णरूप में रहता है; ऐस्पैरेजिन, शर्करा, स्टार्च, राल, गोंद, पिच्छिल द्रव्य, कैल्शियम और मैगनीशियम के लवण; फास्फोरिक, सलफ्युरिक तथा मैलिक एसिड पाये जाते हैं। इसकी त्वचा में किंचित टैनिन होता है।

मुलेठी का घनसत्त्व काले या लाल रंग के लम्बे या चौकोर टुकड़ों में आता है। इसे रुब्बुस्सूस कहते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध और मधुर होने से वात का तथा मधुर-शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहशामक, केश्य एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों को बल प्रदान करता है।

पाचनसंस्थान—यह मधुरस्निग्ध होने से छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, वातानुलोमन और मृदुरेचन है। आमाशयगत अम्लता को कम करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोणितास्थापन (रक्तशोधक, रक्तस्तम्भन एवं रक्तवर्धक) है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्धमधुर होने से यह कफनिःसारक और कण्ठ्य है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने से यह मूत्रल, मूत्रविरजनीय तथा स्निग्ध होने से मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रवर्धक है।

त्वचा—यह वर्ण्य एवं कण्डूघ्न है तथा चर्मरोगों को नष्ट करता है।

तापक्रम—यह ज्वरशामक है।

सात्मीकरण—यह जीवनीय, सन्धानीय, रसायन एवं बल्य है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह व्रणशोथ एवं विषों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। केश के रोगों (खालित्य, पालित्य) में इसके क्वाथ से बाल धोते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातविकारों में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा एवं विबन्ध में इसका प्रयोग करते हैं। अन्य रेचन औषधों के साथ भी इसे मिलाते हैं। यह वातानुलोमन होने से उदरशूल को शान्त करता है। मधुर होने से यह आमाशयगत अम्लाधिक्य, अम्लपित्त में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में क्षारों की अपेक्षा इससे अधिक स्थायी लाभ होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों, रक्ताल्पता एवं रक्तपित्त में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं स्वरभेद के लिए प्रयुक्त होता है। इससे कफ आसानी से निकल जाता है। यक्ष्मा में भी इसका प्रयोग लाभकर है। इससे कफ आसानी से निकलता है, ज्वर शान्त होता है, कास का वेग कम होता है तथा रोगी के बल की वृद्धि होती है। सन्धानीय होने से इससे उरोगत व्रण, क्षत आदि भी दूर होते हैं। पार्श्वशूल भी शान्त होता है। इसके लिए मुलेठी का टुकड़ा या सत्त्व मुख में रखते हैं तथा उसका चूर्ण खिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह एवं पैत्तिक प्रमेह में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—यह वर्णविकार, कण्डू तथा अन्य चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वरों में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

नेत्र—इसके चूर्ण का सेवन करने से दृष्टिशक्ति बढ़ती है। इसका अञ्जन नेत्ररोगों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा २-४ माशे।

विशिष्ट योग—यष्ट्यादि चूर्ण; यष्ट्यादि क्वाथ, यष्टीमध्वाद्य तैल।

प्रतिनिधि—इसके अभाव में गुञ्जामूल का प्रयोग होता है।

× × × ×

'यष्टीमधु तथा यष्टीमधुकं क्लीतकं तथा। अन्यत् क्लीतनकं तत्तु भवेत्तोयमधूलिका॥
यष्टी हिमा गुरुः स्वाद्वी चक्षुष्या बलवर्णकृत्। सुस्निग्धा शुक्रला केश्या स्वर्या पित्तानिलास्रजित्॥
व्रणशोथविषच्छर्दितृष्णाग्लानिक्षयापहा।' (भा. प्र.)

'कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम्। पयोनुपानं यो लिह्यान्नित्यवेगः स ना भवेत्॥' (च. चि. २)

'मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम्।' (च. चि. १)

१०५. गोजिह्वा

परिचय

कुल—श्लेष्मातक-कुल (बोरेजिनेसी-Boraginaecae)।

नाम—लैं०-ओनोस्मा ब्रैक्टिएटम (Onosma Bracteatum) सं०-गोजिह्वा (गाय की जीभ के समान खुरदरी); खरपत्रा (खुरदरी पत्तियों वाली) दर्वीपत्रा (सर्पफण या कलछुल के सदृश चौड़े और गहरे पत्र वाली) हि०-गाजबाँ; म०, गु०, फा०-गावजबान; अ०-लिसानुस्सौर (वृषजिह्वा)।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप होता है। **पत्र**-मोटे, मांसल तथा गाय की जीभ के सदृश खुरदरे होते हैं और उन पर साबूदाने की तरह छोटे छोटे चिह्न होते हैं। **पुष्प**-नीलवर्ण गुच्छों में लगते हैं जो पुराने होने पर रक्ताभ हो जाते हैं। पत्तों को जल में भिगोने से लुआब निकलता है। हकीम लोग पत्तों को 'वर्ग गावज़बान' तथा पुष्पों को 'गुले गावज़बान' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में काश्मीर से कुमाऊँ तक १०-११ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। ईरान और अफगानिस्तान में भी मिलता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में पिच्छिल द्रव्य प्रचुर परिमाण में होता है। इसके अतिरिक्त, सोडियम ९½% पोटाशियम १४½% कैलशियम २७% लौह १% एवं मैगनीशियम के लवण होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध, मधुर एवं शीत होने से वात-पित्तशामक तथा कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन और मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के लिए शामक और बलवर्धक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन तथा स्नेहन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह मधुरविपाक होने से बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक रोगों में उपयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—गावजबान की भस्म को मुखपाक आदि में दाह एवं व्रणशोथ के शमन के लिए दिया जाता है। व्रणों में भी इसका चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, मानसिक दौर्बल्य आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—विबन्ध, कामला एवं उदावर्त्त में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्द्रव, हृद्दौर्बल्य तथा उपदंश, आमवात आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, पार्श्वशूल, उरोविदाह-इन रोगों में यह अतीव लाभकर है। प्रतिश्याय और कास में मुलेठी, वनफशा आदि के साथ इसका फाण्ट दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग होता है। इससे ज्वर कम होता है तथा तृष्णा, दाह आदि उपद्रव शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में भी यह दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प।

मात्रा—पत्र-४-६ माशे; पुष्प-३-६ माशे।

विशिष्ट योग—अर्क गावज़बान, वनफशादि क्वाथ।

१०६. रूमी मस्तगी

परिचय

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-पिस्टेसिया लेण्टिस्कस (Pistacia Lentiscus); हि०-रूमी मस्तगी, मस्तगी; म०-रूमा मस्तकी; अ०-मस्तकी, अलकरूमी; फा०-कुन्दर रूमी; अं०-मास्टिक (Mastich)।

स्वरूप—यह पिश्ते के सदृश सदाहरित गुल्म होता है। इसके कांड और शाखाओं में चीरे लगाने से एक गाढ़ा जमा हुआ गोंद निकलता है। यही गोंद रूमी मस्तगी के नाम से बाजारों में प्रचलित है। यह पीताभ श्वेत, छोटे गोल दानों के रूप में होता है। यह सुगन्धित होता है और इसका स्वाद कुछ मधुर होता है। यह खरल में रगड़ने के समय चिपक जाती है, अतः इसको कपड़े की पोटली में बाँध कर पानी

में भिगोते हैं और फिर निकाल कर तुरत कपड़े से पोंछ देते हैं। अब चूर्ण करने से महीन हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह रूम-भूमध्य-सागर (Mediterranean sea) के पार्श्ववर्त्ती दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका, एशिया माइनर आदि देशों में होता है। वहाँ से ईरान और अफगानिस्तान होकर भारत में आता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल; मैस्टिकिक अम्ल ९० प्रतिशत और मस्टिकीन नामक तत्त्व १० प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण (किंचित्)

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से वात का तथा मधुर-कषाय होने से पित्त का शामक एवं कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, रक्तरोधक, दुर्गन्धनाशन एवं चर्व्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक एवं ग्राही है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में तथा संशोधनार्थ कफज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथ एवं वर्णविकारों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। मुख में रख कर चूसते हैं जिससे दुर्गन्ध दूर होती है, दाँतों में दृढता आती है तथा कफ आसानी से निकलता है। रक्तस्राव, क्षत आदि में भी इसका चूर्ण देते हैं। पार्श्वशूल आदि में भी इसका लेप छाती में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, आध्मान, संग्रहणी एवं यकृद्विकारों में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव में तथा वाजीकरण योगों में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास (गोंद)।

मात्रा—१-२ माशे।

१०७. बोल

परिचय

कुल—गुग्गुलु-कुल (बर्सरेसी-Burseraceae)।

नाम—लै०-बालसमोडेण्ड्रोन मिर्रा (Balsamodendron myrrha); सं०-बोल; गन्धरस (गन्धयुक्त); पिण्ड (पिण्डाकार); हि०-बोल, हीराबोल; बं०-गन्धबोल;

म० गु०–हिराबोल; ता०–वेल्लाइप्पापोलम्; ते०–बलिन्त्रापोलम्; अ०–मुर्; फा०–बोल; अं०–मिर्र (Myrrh)।

स्वरूप—इसका वृक्ष गुग्गुलु के समान होता है। उसके काण्ड में क्षत करने से एक सान्द्र निर्यास निकलता है, यही बोल कहलाता है। इसके दाने गोल होते हैं जो आपस में चिपक कर बड़े-बड़े पिण्डों में परिणत हो जाते हैं। यह रक्ताभ पीत या धूसर वर्ण का, भंगुर, सुगंधित तथा स्वाद तिक्त होता है। इस जाति के दो तीन वृक्षों से यह गोंद प्राप्त की जाती है।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान पूर्वोत्तरी अफ्रीका है। अब अरब, फारस, अबीसिनिया एवं श्याम में भी मिलता है और वहाँ से भारत में आता है। मक्का का बोल (मुर मक्की) सर्वोत्तम माना जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल (जिसे मिर्रोल-Myrrhol कहते हैं), राल, तिक्तसत्त्व तथा कैल्शियम फास्फेट, कार्बोनेट आदि होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। रूक्ष, लघु और कटु होने से कफ का, कषाय-तिक्त होने से पित्त का तथा उष्ण होने से वात का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, स्तम्भन, वेदनास्थापन तथा कोथप्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उष्ण होने से वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह तिक्तकटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने से रक्तशोधक है तथा रक्तगत श्वेतकणों को बढ़ाता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर तथा श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

नेत्र—यह नेत्र के शोथ और अभिष्यन्द को दूर करता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग-त्वचा, मूत्र, जननेन्द्रिय, फुफ्फुस एवं श्लेष्मल त्वचा से होता है और उत्सर्ग काल में इन अवयवों को उत्तेजित करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों विशेषतः वातश्लैष्मिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह सन्धिवात, वातरक्त, गृध्रसी आदि में लेप किया जाता है। कोथप्रशमन और स्तम्भन होने से व्रणों में लगाते हैं तथा मुख और दाँत के रोगों में गण्डूष कराते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध, आनाह एवं कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—पाण्डु, वातरक्त आदि रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास एवं पार्श्वशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्टार्त्तव में दिया जाता है।

त्वचा—यह चर्मरोगों में उपयोगी है।

नेत्र—इसे माँ के दूध में मिलाकर अभिष्यन्द, पूयनेत्रता आदि में आँख में डालते हैं।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—५-१० रत्ती।

× × × ×

'बोलं तु कटुतिक्तोष्णंकषायं रक्तदोषनुत्।कफपित्तामयान् हन्ति प्रदरादिरुजापहम्॥' (रा. नि.)

१०८. उषक

परिचय

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-डोरेमा अमोनियाकम् (Dorema Ammoniacum); हि०, अ०-उषक; फा०-उषः; अफगानी-कन्दल।

स्वरूप—यह छोटा क्षुप है जिसके काण्ड एवं शाखाओं पर लगा हुआ यह निर्यास प्राप्त होता है। यह गोल दाने के रूप में चने से लेकर छोटे वेर तक के आकार का होता है। इसका वर्ण पीताभ श्वेत होता है किन्तु देर तक पड़ा रहने से कुछ कृष्णता आ जाती है। ठंढक में यह कड़ा और भंगुर होता है किन्तु उष्णता से कोमल और चिपकने वाला हो जाता है। इसको जल में घोलने पर दूध के समान घोल (इमल्शन) बन जाता है। इसका स्वाद तिक्तकटु और अरुचिकर होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह ईरान, अफगानिस्तान और यूरोप में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें राल ७० प्रतिशत, निर्यास २० प्रतिशत तथा उड़नशील तेल ४ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—तिक्त, कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर एवं लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक एवं नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन एवं कृमिघ्न है। यकृत्प्लीहा के शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है। इससे कफ आसानी से निकलता है। कफ की उत्पत्ति कम होती है, कफगत रोगजन्तु नष्ट होते हैं और कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

उत्सर्ग—श्वासनलिका, त्वचा और वृक्कों से इसका उत्सर्ग होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, सन्धिशोथ, गण्डमाला, विद्रधि पर इसका लेप करते हैं। अर्श, चर्मरोग तथा व्रणों में भी इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अपस्मार, पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—पाचनविकार, विबन्ध एवं कृमिरोग में लाभकर है। प्लीहा और यकृत् की वृद्धि में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास और पार्श्वशूल में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव, कष्टप्रसव में यह उपयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—३-६ रत्ती, गोली बना कर मधु के साथ या पानी मिला कर प्रयोग करते हैं।

१०६. लोबान

परिचय

कुल—लोध्र-कुल (सिम्प्लोकेसी—Symplocaceae)।

नाम—लै०-स्टिरेक्स बेञ्जोइन (Styrax Benzoin); हि०-लोबान; ता०-शाम्बिरानी; अ०-जावी; फा०-हस्न लुव् ; अं०-ओलिबेनम (Olibanum)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का होता है। **त्वक्**—धूसरवर्ण और कोमल होती है। **शाखायें**—ऊपरी भाग में सघन होती हैं, नई शाखायें रक्ताभ और रोमयुक्त होती हैं। **पत्र**—एकान्तर ३, ५ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्प**—श्वेत और किंचित् रक्ताभ, गुच्छों में होते हैं। **पुष्पदंड**—लम्बा, शाखाप्रशाखायुक्त होता है। **फल**—गोलाकार, चपटे, कठिन और रक्ताभ धूसरवर्ण होते हैं। **बीज**—प्रत्येक फल में एक होता है। शीत ऋतु के अन्त में फूल और दूसरे वर्ष शीतकाल में फल आते हैं।

इसका निर्यास बबूल की गोंद की तरह श्वेतवर्ण, मोती के सदृश चमकीला, बादाम के आकार का होता है। इसके टुकड़े एक दूसरे से चिपके रहते हैं।

प्रशस्त लोबान—प्रशस्त लोबान आसानी से टूट जाता है। उष्णता से मुलायम हो जाता है और फिर जलने लगता है। इसमें कोई विशिष्ट स्वाद नहीं होता और गंध मधुर होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह श्याम और सुमात्रा में होता है। श्याम का लोबान साफ और अच्छा माना जाता है। सुमात्रा का लोबान चिह्नित या चित्रित होता है। इसे कौड़िया लोबान भी कहते हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें तीन राल (बेंज़ोइक अम्ल, १२ से २० प्रतिशत सिनेमिक अम्ल तथा वैनिलिन-Vanillin) और एक उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह पूतिहर, जन्तुघ्न, दुर्गन्धनाशक, वेदनाहर, व्रण-रोपण एवं उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक और वेदनास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक और कफदुर्गन्धनाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है और मूत्र में अम्लाधिक्य उत्पन्न करता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण और गर्भाशयशोथहर है।

त्वचा—यह त्वचा की रक्तवाहिनियों को उत्तेजित करता है और स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

उत्सर्ग—फुफ्फुस, वृक्क, त्वचा से इसका उत्सर्ग होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह धूप में प्रयुक्त होता है और व्रणों में लगाया जाता है। फुफ्फुस के रोगों में इसका धुँआ लेते हैं। आमवात, अर्दित आदि वातविकारों में इसका लेप करते हैं। त्वचा के रोगों में भी लेप करते हैं। वाजीकरण के लिए शिश्न पर लेप करते हैं। कर्णशूल में तेल में मिलाकर कान में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास, क्षय और प्रतिश्याय में प्रयुक्त होता है। इससे कफ की उत्पत्ति कम होती है, कफ आसानी से निकलता है तथा कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह और बस्तिशोथ में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना के लिए जल के साथ मिलाकर पिलाते हैं। श्वेत-प्रदर में इसकी वर्ति देते हैं।

त्वचा—त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास; **मात्रा**—३-८ रत्ती; **सत्त्व**—१ रत्ती।

११०. सिल्हक

परिचय

गण—एलादि (सु०)।

कुल—सिल्हक-कुल-(हैमामेलिडेसी-Hamamelidaceae)।

नाम—लै०-ऐल्टिञ्जिया एक्सेल्सा (Altingia Excelsa); सं०-सिल्हक, तुरुष्क (तुर्क देश में होने वाला), कपितैल (वनों में होने से तथा भूरे रंग का होने के कारण); हि०-म०-शिलारस; गु०-शेलारस; ता०-नेटि-अरिशय्पल; ते०-शिलारसम्; अ०-लब्नी; फा०-अस्ले लब्नी; अं०-लिक्विड ऐम्बर या स्टोरैक्स (Liquid Amber or Storax)।

स्वरूप—इस वृक्ष के कांड में क्षत करने से एक दूध जैसा निर्यास निकलता है जो शीघ्र ही जम कर मधु के सदृश गाढ़ा हो जाता है। यह भूरे या काले रंग का होता है। नये शिलारस में किरासन तेल के समान गंध आती है किन्तु पुराना होने पर उससे अम्बर के समान गंध आती है। यह पानी से भारी, कोमल और स्निग्ध होता है। जलाने पर यह पिच्छिल हो जाता है और जलने लगता है। यह ९० प्रतिशत मद्य में विलेय है।

उत्पत्तिस्थान—इसके वृक्ष अरब, एशिया माइनर में होते हैं। बर्मा, भूटान, आसाम, मलाया, चीन, जावा में भी मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, सिनेमिक एसिड, बेञ्जोइक एसिड तथा राल होते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, लघु। **रस**—तिक्त, कटु, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह पूतिहर, जन्तुघ्न, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर, उत्तेजक एवं पूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—स्निग्ध होने से बल्य है।

उत्सर्ग—यह फुफ्फुस और वृक्कों के द्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों पर विशेषतः क्षयज व्रणों पर इसका लेप करते हैं। वातव्याधि में तैल के साथ मिला कर अभ्यङ्ग करते हैं। कण्डू आदि

चर्मरोगों में तैल में मिलाकर लगाते हैं। शोथवेदनायुक्त स्थानों पर इसे लगाते हैं। बाह्य कृमियों को नष्ट करने के लिए भी उपयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास और क्षय में मधु के साथ देते हैं। इससे कफ निकलता है और फुफ्फुस को शक्ति मिलती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र और पूयमेह में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह कामोत्तेजना के लिए तथा रजोरोध में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वरों में भी दिया जाता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में भी उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—५-१० रत्ती मुलेठी के चूर्ण के साथ मिलाकर देते हैं।

विशिष्ट योग—पञ्चगुण तैल।

× × × ×

'सिल्हकस्तु तुरुष्कः स्याद्यतो यवनदेशजः। कपितैलं स चाख्यातं तथा च कपिनामकः॥
सिल्हकः कटुकःस्वादुः स्निग्धोष्णः शुक्रकान्तिकृत्। वृष्यः कण्ठ्यः स्वेदकुष्ठज्वरदाहग्रहापहः॥'
(भा. प्र.)

'तुरुष्कः सुरभिस्तिक्तः कटुः स्निग्धश्च कुष्ठजित्। कफवाताश्मरीमूत्राघातश्वासज्वरार्त्तिजित्॥'
(रा. नि.)

१११. बनफ्शा

परिचय

कुल—बनफ्शा-कुल (वायोलेसी- Violaceae)।

नाम—लै०-वायोला ओडोरेटा (Viola odorata); हि०-बनफ्शा; बं०-बनोशा; ता०-वयिलेट्टु; फा०-बनफ्श; अ०-बनफ्सज; अं०-वाइल्ड या स्वीट वायोलेट (Wild or sweet Violet)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**-छोटा लगभग ४-५ अंगुल का होता है। **पत्र**-गोल, हृदयाकृति होते हैं। इनका अधःपृष्ठ रोमश होता है। **पुष्प**-नीले बैंगनी रंग के सुगन्धित गुच्छों में होते हैं। इसका पंचांग 'बनफ्शा'; **फूल**-'गुलबनफ्शा' तथा जड़ 'बीरवे बनफ्शा' के नाम से प्रचलित है।

उत्पत्तिस्थान—यह काश्मीर में तथा पश्चिमी हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेश में ५ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। ईरान से भी यह द्रव्य आता है। असली बनफ्शा यही है। उत्तरी भारत में इसके स्थान पर वायोला साइनेरिया (Viola cineria) तथा वायोला सर्पेन्स (Viola Serpens) का प्रयोग होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्प और मूल में 'वायोलिन' (Violine) नामक एक वामक द्रव्य पाया जाता है। इसके गुणधर्म प्रायः इमेटिन के सदृश होते हैं। पुष्पों में, इसके अतिरिक्त, एक उड़नशील तैल, वायोला क्वर्सिट्रिन (Viola Quercitrin) नामक पीत द्रव्य, अनेक रंजक द्रव्य, शर्करा तथा मेथिल सैलिसिलिक ईस्टर (Methyl salicylic ester) नामक एक ग्लुकोसाइड होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—स्निग्धमधुर-शीत होने से यह वातपित्तशामक एवं कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—दाहशामक, रक्तरोधक और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह पित्तहर, अनुलोमन और विरेचन है। पुष्पों के भीतर स्थित वामक सत्त्व १–२ रत्ती की मात्रा में देने से वमन होता है। पुष्प मृदुविरेचन हैं। मूल ३ माशे की मात्रा में वामक और विरेचन होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है।

त्वचा—इसका पंचांग स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह दाहशामक और ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक रोगों में तथा कफज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पैत्तिक शोथ, शिरःशूल में इसका लेप करते हैं। कैन्सर में इसका लेप करते हैं, इससे पीड़ा एवं स्राव कम होता है। इसका तैल अनिद्रा में शिर में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, आमाशय एवं यकृत के पैत्तिक विकार तथा विबन्ध में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में पुष्पों का गुलकन्द देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर में इसका क्वाथ देते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, फुफ्फुसशोथ में इसका क्वाथ या फाण्ट प्रयुक्त होता है। इन रोगों में गावजबाँ, मुलेठी आदि के साथ देते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों के लिए यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग होता है। दाह में इसका गुलकन्द खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, पञ्चांग।

मात्रा—५–७ माशे; स्वेदजनन और कफघ्न कर्म के लिए ५–१० रत्ती (पंचांग); रक्तस्तम्भन के लिए १५–२० रत्ती।

विशिष्ट योग—बनफ्शादि क्वाथ।

११२. खूबकलाँ

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae)।

नाम—लै०-सिसिम्ब्रिअम आयरिओ (Sisymbrium Irio); हि०-खूबकलाँ, खाकसी; पं०-नक्तरस; (सिन्ध);-जङ्गली सरसों; मा०-परजन; म०-रनतीखी; अ०-खुब्ब; फा०-खूबकलाँ; खाकची; अं०-हेज-मस्टर्ड (Hedge-mustard)।

स्वरूप—इसका सरसों के समान क्षुप होता है। गेहूँ, मेथी आदि के साथ खेतों में उत्पन्न होता है। इसके **बीज** रक्ताभ पीतवर्ण अत्यन्त छोटे (खसखस से भी) होते हैं। बीजों को जल में भिगोने से लुआब उत्पन्न होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर भारत तथा पश्चिमोत्तर हिमालयप्रदेश, ईरान और यूरोप में उत्पन्न होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण (किञ्चित्)।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक तथा कफनिःसारक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा दाहशामक है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह वातानुलोमन, तृष्णानिग्रहण एवं छर्दिनिग्रहण है।
श्वसनसंस्थान—स्निग्ध-मधुर होने से यह श्लेष्महर है।
त्वचा—यह स्वेदजनन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—स्निग्ध, पिच्छिल होने से बृंहण, बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में तथा कफरोगों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्र, स्तन आदि के शोथ में इसका लेप करते हैं। मसूरिका में इसे बिछौने पर छिड़कते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह आध्मान और विसूचिका में देते हैं। विसूचिका रोग में तृष्णा और वमन बन्द करने के लिए अर्क गुलाब में उबाल कर पिलाते हैं।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक होने से जीर्ण कास, श्वास, स्वरभेद में इसका अवलेह देते हैं।
त्वचा—त्वग्दोषों में उपयोगी है।
तापक्रम—ज्वरों में, विशेषतः विस्फोट-ज्वरों (मसूरिका आदि) में यह लाभकर होता है। इससे दाने शीघ्र बाहर निकल आते हैं और ज्वर भी कम हो जाता है।
सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
प्रयोज्य अंग—बीज।
मात्रा—३-६ माशे।

११३. तोदरी

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae)।

नाम—लै०-लेपीडियम आइबेरिस (Lepidium iberis); फा०-तोदरी; अ०-बज्रुल खुमखुम् ; अं०-पीपर ग्रास (Pepper-grass)।

स्वरूप—यह एक कँटीला छोटा क्षुप होता है। इसकी **फलियाँ** छोटी-छोटी होती हैं। **बीज**-मसूर के दाने के सदृश किन्तु बहुत छोटे और चपटे होते हैं। बीजों को पानी में भिगोने पर लुआब उत्पन्न होता है।

जाति—वर्णभेद से इसके बीज (तोदरी) तीन प्रकार के होते हैं:—(१) सफेद (२) पीली (३) लाल। कभी-कभी इसकी भूरी जाति 'काली तोदरी' के नाम से मिलती है। सफेद तोदरी रक्ताभ और सबसे बड़ी होती है किन्तु गुण में सबसे श्रेष्ठ पीली मानी जाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिणयूरोप से साइबेरिया तक तथा ईरान और पंजाब में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक तिक्त सत्त्व, उड़नशील तैल और गन्धक होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध-पिच्छिल होने से वात का तथा मधुर होने से पित्त का शामक है। स्निग्ध, पिच्छिल और उष्ण होने से कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक है।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—यह स्निग्ध होने से श्लेष्महर तथा उष्ण होने से कफघ्न भी है।

प्रजननसंस्थान—यह स्निग्ध-मधुर होने से वृष्य तथा उष्ण होने से वाजीकरण है। स्तन्यजनन भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह बृंहण और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में तथा कफज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य—शोथ में इसके बीजों का लेप करते हैं। बीजों के तेल की मालिश सन्धिवात में करते हैं।

आभ्यन्तर-श्वसनस्थान—कास, श्वास में इसका अवलेह देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा कामोत्तेजना के लिए इसके बीजों का चूर्ण दूध के साथ खिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—½-१ तोला।

११४. खत्मी

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-ऐल्थिया ऑफिशिनेलिस (Althoea officinalis); फा०-खत्मी; अ०-कसीरुल् मुनफेअत; क०-सजपोश।

वक्तव्य—इसके पुष्प गुलखैरु, फल तुख्मखत्मी तथा मूल रेशा खत्मी नाम से व्यवहार में प्रचलित हैं।

स्वरूप—इसका **क्षुप**–२–४ फुट ऊँचा लोमयुक्त होता है। **पत्र**–बड़े, गोल, खुरदरे और दन्तुर होते हैं। **पुष्प**–बड़े, गोल, निर्गन्ध तथा अनेक रंग के होते हैं। **फल**–शिम्बी के आकार के होते हैं जिनके भीतर गोल, चपटे, काले बीज रहते हैं। **मूल**–२–६ इंच लंबा, अनेक उपमूलों से युक्त, किंचिन्मधुर और हलकी गन्धवाला होता है। इसकी लंबाई में गहरी झुर्रियाँ होती हैं। इसमें लुआब खूब होता है। लगभग दो वर्ष की आयु के क्षुप का मूल लेना चाहिए। खत्मी के क्षुप से ग्रीष्म ऋतु में एक रक्त या पीत निर्यास प्राप्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह ईरान और काश्मीर में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—शुष्क मूल में लुआब २५ प्रतिशत, स्टार्च ५० प्रतिशत, कुछ शर्करा और १–२ प्रतिशत ऐल्थीन (Althein) नामक तत्त्व होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—अनुष्ण (ईषदुष्ण)।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-पिच्छिल होने से वात का तथा मधुर होने से पित्त का शामक है। कफ का निःसारक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन और स्नेहन है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक तथा श्लैष्मिक विकारों में कफसंशोधनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, स्तनशोथ, पीड़ा, पार्श्वशूल तथा फुफ्फुस-शोथ में इसके बीजों और पत्तों का लेप करते हैं। कण्ठशोथ में इसके मूलक्वाथ से गण्डूष कराते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अन्त्रशोथ, प्रवाहिका, अन्त्रावरोध तथा पैत्तिक अतिसार में इसके बीज या मूल का क्वाथ या लुआब पिलाते हैं। इन रोगों में मूलक्वाथ की वस्ति भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय और वातपैत्तिक कास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र और मूत्रदाह में लाभकर है।

प्रयोज्य अङ्ग—पुष्प, बीज, मूल।

मात्रा—४–६ माशे।

११५. जूफा

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-हिसौपस ऑफिशिनेलिस (Hyssopus officinalis); फा०, अ०—जूफा।

स्वरूप—यह एक छोटा भूमि पर फैलने वाला क्षुप है। **पत्र**–सुगंधित एवं तिक्त होते हैं। इसकी शाखाओं की प्रत्येक ग्रंथि पर पीताभ **पुष्प** होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ईरान, श्याम, पंजाब और काश्मीर में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें टैनिन, राल, वसा, शर्करा, पिच्छिल द्रव्य तथा एक हरित-पीत वर्ण का तैल ¼-½ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्ण और उष्ण होने से अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर और शोथहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में तथा पित्तनिर्हरणार्थ प्रयु होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथ में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विबन्ध, उदर रोग, यकृद्वृद्धि और कृमि रोग में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, कास, श्वास एवं फुफुससोथ में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—३-६ माशे।

कासहर

११६. पिप्पली

परिचय

गण—कासहर, हिक्कानिग्रहण, शिरोविरेचन, वमन, तृप्तिघ्न, दीपनीय, शूलप्रशमन (च०); पिप्पल्यादि, ऊर्ध्वभागहर, शिरोविरेचन (सु०)।

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी-Piperaceae)।

नाम—लै०-पाइपर लौंगम (Piper Longum); सं०-पिप्पली, मागधी (मगधदेश-दक्षिणविहार-में उत्पन्न होने वाली) वैदेही (विदेह-उत्तरबिहार-में होने वाली); कृष्णा (कृष्णाभ होने के कारण); कणा (कणयुक्त); चपला (चंचल, तीक्ष्ण); तीक्ष्णतण्डुला (तीक्ष्णकणयुक्त); ऊषणा (कटुरस होने से); उपकुल्या (कुल्या-जलीयप्रदेश-के आसपास होने वाली); शौण्डी (शुण्डाकार फल होने के कारण); कोला (१ कोल प्रमाण का फल होने के कारण); हि०-पीपल; बं०-पिपुल; म०-पिंपली; गु०-पीपल; पं०-मघाँ, ता०-टिपिलि; ते०-पिपुल; अ०-दार फिलफिल; फा०-फिलफिल दराज; अं०-लौंग पीपर (Long Pepper)।

स्वरूप—पिप्पली की **लता** होती है। यह भूमि पर फैलती है या दूसरे वृक्षों के सहारे ऊपर उठ जाती है। **पत्र**–२–३ इञ्च लम्बे, पान के पत्ते के सदृश होते हैं इन पर पाँच सिरायें होती हैं। **पुष्प**–एकलिंगी होते हैं। पुंपुष्पदण्ड–१–३ इंच लम्बा और स्त्रीपुष्पदण्ड–½–१ इञ्च लम्बा होता है। **फल**–लम्बे, शुण्डाकार होते हैं। पकने पर इनका वर्ण रक्त होता है, सूखने पर कृष्णाभ धूसरवर्ण हो जाते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प और शरत्काल में फल आते हैं।

जाति—प्राचीन निघंटुओं में चार प्रकार की पिप्पली बतलाई गई है—(१) पिप्पली (२) गजपिप्पली (३) सैंहली (४) वनपिप्पली। **पिप्पली**–मगध आदि भारतीय प्रदेशों में होने वाली को पिप्पली कहते हैं। **गजपिप्पली** अभी तक एक सन्दिग्ध द्रव्य है। इसका विचार आगे किया जायगा। अनेक विद्वान् चव्य के फल का ग्रहण इससे करते हैं। **सैंहली**–जो लंका, सिंगापुर आदि बाह्य प्रदेशों से आती है। इसे 'जहाजी पीपल' भी कहते हैं। **वनपिप्पली**–जो वन्य प्रदेशों में स्वयं उत्पन्न होती है। बंगाल में यह बहुत देखने में आती है। यह छोटी, पतली और कम तीक्ष्ण होती है।

संप्रति पिप्पली का आयात बाहर से ही अधिक होता है। व्यवहार में दो प्रकार की पीपल चलती है—(१) बड़ी और (२) छोटी। बड़ी पीपल संभवतः 'सैंहली पिप्पली' है और छोटी पिप्पली 'वन पिप्पली' है जो इस देश में अधिक प्राप्त होती है।

उत्पत्तिस्थान—बंगाल, बिहार, आसाम, ट्रावनकोर, नेपाल, भूटान, हिमालय की तराई, फिलिपाइन द्वीपसमूह–मलाया, सिंगापुर–में विशेष होता है। पूर्वी बंगाल में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें राल, उड़नशील तैल, स्टार्च, गोंद, वसा, निरिन्द्रिय द्रव्य तथा पाइपरीन (Piperine) नामक एक क्षारतत्त्व १–२ प्रतिशत पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—अनुष्णशीत।

इसका आर्द्र फल गुरु, मधुररस और शीतवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु होने से कफ का तथा स्निग्ध होने से वात का शमन करता है। आर्द्रावस्था में यह मधुर–शीत होने के कारण वातकफवर्धक और पित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—तीक्ष्ण होने से यह रक्तोत्क्लेशक है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—यह मेध्य और वातहर है।

पाचनसंस्थान—यह कटुरस होने से दीपन, तृप्तिघ्न, स्निग्ध–उष्ण होने से वातानुलोमन, शूलप्रशमन और मृदुरेचन तथा तीक्ष्ण होने से यकृदुत्तेजक, प्लीहवृद्धिहर है। कटु, तीक्ष्ण उष्ण होने से कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से उत्तेजक है तथा कटुरस और मधुरविपाक होने से रक्तवर्धक और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफवातशामक होने से कासहर, श्वासहर एवं हिक्कानिग्रहण है। इसका चूर्ण तीक्ष्ण होने से शिरोविरेचन भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मधुरविपाक होने से मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल गर्भाशयसंकोचक है तथा फल वृष्य है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न, विशेष कर नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक होने से यह रसायन और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवात-रोगों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शीत और शोथयुक्त वेदना को शान्त करने के लिए इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य होने के कारण मस्तिष्कदौर्बल्य में तथा वातहर होने से वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबंध, गुल्म, उदरशूल, अर्श, यकृद्विकार, प्लीहवृद्धि और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य, पाण्डु, रक्तविकार (आमवात, वातरक्त आदि) में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास एवं हिक्का में यह अतीव उपयुक्त है। इससे कफ आसानी से निकलता है तथा कफ कम बनता है। बल्य होने से यह क्षयरोग में भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविकारों में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। इसका मूल रजोरोध तथा कष्टप्रसव में दिया जाता है।

त्वचा—कुष्ठ रोग में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्णज्वर और विषमज्वर में यह प्रयुक्त होता है। जीर्णज्वर में गुड़ के साथ पिप्पली चूर्ण सेवन करने का विधान है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है। रसायनकर्म के लिए वर्धमान पिप्पली अधिक लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल।

मात्रा—चूर्ण-५-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—गुडपिप्पली, पिप्पलीखंड, पिप्पल्यासव।

वक्तव्य—पिप्पली का प्रयोग योगवाही (अनुपान आदि) के रूप में ही करना उत्तम है। स्वतंत्र रूप से अतिमात्रा में या अतिकाल तक प्रयोग करने से स्निग्धता (प्रक्लेद) के कारण कफ का तथा उष्णता के कारण पित्त का प्रकोप हो जाता है। अत्यल्प स्नेह और उष्णता होने से प्रकुपित वात को भी यह पूर्णतया शान्त नहीं कर पाती। अत एव यह त्रिदोषवर्धक हो जाती है। इसके सेवन में इस वात का ध्यान रखना आवश्यक है।

× × × ×

अथ पिप्पलिकावल्लिः नागवल्लीदला मृदुः।' (शि.)

'पिप्पली मागधी कृष्णा वैदेही चपला कणा। उपकुल्योषणा शौण्डी कोला स्यात्तीक्ष्णतण्डुला॥

पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी। अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघुः॥
पिप्पली रेचनी हन्ति वातश्लेष्मोदरज्वरान्। कुष्ठप्रमेहगुल्मार्शःप्लीहशूलाममारुतान्॥
आर्द्रा कफप्रदा स्निग्धा शीतला मधुरा गुरुः। पित्तप्रशमनी सा तु शुष्का पित्तप्रकोपनी॥
पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी। श्वासकासज्वरहरी वृष्या मेध्याग्निवर्धनी॥
जीर्णज्वरेऽग्निमांद्ये च शस्यते गुडपिप्पली। कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्॥'
'दीपनं पिप्पलीमूलं कटूष्णं पाचनं लघु। रूक्षं पित्तकरं भेदि कफवातोदरापहम्॥
आनाहप्लीहगुल्मघ्नं कृमिश्वासक्षयापहम्।' (भा. प्र.)
'पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)
'श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली। सा शुष्का कफवातघ्नी कटूष्णा वृष्यसंमता॥
(च. सू. २७)

'तेषां गुर्वी स्वादुशीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा।
शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी॥' (सु. सू. ४६)
'शृतं पयः शर्करा च पिप्पल्यो मधुसर्पिषी। पञ्चसारमिदं पेयं मथितं विषमज्वरे॥' (सु. उ. ३९)
'गोमूत्रैरण्डतैलाभ्यां कृष्णाचूर्णं पिबेन्नरः। दीर्घकालोत्थितां हन्ति गृध्रसीं कफवातजाम्॥' (भा. प्र.)
'क्काथेन कल्केन च पिप्पलीनां सिद्धं घृतं माक्षिकसंप्रयुक्तम्।
क्षीरानुपानं विनिहन्त्यवश्यं शूलं प्रवृद्धं परिणामसंज्ञम्॥' (वंगसेन)

'पिप्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाकाः गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताश्च, ताः सद्यः शुभाशुभकारिण्यो भवन्ति, आपातभद्राः प्रयोगसमसाद्गुण्यात्; दोषसंचयानुबन्धाः सततमुपयुज्यमानाः हि गुरुप्रक्लेदित्वाच्छ्लेष्माणमुत्क्लेशयति, औष्ण्यात् पित्तं, न च वातप्रशमनायोपकल्पतेऽल्पस्नेहोष्णभावात्। योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति; तस्मात् पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत।' (च. वि. १)

११७. कण्टकारी

परिचय

गण—कासहर, कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण, शोथहर, शीतप्रशमन, अंगमर्दप्रशमन (च०); बृहत्यादि, वरुणादि, लघुपञ्चमूल (सु०)।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-सोलेनम जैन्थोकार्पम् (Solanum Xanthocarpum); सं०-कण्टकारी (कण्टकयुक्त), दुःस्पर्शा (कण्टकयुक्त होने से), क्षुद्रा (छोटी होने से); व्याघ्री (व्याघ्र के समान स्वर बनाने वाली); निदिग्धिका (शीघ्र बढ़ने वाली); हि०-छोटी कटेरी, भटकटैया, रेंगनी; पं०-कण्डियारी; म०-भुईरिंगणी; गु०-भोंयरिंगणी; बं०-कण्टिकारी; ता०-कान्दनकांटिरि; ते०-कूदा; अ०-बादं जान बर्री; फा०-बादंगानबर्री; अं०-वाइल्ड एग प्लाण्ट (Wild egg-plant)।

स्वरूप—इसका कण्टकित गुल्म १-४ फुट ऊँचा चमकीले हरे रंग का होता है। **पत्र**-४-५ इंच लम्बे, २-३ इंच चौड़े डिम्बाकृति होते हैं। पत्तियों के पृष्ठ पर तीक्ष्ण काँटे होते हैं। **पुष्प**-नीलवर्ण होते हैं। **फल**-गोलाकार अंडे के समान, कच्ची अवस्था में हरितवर्ण और श्वेतरेखाङ्कित तथा पकने पर पीतवर्ण हो जाते हैं। ग्रीष्मकाल में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं-नीलपुष्पा और श्वेतपुष्पा। नीलपुष्पा सामान्यतः मिलती है और इसका वर्णन ऊपर किया गया है। श्वेतपुष्पा कण्टकारी कम मिलती है और उसका प्रयोग अनेक वैद्य लक्ष्मणा के स्थान पर करते हैं। इसका क्षुप भी श्वेताभ

होता है अतः चन्द्रपुष्पा, दुर्लभा, श्वेतलक्ष्मणा आदि नामों से इसका व्यवहार होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः बंगाल, आसाम, पंजाब और दक्षिण भारत में प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें सोलेनिन (Solanine) नामक क्षारतत्त्व, पोटाशियम क्लोराइड, पोटाशियम नाइट्रेट, लौह और कुछ सेन्द्रिय अम्ल पाये जाते हैं। फलों में सोलेनकार्पीन (Solancarpine) नामक तत्त्व पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर और कृमिघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से संज्ञाप्रबोधन है तथा उष्ण होने से वातहर है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त और उष्ण होने से दीपन, पाचन तथा तीक्ष्ण होने से कृमिघ्न और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और कफनिःसारक होने से कासहर, कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज गर्भाशयसंकोचक और वाजीकरण है। श्वेतपुष्पा कण्टकारी गर्भस्थापन है।

त्वचा—यह उष्ण होने से स्वेदजनन है।

तापक्रम—तिक्त होने के कारण ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कृमिदन्त, दन्तशूल एवं अर्श में बीजों की धूनी देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अपतन्त्रक, अपस्मार में आवेग के समय इसका स्वरस नाक में देने से संज्ञानाश दूर होता है। अंगमर्द, सन्धिवात आदि वातविकारों में भी प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध एवं उदरगत कृमियों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार (कुष्ठ, फिरङ्ग, आमवात आदि) तथा शोथ में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, कास, श्वास, पार्श्वशूल, स्वरभेद एवं हिक्कारोगों के लिए अतीव उपयुक्त है। बच्चों के जीर्ण कास में इसके फलों का चूर्ण भी मधु से देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरी, पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज रजोरोध, कष्टप्रसव तथा क्लैब्य रोग में दिये जाते हैं। श्वेतपुष्पा कण्टकारी का प्रयोग गर्भस्थापन के लिए किया जाता है।

त्वचा—यह विभिन्न चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—पंचाङ्ग।

मात्रा—क्वाथ-४-८ तो०; चूर्ण-१-२ माशे।

विशिष्ट योग—निदिग्धिकादि क्वाथ, व्याघ्रीहरीतकी, कण्टकारीघृत, व्याघ्री तैल।

× × × ×

'कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः। रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान्॥
निहन्ति पीनसं पार्श्वपीडाकृमिहृदामयान्। तस्याः फलं कटु रसे पाके च कटुकं भवेत्॥
शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्तं पित्ताग्निकृल्लघुः। हन्यात् कफमरुत्कण्डूकासमेदःकृमिज्वरान्॥
तद्वत् प्रोक्ता सिता क्षुद्रा विशेषाद् गर्भकारिणी।' (भा. प्र.)
'कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः। सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम्॥'
(च. चि. २२)

'सम्यग् विपक्वं द्विगुणेन सर्पिर्निदिग्धिकायाः स्वरसेन चैतत्।
श्वासाग्निसादस्वरभेदभिन्नान् निहन्त्युदीर्णानपि पञ्च कासान्।' (सु.)
'व्याघ्रीकुसुमसंजातकेसरैरवलेहिकाम्। जग्ध्वापि चिरतो जातं शिशोः कासं व्यपोहति॥
(वंगसेन)

'निदिग्धिकाञ्चामलकप्रमाणां हिंग्वर्धयुक्तां मधुना सुयुक्ताम्।
लिहेन्नरः श्वासनिपीडितो हि श्वासं जयत्येव बलात् त्र्यहेण॥' (सु. उ. ५१)
'...बृहतीद्वयञ्च। आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं दिनानि सप्ताश्मरिभेदनाय॥' (च. चि. २६)
'निदिग्धिकारसो वापि सक्षौद्रः कृच्छ्रनाशनः॥' (शोढल.)

११८. बृहती

परिचय

गण—कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण, शोथहर, अंगमर्दप्रशमन (च०); बृहत्यादि, लघुपंचमूल (सु०)।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-सोलेनम इण्डिकम (Solanum indicum), सं०-बृहती (बड़ी); क्षुद्रभण्टाकी (बैंगन के सदृश किन्तु छोटा क्षुप); सिंही (सिंह के समान उच्च स्वर बनाने वाली); हि०-बड़ी कटेरी, बनभंटा; बं०-व्याकुड; म०-डोरली; गु०-उभी रिंगणी; ता०-पाप्पारामल्ली; ते०-तेल्लामूलक; फा०-कटाई कलाँ।

स्वरूप—इसका क्षुप बैंगन के सदृश १-६ फुट ऊँचा होता है। काण्ड और पत्र में चपटे, वक्र कांटे होते हैं। शाखा-प्रशाखायें अनेक होती हैं। **पत्र**-३-६ इञ्च लंबे, १-४ इंच चौड़े पक्षाकार होते हैं। **पुष्प**-नीलवर्ण होते हैं। **फल**-कच्ची अवस्था में हरे, श्वेतरेखांकित तथा पकने पर पीले पड़ जाते हैं।

जाति—यह दो प्रकार की होती है (१) नीलपुष्पा, (२) श्वेतपुष्पा। श्वेतपुष्पा का क्षुप बड़ा, फल बड़ा तथा पुष्प श्वेतवर्ण होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः पंजाब, दक्षिण भारत और बंगाल में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल और फल में मोम, वसाम्ल तथा सोलेनिन (Solanine) और सोलेनिडिन (Solanidine) नामक दो क्षारतत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, कण्डूघ्न, केश्य और उत्तेजक है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, पाचन, ग्राही और क्रमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कासहर और श्वासहर है।
मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।
प्रजननसंस्थान—इसके बीज गर्भाशयसंकोचक और वाजीकरण है।
त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वेदनायुक्त अवयवों पर लेप करते हैं। बृहतीफल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा को एकत्र पीस कर योनिपूरण करने से या धूम देने से योनिकण्डू आराम होता है। ध्वजभंग में शिश्न पर इसके बीजों का लेप करते हैं। इन्द्रलुप्त रोग में इसका रस सिर में लगाते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, ग्रहणी, उदरशूल, अरुचि और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। इसके फल का रस गोघृत और मधु के साथ देने से वमन रुकता है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ तथा रक्तविकारों में उपयोगी है। इसके बीजों के चूर्ण का नस्य लेने से संज्ञानाश दूर होता है।
श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, स्वरभेद एवं हिक्कारोगों में यह अतीव लाभकर है।
मूत्रवह संस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्टप्रसव एवं सूतिकारोग में उपयोगी है। वाजीकरणार्थ भी प्रयुक्त होता है।
त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अङ्ग—मूल, फल।
मात्रा—क्वाथ ४–८ तो०; चूर्ण १–२ माशे।
विशिष्ट योग—बृहत्यादि क्वाथ, बृहत्यादिगण, दशमूलारिष्ट।

× × × ×

'बृहती ग्राहिणी हृद्या पाचनी कफवातहृत्। कटुतिक्तास्यवैरस्यमलारोचकनाशिनी॥

उष्णा कुष्ठज्वरश्वासशूलकासाग्निमान्द्यजित् ।' (भा. प्र.)
'इन्द्रलुप्तापहो लेपो मधुना बृहतीरसः ।' (शोढल)
'एकं बृहत्याः फलपिप्पलीकं शुण्ठीयुतं चूर्णमिदं प्रशस्तम् ।
प्रध्मापयेत् घ्राणपुटे विसंज्ञः चेष्टां करोति क्षवथुप्रबुद्धः ॥' (शोढल)

११६. कर्कटशृङ्गी

परिचय

गण—कासहर, हिक्कानिग्रहण (च०); काकोल्यादि (सु०)।

कुल—आम्र-कुल-(एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-रस सक्सिडेनिया (Rhus Succedanea)। सं०-कर्कटशृङ्गी (कर्कट नामक वृक्ष में होने वाली शृङ्गाकार रचना); कुलीरविषाणिका (केकड़े के शृंग की तरह); अजशृङ्गी (बकरे की सींग के सदृश); वक्रा (टेढ़ी)। हि०-काकड़ासिङ्गी; बं०-ता० ते०-काँकड़ाशृङ्गी; म०-काकड़शिङ्गी।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** को लोकभाषा में 'कक्कर' कहते हैं। यह तून के सदृश होता है और इसकी ऊँचाई लगभग २५-३० फीट होती है। **छाल**-धूसरवर्ण होती है। **पत्रक**-२-५ इंच लम्बे, १-३ इंच चौड़े होते हैं। पूरा पत्र ६-८ इञ्च लम्बा होता है जो शाखाओं के अग्रभाग पर घनरूप में लगा रहता है। **पुष्प**-छोटे, पीतहरित वर्ण होते हैं। **फल**-छोटे, चपटे और पतले होते हैं। जनवरी-फरवरी में पुष्प तथा मार्च में फल लगते हैं।

इसी वृक्ष की शाखाओं, पत्रवृन्तों या पत्रों पर कीट विशेष द्वारा शृङ्गाकार कोष निर्मित होते हैं। ये ही कोष 'काकड़ासिङ्गी' के नाम से व्यवहृत होते हैं। यह शृङ्गाकार, १-३ इञ्च लम्बी, ½-१ इञ्च चौड़ी, धूसरवर्ण, भीतर से पोली और कोमल होती है। इसको तोड़ने पर इसके भीतर सफेद जाले के समान दिखाई पड़ता है, यह कीट का अवशेष भाग है। इस वृक्ष के अतिरिक्त हरीतकी आदि वृक्षों पर भी ये कोष प्राप्त होते हैं और काकड़ासिङ्गी के नाम पर बाजारों में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय की निचली पहाड़ियों में कुमायुँ, नेपाल, आसाम एवं बंगाल में प्राप्त होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें टैनिन ६० प्रतिशत, उड़नशील तैल १·२१ प्रतिशत, गोंद ५ प्रतिशत तथा स्फटिकीय हाइड्रोकार्बन (Crystalline hydrocarbon) ३·४ प्रतिशत होता है। उड़नशील तैल पीताभ हरित तारपीन के तैल के समान गन्ध-स्वाद युक्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा रक्तरोधक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उष्ण होने से यह दीपन, वातानुलोमन, ग्राही है।

श्वसनसंस्थान—यह तिक्त कषाय होने से कफनिःसारक तथा कफघ्न है। हिक्का-निग्रहण भी है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ एवं स्राव को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह तिक्त उष्ण होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है और क्रमशः बल को बढ़ाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसका लेप किया जाता है। मसूढ़ों से रक्त आने पर इसके क्वाथ से गण्डूष कराते हैं। व्रणों और क्षतों पर इसका अवचूर्णन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, उदावर्त्त, तृष्णा, अरुचि एवं अतिसार-प्रवाहिका में लाभकर है। विशेषतः बच्चों में दन्तोद्भेद के समय जो उपद्रव होते हैं उनमें यह अतीव उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में यह प्रयुक्त होता है। इससे सञ्चित कफ निकल जाता है, नया कफ बनता नहीं तथा श्लेष्मल कला को शक्ति मिलती है। गलशोथ एवं काकलक-वृद्धि में भी इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर एवं पूयमेह आदि में स्राव और शोथ को रोकने के लिए इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वरों में विशेषतः वातश्लैष्मिक ज्वरों में यह उपयुक्त है।

सात्मीकरण—क्षयरोग में यह प्रयुक्त होता है। काश्मीर में इसके फल का भी प्रयोग क्षयरोग में करते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—शृङ्गाकार कोष।

मात्रा—६-१२ रत्ती।

विशिष्ट योग—शृंग्यादि चूर्ण, कर्कटादि चूर्ण, बालचतुर्भद्रा।

× × × ×

'शृङ्गी कषाया तिक्तोष्णा कफवातक्षयज्वरान्। श्वासोर्ध्ववाततृट्कासहिक्कारुचिवमीर्हरेत् ॥'
(भा. प्र.)

'कुलीरशृङ्गीचूर्णञ्च मूलकस्य फलं तथा। युक्तोऽयं मधुसर्पिभ्यां लेहः श्वासापहः शिशोः ॥'
(वङ्गसेन)

१२०. कासमर्द

परिचय

गण—सुरसादि गण (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूरिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०-कैसिया ऑक्सिडेन्टलिस (Cassia Occidentalis); सं०-कासमर्द (कास को नष्ट करने वाला); कासारि (कास का शत्रु); हि०-कसौंदी; बं०-केसेन्दा; म०-कासविंदा; गु०-कासोंदरो; ता०-पेयावेरी; ते०-कासिन्द; अं०-निग्रो कॉफी प्लाण्ट

Negro Coffee plant (इसके बीजों को भून कर काफी के स्थान पर प्रयोग करते हैं।)

स्वरूप—इसका क्षुप ३-६ फुट ऊँचा वर्षा ऋतु में होता है। **पत्र**-संयुक्त, एकान्तर होते हैं। **पत्रक**-प्रत्येक वृन्त में प्रायः पाँच-पाँच होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, छोटे होते हैं। **शिम्बी**-३-४ इञ्च लम्बी, पतली और गोलाकार होती है। प्रत्येक शिम्बी में १०-३० बीज होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश से लेकर बंगाल, दक्षिणभारत, लंका और वर्मा तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में सनाय के जैसा विरेचन तत्त्व कैथार्टिन (Cathartin), कुछ रञ्जक द्रव्य और लवण होते हैं। बीजों में निम्नाङ्कित तत्त्व होते हैं:—

वसाद्रव्य—(Olein & Margarin)	४·९ प्रतिशत
कषायाम्ल—(Tannic acid)	०·९ ,,
शर्करा—	२·१ ,,
गोंद—	२८·८ ,,
स्टार्च—	२· ,,
सेल्युलोज—	३४ ,,
कैल्शियम सल्फेट और फास्फेट तथा क्राइसोफेनिक एसिड—	०·९ ,,
मैलिक एसिड, सोडियम क्लोराइड, मैगनीशियम सलफेट, लौह और सिलिका—	५·४ ,,
एक्रोसीन—(Achrosine)	१३·५८ ,,
जल—	७ ,,

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त-मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक तथा तिक्त-तीक्ष्ण होने से पित्तसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीस्थान—यह आक्षेपशामक तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, वातानुलोमन, पित्तसारक एवं रेचन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह तिक्त होने से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयोग करते हैं। पैत्तिक विकारों में भी पित्तनिर्हरणार्थ यह प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, विसर्प, व्रण आदि में पत्रों और बीजों का लेप करते हैं। इसके मूल का प्रयोग वृश्चिकविष में करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अपस्मार, अपतन्त्रक एवं आक्षेपक में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में मूल या पञ्चाङ्ग का क्वाथ देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदररोग, पित्तविकार तथा विबन्ध में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, हिक्का एवं कुकुरखाँसी में पत्रस्वरस मधु के साथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—इसके मूल का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र एवं शोथ में प्रयुक्त होता है। इक्षुमेह में भी उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ रोग में बीजों का प्रयोग होता है। श्लीपद रोग में इसके मूल का कल्क गोघृत के साथ देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, बीज तथा मूल।

मात्रा—पत्रस्वरस-½-१ तोला; बीजचूर्ण-१-२ माशे; मूलक्वाथ-४-८ तोला।

× × × ×

'कासमर्दः सुतिक्तः स्यान्मधुरः कफवातजित्। विशेषतः पित्तहरः पाचनः कण्ठशोधनः॥' (ध.नि)

'कासमर्दकपत्राणां यूषः······हिक्काश्वासनिवारणः।' (च. चि. १७)

'कासमर्दकबीजानि मूलकान्नं तथैव च। गन्धपाषाणमिश्राणि सिध्मानां परमौषधम्॥' (च.द)

'जम्बीरस्वरसे पिष्टकासमर्दाङ्घ्रिलेपनम्।
विचर्चिकानां सर्वेषां परमौषधमुच्यते॥' (वैद्यमनोरमा)

'कासमर्दशिफाकल्कं गव्येनाज्येन यः पिबेत्।
श्लीपदं वातजं तस्य नाशमायाति सत्वरम्॥' (वङ्गसेन)

'यः कासमर्दमूलं वदने प्रक्षिप्य कर्णे फुत्कारम्।
मनुजो दधाति शीघ्रं जयति विषं वृश्चिकानां सः॥' (च. द.)

१२१. अगस्त्य

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-(Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-सेस्बेनिया ग्रैण्डिफ्लोरा (Sesbania Grandiflora)।

सं०-अगस्त्य (अगस्त्य तारा के उदयकाल-प्रायः शरद् ऋतु में इसके पुष्प आते हैं अत एव); मुनिद्रुम (ऋषि के नाम का वृक्ष); वंगसेन (बंगाल में अधिक होने से) वक्रपुष्प (पुष्प नौकाकार होने से); हि०-अगस्त; बं०-वक, वासनाफूल; म०-अगस्ता; गु०-अगथियो; ता०-अगति; ते०-अविषि।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २०-३० फीट ऊँचा होता है। **शाखायें** विरल होती हैं। **पत्र**-½-१ फुट लंबे; शिरीष के सदृश; **पत्रक**-४१-६१, लंबे गोले और हलके हरे रंग के होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, नौकाकार, २-४ इञ्च लंबे होते हैं। **शिम्बी**-लगभग १ फुट लंबी, लंबगोल, कोमल और चार धारों वाली होती है। शीतकाल में फल लगते हैं। पुष्पों का शाक तथा फलियों का शाक और अचार के रूप में प्रचुर व्यवहार होता है।

जाति—कई निघंटुकारों ने 'सितपीतनीललोहितकुसुमभेदाच्चतुर्विधोऽगस्तिः' ऐसा लिख कर इसकी चार जातियाँ पुष्पभेद से मानी हैं—(१) श्वेत (२) पीत (३) नील और (४) रक्त। अधिकांश श्वेतपुष्प का अगस्त्य ही प्राप्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह बंगाल, दक्षिण भारत तथा गंगा के तीरवर्ती प्रदेशों में और बर्मा में अधिक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टैनिन और रक्तवर्ण का निर्यास होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष एवं तिक्त होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्र और त्वचा शोथहर, व्रणशोधन और व्रणरोपण हैं। पत्रस्वरस शिरोविरेचन तथा पुष्प चक्षुष्य हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह संज्ञाप्रबोधन और मेध्य है।

पाचनसंस्थान—इसके पुष्प और पत्र दीपन, अनुलोमन, कृमिघ्न तथा त्वचा ग्राही और शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका पत्र रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—इसके पुष्प, पत्र और छाल श्लेष्मनिःसारक और कासहर हैं।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रमार्ग के शोथ एवं स्राव को दूर करता है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है और त्वचा के विस्फोट आदि को शान्त करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है विशेषकर नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—इससे विषों का नाश होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मूल और त्वचा का लेप सन्धिवात, वातरक्त आदि में करते हैं। पत्रकल्क का लेप व्रण पर करते हैं। पुष्पस्वरस दृष्टिमांद्य एवं नक्तान्ध्य में आँखों में डालते हैं। पत्रस्वरस का नस्य लेने से दुष्ट जल बहुत निकलता है अतः शिरःशूल, प्रतिश्याय, कफज्वर, चातुर्थिक ज्वर आदि में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसके पत्रस्वरस का नस्य अपस्मार आदि में देते हैं। इससे बेहोशी दूर होती है और आक्रमण रुकता है। इसके पक्व फल मेधाशक्ति को बढ़ाते हैं और मस्तिष्कदौर्बल्य में उनका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबंध कृमि आदि उदरविकारों में पुष्प और पत्र का शाक खिलाते हैं तथा पत्रस्वरस देते हैं। संग्रहणी, अतिसार, उदरशूल आदि में इसकी त्वचा का स्वरस मधु के साथ प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—फुफ्फुसशोथ, कास एवं प्रतिश्याय के लिए अतीव उपयोगी है। इन रोगों में विशेषतः छाल का स्वरस मधु के साथ देते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है, कफ आसानी से निकलता है और कास का वेग कम होता है।

प्रजननसंस्थान—इसके पुष्पों का प्रयोग श्वेतप्रदर में करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—यह कफज्वर, चातुर्थिकज्वर तथा सन्निपातज्वर में विशेष उपयोगी है।

सात्मीकरण—विषों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; क्वाथ-४-८ तो०।

× × × ×

'सिद्धोऽगस्तिः पंक्तिपत्रो मृदुशिंबी महारुहः। अगस्त्यस्योदयं यावत् सपुष्प इव दृश्यते॥' (शि.)

'अगस्त्यः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः। रूक्षो वातकरस्तिक्तः प्रतिश्यायनिवारणः॥'
तत्पुष्पं पीनसश्लेष्मपित्तनक्तान्ध्यनाशनम्।' (भा. प्र.)

'अगस्त्यपत्रं कटुकं सतिक्तं गुरु कृमिघ्नं विशदं कफघ्नम्।
कण्डूहरं शोणितपित्तहारि स्यात् सूक्ष्ममुष्णं मधुरं विषघ्नम्॥' (कै. नि.)

'मुनिशिंबी सरा प्रोक्ता बुद्धिदा रुचिदा लघुः। पाककाले तु मधुरा तिक्ता चैव स्मृतिप्रदा॥
त्रिदोषशूलकफहृत् पांडुरोगविषापनुत्। शोषगुल्महरा प्रोक्ता सा पक्वा रूक्षपित्तला॥' (नि. र.)

'वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासहराणि च।'
अगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां प्रशस्यते।' (सु. सू. ४६.)

'अगस्तिपत्रं मरिचं मूत्रेण परिवेषितम्। नस्ये शस्तमपस्मारं हन्ति शीघ्रं नरस्य तु॥' (हारीत चि. १९.)

'अगस्तिपुष्पचूर्णेन माहिषं जनयेद्दधि। तदुत्थनवनीतेन देहजं स्फुटनं जयेत्॥' (भा. प्र.)

'चातुर्थिकहरं नस्यं मुनिद्रुमदलाम्बुना।' (वै. जी.)

'नागरशोभाञ्जनयोः क्वाथः शूलं विनाशयेत् त्रिदिनात्।
मुनितरुवल्कक्काथस्तद्वत् पटुरामठप्रतीवापः॥' (वै. म.)

श्वासहर

१२२. शटी

परिचय

गण--श्वासहर, हिक्कानिग्रहण (च०)।

कुल--हरिद्रा-कुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम--वै०-हेडिकियम् स्पाइकेटम (Hedychium spicatium); सं०-शटी, षड्ग्रन्था (अनेक ग्रन्थियुक्त मूल); गन्धमूलिका (मूल अतिसुगंधित होने से); पलाशी (काण्ड पत्रमय होने से); हि०-कपूरकचरी; बं-कपूरकचरी; म० गु०-कपूरकाचरी।

स्वरूप—यह वर्षायु क्षुप हरिद्रा के समान होता है। **कन्द**-लंबे, आलू के सदृश, सुगंधित होते हैं। इसके गोल-गोल टुकड़े काटकर सुखाकर बाजार में 'कपूरकचरी' के नाम से बेचते हैं। **पत्र**-लगभग १ फुट लंबा और कुछ चौड़ा होता है। **पुष्पदंड**-शाखा-प्रशाखायुक्त होता है जिस पर मृदुरोमश श्वेत वर्ण पुष्प लगे रहते हैं। **बीजकोष**-गोलाकार होता है। वर्षाऋतु में पुष्प और फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः हिमालय प्रदेश में कुमायूँ, नेपाल, भूटान आदि में होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च, सेल्युलोज, म्युसिलेज, अलब्यूमिन, शर्करा, राल, सुगंधित द्रव्य, तैल तथा मेथिल पैराकुमारिन एसिटेट (Methyl paracumarin acetate) होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उष्ण होने से शोथहर और वेदनास्थापन है। यह दुर्गन्धनाशन और केश्य भी है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटु तिक्त एवं उष्ण होने से रोचन, दीपन, शूलप्रशमन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक एवं रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर, श्वासहर तथा हिक्कानिग्रहण है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका लेप सन्धिशोथ में तथा आध्मान आदि में उदर पर किया जाता है। इसके चूर्ण का मंजन दन्तशूल में करते हैं। दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिए इसका चूर्ण धूप की तरह जलाते हैं और मुखदुर्गन्ध को दूर करने के लिए इसका मंजन करते हैं या इसका टुकड़ा मुंह में रखते हैं। खालित्य रोग में इसका चूर्ण केशों में तैल के साथ लगाते हैं। तैल में मिलाकर इसके चूर्ण का नस्य शिरोरोगों में लाभकर है। व्रणों में तथा त्वचा के रोगों में इसका लेप या उबटन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, उदरशूल और अतिसार में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और रक्तविकारों में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास तथा हिक्का रोगों में यह लाभकर है। इसका धूपन भी हिक्का में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—त्वग्दोषों में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वरों में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण १–३ माशे।

विशिष्ट योग—शठ्यादि चूर्ण, शठ्यादि क्वाथ, शठ्यादि वर्ग।

× × × ×

'शटी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका। गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका॥

भवेद्गन्धपलाशी तु कषाया ग्राहिणी लघुः। तिक्ता तीक्ष्णा च कटुकानुष्णास्यमलनाशिनी॥
शोथकासव्रणश्वासशूलहिध्मग्रहापहा।' (भा. प्र.)

'शटी स्यात् कटुतीक्ष्णोष्णा सन्निपातज्वरापहा। कफास्रव्रणकासघ्नी वक्त्रशुद्धिविधायिनी॥
(ध. नि.)

'शटी तिक्ता कटुस्तीक्ष्णा कषाया ग्राहिणी लघुः। अनुष्णा मुखवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनी॥
दोषकासव्रणश्वासशूलहिध्मज्वरापहा।' (कै. नि.)

१२३. कर्चूर

परिचय

कुल—हरिद्राकुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम—लै०-कर्क्युमा जेडोआरिया (Curcuma zedoaria); सं०-कर्चूर, द्राविड़ (द्राविडदेश-दक्षिणभारत-में विशेष होने से); हि०-कचूर, नरकचूर; बं०-शटी; म०-कचोरा; गु०-षट्कचूरो, कचूरो; ते०-कचूरम्; अ०-जरंबाद।

स्वरूप—इसका **क्षुप** हलदी के समान होता है। **कन्द** भी हलदी के समान किन्तु सफेद रंग का और कर्पूर के समान गंधयुक्त होता है। **पत्र**-१-२ फुट लंबा होता है। **पुष्प**-हलके पीले रंग के होते हैं। **बीज**-लंबे और श्वेत होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और बाद में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय प्रदेश में तथा दक्षिण भारत में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक सुगंधित तैल, एक तिक्त राल, सेन्द्रिय अम्ल, निर्यास, स्टार्च, शर्करा, अलब्युमिनॉयड तथा जेडोआरिन (Zedoarine) नामक क्षारतत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कटु तिक्त और उष्ण होने के कारण यह रोचन, दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक, शोथहर तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न एवं श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से आर्त्तवजनन और वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है। विशेषतः आर्द्र कचूर का स्वरस मूत्र के प्रमाण को अधिक बढ़ाता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरों को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग बाह्य—सन्धिवात, शोथ एवं चमरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान, शूल, गुल्म, अर्श और कृमि रोगों में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य, शोथ एवं रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है। शोथ में इसका पत्रस्वरस देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास एवं हिक्का रोग में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्तव और ध्वजभंग में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—आर्द्र कचूर का स्वरस पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—त्वचा के विकारों में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर में भी लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—कन्द, पत्र।

मात्रा—स्वरस १–२ तो०; चूर्ण १–२ माशे।

विशिष्ट योग—कर्चूर तैल।

× × × ×

'वर्षाभवो हरिद्राभदलः कंदी सुगंधिकः। दृढः शुभ्रो न च स्निग्धः शुभः कर्चूरको मतः ॥'(शि.)

'कर्चूरो दीपनो रुच्यः कटुकस्तिक्त एव च। सुगन्धिः कटुपाकः स्यात् कुष्ठार्शोव्रणकासनुत् ॥ उष्णो लघुर्हरेच्छ्वासगुल्मवातकफक्रिमीन् ।' (भा. प्र.)

'रोचनो दीपनो हृद्यः सुगन्धिस्त्वग्विवर्जितः। कर्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिक्कार्शसां हितः ॥' (च. सू. २७)

'कर्चूरः कटुतिक्तोष्णो रुच्यो वातबलासजित्। दीपनः प्लीहगुल्मार्शःशमनः कुष्ठकासहा ॥' (ध. नि.)

१२४. पुष्करमूल

परिचय

गण—श्वासहर, हिक्कानिग्रहण (च०)।

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-इन्युला रेसिमोसा (Inula Racemosa)। सं०-पुष्करमूल (तालावों में होने वाला मूलप्रधान द्रव्य); पद्मपत्र (कमल के समान पत्रों वाला); काश्मीर (काश्मीर प्रदेश में होने वाला); कुष्ठभेद (कुष्ठ के समान स्वरूप और गुणधर्म वाला); हि०-पोहकरमूल।

स्वरूप—यह कुष्ठ के समान ही होता है अतएव इसे कुष्ठभेद कहा गया है। मूल भी कुष्ठ के सदृश ही होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह काश्मीर में ७ से ९ हजार फुट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, एक तिक्त सत्त्व तथा बेञ्जोइक अम्ल होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क तथा नाड़ियों को उत्तेजित करता है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त और उष्ण होने से दीपन, पाचन तथा अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह उष्ण होने से हृदयोत्तेजक एवं रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु, तिक्त और उष्ण होने के कारण कफघ्न, कासहर, हिक्का-निग्रहण एवं श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने से वृक्कों को उत्तेजित करता है और मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण वाजीकरण तथा गर्भाशय को भी उत्तेजित करता है।

त्वचा—यह तिक्त होने से तथा स्वेदजनन होने से त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—यह आमपाचन एवं स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षयज व्रणों में इसका अवचूर्णन या लेप करते हैं। शोथ-वेदनायुक्त स्थानों में भी लेप करते हैं। विशेष कर पार्श्वशूल में इसे घिस कर पार्श्वभाग में लेप करते हैं। इससे शोथ और पीड़ा कम होती है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कदौर्बल्य तथा वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान आदि उदरविकारों में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं। हृद्दौर्बल्य-जन्य श्वास (Cardiac asthma) में प्रशस्त माना जाता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, हिक्का, श्वास, फुफ्फुसावरणशोथ, पार्श्वशूल एवं क्षय में यह अत्यन्त लाभकर है। इससे रोगजन्य जीवाणुओं का नाश होता है, दोष शान्त होते हैं तथा शोथ, ज्वर एवं पीड़ा आदि लक्षण दूर होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध एवं कष्टार्त्तव में यह उपयोगी है। इससे आर्त्तवकाल की पीड़ा शान्त होती है और आर्त्तव ठीक आने लगता है। वाजीकरण के लिए भी प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में भी प्रयोग करते हैं विशेषकर वातश्लैष्मिक ज्वर, प्रतिश्याय आदि में लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य एवं पाण्डु में इसका सेवन कराते हैं। इससे पाचन ठीक होता है, हृदय एवं रक्तवहसंस्थान उत्तेजित होता है तथा धात्वग्नियों के उत्तेजित होने से धातुपाक-क्रिया ठीक होती है जिससे दौर्बल्य दूर होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल।

मात्रा—२-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—पुष्करमूलादि चूर्ण, पुष्करादि चूर्ण।

× × × ×

'उक्तं पुष्करमूलं तु पौष्करं पुष्करं च तत्। पद्मपत्रं च काश्मीरं कुष्ठभेदमिमं जगुः॥
पौष्करं कटुकं तिक्तमुष्णं वातकफज्वरान्। हन्ति कासारुचिश्वासान् विशेषात् पार्श्वशूलनुत्॥'
(भा. प्र.)

'पुष्करं कटु तिक्तोष्णं कफवातज्वरापहम्। श्वासारोचककासघ्नं शोफघ्नं पाण्डुनाशनम्॥'
(रा. नि.)

'पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणाम्।' (च. सू. २५)

'तिक्तं पुष्करमूलं च कटूष्णं कफवातजित्। ज्वरारोचककासघ्नं शोफार्दितविनाशनम्॥
श्वासोर्ध्ववातपाण्डुघ्नं हिक्कादोषनिवारणम्।' (ध. नि.)

'चूर्णं पुष्करजं लिह्यान् माक्षिकेण समायुतम्। हृच्छूलश्वासकासघ्नं क्षयहिक्कानिवारणम्॥'
(भै. र.)

१२५. भार्ङ्गी

परिचय

गण—पिप्पल्यादि (सु)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी-Verbenaceae)।

नाम—लै०-क्लेरोडेण्ड्रॉन सिरेटम (Clrodendron serratum) सं०-भार्ङ्गी; ब्राह्मणयष्टिका (पतले शाखारहित काण्ड से युक्त); खरशाक (रूक्ष पत्रयुक्त); पद्मा (कमलवत् श्वेत पुष्प होने से); हि०-भारङ्गी, बभनेटी; बं०-बामुनहाटी; म०-भारङ्ग; गु०-भारङ्गी।

स्वरूप—इसका क्षुप प्रायः ५-८ फुट ऊँचा और शाखारहित होता है। **पत्र**-७-८ इञ्च लम्बे और १-२ इञ्च चौड़े खर और तीक्ष्ण होते हैं। **पुष्प**-शिखर पर गुच्छों में श्वेतवर्ण और सुगन्धित आते हैं। **फल**-गोलाकार, पकने पर जामुन के समान नील वर्ण के हो जाते हैं। **मूल**-स्थूल और ग्रन्थियुक्त होता है। ग्रीष्मऋतु में पुष्प और वर्षा में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की तराई में विशेषतः नेपाल, कुमाऊँ, बंगाल और बिहार में होता है। दक्षिण भारत में भी मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में स्टार्च, राल, वसा और एक क्षारतत्त्व होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तोत्क्लेशक, शोथहर और व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उष्ण और कटुतिक्त होने के कारण दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कासहर और श्वासहर है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—आमपाचन और उष्ण होने से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों को पकाने के लिए इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। गण्डमाला आदि में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य और गुल्मरोग में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों तथा शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास एवं यक्ष्मा में यह लाभकर है। इसके मूल का स्वरस अदरख के स्वरस में मिला कर देने से श्वास का वेग शान्त हो जाता है।

तापक्रम—ज्वर में भी यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—१-३ माशे।

विशिष्ट योग—भार्ङ्गीगुड़, भार्ङ्ग्यादि क्वाथ।

× × × ×

'भार्ङ्गी रूक्षा कटुस्तिक्ता रुच्योष्णा पाचनी लघुः। दीपनी तुवरा गुल्मरक्तजिन्नाशयेद् ध्रुवम्॥ शोथकासकफश्वासपीनसज्वरमारुतान्।' (भा. प्र.)

'भार्ङ्गी तु कटुतिक्तोष्णा कासश्वासविनाशिनी। शोफव्रणकृमिघ्नी च दाहज्वरनिवारिणी॥' (रा. नि.)

कण्ठ्य

१२६. मलयवचा

परिचय

कुल—हरिद्राकुल (सिटैमिनेसी-(Scitaminaceae)।

नाम—लै०-ऐल्पिनिया गलंगा (Alpinia Galanga); सं०-मलय-वचा (मलयप्रदेश-दक्षिण-में होने के कारण); सुगंधा (सुगंधयुक्त); उग्रगंधा (तीक्ष्णगंध-युक्त); महाभरी वचा; कुलंजन; हि०-कुलञ्जन, महाभरी; बं-कुलंजन; म० गु०-कुलिंजन; ता०-गेरारात्तई; ते०-पेद्दुम्प, एष्ट्रकम्; अ०-खूलंजान; फा०-खुसखेदारु; अं०-ग्रेटर गैलंगल (Greater Galangal) या जावा गलंगल (Java galangal)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** ६-७ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-पत्रमय, वचा के सदृश होता है। **पत्र**-१-२ फुट लंबे, ४-६ इञ्च चौड़े होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ स्निग्ध और निचला पृष्ठ रोमश होता है। **पुष्प**-छोटे, हरिताभ श्वेत और वक्र होते हैं। **फल**-नींबू के समान, गोलाकार और रक्तवर्ण होता है। फल को अंग्रेजी में गलंगा कार्डेमम (Galanga Cardamom) कहते हैं। **बीज**-हलके भूरे रंग के, चपटे, त्रिकोणाकार और सुगंधित होते हैं। ग्रीष्मऋतु में पुष्प होते हैं।

इसका मूल आलू के सदृश और सुगंधित होता है। इसके १-२ इञ्च लंबे और अंगुलि के बराबर मोटे टुकड़े बाजार में मिलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—मूलतः यह सुमात्रा और जावा का क्षुप है किन्तु संप्रति बंगाल और दक्षिण भारत में होता है। चीन में एक जाति (Alpinia chinensis) होती है उसकी जड़ भी कुलंजन के नाम से ली जाती है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में तीन द्रव्य-कैम्फराइड (Campheride), गलंगिन (Galangin) तथा अल्पिनिन (Alpinin) पाये जाते हैं। हरे ताजे मूल से एक पीताभ, सुगंधित उड़नशील तैल प्राप्त होता है जिसमें ४८ प्रतिशत मेथिल सिनैमेट (Methyl cinnamate), २०-३० प्रतिशत सिनकोल (Cincole), कर्पूर तथा डी-पाइनिन (d-Pinene) पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, रूक्ष। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शीतप्रशमन, लेखन और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए बलप्रद और उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त और तीक्ष्ण होने से मुखशोधन, रोचन, दीपन और अनुलोमन है। तीक्ष्ण होने से यह अतिमात्रा में आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करता है तथा पित्त को बढ़ाता है। इससे लालास्राव की भी वृद्धि होती है।

रक्तवहसंस्थान—इसके प्रयोग से महास्रोत में रक्त अधिक आने लगता है फलतः अन्य अवयवों में रक्तभार कम हो जाता है। हृदय का संकोच भी कुछ कम हो जाता है। इस प्रकार यह हृदय के लिए अवसादक माना जाता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है तथा श्वासनलिकाओं को प्रसारित करता है[1] अतः श्वासहर है। स्वरयंत्र की शक्ति को भी बढ़ाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्र की मात्रा को कुछ कम करता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है।

त्वचा—यह शीतप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अतिस्वेद के कारण या अवसाद की अवस्था में यदि शरीर की त्वचा ठंढी पड़ रही हो तो इसका चूर्ण त्वचा पर रगड़ते हैं। झाईं आदि त्वचा के रोगों में भी लगाते हैं।

---

1. 'The important action of the drug is, however, on the bronchioles. Even small doses produce a dilatation of the bronchioles and this effect is much more pronounced when The dose is increased. Asthma-like conditions poduced artificially in animals by administering Pilocarpine are immediately relieved by small doses of the Tincture of A. Galanga.' —Chopra.

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीदौर्बल्य एवं वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—मुखशोधन के लिए इसका टुकड़ा मुँह में रखते हैं। अरुचि, अग्निमांद्य एवं उदरशूल में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—वातिक हृद्रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद तथा मिन्मिन, गद्‌गद आदि स्वर के सभी विकारों में अतीव लाभकर है। इसके अतिरिक्त यह कास, श्वास में भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह बहुमूत्र तथा प्रमेह में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभङ्ग में इसका प्रयोग करते हैं। इसको मुख में रखने से भी कामोत्तेजना बढ़ती है।

त्वचा—यह शीताधिक्य को दूर करने के लिए प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—१-२ माशे।

× × × ×

'सुगन्धाप्युग्रगन्धा च विशेषात्कफकासनुत्। सुस्वरत्वकरी रुच्या हृत्कण्ठमुखशोधनी ॥'
(भा. प्र.)

'कुलञ्जो गन्धमूलश्च तीक्ष्णमूलः कुलञ्जनः। कुलञ्जः कटुतिक्तोष्णो दीपनो मुखदोषनुत् ॥'
(रा. नि.)

'कुलिञ्जनं कटुतिक्तमुष्णं चाग्निप्रदीपनम्। रुच्यं स्वर्यं च हृद्यं च मुखकण्ठविशुद्धिकृत् ॥'
मुखदोषं कफं श्वासं कासं वातं ध्रुवं जयेत्। बृहत्कुष्ठगुणैर्ज्ञेयं न्यूनमस्मादिति स्मृतम् ॥' (नि. र.)

१२७. हंसपदी

परिचय

गण—कण्ठ्य, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि (सु०)।

कुल—हंसराज-कुल (फिलिसिस्-Filices)।

नाम—ऐडिएन्टम् ल्युन्युलेटम् (Adiantum Lunulatum); सं०-हंसपदी (हंस के पैर के सदृश कोमल, रक्तवर्ण तथा कटे पत्रों वाली); रक्तपादी (रक्तवर्ण काण्ड होने से); त्रिपादिका, कीटमारी (कृमिघ्न); हिं०-हंसराज, समलपत्ती; म०, गु०-हंसराज; बं०-काली झाँट; अ०, फा०-परसियावशाँ; अं०-मेडन हेयर (Maiden hair)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** १-२ फुट ऊँचा होता है। इसका **मूल** कोमल और रक्ताभ होता है। **शाखायें** पतली, लाल और कोमल होती हैं। **पत्र**-छोटे-छोटे, पक्षाकार और मृदु होते हैं। इनके किनारे कुछ गोलाकार और कटे हुए होते हैं। पत्रके पृष्ठ भाग पर ही प्रजनन अंग होते हैं और उन्हीं से अन्य क्षुप उत्पन्न होते हैं। इसमें पुष्प फल नहीं होते।

उत्पत्ति—यह जलासन्न प्रदेश तथा शीत पार्वत्य स्थानों में उत्पन्न होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक तथा कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, विषघ्न और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से कुछ ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक एवं कफघ्न होने से कण्ठ्य, कासहर एवं श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह शीत होने से कुछ मूत्रल है।

सात्मीकरण—स्निग्ध मधुर होने से यह बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक रोगों में तथा श्लैष्मिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विसर्प, प्लेग, लूताविष, व्रण एवं पैत्तिक शोथ में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार एवं कृमिरोग में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—पार्श्वशूल, फुफ्फुसशोथ, प्रतिश्याय, कास और श्वास में यह प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस या पानक ½-१ तो०; चूर्ण १-३ माशे।

विशिष्ट योग—हंसपदी-पानक।

× × × ×

'हंसपादी गुरुः शीता हन्ति रक्तविषव्रणान्।।विसर्पदाहातीसारलूताभूताग्निरोहिणीः॥'(भा.प्र.)
'हंसपादी हिमा गुर्वी रोपणी हन्ति शोणितम्।दाहातीसारवीसर्पलूताशोथविषव्रणान्॥'(कै.नि.)

श्लेष्मपूतिहर

१२८. सरल

परिचय

गण—पुरीषविरेजनीय (च०), एलादि (सु०)।

कुल—देवदारु-कुल (कोनीफेरी-Coniferae)।

नाम—लै०-पाइनस लौंगिफोलिया (Pinus Longifolia)। सं०-सरल (कांड सीधा होने के कारण); पीतवृक्ष (त्वचा पीताभ होने से); सुरभिदारुक (काष्ठ सुगन्धित होने से); धूपवृक्ष (इसकी लकड़ी का धूप में प्रयोग होने से); नमेरु (पत्रगुच्छ अवनत होने से)। हि०-चीड़; गु०-तेलियो देवदार; ता०-सरल देवाद्रु; ते०-देवदारु-चेट्टु; अं०-लौंगलीव्ड पाइन या चीड़ पाइन (Long-leaved Pine or chir Pine)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बहुत ऊँचा प्रायः १००-१२५ फीट ऊँचा होता है। काण्ड की परिधि लगभग १२ फुट होती है। **त्वचा**—१-२ इंच मोटी, बाहर से रक्ताभ

धूसर तथा भीतर की ओर गहरे लाल रंग की होती है। **काष्ठभाग**–बाहर की ओर पीताभ श्वेत तथा भीतर की ओर रक्ताभ धूसर होता है। **पत्र**–सूच्याकार, ५–१२ इंच लंबे गुच्छों में तथा नीचे की ओर झुके होते हैं। **पुष्प**–½ इञ्च लंबे होते हैं। **फल**–काष्ठमय, गोलाकार होते हैं। **बीज**–½–१ इञ्च लंबे होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प तथा दूसरे वर्ष फल आते हैं। शिशिर में पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश के वनों में ३–६ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके कांड में क्षत करने से एक निर्यास निकलता है, इसे गंधाबिरोजा (श्रीवेष्टक, श्रीवास, सरलनिर्यास) कहते हैं। गंधाबिरोजा से परिस्रवणविधि के द्वारा जो तैल प्राप्त होता है, उसे 'तारपीन का तेल' (Turpentine oil) कहते हैं। एक पात्र में दूध और जल समभाग ले, उस पर कपड़ा बाँध, उसके ऊपर गन्धाबिरोजा डालकर नीचे अग्नि देने से यह टपक कर नीचे के पात्र में जम जाता है। इसे 'बिरोजे का सत्त्व' कहते हैं।

गन्धाबिरोजा से २० प्रतिशत तैल प्राप्त होता है। इसमें पाइनिन (Pinene), लाइमोनिन (Limonene), कैरीन (Carene) तथा लौंगिफोलिन (Longifolene) नामक तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। **रस**—कटु, तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, रक्तोत्क्लेशक, रक्तरोधक तथा व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क तथा नाडियों का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक और रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कफनिःसारक तथा श्लेष्मपूतिहर है। इससे फुफ्फुस तथा श्वासनलिका का रक्तसंवहन बढ़ता है तथा रक्तनिष्ठीवन बन्द होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ को दूर करता है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा और फुफ्फुसों से होता है।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने से वमन, अतिसार, अवसाद, नाडीमन्दता, मूत्रदाह, मूत्ररक्तता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त, मस्तिष्क के प्रभावित होने से तन्द्रा, संज्ञानाश और पक्षाघात होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—तारपीन के तैल में कपूर मिलाकर सन्धिशोथ,

फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल आदि में मालिश करते हैं। आध्मान में इसका तैल गरम जल में मिलाकर उससे उदर का स्वेदन करते हैं। रक्तस्राव को रोकने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं। गंधाबिरोजा व्रणों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आध्मान, पित्ताश्मरी तथा कृमिरोग में यह लाभकर है। विशेषकर स्फीतकृमि (Tapeworm) में २-४ ड्राम की मात्रा में इसका तैल प्रयुक्त होता है किन्तु इसमें सतर्कता की आवश्यकता है। कृमिरोग में तैल की बस्ति भी देते हैं। आमाशयिक व्रण तथा आन्त्रिक ज्वर में रक्तस्राव को रोकने के लिए इसका प्रयोग होता है। आध्मान एवं अन्त्रावरोध में भी तैल की वस्ति देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह अल्पमात्रा में हृद्दौर्बल्य तथा रक्तस्राव में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास और यक्ष्मा में यह अतीव उपयोगी है। अत एव चीड़ के जंगलों में यक्ष्मा-गृह स्थापित किये जाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण वस्तिशोथ और पूयमेह में गन्धाबिरोजा उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गंधाबिरोजा का सत्त्व श्वेतप्रदर में लाभकर है।

त्वचा—त्वचा से उत्सृष्ट होने के कारण यह त्वचा के विकारों तथा स्वेददौर्गन्ध्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—काष्ठ, निर्यास, तैल।

मात्रा—काष्ठचूर्ण १-३ माशे; निर्यास (गंधाबिरोजा) ६-१२ रत्ती; तैल ३-१० बूँद।

× × × ×

'सरलः पीतवृक्षः स्यात्तथा सुरभिदारुकः। सरलो मधुरस्तिक्तः कटुपाकरसो लघुः॥
स्निग्धोष्णःकर्णकण्ठाक्षिरोगरक्षोहरःस्मृतः। कफानिलस्वेददाहकासमूर्च्छाव्रणापहः॥'(भा.प्र.)
'सरलःकटुतिक्तोष्णः कफवातविनाशनः। त्वग्दोषशोथकण्डूतिव्रणघ्नः कोष्ठशुद्धिदः॥' (रा.नि.)
'सरल''सारस्नेहास्तिक्तकटुकषायाः दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च।' (सु.सू.४५)

१२९. तैलपर्णी

परिचय

कुल—लवङ्ग-कुल (मिर्टेसी-Myrtaceae)।

नाम—लै०-युकेलिप्टस् रौस्टिएटा (Eucalyptus Rosteata)। सं०-तैलपर्णी (पत्र तैलयुक्त होने से), सुगन्धपत्रा (पत्र सुगन्धित होने से); हरितपर्णी (पत्र सदाहरित होने से); रक्तनिर्यास (त्वचा से रक्तवर्ण निर्यास निकलने के कारण)। हि०-युकेलिप्टस।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ऊँचा होता है। **काण्ड**-सीधा, पतला और लम्बा होता है। **पत्र**-लम्बे होते हैं जिनको मसल कर सूंघने से सुगन्ध आती है। काण्ड त्वचा में क्षत करने से लाल रंग का निर्यास प्राप्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र जंगलों में होता है और बागों में भी लगाया जाता है। सम्प्रति नीलगिरि पर्वत पर विशेष मिलता है। यों इसका मूल निवासस्थान आस्ट्रेलिया है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में उड़नशील तैल ६ प्रतिशत, हैनिन, सेरिलिक अलकोहल (Cerylic alcohol), वसा और राल होते हैं। तैल में 'युकेलिप्टॉल' (Eucalyptol) नामक मुख्य तत्त्व होता है जिसका प्रमाण ५५-६० प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर एवं उत्तेजक है। नये तैल की अपेक्षा पुराना तैल अधिक पूतिहर होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों का उत्तेजक तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में देने पर तैल उष्ण होने के कारण दीपन, पाचन अनुलोमन और कृमिघ्न है। इसका निर्यास कषायप्रधान होने से ग्राही है। अधिक मात्रा में तैल का प्रयोग करने से वमन, अतिसार एवं मरोड़ होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—अल्प मात्रा में हृदय को उत्तेजित करता है तथा अधिक मात्रा में दुर्बल बनाता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है। इससे प्लीहा का संकोच भी होता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग वृक्क, त्वचा, फुफ्फुस तथा मूत्र-प्रजनन-यन्त्र की श्लेष्मल कला से होता है। मूत्र में तैल की सी गन्ध आती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका मलहम व्रणों में लगाते हैं। सन्धिवात आदि में इसको सर्षपतैल के साथ मिला कर अभ्यङ्ग करते हैं। फुफ्फुस के पुराने रोग, यक्ष्मा, जीर्णकास, कुकुरखाँसी तथा रोहिणी रोगों में इसका बाष्प लेते हैं या तैल सूंघते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह शिरःशूल, अङ्गमर्द तथा वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, आध्मान तथा कृमिरोग में देते हैं। कृमिरोग विशेषतः तन्तुकृमि में इसके तैल की बस्ति देते हैं। अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में इसका निर्यास देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह जीर्णकास एवं फुफ्फुस रोगों में दिया जाता है। इससे कफ शान्त होता है। कफ की दुर्गन्धि दूर होती है तथा रोगजन्य जीवाणु नष्ट होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ तथा जीर्ण पूयमेह में यह लाभकर है।

त्वचा—त्वचा के विकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्ण और विषमज्वरों में इसके पत्र का फांट या छाया-शुष्क पत्र का चूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—पत्र, निर्यास।

मात्रा—पत्रचूर्ण-५-१० रत्ती; फाण्ट-२-५ तो० (पत्रचूर्ण ½-१ तोला २०गुने गरम जल में देकर फाण्ट बनावें); निर्यास-२-५ रत्ती।



पञ्चम अध्याय

पाचन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

लालाप्रसेकजनन

१३०. लंका

परिचय

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-कैप्सिकम फ्रुटिसेन्स (Capsicum Frutescens); सं०-लंका, कटुवीरा (कटुरस द्रव्यों में प्रधान); रक्तमरिच (लाल मिर्चा); हि०-लाल मिर्चा; म०-लाल मिर्ची; गु०-मरचाँ; बं०-लंका मरिच, गाछ मरिच; ता०-मुल्लाप्पाई; ते०-मीरा पाकाई; अ०-फ़िलफ़िले अहमर्; फा०-फ़िल्फ़िले सुर्ख़; अं०-रेड चिलीज (Red Chillies)।

स्वरूप—यह वर्षायु या बहुवर्षायु छोटा क्षुप होता है। **पत्र**-लम्बे और अग्रभाग पर नुकीले होते हैं। **फल**-कच्ची अवस्था में हरा तथा पकने पर लाल, पीला अनेक वर्ण का होता है। **बीज**-एक फल में अनेक, छोटे और चपटे बैंगन के बीज के सदृश होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है और इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैप्सिकिन (Capsicin) नामक एक उड़नशील क्षारतत्व, एक स्फटिकीय कटु द्रव्य कैप्सेकिन (Capsacin), सोलेनिन, उड़नशील तैल, स्थिर तैल, वसाम्ल, राल, रक्त रंजक द्रव्य और क्षार ४-५ प्रतिशत होता है। इसकी कटुता और तीक्ष्णता कैप्सिकिन के कारण होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु, उष्ण होने के कारण कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और स्फोटक्लेशक है।

नाडीसंस्थान—यह वातहर है। कुछ निद्राजनन भी है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण लालाप्रसेकजनन, दीपन, पाचन और अनुलोमन है। अतिमात्रा में यह विदाह उत्पन्न करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—तीक्ष्ण, उष्ण होने से वाजीकरण है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न, विशेषतः नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह कटुविपाक और तीक्ष्ण होने से धातुनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कफज शिरःशूल, आमवात, कटिशूल, पार्श्वशूल और गृध्रसी में इसका लेप लगाते हैं। डिप्थीरिया में तथा कण्ठशालूक में इसका लेप करते हैं। गले के रोगों में इसके फाण्ट (१ बोतल पानी में १ तोला) से कुल्ला करते हैं। कुत्ता काटने पर दंशस्थान पर इसका लेप करते हैं इससे विष बाहर निकल जाता है, वेदना शान्त हो जाती है तथा क्षत में पूय नहीं होने पाता।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह सन्धिवात, आमवात आदि में प्रयुक्त होता है। प्रलाप एवं मदात्यय में भी लाभकर है। १०-१५ रत्ती की मात्रा में मधु के साथ देने से प्रलाप शान्त होता है और नींद आ जाती है।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य एवं आनाह में प्रयुक्त होता है। विसूचिका में हींग और कर्पूर के साथ इसकी गोली बनाकर देते हैं। इससे पेट ठीक होता है और अवसाद नहीं होने पाता।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य तथा अवसाद की अवस्था में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अल्पमात्रा में यह मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह कामोत्तेजना के लिए दिया जाता है।

तापक्रम—सन्ततज्वर, सन्निपातज्वर तथा विषमज्वर में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में व्यवहृत होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—¼-½ रत्ती।

विशिष्ट योग—विषमज्वरघ्नी वटी।

अहितकर—यह पित्तप्रकृति पुरुषों के लिए हानिकर है।

निवारण—इसका अहित प्रभाव दूर करने के लिए पर्याप्त दूध और घी लेना चाहिए।

× × × ×

'कटुवीरोज्ज्वला तीक्ष्णा तीव्रशक्त्यजडे तथा। कटुवीराग्निजननी बलासघ्नी च दाहिनी ॥
हन्त्यजीर्णं विसूचीं च व्रणं क्लिन्नं सुदारुणम्। तन्द्रां मोहं प्रलापं च स्वरभेदमरोचकम् ॥
नरं लुप्तधरं क्षीणं सन्निपातनिपीडितम्। नष्टेन्द्रियगणं तीक्ष्णा मृत्योराकृष्य जीवयेत् ॥'

(आत्रेयसंहिता)

तृष्णानिग्रहण

१३१. यवास

परिचय

कुल—शिम्बीकुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-ऐल्हेगी कैमलोरम (Alhagi Camelorum); सं०-यास, यवास, दुःस्पर्श (कण्टकित होने से); हि०-म०-जवासा; गु०-जवासो; बं०-जवसा; अ०-हाज, अल्ग़ौल; फा०-खारेशुतुर; अं०-अरेबियन या पर्शियन मन्ना प्लाण्ट (Arabian or Persian Manna Plant)।

स्वरूप—इसका कण्टकित **क्षुप** हरितवर्ण का १-३ **फुट** ऊँचा होता है। **शाखायें**-अनेक, लम्बी-पतली होती हैं। **पत्र**-छोटे, लम्बे, गोलाकार, सूक्ष्मरोमश काँटों के मूल से बाहर निकलते हैं। **पुष्प**-किञ्चित् रक्तवर्ण, काँटों के मूल से निकलते हैं। **पुष्प**-वसन्त में तथा फल ग्रीष्म में आते हैं। गर्मियों में इसका पौधा हरा-भरा रहता है।

इसके क्षुप से एक प्रकार का निर्यास निकल कर जम जाता है उसे यासशर्करा (यूनानी में तुरञ्जबीन तथा अंग्रेजी में मन्ना-Manna) कहते हैं। इसके रक्ताभ श्वेत रंग के दाने आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश, मिश्र, सीरिया, मेसोपोटामिया, फारस, अरब तथा खुरासान आदि देशों में उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—यासशर्करा में एक स्फटिकीय तत्त्व होता है जो किसी अम्ल में उबालने पर ग्लुकोज में परिणत हो जाता है। इसमें इक्षुशर्करा भी रहती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्धमधुर होने से वात का तथा मधुरशीत होने से पित्त का शामक है। स्निग्ध होने से यह कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं रक्तरोधक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका मस्तिष्क पर शामक प्रभाव पड़ता है।

पाचनसंस्थान—यह छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, अनुलोमन और पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तरोधक और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है तथा श्वासयन्त्र की रूक्षता को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—तिक्तरस और शीत होने से दाह और ज्वर को शान्त करता है।

सात्मीकरण—स्निग्धमधुर होने से बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक तथा कफज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में इसके पत्रस्वरस का नस्य लेते हैं। अर्श के अंकुर को इसके क्वाथ से धोते हैं तथा इसके पञ्चाङ्ग को पीस कर लेप करते हैं। इससे वेदना, शोथ शान्त होते हैं और रक्त रुक जाता है। इससे पक्व तैल का अभ्यङ्ग सन्धिवात आदि में करते हैं। प्रतिश्याय तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ का गण्डूष लेते हैं या बाष्प सेवन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मूर्च्छा, भ्रम, मस्तिष्कदौर्बल्य आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह वमन, तृष्णा, विबन्ध, कामला तथा अर्श में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, वातरक्त आदि में प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में यह उपयोगी है। कास-श्वास में इसके पञ्चाङ्ग का धूमपान भी करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर तथा उसके वातपैत्तिक उपद्रवों (तृष्णा, वमन, दाह आदि) में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग, यासशर्करा।

मात्रा—स्वरस-१-२-तोला; क्वाथ-४-८ तोला; यासशर्करा;-१-३-माशे।

× × × ×

'यासः स्वादुः सरस्तिक्तस्तुवरः शीतलो लघुः। कफमेदोमदभ्रान्तिपित्तासृक्कुष्ठकासजित्॥ तृष्णाविसर्पवातास्रवमिज्वरहरः स्मृतः।' (भा. प्र.)

'यवासकः स्वादुतिक्तो ज्वरतृड्रक्तपित्तनुत्' । (ध. नि.)

'कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा।' (च. सू. २७)

'यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरी सरा[च]।' (सु. सू. ४५)

'यवासाधूमपानेन कासो नश्यति तत्क्षणात्।' (वैद्यामृत)

१३२. धन्वयास

परिचय

गण—तृष्णानिग्रहण, अर्शोघ्न (च०)।

कुल—गोक्षुर-कुल (ज़ाइगोफिलेसी-Zygophyllacace)।

नाम—लै०-फैगोनिया अरबिका (Fagonia Arabica) सं०-धन्वयास (मरुभूमि में होने वाला यवास); दुरालभा (कठिनता से प्राप्त होने वाली); समुद्रान्ता (समुद्रपार या समुद्र के आसपास पाई जाने वाली); गान्धारी (गान्धार-अफगानिस्तान- में विशेष होने वाली); क्रच्छुरा (कंटकित); अनन्ता (मूल गम्भीर होने से); हरिविग्रहा

(प्रत्येक ग्रंथि पर चार काँटे-चतुर्भुज के समान); हि०-धमासा; बं०-दुरालभा; म०-धमासा; गु०-धमासो; ं०-धमांह; ता०-तुलगनरि; ते०-गिलारेगाति; अं०-खोरासान थॉर्न (Khorasan Thorn)।

स्वरूप—इसका फीके हरित वर्ण का १-२ फुट ऊँचा क्षुप होता है। **पत्र**-१-१½ इञ्च लंबे सनाय की पत्ती के समान होते हैं। प्रत्येक पत्ती के पास दो तीक्ष्ण काँटे होते हैं। **पुष्प**-हलके लाल रंग के होते हैं। **फल**-पक्षधार होता है जिसके ऊपर एक लंबा तीक्ष्ण कंटक होता है। शरद् ऋतु में पुष्प आते हैं। शाखाओं में दो पत्र, चार काँटे और एक पुष्प ये चक्राकार में होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह अरब, अफगानिस्तान, खुरासान आदि प्रदेशों में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, मधुर, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, कोथप्रशमन और व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बाल्य है।
पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—यह कषायतिक्त होने से रक्तस्तम्भक और रक्तप्रसादन है।
श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—त्वग्दोषहर है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—यह तिक्त होने से कटुपौष्टिक का भी कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके फाण्ट या क्वाथ से अंगों का परिषेक करने से दाह, ज्वर और कण्डू शान्त होती है। मुखपाक तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ का गंडूष करते हैं। इसके क्वाथ से व्रणों को धोते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—भ्रम, मूर्च्छा आदि में यह प्रयुक्त होता है।
पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी आदि में इसका प्रयोग करते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, वातरक्त आदि में यह प्रयुक्त होता है।
श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, फुफ्फुसशोथ आदि में इसका प्रयोग होता है। श्वास में इसका धूम्रपान भी करते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।
त्वचा—त्वचा के विकारों में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—ज्वरों में यह अधिक व्यवहृत होता है। मसूरिका के प्रतिषेध के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में विशेषतः अतिसार के बाद दुर्बलता को दूर करने के लिए यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—चूर्ण-½-१ तो० (हिम बनाकर दिया जाता है), फाण्ट-४-८ तोला।

विशिष्ट योग—दुरालभादि क्वाथ, दुरालभादि कषाय।

× × × ×

'दुरालभा दुरालंभा समुद्रान्ता च रोदिनी। गान्धारी कच्छुरानन्ता कषाया हरिविग्रहा॥
..................। यवासस्य गुणैस्तुल्या बुधैरुक्ता दुरालभा॥' (भा. प्र.)

'दुरालभा स्वादुशीता तिक्ता दाहविनाशिनी। विषमज्वरतृड्छर्दिमेहभ्रमविनाशिनी॥'
(भा. नि.)

'पिबेद् दुरालभाक्वाथं सघृतं भ्रमशान्तये।' (च. द.)

'हरीतकी दुरालंभा कृतमालकगोक्षुरैः। पाषाणभेदसहितैः क्वाथो माक्षिकसंयुतः॥
विबन्धे मूत्रकृच्छ्रे च सदाहे सरुजे हितः।' (शा.)

'अनन्ता संग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

१३३. पर्पट

परिचय

गण—तृष्णानिग्रहण (च०)।

कुल—पर्पट-कुल (फ्युमेरिएसी-Fumariaceae)।

नाम—लै०-फ्युमेरिया पार्विफ्लोरा (Fumaria Parviflora); सं०-पर्पट; वरतिक्त (तिक्त द्रव्यों में श्रेष्ठ); रेणु, कवच, सूक्ष्मपत्र (छोटे पत्रों वाला); हि०-पित्त-पापड़ा, धमगजरा; बं०-वनशुलफा; पं०-शाहतरा; फा०-शाहतर; अ०-शाहतरज; ता०-टोरा।

स्वरूप—इसका क्षुप ½-१ फुट ऊँचा होता है जो शीतकाल में यव, गेहूँ के खेतों में बहुलता से देखा जाता है। **पत्र**—गाजर के सदृश, सूक्ष्म और कटे हुए होते हैं। **पुष्प**—छोटे, श्वेत या गुलाबी रंग के और अग्रभाग पर बैंगनी रंग के होते हैं। **फल**—छोटे, गोलाकार होते हैं और अग्रभाग पर दो खात होते हैं। पुष्प और फल माघ-फाल्गुन में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह गंगातट के आसपास समतल प्रदेश, हिमालय की तराई और नीलगिरि में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें फ्युमेरिक अम्ल (Fumaric acid) तथा फ्युमेरिन (Fumarine) ६ प्रतिशत पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से कफ का तथा तिक्तशीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क का शामक है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, दीपन, ग्राही, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, यकृत् और वृक्क से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—भ्रम, मूर्च्छा, मदात्यय आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, अरुचि, अग्निमांद्य, कृमि, यकृद्विकार तथा कामला में प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, वातरक्त आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—त्वचा के विकारों (कुष्ठ आदि) में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—चूर्ण ४-६ माशे; क्वाथ ५-१० तो०।

विशिष्ट योग—पर्पटादि क्वाथ, पर्पटाद्यरिष्ट।

× × × ×

'पर्पटो वरतिक्तश्च स्मृतः पर्पटकश्च सः। कथितः पांशुपर्यायस्तथा कवचनामकः॥
पर्पटो हन्ति पित्तास्रभ्रमतृष्णाकफज्वरान्। संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातलो लघुः॥ (भा.प्र.)
'पर्पटः शीतलस्तिक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः। रक्तदाहारुचिग्लानिमदभ्रमविनाशनः॥' (ध.नि.)
'पर्पटाः तिक्ताः पित्तकफापहाः।' (सु. सू. ४६)
'शाकं पार्पटकं च यत्। कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते॥' (च. सू. २७)
'मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः। श्रृतशीतं जलं देयं पिपासाज्वरशान्तये॥' (च. चि. ३)

१३४. धान्यक

परिचय

गण—तृष्णानिग्रहण, शीतप्रशमन (च०); गुडूच्यादि (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-कोरिएण्ड्रम सेटाइवम् (Coriandrum Sativum); सं०-धान्यक (क्षुद्र धान्य के सदृश बीज होने के कारण); छत्रा (छत्राकार पुष्प वाला); कुस्तुम्बुरु (कुत्सितं रोगसमूहं तुम्बति अर्दयति इति—जो रोगसमूह को नष्ट करे त्रिदोषहर होने के कारण); वितुन्नक (विगतं तुन्नं दुःखमस्मात्-जिसके सेवन से कष्ट दूर हो जायँ); हि०-धनियाँ; बं०-धने; म०-धणे; गु०-धाणा; ता०-कातामल्लि; ते०-दान्यलु; अ०-कुज्वरः; फा०-कश्नीज; अं०-कोरिएण्डर (Coriander)।

स्वरूप—इसका वर्षायु छोटा क्षुप होता है जिसमें अनेक शाखाप्रशाखायें होती हैं। नीचे की पत्तियाँ अंडाकार और ऊपर की पत्तियाँ लंबी होती हैं। **पुष्प**-श्वेत कुछ

बैंगनी आभा लिए होते हैं। **फल**—गोलाकार होते हैं जिनके भीतर दो कोष्ठ होते हैं। शीतऋतु के अन्त में फूल और फल होते हैं।

जाति—यह ग्राम्य और वन्य दो प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—हरी धनियाँ में ८४ प्रतिशत आर्द्रता होती। फलों में उड़नशील तैल १ प्रतिशत, स्थिर तैल १३ प्रतिशत, वसा १३ प्रतिशत, पिच्छिलद्रव्य, कषायद्रव्य, मैलिक एसिड और क्षार ५ प्रतिशत होते हैं। तैल (Coriander oil) में कोरिएण्ड्रोल (Coriandrol), जिरेनिओल (Geraniol) और बेबोर्निओल नामक तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर, कटु।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है, स्निग्ध-उष्ण होने के कारण वात को, कषायतिक्त-मधुर होने से पित्त को तथा तिक्त-कटु और उष्ण होने से कफ का शामक है। हरी धनियाँ शीत होने के कारण विशेषकर पित्तशामक होती है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-धनियाँ का बाह्य लेप शोथहर और शूलहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, पाचन, ग्राही, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हरी धनियाँ रक्तपित्तशामक और हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन और मूत्रविरजनीय है।

प्रजननसंस्थान—यह कषाय होने से शुक्रधातु को क्षीण करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है। हरी धनियाँ दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य—हरी धनियाँ की पत्ती पीस कर शिरःशूल तथा भल्लातकजन्य शोथ पर लेप करते हैं। पैत्तिक शोथ, विसर्प, गण्डमाला आदि पर भी इसका लेप करते हैं। मुखपाक या गले के रोगों में हरे धनिये के रस से गण्डूष करते हैं। रक्तपित्त में विशेषतः नासा से रक्तस्राव होने पर इसका रस नाक में देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका रस या क्वाथ नेत्र में डालते हैं। शिरःशूल में सूखी धनियाँ का भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—धनियाँ का छिलका उतार कर उसकी मज्जा से क्षीरपाक कर उस दुग्ध का सेवन भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिह्रास आदि रोगों में कराते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णा रोग में इससे शृत शीत जल का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त, अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, प्रवाहिका, अतिसार, उदरशूल, अर्श एवं कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में हरी धनियाँ का प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेह में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—कामोन्माद में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में देने से ज्वर तथा उसके उपद्रव (तृष्णा, वमन, शिरःशूल आदि) शान्त होते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पञ्चांग।

मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे; हिम—२-४ तो०; पञ्चांगस्वरस—१-२ तो०।

विशिष्ट योग—धान्यकादि हिम, धान्यपंचक, धान्यचतुष्क।

× × × ×

'धान्यकं तुवरं स्निग्धमवृष्यं मूत्रलं लघु। तिक्तं कटुकमुष्णं च दीपनं स्मृतम्॥
ज्वरघ्नं रोचनं ग्राहि स्वादुपाकि त्रिदोषनुत्। तृष्णादाहवमिश्वासकासामार्शःकृमिप्रणुत्॥
आर्द्रं तु तद्गुणं स्वादु विशेषात् पित्तनाशि तत्।' (भा. प्र.)

'धान्यकं कासतृड्छर्दिज्वरहृच्चक्षुषो हितम्। कषायं तिक्तमधुरं हृद्यं रोचनदीपनम्॥'
(ध. नि.)

'धान्यतुम्बरु। रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम्॥' (च. सू. २७)

'भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता। आर्द्रा कुस्तुम्बरी कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम्॥'
(सु. सू. ४६)

'प्रातः सशर्करः पेयो हिमो धन्याकसंभवः। अन्तर्दाहं तथा तृष्णां जयेत् स्रोतोविशोधनः॥'
(भा. प्र.)

'धान्यनागरसिद्धं तु तोयं दद्यात् विचक्षणः। आमाजीर्णप्रशमनं शूलघ्नं वस्तिशोधनम्॥'
(वं. से.)

'धान्यं शर्करया युक्तं तण्डुलोदकसंयुतम्। पानमेतत् प्रदातव्यं कासश्वासापहं शिशोः॥'
(वं. से.)

१३५. आलूबुखारा

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

नाम—लै०-प्रुनस कॅम्युनिस (Prunus Communis); सं०-आरुक; हि०-पं०-म०-गु०-आलूबुखारा; ता०-अल्पागादापफ़ाम; ते०-अल्पागादा पोन्दुलु; फ़ा०-आलूबोखारा; अ०-इज्जास; अं०-बोखारा प्लम (Bokhara Plum)।

स्वरूप—इसका **गुल्म** कण्टकित या कण्टकरहित होता है। **पत्र**-अंडाकार, किनारे कटे हुए रहते हैं। **फल**-एक या दो-दो साथ में गोलाकार, आँवले या बेर के बराबर, आलू की आकृति का काला या पीला होता है। इसका सूखा फल गहरे भूरे रंग का झुर्रीदार बाजारों में मिलता है जिसकी चटनी बनाते हैं। फल के भीतर बादाम के जैसी मज्जा होती है उससे तैल निकालते हैं जो खाया जाता है। पौष में पुष्प और फाल्गुन-चैत्र में फल आते हैं।

जाति—वन्य और ग्राम्य भेद से यह दो प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम जन्मस्थान बुखारा-समरकन्द है। इसके अतिरिक्त हिमालय प्रदेश में गढ़वाल से काश्मीर तक ५-७ हजार फुट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—फल में सेवाम्ल (Malic acid), निंबुकाम्ल (Citric acid), शर्करा, अल्ब्युमिनायड, पेक्टीन और क्षार होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, अम्ल।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा मधुरशीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, अनुलोमन और पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल तथा मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—स्निग्धमधुर होने से बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—तृष्णा, वमन, हृल्लास, विबन्ध तथा पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में यह प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वरों में देने से ज्वर तथा तृष्णा, छर्दि, शिरःशूल आदि उपद्रव शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य विशेषतः ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—३-५; विरेचनार्थ १५-२०।

मुख-दुर्गन्धनाशन

१३६. लताकस्तूरी

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-हिबिस्कस ऐबलमौस्कस (Hibiscus Abelmoschus); सं०-लताकस्तूरिका (उद्भिद् में होने वाली कस्तूरी-कस्तूरी के सदृश बीज); कटुक (कटुरस वाली); हि०-लताकस्तूरी; बं०-कालकस्तूरी; म०-कस्तूरभेड; ता०-वेत्ति-

लैक्कस्तूरी; ते०-कस्तूरी-वेण्डाविट्टुलु; अ०-हब्बुलमुष्क; फा०-मुश्कदाना; अं०-मस्क मैलौ (Musk Mallow)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप ३-५ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सूत्रमय और दृढ़ होता है। **पत्र**-भिंडी के समान, ३-५ भागों में विभक्त और रोमश होते हैं। **पुष्प**-पीत-वर्ण ३-४ इञ्च लंबे, शाखाओं के अग्रभाग में लगते हैं। **पुष्पदंड** कठिन और वक्र होता है। **फल**-भिंडी के समान २-३ इञ्च लम्बे और रोमश होते हैं। **बीज**-वृक्काकार, चपटे और कृष्णवर्ण होते हैं। इनके भीतर स्निग्ध-सुगंधित मज्जा होती है। बीजों को मसलने से कस्तूरी के समान गंध आती है। बीजों का 'मुश्कदाना' के नाम से व्यवहार करते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण प्रदेशों में विशेष कर बंगाल और मद्रास में होता है। उत्तरी नेपाल में भी पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें निर्यास, अलब्युमिन, सुगंधित तैल, ठोस स्फटिकीय द्रव्य, सुगन्धद्रव्य और राल होते हैं। इसका तैल हरिताभ पीत होता है जो हवा में खुला रहने पर जम जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, मधुर, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, तिक्त होने के कारण कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह मुखदुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—यह मुखशुद्धि के लिए तथा मुख के रोगों में प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त, अरुचि, अग्निमांद्य एवं अतिसार में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास एवं श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में इसका सेवन कराते हैं। इन रोगों में मूल और पत्र का स्वरस भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, ध्वजभंग आदि में इसका प्रयोग होता है।

नेत्र—इसका सूक्ष्म चूर्ण कर नेत्ररोगों में लगाते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

चूर्ण—१-३ माशे।

× × × ×

'लताकस्तूरिका तिक्ता स्वाद्वी वृष्या हिमा लघुः।
चक्षुष्या दीपनी श्लेष्मतृष्णाबस्त्यास्यरोगहृत् ॥' (भा. प्र.)
'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता। जातीकटुकपूगानां लवंगस्य फलानि च ॥'
(च. सू. ५)

'जातीकटुकयोः फलम्।...तिक्तं कटु कफापहम्। लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्। लताकस्तूरिका तद्वच्छीता बस्तिविशोधनी ॥' (सु. सू. ४६)

मुख-वैशद्यकारक

१३७. ताम्बूल

परिचय

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी-Piperaceae)।

नाम—लै०-पाइपर बेट्ल (Piper Bettle); सं०-ताम्बूल, नागवल्लरी (सर्प के समान फैलने वाली लता); हि०-पान; बं०-पान; म०-नागवेल; गु०-नागरवेल; ता०-वेट्टिलई; ते०-तामालपाकू; अ०-फा०-तंबूल; अं०-बेटल (Betel)।

स्वरूप—इसकी फैलने वाली **लता** होता है। **काण्ड**—कठिन और दृढ़ होता है। **पत्र**—३-८ इञ्च लम्बे, हृदयाकृति और अग्रभाग नुकीला होता है। **पुष्प**—एकलिङ्गी होते हैं। **पुष्पदण्ड**—३-६ इञ्च लम्बे होते हैं। **फल**—छोटे लगभग ¼ इञ्च लम्बे होते हैं। वसन्त और ग्रीष्म में फूल और फल आते हैं।

जाति—देशभेद से इसकी अनेक जातियाँ होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण और आर्द्र प्रदेशों विशेषतः बिहार, बंगाल, उड़ीसा, दक्षिणभारत और लंका में होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में लगभग ४ प्रतिशत एक तीक्ष्ण और सुगन्धित उड़नशील तैल होता है जिसमें फेनोल (Phenol) और टर्पिन (Terpene) नामक तत्त्व रहते हैं। फेनोल के कारण पत्तियों में विशिष्ट गन्ध होती है और उनकी मात्रा के अनुसार पत्तियों का व्यावहारिक महत्त्व होता है और टर्पिन की उपस्थिति से इनमें तिक्तता और रूक्षता अधिक होती है। इसके अतिरिक्त कुछ स्टार्च, शर्करा और कषायद्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, विशद। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह गुण, रस और वीर्य से कफ का तथा वीर्य से वात का शामक है। तीक्ष्ण, उष्ण होने से यह पित्तप्रकोपक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, उत्तेजक, शोथहर और वेदनास्थापन है। पान का जन्तुघ्न और पूतिहर कर्म उसमें उपस्थित फेनोल तत्त्व के कारण है। यह कार्बोलिक एसिड से पाँचगुना और युजिनौल से दुगुना अधिक कार्यकर होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त, तीक्ष्ण, विशद और उष्ण होने के कारण मुखवैशद्यकारक, दुर्गन्धनाशन, लालाप्रसेकजनन, रेचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से हृदय और रक्तवहसंस्थान को उत्तेजित करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कटुतिक्त और तीक्ष्णोष्ण होने से कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है।

तापक्रम—यह शीतप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुतिक्त होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कण्ठरोग, डिफ्थीरिया आदि में पान का रस गरम पानी में देकर कुल्ला कराते हैं। ग्रन्थिशोथ, स्तनशोथ, पार्श्वशूल आदि में इसकी पत्ती गरम कर बाँधते हैं। ध्वजभंग में इसे शिश्न पर बाँधा जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह मुखरोग, अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा हृदयावसाद की अवस्था में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, स्वरभेद, कास एवं श्वास रोग में इसका रस प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभंग रोग में पान चबाने से लाभ होता है।

तापक्रम—यह ज्वरों में तथा शैत्य की अवस्था में उपयोगी है।

सात्मीकरण—अग्निमांद्य के कारण उत्पन्न दौर्बल्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—स्वरस-½-१ तोला।

निषेध—तीक्ष्ण, उष्ण और पित्तप्रकोपक होने के कारण रक्तपित्त, उरःक्षत, मूर्च्छा आदि पैत्तिक विकारों में यह निषिद्ध है।

× × × ×

'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागिनी नागवल्लरी। ताम्बूलं विशदं रुच्यं तीक्ष्णोष्णं तुवरं सरम्॥
बल्यं तिक्तं कटु क्षारं रक्तपित्तकरं लघु। बल्यं श्लेष्मास्यदौर्गन्ध्यमलवातश्रमापहम्॥'

(भा. प्र.)

'नागवल्ली कटुस्तीक्ष्णा तिक्ता पीनसवातजित्। कफकासहरा रुच्या दाहकृद्दीपनी परा॥'

(रा. नि.)

'ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्णं कटु पित्तप्रकोपणम्। सुगन्धि विशदं स्वर्यं तिक्तं वातकफापहम्॥
स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वह्निदीपनम्। वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्यादिविनाशनम्॥'

(सु. सू. ४६)

'ताम्बूलं कटु तिक्तमुष्णमधुरं क्षारं कषायान्वितं,
वातघ्नं कफनाशनं कृमिहरं दुर्गन्धनिर्णाशनम्।

वक्त्रस्यामरणं विशुद्धिकरणं कामाग्निसंदीपनं,
ताम्बूलस्य सखे! त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽपि ते दुर्लभाः ॥'(ध. नि.)
'ताम्बूलं न हितं दन्तदुर्बलेक्षणरोगिणाम् । विषमूर्च्छामदार्त्तानां क्षतिनां रक्तपित्तिनाम् ॥'
'पथ्यं सुप्तोत्थिते स्नाने भुक्ते वान्ते च संगरे । सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात् ताम्बूलचर्वणम् ॥'
(भा. प्र.)

दन्तशोधन

१३८ तेजबल

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०)।

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-जैन्थोक्साइलन एलेटम (Zanthoxylon Alatum); सं०-(वृक्ष) तेजस्विनी, तेजोवती (तीक्ष्ण होने के कारण); (फल) तुम्बरु, सौरभ (सुगन्धित होने से); वनज (वन्य प्रदेशों में होने से); हि०-(वृक्ष) तेजबल; अं०-टूथेक ट्री (Toothache tree); (फल) तुम्बुल, नेपाली धनिया; बं०-नेपाली धने; अ०-फागिरा कबाबा खंदाँ; फा०-कवाबा दहन कुशादा।

स्वरूप—यह छोटा कण्टकित वृक्ष गुल्माकार होता है। **पत्र**-१-६ इञ्च लम्बे, **पत्रक**-१-४ इञ्च लम्बे दन्तुरधार होते हैं। **पुष्प**-अत्यन्त छोटे, लगभग $\frac{1}{8}$-$\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे होते हैं। **फल**-बड़े धनिये के सदृश, भीतर से खोखले किन्तु कभी-कभी चमकीले बीजों से युक्त होते हैं। फल के बाह्य पृष्ठभाग पर तैलयुक्त सूक्ष्म ग्रन्थियाँ और अन्तः-पृष्ठ में पतला परदा होता है। पुष्प वर्षा ऋतु में तथा फल शरद् ऋतु में आते हैं।

जाति—इसका एक भेद दक्षिणभारत में होता है उसे तिरफल या चिरफल कहते हैं। इसका लैटिन नाम जैन्थोक्साइलन रेट्सा (Zanthoxylon Rhetsa) है। इसका फल तुम्बरु से कुछ बड़ा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में जम्मू से भूटान तक २-५ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—वृक्ष की त्वचा में बर्बेरिन के सदृश एक तिक्त स्फटिकीय तत्त्व, उड़नशील तथा राल होते हैं। फल में उड़नशील तैल, राल, एक पीत कटु तत्त्व तथा जैन्थोक्साइलिन (Zanthoxylin) नामक स्फटिकीय ठोस तत्त्व होते हैं। फल के छिलकों में तारपीन तैल तथा एक सुगन्धित तैल युकेलिप्टस तैल के समान होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, कोथप्रशमन और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर और नाडियों का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह दन्तशोधन, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका चूर्ण व्रणों पर छिड़कते हैं। शिरःशूल आदि में इसका लेप करते हैं। मुख, दन्त तथा गले के रोगों में इसके स्वरस या क्काथ से कुल्ला करते हैं तथा इसका चूर्ण लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि (पक्षाघात, अपतन्त्रक, आमवात आदि) में प्रयुक्त है।

पाचनसंस्थान—दन्त रोगों में इसकी शाखाओं की दातून करते हैं तथा इसका फल मुख में चबाते हैं। अग्निमांद्य, अतिसार, यकृत्प्लीहवृद्धि, अर्श और कृमिरोग में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयोग किया जाता है।

त्वचा—स्वेदजनन होने से यह त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में भी इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक के रूप में सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वचा, फल।

मात्रा—फलचूर्ण-५-१० रत्ती; त्वक्चूर्ण-१-३ माशे।

विशिष्ट योग—तुम्बर्वादि चूर्ण।

× × × ×

"तेजस्विनी कफश्वासकासास्यामयवातहृत्। पाचन्युष्णा कटुस्तिक्ता रुचिवह्निप्रदीपनी॥" (भा. प्र.)

'तुम्बरु कथितं तिक्तं कटु पाकेऽपि तत्कटु। रूक्षोष्णं दीपनं तीक्ष्णं रुच्यं लघु विदाहि च॥
"वातश्लेष्माक्षिकर्णौष्ठशिरोरुग्गुरुताकृमीन्। कुष्ठशूलारुचिश्वासप्लीहकृच्छ्राणि नाशयेत्॥' (भा. प्र.)

"तुम्बरुः कटुतीक्ष्णोष्णः कफमारुतशूलजित्। अपतन्त्रोदराध्मानकृमिघ्नो वह्निदीपनः॥' (ध.नि.)

दन्तदार्ढ्यकर

१३९. बकुल

परिचय

कुल—मधूक-कुल (सैपोटेसी-Sapotaceae)।

नाम—लै०-मिम्युसोप्स एलेन्गी (Mimusops Elengi)। सं०-बकुल,

मधुगन्ध (पुष्प सुगन्धित होने से), चिरपुष्प (इसके पुष्प अधिक दिनों तक रहते हैं) स्थिरपुष्प (पुष्पों की सुगन्ध सूखने पर भी स्थिर रहती है)। हि०–मौलसिरी; बं० म०–बकुल; गु०–बोलसरी; ता०–मगादाम; ते०–पगादामानु।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** सदाहरित, सघन मध्यम प्रमाण का होता है। **काण्डत्वक्**–धूसरवर्ण, कुछ फटी हुई रहती है। **काण्डसार**–कठिन और भारी; बाहर की ओर रक्ताभ धूसर तथा भीतर की ओर गहरे लाल रङ्ग का होता है। **पत्र**–जामुन के सदृश, ३½ इंच लम्बे, २ इञ्च चौड़े, नोकदार तथा किनारों पर लहरदार होते हैं। **पुष्प**–श्वेतवर्ण, सुगन्धित होते हैं। इनमें सूखने पर भी चिरकाल तक सुगन्ध बनी रहती है। **फल**–अंडाकार, छोटे बेर के सदृश, कच्ची अवस्था में हरा, कषाय तथा क्षीरयुक्त और पकने पर पीतवर्ण और कषायमधुर हो जाता है। फल के भीतर एक बड़ा बीज होता है। ग्रीष्म से शरद् ऋतु तक इसमें पुष्प रहते हैं और बाद में फल लगते हैं। इसका वृक्ष एकलिङ्गी होता है। स्त्रीजाति में फल लगते हैं और पुरुषजाति में केवल पुष्प।

जाति—इसकी एक और जाति होती है जिसे 'बृहद्बकुल' (बड़ी मौलसरी) कहते हैं। इसका वृक्ष ४०–५० फीट ऊँचा होता है। इसके पुष्प भी बड़े होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—पश्चिमी घाट के जंगलों में तथा वर्मा और लङ्का में अधिक होता है। यों समस्त भारत में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में कषायद्रव्य, कुछ रबड़, मोम, रंजक द्रव्य, स्टार्च और क्षार होते हैं। पुष्पों में एक उड़नशील तैल होता है। बीजों में एक स्थिर तैल होता है जिसका व्यवहार तंजोर में बहुत होता है। फलमज्जा में शर्करा तथा सैपोनिन होता है।

गुण

गुण—गुरु। **रस**—कटु, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—अनुष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु होने से कफ तथा कषाय होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—इसके पुष्प मस्तिष्क-बल्य तथा सौमनस्य-जनन हैं।

पाचनसंस्थान—यह कषाय होने के कारण दन्तदार्ढ्यकर, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—इसके पुष्प हृद्य हैं तथा फल और त्वक् रक्तस्तम्भन हैं।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय की शिथिलता, शोथ एवं योनिस्राव को दूर करता है। शुक्रस्तम्भन भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह वस्ति एवं मूत्रमार्ग के स्राव और शोथ को कम करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है तथा इसके फल स्निग्ध-मधुर होने से पौष्टिक हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—इसके पुष्प शिरःशूल मस्तिष्कदौर्बल्य तथा तथा तज्जनित रोगों में प्रयुक्त होते हैं। शिरःशूल में इसके शुष्क पुष्पों के चूर्ण का नस्य लेते हैं।

पाचनसंस्थान—दाँतों की दुर्बलता, दन्तचाल तथा पूयदन्त में इसकी छाल के क्वाथ से गण्डूष करते हैं, छाल की चूर्ण का मंजन करते हैं तथा इसकी कोमल शाखाओं की दातून करते हैं। इन रोगों में कच्चे फल चबाते भी हैं। इससे दाँत मजबूत होते हैं और उनसे रक्त, पूय आदि आना बन्द होता है। अतिसार, प्रवाहिका में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं तथा फल खिलाते हैं। कृमिरोग में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में इसके पुष्पों का अर्क उपयोगी होता है। रक्तपित्त तथा रक्तातीसार में इसकी छाल और फलों का प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेत प्रदर तथा शुक्रमेह में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ तथा पूयमेह में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—विषों में इसकी छाल तथा सामान्य दौर्बल्य में इसका फल प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—त्वक् पुष्प, फल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ-५-१० तो०; पुष्पचूर्ण १-२ माशे।

विशिष्ट योग—बकुलाद्य तैल।

× × × ×

'बकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटुपाकरसो गुरुः। कफपित्तविषश्वित्रकृमिदन्तगदापहः॥' (भा. प्र.)

'तत्फलं मधुरं स्निग्धं कषायं विशदं हिमम्। कफपित्तहरं हृद्यं दन्त्यं ग्राहि च वातलम्॥' (कै. नि.)

'सुगन्धि विशदं हृद्यं बाकुलम्' (सु. सू. ४६)

'दन्तचाले तु गण्डूषो बकुलत्वक्कृतो हितः।'
चलदन्तस्थिरकरं कुर्याद्बकुलचर्वणम्। (च. द.)

'दन्तास्तु बीजैर्बकुलद्रुमस्य स्थानच्युता अप्यचला भवन्ति।' (शो०)

'सोऽयं सुगन्धिमुकुलो बकुलो विभाति वृक्षाग्रणीः प्रियतमे ! मदनैकबन्धुः।
यस्य त्वचैव चिरचर्विततया नितान्तं दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः॥' (वै. जी.)

तृप्तिघ्न

१४०. शुण्ठी

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, दीपनीय, शूलप्रशमन, तृष्णानिग्रहण (च०); पिप्पल्यादि, त्रिकटु (सु०), पंचकोल, षडूषण (भा०)।

कुल—हरिद्रा-कुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम—लै०-जिञ्जिबर ऑफिशिनेल् (Zingiber officinale)। सं०-शुण्ठी; उष्ण (उष्ण होने से); नागर (श्रेष्ठ औषध); महौषध (प्रशस्त औषध); विश्वभेषज (अनेक विकारों में उपयुक्त); शृङ्गवेर (शृङ्गेरि-दक्षिणभारत-में अधिक होने के कारण) कच्चे कन्द को 'आर्द्रक' (गीला होने के कारण) कहते हैं। शुण्ठी-हि०-सोंठ;

म०-सुंठी; गु०-सुंठ; बं०-सोंठ; ता०-शुक्कू; ते०-सोंटि; अ०-जंजबील; फा०-शंगवीर; अं०-ड्राई जिंजर (Dry Ginger)। **आर्द्रक**—हि०-अदरख; आदी; बं०-आदा; म०-आलें; गु०-आदु; ता०-इञ्जि; ते०-अल्लम; अं०-फ्रेश जिंजर (Fresh Ginger)।

वक्तव्य—अदरख के कन्द का छिलका हटाकर उसे सुखा लेते हैं। यही सोंठ है।

स्वरूप—इसका क्षुप ३-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-१-१२ इंच लंबे, १ इञ्च चौड़े तथा अग्रभाग पर नुकीले होते हैं। **पुष्पदण्ड**-२-३ इंच लंबा होता है तथा पुंकेशर गहरे बैंगनी रंग के होते हैं।

जाति—शुण्ठी देशभेद तथा निर्माण-प्रक्रिया के भेद से अनेक प्रकार की होती है। सामान्य अदरख की छाल हटाकर सुखा लेने पर जो सोंठ प्राप्त होती है उसका रंग कुछ धूसर वर्ण का होता है। दक्षिण भारत में एक श्वेत जाति का आर्द्रक होता है (जिसका नाम कैयदेव निघण्टु में आर्द्रनागर दिया है), सोंठ प्रायः उसी से बनाई जाती है इसे 'बैतरा सोंठ' या 'मैदा सोंठ' कहते हैं। अदरख का छिलका छुड़ाकर दूध में उबाल देते हैं और फिर सुखा लेते हैं। यह 'दूधिया सोंठ' कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण और आर्द्र प्रदेशों में विशेषतः मद्रास, ट्रावनकोर-कोचीन तथा कुछ बंगाल और पंजाब में होता है।

रासायनिक संघटन—इनमें हलके पीले रंग का एक सुगंधित उड़नशील तैल १-५ प्रतिशत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, पीत कटु पदार्थ जिञ्जरौल (Gingerol); जिञ्जरीन (Gingerin) नामक तैलयुक्त राल के स्वरूप का मुख्य तत्व, अन्य राल तथा स्टार्च पाये जाते हैं। इसके तैल और राल छिलके के नीचे ही पाये जाते हैं। जिञ्जरौल नामक तत्त्व तैल के साथ नहीं उड़ता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध (शुण्ठी); गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण (आर्द्रक)।

रस—कटु। **विपाक**—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु और स्निग्ध उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शीतप्रशमन, शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए उत्तेजक और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह तृप्तिघ्न, रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, पित्तशामक तथा अर्शोघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उष्णता के कारण हृदय एवं रक्तवहसंस्थान को उत्तेजित करता है तथा शोथहर है। रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु और स्निग्ध होने से यह कफघ्न तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह मधुरविपाक होने से वृष्य और उष्ण होने से उत्तेजक है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक और स्निग्ध होने से यह बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, सन्धिशोथ आदि में इसको पीसकर गरम लेप किया जाता है। शैत्य तथा अवसाद को दूर करने के लिए भी इसका लेप करते हैं और उसका चूर्ण तैल में मिलाकर अभ्यंग करते हैं। शोथरोग में इसके चूर्ण का उद्धर्षण करने से लाभ होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह समस्त वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, हृल्लास, छर्दि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, कोष्ठवात, आध्मान, उदरशूल, कामला तथा अर्श में उपयोगी है। अग्निमांद्य और अरुचि में भोजन के पहले अदरख और नमक खाने का विधान है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, हृच्छूल एवं श्लीपद, शोथ आमवात आदि में प्रयुक्त होता है। शीतपित्त आदि विकारों में भी उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, हिक्का एवं प्रतिश्याय में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण योगों में यह दिया जाता है।

तापक्रम—सामान्य एवं सन्निपात ज्वरों में अदरख का रस अनुपान के रूप में दिया जाता है। शुण्ठीचूर्ण विषम एवं जीर्ण ज्वरों में लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य विशेषकर प्रसवोत्तर दौर्बल्य में शुण्ठीपाक का प्रयोग करते हैं। इससे पेट ठीक होता है, वातविकार नष्ट होते हैं, शोथ दूर होता है तथा बल की वृद्धि होती है।

प्रयोगनिषेध—उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण आर्द्रक का प्रयोग कुष्ठ, पांडु, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, व्रण एवं ज्वर तथा ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में वर्जित है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—आर्द्रकस्वरस-½-२ तो०; शुंठीचूर्ण—५-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—आर्द्रकखण्ड; पञ्चसम चूर्ण, समशर्करचूर्ण, रास्नादिक्वाथ, सौभाग्यशुंठी, सैन्धवाद्य तैल, व्योषाद्यघृत।

× × × ×

'शुण्ठी रुच्यामवातघ्नी पाचनी कटुका लघुः। स्निग्धोष्णा मधुरा पाके कफवातविबंधनुत्॥
वृष्या स्वर्या वमिश्वासशूलकासहृदामयान्। हन्ति श्लीपदशोफार्श-आनाहोदरमारुतान्॥'
'आर्द्रिका भेदनी गुर्वी तीक्ष्णोष्णा दीपनी मता। कटुका मधुरा पाके रूक्षा वातकफापहा॥
ये गुणाः कथिताः शुण्ठ्यां तेऽपि सन्त्यार्द्रकेऽखिलाः।'............................
भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्। अग्निसंदीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम्॥
कुष्ठे पाण्ड्वामये कृच्छ्रे रक्तपित्ते व्रणे ज्वरे। दाहे निदाघशरदोर्नैव पूजितमार्द्रकम्॥' (भा. प्र.)
'नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु। वृष्योष्णं रोचनं हृद्यं सस्नेहं लघु दीपनम्॥
कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूलनुत्। कटूष्णं रोचनं हृद्यं वृष्यं चैवार्द्रकं स्मृतम्॥
(सु. सू. ४६)
'रोचनं दीपनं वृष्यमार्द्रकं विश्वभेषजम्। वातश्लेष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते॥'
(च. सू. २७)
'शुण्ठीगोक्षुरकक्वाथः प्रातः प्रातर्निषेवितः। सामे वाते कटीशूले पाचनो रुग्विनाशनः॥'
(वृन्द.)
'नागरं वा पिबेदुष्णं कषायं चाग्निवर्धनम्। कासश्वासानिलहरं शूलहृद्रोगनाशनम्॥'
(वृन्द.)

'आर्द्रकस्य रसः पेयः पुराणगुडसंयुतः। शीतपित्तापहः श्रेष्ठो वह्निमांद्यविनाशनः॥ (भा. प्र.)
'अतिसारसंहरणमग्निहितं ग्रहणीविकारगुदकीलहरम्।
जठरार्तिशोफगररुक्शमनं सुमहौषधं जयति तक्रयुतम्॥' (शो०.)

१४१. चव्य

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, दीपनीय, शूलप्रशमन (च०); पिप्पल्यादि (सु०); पञ्चकोल, षडूषण (भा०)।

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी-(Piperaceae)।

नाम—लै०-पाइपर चावा (Piper chava); सं०-चव्य, चविका; हि०-चाभ; बं०-चई; गु०-चवक; ते०-सेवामु।

स्वरूप—इसकी **लता** पिप्पली के सदृश होती है। इसका **कांड**–कठिन होता है। शाखाओं पर फूली हुई ग्रन्थियाँ होती हैं। **पत्र**–पान के सदृश किन्तु छोटे होते हैं। पत्र–५-७ इंच लंबे, २–३ इञ्च चौड़े होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चमकीला होता है तथा उस पर ३–३ सिरायें होती हैं। **पुष्पदण्ड**–अनेक शाखाप्रशाखायुक्त होता है। **फल**–पिप्पली के सदृश किन्तु उससे लंबा और मोटा होता है। इसके फल को अनेक वैद्य 'गजपिप्पली' कहते हैं। वर्षाऋतु के अन्त में पुष्प और फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम निवासस्थान मलाया द्वीप है किन्तु संप्रति भारत में विशेष कर बंगाल और कूचविहार में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तृप्तिघ्न, दीपन, पाचन, शूलप्रशमन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु होने के कारण कफघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदररोग, आनाह, अर्श और कृमिरोगों में प्रयुक्त होता है। यह अर्श के लिए विशेष उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—मूल, फल।

मात्रा—चूर्ण-५–१० रत्ती।

विशिष्ट योग—पञ्चकोल फाण्ट, प्राणदा गुडिका, कांकायन मोदक, चव्यादि घृत।

× × × ×

'भवेच्चव्यं तु चविका कथिता सा तथोषणा।
कणामूलगुणं चव्यं विशेषाद् गुदजापहम्॥' (भा. प्र.)

रोचन (हृद्य)

१४२. आम्रातक

परिचय

गण—हृद्य (च०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-स्पॉण्डियस मैञ्जिफेरा (Spondias Mangifera); सं०-आम्रातक (आम्र के सदृश फल होने के कारण); कपीतन (बन्दर के सदृश धूसर-पीत वर्ण का पक्व फल होने से), मर्कटाम्र (जंगलों में बन्दर इसके फल को खाते हैं); हि०-बं०-आमड़ा; म०-आँवाड़ा; गु०-जंगली आंबो; ता०-कतमा; ते०-आरवी-मासादी; अं०-हॉग प्लम (Hog-plum) या वाइल्ड मैन्गो (Wild Mango)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ३०-४० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-संयुक्त १-१½ फुट लम्बा होता है। **पत्रक**-२-६ इंच लम्बे, १-४ इंच चौड़े तथा चमकीले होते हैं। **सिरायें**-१०-३० अभिमुख क्रम से होती हैं। **पुष्प**-हरिताभ, श्वेतवर्ण, छोटे होते हैं। **फल**-१½-२ इञ्च लम्बे, बड़े बेर के समान होते हैं। ये कच्चे अम्ल तथा पकने पर मधुराम्ल होते हैं। प्रत्येक फल में एक कठिन बीज होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः वन्य प्रदेशों में होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—अम्ल (कच्चा), कषाय, मधुर (पक्व)।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत (पक्व), उष्ण (कच्चा)।

कर्म

दोषकर्म—कच्चा फल अम्ल उष्ण होने से कफपित्तवर्धक और वातशामक है। पका फल मधुर कषाय और शीत होने से वातपित्तशामक और कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्र शूलहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक है। कच्चा फल संस्थानगत पित्त को बढ़ाता है तथा पित्तसारक है किन्तु पका फल पित्तशामक और विष्टम्भी है। पत्र और छाल स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसकी त्वचा मूत्रमार्ग के स्राव और शोथ को दूर करती है।

प्रजननसंस्थान—इसकी छाल से गर्भाशय की श्लेष्मल कला का शोथ और स्राव दूर होता है।

तापक्रम—यह पित्तशामक होने से दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—स्निग्ध मधुर होने से यह बल्य, वृष्य, बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कच्चा फल वातविकारों में तथा पका फल वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका पत्रस्वरस कर्णशूल में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कच्चा फल अरुचि और विबन्ध में प्रयुक्त होता है। पका फल अम्लपित्त आदि पैत्तिक विकारों में दिया जाता है। पत्र और छाल का प्रयोग प्रवाहिका, रक्तातीसार आदि में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—उरःक्षत एवं रक्तपित्त में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—इसकी छाल का क्वाथ पूयमेह में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—श्वेतप्रदर में इसकी छाल का काढ़ा देते हैं।

तापक्रम—दाह में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—यह दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, त्वक्, पत्र।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; क्वाथ-५-१० तोला।

वक्तव्य—इसके निर्यास का धूपन में प्रयोग करते हैं।

× × × ×

'आम्रातपादपो बिम्बफलोपमफलोऽल्पकः। जिंगिणीसदृशपत्रो गिरौ भवति रेवते॥' (कै.)

'आम्रातमम्लं वातघ्नं गुरूष्णं रुचिकृत् सरम्। पक्वं तु तुवरं स्वादु रसे पाके हिमं स्मृतम्॥
तर्पणं श्लेष्मलं स्निग्धं वृष्यं विष्टम्भि बृंहणम्। गुरु बल्यं मरुत्पित्तक्षतदाहक्षयास्रजित्॥'
(भा. प्र.)

१४३. करमर्द

परिचय

गण—हृद्य (च०)।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी-Apocynaceae)।

नाम—लै०-कैरिसा कैरेण्डस (Carissa Carandus); सं०-करमर्द (जो हाथ से मसला जा सके), कृष्णपाकफल (जिसके फल पकने पर कृष्णाभ हो जाँय); क्षीरफेना (जिससे दुग्धवत् फेन निकले); साम्लपुष्पा (जिसके पुष्प अम्लरस हों); सुषेण (सुन्दर फलों का गुच्छा-सेना-होने से-शोभना सेना यस्य सः); हि०-करौंदा; बं०-करमचा; म०-करवंद; गु०-करमदां; ता०-कालाका; ते०-कालिभिकेया।

स्वरूप—इसका कंटकित गुल्माकार वृक्ष होता है। **पत्र**—१-३ इञ्च लंबे, १-१½ इञ्च चौड़े, गोलाकार, चिकने और मांसल होते हैं। **पुष्प**—श्वेत वर्ण, जुही के सदृश होते हैं। **फल**—छोटे, ½-१ इञ्च लंबे, मौलसिरी के फल के सदृश, पहले श्वेतरक्त किन्तु पकने पर कृष्णवर्ण हो जाते हैं। कच्चे फलों को काटने पर सफेद फेन दूध की तरह निकलता है। फलों के भीतर चार बीज त्रिकोणाकार होते हैं। वसन्तकाल में पुष्प तथा वर्षाकाल में फल लगते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं (१) बृहत्, (२) लघु। बृहत् जाति का वर्णन ऊपर किया गया है। छोटी जाति को करमर्दिका (करौंदी या जँगली करौंदा) कहते हैं। इसके पत्र और फल छोटे होते हैं। वृक्ष भी छोटा झाड़ीदार जंगलों में होता है। इसका लैटिन नाम कैरिसा ओपेका (Carissa opaca) है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में बालुकामय, रूक्ष, शुष्क पहाड़ी प्रदेशों में होता है। विशेषतः बर्मा, पंजाब, बंगाल आदि प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक क्षारतत्त्व तथा सैलिसिलिक एसिड होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध।

रस—अम्ल	(कच्चा फल); मधुराम्ल	(पक्व फल) तिक्त	(मूल)।
विपाक—अम्ल	("); मधुर	(") कटु	(")।
वीर्य—उष्ण	("); शीत	(") उष्ण	(")।

कर्म

दोषकर्म—कच्चा फल अम्ल होने के कारण वातशामक और कफपित्तवर्धक है। पका फल मधुर शीत होने से वातपित्तशामक है। मूल-उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, तृष्णाशामक, दीपन और ग्राही है। पका फल पित्तशामक है।

रक्तवहसंस्थान—कच्चा फल अम्ल उष्ण होने से रक्तपित्तवर्धक तथा पक्व फल रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—इसका मूल तिक्त होने से कफघ्न है।

त्वचा—त्वग्दोषों को यह दूर करता है।

तापक्रम—इसका मूल ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—मूलत्वक् कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कच्चा फल वातविकारों में, पक्व फल वातपित्तविकारों में तथा मूल कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—इसका फल अरुचि, तृष्णा, अग्निमांद्य तथा अतिसार में प्रयुक्त होता है। पका फल पित्ताधिक्य में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—पक्का फल रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—मूल का प्रयोग कासश्वास में होता है।

त्वचा—मूल एवं फल का प्रयोग चर्मरोगों में करते हैं।

तापक्रम—मूल एवं पत्रक्काथ विषम और सन्तत ज्वरों में देते हैं।

सात्मीकरण—मूलत्वक् सामान्यदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूलत्वक्।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; क्काथ-५-१० तोला।

× × × ×

'करमर्दः सुषेणः स्यात् कृष्णपाकफलस्तथा। तस्माल्लघुफला या तु सा ज्ञेया करमर्दिका॥
करमर्दद्वयं त्वाममम्लं गुरु तृषाहरम्। उष्णं रुचिकरं प्रोक्तं रक्तपित्तकफप्रदम्॥
तत्पक्वं मधुरं रुच्यं लघु पित्तसमीरजित्।' (भा. प्र.)
'लवङ्गार्द्रकसंयुक्तं सुपिष्टं वारिणा युतम्। कारमर्दं करैर्मर्द्यं सप्तभागसितान्वितम्॥
वातहृद्रुचिदं बल्यं हृद्यमम्लतरं स्मृतम्। रक्तपित्तकरं चोक्तमकण्ठ्यं कारमर्दकम्॥' (क्षे.कु)

१४४. वृक्षाम्ल

परिचय

गण—हृद्य (च०)।

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लै०-गार्सिनिया इण्डिका (Garcinia indica); सं०-वृक्षाम्ल, रक्तपूरक (रक्तवर्ण फल)। हि०-म०-गु०-कोकम; बं०-मैंगोष्टीन; ता०-मुरगलमर; अं०-रेड मैन्गो (Red Mango); मेट मैंगोस्टीन (Mate Mongosteen)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २०-३० फुट ऊँचा झाड़ीदार होता है। **काण्डत्वक्**-ऊपर की ओर कृष्णवर्ण तथा भीतर की ओर पीताभ होती है। काण्डसार रक्तवर्ण होता है।

पत्र–६–१० इञ्च लंबे, २–४ इञ्च चौड़े और चिकने होते हैं। एक ही वृक्ष में स्त्रीपुष्प और पुंपुष्प पृथक् पृथक् होते हैं। **फल**–नारंगी के समान गोल और लाल रंग के होते हैं। फल का रस पीतवर्ण होता है। **बीज**–बड़े चपटे और श्वेतवर्ण होते हैं। शीतकाल में पुष्प और ग्रीष्मऋतु में फल पकते हैं। बीज निकाले हुए फल सुखा कर 'कोकम' के नाम से बाजार में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मलाया, चीन, जावा, सिंगापुर तथा दक्षिण भारत कोंकण मलाबार और गोवा में विशेष होता है

रासायनिक संघटन—बीजों में ३० प्रतिशत तैल होता है जो हलके पीले रंग का होता है और जमकर घी जैसा हो जाता है। इसे कोकम का घी या तैल (Kokum oil or kokum Butter) कहते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—अम्ल (कच्चा फल), मधुराम्ल (पक्व फल)।

विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह अम्ल उष्ण होने से वातशामक और कफपित्तवर्धक है। पका फल पित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह स्नेहन होने से संधानीय और रोपण है।

प्रयोग

दोषकर्म—यह वातविकारों में तथा पका फल वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह व्रण, नाडीव्रण, विपादिका आदि में लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, अरुचि, अग्निमांद्य, प्रवाहिका, अर्श, उदरशूल और गुल्म में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रोगों में लाभकर है।

त्वचा—त्वचा के रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—यह ज्वरों में उपयोगी है। दाह की शान्ति के लिए इसके पके फल का पानक बनाकर देते हैं।

सात्मीकरण—क्षयरोग में यह कॉडलिवर आयल के स्थान पर दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—तैल, फल, मूलत्वक्।

मात्रा—तैल ३–६ माशे; फलपानक १–२ तो०; मूलत्वक् क्वाथ ४–८ तो०।

× × × ×

'वृक्षाम्लमाममम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम्। पक्वं तु गुरु संग्राहि मधुराम्लरसं तथा॥
अल्पोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं वातनाशनम्। तृष्णार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृद्रोगजन्तुजित्॥'(भा.प्र.)
'वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते।' (च. सू. २७)

१४५. अम्लवेतस

परिचय

गण—हृद्य, दीपनीय, श्वासहर (च०)।

कुल—जम्बीर-कुल-(रूटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-साइट्रस डेक्युमाना-(Citrus decumana)। सं०-अम्लवेतस (वेतस के सदृश वृक्ष किन्तु फल अम्ल); शतवेधि (तीक्ष्णता के कारण गलाने वाला)। हि०-अमलवेत; बं०-बाताबि लेंबू; पं०-चकोतरा; ने०-चुकत्रो; ता०-बम्बलिनाश; ते०-एदापान्दु; अं०-पोमेलो (Pomelo)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २०-४० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**—६-९ इंच, अंडाकृति, सूक्ष्म रोमश होते हैं। अग्रभाग नुकीला होता है। **पुष्प**—बड़े, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**—बड़े, तालफल के सदृश, कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर पीले होते हैं। फल त्वचा मोटी होती है। फलमज्जा—श्वेत; अम्ल होती है। पुष्प वसन्त ऋतु में आते हैं तथा फल शरद् ऋतु में पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम निवासस्थान 'वटाविया' है। संप्रति भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—फल में साइट्रिक एसिड, गन्धकाम्ल, शर्करा तथा फल-त्वचा में सुगन्धित तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—अम्ल (अति)।

विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

वक्तव्य—इसका रस इतना तीक्ष्ण होता है कि इसमें बकरे का मांस तथा लौह की सुई गल जाती है।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—इसका पत्र संज्ञास्थापन और आक्षेपशामक है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन और भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर, श्वासहर और हिक्कानिग्रहण है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—इसका पत्रस्वरस मूर्च्छा, कम्प, आक्षेप आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, गुल्म, प्लीहा, यकृद्-वृद्धि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। उदावर्त्त रोग में जब वायु का वेग ऊपर होने से हृदय में शूल होता है तब इसके प्रयोग से लाभ होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का और श्वास में यह लाभकर है। प्रतिश्याय में इसका पत्रस्वरस भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी में यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, पत्र।

मात्रा—स्वरस-३-६ माशे; पत्रस्वरस-½-१ तो०।

वक्तव्य—सम्प्रति बाजारों में जो द्रव्य अम्लवेत के नाम पर आता है वह रेवन्द चीनी की सुखाई हुई शाखाये हैं।

× × × ×

'अम्लवेतसमत्यम्लं भेदनं लघु दीपनम्। हृद्रोगशूलगुल्मघ्नं पित्तलं लोमहर्षणम्॥
'रूक्षं विण्मूत्रदोषघ्नं प्लीहोदावर्त्तनाशनम्। हिक्कानाहारुचिश्वासकासाजीर्णवमिप्रणुत्॥
कफवातामयध्वंसि छागमांसद्रवत्वकृत्। चणकाम्लगुणं ज्ञेयं लोहसूचीद्रवत्वकृत्॥' (भा. प्र.)
'अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणाम्।' (च. सू. २५)

१४६. बदर

परिचय

गण—हृद्य, हिक्कानिग्रहण, उदर्दप्रशमन, श्रमहर, स्वेदोपग, विरेचनोपग (च०); आरग्वधादि, वातसंशमन (सु०)।

कुल—बदर-कुल (रैमनेसी-Rhamnaceae)।

नाम—लै०-(१) राजबदर-(जिजिफस सेटाइवा-Zizyphus Sativa), (२) बदर-(जिजिफस जुजुबा-Zizyphus Jujuba), (३) क्षुद्रबदर-(जिजिफस न्युमुलेरिया-Zizyphus Nummularia); सं०-(१) राजबदर, राजकोल, सौवीर, कुवल, (२) बदर, कोल, (३) क्षुद्रबदर, कर्कन्धु, बदरी; हि०-(१) उन्नाव; म०-गु०-पं०-उन्नाव; अ०-उन्नाब; फा०-सेलान, (२) बेर; म०-गु०-बोर; बं०-कूल; ता०-एलान्दाप-पाजाम; ते०-रेगाबाण्डा; अं०-जुजुबा फ्रुट (Jujuba fruit), (३) झड़बैर; पं०-कोकनबेर; बं०-सेयाकूल; गु०-चणीबोर।

स्वरूप—इसका मध्यमप्रमाण कण्टकयुक्त वृक्ष होता है। **त्वक्**—धूसरवर्ण और विदीर्ण होती है तथा बीच-बीच में काँटे होते हैं। **पत्र**—१-२½ इञ्च लम्बे, १-२ इञ्च चौड़े हरितवर्ण होते हैं। **फल**—लम्बगोल, कच्ची अवस्था में हरे तथा पकने पर पीले होते हैं।

जातियाँ—फल की आकृति के अनुसार इसकी तीन जातियाँ होती हैं:—(१) बड़े फल वाले को 'राजबदर', (२) मध्यमाकृति फलयुक्त वृक्ष को 'बदर' तथा (३) छोटे और अष्ठिल फल को 'क्षुद्रबदर' कहते हैं। औषध में राजबदर का ही प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। राजबदर काश्मीर, पश्चिमोत्तर प्रदेश, ईरान, अफगानिस्तान तथा चीन में होता है। क्षुद्रबदर जंगलों में होता है। इसके झाड़ीदार छोटे क्षुप होते हैं।

रासायनिक संघटन—फलों में अम्ल, पिच्छिलद्रव्य तथा शर्करा होते हैं। छाल तथा पत्तियों में कषायद्रव्य तथा जिजिफिक एसिड (Zizyphic acid) नामक स्फटिकीय तत्त्व होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—अम्ल, मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल एवं मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके पत्र दाहप्रशमन, त्वचा, व्रणशोधन, व्रणरोपण तथा बीज लेखन हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फल तृष्णानिग्रहण, रुचिवर्धक, दीपन और अनुलोमन है। त्वचा ग्राही है। पत्ती चबाने से जिह्वा की स्वादग्रहणशक्ति नष्ट हो जाती है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वसनसंस्थान के अंगों का स्नेहन करता है तथा कफनिःसारक है। हिक्कानिग्रहण भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है तथा मूत्रगत शर्करा को कम करता है।

त्वचा—यह स्वेदोपग और उदर्दप्रशमन है।

तापक्रम—यह दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह बृंहण एवं श्रमहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में इसकी पत्तियों के कल्क का लेप करते हैं। इसकी त्वचा का लेप विस्फोट में करते हैं। नेत्ररोगों में इसकी गुठली घिस कर लगाते हैं। त्वचा के क्वाथ से व्रण धोते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, अरुचि, अग्निमांद्य तथा विबन्ध में इसके फल का प्रयोग करते हैं। त्वचा का प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका आदि में होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में इसके पके फलों का प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और स्नेहन होने से वातपैत्तिक कास, श्वास और हिक्का में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है। इक्षुमेह में गुड़मार की भांति इसकी पत्तियों का चूर्ण २ माशे दिन में दो बार देते हैं।

त्वचा—उदर्द तथा अन्य त्वग्दोषों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, शोष, क्षय, अंगमर्द तथा श्रम को दूर करने के लिए यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, त्वक् ।

मात्रा—फल-५-७ दाना; त्वक्क्काथ-५-१० तोला ।

× × × ×

'सौवीरं बदरं शीतं भेदनं गुरु शुक्रलम् । बृंहणं पित्तदाहास्रक्षयतृष्णानिवारणम् ॥
कोलं तु बदरं साम्लं रुच्यमुष्णं च वातहृत् । कफपित्तकरं चापि गुरु सारकमुच्यते ॥
अम्लं स्यात् क्षुद्रबदरं कषायं मधुरं मनाक् । स्निग्धं गुरु च तिक्तं च वातपित्तापहं स्मृतम् ॥
शुष्कं भेद्यग्निकृत् सर्वं लघु तृष्णाक्लमास्रजित् ।' (भा. प्र.)

'बदरं मधुरं स्निग्धं भेदनं वातपित्तजित् । तच्छुष्कं कफवातघ्नं पित्तेन च विरुध्यते ॥(च.सू.२७)

'कर्कन्धुकोलबदरमामं पित्तकफावहम् । पक्वं पित्तानिलहरं स्निग्धं सुमधुरं सरम् ॥
पुरातनं तृट्शमनं श्रमघ्नं दीपनं लघु ।' (सु. सू. ३९)

'राजबदरः सुमधुरः शिशिरो दाहार्त्तिपित्तहरः । वृष्यश्च वीर्यवृद्धिं कुरुते शोषश्रमं हरते ॥'
(रा. नि.)

'तस्य मज्जा तु तुवरो मधुरो वीर्यवर्धनः । श्वासकासतृषादाहच्छर्दिमारुतपित्तजित् ॥'(कै नि)

'बदरस्य पत्रलेपो ज्वरदाहविनाशनः । त्वचा विस्फोटशमनी, बीजं नेत्रामयापहम् ॥'(रा.नि.)

'बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम् । स्वरभेदे च कासे च लेहमेतत् प्रयोजयेत् ॥'
(च. चि. २२)

'सममधुगुडभागं श्लक्ष्णकर्कन्धुचूर्णम् । प्रदरशमनमुक्तं योषितां खाद्यमानम् ॥' (शो०)

'बदरीपल्लवोत्थश्च तथैवारिष्टकोद्भवः । फेनिलायाश्च यः फेनः तैर्दाहे लेपनं शुभम् ॥'
(च. चि. १२)

१४७. दाडिम

परिचय

गण—हृद्य, छर्दिनिग्रहण (च०); परुषकादि (सु०) ।

कुल—दाडिम-कुल (प्युनिकेसी-Punicaceae) ।

नाम—लै०-प्युनिका ग्रेनेटम (Punica Granatum); सं०-दाडिम, दन्तबीज (दाँत के सदृश बीज वाला), लोहितपुष्पक (रक्तपुष्प वाला); हि०-अनार; बं०-दाडिम्व; म०-डाळिंब; गु०-दाड़म; ता०-मादालाई चेट्टि; ते०-दानिम्मा; फा०-अनार; अ०-रूम्मान; अं०-पोमेग्रेनेट (Pomegranate) ।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का १०-१५ फीट ऊँचा होता है । **काण्डत्वक्**-धूसर वर्ण तथा काण्डसार पीतवर्ण होता है । **पत्र**—लगभग २-३ इञ्च लम्बे और १ इच चौड़े, दोनों प्रान्तभागों पर नुकीले होते हैं । **पुष्प**—रक्तवर्ण होता है । **फल**—गोलाकार लगभग २ इञ्च व्यासका होता है । इसके भीतर अनेक बीज होते हैं । लैंगिक दृष्टि से इसके वृक्ष दो प्रकार के होते हैं:—एक में केवल पुंपुष्प होते हैं, इसके पत्ते कुछ रक्ताभ होते हैं और दूसरे में पुंपुष्प और स्त्रीपुष्प दोनों होते हैं ।

जाति—रस के अनुसार निघंटुकारों ने इसकी तीन जातियों का निर्देश किया है :—
(१) मधुर, (२) मधुराम्ल और (३) अम्ल । व्यवहार में देशभेद से अनेक जातियों का प्रचलन है ।

उत्पत्तिस्थान—अफ्रीका, काबुल और ईरान में विशेष होता है । संप्रति भारत में सर्वत्र प्राप्त होता है । काबुल और क्वेटा का अनार उत्तम होता है । 'बेदाना' काबुली अनार की ही एक जाति है ।

रासायनिक संघटन—काण्डत्वक् और फलत्वक् में टैनिन २२-२५ प्रतिशत तथा मूलत्वक् में प्युनिको-टैनिक एसिड (Punico-tannic acid) २०-२५ प्रतिशत पाया जाता है। मूल में एक तरल क्षारतत्त्व पेलिटियरीन (Pelletierine) नामक पाया जाता है। इसमें दो निष्क्रिय क्षारतत्त्व भी होते हैं। इसके अतिरिक्त फल में शर्करा १५ प्रतिशत, पेक्टीन, मनाइट आदि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय, अम्ल।
विपाक—मधुर (मधुर जाति), अम्ल (अम्ल जाति)। **वीर्य**—अनुष्ण।

कर्म

दोषकर्म—मधुर फल त्रिदोषघ्न है। यह माधुर्य और कषाय के कारण पित्त का तथा उष्ण वीर्य के कारण कफवात का शमन करता है। मधुराम्ल फल अम्लता के कारण किंचित् पित्तकर होता है। अम्लफल कफवातशामक किन्तु पित्तकोपक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी त्वचा कषाय होने से शोथहर एवं रोपण है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बलप्रद और मेध्य है।
पाचनसंस्थान—इसका फल रुचिवर्धक, दीपन, तृष्णानिग्रहण एवं ग्राही है। इसकी मूलत्वक् तीव्र कृमिघ्न है। स्फीत कृमि (Tapeworm) पर इसकी क्रिया विशिष्ट होती है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोणितास्थापन है।
श्वसनसंस्थान—इसकी पुष्प-कलिका कषाय होने से कफघ्न है। फल स्नेहन और कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।
प्रजननसंस्थान—यह शुक्रवर्धन है।
तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—यह बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मधुर फल का त्रिदोष में तथा मधुराम्ल और अम्ल फलों का कफवातिक विकारों में प्रयोग होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी छाल के काढ़े से मुख और कण्ठरोगों में गण्डूष करते हैं। व्रणों को धोते भी हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा तज्जनित विकारों में इसका फल उपयोगी है।
पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, तृष्णा, अम्लपित्त आदि पैत्तिक विकार तथा अतिसार, प्रवाहिका आदि में यह प्रशस्त माना जाता है। कृमिरोग में इसकी १-२ तो० मूलत्वक् का क्वाथ खाली पेट देते हैं और निराहार रख कर दूसरे दिन विरेचन देते हैं। इससे कृमि मर कर बाहर निकल जाते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्ताल्पता तथा रक्तविकारों में यह लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—बच्चों के कफाधिक्य में इसकी कली बकरी के दूध में पीस कर चटाते हैं। फलों का प्रयोग वातपैत्तिक कास में करते हैं। इससे कफ आसानी से निकलने लगता है और श्वासमार्ग की रूक्षता दूर होती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वरों में यह पथ्यरूप में दिया जाता है। इससे ज्वर तथा उसके उपद्रव शान्त होते हैं तथा रोगी के बल की द्धि होती है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसके फलों का रस देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, फलत्वक्, मूलत्वक्।

मात्रा—फलस्वरस–२–५ तो०; त्वक्क्वाथ–४–८ तो०।

विशिष्ट योग—दाडिम–चतुःसम, दाडिमाष्टक, दाडिमादि चूर्ण, दाडिमाद्य घृत, दाडिमाद्य तैल।

× × × ×

'दाडिमः करको दन्तबीजो लोहितपुष्पकः। तत्फलं त्रिविधं स्वादु स्वाद्वम्लं केवलाम्लकम्॥
तत्तु स्वादु त्रिदोषघ्नं तृड्दाहज्वरनाशनम्। हृत्कण्ठमुखरोगघ्नं तर्पणं शुक्रलं लघु॥
कषायानुरसं ग्राहि स्निग्धं मेधाबलप्रदम्। स्वाद्वम्लं दीपनं रुच्यं किञ्चित्पित्तकरं लघु॥
अम्लं तु पित्तजनकमामवातकफापहम्।' (भा. प्र.)

'अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राहि दीपनम्। स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं कफपित्ताविरोधि च॥
रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत् पित्तानिलकोपनम्। मधुरं पित्तनुत्तेषां तद्धि दाडिममुत्तमम्॥'
(च. सू. २७);

'कषायानुरसं तेषां दाडिमं नातिपित्तलम्। दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वर्चोविबन्धनम्॥
द्विविधं तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च। त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम्॥' (सु. सू. ४६)

'विपाचितं दाडिमकल्कयुक्तं तैलं भवेत् सर्षपसम्भवं यत्।
अभ्यंजनात्तत् कुरुते नितान्तमुच्चैः स्तनौ वृद्धियुतौ च कर्णौ॥' (रा. मा.)

१४८. मातुलुङ्ग

परिचय

गण—हृद्य, छर्दिनिग्रहण (च०)।

कुल—जम्बीर–कुल (रूटेसी–Rutaceae)।

नाम—लै०–साइट्रस मेडिका–टिपिका (Citrus Medica-Var-Typica)। सं०–मातुलुङ्ग, बीजपूर (बीजों से भरा हुआ); रुचक (रुचिवर्धक)। हि०–बिजौरा; बं०–टौवा नेबू, छोलङ्गनेबू, बेगपूरा; म०–महालुङ्ग; गु०–बिजोरु; ता०–मादलम्; ते०–मादीफलसु; अ०–उत्रुज; फा०–तुरेज; अं०–साइट्रॉन (Citron)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** कागजी नींबू के सदृश ही होता है किन्तु **पत्ते** बड़े और चौड़े होते हैं। **फल**–गोलाकार, कुछ बड़े, कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर पीले हो जाते हैं।

जाति—रसभेद से यह दो प्रकार का होता है—(१) मधुर (२) अम्ल।

उत्पत्तिस्थान—यह आसाम, उत्तरभारत एवं दक्षिण भारत में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसके रस में निंबुकाम्ल, गन्धकाम्ल तथा शर्करा होती है। फलत्वक् में एक सुगन्धित उड़नशील तैल होता है जिसमें साइट्रिन (Citrene) ७६ प्रतिशत, साइट्रोल (Citrol) ७-८ प्रतिशत, साइमीन (Cymene) तथा साइट्रोनेलल (Citronellal) तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध (मधुर), तीक्ष्ण (अम्ल)।

रस—मधुर (मधुर जाति); अम्ल (अम्ल जाति)।

विपाक—मधुर (मधुर जाति); अम्ल (अम्ल जाति)।

वीर्य—अनुष्ण।

कर्म

दोषकर्म—मधुर जाति वातपित्तशामक तथा अम्ल जाति कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र वेदनास्थापन, बीज-शोथहर, लेखन और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मदशामक है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, तृष्णानिग्रहण, दीपन, अनुलोमन और यकृदुत्तेजक है। इसके केशर ग्राही है। छिलका कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—इसका मधुर फल हृद्य और रक्तपित्तशामक है। अम्ल फल हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज तथा फल आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मधुर फल का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में तथा अम्ल फल का प्रयोग कफवातिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके पत्र गरम कर पीडायुक्त स्थानों में बाँधते हैं। बीजों का लेप शोथ में तथा चर्मरोगों में करते हैं। विच्छू के दंश पर भी बीजों का लेप लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मदात्यय में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, छर्दि, तृष्णा, अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, शूल, गुल्म और अर्श में इसका प्रयोग करते हैं। इसका केशर प्रवाहिका एवं अर्श में देते हैं। मूलत्वक् का कृमिरोग में प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—इसका फल (मधुर) हृद्रोग और रक्तपित्त में देते हैं। अम्ल फल हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। पुष्प और मूल का भी प्रयोग रक्तपित्त में होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं हिक्का में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—इसके फल एवं बीजों का प्रयोग रजोरोध तथा कष्टार्त्तव में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, मूलत्वक्, पुष्पकेशर, बीज, फलत्वक्तैल।

मात्रा—फलस्वरस-½-१ तो०; मूलत्वक्क्वाथ-४-८ तो०; पुष्पकेशर चूर्ण-५-१० रत्ती; बीजचूर्ण-१-२ माशे; फलत्वक्तैल-½-२ बूँद।

विशिष्ट योग—मातुलुङ्गादि योग, बीजपूराद्य घृत।

'बीजपुरो मातुलुङ्गो रुचकः फलपूरकः। बीजपूरफलं स्वादु रसेऽम्लं दीपनं लघु ॥
रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम्। श्वासकासरुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ॥' (भा. प्र.)
'शूलेऽरुचौ विवन्धे च मन्देऽग्नौ मद्यविप्लवे। हिक्काश्वासे च कासे च वम्यां वर्चोगदेषु च ॥
वातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्वेष्वेवोपदिश्यते।' (च. सू. २७)
'लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम्। त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रिमिकफापहा ॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्। मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम् ॥
दीपनं लघु सङ्ग्राहि गुल्मार्शोघ्नं तु केशरम्। शूलाजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमारुते ॥
अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते।' (सु. सू. ४६)
'बालं पित्तमरुत्कफास्रकरणं मध्यं च तादृग्विधम्।
पक्वं वर्णकरञ्च हृद्यमथ तत् पुष्णाति पुष्टिं बलम् ॥
शूलाजीर्णविबन्धमारुतकफश्वासार्त्तिमन्दाग्निजित्।
कासारोचकशोकशान्तिदमिदं स्यान्मातुलुङ्गं सदा ॥' (रा. नि.)

१४६. जम्बीर

परिचय

कुल—जम्बीर-कुल (रूटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-साइट्रस मेडिका-लाइमोनम (Citrus Medica. var-Limonum); सं०-जम्बीर, दन्तशठ (अम्ल होने से दन्तहर्ष उत्पन्न करने वाला); हि०-जंबीरी नींबू; बं०-कर्न्ननेबू; म०-इडलिंबु; गु०-गोदडिया लिंबु; अं०-दी लेमन ऑफ इण्डिया (The Lemon of India)।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** कागजी नींबू के सदृश होते हैं। **पत्र**-अंडाकार तथा पत्रवृन्त की ओर पक्षयुक्त होते हैं। **फल**-लंबगोल होता है और उसका छिलका मोटा होता है।

जाति—आकृति के अनुसार यह दो प्रकार का होता है:—(१) **बृहत्**-इसे 'जंबीर' कहते हैं और इसका फल कुछ बड़ा होता है। (२) **लघु**-इसका नाम 'स्वल्प जम्बीर' या 'जम्बीरिका' है। इसका फल जम्बीर की अपेक्षा छोटा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके रस में निम्बुकाम्ल अधिक होता है। १०० सी. सी. नींबू के रस के लगभग ३.७ प्रतिशत अम्ल प्राप्त होता है। इसके फल की त्वचा से एक हलके पीले रंग का उड़नशील तैल निकलता है।

गुण

गुण—गुरु, तीक्ष्ण। **रस**—अम्ल।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—पाचनसंस्थान-अरुचि, तृष्णा, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबंध, यकृद्विकार तथा कृमिरोग में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, त्वक्, पत्र।

मात्रा—फलस्वरस-½-१ तो०; त्वक्क्वाथ-४-८ तो०।

× × × ×

'स्याज्जम्बीरो दन्तशठो जम्भजम्भीरजम्भलाः। जम्बीरमुष्णं गुर्वम्लं वातश्लेष्मविबन्धनुत्॥ शूलकासकफोत्क्लेशच्छर्दितृष्णामदोषजित्। आस्यवैरस्यहृत्पीडावह्निमांद्यकृमीन् हरेत्॥ स्वल्पजम्बीरिका तद्वत् तृष्णाछर्दिनिवारिणी।' (भा. प्र.)

'तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम्। वातश्लेष्मविबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तलम्॥ (सु. सू. ४६)

'दन्तशठमम्लं.........रक्तपित्तकरम्।' (च सू. २७)

१५०. निम्बूक

परिचय

कुल—जम्बीरकुल (रुटेसी-(Rutaceae)।

नाम—लै०-साइट्रस मेडिका-एसिडा (Citrus Medica-var. Acida); सं०-निम्बूक; हि०-कागजी नींबू; बं०-पातिलेबू, कागजी लेबू, म०-लिंबू; गु०-कागदी लींबु; ता०-एलुमिच्चै; ते०-निम्म; फा०-लीमूं; अं०-लाइम (Lime)।

स्वरूप—इसकी पत्ती छोटी और फल छोटा तथा गोल होता है। फल का छिलका कागज की तरह पतला होता है इसलिए इसे कागजी नींबू कहते हैं।

जाति—इसकी एक जाति का फल कुछ लम्बाकार होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है। विशेषतः हिमालय प्रदेश, वर्मा, बंगाल, आसाम और बम्बई में यह पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फल के रस में ७-१० प्रतिशत साइट्रिक एसिड, फास्फरिक एसिड, मौलिक एसिड और साइट्रेट, शर्करा, पिच्छिलद्रव्य तथा क्षार पाये जाते हैं। फलत्वचा में एक उड़नशील तैल, हेस्पेरिडिन (Hesperidin) नामक तिक्त स्फटिकीय ग्लुकोसायड ५-८ प्रतिशत तथा क्षार ४ प्रतिशत पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु। **रस**—अम्ल।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—अनुष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह अनुष्ण होने से कफवातशामक तथा मधुर विपाक होने से पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तपित्तशामक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है तथा इससे मूत्रगत अम्लता कम होती है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह तीनों दोषों से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—पाचनसंस्थान-तृणा, छर्दि, अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध एवं यकृद्विकार में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त, वातरक्त, आमवात आदि रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास आदि में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके रस में यवक्षार मिला कर देने से मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्रगत अम्लाधिक्य में लाभ होता है।

त्वचा—स्वेदजनन होने से यह त्वचा के विकारों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में नींबू का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—स्वरस-½-१ तो०।

× × × ×

वक्तव्य—'निम्बूक' का वर्णन प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता।

'निम्बूफलं प्रथितमम्लरसं कदुष्णं गुल्मामवातहरमग्निविवृद्धिकारि।
चक्षुष्यमेतदथ कासकफार्त्तिकण्ठविच्छर्दिहारि परिपक्वमतीव रुच्यम् ॥' (रा. नि.)

१५१. मिष्ट निम्बूक

परिचय

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी–Rutaceae)।

नाम—लै०–साइट्रस मेडिका-लाइमेटा (Citrus Medica-Var-Limetta); सं०–मिष्ट निम्बूक (मधुररस होने से); मधुकर्कटिका, मधुजम्बीर; हि०–मीठा नींबू; बं०–मीठा लेबू; म०–साखरलिंबु; गु०–मीठा लिंबु; ता०–एलिमिच्चम; ते०–गजनिम्मा; अं०–स्वीट लाइम (Sweet lime)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**-पत्र, पुष्प आदि कागजी नींबू के सदृश होते हैं। **पुष्प**–श्वेतवर्ण होते हैं किन्तु उनमें कुछ लाल दाग होते हैं। **फल**–कागजी नींबू से बड़े, गोल, लगभग ३-५ इञ्च व्यास के होते हैं। इसका रस मीठा और प्रचुर परिमाण में होता है। अप्रिल में पुष्प तथा जून में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में यह अनेक स्थानों में विशेषकर दक्षिणभारत में होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध । **रस**—मधुर ।
विपाक—मधुर । **वीर्य**—शीत ।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुरशीत होने से वातपित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, रोचन तथा छर्दिनिग्रहण होता है ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोणितास्थापन है ।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है ।

प्रजननसंस्थान—मधुरस्निग्ध होने से वृष्य है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—तृष्णा, छर्दि, अरुचि, कामला में यह उपयोगी है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्ताल्पता, रक्तपित्त और रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं ।

श्वसनसंस्थान—कास में यह लाभकर है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह प्रयुक्त होता है ।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं ।

तापक्रम—ज्वर और दाह में यह उपयोगी है ।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और शोष रोग में इसका प्रयोग होता है ।

प्रयोज्य अंग—फलस्वरस ।

मात्रा—२-५ तोला ।

× × × ×

'मिष्टनिम्बूफलं स्वादु गुरु मारुतपित्तनुत् । गलरोगविषध्वंसि कफोत्क्लेशि च रक्तहृत् ॥ शोषारुचितृषाच्छर्दिहरं बल्यं च बृंहणम् ।' (भा. प्र.)

'मधुरो मधुजम्बीरः शिशिरो वातपित्तजित् । शोषघ्नस्तर्पणो वृष्यः श्रमघ्नः पुष्टिकारकः ॥

१५२. नारंग

परिचय

कुल—जम्बीरकुल (रुटेसी-Rutaceae) ।

नाम—लै०-साइट्रस ऑरेन्शियम (Citrus Aurantium); सं०-नारंग, नागरंग, त्वक्सुगन्ध (त्वचा में सुगन्ध होने से), मुखप्रिय (रोचक तथा सुन्दर होने से) हि०-म०-गु०-नारंगी, सन्तरा; बं०-कमला लेबू; पं०-सन्तरा; ता०-नारंगम् ; ते०-नारंगसु; अ०-नारञ्ज; फा०-नारंग; अं०-ऑरेञ्ज (Orange) ।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** अनेक शाखाप्रशाखायुक्त होता है। नवीन शाखायें श्वेताभ हरित होती हैं। **पत्र**-डिम्बाकृति, अग्रभाग कुछ मोटा और पक्षयुक्त होता है। **पुष्प**-श्वेत-वर्ण होते हैं। **फल**-गोलाकार दोनों सिरों पर चपटे होते हैं। पकने पर पीले रंग के हो जाते हैं। फलत्वचा कोमल होती है।

उत्पत्तिस्थान—इसकी उत्पत्ति भारत में विशेषतः उत्तरी भारत, आसाम और मध्यप्रदेश में होती है।

रासायनिक संघटन—फलत्वचा में तारपीन तैल के समान एक उड़नशील तैल, निर्यास, एक स्थिर तैल (जिसमें तर्पीन, लाइमोनिन, हेस्पिरिडिन, आइजोहेस्पेरिडिन तथा ऑरेन्शियामेरिन नामक तत्त्व होते हैं), एक तिक्त स्फटिकीय द्रव्य, टैनिन और क्षार ४-५ प्रतिशत होते हैं। पुष्प और फलत्वचा में एक पीताभ सुगंधित उडनशील तैल होता है जिसे ऑयल ऑफ नेरोली (Oil of Neroli) कहते हैं। पत्र तथा छोटे कच्चे फलों में भी एक उड़नशील तैल (Oil of orange leaf) होता है। फलस्वरस में शर्करा, म्युसिलेज, निम्बूकाम्ल, पोटाशियम साइट्रेट आदि निरिन्द्रिय लवण होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, अम्ल।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी फलत्वचा लेखन और वर्ण्य है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका फलस्वरस सौमनस्यजनन है। पुष्प आक्षेपहर है।
पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, छर्दिनिग्रहण और तृष्णानिग्रहण है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोणितास्थापन है।
सात्मीकरण—यह बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके छिलके का प्रयोग व्रण, वर्णविकार तथा चर्म-रोगों में करते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—फलस्वरस मानसिक दौर्बल्य में तथा पुष्पस्वरस अपतंत्रक, आक्षेपक आदि वातविकारों में देते हैं।
पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, तृष्णा और अग्निमांद्य में इसका प्रयोग करते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्ताल्पता और रक्तपित्त में यह प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य के लिए यह उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प।
मात्रा—फलस्वरस २-५ तो०; पुष्पस्वरस १-२ तो०।

× × × ×

'अम्लं समधुरं हृद्यं विशदं भक्तरोचनम्। वातघ्नं दुर्जरं प्रोक्तं नारंगस्य फलं गुरु॥' (सु.सू.४६)
'मधुरं किंचिदम्लं च हृद्यं भक्तप्ररोचनम्। दुर्जरं वातशमनं नागरंगफलं गुरु॥' (च. सू. २७)
'नारंगो नागरंगः स्यात्त्वक्सुगंधो मुखप्रियः। नारंगो मधुराम्लः स्याद्रोचनो वातनाशनः॥' (भा. प्र.)

१५३. भव्य

परिचय

कुल—भव्यकुल (डिलेनिएसी-Dilleniaceae)।

नाम—लॅ०-डिल्लेनिया इण्डिका (Dillenia Indica); सं०-भव्य; हि०-चिलता; बं०-चालता; ने०-रम्फा; म०-करंवल; ता०-उवा; ते०-पेड्डा कलिंगा।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का होता है। **काण्डत्वक्**-दालचीनी की तरह धूसर वर्ण होती है। **पत्तियाँ**-सघन, १०-१२ इञ्च लंबे होते हैं और इनके किनारे आरे के सदृश कटे होते हैं। **पुष्प**-६-७ इञ्च लंबे, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-गोलाकार, लगभग ५-६ इञ्च व्यास के होते हैं। इनमें पुष्पवाह्यकोष का ही भाग अधिक होता है। **बीज**-अनेक रोमश कोष के भीतर होते हैं। ग्रीष्मऋतु में पुष्प आते हैं तथा शीतकाल में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह लंका, नेपाल, दक्षिणभारत, आसाम, बंगाल और विहार में होता है।

रासायनिक संघटन—फल में टैनिन, ग्लुकोज तथा मैलिक एसिड होते हैं। बीजों में पिच्छिल द्रव्य अधिक होता है।

गुण

गुण—गुरु। **रस**—मधुर, अम्ल, कषाय।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह अम्लविपाक के कारण वातशामक और कफपित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—पका फल मुखशोधन, रोचन, विष्टम्भि और ग्राही है। फल अधिक खाने से विष्टम्भ अधिक होने से अतिसार होने लगता है। वृक्ष की त्वचा और पत्र भी ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातविकारों में प्रयुक्त होता है। चीनी और जल मिला कर पानक के रूप में यह पैत्तिकविकारों में भी दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—मुखरोग, अरुचि, एवं तृष्णा आदि में इसका प्रयोग होता है। पत्र का प्रयोग रक्तातीसार में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका स्वरस देते हैं। इससे कफ पतला होकर आसानी से निकल जाता है।

तापक्रम—ज्वर में भी इसका रस या पानक देते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है तथा तृष्णा आदि उपद्रव भी शान्त होते हैं।

'हृद्यं स्वादु कषायाम्लं भव्यमास्यविशोधनम्। पित्तश्लेष्मकरं ग्राहि गुरु विष्टम्भिशीतलम्॥'
(सु. सू. ४६)

'मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम्। पित्तश्लेष्मकरं भव्यं ग्राहि वक्त्रविशोधनम्॥'
(च. सू. २७)

१५४. अम्लिका

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल—(सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०-टैमरिण्डस इण्डिका (Tamarindus Indica)। सं०-अम्लिका (अम्लरसयुक्त); चिञ्चा, तिन्तिडी। हि०-इमली; बं०-तेंतुल; म०-चिञ्च; गु०-आंबली; ता०-आंबिलम्; ते०-चिन्त; अ०-तमरे हिन्दी; फा०-खुर्माए हिन्दी; अं०-टैमरिण्ड (Tamarind)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २०-२५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-संयुक्त, पक्षाकार होते हैं। **पत्रक**-२०-४० होते हैं जिनका अग्रभाग कुछ गोलाकार और स्थूल होता है। **पुष्प**-गुच्छबद्ध, पीतवर्ण, नौकाकार होते हैं। **फल**-३-६ इञ्च लम्बे होते हैं। **बीज**-प्रत्येक फल में ३-१० होते हैं। जैसे-आषाढ में पुष्प तथा पौष-माघ में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। विशेषतः दक्षिणभारत और बर्मा में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फलमज्जा में टार्टरिक अम्ल ५%, निम्बूकाम्ल ४%, मैलिक एसिड, एसिटिक एसिड, पोटाशियम टार्टरेट ८%, शर्करा २५-४०%, गोंद और पेक्टीन होते हैं। बीजावरण में एक स्थिर तैल, कषायाम्ल और कुछ अविलेय द्रव्य होते हैं। बीजों में अलब्युमिनॉयड, वसा, कार्बोहाइड्रेट ६३·२२%, सूत्र और क्षार जिसमें फास्फोरस तथा नाइट्रोजन होते हैं। फल में कुछ ऑक्जेलिक एसिड भी होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—अम्ल।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—कच्ची इमली अति अम्ल होने से वातशामक और कफपित्तवर्धक एवं रक्तपित्तकारक है। पकी इमली उष्णता और रूक्षता से कफ का तथा माधुर्य और अम्लता से वात का शमन करती है। मधुर फल पित्तशामक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके पत्र और बीज शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फल रोचन, तृष्णानिग्रहण, दीपन, यकृदुत्तेजक और भेदन है। क्षार-दीपन, शूलप्रशमन और भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—पका मधुर फल हृद्य और रक्तवातप्रशमन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका क्षार मूत्रल है और बीज स्तम्भन है।

तापक्रम—यह दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धातुओं को क्षीण करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इमली का कच्चा फल वातविकारों में तथा पक्का फल कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। पके फल का पानक पैत्तिक रोगों में भी देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ और वेदनायुक्त विकारों में इमली की पत्ती और बीजों का लेप करते हैं। पत्ती का उपनाह भी देते हैं। बीजों की वर्त्ति योनि-रोगों में देते हैं। पुष्पकल्क नेत्राभिष्यन्द में बाँधते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फल अरुचि, तृष्णा, अग्निमांद्य, यकृद्विकार और विबन्ध में देते हैं। फलत्वक् या काण्डत्वक् का क्षार उदरशूल, गुल्म आदि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्विकार तथा रक्तवात में पके फल का पानक देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में क्षार तथा प्रमेह में बीजों का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में वमन, तृष्णा और दाह होने पर इमली का पानक देते हैं। इससे ये उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, बीज, क्षार, पत्र, पुष्प।

मात्रा—फल-१-३ मा०; बीजचूर्ण-१-३ मा०; क्षार-५-१५ र०।

× × × ×

'अम्लिकाम्ला गुरुर्वातहरी पित्तकफास्रकृत्। पक्का तु दीपनी रूक्षा सरोष्णा कफवातनुत्॥'
(भा. प्र.)

**'चिञ्चात्यम्ला भवेदामा पक्का तु मधुराम्लिका। वातघ्नी पित्तदाहास्रकफदोषप्रकोपनी॥
अम्लिकायाः फलं त्वाममत्यम्लं लघु पित्तकृत्। पक्वं तु मधुराम्लं स्याद्भेदि विष्टम्भवातजित्॥
पक्वचिञ्चाफलरसो मधुराम्लो रुचिप्रदः। शोफपाककरो लेपाद् व्रणदोषविनाशनः॥
चिञ्चापत्रं च शोफघ्नं रक्तदोषव्यथापहम्। तस्य शुष्कत्वचाक्षारः शूलमन्दाग्निनाशनः॥'**
(रा. नि.)

'अम्लिकायाः फलं पक्वं तस्मादल्पान्तरं गुणैः।' (च.)

१५५. चांगेरी

परिचय

कुल—चांगेरी-कुल (जिरेनिएसी-Geraniaceae)।

नाम—लै०-ऑक्जेलिस कॉर्निकुलेटा (Oxalis Corniculata); सं०-चांगेरी, अम्लपत्रिका (खट्टी पत्तियों वाली); हि०-तिनपतिया; बं०-आमरुल; पं०-खट्टी बूटी; म०-अंबुटी; ता०-पुलियारै; ते०-पुलिचित; अं०-इण्डियन सोरेल (Indian sorrel)।

स्वरूप—यह सीधा, छोटा **क्षुप** जमीन पर फैलने वाला होता है। **पत्रवृन्त** लम्बा होता है जिसमें युग्म-संसक्त तीन पत्र होते हैं। **पुष्प**—छोटे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**—लम्बा होता है। बीजकोष में अनेक बीज होते हैं। शरद् ऋतु में पुष्प और फल होते हैं।

जाति—इसकी एक छोटी जाति भी होती है जो सामान्यतः गाँवों में 'तिनपतिया' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी पत्तियाँ छोटी होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें पोटाशियम तथा ऑक्जेलिक एसिड होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—अम्ल, कषाय।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन और लेखन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मदनाशक और संज्ञाप्रबोधन है।
पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है। कषाय रस के कारण इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का संकोच होता है।
तापक्रम—यह स्पर्श में शीत है और दाहप्रशमन है। ज्वरघ्न भी है।
सात्मीकरण—यह मादक विषों को विशेषतः धतूरे के विष को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, शिरःशूल आदि में इसका लेप करते हैं। लेखन होने से त्वचा के रोगों में तथा अर्म, शुक्र आदि नेत्ररोगों में लगाते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मदात्यय में इसका स्वरस प्रयुक्त होता है।
पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अर्श, प्रवाहिका तथा गुदभ्रंश के लिए यह उपयोगी है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्विकार तथा रक्तस्राव में इसका प्रयोग करते हैं।
तापक्रम—ज्वरों में विशेषतः चातुर्थिक ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—मादक विष विशेषतः धत्तूरविष में इसका प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग।
मात्रा—स्वरस-½-१ तोला।
विशिष्ट योग—चांगेरीघृत।

× × × ×

'चांगेरी दीपनी रूच्या रूक्षोष्णा कफवातनुत्। पित्तलाम्ला ग्रहण्यर्शःकुष्ठातीसारनाशिनी॥'
(भा. प्र.)

'दीपनी चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारुते। प्रशस्यतेऽम्लचांगेरी ग्रहण्यर्शोहिता च सा॥'
(च. सू. २७)

'ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी साम्ला वातकफे हिता। उष्णा किञ्चित् कषाया च चांगेरी चाग्निदीपनी॥'
(सु. सू. ४६)

१५६. चुक्र

परिचय

कुल—चुक्र-कुल (पौलिगोनेसी-Polygonaceae)।
नाम—लै०-रुमेक्स वेसिकेरियस (Rumex Vesicarius); सं०-चुक्र, चुक्रिका, पत्राम्ला (अम्लपत्र होने से); शतवेधनी (तीक्ष्ण); हि०-चूका; बं०-चूक-

पालङ्; म०-चाकवत; गु०-चुको, खाटी भाजी; ता०-शुक्कानकिराई; ते०-शुक्ककुराकु; अ०-हुम्माज; फा०-तुर्शः; अं०-कण्ट्री सोरेल (Country sorrel)।

स्वरूप—यह वर्षायु क्षुप ६-१२ इंच ऊँचा होता है। **पत्र**-अंडाकृति, लगभग १-३ इंच लम्बे तथा ३-५ सिराओं से युक्त होते हैं। **फल**-छोटे, श्वेत या रक्ताभ होते हैं जिनमें छोटे-छोटे बीज होते हैं। बीजों को यूनानी वैद्यक में 'तुख्म हुम्माज' या 'तुख्म तुर्शः' कहते हैं। पत्तियों का साग बनाकर खाते हैं।

जातियाँ—इसकी एक जाति हिमालय प्रदेश में होती है जिसे वहाँ 'चुलमोरा' (Rumex Hastate) कहते हैं। इसके पत्र भी अम्ल और त्रिकोणाकार होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र होता है विशेषकर पार्वत्य प्रदेश तथा उसकी तराई में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—ताजे क्षुप में ९२ प्रतिशत जल होता है। सूखे क्षुप में ईथर एक्स्ट्रैक्ट ४·६२%, अलब्युमिनायड १६·२७%, कार्बोहाइड्रेट ५७·८६%, काष्ठ-भाग १०·५०% तथा क्षार १०·७५% होते हैं। इसके मूल में रूमिसिन (Rumicin) तथा लेपाथिन (Lapathin) नामक दो तत्त्व होते हैं जिनके गुणधर्म क्राइसोफेनिक अम्ल के समान होते हैं।

गुण

गुण—लघु; रूक्ष। **रस**—अम्ल, मधुर।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

इसके बीज पिच्छिल और शीत है।

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक तथा कफपित्तकारक है। इसके बीज पित्तशामक हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, दाहप्रशमन तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसके पत्र रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक और भेदन है। बीज स्नेहन एवं ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल और मूत्रमार्ग का शामक है।

सात्मीकरण—यह वृश्चिकविष को नष्ट करता है। धातुओं को क्षीण करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातव्याधि में तथा पित्तसारक होने से पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना, दाह तथा वृश्चिकविष में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इसके पत्रस्वरस से गण्डूष करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, तृष्णा, हृल्लास, अग्निमांद्य, कामला, गुल्म, शूल, अर्श आदि रोगों में यह लाभकर है। प्रवाहिका में इसबगोल के साथ इसके बीजों का सेवन करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृत्स्पन्दन में यह दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्रदाह में इसके बीज प्रयुक्त होते हैं।

सात्मीकरण—वृश्चिकविष में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, बीज।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; बीजचूर्ण—३-५ माशे।

× × × ×

'चुक्रिका स्यात्तु पत्राम्ला रोचनी शतवेधनी। चुक्रा त्वम्लतरा स्वाद्वी वातघ्नी कफपित्तकृत्॥ रुच्या लघुतरा पाके वृन्ताकेनातिरोचनी।' (भा. प्र.)

'चुक्रं स्यादम्लपत्रं तु लघूष्णं वातगुल्मनुत्। रुचिकृद्दीपनं पथ्यमीषत्पित्तकरं स्मृतम्॥' (रा. नि.)

१५७. परूषक

परिचय

गण—विरेचनोपग, श्रमहर, ज्वरहर, मधुरस्कन्ध, आसवयोनि-फल (च०); परुषकादि (सु०)।

कुल—परूषक-कुल (टिलिएसी-Tiliaceae)।

नाम—लै०-ग्रीविया एशियाटिका (Grewia Asiatica); सं०-परूषक (इसके पत्र और फल रोमश-रूक्ष होने के कारण); हि०-फालसा; म० गु०-फालसा; बं०-फलूसा; ता०-पलिशम् ; ते०-नल्लजान; फा०-फाल्स।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २०-२५ फुट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-धूसर होती है। **पत्र**-गोल, दन्तुरधार तथा सूक्ष्मरोमश होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-गोल बड़े मटर या जंगली बेर के सदृश होता है। यह कच्ची अवस्था में हरा और कषाय; अर्धपक्व फल रक्ताभ और खट्टा तथा पकने पर बैंगनी रंग का और मधुराम्ल होता है।

जाति—इसकी दो जातियाँ फलभेद से होती हैं:—(१) एक जाति का फल सरस, कच्चे में अम्ल और पकने पर मधुराम्ल होता है। (२) दूसरी जाति का फल अल्परस, कच्चे में मधुराम्ल और पकने पर मधुर होता है। यूनानी वैद्यक में प्रथम जाति को 'फालसा शर्बती' और दूसरी जाति को 'फालसा शकरी' कहते हैं। अम्लवर्ग में प्रथम जाति का और मधुर स्कन्ध में द्वितीय जाति का फल लेना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में अम्ल, शर्करा आदि तथा त्वक् में पिच्छिल द्रव्य होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, अम्ल, कषाय।

विपाक—(कच्चा)-अम्ल; (पका)-मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर, स्निग्ध और शीत होने के कारण वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्ती और कलिकायें पूतिस्फोटशमन हैं। छाल वेदनास्थापन है। मूल का लेप गर्भाशयसंकोचक है। फल शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन है। कच्चा फालसा दीपन, ग्राही और यकृदुत्तेजक है तथा पका फालसा तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, विरेचनोपग है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—इसकी छाल मूत्रल, दाहप्रशमन, स्नेहन तथा इक्षुमेहनाशन है।
प्रजननसंस्थान—यह वृष्य है।
तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—मधुरविपाक होने से वल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों और कलिकाओं का लेप पूतिस्फोटों पर करते हैं। छाल का लेप आमवात आदि में करते हैं। मूल का लेप योनि या मूढगर्भ में करते हैं। फल के क्वाथ से गले के रोगों में गंडूष करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि में इसका प्रसिद्ध प्रयोग है। कच्चे फल को अग्निमांद्य, अतिसार-प्रवाहिका और यकृद्विकारों में देते हैं। पका फल तृष्णा, वमन में तथा विरेचन द्रव्यों के साथ दिया जाता है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में उपयोगी है। आमवात में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं।
श्वसनसंस्थान—हिक्का और श्वास रोग में लाभकर है।
मूत्रवहसंस्थान—इसकी छाल का फाण्ट मूत्रकृच्छ्र, रक्तमूत्रता, मूत्रदाह तथा इक्षुमेह में देते हैं।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—ज्वर में विशेषतः तृष्णा-छर्दि-दाह आदि वातपैत्तिक उपद्रवों से युक्त होने पर इसके प्रयोग से लाभ होता है।
सात्मीकरण—क्षय, दौर्बल्य में यह उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—फल, त्वक्।
मात्रा—स्वरस १-२ तो०; फाण्ट १-२ तो० (त्वक् का)

× × × ×

**'परूषकं कषायाम्लमामं पित्तकरं लघु। तत्पक्वं मधुरं पाके शीतं विष्टम्भि बृंहणम्॥
हृद्यं तु पित्तदाहास्रज्वरक्षयसमीरहृत्।'** (भा. प्र.)
'परूषकं मधूकं च वातपित्ते च शस्यते।' (च. सू. ३७)
**'अत्यम्लमीषन्मधुरं कषायानुरसं लघु। वातघ्नं पित्तजननमामं विद्यात् परूषकम्॥
तदेव पक्वं मधुरं वातपित्तनिबर्हणम्।'** (सु. सू. ४६)
'द्राक्षासिताक्षौद्रपरूषकैः स्याच्छुद्धे तु पित्तापहमन्नपानम्।' (च. चि. २६)
'परूषकशिफालेपः स्थिरामूलकृतोऽथवा। नाभिबस्तिभगाद्येषु मूढगर्भापकर्षणः॥' (शो.)

१५८. कर्मरङ्ग

परिचय

कुल—चांगेरी-कुल (जिरेनिएसी-Geraniaceae)।
नाम—लै०-एवरोआ करम्बोला (Averrhoa Carambola); सं०-कर्मरंग, पीतफल, शिराल, धाराफल; हि०-कमरख; बं०-कामरांगा; म०-करमल; गु०-कमरख;

ता०-तामरे तामाराम्; ते०-करमण्ग; अं०-चाइनीज गूजबेरी (Chinese Goosebery)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २५-३० फुट ऊँचा होता है। शाखायें सघन होती हैं। **पत्र**-अंडाकार हरफारेवड़ी के सदृश होते हैं। **पुष्प**-गुच्छों में श्वेतवर्ण किंचित् रक्ताभ होते हैं। **फल**-४-५ धार वाले होते हैं। ये कच्चे में हरे तथा पकने पर पीले हो जाते हैं। फल के बीच में लम्बे और चपटे बीज होते हैं। वर्षा के अन्त में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—इसकी अम्ल और मधुर दो जातियाँ होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में होता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह अमेरिका से फिरंगियों द्वारा भारत में प्रविष्ट हुआ है।

रासायनिक संघटन—पके फल में सरस मज्जा होती है जिसमें ऑक्जेलिक एसिड अधिक परिमाण में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—अम्ल, मधुर, कषाय।

विपाक—अम्ल (कच्चा), मधुर (पका)। **वीर्य**—शीत (पका), उष्ण (कच्चा)।

कर्म

दोषकर्म—कच्चा फल उष्ण होने से कफ तथा वात का शमन करता है। पक्व फल माधुर्य एवं शैत्य के कारण पित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—पका फल मधुर-कषाय-शीत होने से शोणितास्थापन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—मधुरशीत होने से पका फल बलकारक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है। पका फल पैत्तिक विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—तृष्णा, अरुचि, अग्निमांद्य, ग्रहणी, रक्तार्श में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त, स्कर्वी आदि में यह प्रशस्त माना जाता है।

तापक्रम—ज्वर, दाह में इसका पानक या स्वरस देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—स्वरस १-२ तो०।

× × × ×

'कर्मरंगं हिमं ग्राहि स्वाद्वम्लं कफवातहृत् ॥' (भा. प्र.)

'कर्मारकोऽम्ल उष्णश्च वातहृत् पित्तकारकः। पक्वस्तु मधुराम्लः स्यात् बलपुष्टिरुचिप्रदः ॥'
(रा. नि.)

१५६. तिन्तिडीक

परिचय

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-रस पार्विफ्लोरा (Rhus Parviflora) सं०-तिन्तिडीक; हि०-समाकदाना; पं०-खट्टे मसर; अ०-सुमाक।

स्वरूप—इसके मध्यमप्रमाण के **वृक्ष** होते हैं। **फल**—मसूर के दोनों के सदृश आकृति और वर्ण में होते हैं। फलत्वचा को यूनानी वैद्य 'गिर्द सुमाक' या 'पोस्त सुमाक' के नाम से प्रयोग में लाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर भारत विशेषतः हिमालय प्रदेश में २-५ हजार फुट की ऊँचाई तक तथा नेपाल से कुमाऊँ तक मिलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—अम्ल।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—कच्चा सुमाकदाना अम्ल होने से वातशामक तथा कफपित्तवर्धक होता है। पका फल शीत होने से पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोणितास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह रूक्षता के कारण मूत्र को कम करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कच्चा फल वातव्याधि में तथा पका फल पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दन्तदौर्बल्य तथा दन्तशूल में इसके फाण्ट से कुल्ला कराते हैं और मंजनों में डालते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसको नेत्रों में डालते हैं। शोथ में इसका लेप करते हैं। पीनस रोग में इसका लेप शिर में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, तृष्णा, वमन, अग्निमांद्य, रक्तातिसार, प्रवाहिका आदि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त, रक्तप्रदर आदि में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—बहुमूत्र में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—दाहतृष्णायुक्त ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—३-५ माशे।

× × × ×

'वातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत्।' (सु. सू. ४६)

१६०. लोणिका

परिचय

कुल—लोणिका-कुल (पोर्टुलेकेसी-Portulacaceae)।

नाम—लै०-पोर्टुलेका ओलिरेसिया (Portulaca oleracea); सं०-लोणिका; हि०-कुल्फा, नोना; म०-मोठी घोल; गु०-म्होटी लुणी; फा०-खुर्फा ।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं:—(१) बृहत्, (२) लघु। बृहत् लोणिका के नाम ऊपर दिये गये हैं। लघु लोणिका के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

हि०-नोनिया, नोनी; म०-घोल; गु०-लुणी; ता०-पच्चिरि; लै०-पोर्टुलेका क्वैड्रिफिडा (Portulaca Quadrifida)।

स्वरूप—बृहत् लोणिका का **क्षुप** सरस और वर्षायु लगभग ६-१२ इञ्च लंबा होता है। इसका रंग हरा या रक्ताभ होता है। **पत्र**–छोटे, गोलाकार और मांसल होते हैं। **पुष्प**–पीतवर्ण होते हैं जो प्रातःकाल प्रस्फुटित होते हैं। बीजकोष में अनेक काले रंग के बीज होते हैं। वर्षा में पुष्प तथा शीत में फल होते हैं।

लघु लोणिका जमीन पर फैलने वाली होती है। शाखायें पतली होती हैं और इसकी प्रत्येक ग्रंथि से मूल निकल कर पृथ्वी के भीतर चली जाती हैं। इनका रंग रक्ताभ हरित होता है। **पुष्प**–पीतवर्ण तथा बीज छोटे होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में होता है। लंका में प्रचुर परिमाण में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में पोटाशियम ऑक्जलेट और म्युसिलेज होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—मधुर, लवण (क्षार)।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है। वात का वर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक, विष्टम्भी और भेदन है। इसके बीज पिच्छिल और स्नेहन हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तशामक और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल और मूत्रमार्ग का स्नेहन एवं शोथहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफ और पित्त के विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दग्ध, व्रणशोथ, दाह, शिरःशूल आदि में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, अर्श और विबन्ध में लाभकर है। इसके बीज प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त एवं शोथ में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, वृक्कशोथ, मूत्राशयशोथ, पूयमेह, रक्तमूत्रता आदि में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग, पत्र, बीज।

मात्रा—स्वरस १-२ तो०; चूर्ण १-३ मा०।

× × × ×

'शाकं गुरु च रूक्षं च प्रायो विष्टभ्य जीर्यति। मधुरं शीतवीर्यं च पुरीषस्य च भेदनम्॥'
स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढ्यं तत्प्रशस्यते।' (च. सू. २७)
'स्वादुपाकरसः शीताः कफघ्ना नातिपित्तलाः। लवणानुरसा रूक्षाः सक्षारा वातलाः सराः॥' (सु. सू. ४६)

दीपन

१६१. अतिविषा

परिचय

गण—अर्शोघ्न, लेखनीय (च०); पिप्पल्यादि, वचादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)

नाम—लै०-एकोनाइटम हेट्रोफाइलम् (Aconitum Heterophylum); सं०-अतिविषा (अतिक्रान्ता विषम्-विषवर्ग की होने पर भी निर्विष); शुक्लकन्दा (श्वेत कन्दवाली); भंगुरा (शीघ्र आसानी से टूट जाने वाली); घुणवल्लभा (इसमें घुन बहुत जल्दी लगता है); काश्मीरा (ऊँचे पार्वत्य प्रदेश-विशेषतः काश्मीर में होने वाली), शिशुभैषज्या (बालरोगों में विशेष प्रशस्त), हि०-अतीस; म०-गु०-अतिविष; बं०-आतईच; पं०-पतीस, वतीस; ता०-अतिविदयम्; ते०-अतिबासा; फा०-बज्जितुरकी।

स्वरूप—इसका **क्षुप** २-४ फुट ऊँचा होता है। **कांड**-सरल और शाखायें चपटी होती हैं। **पत्र**-२-४ इंच लंबे, अंडाकार या हृदयाकार होते हैं। नीचे के पत्र बड़े और प्रायः पाँच विच्छेदों से युक्त होते हैं तथा ऊपर के पत्र छोटे और दन्तुरधार होते हैं। **पुष्प**-नील या हरित नील होते हैं जिनमें आभ्यन्तर पुट का एक दल सबसे बड़ा और फणाकार होता है। **फल**-पंचकोषीय होता है। **मूल**-द्विवर्षायु होता है जिसमें दो कन्द होते हैं एक पिछले वर्ष का और दूसरा नये साल का। ये कन्द लंबगोल, ऊपर से भूरे, तोड़ने पर भीतर श्वेत और बीच में ४-५ विन्दुओं से युक्त और लगभग १-२ इंच लंबे होते हैं।

जाति—मदनविनोद में इसकी चार जातियाँ-श्वेत, पीत, रक्त और कृष्ण-तथा राजनिघण्टु में तीन जातियाँ-श्वेत, रक्त और कृष्ण-बतलाई गई हैं। संप्रति व्यवहार में केवल श्वेत जाति ही उपलब्ध है।

उत्पत्तिस्थान—हिमालयप्रदेशों में ६-१२ हजार फीट की ऊँचाई पर सिन्ध से कुमाऊँ तक होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें अतीसिन (Atisine) नामक अस्फटिकीय, अतितिक्त और निर्विष क्षारतत्त्व; एकोनाइटिक एसिड (Aconitic acid), टैनिक

अम्ल, पेक्टीन, प्रचुर स्टार्च, वसा; ओलिक, पामिटिक तथा स्टियरिक ग्लिसराइडों का मिश्रण, औद्भिद पिच्छिल द्रव्य, इक्षुशर्करा और क्षार २% होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है; किन्तु अतितिक्त होने के कारण विशेषतः कफपित्त-शामक है। उष्णता से वात की शान्ति भी करता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तिक्त, कटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन, छर्दिनिग्रहण, ग्राही, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह पित्तशामक होने से रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह तिक्त होने से स्तन्यशोधन तथा उष्ण होने से वाजीकरण है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह रूक्ष होने से लेखन और तिक्त होने से कटुपौष्टिक है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः कफ-पित्त के रोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आमदोष, छर्दि, ज्वरातिसार, अतिसार, अर्श और कृमि में यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों में तथा आभ्यन्तर रक्तस्राव को रोकने के लिए दिया जाता है। शोथ रोग में भी प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय और कास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यविकार तथा क्लैब्य में यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में विशेषतः नियतकालिक ज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं। विषमज्वर को रोकने के लिए इसे ३ माशे की मात्रा में देते हैं।

सात्मीकरण—यह मेदोधातु को कम करता है इसलिए मेदोरोग में प्रयुक्त होता है। कटुपौष्टिक होने से ज्वर या अतिसार के बाद हुई दुर्बलता में इसका प्रयोग लाभप्रद है। मूषिक आदि विषों में देते हैं।

वक्तव्य—बालरोगों (ज्वर, कास, छर्दि, अतिसार आदि) में यह विशेष प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल (कन्द)।

मात्रा—५–३० रत्ती।

विशिष्ट योग—अतिविषादि चूर्ण, बालचतुर्भद्रा।

विषाक्त लक्षण—५–६ माशे की मात्रा में देने पर इससे गलशोष, कम्प आदि वातिक लक्षण प्रकट होते हैं। अतिमात्रा में विषाक्त लक्षण उत्पन्न करने के कारण इसे 'विषा' भी कहा गया है।

शोधन—गोमयरस में स्वेदन करने के बाद धोकर धूप में सुखा लेने से शुद्ध हो जाता है।

× × × ×

'विषा त्वतिविषा विश्वा शृंगी प्रतिविषारुणा। शुक्लकन्दा चोपविषा भंगुरा घुणवल्लभा॥
विषा सोष्णा कटुस्तिक्ता दीपनी पाचनी हरेत्। कफपित्तातिसारामविषकासवमिक्रिमीन्॥'
(भा. प्र.)

'त्रिविधातिविषा ज्ञेया शुक्ला कृष्णा तथारुणा। रसवीर्यविपाकेषु निर्विशेषा गुणेऽधिका॥
अतिविषा शुक्लकन्दा ज्ञेया विश्वा च भंगुरा। मृद्वी च शिशुभैषज्या विषरूपा महौषधिः॥
शोफापहाऽतिसारघ्नी शुक्लकन्दा च सा स्मृता।' (नि. सं.)

'अतिविषा दीपनीयपाचनीयसंग्राहकसर्वदोषहराणाम्।' (च. सू. २५)

'विषात्रयं त्रिदोषघ्नं पाचनं ग्राहि तिक्तकम्। बालानां सर्वदा पथ्यं वमिशोथविमर्दनम्॥'
(शो.)

'कासज्वरच्छर्दिभिरर्दितानां समाक्षिकां चातिविषां तथैकाम्।' (शो.)

'घुणप्रियाऽतिसारघ्नी बालानां रोगनाशिनी।' (ध. नि.)

१६२. प्रतिविषा

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी–Ranunculaceae)

नाम—लै०-एकोनाइटम पामेटम (Aconitum Palmatum); सं०-प्रतिविषा (निर्विष); श्यामकन्दा (श्याम वर्ण कन्दवाली); हि०-विखमा, वख्मा; म०-वख्मा; गु०-वख्मो।

स्वरूप—यह अतीस के समान ही होता है किन्तु इसके मूल अधिक लम्बे (लगभग १–४ इञ्च), कम मोटे और कठिन होते हैं। ऊपर से इनका वर्ण श्याम किन्तु भीतर अरुण या पीताभ होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पूर्वी हिमालय में नेपाल से सिक्किम तक १०–१६ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें अतिसिन (Atisine) नामक क्षारतत्व होता है।

वक्तव्य—प्राचीन निघण्टुकारों ने इसे अतिविषा की ही एक जाति माना है। **'श्यामकन्दा प्रतिविषा विरूपा घुणवल्लभा'** (नि. सं.), **'प्रतिविषारुणा'** (भा. प्र.), **'अतिविषा शुक्लकन्दाऽपरा प्रतिविषा विषा'** (कै. नि.) आदि वचन इसीका संकेत करते हैं।

गुण-कर्म

इसके गुण कर्म अतीस के समान हैं। विशेष कर यह वातघ्न, दीपन, पाचन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न और ज्वरघ्न है।

प्रयोग

अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, आध्मान, अतिसार, विसूचिका, जीर्ण ज्वर और कृमि में इसका विशेष प्रयोग होता है। आमवात आदि में इसका लेप करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल (कन्द)।

मात्रा—२–५

'श्यामकन्दा प्रतिविषा विरूपा घुणवल्लभा' (नि. सं.)
'अंकोटस्य त्रयोभागाः भागश्चैकोऽरुणाभवः। तण्डुलोदकसंपीतः सर्वकुष्ठ्यामयापहः॥' (वं.से.)

१६३. कलम्बा

परिचय

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी-Menispermaceae)।

नाम—लैं०-जैटिओराइजा पामेटा (Jateorhisa Palmata); म०-कलम-काचरी; गु०-कुलम्बो; अं०-कैलम्बा रूट (Calamba Root)।

स्वरूप—इसकी लता गुडूची के समान होती है। इसके मूल गोल टुकड़ों में काट कर सुखाने के बाद बाजारों में आते हैं। इनका बाहरी भाग पीताभ, स्थूल और अनेक रेखाओं से युक्त होता है। भीतरी भाग झुर्रीदार और भूरा होता है। इसका मध्यभाग कुछ दबा होता है। इनका चूर्ण आसानी से हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह अफ्रीका के मोजाम्बिक और मैडागास्कर प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें बर्बेरिन के समान पीत वर्ण, स्फटिकीय तीन क्षार-तत्त्व—(१) कोलम्बेमिन (Columbamine); (२) पामेटिन (Palmatine); (३) जैटिओराइजिन (Jateorhizine); एक वर्णरहित स्फटिकीय तिक्त सत्त्व-कोलम्बिन (Columbine); कोलम्बिक एसिड (Columbic Acid); स्टार्च, पिच्छिल द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तिक्त उष्ण होने से दीपन, पाचन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तवर्धक और रक्तशोधक है।

तापक्रम—यह तिक्त होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह तिक्त होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, यकृद्विकार और कृमिरोग में यह लाभकर है। कृमि में इसके क्वाथ की बस्ति भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्ताल्पता तथा रक्तविकारों में देते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वरों में यह उपयोगी है। इससे ज्वर दूर होता है तथा यकृत् की क्रिया सुधरती है और शरीर का बल बढ़ता है।

सात्मीकरण—ग्रहणी या ज्वर के बाद उत्पन्न दुर्बलता में यह विशेष लाभ करता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—५-१५ रत्ती।

१६४. चित्रक

परिचय

गण—दीपनीय, तृप्तिघ्न, शूलप्रशमन, भेदनीय, अर्शोघ्न, लेखनीय, कटुकस्कन्ध; (च०); पिप्पल्यादि, मुस्तादि, आमलक्यादि, मुष्ककादि, वरुणादि, आरग्वधादि (सु०) पञ्चकोल, षड्रूषण (भा. प्र.)।

कुल—चित्रक-कुल (प्लम्बेजिनेसी-Plumbaginaceae)।

नाम—लै०-प्लम्बेगो जिलेनिका (Plumbago Zeylanica); सं०-चित्रक, अग्नि (तीक्ष्ण आग्नेय); हि०-चीता; बं०-चिता; म०-चित्रमूल; गु०-चित्रो; ता०-चित्तिर; ते०-तेलचित्र; अ०-शीतरज; फा०-शीतरः; अं०-लेडवर्ट (Leadwort)

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप ४-६ फुट ऊँचा होता है। **कांड**-गोल पतला, ग्रन्थियुक्त और कोमल होता है। **पत्र**-एकान्तर, लम्बे-गोले, बेला के सदृश, लगभग ३ इञ्च लम्बे और १½ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्पदण्ड**-४-१२ इञ्च लम्बा, अनेक शाखा-युक्त होता है जिस पर श्वेतवर्ण, निर्गन्ध पुष्प गुच्छों में लगे रहते हैं। **फल**-शिम्बी के आकार के लम्बगोल, आवरणयुक्त होते हैं। बीज लम्बा प्रत्येक फल में एक होता है। **मूल**-अंगुलिवत् मोटे, शतावर के सदृश गुच्छों में अनेक होते हैं। येभं गुरु, ऊपर से अरुणाभ और भीतर श्वेत होते हैं। शीतकाल में पुष्प लगते हैं। फल पकने में एक मास लगता है।

जाति—निघण्टुओं में पुष्पभेद से इसकी चार जातियों का उल्लेख मिलता है:—श्वेत, पीत, रक्त और कृष्ण। व्यवहार में सम्प्रति श्वेत और रक्त चित्रक उपलब्ध हैं। श्वेत का वर्णन ऊपर किया गया है। रक्त चित्रक का लैटिन नाम प्लम्बेगो रोजिया (Plumbago Rosea) है। इसका पुष्प रक्ताभ तथा काण्ड भी कुछ रक्ताभ होता है। रक्त चित्रक अधिक गुणकारी है किन्तु दुर्लभ है।

उत्पत्तिस्थान—श्वेत चित्रक विशेषतः बंगाल, उत्तरप्रदेश, दक्षिणभारत तथा लङ्का में होता है। रक्त चित्रक खासिया पहाड़, सिक्किम, कूचविहार में अधिक मिलता है।

रासायनिक संघटन—मूल में एक कटु, स्फटिकीय, पीत, सूच्याकार तत्त्व होता है जिसका नाम प्लम्बेजिन (Plumbagin) है। यह अधिक से अधिक ०.९१ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण उष्ण होने के कारण यह लेखन और विस्फोट-जनन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अल्पमात्रा में उत्तेजक तथा अतिमात्रा में देने से यह मादक है।

पाचनसंस्थान—यह कटु, उष्ण तथा तीक्ष्ण होने से दीपन, पाचन, पित्तसारक, ग्राही और कृमिघ्न होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तकोपक है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—यह तीव्र गर्भाशयसंकोचक तथा गर्भस्रावकर है। जननेन्द्रियों को उत्तेजित करने से वाजीकरण भी है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है और त्वचा के रोगों को नष्ट करता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—श्लीपद, शोथ तथा श्वित्र आदि चर्मविकारों में लेप करने से विस्फोट उत्पन्न होते हैं और फूटने पर विकार बाहर निकल जाता है। आमवात आदि रोगों में भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में इसका प्रयोग होता है

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, यकृद्विकार, ग्रहणी, अर्श तथा कृमिरोगों में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ में लाभकर है। विशेषतः यकृत्प्लीहा और गुदा के शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण प्रतिश्याय तथा कास में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, प्रसूतिविकार तथा मक्कल्लशूल में इसका प्रयोग करते हैं। इससे दूषित रक्त बाहर निकल जाता है और तज्जन्य उपद्रव शान्त होते हैं। ध्वजभङ्ग में भी इसका बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ, श्वित्र आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्ण तथा विषम ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है। यकृत् की क्रिया सुधरती है। प्लीहा का काठिन्य दूर होता है और पाचन सुधरने से स्वास्थ्य में वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक् (नई काम में लानी चाहिए)।

मात्र—२-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—चित्रकादि गुटिका, चित्रकहरीतकी, चित्रकघृत, चित्रकादि चूर्ण।

विषाक्त लक्षण—अधिकमात्रा में देने पर यह क्षोभक और मादक विष है। इससे गला, आमाशय और समस्त शरीर में दाह होता है, जी मिचलाता है, वमन और अतिसार होता है, मूत्रकृच्छ्र होता है, नाडी क्षीण और वक्र हो जाती है, त्वचा अवसन्न और शीतल हो जाती है। गर्भावस्था में देने से श्रोणिप्रदेश में स्थित अवयवों में दाह होता है और अतिसार होने लगता है। मूत्र बूँद-बूँद कर आने लगता है, गर्भाशय से

रक्तस्राव होने लगता है और गर्भाशय का संकोच तीव्र होने से ३-६ घण्टे में गर्भपात हो जाता है।

चिकित्सा—पित्तशामक स्निग्धशीत योगों का व्यवहार करते हैं।

× × × ×

'चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत् पाचनो लघुः। रूक्षोष्णो ग्रहणीकुष्ठशोथार्शः कृमिकासनुत्॥'
वातश्लेष्महरो ग्राही वातार्शःश्लेष्मपित्तहृत्।' (भा. प्र.)
'चित्रकोऽग्निसमः पाके कटुकः कफशोफजित्। वातोदरार्शोग्रहणीकृमिपाण्डुविनाशनः॥'(ध.नि.)
'चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणाम्।' (च. सू. २५)
'यथास्वं चित्रकः पुष्पैः ज्ञेयः पीतसितासितैः। यथोत्तरं स गुणवान् विधिना च रसायनम्॥
छायाशुष्कं ततो मूलं मासं चूर्णीकृतं लिहन्। सर्पिषा मधुसर्पिर्भ्यां पिबन् वा पयसा यतिः॥
अम्भसा वा हितान्नाशी शतं जीवति नीरुजः। मेधावी बलवान् कान्तो वपुष्मान् दीप्तपावकः॥
तैलेन लीढो मासेन वातान् हन्ति सुदुस्तरान्। मूत्रेण श्वित्रकुष्ठानि पीतस्तक्रेण पायुजान्॥
(वा. उ. ३९)

१६५. मरिच

परिचय

गण—दीपनीय, शूलप्रशमन, कृमिघ्न, शिरोविरेचन (च०); पिप्पल्यादि, त्र्यूषण (सु०)।

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी-Piperaceae)।

नाम—लै०-पाइपर नाइग्रम (Piper Nigrum); सं०-मरिच, वेल्लज (लताओं में होने वाला); कृष्ण (फल कृष्णवर्ण); ऊषण (उष्ण और कटु), सुवृत्त (फल गोलाकार); हि०-काली मिर्च, गोल मिर्च, मिरिच; बं०-गोलमरिच; म०-मिरीं; गु०-मरी, कालामरी; ता०-मिलगू; ते०-मिरियालू; अ०-फ़िल्फ़िल् अस्वद; फा०-फ़िल्फ़िल् स्याह, अं०-ब्लैक पीपर (Black Pepper)।

स्वरूप—इसकी मोटी वृक्षारोही **लता** होती है जो नारियल, सुपाड़ी आदि के वृक्षों पर चढ़ी रहती है। इसकी शाखाओं की ग्रन्थियों से मूल बाहर निकलते हैं जिनके द्वारा यह वृक्षों पर चिपकी रहती है। **पत्र**—ताम्बूलाकार ५-७ इञ्च लंबे, २-५ इञ्च चौड़े होते हैं तथा इनके पृष्ठभाग में पाँच सिरायें होती हैं। **पुष्प**—छोटे और एकलिंगी होते हैं जिनमें परागण की क्रिया वायु द्वारा होती है। **फल**—गोल और गुच्छों में होते हैं। ये कच्चे में हरे और पकने पर रक्तवर्ण तथा सूखने पर कृष्णवर्ण हो जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प तथा वर्षा में फल आते हैं।

जाति—कुछ निघण्टुकार इसकी एक जाति 'श्वेत मरिच' मानते हैं। कैयदेव निघंटु के टीकाकार ने लिखा है कि—'मरिच का एक भेदविशेष है जो आर्द्र एवं शुष्क अवस्था में श्वेत रहता है, इसे श्वेतमरिच कहते हैं।' (पृ० ३६९)। राजनिघण्टु ने शिग्रु बीज को श्वेतमरिच कहा है। वस्तुतः, संप्रति व्यवहार में कालीमिर्च के पके फलों को पानी में भिंगों, ऊपर का छिलका उतार कर सफेद मिर्च के नाम से बेचते हैं। छिलका हटाये जाने के कारण इसमें कटुता और तीक्ष्णता कम होती है।

कुछ विद्वान् उत्पत्तिस्थान की दृष्टि से इसके दो भेद करते हैं। (१) पूर्वी, (२) दक्षिणी।

उत्पत्तिस्थान—यह मलाया, सिंगापुर, कूचबिहार, आसाम, मलाबार और कोंकण प्रदेश में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—फलत्वक् में पाइपरिन (Piperine) नामक उड़नशील क्षारतत्त्व ५ ९%, पाइपरिडिन (Piperidine) ५%, सुगंधित उडनशील तैल १-२% तथा वसा ७% होते हैं। फलमज्जा में चविकिन (Chavicin) नामक कटु राल; उड़नशील तैल, स्टार्च, गोंद, स्नेह १%, प्रोटीड ७% तथा क्षार ५% होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

ताजा (आर्द्र) फल गुरु, मधुरविपाक और नात्युष्ण है।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से वात का तथा कटु, रूक्ष और तीक्ष्ण होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए उत्तेजक और बल्य है।

पाचनसंस्थान—तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह लालास्रावजनक, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कटु और तीक्ष्ण होने से कफघ्न और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण मूत्रेन्द्रिय को उत्तेजित करता है, फलतः इससे मूत्र का परिमाण बढ़ता है।

प्रजननसंस्थान—यह उत्तेजक और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः नियतकालिक-ज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है तथा तीक्ष्णता के कारण यह शरीर के समस्त स्रोतों से मलों को बाहर निकालने में सहायक होता है। अत एव यह 'प्रमाथी' द्रव्यों में प्रधान माना गया है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—श्वित्र, किलास, पामा आदि चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं या तैल में मिला कर लगाते हैं। शोथ-वेदना युक्त विकारों में भी लेप करते हैं। फुंसियों पर लेप करने से बैठ जाती हैं। नक्तान्ध्य, अर्म, शुक्र आदि में मरिच को मधु में घिस कर अंजन करते हैं। दन्तशूल तथा दन्तकृमि में इसका मञ्जन करते हैं या इसके क्वाथ से गंडूष करते हैं। गले के रोगों में भी इसका गंडूष करते हैं या इसको मुँह में रख कर चूसते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा अन्य वातविकारों में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, आध्मान, शूल एवं कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभंग और रजोरोध में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में, विशेषतः शीतज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे शैत्य का कष्ट कम होता है और ज्वर भी घटता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—३-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—मरिचादि गुटिका, मरिचादि तैल, मरिचादि चूर्ण, मरिचाद्य घृत।

× × × ×

'मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित्। उष्णं पित्तकरं रूक्षं श्वासशूलकृमीन् हरेत्॥
तदार्द्रं मधुरं पाके नात्युष्णं कटुकं गुरु। किञ्चित्तीक्ष्णगुणं श्लेष्मप्रसेकि स्यादपित्तलम्॥'
(भा. प्र.)

'स्वादुपाक्यार्द्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च। कटूष्णं लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित्॥
नात्युष्णं नातिशीतं च वीर्यतो मरिचं सितम्। गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यं च विशेषतः॥
(सु. सू. ४६)

'नात्यर्थमुष्णं मरिचमवृष्यं लघु रोचनम्। छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च दीपनं कफवातजित्॥'
(च. सू. २७)

'लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्। सर्वकासहरं श्रेष्ठं लेहं कासार्दितो नरः॥'
(च. चि. २२)

'मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः।' (च. सू. ३)

१६६. जीरक

परिचय

गण—शूलप्रशमन, शिरोविरेचन (च०), पिप्पल्यादि (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-क्युमिनम् साइमिनम् (Cuminum Cyminun); सं०-जीरक, जरण (पाचन), अजाजी, दीर्घजीरक (बीज बड़े होने से); हि०-जीरा, सफेद जीरा; बं०-जीरे; म०-जिरें; गु०-जीरुं; ता०-चीरकम्; ते०-जीलकरी; अ०-कम्मून, अब्यज; फा०-जीरए सफेद; अं०-क्युमिन सीड (Cumin seed)।

वक्तव्य—संस्कृत में 'जीरक' शब्द से श्वेत जीरक का ग्रहण किया जाता है।

स्वरूप—इसका क्षुप सौंफ के सदृश १-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-पक्षाकार, छोटे होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-लम्बे, श्वेत धूसर वर्ण होते हैं। शीतकाल के अन्त में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है। विशेष कर राजस्थान, पंजाब आदि प्रदेशों में होता है। एशिया माइनर और फारस से भी आता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल (थाइमिन-Thymene)

३·५ से ५·२ प्रतिशत तक होता है जिसके कारण इसका स्वाद और गन्ध होती है। इसमें कार्वोन (Carvone) नामक तत्त्व होता है जिसमें ५६ प्रतिशत क्युमिनॉल या क्युमिक अलडिहाइड (Cuminol or cumic aldehyde) रहता है। इसके अतिरिक्त बीजों में स्थिर तैल, राल, पिच्छिल द्रव्य, निर्यास, प्रोटीन के यौगिक तथा मैलेट होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप लेखन, शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, शूल-प्रशमन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक और रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ को दूर करता है तथा स्तन्यजनन है। उष्ण होने से वृष्य भी है।

त्वचा—त्वग्दोषों को दूर करता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक के रूप में कार्य करता है और क्रमशः बल की वृद्धि करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त स्थानों में जीरा का लेप करते हैं। त्वचा के वर्णविकारों तथा कंडू, पामा आदि रोगों में इसका लेप करते हैं तथा इसके पानी से धोते हैं। अर्श में भी इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों में इसका महीन चूर्ण सुरमे की तरह लगाते हैं। वृश्चिक विष में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदर शूल, ग्रहणी, अर्श एवं कृमि रोगों में यह उपयोगी है। इन रोगों में जीरा भून कर उसका चूर्ण मधु से देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात, पूयमेह तथा अश्मरी में जीरे का चूर्ण चीनी या मिश्री के साथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—श्वेतप्रदर में तथा वाजीकरणार्थ इसका प्रयोग होता है। स्तन्य वर्धनार्थ गुड़ के साथ जीरे का चूर्ण खिलाते हैं। प्रसूता स्त्रियों को गर्भाशय विशोधन, स्तन्यजनन, बलवर्धन आदि कर्मों के लिए इसका सेवन कराते हैं।

त्वचा—यह चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—नवीन तथा पुराण ज्वरों में, विशेषतः वातप्रधान में इसका चूर्ण देते हैं।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में बलवृद्धयर्थ इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—३-६ माशे।

विशिष्ट प्रयोग—जीरकादि मोदक, जीरकाद्य चूर्ण, जीरकाद्य तैल, जीरकाद्यरिष्ट।

× × × ×

'जीरकं कटुकं रूक्षं वातकृद्दीपनं परम्। गुल्माध्मानातिसारघ्नं ग्रहणीकृमिहृत् परम्॥ (ध. नि.)

'तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्धनम्। कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम्॥ (सु. सू. ४६)

'शुभ्रजीरं कटु ग्राहि पाचनं दीपनं लघु। किञ्चिदुष्णं च मधुरं चक्षुष्यं रुचिकृन्मतम्॥
गर्भाशयशुद्धिकरं रूक्षं बल्यं सुगन्धिकम्। तिक्तं वमिक्षयाध्मानं वातं कुष्ठं विषं ज्वरम्।
अरोचकं रक्तदोषं अतिसारं कृमींस्तथा। पित्तं च गुल्मरोगं च नाशयेदिति कीर्तितम्॥ (नि. र.)

'अजाजी गुडसंयुक्ता विषमज्वरनाशिनी। अग्निसादं जयेत् सम्यग् वातरोगांश्च नाशयेत्॥ (च. द.)

'जीरकस्य कृतः कल्को घृतसैन्धवसंयुतः। सुखोष्णो वृश्चिकार्त्तानां सुखलेपो व्यथापहः॥ (च. द.)

१६७. कृष्णजीरक

परिचय

कुल—शतपुष्पा-कुल-(अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-कैरम कार्वी-(Carum Carvi)। सं०-कृष्णजीरक, जरणा, काश्मीरजीरक (काश्मीर में होने के कारण)। हि०-स्याहजीरा; बं०-शाजीरा; म०-शहाजिरें; गु०-शाहजीरूँ; ता०-शिमाईशिरागाम; ते०-शीमा-जिलाकार; अ०-कम्मून अस्वद; फा०-जीरए स्याह; अं०-ब्लैक क्युमिन (Black Cumin)।

वक्तव्य—जिस प्रकार संस्कृत में 'जीरक' शब्द से 'श्वेत जीरक' का ग्रहण होता है उसी प्रकार अरबी में केवल कम्मून शब्द कृष्णजीरक का वाचक है।

स्वरूप—इसका **क्षुप** २-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-कटे हुए, सूत्रवत्, लम्बे होते हैं। **पुष्प**-छत्राकार होते हैं। **बीज**-कृष्णाभ, श्वेत जीरक से छोटे, पतले और सुगन्धित होते हैं। सम्प्रति बाजारों में गाजर, सोये आदि के बीज रङ्ग कर कृष्ण जीरक के नाम से बेचते हैं। इनमें गन्ध बिलकुल नहीं होती।

उत्पत्तिस्थान—यह काश्मीर, गढवाल, सीमाप्रान्त, अफगानिस्तान और ईरान में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल होता है जिसके कारण तीक्ष्ण गन्ध होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह दुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, ग्राही और उत्तम वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयशोधन तथा स्तन्यजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—मुखदुर्गन्ध, अरुचि, वमन, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, आध्मान, संग्रहणी में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—प्रसूति-विकारों में गर्भाशय-शोधन, स्तन्यजनन एवं दीपन के लिए यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करने से ज्वर शान्त होता है, अग्नि बढ़ती है तथा अन्न का पाचन ठीक होने से बल की वृद्धि होती है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-३ माशे।

× × × ×

'जीरकत्रितयं रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राहि पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत्॥
ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रुच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसारहृत्॥'
(भा. प्र.)

'जरणा कटुरुष्णा च कफशोफनिकृन्तनी। रुच्या जीर्णज्वरघ्नी च चक्षुष्या ग्राहिणी परा॥'
(ध. नि.)

पाचन

१६८. मुस्तक

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण, लेखनीय, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन (च०), मुस्तादि, वचादि (सु०)।

कुल—मुस्तक-कुल (साइपरेसी-Cyperaceae)।

नाम—लै०-साइपरस् स्कैरिओसस् (Cyperus Scariosus); सं०-मुस्तक, वारिद (मेघ के सदृश श्यामवर्ण); हि०-मोथा, नागरमोथा; बं०-मुता; म०-नागरमोथा; गु०-मोथ, नागरमोथ; ता०-मुथाकच; ते०-तुंगगंदालाविम्; अ०-सोअद् कूफी; फा०-मुश्के जमीं।

जाति—मोथा की तीन जातियाँ होती हैं:—(१) नागरमुस्तक-(Cyperus Scariosus)—इसके मूल लंबे, टेढ़े और कृष्ण वर्ण होते हैं। (२) भद्रमुस्तक-(साइपरस् रोटन्डस-Cyperus Rotundus)—इसका कन्द कुछ गोलाई लिए होता है। (३) कैवर्त्तमुस्तक-साइपरस् टेन्वीफ्लोरस्-(Cyperus Tenuiflorus)—इसे हिन्दी में केवटी मोथा तथा संस्कृत में कुटन्नट, प्लव, परिपेलव आदि कहते हैं। इसका कन्द छोटा ग्रंथिसदृश होता है। यह प्रायः जलज होता है। कुछ लोग 'साधारण मुस्तक' एक चौथा भेद भी मानते हैं।

इन सब जातियों में नागरमुस्तक सर्वोत्तम माना जाता है।

स्वरूप—इसका तृणजातीय **क्षुप** १-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-लंबे घास की तरह होते हैं। **पुष्पदंड**-क्षुप के अग्रभाग से निकलता है जिसमें ऊपर की ओर १०-२० शाखा-प्रशाखायें हो जाती हैं। **फल**-लम्बे होते हैं। **मूल**—½-१ इंच मोटा, कृष्णवर्ण और सुगन्धित होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के जलीय तथा आर्द्रप्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में वसा, शर्करा, निर्यास, कार्बोहाइड्रेट, अलव्युमिन, सूत्र तथा क्षार होते हैं। इनके अतिरिक्त, एक सुगंधित तैल भी होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कटुतिक्तकषाय होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप त्वग्दोषहर, लेखन तथा स्तन्यजनन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन, पाचन, ग्राही, तृष्णानिग्रहण और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक, स्तन्यजनन और स्तन्यशोधन है।

त्वचा—यह स्वेदजन और त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कण्डू आदि त्वचा के विकारों में लेप करते हैं। स्तनों पर लेप करने से स्तनों की वृद्धि होती है और दूध बढ़ता है। नेत्र-रोगों में अंजन भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा अपस्मार में इसका कल्क गोदुग्ध से सेवन कराते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, संग्रहणी, तृष्णा और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। कृमि में बड़ी मात्रा देनी पड़ती है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, सूतिकारोग तथा स्तन्यविकारों में लाभकर है।

त्वचा—कण्डू, पामा आदि चर्मरोगों में सेवन कराते हैं।

तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है, तृष्णा आदि उपद्रव शान्त होते हैं तथा बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा अनेक विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण १–३ मा०; क्वाथ ५–१० तो०।

विशिष्टयोग—मुस्तकादि क्वाथ, मुस्तकारिष्ट, मुस्तादि चूर्ण, मुस्तादि लेह, षडंगपानीय।

× × × ×

'मुस्तं हिमं कटु ग्राहि तिक्तं दीपनपाचनम्। कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुजित्॥
अनूपदेशे यज्जातं मुस्तकं तत् प्रशस्यते। तत्रापि मुनिभिः प्रोक्तं वरं नागरमुस्तकम्॥'(भा.प्र.)
'मुस्ता तिक्तकषायातिशिशिरा श्लेष्मरक्तजित्। पित्तज्वरातिसारघ्नी तृष्णाकृमिविनाशिनी॥'
(ध. नि.)
'मुस्ता संग्राहकदीपनीयपाचनीयानाम्।' (च. सू. २५)
'क्वाथश्च मुस्तककृतः समधुः सुशीतः पीतः प्रवृद्धमतिसारगदं निहन्ति।' (वंगसेन)

१६९. मूलक

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae)।

नाम—लै०-रैफेनस सेटाइवस (Raphanus Sativus); सं०-मूलक; हि०-मूली, मुरई; बं०-मूला; म०-मुला; गु०-मुला; ता०-मुलाजी; अ०-फुज्ल; फा०-तुर्ब; अं०-रैडिश (Radish)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** छोटा, सरसों के सदृश होता है। **पत्र**—लंबे और किनारे कटे हुये होते हैं। पत्र की सिरायें रक्तवर्ण या बैंगनी रंग की होती है। **पुष्प**—बड़े, श्वेत या पीत होते हैं। **फल**—सरसों के सदृश शिम्बी के आकार का किन्तु उससे कुछ मोटा और लगभग १–२ इञ्च लंबा होता है। बीज भी सरसों से बड़े और बेडौल होते हैं।

जाति—यह दो प्रकार की होती हैः—१. लघुमूलक-इसे 'चाणक्यमूलक' भी कहते हैं। सम्भवतः यह चाणक्य-प्रदेश (मगध, मिथिला, काशी आदि) में होनी वाली 'देशी' मूली है। २. बृहत् मूलक—इसका नाम 'नेपालमूलक' भी है। यह नेपाल में अधिक होता है। इसका कन्द हाथीदाँत के समान बड़ा और लम्बा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है। हिमालय प्रदेश में भी १६ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—ताजे कन्द में ९१% प्रतिशत आर्द्रता होती है। शुष्क कन्द में ईथर एक्स्ट्रैक्ट ४%, अलब्युमिनॉयड १८%, विलेय कार्बोहाइड्रेट ५२.६६%, काष्ठभाग ९.३४% तथा क्षार १६% होते हैं। इसके मूल और बीज में एक स्थिर तैल, एक सुगन्धित तैल तथा एक उड़नशील तैल होता है। तैल में गन्धक और स्फुरकाम्ल होते हैं।

गुण

गुण—लघु (लघु मूलक); गुरु (बृहत् मूलक), तीक्ष्ण ।

रस—कटु ।

विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—लघुमूलक त्रिदोषहर तथा बृहत् मूलक त्रिदोषकर है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका स्वरस वेदनास्थापन, बीज लेखन तथा शुष्क-कन्द शोथहर है ।

आभ्यन्तर पाचन-संस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक और भेदन है ।

प्लीहा—यह प्लीहाशोथ को दूर करता है ।

श्वसनसंस्थान—तीक्ष्णता के कारण यह कफ निःसारक है अतः कण्ठ्य और कासश्वासहर है ।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल तथा अश्मरीभेदन है ।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज आर्तवजनन हैं ।

तापक्रम—ज्वरघ्न भी है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—लघुमूलक का प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके स्वरस से सिद्ध तैल कर्णशूल, कर्णनाद आदि में डालते हैं । बीजों का लेप चर्मरोगों में करते हैं । शुष्क मूलक का उपनाह या उससे सिद्ध तैल शोथ रोग में अभ्यंग के लिए देते हैं ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, यकृद्विकार, कामला, अर्श, उदररोग और गुल्म में प्रयोग होता है । मूली का क्षार अजीर्ण और गुल्म-शूल में देते हैं ।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में इसका प्रयोग करते हैं ।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, हिक्का तथा कासश्वास में उपयोगी है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी में इसका स्वरस तथा क्षार देते हैं । बीजों का चूर्ण तथा पत्तियों का शाक भी खिलाते हैं ।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज रजोरोध, रजःकृच्छ्र में प्रयुक्त होते हैं ।

तापक्रम—ज्वर में यह लाभकर है ।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज ।

मात्रा—स्वरस २-४ तो०; शुष्कमूलक क्वाथ ५-१० तो०; बीजचूर्ण १-३ मा० ।

विशिष्ट योग—शुष्कमूलाद्य घृत, शुष्कमूलाद्य तैल ।

× × × ×

'मूलकं द्विविधं प्रोक्तं तत्रैकं लघुमूलकम् । शालामर्कटकं विस्रं शालेयं मरुसम्भवम् ॥
चाणक्यमूलकं तीक्ष्णं तथा मूलकपोतिका । नेपालमूलकं चान्यत्तद्भवेत् गजदन्तवत् ॥
लघुमूलं कटूष्णं स्याद्रुच्यं च लघु पाचनम् । दोषत्रयहरं स्वर्यं ज्वरश्वासविनाशनम् ॥
नासिकाकण्ठरोगघ्नं नयनामयनाशनम् । महत्तदेव रूक्षोष्णं गुरु दोषत्रयप्रदम् ॥

स्नेहसिद्धं तदेव स्यात् दोषत्रयविनाशनम् ।' (भा. प्र.)
'बालं दोषहरं वृद्धं त्रिदोषं, मारुतापहम् । स्नेहसिद्धं, विशुष्कं तु मूलकं कफवातजित् ॥'
(च. सू. २७)
'शुष्कं त्रिदोषशमनं शोथघ्नं गरजिल्लघु । तत्पुष्पं कफपित्तघ्नं तत्फलं कफवातजित् ॥'(रा. व.)

१७०. एरण्डकर्कटी

परिचय

कुल—एरण्डकर्कटी-कुल (पैसिफ्लोरेसी-Passifloraceae)।

नाम—लै०-कैरिका पपाया (Carica Papaya); सं०-एरण्डकर्कटी; हि०-पपीता, एरंडककड़ी, एरण्डखर्बूजा; बं०-पेंपे; म०-पपाया; गु०-पोपैयुं; ता०-पप्पलि; ते०बोप्पयी; अ०-शज्रतुल्बतीख; फा०-दरख्तखुरपूजा; अं०-पापा या पपाया (Papaw or papaya)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २०-२५ फुट ऊँचा होता है। शाखा-प्रशाखायें प्रायः नहीं होतीं, काण्ड सीधा और लंबा होता है। **पत्र**–ताड़ के पत्ते के सदृश छत्राकार, विस्तृत और ७ खण्डों में विभक्त होते हैं। **पत्रवृन्त**–प्रायः ३ फुट लंबा और सुषिर होता है। **पुष्प**–एक लिंगी होते हैं। **फल**–लंबगोल, कच्चे में हरे और पकने पर पीताभ हो जाते हैं। कच्चे फल से गाढ़ा दूध निकलता है। **बीज**–अनेक, छोटे, कृष्ण या धूसर वर्ण के होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल वासस्थान दक्षिण अमेरिका का ब्राजिल नामक प्रदेश है। वहाँ से पुर्त्तगालियों के द्वारा भारत में इसका प्रवेश हुआ। पुर्त्तगाली भाषा में इसे 'पपीता' (Pepita) कहते हैं उसी के अनुकरण पर यहाँ भी इसका नाम 'पपीता' प्रसिद्ध हुआ। संप्रति भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके दूध में एक अलब्युमिनॉयड और एक पाचक तत्त्व या दूध जमाने वाला तत्त्व (Digestive enzyme or milk-curdling enzyme) होता है इसे 'पापेन' (Papain) कहते हैं। यह मुख्यतः फल में और अल्पमात्रा में मूल, पत्र तथा बीजों में भी पाया जाता है। ताजे फल की मज्जा में पीत राल, वसा, अलब्युमिनायड, शर्करा, पेक्टीन, निम्बूकाम्ल (Citric acid), चिञ्चाम्ल (Tartaric acid)-सेवाम्ल (Malic acid), द्राक्षीन (Dentrine) आदि होते हैं। सूखे फल में ८·४ प्रतिशत क्षार होता है जिसमें सोडियम, पोटाशियम और स्फुरकाम्ल रहते हैं। बीजों में अप्रिय स्वाद और गन्ध वाला एक तैल (Papaya oil or Caricin), कुछ अम्ल तथा राल होते हैं। पत्तियों में कार्पेन (Carpaine) नामक क्षारतत्त्व तथा कार्पोसाइड (Crposide) नामक ग्लुकोसाइड होता है।

संग्रहविधि—प्रौढ कच्चे फल में चीरे लगाकर दूध को एकत्रित कर धूप में सुखाले। इस प्रकार जब यह सूख कर श्वेत चूर्ण में परिणत हो जाय तब काचपात्र में सुरक्षित रख दे।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है। पका फल पित्तशामक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका दूध लेखन, पत्र और बीज शोथहर तथा वेदनास्थापन हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसके बीज और क्षीर वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—दूध में स्थित पाचक तत्त्व की क्रिया पेप्सिन के सदृश किन्तु उससे उत्तम होती है। इसका १ भाग २५० भाग मांस को पचा देता है। ३ रत्ती सत्त्व आधा सेर दूध को पचा सकता है। यह कृमिघ्न है विशेषतः गण्डूपद कृमियों (Round worms) पर इसकी क्रिया होती है। वातानुलोमन और यकृदुत्तेजक भी है।

रक्तवहसंस्थान—पत्तियों में स्थित कार्पेन नामक तत्त्व की क्रिया पर डिजिटेलिस के समान होती है। इससे हृदय का स्पन्दन कम होता है, उसका विश्राम काल तथा बल बढ़ता है। यह शोथहर एवं रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज और क्षीर आर्त्तवजनन तथा फल स्तन्यजनन है।

त्वचा—इसका क्षीर स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। पत्र भी स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न, कटुपौष्टिक और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। पका फल पैत्तिक विकारों में भी देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका दूध गलरोग, कण्ठरोहिणी, जिह्वाव्रण आदि में लगाया जाता है। पामा, दद्रु, कुष्ठ आदि चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं। अर्बुद, ग्रन्थि आदि पर भी इसका लेप करते हैं। प्राणियों के दंशस्थान पर विशेषतः बिच्छू के विष में इसे लगाने से अत्यधिक लाभ होता है। वातव्याधि में पत्तियों को गरम कर सेंकते हैं और बीजों से सिद्ध तैल का अभ्यंग पक्षाघात, अर्दित, चर्मरोग आदि में करते हैं। श्लीपद में पत्रकल्क का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातविकारों (पक्षाघात, आमवात आदि) में इसके बीज और क्षीर का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, अजीर्ण, ग्रहणी, उदरशूल, यकृत्प्लीहवृद्धि, अर्श और कृमि में इसका दूध देते हैं और कच्चे फल का शाक खिलाते हैं। यकृत्प्लीहवृद्धि में १ तोला ताजा दूध ३ माशे चीनी मिलाकर देते हैं। गंडूपद कृमि में १ तोला दूध, १ तोला मधु, २ तोला गरम जल मिला कर ठंढा होने पर देते हैं और २ घण्टे बाद एरंडतैल का विरेचन देते हैं। हृद्दौर्बल्यजन्य उदररोग में पत्रफाण्ट देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, शोथ में पत्र का फाण्ट देते हैं। रक्तविकारों में दूध और फल का प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक होने से कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में पत्तियों का फाण्ट देते हैं।

प्रजननसंस्थान—क्षीर और बीजों का प्रयोग रजोरोध, कष्टार्त्तव तथा फल एवं क्षीर का प्रयोग स्तन्यवृद्धि के लिए करते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में क्षीर और पत्र उपयोगी हैं।

तापक्रम—ज्वर में पत्तियों का फाण्ट देते हैं। इससे ज्वर कम होता है, मूत्र अधिक निकलता है और हृदय को बल मिलता है।

सात्मीकरण—ग्रहणीजन्य दौर्बल्य में अनेक विषों का निवारण करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र, दूध, बीज।

मात्रा—पत्रफाण्ट-४-८ तोला; दूध-१/२-१ तोला; पाचकसत्त्व (पापेन) १-५ रत्ती; बीजचूर्ण-४-८ रत्ती।

× × × ×

वमन

१७१. मदनफल

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च०) ऊर्ध्वभागहर, आरग्वधादि, मुष्ककादि (सु०)।

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)।

नाम—लै०-रैण्डिया ड्युमेटोरम् (Randia Dumetorum); सं०-मदन (मद लाने वाला); छर्दन (वमन कराने वाला); पिण्डी (पिण्डाकार); शल्यक (काँटों से युक्त); विषपुष्पक (विषैले पुष्पों वाला); हि०-मैनफल; बं०-मयनाफल; म०-गेलफल; गु०-मींढल; ता०-मरुक्कालम्; ते०-मंग; अ०-जौजुल् कै; अं०-इमेटिक नट (Emetic Nut)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** छोटा, झाड़ीदार और कंटकयुक्त होता है। **पत्र**-अपामार्ग के सदृश, किञ्चित् गोलाकार होते हैं जिनके अक्षदेश में दोनों ओर लम्बे, तीक्ष्ण कांटे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत या पीताभ श्वेत होते हैं। **फल**-नासपाती के आकार का गोल, पीताभ या धूसरवर्ण होता है। **फलमज्जा**-मधुर और तिक्त होती है जिसके भीतर अखरोट जैसा गोला रहता है। इसके तोड़ने पर कृष्णवर्ण बीजों के चार पिण्ड निकलते हैं। ये देखने में बृहदेला के समान होते हैं। इन्हें 'मदनफल-पिप्पली' कहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं तथा शीतकाल में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय की निचली पहाड़ियों में जम्मू से लेकर सिक्किम तक तथा सिन्ध, कूचबिहार, महाराष्ट्र और दक्षिणभारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मैनफल में मुख्यतत्त्व सैपोनिन (Saponin) होता है जो समस्त फल के १/३ परिमाण में होता है। यह एक फल में प्रायः दो रत्ती होता है। इसके अतिरिक्त, वेलिरियनिक अम्ल (Valeriani cacid), मोम, राल, रंजक द्रव्य होते हैं। बीजों में सुगन्धित तैल भी होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर, तिक्त, कषाय, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—वमन।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवात का शोधक और शामक है। पित्त का भी निःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी त्वचा शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—त्वचा नाडीशामक है।

पाचनसंस्थान—यह सर्वोत्तम वामक है। इससे वमन पर्याप्त होता है और कोई उपद्रव नहीं होने पाता। इसके लिए त्वचा, फल और बीजों से कार्य लिया जाता है। फल तथा बीजों का कार्य सर्वाधिक होता है। फल रेचन, पित्तनिःसारक तथा कृमिघ्न है। त्वचा ग्राही है। इसकी क्रिया इपीकैकुआना के समान होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—फल स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्त में संशोधनार्थ तथा वात के संशोधन और संशमन में प्रयुक्त होता है। वमन के रूप में कफसंशोधन, रेचन के रूप में पित्तसंशोधन तथा आस्थापन-अनुवासन के रूप में वात के संशोधन-संशमन में प्रयुक्त होता है। वातव्याधि में इसके तैल का अभ्यंग भी करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। विद्रधि पर इसका लेप करते हैं तथा व्रणों का प्रक्षालन करते हैं। उदरशूल में फल को सिरके में पीसकर नाभि पर लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसकी त्वचा का क्वाथ प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—वमन के लिए १ पूरे फल का चूर्ण (लगभग ३-४ माशे) आधे छटाँक जल में एक घंटा भिगो पत्थर के खरल में घोंटे। बाद कपड़े से छान उसमें मधु और सैंधव मिलाकर खाली पेट पिलाने से एक घंटे में वमन हो जाता है और शीघ्र वमन की अपेक्षा हो तो दो-तीन बीज पिण्डों को १-२ छटाँक जल में इसी प्रकार १०-१५ मिनट तक घोंटकर, छानकर, मधु-सैन्धव मिलाकर पिलावे, इससे १० मिनट में वमन प्रारंभ हो जाता है। यदि वमन पूरा न हो तो गरम पानी पिलावे। इसका प्रयोग विशेषतः कफप्रधान ज्वर, गुल्म, शूल, प्रतिश्याय आदि में वमनार्थ करते हैं। विबन्ध, गुल्म, कृमि तथा पैत्तिक विकारों में १-२ माशे की मात्रा में देते हैं। प्रवाहिका में त्वचा का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा कष्टप्रसव में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—स्वेदजनन तथा दोषसंशोधन होने से ज्वरों में उपयोगी है।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, बीज, त्वचा।

मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे (वमनार्थ), १-२ माशे (अन्य कर्मों के लिए); त्वक्-क्वाथ-४-८ तो०।

विशिष्ट योग तथा कल्प—मदनादि लेप। इसके १३३ कल्प चरकसंहिता कल्पस्थान प्रथम अध्याय में बतलाये गये हैं, वहीं देखें।

संग्रहविधि—वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं के मध्य में पुष्प, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्र में मदनफल के पके हुए पीताभ, मध्यमप्रमाण के तथा जन्तुओं से रहित फल ग्रहण करे। इन फलों को कुशपुट में बाँध कर, गोबर से लीप, आठ दिनों तक यव, उड़द, मूँग, कुलथी, धान आदि के भूँसे या पुआल में रख दे। तदनन्तर जब ये मृदु, मधुगन्धि हो जायँ तब निकाल कर सुखा दें और सूखने पर बीजपिण्डों को निकाल ले। इन्हें घी, दही, मधु और तिलकल्क में घोंटकर फिर सुखा ले। इस प्रकार प्रस्तुत चूर्ण को नये, शुद्धपात्र में सुरक्षित रख दे।

प्रयोगविधि—महर्षि चरक ने मदनफल तथा अन्य वामक द्रव्यों की प्रयोगविधि इस प्रकार बतलाई है:—जिस रोगी को वमन कराना है उसे दो-तीन दिन स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद जिस दिन वमन औषध देनी है उसके पूर्व रात्रि में कफोत्क्लेशक आहार (मांसरस, दूध, दही, उड़द आदि) दे। दूसरे दिन प्रातः यवागू के साथ थोड़ी घी की मात्रा पिलाकर थोड़ी देर बाद मदनफल का चूर्ण, जो पूर्वरात्रि में ही मुलेठी, कोविदार, कर्बुदार (काञ्चनारभेद), कदम्ब, समुद्रफल, विम्बी, शणपुष्पी, अर्क, अपामार्ग इनमें किसी एक के क्वाथ में भिगो दिया गया है; मसल, छान उसमें मधु और सेंधानमक मिलाकर थोड़ा गरम कर रोगी को पिला दे। बीच बीच में थोड़ा थोड़ा पिलाता रहे जब तक पित्त वमन में न आने लगे। यदि वमन पर्याप्त न हो तो पिप्पली, आमलक, सर्षप, वचा, लवण ये द्रव्य उष्णोदक में मिलाकर पिलावे।

अनुपान—इसका प्रयोग वातविकारों में सुरा, सौवीरक, फलाम्ल, दध्यम्ल आदि अम्ल द्रव्यों के साथ करे। पित्तविकारों में मृद्वीका, आमलक, मधु, मुलेठी, फालसा, दूध आदि के साथ देवे। कफविकारों में मधु, गोमूत्र तथा अन्य कफघ्न कषायों के साथ प्रयोग करे।

× × × ×

'राठको वृत्तपत्रोऽथ कंटकी पर्वतादिषु। विटपी मदनं तस्य फलं रेखाफलं स्मृतम्।' (शि.)

'मदनो मधुरस्तिक्तो वीर्योष्णो लेखनो लघुः। वान्तिकृद्विद्रधिहरः प्रतिश्यायव्रणान्तकः॥ रूक्षः कुष्ठकफानाहशोथगुल्मव्रणापहः।' (भा. प्र.)

'मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्।' (च. सू. २५)

'वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षतेऽनपायित्वात्।' (च. क. १)

'मदनं सर्वगदाविरोधि च। मधुरं सकषायतिक्तकं तदरूक्षं सकटूष्णविज्जलम्।
कफपित्तहृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च॥' (च. क. ११)
'मदनः कटुतिक्तोऽथः कफवातव्रणापहः। श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायगुल्मेषु विद्रधिषु च॥
शोफस्यापि हरो वस्तौ वमने चेह शस्यते।' (ध. नि.)

१७२. इक्ष्वाकु

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च०); ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-लैगिनेरिया वल्गेरिस (Lagenaria Vulgaris); सं०-इक्ष्वाकु, कटुतुम्बी, तिक्तालावू (तितलौकी); पिण्डफला (गोलाकार फल वाला); हि०-तितलौकी, कड़वी लौकी; बं०-तितलाउ; म०-कडु भोपला; गु०-कडची तुंबड़ी; ता०-सोरिआई-काई; ते०-सोराकाया; अ०-कर्उल्मुर्; फा०-कदूए तल्ख; अं०-बिटर गोर्ड (Bitter gourd)।

स्वरूप—इसकी प्रतानिनी लता होती है जो बहुत दूर तक फैली रहती है। **पत्र**-लगभग ६ इञ्च व्यास के, कोमल और पञ्चकोणविशिष्ट होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, पीतवर्ण होते हैं। **पुष्पदण्ड**-लगभग ६ इञ्च लम्बा होता है। **फल**-लौकी के समान होते हैं।

जाति—अलावू की एक मधुर जाति भी होती है जिसका शाक में प्रयोग करते हैं। इसे लोकभाषा में 'कद्दू' या 'लौकी' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—ताजे फल में ९०.३६% आर्द्रता होती है। सूखे फल में ईथर एक्स्ट्रैक्ट, अलब्युमिनॉयड, कार्बोहाइड्रेट, काष्ठसूत्र, क्षार और सैपोनिन (Saponin) होते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्त का संशोधन और संशमन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शिरोविरेचन, जन्तुघ्न और शोथहर है। इसका तैल व्रणशोधन और कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीव्र वामक और भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह विशेषतः कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कामला और कफज शिरोरोगों में इसके स्वरस का नस्य लेते हैं। दन्तकृमि आदि रोगों में इसके रस का गण्डूष करते हैं। इसका तैल शोथ, ग्रन्थि, गण्डमाला, व्रण एवं कुष्ठ में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—वमन और रेचन के लिए इसके फल, बीज और पत्र का प्रयोग करते हैं। कास, श्वास, विष, छर्दि, ज्वर, मूर्च्छा तथा अन्य कफपैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में यह प्रयुक्त होता है। शोथ रोग में इसके मूल का विशेष प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह उपयोगी है। इसके प्रयोग से कफ आसानी से निकल जाता है और रोगी को आराम मिलता है।

त्वचा—कुष्ठ में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः कफपैत्तिक ज्वरों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—विषों में यह संशोधनार्थ तथा विषनाशन के लिए दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—फल, बीज, पत्र।

मात्रा—स्वरस-½-१ तोला; बीजचूर्ण-१-३ माशे।

वक्तव्य—मधुर अलाबू का वर्णन प्रथम अध्याय में किया गया है, वहाँ देखें।

× × × ×

'कटुतुम्बी हिमाऽहृद्या पित्तकासविषापहा। तिक्ता कटुर्विपाके च वातपित्तज्वरान्तकृत्॥' (भा. प्र.)

'कटुतुम्बी कटुस्तीक्ष्णा वान्तिकृच्छ्वासवातजित्। कासघ्नी शोधनी शोफव्रणशूलविषापहा॥' (रा. नि.)

'कासश्वासविषच्छर्दिज्वरार्त्ते कफकर्शिते। प्रताम्यति नरे चैव वमनार्थं तदिष्यते॥' (च. क. ३)

'तुम्बी''स्नेहास्तिक्तकषाया अधोभागदोषहराः कृमिकफकुष्ठानिलहरा दुष्टव्रणशोधनाश्च।' (सु. सू. ४५)

१७३. धामार्गव

परिचय

गुण—वमन, फलिनी (च०); ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कर्कुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-लफा ईजिप्टियाका (Luffa Aegyptiaca)। सं०-धामार्गव, महाकोशातकी, महाजालिनी (फलमज्जा के भीतर जालवत् रचना होने के कारण)। हि०-नेनुआ; पं०-घियातोरी; बं०-धुन्दुल; म०-घोसालें; गु०-गलकां; ता०-गुट्टीबीरा; ते०-नुनीबीरा; अं०-स्मूथ लफा (Smooth Luffa)।

स्वरूप—इसकी प्रतानिनी **लता** होती है। **पत्र**-पञ्चकोणविशिष्ट, दन्तुर, लगभग ६ इञ्च व्यास के होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, एकलिङ्गी होते हैं। **फल**-५-१० इञ्च लम्बा, कभी कभी-१-१½ लम्बा होता है। सफेद धारियाँ होती हैं। **बीज**-कृष्णवर्ण, पक्षयुक्त होते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं:—(१) कटु और (२) मधुर। कटु जाति का औषध में तथा मधुर जाति का शाक में प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। कड़वी नेनुआ प्रायः स्वयंजात जंगलों में होती है।

रासायनिक संघटन—कटु जाति के पंचांग में इन्द्रायण में पाये जाने वाले कोलोसिन्थीन नामक सत्त्व के सदृश एक द्रव्य पाया जाता है तथा लफीन (Luffein) नामक सत्त्व भी होता है। बीजों में एक स्थिर तैल होता है।

वक्तव्य—प्रसंगतः यहाँ कटुजाति के गुणकर्मों का वर्णन किया जायगा।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—वमन।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह वमन और भेदन है।

रक्तवहसंस्थानक—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह मुख्यतः कफ के रोगों में संशोधनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—उदररोग, गुल्म आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा स्वरविकार में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—विषों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प, पत्र।

मात्रा—चूर्ण–१–३ माशे; स्वरस–२–६ माशे।

विशिष्ट कल्प—इसके ६० कल्प चरकसंहिता कल्पस्थान चतुर्थ अध्याय में वर्णित हैं।

वक्तव्य—मीठी नेनुआ स्निग्ध, शीत, मधुर और त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्तशामक है। इसका प्रयोग रक्तपित्त, दाह, मूत्रकृच्छ्र, क्षय आदि में करते हैं। ज्वर के अन्त में यह प्रशस्त माना गया है।

'कोशातकी सुतिक्तोष्णा पक्वामाशयशोधनी।' (ध. नि.)
'गरे गुल्मोदरे कासे वाते श्लेष्माशयस्थिते। कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसञ्चयजेषु च॥
रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् स्थिराश्च गुरवश्च ये।' (च. क. ४)
'महाकोशातकी स्निग्धा रक्तपित्तानिलापहा।' (भा. प्र.)
'अन्या स्वादुस्त्रिदोषघ्नी ज्वरस्यान्ते हिता स्मृता।' (ध. नि.)

१७४. कोशातकी

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च०); ऊर्ध्वभागहर, उभयतोभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै॰-लफा अमारा (Luffa Amara); सं॰-कोशातकी (कोषयुक्त फल); मृदंगफल (मृदंगाकार फल); जालिनी (फलमज्जा जालयुक्त), राजिमत्फला (रेखाओं से युक्त फल); हि॰-तरोई, खर्रो; बं॰-झिंगा; म॰-दोडके; गु॰-तुरया; ता॰-पेप्पीरकम्; ते॰-वेर्रीबीरा; अं॰-रिब्ड लफा (Ribbed Luffa)।

स्वरूप—इसकी **लता** नेनुआ के सदृश होती है। **फल**–३–५ इञ्च लम्बा होता है और उसके पृष्ठभाग पर दस धारदार रेखायें होती हैं। कड़वी तरोई का फल मीठी की अपेक्षा छोटा होता है। **फलमज्जा**–श्वेत होती है और उसमें एक विशिष्ट गंध होती है। **बीज**–धूसरवर्ण और काले दागों से युक्त होता है।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं—(१) कटु, (२) मधुर। कटु जाति का औषध में तथा मधुर का शाकार्थ प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। कटु जाति जंगलों में स्वयंजात होती है। विशेषतः बंगाल और दक्षिण भारत में पाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें इन्द्रायण के समान एक तिक्त सत्त्व पाया जाता है। बीजों में स्थिर तैल होता है।

वक्तव्य—यहाँ कटुजाति के गुणकर्मों का ही प्रसंगतः वर्णन किया जायगा।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—उभयतोभागहर।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधन है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह वामक और रेचन है।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में संशोधनार्थ दिया जाता है।
संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—उदर, गुल्म आदि में दिया जाता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, शोथ, प्लीहवृद्धि आदि में प्रयुक्त होता है।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।
त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—पांडु तथा विषों में लाभकर है।
प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प, पत्र।
मात्रा—वमनार्थ १०–१५ र०; अन्य कर्मों के लिए ३–५ र०; स्वरस ३–६ माशे।
कल्प—इसके ६० कल्प चरकसंहिता कल्पस्थान षष्ठ अध्याय में बतलाये गये हैं। वहीं देखें।

वक्तव्य—मीठी तरोई मधुर, शीतल, पित्तशामक और हृद्य है। रक्तपित्त, ज्वर, कुष्ठ आदि में प्रयुक्त होती है।

× × × ×

'अत्यर्थं कटुतीक्ष्णोष्णं गाढेष्विष्टं गदेषु च। कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोथगुल्मगरादिषु॥' (च.क.६)
'राजकोशातकी शीता मधुरा कफवातकृत्। पित्तघ्नी दीपनी श्वासज्वरकासकृमिप्रणुत्॥' (भा.प्र.)
'कोशातकी''प्रभृतीनि। रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च॥
कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च॥' (सु. सू. ४६)

'कृतवेधन''तैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि च।' (सु. सू. ४५)

१७५. अरिष्टक

परिचय

कुल—अरिष्टक-कुल (सैपिण्डेसी-Sapindaceae)।

नाम—लै०-सैपिण्डस ट्राइफोलिएटा (Sapindus Trifoliata); सं०-अरिष्टक; फेनिल (फेनयुक्त); रक्तवीज (रक्तवर्ण वीज वाला); गर्भपातन (गर्भाशय संकोचक); हि०-रीठा; बं०-रिठे; पं०-रेठा; म०-रिठा; गु०-अरीठा; ता०-पन्नानकोट्टाई; ते०-कुकुदुकायालु; अ०-बुन्दुक हिन्दी; फा०-फुंदुक फारसी; अं०-सोप नट (Soap nut)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २५-३० फुट ऊँचा अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त होता है। पत्रदण्ड-५-१२ इंच लम्बा होता है। **पत्र**-संयुक्त होता है। **पत्रक**-१-६ इंच लम्बे, १-४ इञ्च चौड़े, दो-तीन जोड़े होते हैं। इनका अग्रभाग किसी-किसी में लम्बा तथा किसी में स्थूल और नताग्र होता है। **पुष्प**-श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-गोलाकार, गुच्छों में लगते हैं। पकने पर धूसर, श्यामवर्ण के हो जाते हैं, इनमें तीन धार होती हैं। **बीज**-रक्तवर्ण कृष्णाभ होते हैं। पुष्प-शरदृऋतु में आते हैं तथा फल वसन्त में पकते हैं।

जाति—रीठा छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है। बड़े रीठे का वर्णन ऊपर किया गया है। छोटे रीठे का लैटिन नाम सैपिण्डस मुकोरोसी (Sapindus Mukorossi) है।

उत्पत्तिस्थान—यह जंगलों में विशेषकर दक्षिणभारत तथा छोटानागपुर में होता है। छोटा रीठा पश्चिमोत्तर भारत, पंजाब, आसाम आदि में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में ११½ प्रतिशत सैपोनिन, १० प्रतिशत शर्करा तथा कुछ लुआब होता है। बीजों में २० प्रतिशत तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—वमन।

कर्म

दोषकर्म—रीठा त्रिदोषघ्न है। वमन के द्वारा कफ का तथा विरेचन के द्वारा पित्त का शोधन करता है। स्निग्ध, उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न, लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—बीज मादक हैं।
पाचनसंस्थान—यह वामक, रेचन और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—विषघ्न और लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः कफ और वात के विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। कुष्ठ, कण्डु, विस्फोट, गंडमाला आदि में तथा सर्प, बिच्छू आदि सविष प्राणियों के दंश में इसका लेप करते हैं। इसके विलयन या चूर्ण का नस्य अर्धावभेदक, मूर्च्छा, अपतंत्रक तथा श्वास में देते हैं। इसके पत्र तथा त्वचा का उपनाह सन्धिवात, आमवात, पक्षाघात आदि में देते हैं। दाह में इसके फेन का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उदरविकारों तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में दिया जाता है।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।
प्रजननसंस्थान—इसकी वर्त्ति बनाकर रजोरोध तथा कष्टप्रसव में योनि में रखते हैं।
त्वचा—कुष्ठ में इसका प्रयोग करते हैं।
सात्मीकरण—विषों में विशेषतः अहिफेन-विष में इसका प्रयोग होता है।
प्रयोज्य अंग—फल।
मात्रा—वमनार्थ-३-६ माशे; रेचनार्थ-४-८ माशे; अन्य कर्मों के लिए ५-१० रत्ती।

× × × ×

'अरिष्टको गुच्छफलः सर्वतिक्तश्च मंजरी।' (शि.)

'अरिष्टकस्तु मंगल्यः कृष्णवर्णोऽर्थसाधनः। रक्तबीजः पीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः॥
अरिष्टकस्त्रिदोषघ्नो ग्रहजिद् गर्भपातनः।' (भा. प्र.)

'रीठाकरंजस्तिक्तोष्णः कटुः स्निग्धश्च वातजित्। कफघ्नः कुष्ठकण्डूतिविषविस्फोटनाशनः॥'
(रा. नि.)

'अरिष्टः कटुकः पाके तीक्ष्णोष्णो लेखनोऽगुरुः। दोषत्रयहरो गर्भपातनो ग्रहशान्तिकृत्॥
तज्जलं वामकं पानान्नस्याच्छीर्षरुजापहम्। अर्धशीर्षव्यथां हन्ति वमनाद्विषनाशनः॥'
(नि. सं.)

वमनोपग

१७६. हिज्जल

परिचय

गण—वमनोपग, विरेचन (च०); ऊर्ध्वभागहर (सु०)।
कुल—लवंग-कुल-(मिर्टेसी-Myrtaceae)।
नाम—लै०-बैरिङ्गटोनिया एक्युटैंग्युला (Barringtonia Acutangula)।

सं०-हिज्जल, निचुल, विदुल । हि०-गु०-समुद्रफल; बं०-हिजल; म०-सत्फल, समुद्रफल; ता०-समुत्रपल्लम् ; ते०-कणगि ।

स्वरूप—इसका वृक्ष ३०-४० फुट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-धूसर तथा काण्डसार श्वेत और कोमल होता है। **पत्र**-५ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े, लम्बगोल होते हैं। **पुष्पदण्ड**-लगभग १ फुट लम्बा होता है जिसमें रक्तवर्ण पुष्प लगते हैं। **फल**-१-१½ इञ्च चौड़ा तथा ½-१ इञ्च लम्बा होता है। फल का मध्यभाग सर्वाधिक चौड़ा होता है। देखने में यह तीन रेखा-युक्त बड़ी इलायची के सदृश होता है।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय प्रदेश, यमुना के तटवर्ती भाग, अयोध्या, बंगाल, मध्य-भारत, दक्षिणभारत और बर्मा में विशेष पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में ग्लुकोसाइड, सैपोनिन, बैरिंगटोनिन (Barringtonin), स्टार्च, प्रोटीन, सेल्युलोज, वसा, क्षारीय लवण होते हैं। इनके अतिरिक्त, इसमें सैपोनिन के सदृश एक क्रियाशील तत्त्व होता है जो पानी में डालकर हिलाने से झाग (फेन) उत्पन्न करता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—वमन।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधक एवं वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके बीज लेखन, शिरोविरेचन और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फल वामक, रेचन और कृमिघ्न है। पत्र ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—इसका मूल सिनकोना के समान गुणयुक्त है। यह नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक तथा प्लीहवृद्धिहर है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ तथा वातरोगों में शमनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके चूर्ण का नस्य शिरोरोगों में लेते हैं। पार्श्वशूल, सन्धिशूल आदि में इसके बीज को घिस कर लगाते हैं। नेत्ररोगों में भी इसको घिस कर अञ्जन लगाते हैं। कामला में भी इसका अञ्जन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कफज रोगों में वमनार्थ तथा पित्तज रोगों में विरेचनार्थ इसके फल का प्रयोग करते हैं। उदररोग और कृमि में यह प्रयुक्त होता है। आमातीसार में इसका पत्र-स्वरस मधु के साथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में इसका प्रयोग करने से वमन और विरेचन से कफ निकल जाता है और रोग की शान्ति होती है।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका चूर्ण निर्गुण्डी तथा मिश्री के साथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव और रजोरोध में यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—विषमज्वर तथा जीर्णज्वर, प्लीहावृद्धि आदि में कुनैन के समान इसके मूल का प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—विषों में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल, पत्र।

मात्रा—फलचूर्ण-३-६ माशे (वमनार्थ); ५-१० रत्ती (अन्य कर्मों के लिए); मूल-५-१० रत्ती; पत्रस्वरस-½-१ तो०।

× × × ×

'फलं समुद्रस्य कटूष्णकारि वातापहं भूतनिरोधकारि।
त्रिदोषदावानलदोषहारि कफामयभ्रांतिविरोधकारि ॥'
'हिज्जलः कटुरुष्णश्च पवित्रो भूतनाशनः। वातामयहरो नानाग्रहसंचारदोषजित् ॥' (रा. नि.)
'जलवेतसवद्वेद्यो हिज्जलोऽयं विषापहः।' (भा. प्र.)
'जलेन घृष्ट्वा पीतं चेत् कृमिनाशकरं परम्। तदेव चांजितं नेत्रे कामलां नाशयेद् ध्रुवम् ॥
(रा. नि.)
'दलोत्थः स्वरसः पेयो हिज्जलस्य समाक्षिकः। जयत्याममतीसारम् ॥' (च. द.)
'हिज्जलस्य फलं घृष्ट्वा पानीये नित्यमञ्जनम् ।
चक्षुःस्रावे प्रशान्त्यर्थं कार्यमेतन्महौषधम् ॥' (वंगसेन)

१७७. शणपुष्पी

परिचय

गण—वमनोपग, मूलिनी (च०), ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-क्रोटेलेरिया वेरुकोजा (Crotalaria Verrucosa); सं०-शणपुष्पी (शण के सदृश पुष्प होने से); घण्टारवा (फलों में बीजों के कारण आवाज होने से); हि०-सनई, झनझनिया; बं०-बनशन; म०-घागरी; गु०-घुघरो; ता०-वैल्लैक्किलुकिलुप्पै; ते०-घलेघेरिण्टा।

स्वरूप—इसका **क्षुप** २-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-पतले, कोमल, अण्डाकार, लगभग ४-६ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्पदण्ड**-लम्बा होता है जिसमें १५-२० पीतवर्ण पुष्प लगे रहते हैं। **शिम्बी**-१-१½ इञ्च लम्बी, रोमश होती है जिसके भीतर १०-१२ बीज होते हैं। शुष्क शिम्बी को हिलाने से 'झनझन' शब्द होता है, अतएव इसे संस्कृत में 'घण्टारवा' तथा हिन्दी में झनझनिया कहते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के जांगल प्रदेशों में विशेषतः दक्षिणभारत में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—वमन।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, कषाय होने से कफपित्तशामक है। वामक होने से कफसंशोधन भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्तियों का लेप पित्तशामक और कुष्ठघ्न है। बीजों का लेप व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका मूल वामक है। पत्तियाँ ग्राही तथा लालाप्रसेकशमन है।

रक्तवहसंस्थान—इसके पुष्प हृद्य और रक्तरोधक है। पत्तियाँ रक्तशोधक हैं।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पैत्तिक शोथ, कुष्ठ में पत्तियों का लेप करते हैं। मुख तथा कण्ठ के रोगों में पत्रक्वाथ से गण्डूष करते हैं। व्रण में बीजों का लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मूल का प्रयोग वमन के लिए होता है। पत्तियाँ अतिसार, प्रवाहिका में प्रयुक्त होती हैं।

रक्तवहसंस्थान—पुष्प हृद्रोग और रक्तपित्त में उपयोगी हैं। पत्तियों का प्रयोग रक्तविकार में करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में पत्तियों का तथा मूल का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—मूलचूर्ण-३-६ माशे; पत्रस्वरस-½-१ तोला।

× × × ×

'शणपुष्पी स्मृता घण्टारवा शणसमाकृतिः। शणपुष्पी कटुस्तिक्ता वामनी कफपित्तजित्॥' (भा. प्र.)

'शणपुष्पी रसे तिक्ता वामनी कफपित्तजित्। कषाया कण्ठहृद्रोगमुखरोगविनाशिनी॥'(ध.नि.)

'शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने।' (च. सू. १)

पुरीषजनन

१७८. माष

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनेसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-फैसिओलस रॉक्सबर्गाई (Phaseolus Roxburghii); सं०-माष; हि०-उड़द; बं०-माषकलाई; म०-उडिद; गु०-अड़द; ता०-उलुन्दु; ते०-मिनुमु;

अ०, फा०–माषे स्याह; माषे हिन्दी; अं०–ब्लैक ग्राम (Black Gram) या किडनी बीन (Kidney-bean)।

स्वरूप—इसका क्षुप १–२ फुट ऊँचा होता है। इसके कांड और पत्तों में रोम होते हैं। **पुष्प**–हरिद्रावर्ण होते हैं। **शिम्बी**–१–२ इंच लम्बी, गोलाकार होती है। शरद् ऋतु में पुष्प आते हैं और शीतकाल में फल पकते हैं।

जाति—निघण्टुओं में इसकी दो जातियाँ बतलाई गई हैं:—(१) माष, (२) राजमाष। भावप्रकाश ने राजमाष को वर्णभेद से श्वेत, रक्त, कृष्ण तीन प्रकार का कहा है। व्यवहार में माष दो प्रकार का प्रचलित है:—(१) हरा (२) काला। काले माष का क्षुप बड़ा लगभग ४–६ फुट ऊँचा होता है। संभवतः यह राजमाष का कृष्णभेद ही है।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र होता है। विशेषकर पश्चिम भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में अलब्युमिनॉयड २२·७%, स्टार्च ५५·८%, तैल २·२%, सूत्र ४·८% तथा क्षार (जिसमें स्फुरकाम्ल रहता है) ४·४% होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध, मधुर होने से कफवर्धक तथा उष्ण होने से पित्तकारक है। इन्हीं कारणों से वात का उत्तम शामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह वेदनास्थापन और वातशामक है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य है। इसका मूल मादक है।

पाचनसंस्थान—रोचन, पुरीषजनन, स्रंसन, शूलप्रशमन और यकृदुत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य, स्तन्यजनन तथा आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह स्निग्ध–मधुर होने से बल्य, बृंहण, जीवनीय, मेदोवर्धन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—वातव्याधि में इसका उपनाह देते हैं तथा इससे पक्व तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात, अर्दित, सन्धिवात आदि रोगों में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, विबन्ध, उदरशूल, यकृद्विकार तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ एवं मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह क्लैब्य, रजोरोध तथा स्तन्याल्पता के विकारों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, कृशता में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल (बीज)।

मात्रा—$\frac{1}{2}$–१ तो० (चूर्ण)।

विशिष्ट योग—माषबलादिपाचन, महामाष तैल।

× × × ×

'माषो गुरुः स्वादुपाकः स्निग्धो रुच्योऽनिलापहः। स्रंसनस्तर्पणो बल्यः शुक्रलो बृंहणः परः॥
भिन्नमूत्रमलः स्तन्यो मेदःपित्तकफप्रदः। गुदकीलार्दितश्वासपक्तिशूलानि नाशयेत्॥
कफपित्तकराः माषाः कफपित्तकरं दधि। कफपित्तकरा मत्स्या वृन्ताकं कफपित्तकृत्॥ (भा.प्र.)
'वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोष्णमधुरो गुरुः। बल्यो बहुमलः पुंस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च॥'
(च. सू. २७)

'माषाः श्लेष्मपित्तजनननानाम्।' (च. सू. २५)
'माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः स्निग्धोष्णवीर्यो मधुरोऽनिलघ्नः।
सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद्बलप्रदः पित्तकफावहश्च॥' (सु. सू. ४६)
'माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः।
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्॥' (वा.)
'माषः स्निग्धो बहुमलकरः शोषणः श्लेष्मकारी, वीर्येणोष्णो झटिति कुरुते रक्तपित्तप्रकोपम्।
हन्याद्वातं गुरुबलकरो रोचनो भक्ष्यमाणः, स्वादुर्नित्यं श्रमशमकरो जीवनीयो नराणाम्॥'
(रा. नि.)

'माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्त्ति वेगवान्॥' (च. चि. २)

१७९. तण्डुलीय

परिचय

कुल—अपामार्ग-कुल (अमरैन्टेसी-Amarantaceae)।

नाम—लै०-अमरैण्टस गैंगेटिकस (Amarantus Gangeticus); सं०-तण्डुलीय, मेघनाद, विषघ्न, अल्पमारिष; हि०-चौलाई; बं०-चाँपानटे; म०-तांदुलजा; गु०-तांदलजो; ता०-थन्दुक्किराई; ते०-क मुलु; अ०-बक्लए यमानिया।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-कोमल, लंबगोल होते हैं। **पुष्प**-गुच्छों में, एकलिंगी होते हैं। **फल**-बहुत, छोटे, गुच्छेदार होते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। लाल साग इसी की एक जाति है। एक जाति जल में होती है, इसे जलतण्डुलीय या कञ्चट कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष होने से कफवात तथा मधुर, शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन, व्रणरोपण तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पुरीषजनन, अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—इसका मूल विषघ्न है। इससे वमन के द्वारा विष बाहर निकल जाता है और अन्य लक्षणों की भी शान्ति होती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, व्रण तथा विषों में इसकी पत्तियों और मूल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध आदि में प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त (रक्तातीसार, प्रदर, रक्तार्श आदि) में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

सात्मीकरण—विषों में इसका मूल पीस कर गरम जल से पीते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—स्वरस १–२ तो०; चूर्ण ३–६ माशे।

× × × ×

'तण्डुलीयो लघुः शीतो रूक्षः पित्तकफास्रजित्। सृष्टमूत्रमलो रुच्यो दीपनो विषहारकः॥'(भा.प्र.)
'तण्डुलीयो विषघ्नश्च रूक्षः शीततरः शुचिः। मधुरो रसपाकाभ्यां रक्तपित्तापघातकः॥'(ध.नि.)
'तण्डुलीयस्तु शिशिरो मधुरो विषनाशनः। रुचिकृद्दीपनः पथ्यः पित्तदाहश्रमापहः॥'(रा.नि.)

वातानुलोमन

१८०. पिपरमिण्ट

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-मेन्था पिपरिटा (Mentha Piperita); हि०-पिपरमिण्ट; अं०-मार्श मिण्ट (Marsh Mint) या पिपरमिण्ट (Peppermint)।

स्वरूप—यह बहुवर्षायु, उग्रगन्धि पुदीने की जाति का **क्षुप**—है। **पत्र**–१–४ इञ्च लम्बे, अंडाकार, दन्तुरधार होता है। इनका ऊपरी पृष्ठ स्निग्ध तथा निचला पृष्ठ उभरी हुई सिराओं से युक्त होता है। पुष्पदण्ड के अग्रभाग में छोटे, रोमश तथा बैंगनी रंग के **पुष्प** होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यूरोप, एशिया (चीन और जापान) तथा मिश्रदेश में उत्पन्न होता है। सम्प्रति भारत में भी इसकी खेती होती है। इसका विशेष आयात चीन और जापान से होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में एक उड़नशील तैल, मेन्थोल, राल, टैनिन तथा निर्यास होते हैं। उड़नशील तैल इससे परिस्रवण विधि के द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह तैल 'पिपरमिण्ट ऑयल' (Peppermint oil) या 'ओलियम मेन्थी पिपरिटी' (Oleum Menthae Piperitae) कहलाता है। इस तैल से पुनः जो स्फटिकीय द्रव्य प्राप्त होता है उसे 'मेन्थोल' (Methol) या 'सत पिपरमिण्ट' कहते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कोथप्रशमन, दुर्गन्धनाशन, जन्तुघ्न और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, छर्दिनिग्रहण, दीपन, वातानुलोमन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—यह तीक्ष्ण उष्ण होने से आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल, सन्धिवात तथा अन्य वातविकारों में इसका लेप किया जाता है। मेन्थोल को यवानीसत्त्व (थाइमोल), फेनोल, कर्पूर, क्लोरल हाइड्रेट इनमें से किसी के साथ मिलाने से द्रव बन जाता है। इसको भी उपर्युक्त रोगों में लगाते हैं। चर्मरोगों में भी इसे लगाते हैं। दन्तकोटर में इसे रूई के फाहे में रखकर दबाते हैं। प्रतिश्याय, वातश्लैष्मिक ज्वर, श्लैष्मिक शिरःशूल में इसका नस्य लेते हैं। रोहिणी तथा अन्य कण्ठरोगों में इसका लेप देते हैं। श्वसनसंस्थान के जीर्णरोगों में इसे सूँघते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमान्द्य, विष्टम्भ, अतिसार, विसूचिका, उदरशूल तथा कृमि में यह अतिशय उपयोगी है। इन रोगों में तैल चीनी या मिश्री के साथ देते हैं। विरेचन औषधों के साथ इसे मिलाकर देने से मरोड़ कम होती है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास एवं हिक्का में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव में इसके प्रयोग से वेदना शान्त होती है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, तैल, सत्त्व।

मात्रा—फाण्ट-१-४ तोला; तैल-१-३ बूँद; सत्त्व-$\frac{१}{४}$-१ रत्ती।

× × × ×

१८१. पूतिहा (पुदीना)

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-मेन्था विरिडिस (Mentha Viridis); सं०-पूतिहा, पुदिनः, रोचनी; हि०-पुदीना; बं०-पुदिना; म०-पुदिना; गु०-फुदीनो; ता०-ते०-पुदीना; अ०-फूदनज; फा०-पूदिनः; अं०-स्पिअर मिण्ट (Spear-Mint)।

स्वरूप—इसका वर्षायु **क्षुप** अतिशय उग्रगन्धि होता है। इसके **पत्र**–कोमल, दन्तुरधार होते हैं। **पुष्पदण्ड**–मृदु होता है जिसके चारों ओर फूलों के गुच्छे लगे रहते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। इनमें मेन्था सिलवेस्ट्रिस (M. Sylvestris), मेन्था अर्वेन्सिस (M. Arvensis), मेन्था इनकाना (M. Incana) आदि मुख्य हैं। उत्पत्तिस्थान के भेद से (१) वन्य (पूदिनः बर्री), (२) पार्वत्य (पूदिनः कोही) तथा (३) जलीय (पूदिनः नहरी) ये तीन प्रकार के होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। हिमालय प्रदेश में भी स्वयंजात होता है। विशेषकर काश्मीर, सिन्ध और बंगाल में बहुत होता है। यूरोप तथा पश्चिम एशिया में इसका मूल स्थान है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों और पुष्पमञ्जरी में एक उड़नशील, सुगन्धित तैल होता है जिसमें मुख्य तत्त्व थाइमोल रहता है किन्तु इसकी गन्ध और स्वाद पिपरमिण्ट से भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त, इनमें राल, गोंद और टैनिन रहते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण, उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशन, जन्तुघ्न और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, छर्दिनिग्रहण, वातानुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—तीक्ष्ण, उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक तथा आक्षेपहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशय–संकोचक है।

त्वचा—त्वग्दोषहर तथा स्वेदन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—यह वेदनायुक्त स्थानों तथा दुर्गन्धयुक्त व्रणों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। इसका तैल भी लगाते हैं। मुखदुर्गन्धनाशन के लिए इसका स्वरस जल में देकर कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, वमन, आध्मान, अतिसार और कृमि रोगों में देते हैं। इन रोगों में पुदीने की चटनी भी खिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का और श्वास रोगों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव तथा प्रसूतिज्वर में इसका स्वरस देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—विषों में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, तैल।

मात्रा—पत्रस्वरस १-२ तो०; फाण्ट २-४ तो०; तैल ½-३ बूँद।

विशिष्ट योग—अर्क पुदीना।

× × × ×

'पूतिहा कटुरुष्णश्च रोचनो दीपनो लघुः। हन्ति वातकफाध्मानशूलच्छर्दिकृमींस्तथा ॥'(स्व.)
'रोचनी वह्निजननी वक्त्रजाड्यनिषूदनी। कफवातहरी बल्या छर्द्यरोचकवारिणी ॥' (व. द.)

१८२. मरुवक

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-ऑरिगेनम मेजोराना (Origanum Majorana); सं०-मरुवक, खरपत्र, प्रस्थपुष्प (बड़े पुष्प वाला); हि०-मरुआ; बं०-मुरु; म०-मरवा; गु०-मरवो; ता०-मर्वु; ते०-मरुवमु; फा०-मजञ्जोश; अं०-कॉमन मार्जोरम (Common Marjoram)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** प्रायः १-२ **फुट** ऊँचा होता है। **पत्र**-तुलसी के सदृश किन्तु उससे छोटे और लंबे होते हैं। पत्तियों से सुगंध आती है। **पुष्प**-पत्रकोण से निकलते हैं। **बीज**—छोटे, कृष्णवर्ण तथा गोलाकार होते हैं।

जाति—श्वेत और कृष्ण दो प्रकार का मरुवक होता है। इनमें श्वेत का औषध में प्रयोग होता है।-'श्वेतो भेषजकार्ये स्यादपरः शिवपूजने।' वन्य और ग्राम्य भेद से भी दो प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—भारत में यह सर्वत्र होता है। विशेषकर हिमालय प्रदेश तथा पश्चिम एशिया में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल (ओलियम मार्जोरेनी-Oleum Marjoranae) होता है जो सुरासार में विलेय है। तैल में टर्पिन (Terpene) तथा एक तिक्त पदार्थ होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण उष्ण होने के कारण कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह विषघ्न, शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणरोपण तथा दुर्गन्धनाशन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, वातानुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, शिरःशूल, दन्तशूल, व्रण आदि में इसका लेप करते हैं। इससे स्वेदन, उपनाह तथा धूपन भी करते हैं। बिच्छू आदि के विष में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान, उदरशूल तथा कृमि में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा हिक्का में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस-½-१ तो०; तैल-२-५ बूँद; फाण्ट-१-२ तो०।

× × × ×

'मरुदग्निप्रदो हृद्यस्तीक्ष्णोष्णः पित्तलो लघुः। वृश्चिकादिविषश्लेष्मवातकुष्ठकृमिप्रणुत् ॥
कटुपाकरसो रुच्यस्तिक्तो रूक्षः सुगन्धिकः।' (भा. प्र.)

'मरुवः कटुतिक्तोष्णः कृमिकुष्ठविनाशनः। विड्बन्धाध्मानशूलघ्नो मांद्यत्वग्दोषनाशनः॥'
(रा. नि.)

'मरुबकः कफहरो रुच्यो मुखसुगन्धकृत्।' (ध. नि.)

१८३. शतपुष्पा

परिचय

गण—आस्थापन (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-(Umbelliferae)।

नाम—लै०-फीनिक्युलम कैपिलीकम् (Foeniculum Capillaecam)। सं०-शतपुष्पा (अनेक पुष्प छत्राकार होने से); मधुरा (मधुर रसवाली); मिशि; सितच्छत्रा (श्वेतवर्ण का पुष्प-छत्र होने से); छत्रा (छत्राकार पुष्प होने के कारण)। हि०-सौंफ, बं०-मौरी; पं०-सोंफ; म०-वड़ीशेप; गु०-वरियाली; ता०-शौम्बु; ते०-सोपु; अ०-राज़ियानज; फा०-राज़ियान, बादियान; अं०-फनेल (Fennel)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप छोटा सा होता है। **पत्र**-२-४ इञ्च लम्बे, पक्षयुक्त होते हैं। **पुष्प**-पीताभ श्वेत होते हैं। **फल**-लम्बे, हरिताभ, रेखायुक्त होते हैं।

जाति—इसकी एक जाति जो मूलतः मिश्र का निवासी है किन्तु सम्प्रति ईरान पंजाब आदि में होती है 'अनीसून' (अ०), 'बादियान' (फा०), ऐनिस-Anise (अं०) कहलाती है। इसका लै० नाम पिम्पिनेला एनिसम (Pimpinella Anisum) है। इसका तैल आधुनिक चिकित्सा में 'ऑयल एनीसी' (Oil Anisi) के नाम से प्रसिद्ध है। सौंफ की एक जंगली जाति भी होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में ३ से ५ प्रतिशत तक एक उड़नशील सुगंधित तैल होता है। इससे एनिथोल (Anethole) नामक तत्त्व मुख्य होता है। संप्रति यह तत्व शुद्ध रूप में कृत्रिम विधि से निष्पन्न भी मिलता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—मधुर, कटु, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—किञ्चित् उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर, स्निग्ध होने से वात तथा तीक्ष्ण, उष्ण होने से कफ का शामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह मेध्य तथा दृष्टिशक्तिवर्धक है।

पाचनसंस्थान—तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, दीपन, पाचन, अनुलोमन है। मूल रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य तथा रक्तप्रसादन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न तथा कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन तथा स्तन्यजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक होने से बलवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा दृष्टिदौर्बल्य में उसका स्वरस देते हैं।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, प्रवाहिका एवं अर्श में प्रयुक्त होता है। प्रवाहिका में देने से आमदोष का पाचन होता है, वायु का अनुलोमन होने से आमदोष बाहर निकलता है तथा मरोड़ कम होती है। मरोड़ कम करने के लिए विरेचन औषधों के साथ भी इसे मिलाते हैं। रेचन में मूल का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध एवं स्तन्यविकार में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल, मूल।

मात्रा—बीजचूर्ण ३–६ माशे; तैल ५–१० बूँद; मूलचूर्ण ३–६ माशे। अर्क २–४ तो०।

विशिष्ट योग—शतपुष्पादि चूर्ण, शतपुष्पाद्य घृत, शतपुष्पार्क।

× × × ×

'शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः। उष्णा ज्वरानिलश्लेष्मव्रणशूलाक्षिरोगहृत्॥'
(भा. प्र.)

'शतपुष्पा कटुस्तिक्ता तीक्ष्णोष्णा दीपनी लघुः। पित्तला कफवातघ्नी मेध्या स्निग्धा ज्वरापहा॥
निहन्ति शूलदाहाक्षिरोगतृष्णावमिव्रणान्। वन्या शताह्वा वृष्या च क्षतक्षीणहिता हिमा॥
अक्षिरुक्वातपित्तास्रक्षयघ्नी स्वादुतिक्तता।' (कै. नि.)

१८४. मिश्रेया

परिचय

कुल—शतपुष्पा-कुल-(अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-प्युसिडेनम् ग्रैविओलेन्स (Peucedanum Groveolens)। सं०-मिश्रेया। हि०-सोया; बं०-शलुका, म०-शेपु; गु०-सुवा; ता०-शतकुप्पिविराई; ते०-शतकुप्पिविट्टुलु; अ०-शिबित्त; अं०-डिल (Dill)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप १–२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**–२–३ इञ्च लम्बे, पक्षाकार होते हैं। **पुष्प**–पीतवर्ण होते हैं। **फल**–छोटे, श्यामवर्ण के होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में ३–४ प्रतिशत उड़नशील सुगन्धित तैल तथा एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर तथा व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक तथा शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन तथा स्तन्यजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह शुक्रनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—उदरशूल, आध्मान, पक्षाघात, सन्धिवात में इसके तैल का अभ्यङ्ग करते हैं। कर्णशूल में इसे कान में डालते हैं। शोथ वेदनायुक्त अङ्गों में सोया के क्वाथ का उपनाह देते हैं या उससे सेंकते हैं। व्रणों पर इसकी पत्तियों का लेप करने से उनका पाचन शीघ्र होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल तथा कृमि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। बच्चों के उदरशूल में सोये का अर्क सुधोदक के साथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा हिक्का में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव में तथा प्रसूता स्त्रियों को इसका सेवन कराते हैं। स्तन्य कम होने पर भी यह दिया जाता है।

त्वचा—चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशे; तैल १-३ बूँद; अर्क २-४ तो०।

विशिष्ट योग—अर्क सोया (Dill Water)।

× × × ×

'मिश्रेया तद्गुणा प्रोक्ता विशेषाद् योनिशूलनुत्। अग्निमांद्यहरी हृद्या बद्धविट्कृमिशुक्रहृत्॥
रूक्षोष्णा पाचनी कासकृमिश्लेष्मानिलान् हरेत्।' (भा. प्र.)

१८५. नाडीहिङ्गु

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)।

नाम—लै०-गार्डिनिया गम्मिफेरा (Gardenia Gummifera)। सं०-नाडीहिङ्गु, हिङ्गुशिवाटिका, हिङ्गुपत्री (पत्र से हिङ्गुवत् गन्ध आने के कारण)। हि०-डिकामाली रेजिन (Dikamali Regin)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** छोटा सा पत्रमय होता है। **पत्ते**-अमरूद के जैसे किन्तु बड़े और लम्बे होते हैं। शाखाओं में छेद करने से या पत्तों के टूटने से शाखाओं के पृष्ठभाग पर एक पीताभ निर्यास निकलता है जो हवा लगने पर जम जाता है। इसकी गन्ध हींग के समान होती है और यह पीताभ कृष्ण बड़े बड़े टुकड़ों के रूप में बाजार में 'डिकामाली' के नाम से मिलता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पार्वत्य प्रदेश में विशेषतः बम्बई, मध्यभारत, दक्षिणभारत, चटगाँव और बर्मा के पहाड़ों पर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—डिकामाली में दो प्रकार के रालद्रव्य होते हैं;—एक का नाम गार्डेनिन (Gardenin) है तथा दूसरे का नाम डिकेनाली (Dikenali) है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, व्रणरोपण तथा वेदनास्थापन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक है। प्लीहवृद्धिहर भी है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक, श्वासहर तथा श्लेष्मपूतिहर है।
त्वचा—यह स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक है।
सात्मीकरण—लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों में तथा वेदनायुक्त अङ्गों में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इसका प्रयोग करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, आध्मान, गुल्म, उदरशूल, अर्श और कृमिरोगों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः गण्डूपद-कृमि (Round worm) को मारने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह उपयोगी है। प्लीहवृद्धि में भी देते हैं।
श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास तथा हिक्का में लाभकर है।
त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—विषम ज्वर में प्रयुक्त होता है। इससे ज्वर का वेग शान्त होता है तथा शैत्य, कम्प आदि लक्षण कम होते हैं।
सात्मीकरण—मेदोरोग में इसका प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अंग—निर्यास।
मात्रा—२-४ रत्ती।

× × × ×

'नाडीहिङ्गु कटूष्णं च कफवातार्तिशान्तिकृत्। विष्टाविबन्धदोषघ्नमानाहामयहारि च॥'
(रा. नि.)

हिङ्गुपत्री भवेद्रुच्या तीक्ष्णोष्णा पाचनी कटुः। हृद्बस्तिरुग्विबन्धार्शःश्लेष्मगुल्मानिलापहा॥'
(भा. प्र.)

'वाष्पिका कटुका तिक्ता हृद्या तीक्ष्णामपाचनी। उष्णानिलार्शोहृद्बस्तिरुग्गुल्मप्लीहजन्तुषु॥
विबन्धारुचिमेदःसु विषे श्लेष्मणि शस्यते॥' (कै. नि.)

विष्टम्भी

१८६. पनस

परिचय

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)।

नाम—लै०-आर्टोकार्पस इण्टेग्रिफोलिया (Artocarpus integrifolia); सं०-पनस, कण्टकिफल (कांटेदार फल वाला); अतिबृहत्फल; आमाशयफल (आमाशय-सदृश फलयुक्त); श्लेष्मातकसदृक् पत्र (लसोड़े के सदृश पत्र वाला); हि०-कटहल; बं०-काँटाल; म०-गु०-फणस; ता०-ते०-पानस; फा०-चक्की; अं०-इण्डियन जैक फ्रूट (Indian Jack fruit)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ५०-६० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-लसोड़े के सदृश किन्तु चमड़े की तरह स्थूल और कर्कश होते हैं तथा इनमें तीन सिरायें होती हैं। **पुष्प**-एक-लिङ्गी होते हैं। **फल**-१०-३० इञ्च लम्बे, ६-१८ इञ्च मोटे और कण्टकित होते हैं। इनका वजन ५-२० सेर तक होता है। कच्चे फल का गूदा श्वेतवर्ण तथा पके का पीतवर्ण होता है। **बीज**-लगभग १ इञ्च लम्बे, त्रिकोणाकार होते हैं। इनमें तैल होता है। हेमन्तऋतु में पुष्प आते हैं तथा ग्रीष्मऋतु के अन्त में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः दक्षिणभारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पके फल में ६९.२०% आर्द्रता; ०.२८% ईथर एक्सट्रैक्ट; २.२५% अलब्युमिनॉयड; २६.०८% कार्बोहाइड्रेट; ०.५८% सूत्र तथा ०.११% क्षार होते हैं। बीजों में ४१.९५% स्टार्च तथा एक तैल होता है। छाल से एक निर्यास निकलता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—कच्चा फल कषाय, मधुर तथा शीतस्निग्ध होने से कफवातवर्धक और पित्तशामक है। पका फल वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका दूध शोथहर और व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल गुरु होने से विष्टम्भी है। मूल-कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—पका फल रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—पका फल मधुर-स्निग्ध होने से शुक्रवर्धक है।

त्वचा—पत्र तथा मूल त्वग्दोषहर है।

सात्मीकरण—पका फल बल्य और बृंहण तथा पत्र विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—पका फल वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—ग्रन्थिशोथ तथा व्रणों में इसका दूध लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मूल का क्वाथ अतिसार में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—पका फल रक्तपित्त में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में पका फल उपयोगी है।

त्वचा—पत्र तथा मूल का क्वाथ चर्मरोगों में देते हैं।

सात्मीकरण—पका फल दौर्बल्य, कृशता में तथा पत्र का क्वाथ विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र, मूल।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला।

वक्तव्य—विष्टम्भी होने के कारण यह गुल्म, अग्निमान्द्य आदि उदररोगों में निषिद्ध है।

× × × ×

'पनसः कण्टकिफलः पनसोऽतिबृहत्फलः। पनसं शीतलं पक्कं स्निग्धं पित्तानिलापहम्॥ तर्पणं बृंहणं स्वादु मांसलं श्लेष्मलं भृशम्। बल्यं शुक्रप्रदं हन्ति रक्तपित्तक्षतव्रणान्॥ आमं तदेव विष्टम्भि वातलं तुवरं गुरु। दाहकृन्मधुरं बल्यं कफमेदोविवर्धनम्॥ पनसोद्भूतबीजानि वृष्याणि मधुराणि च। गुरूणि बद्धविट्कानि सृष्टमूत्राणि संवदेत्॥ मज्जा पनसजो वृष्यो वातपित्तकफापहः। विशेषात् पनसो वर्ज्यो गुल्मिभिर्मन्दवह्निभिः॥ (भा. प्र.)

'पनसं सकषायं तु स्निग्धं स्वादुरसं गुरु।' (सु. सू. ४६)

१८७. लकुच

परिचय

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)।

नाम—लै०-आर्टोकार्पस लकूचा (Artocarpus Lakoocha); सं०-लकुच, ग्रन्थिफल (फल गाँठदार), पीतनाश (बन्दरों का भक्ष्य); हि०-बड़हर; बं०-डेलो, मादार; अं०-मंकी फ्रुट (Monkey fruit)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** २५-३० फुट ऊंचा होता है। **छाल** खुरदरी, धूसरवर्ण तथा काष्ठ कठिन, बाहर की ओर श्वेत और भीतर की ओर पीला होता है। **पत्र**-अंडाकृति, ५-१२ इञ्च लम्बे, २-६ इञ्च चौड़े, रूक्ष होते हैं। **पत्रसिरायें** ८-१२ जोड़ी होती हैं। **पुष्प**-एकलिंगी होते हैं। **फल**-गोल, गांठदार, कच्चे में हरे और पकने पर पीले हो जाते हैं। **बीज**-अनेक, लम्बे, श्वेतवर्ण होते हैं। वसन्त में पुष्प आते हैं और वर्षा में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—मधुर, अम्ल, कषाय।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—कच्चा फल रूक्षता से वायु, अम्ल-उष्ण होने से कफ-पित्त का प्रकोप करता है, अतः त्रिदोषकोपक है। पका फल माधुर्य के कारण वातपित्तशामक तथा कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—इसका पका फल रोचन, अग्निवर्धक और विष्टम्भी है। कच्चा फल अग्निसादन है। बीज रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तदूषक है।
प्रजननसंस्थान—अवृष्य है।
त्वचा—इसकी छाल ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—पका फल धातुवर्धक और कच्चा फल धातुनाशन है।
नेत्र—यह नेत्रों के लिए भी हानिकर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—पका फल वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—पका फल अरुचि, अग्निमान्द्य में देते हैं। बीजों का प्रयोग विबन्ध में करते हैं।
त्वचा—ज्वर में छाल का क्वाथ देते हैं।
सात्मीकरण—पके फल का प्रयोग पुष्ट्यर्थ करते हैं।
प्रयोज्य अंग—फल, त्वक्।
मात्रा—त्वक्क्वाथ-५-१० तोला।
अहितनिवारण—इससे उत्पन्न अहित प्रभावों के निराकरण के लिए अदरख का सेवन कराना चाहिए।
वक्तव्य—यह फलों में निकृष्टतम माना गया है।

× × × ×

'आमं लकुचमुष्णं च गुरु विष्टम्भकृत्तथा। मधुरं च तथाम्लं च दोषत्रितयरक्तकृत्॥
शुक्राग्निनाशनं वापि नेत्रयोरहितं स्मृतम्। सुपक्वं तत्तु मधुरमम्लं चानिलपित्तहृत्॥
कफवह्निकरं रूच्यं वृष्यं विष्टम्भकं च तत्।' (भा. प्र.)
'लकुचं तुवरं चोष्णं फलेष्वप्यवरं गुरु। रक्तपित्तं बलासं च कुरुते हरतेऽनिलम्॥
पक्वं तु स्वादु विष्टम्भि वृष्यं दोषाग्निवर्धनम्।' (कै. नि.)
'लकुचं फलानां (अहिततमम्)' (च. सू. २७)
'त्रिदोषविष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम्।' (सु. सू. ४६)

रेचन

(क) सर

१८८. फल्गु

परिचय

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)।

नाम—लै०-फाइकस कैरिका (Ficus Carica); सं०-फल्गु, राजोदुम्बर, अंजीर; हि०-फा०-अंजीर; ता०-शिमी-अट्टि; ते०-टेनि-अट्टि; अ०-तीन; अं०-फिग (Fig)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का होता है। **पत्ते**-वटपत्र के समान किन्तु छोटे और रूक्ष होते हैं। **फल**-उदुम्बर के समान होता है। इसके पके सुखाये हुये फल माला में गुंथे हुये बाजारों में मिलते हैं।

जाति—उत्पत्तिस्थान तथा वर्णभेद से अनेक प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह एशिया के तुर्की, अरब, ईरान, अफगानिस्तान, एशिया माइनर, फिलस्तीन, चीन आदि देशों में होता है। भारत में पश्चिमोत्तर प्रदेश, पंजाब, काश्मीर,

बम्बई और मद्रास में अधिक मिलता है। संप्रति पूना, अहमदाबाद, सतारा, बंगलोर और सहारनपुर में भी प्रचुर होता है। अफ्रीका और अमेरिका में भी बहुत होता है। मूलतः यह एशिया माइनर का निवासी माना जाता है।

रासायनिक संघटन—ताजे फल में द्राक्षशर्करा ६२ प्रतिशत, निर्यास, वसा और लवण पाये जाते हैं। सूखे फल में शर्करा, वसा, पेक्टोज, गोंद, अलब्युमिन और लवण होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर-शीत होने से वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन और अनुलोमन है। यकृदुत्तेजक तथा प्लीहवृद्धिहर भी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा रक्तपित्तहर है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध होने से कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

त्वचा—वर्ण्य, दाहप्रशमन और विस्फोटशामक है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ में फलों का गरम लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य और विबन्ध को दूर करने के लिए यह प्रसिद्ध है। अर्श, यकृद्वृद्धि, कामला एवं शैशव यकृद्दाल्युदर (Infantile liver) में भी इसका प्रयोग होता है। प्लीहावृद्धि में अञ्जीर को जामुन के सिरके में १ सप्ताह तक सन्धान करने के बाद सेवन कराते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, सन्धिवात, रक्तपित्त आदि में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में श्वासमार्ग की रूक्षता तथा वक्षदाह को दूर करने के लिए एवं कफ को आसानी से निकालने के लिए इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, वृक्कशूल तथा मूत्रकृच्छ्र में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में अन्य शुक्रल द्रव्यों के साथ देते हैं।

त्वचा—वर्णविकार, दाह तथा मसूरिका आदि विस्फोटयुक्त विकारों में सेवन कराते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य के लिए हितकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—२-३ दाने।

'तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम् ।' (च. सू. २७)
'विष्टम्भि मधुरं शीतं फल्गुजं तर्पणं गुरु ।' (सु. सू. ४६)
अञ्जीरं शीतलं स्वादु गुरु पित्तास्रवातजित् । तस्मादल्पगुणं ज्ञेयमञ्जीरं लघु तद्गुणैः ॥'
(म. वि.)

१८९. अतसी

परिचय

कुल—अतसी-कुल (लिनेसी-Linaceae)।

नाम—लै०-लिनम् युसिटेटिसिमम् (Linum Usitatissimum); सं०-अतसी, नीलपुष्पी, क्षुमा; हि०-तीसी, अलसी; बं०-मशिना; म०-जवस; गु०-अलसी; ता०-आलिसिडिराई; ते०-अतसी; अ०-कत्तान; फा०-ज़ागिरा; अं०-लिनसीड (Linseed), फ्लैक्स (Flax)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप २-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-लम्बे और नुकीले होते हैं। **पुष्प**-नील वर्ण, छोटे होते हैं। **फल**-गोल, घुंडीदार होते हैं। **बीज**-कोष ६-८ भागों में विभक्त होता है जिनमें चपटे बीज होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल होते हैं।

जाति—बीजों के वर्णभेद से यह चार प्रकार का होता है—श्वेत, पीत, रक्त और कृष्ण।

उत्पत्तिस्थान—यह मिश्र, रूस, ब्रिटेन, हॉलिण्ड और भारत में होता है। भारत में मुख्यतः बंगाल, बिहार और उत्तरप्रदेश में इसकी उत्पत्ति होती है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ३७-४४ प्रतिशत स्थिर तैल, पिच्छिल द्रव्य १५ प्रतिशत, प्रोटीन, राल, मोम, शर्करा तथा क्षार ३-५ प्रतिशत होते हैं। क्षार में पोटाशियम, कैलशियम और मैगनीशियम के सलफेट और क्लोराइड होते हैं। तैल में १०-१५ प्रतिशत खनिज द्रव्य (मुख्यतः पोटाशियम, कैलशियम और मैगनीशियम के फॉस्फेट) तथा २५ प्रतिशत प्रोटीन होता है। श्वेत जाति के बीजों में तैल अधिक होता है। विशुद्ध ताजा तैल जल के सदृश पतला और विवर्ण होता है। हवा लगने पर यह गाढ़ा हो जाता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **विपाक**—कटु।
रस—मधुर, तिक्त। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-उष्ण होने से वातशामक तथा कफपित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—अलसी का गरम लेप व्रण शोथ को शान्त करता है या उसको शीघ्र पका देता है। गम्भीर अवयवों में स्थित शोथ को भी यह शान्त करता है। इसका तैल स्नेहन और वातशामक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—भूनी हुई तीसी ग्राही है। इसका तैल अनुलोमन होता है।

रक्तवहसंस्थान—इसके पुष्प हृद्य हैं।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से वाजीकरण (उत्तेजक) है किन्तु शुक्रनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ में इसकी पुल्टिस बाँधते हैं। फुफ्फुस-शोथ, पार्श्वशूल, हृदयशूल आदि में भी इसका लेप करते हैं। तैल का अभ्यंग वातविकारों, चर्मरोगों और दौर्बल्य में करते हैं। व्रणों में भी लगाते हैं। चूने के पानी के साथ मिला कर अग्निदग्ध पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी आदि में भूनी हुई तीसी का चूर्ण देते हैं। विबन्ध, आनाह और अर्श में इसका तैल आधे तोले की मात्रा में पिलाते हैं। अधरगुद के अवरोध में इसके तैल की बस्ति देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसके पुष्प हृद्रोगों में प्रयुक्त होते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में इसके बीजों का फाण्ट देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, बस्तिशोथ, पूयमेह आदि में इसका फाण्ट प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना को बढ़ाने के लिए इसके बीजों का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—बीज, तैल, पुष्प।

मात्रा—चूर्ण ३-६ माशे, तैल $\frac{1}{2}$-१ तो०, पुष्पकल्क ३-६ माशे।

विशिष्ट योग—अतस्यादि लेप।

× × × ×

'अतसी मधुरा तिक्ता स्निग्धा पाके कटुर्गुरुः। उष्णा दृक्शुक्रवातघ्नी कफपित्तप्रकोपिणी॥'

(भा. प्र.)

'अतसी तैलमाग्नेयं स्निग्धोष्णं कफपित्तकृत्। कटुपाकमचक्षुष्यं बल्यं वातहरं गुरु॥
मलकृद्रसतः स्वादु ग्राहि त्वग्दोषहृत् घनम्। बस्तौ पाने तथाभ्यंगे नस्ये कर्णस्य पूरणे॥
अनुपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये।' (भा. प्र.)

१९० शिकाकाई (सप्तला ?)

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसेसी-Mimosaceae)।

नाम—लै०-एकेसिया रुगेटा (Acacia Rugata); सं०-सप्तला (?), सातला, चर्मकशा, फेनिला, भूरिफेना, विदला; हि०-शिकाकाई; म०-शिकेकाई; गु०-चिकाखाई; ता०-शीयक्का; ते०-शीकाय।

स्वरूप—इसका कंटकित **गुल्म** होता है। **पत्र**-खैर के सदृश, अम्लरस होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। **फलियाँ**-बबूल के सदृश लम्बी और चपटी होती है। फलियों को पानी में भिंगोने पर रीठे के समान फेन उत्पन्न होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के जंगलों में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसकी फलियों में सैपोनिन ११·२%, मैलिक एसिड १२·७५%, राल १%, ग्लुकोज १३·९%, निर्यास और रंजक द्रव्य २१·५%, सूत्र २२% तथा क्षार ३·७५% होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त और शीत होने से कफपित्तशामक तथा वातवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, केश्य और लेखन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसके पत्र रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक और अनुलोमन हैं। फली वामक और अनुलोमन है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, शोथहर और रक्तशोधक है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—पत्रक्वाथ विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यूका लिक्षा आदि बाह्य कृमियों में इसकी फली के क्वाथ से सिर धोते हैं। केशों की वृद्धि के लिए भी इसका उपयोग करते हैं। इसकी फलियों के चूर्ण को मलहम के रूप में चर्मरोगों में लगाते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, यकृद्विकार, विबन्ध और कामला में पत्तों की चटनी देते हैं। फल का क्वाथ या फांट विरेचन के लिए देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ और रक्तविकारों में उपयोगी है।
श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास में फलों का फाण्ट देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रावरोध में फली का प्रयोग करते हैं।
तापक्रम—पत्तियों का फाण्ट विषमज्वरों को रोकने के लिए देते हैं।
प्रयोज्य अंग—फल, पत्र।
मात्रा—फाण्ट-४-८ तो०।

× × × ×

'सातला कटुका पाके वातला शीतला लघुः। तिक्ता शोथकफानाहपित्तोदावर्त्तरोगनुत्॥'
(भा. प्र.)

'सातला शोधनी तिक्ता कफपित्तास्रदोषनुत्। शोथोदरानाहहरा किंचिन्मारुतकृद् भवेत्॥'
(ध. नि.)

'शातला शीतला तीक्ष्णा तिक्ता पाके कटुर्लघुः। हृद्यानिलं प्रकुरुते हरते हृद्रुजं कफम्॥
पित्तोदावर्त्तकुष्ठार्शोगुल्मोदरगरं विषम्। आनाहकृमिशोफामारुचीरुभयशोधनी॥' (कै. नि.)

१९१. वास्तूक

परिचय

कुल—वास्तूक-कुल (चेनोपोडिएसी-Chenopodiaceae)।

नाम—लै०-चेनोपोडियम ऐल्बम (Chenopodium Album); सं०-वास्तूक, क्षारपत्र, शाकराट्, यवशाक (यव, गेहूँ आदि के खेतों में होने वाला); हि०-बथुआ;

बं०-बेतोशाक; म०-चाकवत्; गु०-टांको; ता०-परुपु कायर; ते०-पप्पु-कुरा; अ०-सर्मक्‌कुतफ; फा०-सलमः; अं०-गूज-फुट (Goose-foot)।

स्वरूप—इसका क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-कटे हुए, स्थूल, स्निग्ध एवं हरे होते हैं। **पुष्प**-छोटे हरिताभ होते हैं। बीज छोटे छोटे काले रंग के होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक और बड़ी जाति होती है जिसके पत्ते बड़े तथा प्रौढ होने पर लाल रंग के होते हैं। इसे निघण्टु में 'गौड़ वास्तूक' नाम दिया है। लैटिन में इसे चेनोपोडियम पर्प्युरासेन्स (C. Purpurascens) कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में तथा हिमालय प्रदेश में ४॥ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में सुगंधित तैल, खनिज द्रव्य विशेषतः पोटाश तथा अलब्युमिनॉयड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर (किंचित् क्षारीय)।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्र का लेप शोथहर और कुष्ठघ्न है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, तृष्णाशामक, दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और कृमिघ्न है। प्लीहशोथहर भी है।
रक्तवहसंस्थान—यह शोणितास्थापन है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथ तथा चर्मरोगों में पत्र और बीज का लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, तृष्णा, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, यकृद्वृद्धि, कामला, अर्श, कृमि और प्लीहावृद्धि में इसका शाक खिलाते हैं। उदररोग तथा कामला में बीजचूर्ण भी देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, उरःक्षत आदि में उपयोगी है।
श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास तथा श्वास में प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका शाक एवं बीजचूर्ण लाभकर है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसका शाक देते हैं।
तापक्रम—ज्वर तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य इसका शाक हितकर है।
सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग, बीज।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; बीजचूर्ण-३-६ माशे।

× × × ×

'वास्तूकं वास्तुकं च स्यात् क्षारपत्रं च शाकराट्। तदेव तु बृहत्पत्रं रक्तं स्याद् गौडवास्तुकम्॥
प्रायशो यवमध्ये स्याद् यवशाकमतः स्मृतम्। वास्तूकद्वितयं स्वादु क्षारं पाके कटूदितम्॥
दीपनं पाचनं रुच्यं लघु शुक्रबलप्रदम्। सरं प्लीहास्रपित्तार्शःकृमिदोषत्रयापहम्॥' (भा. प्र.)
'......त्रिदोषघ्नं भिन्नवर्चस्तु वास्तुकम्।' (च. सू. २७)
'कटुर्विपाके कृमिहा मेधाग्निबलवर्धनः। स क्षारः सर्वदोषघ्नो वास्तूकः रोचनः सरः॥'
(सु. सू. ४६)

'भुक्त्वा वास्तुकशाकेन सतक्रं लवणं पिब।
हरीतकीं भुंक्ष्व राजन् नश्यन्तु व्याधयश्च ते॥' (शो०)

१९२. उपोदिका

परिचय

कुल—वास्तूक-कुल (चेनोपोडिएसी-Chenopodiaceae)।

नाम—लै०-बैसेला रुब्रा (BasellaRubra)। सं०-उपोदिका, पोतकी; हि०-पोई; बं०-पुईंशाक; म०-मायाल; गु०-पोई; ता०-बसला; ते०-बचलि; इण्डियन स्पिनच (Indian Spinach) या मलाबार नाइटशेड (Malabar Nightshade)।

स्वरूप—इसकी शाखा-प्रशाखायुक्त, स्निग्ध, लंबी आरोही लता होती है। पत्र-हृदयाकृति, स्थूल-मांसल और हरे होते हैं। पुराने पत्रों में लाल चिह्न होते हैं। पुष्पदंड-१-६ इञ्च लंबा, शाखायुक्त होता है। फल-श्वेत और रक्तवर्ण होते हैं। फल-मटर के सदृश होते हैं जो पकने पर बैंगनी रंग के हो जाते हैं। शीतकाल में इसके पुष्प और फल होते हैं।

जाति—इसकी दो मुख्य जातियाँ होती हैं:—(१) श्वेत और (२) रक्त। रक्त पोई की लता तथा पत्रसिरायें रक्तवर्ण होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें प्रचुर परिमाण में पिच्छिल द्रव्य और लौह होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—मधुर, स्निग्ध, पिच्छिल होने से यह वातपित्तशामक और कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन और शामक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कशामक और निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान—यह स्नेहन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह शीतल-मधुर होने से रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रल है।

तापक्रम—यह दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विद्रधि, विस्फोट, शीतपित्त तथा अग्निदग्ध पर इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। दाह एवं शिरःशूल में भी इसका रस लगाते हैं। अनिद्रा में भी शिर पर इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा अनिद्रा में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य तथा विबन्ध में इसका शाक खिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में इसका स्वरस प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—वातपैत्तिक कास और श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पूयमेह में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसकी पत्तियों को पीस कर शर्बत पिलाते हैं।

तापक्रम—दाह की शान्ति के लिए इसका उपयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में इसका शाक खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पचांग, विशेषतः पत्र।

मात्रा—स्वरस ½-१ तो०।

× × × ×

'उपोदक्यूर्ध्वगा वल्ली पिच्छिलच्छदना स्थिरा। वृत्तपत्रा रक्तदंडा रक्तबीजा च सा स्मृता॥' (शि.)

'स्वादुपाकरसा वृष्या वातपित्तमदापहा। उपोदिका सरा स्निग्धा बल्या श्लेष्मकरी हिमा॥'
(सु. सू. ४६)

'मधुरा मधुरा पाके भेदिनी श्लेष्मवर्धिनी।
वृष्या स्निग्धा च शीता च मदघ्नी चाप्युपोदिका॥' (च. सू. २७)

'पोतक्युपोदिका सा तु मालवाऽमृतवल्लरी। पोतकी शीतला स्निग्धा श्लेष्मला वातपित्तनुत्॥
अकण्ठ्या पिच्छिला निद्राशुक्रदा रक्तपित्तजित्। बलदा रुचिकृत् पथ्या बृंहणी तृप्तिकारिणी॥'
(भा. प्र.)

(ख) स्रंसन (सनाय)

१९३. मार्कण्डिका

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०-कैसिया ऑगस्टिफोलिया (Cassia Augustifolia)। सं०-मार्कण्डिका, स्वर्णपत्री। हि०-सनाय, बं०-सोनामुखी; म०-सोनामुखी; गु०-सोनामखी; ता०-निलाविराई; ते०-नेलागाना; अ०-सनाय मक्की; अं०-इण्डियन सेन्ना (Indian Senna)।

स्वरूप—इसका सीधा **गुल्म** २-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-संयुक्त; **पत्रक**-१-८ जोड़े, १-२ इंच लम्बे, अभिमुख क्रम से होते हैं। **पुष्प**-अमलतास के सदृश पीतवर्ण

होते हैं। **शिम्बी**–चपटी जो पकने पर कृष्णवर्ण हो जाती है। **बीज**–प्रत्येक सेम के भीतर ५–६ होते हैं। वर्षा में पुष्प तथा शीत काल में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में विशेषतः मद्रास के तिनेवेली जिले में होता है। अरब से भी आता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में एक ग्लुकोसाइड, कैम्फरीन (Kampferin), ऐन्थ्राक्विनोन (Anthraquinone), आइजोरैमनेटिन (Iso-Rhamnetin); कैल्शियम ऑक्जलेट १२ प्रतिशत; क्राइसोफेनिक अम्ल; कैथार्टिक एसिड तथा एक सुगन्धित तैल होता है। कैथार्टिक एसिड मुख्य विरेचन तत्त्व है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप लेखन और त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—यह वामक, अनुलोमन और स्रंसन है। यकृत् को भी उपेक्षित करता है। इसके सेवन से अन्त्र की गति और स्राव दोनों बढ़ जाते हैं जिससे पीले पतले दस्त आते हैं। अधिक मात्रा में देने से आँतों में मरोड़ होने लगती है। यह कृमिघ्न भी है और कृमियों को मार कर बाहर निकाल देता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में शमनार्थ तथा पैत्तिक विकारों में शोधनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—चर्मरोगों में इसकी पत्ती सिरके में पीस कर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—आनाह और विबन्ध को दूर करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः ज्वर, गुल्म, उदर, आमवात, वातरक्त तथा अन्य पैत्तिक विकारों में इसका जुलाब देते हैं। कृमिरोग में भी यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र और फल।

मात्रा—चूर्ण–१–३ माशे (अनुलोमनार्थ); ६–९ माशे (स्रंसनार्थ)।

विशिष्ट योग—षट्सकार चूर्ण; यष्ट्यादि चूर्ण।

प्रयोगविधि—सनाय के प्रयोग से हृल्लास, मरोड़, तृष्णा आदि उपद्रव होते हैं। इन्हें दूर करने के लिए उसके चूर्ण के साथ सोंठ–सौंफ, गुलकन्द, सेंधानमक या मिश्री मिलाते हैं।

वक्तव्य—यह शरीर के सभी स्रावों से बाहर निकलता है। माता के स्तन्य से भी बाहर निकलने के कारण शिशु पर इसका प्रभाव होता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। शिशु को यदि विरेचन कराना हो तो माता को सनाय का चूर्ण देने से काम चल जाता है।

'मार्कण्डिका कुष्ठहरी ऊर्ध्वाधः कामशोधनी । वातरुक्क्रिमिकासघ्नी गुल्मोदरविनाशिनी ॥'
(नि. सं.)

(ग) भेदन

१६४. त्रिवृत्

परिचय

गण—भेदनीय (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—त्रिवृत्-कुल (कन्वॉल्वुलेसी-Convolvulaceae)।

नाम—लैं०-ओपर्क्युलिना टर्पेथम् (Operculina Turpethum); सं०-त्रिवृत् (काण्ड त्रिकोणाकार तथा त्रिपक्षयुक्त होने से); त्रिभण्डी, त्रिपुटा, सरला, सुवहा, रेचनी। हिं०-निशोथ, पितोहरी; बं०-तेउड़ी; म०-निशोत्तर; गु०-नसोतर; ता०-शिवदै, चिवतै; ते०-तेगड़; अ०-तुर्बुद; अं०-टर्पेथ (Turpeth)।

स्वरूप—इसकी आरोही कोमल लता होती है। **काण्ड**-सरल, त्रिकोणाकार, त्रिपक्षयुक्त और रोमश होता है। इसके तोड़ने पर दूध के समान निर्यास निकलता है। **पत्र**-अनेक आकृति के, कुछ अण्डाकार तथा कुछ कलमी शाक के सदृश त्रिकोणाकार होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, घण्टाकार होते हैं। **फल**-एक इञ्च लम्बा, गोल या अण्डाकार होता है। **बीज**-कृष्णवर्ण, प्रत्येक फल में चार होते हैं। **मूल**-स्थूल, अरुणाभ श्वेत होता है। इसके तोड़ने पर सफेद दूध निकलता है। बाजार में एक ओर फटे हुए इसके मूल मिलते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—यह दो प्रकार की होती है:—(१) श्वेत और (२) कृष्ण। श्वेत जाति का मूल अरुणाभ श्वेत तथा कृष्ण त्रिवृत् का मूल श्यामवर्ण होता है। कुछ निघण्टुकार इसके तीन भेद मानते हैं—(१) श्वेत, (२) रक्त, (३) कृष्ण। कृष्ण की अपेक्षा श्वेत (अरुणाभ) त्रिवृत् उत्तम और सुख विरेचन मानी गई है। कृष्ण त्रिवृत् हीनगुण और तीव्र विरेचन है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में ३ हजार फुट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसकी मूलत्वक् में टर्पेथिन (Turpethin) नामक एक ग्लुकोसाइड होता है जिसके कारण रेचन की क्रिया होती है। इसके अतिरिक्त राल, उड़नशील तैल, पीत रञ्जक द्रव्य, अलब्युमिन, स्टार्च, लिगेनिन, लौह तथा अन्य कुछ लवण होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, मधुर, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—कषाय-तिक्त-मधुर होने से पित्तशामक तथा रूक्ष होने से कफशामक है। रूक्षता के कारण यह वातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह भेदन और रेचन है। सुखविरेचन द्रव्यों में यह सर्वोत्तम माना गया है। यह जलापा के समान कर्म करता है और इससे पेट में मरोड़ होकर पीले रंग के पतले दस्त आते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्त रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—जीर्ण आनाह, विबन्ध, अर्श, और कामला में इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः उदररोग, वातरक्त, आमवात, कासश्वास और शोथरोग में रेचन के लिए दिया जाता है। इससे पुरीष के द्वारा दोष बाहर निकल जाते हैं। अर्श में इसके मूल का सेवन त्रिफलाक्वाथ से करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—शोथ रोग में यह उपयोगी है। इससे द्रवांश शरीर के बाहर निकल कर शोथ कम हो जाता है।

तापक्रम—ज्वर में इसका मूलचूर्ण मधु के साथ देते हैं।

सात्मीकरण—अतिस्थौल्य में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१-२ माशे।

विशिष्ट योग—त्रिवृदादिचूर्ण, त्रिवृदादिगुडिका, त्रिवृदादिक्वाथ, त्रिवृदादिघृत।

प्रयोगविधि—(१) कृष्ण त्रिवृत् तीव्र होने के कारण मूर्च्छा, दाह, भ्रम आदि उपद्रव करती है, अतः उसका प्रयोग यथासंभव न करे।

(२) अरुणाभ श्वेत मूल के भीतर का काष्ठ भाग हटा कर प्रयोग करना चाहिए।

(३) मरोड़ न हो, इसके लिए उसके साथ सोंठ, सौंफ आदि सुगन्धित द्रव्य तथा सैन्धव या मिश्री मिलाते हैं।

संग्रहविधि—प्रशस्त भूमि में उत्पन्न, गम्भीर, श्लक्ष्ण तथा सरल मूल को लेकर उसके भीतरी काष्ठ भाग को हटा दे और त्वचा को सुखा कर रख ले।

× × × ×

'श्वेता त्रिवृद्रेचनी स्यात् स्वादुरुष्णा समीरकृत्। रूक्षा पित्तज्वरश्लेष्मपित्तशोथोदरापहा॥'
'श्यामा त्रिवृत्ततो हीनगुणा तीव्रविरेचनी। मूर्च्छादाहमदभ्रान्तिकण्ठोत्कर्षणकारिणी॥'
(भा. प्र.)

'त्रिवृदुष्णा कटुस्तिक्ता रूक्षा स्वाद्वी विरेचनी। कषाया कटुका पाके वातला कफपित्तहा॥'
ज्वरशोफोदरप्लीहपाण्डुव्रणविनाशिनी।' (कै. नि.)

'त्रिवृता कटुरुष्णा च कृमिश्लेष्मोदरज्वरान्।
शोफपाण्ड्वामयप्लीहान् हन्ति श्रेष्ठा विरेचने॥' (ध. नि)

'त्रिवृत् सुखविरेचनानाम्।' (च. सू. २५)

'विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्विरेचने।' (च. क. ७)

'कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा। कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी॥
सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः। कल्पे वैशेष्यमासाद्य सर्वरोगहरा भवेत्॥
मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च। तयोर्मुख्यतरं विद्धि मूलं यदरुणप्रभम्॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तच्छुभम्। मोहयेदाशुकारित्वाच्छ्यामा कण्ठं क्षिणोत्यपि॥
तैक्ष्ण्यात् कर्षति हृत्कण्ठमाशु दोषं हरत्यपि। शस्यते बहुदोषाणां क्रूरकोष्ठाश्च ये नराः॥
गुणवत्यां तयोर्भूमौ जातं मूलं समुद्धरेत्। उपोष्य प्रयतः शुक्ले शुक्लवासाः समाहितः॥
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत्। तद्विपाट्योद्धरेद् गर्भं त्वचं शुष्कां निधापयेत्॥'
(च. क. ७)

१६५. कृष्णबीज

परिचय

कुल—त्रिवृत्-कुल (कॅन्वॉल्वुलेसी-Convolvulaceae)।

नाम—आइपोमिया हेडरेसिया (Ipomoea Hederacea); सं०-कृष्णबीज; हि०-काला दाना, भारमरिच; बं०-काला दाना; म०, गु०-काला दाणा; ता०-कोडिकक्कटन-विराई; ते०-कोल्लिविट्टुलु; अ०-हब्बुन्नील; फा०-तुख्मे नील; अं०-फार्बिटिस सीड्स (Pharbitis seeds)।

स्वरूप—इसकी आरोहिणी **लता** होती है। **काण्ड**-पतला होता है और उस पर पीछे की ओर मुड़े हुए सघन लम्बे रोम होते हैं। **पत्र**-रोमश, लट्वाकार-ताम्बूलाकार, ३-५ इञ्च लंबे, प्रायः त्रिखंड होते हैं। **पुष्प**-नीले या गुलाबी प्रायः एक साथ १-५ की संख्या में रहते हैं। **बीज**-काले, त्रिकोणाकार होते हैं। बीजावरण हटाने पर भीतरी मज्जा श्वेतवर्ण की निकलती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें फार्बिटिसिन (Pharbitisin) नामक मुख्य तत्त्व ८ प्रतिशत होता है। यह स्वरूप और गुणधर्म में जलापा के मुख्य तत्त्व (Convolvulin) के समान होता है। इसके अतिरिक्त इसमें एक गाढ़ा तैल १४·४%, पिच्छिल द्रव्य, ग्लुकोसाइड, अलब्युमिन तथा टैनिन होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह जलापा तथा निसोथ के समान रेचन कर्म करता है और इससे पानी के समान दस्त आते हैं। साथ में हृल्लास और मरोड़ भी होते हैं। यह कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उदररोग, शोथ, ज्वर, विबन्ध, शिरःशूल, उदावर्त्त आदि रोगों में रेचनार्थ प्रयुक्त होता है। कृमिरोग में भी इसे देते हैं। इससे कृमि मर कर निकल जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, आमवात, शोथ आदि में यह प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध तथा कष्टार्त्तव में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे।

विशिष्ट योग—कृष्णबीजादि चूर्ण।

प्रयोगविधि—बीजों को पके बालू में भूनकर चूर्ण कर ले और चीनी मिलाकर प्रयोग करे। हृल्लास और मरोड़ को शान्त करने के लिए इसके साथ गुलकंद, हरीतकी, सौंफ आदि मिलाना चाहिए।

× × × ×

'रेचनं श्यामबीजं स्याच्छोथोदरविनाशनम्। ज्वरे पुरीषसंगे च दारुणे शिरसो गदे॥ उदावर्त्ते तथानाहे बुधैरेतत् प्रयुज्यते।' (आ. वि.)

१६५. इन्द्रवारुणी

परिचय

गण—विरेचन, मूलिनी (च०), अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-सिट्रयुलस कोलोसिन्थिस (Citrullus Colocynthis); सं०-इन्द्रवारुणी, ऐन्द्री, गवाक्षी (गौ के अक्षिगोलक के सदृश फल); चित्र (चित्रित फलयुक्त); हि०-इन्द्रायण; बं०-राखालशसा; पं०-कौड़तुम्मा; म०-इन्द्रावण; गु०-इन्द्रावणा; ता०-पेतिकारि; ते०-पापरबुडम्; अ०-हंजल; फा०-खरबुज-ए-तल्ख; अं०-कोलोसिन्थ (Colocynth), बिटर कुकुम्बर (Bitter Cucumber)।

स्वरूप—इसकी प्रतानिनी **लता** रोमश और कर्कश होती है। **पत्र**-लट्वाकार, बहुखंडित, तरबूज की पत्तियों के सदृश २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। पत्रवृन्त के पास से पुष्प और सूत्र निकलते हैं। **पुष्प**-घंटाकार, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-गोल, २-३ इञ्च व्यास के, चिकने, चित्रित, कच्चे में हरे और पकने पर पीले रंग के हो जाते हैं। **बीज**-धूसर या कृष्णाभ होते हैं। शीत ऋतु में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ हैं जिनमें दो मुख्य हैं:—(१) इन्द्रवारुणी-इसे छोटी इन्द्रायण भी कहते हैं। इसका फल छोटा और पकने पर पीला होता है। (२) विशाला-इसे महाकाल (महकार) बं०-माकाल भी कहते हैं। ककड़ी के सदृश होने से मृगैर्वारू, मृगादनी आदि भी नाम हैं। इसका लैटिन नाम ट्राइकोसाइन्थस पमेटा (Trichosanthes Palmata) है। इसके पुष्प श्वेत और फल बड़े तथा पकने पर लाल होते हैं। फलमज्जा कृष्णाभ-हरित होती है।

धन्वन्तरि निघंटु ने इसकी तीन जातियाँ मानी हैं:—(१) इन्द्रवारुणी (२) विशाला और (३) श्वेतपुष्पी विशाला। प्रथम जाति इसका वन्यभेद है जिसमें क्षुद्रफल लगते हैं। इसका लैटिन नाम क्युक्युमिस ट्राइगोनस (Cucumis Trigonus) दिया गया है। शेष दो जातियाँ उपर्युक्त ही हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है। विशेषतः ट्रावनकोर, मध्यभारत तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फलमज्जा में कोलोसिन्थिन (Colocynthin) नामक तिक्त सत्त्व, एक ग्लुकोसाइड १४%, एक राल (कोलोसिन्थीन Colocynthin), कोलोसिन्थेटिन (Colocynthetin), पेक्टीन, गोंद तथा क्षार ११% पाये जाते हैं। फलमज्जा के अतिरिक्त अन्य अंगों में भी कोलोसिन्थिन अल्पमात्रा में पाया जाता है। बीजों में १७ प्रतिशत स्थिर तैल, अलब्युमिनॉयड ६ प्रतिशत तथा क्षार २ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका मूल व्रणशोथहर तथा व्रणशोधन है। बीजतैल केश्य और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी फलत्वचा वामक है। फलमज्जा तथा मूल रेचन और कृमिघ्न है। इसकी क्रिया अन्त्र और यकृत् पर होती है। अन्त्र की ग्रंथियाँ उत्तेजित होती हैं और प्रतीहारिणी सिरा का अवरोध दूर होकर पित्त का स्राव बढ़ता है। तीक्ष्ण होने के कारण इससे मरोड़ होती है और दस्त पतले पानी के समान होते हैं। अतः फलमज्जा तीक्ष्ण विरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—इसकी फलत्वचा कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल तीव्र गर्भाशयसंकोचक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूल प्रमेहघ्न है।

तापक्रम—मूल ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, विद्रधि आदि में इसके मूल का लेप करते हैं। फलस्वरस व्रणों में लगाते हैं। बीजतैल का प्रयोग जांगम विषों (सांप, बिच्छू आदि) में तथा खालित्य-पालित्य आदि केशरोगों में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फलमज्जा तथा मूल का प्रयोग उदररोग, गुल्म, कामला, आमवात, कृमि आदि में करते हैं। मरोड़ को शान्त करने के लिए इसके साथ सोंठ, सौंफ, खुरासानी, अजवायन आदि मिलाकर देना चाहिए।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसके मूल का प्रयोग करते हैं। शोथरोग में इसके फल का रस चीनी या मधु मिलाकर देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में फलत्वचा का प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल रजोरोध, कष्टप्रसव आदि में योनि में रखते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसकी जड़ का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में मूल प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मूल का चूर्ण अत्यल्प मात्रा में ज्वरोत्तर दौर्बल्य तथा पाण्डु में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल।

मात्रा—फलचूर्ण-१-४ रत्ती; मूलस्वरस-½-१ तोला; मूलचूर्ण-१-२ माशे।

विशिष्ट योग—नारायण चूर्ण।

वक्तव्य—इसका प्रयोग गर्भिणी स्त्रियों में, बच्चों में, दुर्बल व्यक्तियों में तथा ग्रहणी, अर्श आदि रोगों में नहीं करना चाहिए।

× × × ×

'ऐन्द्रीन्द्रवारुणी चित्रा गवाक्षी च गवादनी। वारुणी च परा शुक्ला सा विशाला महाफला॥
श्वेतपुष्पा मृगाक्षी च मृगैर्वारुर्मृगादनी। गवादनीद्वयं तिक्तं पाके कटु सरं लघु॥
वीर्योष्णं कामलापित्तकफप्लीहोदरापहम्। श्वासकासापहं कुष्ठगुल्मग्रन्थिव्रणप्रणुत्॥
प्रमेहमूढगर्भामगंडामयविषापहम्।' (भा. प्र.)
'इन्द्रवारुणिकाऽत्युष्णा रेचनी कटुका तथा। कृमिश्लेष्मव्रणान् हन्ति हन्ति सर्वोदराण्यपि॥'
(ध. नि.)
'मूलं गवाक्ष्याः स्मरमन्दिरस्थं पुष्पावरोधस्य वधं करोति।
अभर्तृकाणां व्यभिचारिणीनां योगोऽयमेव द्रुतगर्भपाते॥' (वै. जी.)
'इन्द्रवारुणिकाबीजतैलेनाभ्यङ्गमाचरेत्। प्रत्यहं तेन कालाग्निसन्निभाः कुन्तला अलम्॥' (शा.)

१९६. कटुका

परिचय

गण—भेदनीय, लेखनीय, स्तन्यशोधन, तिक्तस्कन्ध (च०); पटोलादि, पिप्पलादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—तिक्ता-कुल (स्क्रॉफुलेरिएसी-Scrophulariaceae)।

नाम—लै०-पिक्रोराइजा कुरो (Picrorrhiza Kurroa)। सं०-कटुका, तिक्ता, कटुरोहिणी, काण्डरुहा (काण्ड से उत्पन्न होने वाली या दूसरे वृक्ष के काण्ड पर चढ़ने वाली); मत्स्यशकला (मूलत्वक् पतली मछली की त्वचा के सदृश होने से); चक्रांगी (चक्राकार चिह्नयुक्त); कृष्णभेदा (तोड़ने पर भीतर कृष्णाभ); शतपर्वा (अनेक पर्व वाली) हि०-कुटकी; बं०-कट्की; पं०-कौड़; म०-काली कुटकी, बालकडू; गु०-कडू; ता०-कडुगु-रोहिणी; ते०-कटुकी; अ०,फा०-खरबके हिन्दी; अं०-हेलबोर (Hellebore)।

स्वरूप—इसका कन्दयुक्त **गुल्म**-मूली के सदृश होता है। **काण्ड**-कठिन होता है। **पत्र**-दन्तुरधार २-४ इञ्च लम्बे तथा आगे की ओर गोलाकार होते हैं। **पुष्पदण्ड**-कड़ा और ऊपर की ओर उठा होता है जिसमें अनेक पुष्प लगे रहते हैं। **मूल**-अंगुलि के समान मोटा, ६-१० इञ्च लंबे होते हैं। बाजार में इसके भूरे रंग के १-२ इञ्च लंबे, कुछ मुड़े हुए टुकड़े मिलते हैं। इसकी बाहरी त्वचा अत्यन्त पतली, छूटती हुई होती है और इसके ऊपर चक्राकार चिह्न होते हैं। ये भंगुर होते हैं और तोड़ने पर भीतर की ओर कृष्णवर्ण होते हैं। ग्रीष्मऋतु में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में काश्मीर से सिक्किम तक ७-१४ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में पिक्रोराइजिन (Picrorrhizin) नामक तिक्त सत्व १५ प्रतिशत तथा रेचनाम्ल (Cathartic acid) ९½ प्रतिशत होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ग्लुकोज, मोम आदि होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु।	**रस**—तिक्त।
विपाक—कटु।	**वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में यह रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक तथा अधिक मात्रा में रेचन है। कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—मूल की क्रिया हृदय पर तिलपुष्पी (डिजिटेलिस) के समान होती है। इससे हृदय की गति शान्त होती, उसकी शक्ति बढ़ती और रक्तभार बढ़ता है। यह रक्तशोधक और शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यशोधन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह दाहप्रशमन और ज्वरघ्न विशेषतः नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह कटुपौष्टिक है तथा अतिमात्रा में यह लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में यह अरुचि, अग्निमांद्य, यकृद्विकार, पित्तविकार तथा अधिक मात्रा में विबन्ध, आनाह और उदर रोगों में रेचनार्थ देते हैं। विशेषतः हृद्रोगजन्य उदर और शोथ में इसका प्रयोग करते हैं। इससे पानी के सदृश पतले दस्त होते हैं जिससे जलांश बाहर निकलने के कारण शोथ कम होता है और हृदय को भी बल मिलता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार तथा शोथरोग में इसका प्रयोग करते हैं। हृद्रोग में यष्टीमधु और कुटकी समभाग ले मिश्री के साथ सेवन कराते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यविकारों में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर तथा दाह एवं दाहयुक्त ज्वरों में प्रयोग होता है। विषमज्वर में लगभग ३ माशे की मात्रा में देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में कटुपौष्टिक के रूप में प्रयोग करते हैं। अधिक मात्रा में मेदोरोग में देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल।

मात्रा—चूर्ण-५-१० रत्ती (कटुपौष्टिक के लिए); ३-६ माशे (रेचनार्थ)।
विशिष्ट योग—कटुकाद्य लौह, तिक्तादि क्वाथ, तिक्ताद्य घृत।

× × × ×

'कट्वी तु कटुका तिक्ता कृष्णभेदा कटंभरा। अशोका मत्स्यशकला चक्रांगी शकुलादनी॥
मत्स्यपित्ता काण्डरुहा रोहिणी कटुरोहिणी। कटुका कटुका पाके तिक्ता रूक्षा हिमा लघुः॥
भेदनी दीपनी हृद्या कफपित्तज्वरापहा। प्रमेहश्वासकासास्रदाहकुष्ठक्रिमिप्रणुत्॥' (भा. प्र.)
'कटुका पित्तजित्तिक्ता कटुः शीतास्रदाहजित्।
बलासारोचकान् हन्ति विषमज्वरनाशिनी॥' (ध. नि.)
'मम द्वयं विस्मयमातनोति तिक्ताकषायो मुखतिक्तताघ्नः।' (वै. जी.)

१९७. स्वर्णक्षीरी

परिचय

गुण—भेदनीय (च०); अधोभागहर, श्यामादि, व्रणशोधन (सु०)।

कुल—अहिफेन-कुल (पापावरेसी-Papaveraceae)।

नाम—लै०-आर्जिमोन मेक्सिकाना (Argemone Mexicana); सं०-स्वर्णक्षीरी (सुवर्णसदृश पीतदुग्ध युक्त); काञ्चनक्षीरी, पीतदुग्धा, कटुपर्णी (पत्र कटुरस); हि०-सत्यानाशी, भड़भांड़, कँटैला; बं०-शियालकाँटा; म०-कांटेधोत्रा; गु०-दारुडी; ता०-कुडियोट्टि; ते०-इट्टूरि; अं०-मेक्सिकन पॉपी (Mexican Poppy)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**-१-२ हाथ ऊँचा होता है। इसके सभी अंग कंटकित होते हैं और उनको तोड़ने से पीतवर्ण दुग्ध निकलता है। **पत्र**-लम्बे, कंटकित और उनके किनारे कुछ खण्डित होते हैं। पत्र में श्वेत रेखायें पाई जाती है। **पुष्प**-पीले रंग के होते हैं। **फल**-१-१½ इञ्च लम्बे होते हैं। **बीज**-कृष्णवर्ण, सरसों से कुछ बड़े और एक फल में अनेक होते हैं। इसके मूल को 'चोक' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल निवासस्थान पश्चिम भारतीय द्वीपसमूह है किन्तु संप्रति समस्त भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों और फलियों में बर्बेरिन (Berberine) और प्रोटोपिन (Protopine) नामक क्षारतत्त्व होते हैं। बीजों में २२ प्रतिशत हलके पीले रंग का स्थिर तैल, कार्बोहाइड्रेट और अलब्युमिन ४९ प्रतिशत, आर्द्रता ९ प्रतिशत तथा भस्म ६ प्रतिशत होती है। भस्म में कुछ फास्फेट, सलफेट तथा पोटाशियम नाइट्रेट होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका दूध, पत्रस्वरस तथा बीज तैल व्रणशोधन, व्रणरोपण तथा कुष्ठघ्न है। इसके मूल का लेप शोथहर और विषघ्न है। बीज वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसके पंचाग का सत्त्व तथा बीजों का तैल रेचन है। इसका स्वाद खराब नहीं है, मात्रा कम होती है तथा पेट में मरोड़ भी नहीं होता। इससे दुर्बलता भी अधिक नहीं होती। इसमें दोष यही है कि इसकी क्रिया समान रूप से नहीं होती है—कभी तो १५-१६ दस्त हो जाते हैं और कभी ३-४ ही। इसके अतिरिक्त, यह हृल्लासकारक है और कभी कभी वमन भी हो जाता है। मूल कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—इसके पंचांग का स्वरस रक्तशोधक है तथा दुग्ध शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—बीज कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—दुग्ध मूत्रल है।

त्वचा—दुग्ध कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—पंचांग का स्वरस तथा दुग्ध विषमज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण तथा चर्मरोगों में स्वरस, दूध या बीजतैल लगाते हैं। शोथ और विष (बिच्छू आदि के) में मूल का लेप करते हैं। वीजों का लेप या बीजतैल का अभ्यंग सन्धिवात आदि में लाभकर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विबन्ध, आनाह, उदरशूल आदि में बीजतैल या पंचांगसत्त्व का प्रयोग होता है। मूल का चूर्ण ३-४ माशे की मात्रा में कृमिरोग (विशेषतः स्फीतकृमि) में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, उपदंश, शोथ में दुग्ध तथा पंचांग स्वरस का प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में बीजों का चूर्ण देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह, अश्मरी आदि में दुग्ध देते हैं।

त्वचा—कुष्ठरोग में उपयोगी है।

तापक्रम—विषमज्वर और दाह में दुग्ध और स्वरस प्रयुक्त होते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, क्षीर, तैल, पंचांग।

मात्रा—मूलचूर्ण १०-३० रत्ती, बीजचूर्ण २-३ माशे, क्षीर ३-६ माशे, तैल २५-४० बूँद, स्वरस ½-१ तो०।

× × × ×

'हेमाह्वा रेचनी तिक्ता भेदन्युत्क्लेशकारिणी। कृमिकण्डूविषानाहकफपित्तास्रकुष्ठनुत्॥'

(भा. प्र.)

'स्वर्णक्षीरी हिमा तिक्ता कृमिपित्तकफापहा। मूत्रकृच्छ्राश्मरीशोफदाहज्वरहरा परा॥'

(रा. नि.)

१९८. अर्क

परिचय

गण—भेदनीय, वमनोपग, स्वेदोपग (च०); अधोभागहर, अर्कादि (सु०)।

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लिपिएडेसी-Asclepiadaceae)।

नाम—लै०-कैलोट्रोपिस प्रोसेरा (Calotropis procera); सं०-अर्क (सूर्य के समान तीक्ष्ण और उष्ण); तूलफल (रूईदार फल होने से); क्षीरपर्ण (पत्तों में दूध

होने से); हि०-अकवन, आक, मदार; वं०-आकन्द; म०-रूई; गु०-आकडो; पं०-अक, ता०-एराखाम; ते०-मन्दारामु; अ०-उषर; फा०-खरक; अं०-मदार (Madar)।

स्वरूप—इसका क्षुप छोटा और गुल्मजातीय होता है। काण्ड कठिन तथा काण्ड त्वक् धूसर और सूत्रमय होती है। **पत्र**–४–६ इञ्च लंबे, १–२ इञ्च चौड़े और स्थूल होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चिकना किन्तु निचला पृष्ठ रोमश होता है। **पुष्पदंड**–पत्र-कोणोद्भूत तथा अनेकशाखायुक्त होता है जिस पर अनेक पुष्प गुच्छों में लगते हैं। **पुष्प**–बाहर श्वेत और भीतर रक्ताभ बैंगनी होते हैं। **फल**–लंबे, टेढ़े होते हैं जो सूखने पर फट जाते हैं और उनके भीतर से सफेद मुलायम रूई निकलती है। **बीज**–छोटे, काले रंग के होते हैं। वसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म में फल लगते हैं। किसी किसी क्षुप पर एक प्रकार का द्रव संचित हो जाता है इसे 'अर्क-शर्करा' कहते हैं।

जाति—पुष्प के वर्णभेद से यह दो प्रकार का माना गया है—(१) श्वेत और (२) रक्त। रक्त जाति को सामान्यतः 'अर्क' कहते हैं जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। श्वेतपुष्प अर्क का विशिष्ट नाम 'अलर्क' दिया गया है। इसे 'मन्दार' भी कहते हैं तथा इसका लै० नाम कैलोट्रोपिस जाइगैण्टिया (C. Gigantia) है। इसमें जिसका क्षुप बड़ा वृक्षाकार होता है उसे 'राजार्क' कहते हैं। यह सदापुष्प होता है। राजनिघंटु ने उसकी चार जातियों का उल्लेख किया है:—(१) अर्क, (२) राजार्क (अलर्क), (३) शुक्लार्क और (४) श्वेतमन्दार। यूनानी वैद्यक में इसकी तीन जातियाँ स्वीकृत की गई हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत की शुष्क और ऊसर भूमि में उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त, लंका, अफगानिस्तान तथा ईरान से अफ्रिका तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी मूलत्वक् में एक तिक्त सत्त्व अत्यल्प परिमाण में में होता है। एक किण्वतत्त्व भी होता है जो गरम दूध को शीघ्र जमा देता है। इनके अतिरिक्त मदार-ऐल्बन (Madar-Alban), मदार-फ्लैविल (Madar-Fluabil), कृष्णाम्ल राल (Black-acid resin) तथा रबड़ (Caoutchouc) होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है। रक्तार्कपुष्प तिक्तमधुर होने से रस के द्वारा कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न और जतुघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह वमनोपग, दीपन, पाचन, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है। इसका वामक कर्म आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करके तथा वामक केन्द्र को प्रभावित करने से होता है।

रक्तवहसंस्थान—मूलत्वक् हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है तथा रक्तार्क-पुष्प रक्तपित्तप्रशमन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और श्वासहर है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—मूल की छाल ज्वरघ्न और नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है। इससे शरीर के समस्त अवयव उत्तेजित होते हैं और शरीर का बल बढ़ता है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मूलत्वक् और क्षीर कफवातजन्य रोगों में तथा रक्तार्कपुष्प कफपित्त-रोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों (श्लीपद, आमवात आदि) में अर्कपत्र गरम कर बाँधते हैं तथा उसके स्वरस से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करते हैं। इस तैल को कर्णरोगों (कर्णशूल, बाधिर्य आदि) में डालते हैं। पत्रचूर्ण व्रणों पर छिड़कने से शीघ्र शोधन और रोपण होता है। व्रणों पर मूलत्वक् का भी लेप करते हैं। ग्रन्थिशोथ, गण्डमाला आदि में अर्कक्षीर का लेप करते हैं। कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में अर्कक्षीर सरसों के तैल में मिलाकर लगाते हैं। श्वित्र में भी दूध का लेप करते हैं। खालित्य और अर्शांकुरों में भी क्षीर का लेप लाभकर है। दन्तशूल में इसकी दातून करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, विबन्ध, गुल्म, उदर, कृमि में मूलत्वक् का प्रयोग करते हैं। अर्कक्षीर वमन और रेचन के लिए दिया जाता है। मूलत्वक् विसूचिका में भी उपयोगी है। अर्कक्षार उदररोगों में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, श्लीपद, उपदंश तथा अन्य रक्तविकार में मूलत्वक् देते हैं। रक्तपित्त में रक्तार्कपुष्प प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में मूलत्वक् और पुष्प का प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में मूलत्वक् देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में उपयोगी है। सर्पविष में इसके मूलस्वरस को काली मिर्च के साथ पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, क्षीर, पुष्प, पत्र।

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण-३-६ रत्ती; क्षीर-२-६ रत्ती; पुष्प-१-२ माशे।

विशिष्ट योग—अर्कलवण, अर्कतैल, अर्केश्वर।

अहित प्रभाव—मूलत्वक् ३-६ माशे की मात्रा में देने से आमाशय में दाह, क्षोभ और वमन होने लगता है।

निवारण—दूध, घी आदि स्निग्ध-शामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने सविरेचने।' (च. सू. १)

अर्कद्वयं सरं वातकुष्ठकण्डूविषव्रणान्। निहन्ति प्लीहगुल्मार्शःश्लेष्मोदरशकृत्क्रिमीन्॥
अलर्ककुसुमं वृष्यं लघु दीपनपाचनम्। अरोचकप्रसेकार्शःकासश्वासनिवारणम्॥
रक्तार्कपुष्पं मधुरं सतिक्तं कुष्ठकृमिघ्नं कफनाशनं च।
अर्शोविषं हन्ति च रक्तपित्तं संग्राहि गुल्मे श्वयथौ हितं तत्॥
क्षीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु। कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद्विरेचनम्॥'
(भा. प्र.)

'अर्कस्तिक्तो भवेदुष्णः शोधनः परमः स्मृतः। कण्डूव्रणहरो हन्ति जन्तुसन्ततिमुद्धताम् ॥' (ध. नि.)

'अर्कस्तु कटुरुष्णश्च वातजिद्दीपनीयकः। शोथव्रणहरः कण्डूकुष्ठक्रिमिविनाशनः ॥' (रा. नि.)

मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः।' (च. सू. ३.)

'सप्तच्छदार्कदुग्धाभ्यां पूरणं क्रिमिदन्तनुत्।' (च. द.)

१६६. कम्पिल्लक

परिचय

गण—विरेचन (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युफर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-मेलोटस फिलिपाइनेन्सि (Mallotus Philippinensis)। सं०-कम्पिल्लक, कर्कश, रक्तांग, रेचन। हि०-कबीला; बं०-कमलागुँडि; म०-कपिला; गु०-कपीलो; ता०-कपिलापेदि; ते०-सुन्दर शुण्डी; अ०-कम्बीला; अं०-कमला डाई (Kamala Dye); मंकी फेसट्री (Monkey-face tree)-इसके फल को मुँह में रखने से मुँह बन्दर के समान लाल हो जाता है।

स्वरूप—इसका मध्यमाकृति सदाहरित **वृक्ष**-२५-३० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-गूलर के पत्ते के सदृश, ३-६ इञ्च लम्बे होते हैं। इनके वृन्त के निकट दो गोलाकार ग्रन्थियाँ होती हैं। पत्र के निम्नभाग में तीन रक्तवर्ण सिरायें होती हैं। **पुष्पदण्ड**-गहरे लालरंग के तथा पुष्प छोटे, एकलिङ्गी होते हैं। **फल**-छोटे बेर के सदृश, त्रिकोष्ठीय, गुच्छों में लगते हैं। पके फल लाल रंग की धूलि से आवृत रहते हैं जो मसलने पर फल से पृथक् हो जाती है। यही रक्तवर्ण चूर्ण 'कबीला' के नाम से व्यवहृत होता है। शाखाओं से भी कबीला प्राप्त होता है किन्तु यह पीताभ और निकृष्ट होता है। **बीज**-गोलाकार, चिकने, कृष्णवर्ण होते हैं। पुष्प शरद् तथा फल वसन्त में लगते हैं।

परीक्षा—(१) शुद्ध कबीला जल में अविलेय है और आग लगाने पर बारूद जैसा जलता है। क्षार, ईथर और सुरासार में विलेय है। गरम जल में अंशतः विलेय है। (२) जलार्द्र अंगुलि से कबीला उठा कर सफेद कागज पर रगड़ने से पीले रंग की रेखा बन जाती है और स्पर्श मृदु होता है। (३) शुद्ध कबीला हलका और स्वाद गन्धहीन होता है। अशुद्ध में भारीपन और कुछ स्वाद और गन्ध होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत, लंका, बर्मा, मलाया, सिङ्गापुर, चीन, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें मुख्य द्रव्य एक रक्तपीत राल ८० प्रतिशत होता है जिसमें रॉटलरीन (Rotllerin) नामक स्फटिकीय द्रव्य होता है। इसके अतिरिक्त, उड़नशील तैल, निर्यास, कषायद्रव्य, रंजकद्रव्य, स्टार्च, अलब्युमिन आदि पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है। पित्तकारक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, रेचन तथा कृमिघ्न है। यह उदरस्थ कृमियों को मारकर बाहर निकाल देता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीभेदन है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। पित्तसंशोधन के लिए भी देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कण्डू, पामा, कुष्ठ आदि चर्मरोगों में तथा व्रणों और क्षतों में तैल में मिलाकर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आध्मान, उदर, गुल्म और कृमिरोग में यह उपयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी रोग में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना के लिए भी देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फलरज।

मात्रा—१-३ माशे, बालकों के लिए ५ रत्ती।

विशिष्ट योग—क्रिमिघातिनी वटिका।

अहितप्रभाव—इससे हृल्लास होता है।

× × × ×

'इष्टिकाचूर्णसंकाशः चन्द्रिकाढ्योऽल्परेचनः। सौराष्ट्रदेशे वृक्षस्य फलरेणुः कपिल्लकः॥' (शि.)

'काम्पिल्लः कफपित्तास्रक्रमिगुल्मोदरव्रणान्। हन्ति रेची कटूष्णश्च मेहानाहविषाश्मनुत्॥'
(भा. प्र.)

'कम्पिल्लको विरेची स्यात् कटूष्णो व्रणनाशनः। गुल्मोदरविबन्धाध्मश्लेष्मकृमिविनाशनः॥'
(ध. नि.)

२००. दुग्धिका

परिचय

कुल—एरण्ड-कुल (युफर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-युफर्बिया माइक्रोफाइला (Euphorbia Microphylla); सं०-दुग्धिका, नागार्जुनी, स्वादुपर्णी, विक्षीरिणी; हि०-दुद्धी; बं०-केरुई; म०-लहान नायटी; गु०-दुधेली; पं०-दोधक, हजारदाना; ता०-सित्रपलडि; ते०-पेड्डत्ररि; फा०-शीरक।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप भूमि पर प्रसरणशील या खड़ा होता है। **काण्ड**-पत्रमय, कोमल, अनेकशाखायुक्त, रोमश, लगभग ४-१० इञ्च लम्बा होता है। **पत्र**-छोटे,

लम्बे होते हैं। **पुष्प**–फल छोटे और **बीज** चिकने, नीलवर्ण होते हैं। शीतकाल के अन्त में फूल और फल लगते हैं।

जाति—इसकी दो मुख्य जातियाँ होती हैं:—(१) बड़ी और (२) छोटी। बड़ी दुग्धिका का क्षुप बड़ा, १–२ फुट ऊँचा होता है। इसका लै०-नाम युफर्बिया पिल्युलिफेरा (E. Pilulifera) है। छोटी दुग्धिका भी दो प्रकार की होती है:—(क) श्वेत और (ख) रक्त। श्वेत दुग्धिका का वर्णन ऊपर किया गया है। इसके पत्र श्वेत हरितवर्ण होते हैं। रक्तदुग्धिका का समस्त क्षुप रक्ताभ या ताम्रवर्ण होता है। इसमें पुष्प भी बारहों महीने रहते हैं। इसका लै० नाम युफर्बिया थाइमिफोलिया (E. Thymifolia) है। चिकित्सा में अधिकांश छोटी दुग्धिका का ही प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में विशेष कर दक्षिण भारत, मध्यभारत और बंगाल में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—छोटी दुग्धिका में क्वर्सेटिन के समान एक स्फटिकीय क्षारतत्त्व होता है। बड़ी दुग्धिका में एक राल, एक क्षारतत्त्व, मोम, क्लोरोफिल, कषायद्रव्य, शर्करा, पिच्छिलद्रव्य, कैल्शियम ऑक्जलेट, कार्बोहाइड्रेट, अलब्युमिनायड, गैलिक एसिड, क्वर्सेटिन (Quercetin) तथा कुछ सुगंधित तैल पाये जाते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर और वातवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, विषघ्न और कुष्ठघ्न है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, भेदन और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक और रक्तशोधक है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और आर्त्तवजनन है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं। विषाक्त जन्तुओं के दंश पर इसका लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग; विबन्ध और कृमि में इसका प्रयोग करते हैं। प्रवाहिका में भी इसे देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृदौर्बल्य तथा उपदंश, फिरंग आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।
श्वसनसंस्थान—जीर्णकास और श्वास में उपयोगी है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में कामोत्तेजना के लिए तथा रजोरोध में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—सर्प के काटने पर दुग्धिकास्वरस १ तो० काली मिर्च मिलाकर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस-½-१ तो०; क्वाथ-२-४ तो०।

× × × ×

'दुग्धिकोष्णा गुरु रूक्षा वातला गर्भकारिणी। स्वादुक्षीरा कटुस्तिक्ता सृष्टमूत्रमलापहा॥ स्वादुर्विष्टम्भिनी वृष्या कफकोष्ठकृमिप्रणुत्॥' (भा. प्र.)

(घ) विरेचन

२०१. दन्ती

परिचय

गण—विरेचन, मूलिनी, मूलासव (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युफर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-बैलिस्पोस्पर्मम मौण्टेनम (Baliospermum Montanum); सं०-दन्ती (हाथी दाँत के समान दृढ मूल); उदुम्बरपर्णी (गूलर के सदृश पत्र); एरण्डफला (एरण्ड के सदृश फल); शीघ्रा (तीक्ष्ण और आशुकारी); घुणप्रिया (शीघ्र घुन लगने से); निकुम्भ (कुम्भाकार फल); प्रत्यक्श्रेणी (क्षुप समूहबद्ध होने के कारण); हि०-दन्ती; बं०-हाकुन; म०-दांती; ते०-अमादाम्।

स्वरूप—इसका छोटा सा गुल्म ३-६ फुट ऊँचा होता है। **पत्तियाँ**—ऊपर से नीचे तक विभिन्न आकार और प्रमाण की होती है। ऊपर की पत्तियाँ प्रायः २-३ इञ्च लंबी और नीचे की पत्तियाँ ६-१२ इञ्च लंबी और खण्डित होती हैं। **पुष्प**—एकलिंगी और हरिताभ होते हैं। पुंपुष्पदण्ड की अपेक्षा बड़ा होता है। **फल**—½-१ इञ्च लंबे, त्रिकोष्ठीय होते हैं जिनमें तीन भूरे रंग के बीज होते हैं। **पुष्प**—वसन्तऋतु में लगते हैं।

जाति—दन्ती दो प्रकार की मानी गई है:—(१) लघु दन्ती, (२) बृहत् दन्ती। लघुदन्ती को ही 'दन्ती' कहते हैं और बड़ी दन्ती का नाम 'द्रवन्ती' है। दन्ती का वर्णन यहाँ किया गया है। द्रवन्ती (क्रॉटन पालिऐन्ड्रम-Croton Polyandrum) दन्ती की अपेक्षा बड़ी होती है। इसके पत्र एरण्डपत्र के समान तथा बीज भी बड़े होते हैं। मूल भी गुच्छबद्ध अनेक होते हैं अतः इसे 'सुतश्रेणी' 'शतमूलिका' आदि नाम दिये गये हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः बंगाल, बिहार, दक्षिणभारत तथा बर्मा में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में राल और स्टार्च होता है। बीजों में तैल होता-है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके मूल और बीज का लेप शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, विरेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—इसके पत्र श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीनाशन है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विकाशी और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना, अर्श आदि में दन्तीमूल का लेप करते हैं। बीजों का तैल वातव्याधि में अभ्यंग के लिए प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, उदररोग, अर्श एवं कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा सर्वांगशोथ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—पत्रक्वाथ श्वासरोग में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी रोग में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—त्वचा के समस्त विकारों में दन्तीमूल देते हैं। इससे शरीरस्थ दोष बाहर निकल जाते हैं और रोग शान्त हो जाते हैं।

तापक्रम—विबन्धयुक्त ज्वर में भी लाभकर है।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसके बीजों का अंजन नेत्र में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, पत्र।

मात्रा—मूलचूर्ण-१–३ माशे; बीज-½–१ र०, पत्रक्वाथ-४–८ तो०।

विशिष्ट योग—दन्त्यरिष्ट, दन्त्यादि चूर्ण, दन्तीहरीतकी। इसके अनेक कल्प च. क. १२ में देखें।

प्रयोगविधि—इससे पेट में मरोड़ होता है तथा हृल्लास आदि लक्षण भी होते हैं अतः इसके साथ सौंफ आदि सुगंधि द्रव्य मिलाकर क्वाथ के रूप में देना चाहिए।

संग्रहविधि—दन्ती और द्रवन्ती के हाथीदांत के सदृश कठिन, स्थूल और श्यामताम्र वर्ण के मूल लेकर उस पर पिप्पलीचूर्ण और मधु का लेप करे और तदनन्तर कुश के बीच में रख मिट्टी से लेप कर पुटपाक करे। फिर धूप में सुखावे। इस प्रकार अग्नि और धूप से इसकी विकाशिता दूर हो जाती है।

अहित प्रभाव—अतिमात्रा में प्रयोग करने पर इसके क्षोभक और मादक लक्षण प्रकट होते हैं।

निवारण—इस अहित प्रभाव को दूर करने के लिए मधुरस्निग्ध पदार्थ शर्बत, दूध आदि का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'दन्तीद्वयं सरं पाके रसे च कटु दीपनम्। गुदांकुराश्मशूलार्शःकण्डूकुष्ठविदाहनुत्॥
तीक्ष्णोष्णं हन्ति पित्तास्रकफशोथोदरक्रमीन्।' (भा. प्र.)
'तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि विकाशीनि गुरूणि च।
विलाययन्ति दोषौ द्वौ मारुतं कोपयन्ति च॥' (च. क. १२)
'तयोर्मूलानि संगृह्य स्थिराणि बहलानि च। हस्तिदन्तप्रकाराणि श्यावताम्राणि बुद्धिमान्॥
पिप्पलीमधुलिप्तानि स्वेदयेत् मृत्कुशान्तरे। शोषयेदातपेऽग्न्यर्कौ हतो ह्येषां विकाशिताम्॥'
(च. क. १२)

'दन्तीद्रवन्तीस्नेहास्तिक्तकटुकषायाः अधोभागदोषहरा कृमिकुष्ठकफानिलहराः दुष्टव्रणशोधनाश्च।' (सु. सू. ४५)

२०२. जयपाल

परिचय

कुल—एरण्ड-कुल-(युफर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-क्रॉटन टिगलियम (Croton Tiglium)। सं०-जयपाल, जेपाल, दन्तिवीज (दन्ती के सदृश वीजवाला); हि०-जमालगोटा; बं०-जयपाल; पं०-जपोलोटा; गु०-नेपालो; ता०-नारचालाम्; ते०-नेपालवितना; आ०-कोनीवीह (कोनी = वीजगर्भांकुर, वीह = विषाक्त), अ०-हब्बुस्सलातीन; फा०-वेदअंजीरखताई; अं०-क्रौटन (Croton)।

स्वरूप—इसके सदाहरित छोटे **वृक्ष** होते हैं। **पत्र**-२-४ इञ्च लम्बे, चिकने, लम्बगोल, दन्तुरधार तथा ३-५ सिराओं से युक्त होते हैं। **पुष्प**-एकलिङ्गी, हरितपीताभ, मञ्जरी के रूप में होते हैं। **फल**-लगभग-१ इंच लम्बा, अण्डाकार, त्रिकोणयुक्त होता है। **बीज**-बादामी रंग के होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं तथा शीतकाल में फल पकते हैं।

जाति—इसकी एक दूसरी जाति 'नागदन्ती' (क्रॉटन ऑबलौंगिफोलियस-Croton oblongifolius) कहलाती है। इसके वृक्ष मध्यमप्रमाण के होते हैं, पत्तियाँ ५-१० इंच लम्बी, आयताकार-भालाकार, दन्तुर, शाखाओं के अग्रभाग पर समूह में लगी होती है। यह जाति बंगाल, बिहार और दक्षिण भारत में अधिक मिलती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत, लंका, चीन और भारतीय द्वीपपुञ्ज में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक स्थिर तैल, टिग्लिनिक अम्ल (Tiglinic acid), क्रोटनिक या क्वार्टेनिलिक अम्ल (Crotonic or quartenylic acid) तथा जयपाल तैल (Croton oil) होते हैं। जयपाल तैल में (१) क्रोटन-ओलिक अम्ल (Croton-oleic acid) जो इसका मुख्य कार्यकारी तत्त्व है। (२) टिग्लिक अम्ल या मेथिल-क्रोटनिक अम्ल (Tiglic acid or Methyl Crotonic acid), (३) क्रोटनॉल (Crotonol)-जो रेचन नहीं किन्तु त्वचा के लिए विदाही है, (४) कुछ उड़नशील तैल-जिनके कारण इसकी गन्ध होती है तथा (५) अनेक वसाम्ल होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। रस—कटु।
विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, विदाही और स्फोटजनन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, रेचन और कृमिघ्न है। इससे आमाशय में क्षोभ होता है, पेट में मरोड़ होती है, अन्त्रकला में शोथ होता है और अधिक संख्या में पानी जैसे दस्त होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवात रोगों में प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में, चर्मरोगों में तथा खालित्य में इसके बीजों का लेप करते हैं। तिला के रूप में यह ध्वजभङ्ग में शिश्न पर यह लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, जीर्णविबन्ध और कृमि में इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः जलोदर, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, संन्यास आदि में रेचन के लिए इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—सर्वांगशोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—जांगम विषों (विशेषतः सर्पविष) में इसके बीजों को नींबू के रस में घिस कर आँख में अञ्जन करते हैं। इससे विष शीघ्र उतर जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल।

मात्रा—बीज ¼–½ रत्ती; तैल ½–१ बूँद।

विशिष्ट योग—इच्छाभेदी, जलोदरारि, ज्वरमुरारि।

विषाक्त लक्षण—इसके अतियोग से पेट में दाह, मरोड़ और शूल होने लगता है। आमाशय आदि में तीव्र व्रणशोथ हो जाता है। दस्त रक्तमिश्रित आने लगते हैं। रोगी बहुत दुर्बल हो जाता है।

चिकित्सा—वातपित्तशामक स्निग्ध-मधुर-शीत द्रव्यों का प्रयोग करें। गोदुग्ध, घृत, दही की लस्सी, नींबू का शर्बत आदि पिलावें।

शोधन—जमालगोटे के बीजों के छिलके तथा गर्भाङ्कुर निकाल कर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करे। पश्चात् गरम जल से धो, नींबू के रस से भावना देकर धूप में सुखा ले।

× × × ×

'जयपालो दन्तिबीजं विख्यातं तिन्तिडीफलम्। जयपालो गुरुस्तीक्ष्णो रेची पित्तकफापहा॥'
(भा. प्र.)

'जेपालः कटुरुष्णश्च कृमिहारी विरेचनः। दीपनः कफवातघ्नो जलोदरविनाशनः॥' (रा. नि.)
'जयपालभवां मज्जां भावयेन्निम्बुकद्रवैः। एकविंशतिवेलं तु ततो वर्त्तिं प्रकल्पयेत्॥'
मनुष्यलालया घृष्ट्वा ततो नेत्रे तयाऽञ्जयेत्। सर्पदष्टविषं जित्वा संजीवयति मानवम्॥' (शा.)
'नागदन्ती कटुस्तिक्ता रूक्षा वातकफापहा। मेधाकृद् विषदोषघ्नी पाचनी शुभदायिनी॥
गुल्मशूलोदरव्याधिकण्ठदोषनिकृन्तनी।' (रा. नि.)

२०३. स्नुही

परिचय

गण—विरेचन, मूलिनी (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—एरंड-कुल (युफर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-युफर्बिया नेरिफोलिया (Euphorbia Neriifolia); सं०-स्नुही (दोषों को बाहर निकालने वाली); स्नुक्, गुडा (गोलाकार); सुधा (श्वेत या अमृत-सदृश दुग्धयुक्त); समन्तदुग्धा (समस्त अंगों में दुग्ध होने से); वज्री (वज्र के समान तीक्ष्ण); सेहुण्ड, निस्त्रिंशपत्र (तलवार के सदृश पत्र); हि०-सेहुंड, थूहर, सीज; पं०-मा०-गु०-थोर; बं०-मनसा सिज; म०-निवडुङ्ग; ता०-इलाइकल्लि; ते०-अकुजिमुडु, अ०-ज़कूम; अं०-कॉमन मिल्क हेज (Common Milk Hedge)।

स्वरूप—इसका छोटा सरल **क्षुप**—होता है। **काण्ड** और **शाखाएँ** कंटकित तथा गोलाकार होती हैं। **पत्र**—६-१२ इञ्च लम्बे, स्थूल मांसल होते हैं। **पुष्प**—पीताभ होते हैं। **बीज**—चपटे, रोमश होते हैं। शीतकाल में पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वसन्त में पुष्प तथा फल लगते हैं।

जाति—इसकी त्रिधारा, पंचधार, छीमिया, डंडा आदि अनेक जातियाँ होती हैं। औषध में डंडाथूहर (मुठिया सीज) का ही विशेष प्रयोग होता है। चरक ने इसकी दो जातियों का उल्लेख किया है:—(१) अल्पकंटक (२) बहुकंटक। इनमें बहुकण्टक को श्रेष्ठ बतलाया है। बंगला में बहुकंटक स्नुही को 'मनसा सिज' और अल्पकंटक को 'सोहन्त' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत, सिक्किम और भूटान में मिलता है। अधिकतर बागों की चहारदीवारी में इसे रक्षार्थ लगाते हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें युफर्बन (Euphorbon), राल, निर्यास, रबड़, कैलशियम मैलेट आदि पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका कांड-पत्र वेदनास्थापन तथा क्षीर लेखन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन और रेचन है। तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों में यह सर्वोत्तम माना है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पत्तियाँ गरम कर शोथवेदनायुक्त स्थानों पर बाँधते हैं। इनके स्वरस को कर्णशूल में डालते हैं तथा इससे सिद्ध तैल का वातव्याधि में अभ्यंग करते हैं। दूध चर्मरोगों में लगाते हैं तथा दन्तशूल में रूई के फाहे में रखते हैं। क्लैब्य (ध्वजभंग) में इसका दूध अन्य औषधों के साथ मिलाकर शिश्न पर लगाते हैं। इसके दूध का लेप अर्शांकुरों पर करते हैं या दुग्धभावित सूत्र से अंकुरों को बाँधते हैं। इससे अंकुर नष्ट हो जाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदररोग, गुल्म, यकृत्प्लीहवृद्धि में इसका दूध विरेचनार्थ देते हैं। पांडु, कुष्ठ, मधुमेह, शोथ, उन्माद आदि गंभीर रोगों में संशोधनार्थ बलवान् रोगियों में इसके दूध का प्रयोग करते हैं। इससे पानी के समान दस्त होते हैं और कभी-कभी वमन भी होता है।

रक्तवहसंस्थान—उपदंश, आमवात, वातरक्त तथा शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, प्रतिश्याय आदि कफप्रधान रोगों में इसके काण्ड को गरम कर उसका स्वरस मधु, टंकण मिलाकर देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—जांगम विषों में इसके मूल का अन्तः और बाह्य प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल, कांड, पत्र, क्षीर।

मात्रा—मूलचूर्ण-२-४ रत्ती; कांडस्वरस-१-२ तोला; पत्रस्वरस-२-५ बूँद; क्षीर-$\frac{१}{२}$-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—वज्रक्षार, स्नुह्यादि तैल, स्नुह्यादि वर्त्ति। इसके विविध कल्प च० क० १० में देखें।

प्रयोगविधि—(१) स्नुहीक्षीर से भावित चना या मरिच १-३ दाने गरम जल से लेना चाहिए। (२) त्रिवृत्चूर्ण, त्रिफला या आँटे का चूर्ण स्नुहीदुग्ध से भावित कर २-३ रत्ती की मात्रा में दे। (३) दशमूलक्वाथ और स्नुहीक्षीर समभाग ले अग्नि पर पकावे। जब गाढ़ा हो जाय तब चने के बराबर गोलियाँ बना ले। मात्रा-१ गोली गरम जल से। (४) स्नुहीक्षीर में समभाग सेंधा नमक मिलावे। जम जाने पर उसकी २-३ रत्ती मात्रा ले।

संग्रहविधि—तीक्ष्ण और बहुकंटक सेहुंड के दो या तीन वर्ष के क्षुप में तीक्ष्ण शस्त्र से छेदकर शिशिर के अन्त में क्षीर का संग्रह करे।

× × × ×

'सेहुण्डो रेचनस्तीक्ष्णो दीपनः कटुको गुरुः। शूलामाष्ठीलिकाध्मानकफगुल्मोदरानिलान्॥
उन्मादमेहकुष्ठार्शःशोथमेदोश्मपाण्डुताः। व्रणशोथज्वरप्लीहविषदूषीविषं हरेत्॥
उष्णवीर्यं स्नुहीक्षीरं स्निग्धं च कटुकं लघु। गुल्मिनां कुष्ठिनां चापि तथैवोदररोगिणाम्॥
हितमेतद्विरेकार्थे ये चान्ये दीर्घरोगिणः।' (भा. प्र.)

'स्नुक्पयस्तीव्रविरेचनानाम्।' (च. सू. २५)

'विद्यात् स्नुहीक्षीरं विरेचने।' (च. सू. १)
'विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता। संघातं हि भिनत्त्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन। न दोषनिचये चाल्पे सति मार्गपरिक्रमे॥
पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते। श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि॥
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम्। प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक् स ह्यवचारितः॥
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम्।' (च. क. १०)
'द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चेत्र कंटकैः। सुतीक्ष्णैः कंटकैरल्पैः प्रवरो बहुकंटकः॥
स नाम्ना स्नुग्गुडानन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः। तं विपाट्याहरेत् क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक्॥
द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः।' (च. क. १०)

(च) पित्तविरेचन

२०५. गिरिपर्पट

परिचय

कुल—दारुहरिद्रा-कुल (बर्बेरिडी-Berberidae)।

नाम—लै०-पोडोफाइलम एमोडी (Podophyllum Emodi); सं०-गिरिपर्पट (पर्वतों पर होने वाला पर्पटतुल्य क्षुप); वनवृन्ताक (वन्य वृन्ताकवत् फलयुक्त); हि०-वनककड़ी; फा०-वन-बाँगन; देववन-रिखपित्ता; अं०-इण्डियन पोडोफाइलम (Indian Podophyllum)।

स्वरूप—यह एक छोटा क्षुप होता है। **काण्ड**-६-१२ इञ्च ऊँचा, सरल और स्थूल होता है। **पत्र**—बहुत कुछ देखने में पपीते के सदृश, गोलाकार, लगभग ६-१० इञ्च व्यास के, ३-५ भागों में खण्डित और दन्तुरधार होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण किञ्चित् गुलाबी होते हैं। **फल**-१-१२ इञ्च लम्बे, लाल रंग के, ककड़ी या पपीते के सदृश होते हैं। **बीज**-अनेक होते हैं। फल खाये जाते हैं। **मूल**-गोल, कुछ चपटे, बाहर से रक्ताभ धूसर तथा भीतर से श्वेत या पाण्डु-धूसर वर्ण के होते हैं। गन्ध तीक्ष्ण और विशिष्ट होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में काश्मीर, कांगड़ा, कुलू, चम्बा, शिमला, सिक्किम आदि स्थानों में ७००० फीट के ऊपर छायायुक्त स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में पोडोफाइलिन (Podophyllin) नामक रालयुक्त क्रियाशील द्रव्य लगभग १० प्रतिशत होता है। पोडोफाइलिन में पोडोफाइलोटॉक्सिन, पोडोफाइलिक एसिड, पोडोफाइलो-रेजिन तथा क्वर्सेटिन नामक तत्त्व पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है। विशेषतः पित्तशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और क्षोभक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और विरेचन है। इससे हृल्लास और कभी-कभी वमन भी होता है। यकृत् पर इसकी क्रिया कैलोमल

के समान होती है। इससे यकृत् के पित्त का स्राव उतना नहीं बढ़ता किन्तु अन्त्र की परिसरण-गति बढ़ने से उत्सृष्ट पित्त का शोषण नहीं हो पाता और वह अधिक मात्रा में पुरीष के साथ बाहर निकलता है। इस प्रकार यह 'परोक्ष पित्तसारक' (Indirect Cholagogue) है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक होता है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसके मूल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, जीर्ण विबन्ध में इसका प्रयोग करते हैं। सामान्य जीर्ण विबन्ध में इसका सत्त्व $\frac{१}{१२}$–$\frac{१}{८}$ रत्ती तथा क्रूर कोष्ठ वालों के लिए या प्रतिहारिणी सिरा के अवरोध को दूर करने के लिए $\frac{१}{८}$–$\frac{१}{४}$ रत्ती की मात्रा में देते हैं। साधारणतः यकृदुत्तेजक कर्म में लिए इसका प्रयोग $\frac{१}{६०}$–$\frac{१}{४०}$ रत्ती की मात्रा में करते हैं। इस मात्रा से रेचन भी नहीं होता।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, आमवात, कुष्ठ आदि में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—अत्यल्प मात्रा में यह अग्निमांद्यजनित दौर्बल्य में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, मूलसत्त्व (पोडोफाइलिन)।

मात्रा—मूलचूर्ण २–५ रत्ती; सत्त्व–$\frac{१}{८}$–$\frac{१}{२}$ रत्ती।

प्रयोगविधि—इससे पेट में मरोड़ होता है अतः इसके साथ वातहर सुगन्धिद्रव्य मिला कर प्रयोग करना चाहिए।

अहित प्रभाव—अधिक प्रयोग से महास्रोत मे क्षोभ और शोथ उत्पन्न होता है।

निवारण—इसके निवारण के लिए स्निग्ध-मधुर-शीत द्रव्य (दूध, नींबू का शर्बत आदि) देना चाहिए।

२०६. अम्लपर्णी

परिचय

कुल—चुक्र-कुल (पॉलिगोनेसी–Polygonaceae)।

नाम—रियम एमोडि (Rheum Emodi); सं०–अम्लपर्णी (पत्र और शाखायें अम्ल होने से); पीतमूला (मूल पीतवर्ण); हि०–रेवंदचीनी (चीन देश से आनेवाला रेवंद); बं०–रेवान्दचीनी; पं०–रयोंदचीनी; गु०–रेवनचीनी; ता०–भेरियाट्टु; ते०–निहु-रिवल-चिन्नि; अ०–रावन्द; फा०–रेवन्द; अं०–इण्डियन रूबर्ब (Indian Rhubarb)।

स्वरूप—यह ५–६ फुट ऊँचा हरितधूसर क्षुप होता है। **काण्ड**–अतिस्थूल, दृढ, शाखायुक्त तथा पत्रमय होता है। **पत्रवृन्त**–१२–१८ इञ्च लंबा और कठिन होता है। **पत्र**–पीपल के पत्ते के सदृश किन्तु कुछ कम चौड़े होते हैं। **पुष्प**–मदार के पुष्प के सदृश होते हैं। **फल**–$\frac{१}{२}$ इञ्च लंबे, बैंगनी रंग के होते हैं। **मूल**–मोटा और दृढ, भूरे-पीले रंग का होता है। मुंह में रखने से पीतवर्ण का लालास्राव होता है। इसकी शाखायें

और पत्तियाँ अम्लरस होती हैं। शाखायें वेणी की तरह गुँथ कर बाजार में अमलबेत के नाम से व्यवहृत होती हैं। वर्षाऋतु में इसमें पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ हिमालयप्रदेश में होती हैं। काश्मीर में होने वाली इसकी एक छोटी 'रेवास' कहलाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में काश्मीर से नेपाल तक ७–१२ हजार फीट की ऊँचाई पर तथा तातार, खोतान, सिक्किम और चीन में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में क्राइसोफेनिक एसिड, एमोडिन, रैपोण्टिसिन (Rhaponticin) नामक ग्लुकोसाइड, रिओ-टैनिक एसिड (Rheo-tannic acid), अनेक राल, अलब्युमिनायड, पिच्छिल द्रव्य, टैनिक तथा गैलिक एसिड, शर्करा, स्टार्च, पेक्टीन, लिगनिन, कैल्शियम ऑक्जलेट तथा अनेक निरिन्द्रिय लवण होते हैं। पत्तियों में ऑक्जलिक एसिड होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप लेखन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा (१–३ रत्ती) में यह लालाप्रसेक-जनन, दीपन, यकृदुत्तेजक और ग्राही होता है। बड़ी मात्रा (१०–१५ रत्ती) में आन्त्र-ग्रन्थियों के स्राव और आन्त्र की परिसरणगति को बढ़ा देता है और इस प्रकार रेचन कर्म करता है। इसके सेवन से ४–८ घंटे में मरोड़ के साथ पतले, पीले दस्त आते हैं। रेचन क्राइसोफिनिक एसिड तथा एमोडिन के प्रभाव से होता है। रेचन के बाद इसमें स्थित कषाय द्रव्यों की क्रिया प्रारंभ होती है और दस्त अपने आप बन्द हो जाते हैं। क्षारों की उपस्थिति के कारण यह महास्रोत की अम्लता को भी कम करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक है।

उत्सर्ग—रेचन तत्त्व स्तन्य और मूत्र से उत्सृष्ट होता है और दोनों के रंग और स्वाद को बदल देता है। ग्राही तत्त्व पुरीष के द्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में तथा शोथवेदनायुक्त अंगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार में अल्पमात्रा में देते हैं। ज्वर, वातरक्त, उदर, अर्श, कामला तथा शैशवातिसार के रोगियों में रेचन के लिए यह प्रशस्त माना जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में लाभकर है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—१-३ रत्ती (कटुपौष्टिक); १-२ माशे (रेचनार्थ)।

वक्तव्य—(१) मरोड़ को शान्त करने के लिए इसके साथ सुगंधि द्रव्य और सर्जिक्षार मिलाने चाहिए। (२) इसका विशेष प्रयोग बच्चों और वृद्धों में होता है। (३) इसमें ऑक्जलिक एसिड की उपस्थिति के कारण इसका प्रयोग सन्धिवात, आमवात, अपस्मार, अश्मरी आदि रोगों में निषिद्ध है।

२०७. कुमारी

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी- Liliaceae)।

नाम—लै०-एलो वेरा (Aloe vera); सं०-कुमारी (कुमारी-रोग-रजोरोध में प्रयुक्त होने के कारण); गृहकन्या; घृतकुमारिका (घृतवत् पिच्छिल स्वरस होने से); हि०-घीकुआँर, ग्वारपाठा, ढेकवार; पं०-कुवारगंदल; बं०-घृतकुमारी; म०-कोरफड; गु०-कुंवार; ता०-काट्टोली; ते०-घुसमसरम्; अ०-सब्बारत; फा०-दरख्ते सिब्र, अं०-इण्डियन एलो (Indian Aloe)।

स्वरूप—इसका क्षुप-१-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्तियां**-३-४ अंगुल चौड़ी, १-१½ हाथ लम्बी, स्थूल और कंटकितधार होती हैं। पत्तियों के भीतर घी के समान पिच्छिल मज्जा होती है। पुराने क्षुप के मध्य से दण्ड के समान लम्बा पुष्पदण्ड निकलता है जिसमें रक्त पुष्प निकलते हैं। शीत काल के अन्त में पुष्प और फल लगते हैं।

इसके पत्रस्वरस को उबाल कर रसक्रिया-विधि से जो घन सत्त्व प्रस्तुत होता है उसे 'कुमारी-सार' (मुसब्बर) कहते हैं। इसके विभिन्न नाम निम्नांकित हैं:—

कुमारीसार—सं०-सहासार, कन्यासार; हि०-मुसब्बर, एलुआ; म०-एलिया, काला बोल; गु०-एलियो; अ०-सिब्र; फा०-शबयार; अं०-एलोज (Aloes)।

प्राचीन निघंटुग्रंथों में कुमारीसार का उल्लेख नहीं मिलता।

जाति—स्थानभेद से मुसब्बर के चार भेद होते हैं:—(१) सक्रोटाइन-यह जंजीवार तथा लाल सागर के बन्दरगाहों से आता है। (२) अरबियन। (३) जाफराबादी। (४) मैसूरी। चमड़े के थैलों में बाँध कर यह विदेशों से आता है।

उत्पत्तिस्थान—अफ्रीका, अरब तथा भारत विशेषतः दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एलोइन (Aloin) या बार्बेलोइन (Barbaloin) नामक स्फटिकीय ग्लुकोसाइड; एलो-एमोडिन (Aloe-emodin); राल, उड़नशील आदि तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **विपाक**—कटु।

रस—तिक्त, मधुर। **वीर्य**—शीत।

प्रभाव—भेदन। एलुआ लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण है।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। यह गुणों से वात का, रस से पित्त तथा कफ का शामक है।

संस्थाननिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण है। स्वरस दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में यह दीपन, पाचन, भेदन, यकृदुत्तेजक तथा बड़ी मात्रा में विरेचन और कृमिघ्न है। इसकी कुछ क्रिया क्षुद्रान्त्र पर होती है जिससे पित्त का प्रवाह बढ़ जाता है किन्तु विशिष्ट क्रिया बृहदन्त्र की पेशियों पर होती है जिसमें प्रबल संकोच होने लगता है। कुछ ग्रन्थियों का स्राव भी बढ़ जाता है। इसकी क्रिया मन्द होती है और दस्त होने में प्रायः १०-१२ घंटे लग जाते हैं। अधिक मात्रा देने पर समय तो उतना ही लगता है और दस्त के साथ मरोड़, कुन्थन और कभी कभी रक्त आ जाता है। सामान्य मात्रा में दस्त बँधे हुए, मुलायम और गहरे रंग के होते हैं किन्तु बड़ी मात्रा में देने पर पतले दस्त आते हैं। इसकी क्रिया में विलम्ब होने का कारण यह है कि क्षुद्रान्त्र में जाने पर जब यह पित्त के साथ मिलता है तभी अधिक क्रियाशील होता है। इससे गुद में रक्ताधिक्य भी होता है जिसके कारण इसका अधिक प्रयोग करने से अर्श होने की आशङ्का होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह स्निग्ध पिच्छिल होने से वृष्य है। यह उष्ण होने से गर्भाशयगत रक्तसंवहन को बढ़ा देता है तथा गर्भाशय की पेशियों को उत्तेजित कर उनका संकोच बढ़ा देता है। इस कारण यह आर्त्तवजनन और गर्भस्रावकर है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—स्वरस स्निग्धपिच्छिल होने से बल्य और बृंहण है।

उत्सर्ग—यह स्तन्य के द्वारा और कुछ मूत्र के द्वारा बाहर निकलता है।

शोषण—क्षत त्वचा के द्वारा भी इसका शोषण होता है और उससे भी रेचन हो सकता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में मुसब्बर का लेप करते हैं। जीर्ण व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। कुमारी की मज्जा पर हलदी का चूर्ण छिड़क कर गरम कर शोथ-वेदना तथा प्लीहावृद्धि में बाँधते हैं। इसका स्वरस नेत्राभिष्यन्द में डालते हैं। कुमारीमज्जा दाहपीडायुक्त शिरोरोगों तथा नेत्ररोगों में बाँधते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदररोग, गुल्म, प्लीहा-यकृत्-वृद्धि, उदरशूल, विबन्ध तथा कृमिरोग में इसका स्वरस प्रयोग करते हैं। कृमिरोग विशेषतः तन्तुकृमि में एलुआ की वस्ति भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में कुमारीस्वरस देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसका स्वरस तथा रजोरोध में एलुआ प्रयुक्त होता है। रजोरोध में एलुआ की वर्त्ति भी योनि में रखते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—जीर्ण ज्वर में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में कुमारीस्वरस तथा कटुपौष्टिक के रूप में मुसब्बर अल्पमात्रा में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—पत्रस्वरस-१-२ तो०; कुमारीसार-१-४ रत्ती।

विशिष्ट योग—कुमार्यासव, कुमारीवटी, कुमारिकावटी, रजःप्रवर्त्तनीवटी, कुमारीपाक।

प्रयोगविधि—१. रेचन के लिए इसके साथ क्षार तथा अन्य वातहर द्रव्यों को मिलावे जिससे मरोड़ न होने पावे।

२. आर्त्तवजनन के लिए रजःकाल से एक सप्ताह पूर्व से इसका सेवन प्रारम्भ करा देना चाहिए।

× × × ×

'कुमारी त्तारभूदेशे पङ्क्तिकन्ददला बला। विस्तारी बाढकन्दिनी विशाला पिच्छसंभृता॥
ध्वजाभमध्यदण्डा सारुणराजियुता पृथुः।' (शि. द.)

'कुमारी गृहकन्या च कन्या घृतकुमारिका। कुमारी भेदनी शीता तिक्ता नेत्र्या रसायनी॥
मधुरा बृंहणी बल्या वृष्या वातविषप्रणुत्। गुल्मप्लीहयकृद्वृद्धिकफज्वरहरी हरेत्॥
ग्रन्थ्यग्निदग्धविस्फोटपित्तरक्तत्वगामयान्।' (भा. प्र.)

'गृहकन्या हिमा तिक्ता मदगन्धिः कफापहा। पित्तकासविषश्वासकुष्ठघ्नी च रसायनी॥'
(रा. नि.)

'वीरास्रावः सहासारः कुमारीरससम्भवः। सहासारोऽग्निजननः पित्तनिर्हरणो मतः॥
बलकृद्रेचनः पुष्पजननो गर्भपातनः। विट्सङ्गे कृमिरोगे च संन्यासेऽपस्मृतौ तथा॥
लुप्ते रजसि नारीणां शीतपित्ते शिरोरुजि। ज्वरे श्लेष्मोद्भवे प्लीह्नि मन्देऽग्नौ च प्रयुज्यते॥
अर्शसस्तं न सेवेत नान्तर्वत्नी न पुष्पिणी। न चासृग्दरिणी नापि यकृद्वृक्कादिरोगवान्॥'
(आ. वि.)

विरेचनोपग

२०८. पीलु

परिचय

गण—विरेचन, विरेचनोपग, शिरोविरेचन, ज्वरहर, कटुकस्कन्ध (च०); शिरोविरेचन (सु०)।

कुल—पीलु-कुल (साल्वेडोरेसी-Salvadoraceae)।

नाम—लै०-साल्वाडोरा पर्सिका (Salvadora Persica); सं०-पीलु, गुडफल (मधुर फल); स्रंसी (सारक); हि०-पीलु; पं०-पीलू; बं०-पिलू; म०-पीलु; गु०-खारी जाल; ता०-उधाईपुट्टाई; ते०-भारागॉगु; अ०-आरक; फा०-दरख्ते मिसवक (मंजनवृक्ष); अं०-टूथब्रश ट्री (Tooth-Brush Tree)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का ८-१० फुट ऊँचा होता है। इसका कांड टेढा तथा शाखायें पुष्कल, दुर्बल और नीचे झुकी हुई होती हैं। पत्र-अभिमुख,

मांसल, अंडाकृति, दोनों सिरों पर गोल तथा १-२ इञ्च लंबे और १ इञ्च चौड़े होते हैं। शाखाओं के अग्रभाग पर छोटे, हरिताभपीत पुष्प होते हैं। **फल**-मिर्च के सदृश छोटे, मांसल, पकने पर गहरे लाल रंग के होते हैं। फल में एक बीज होता है। फल को मसल कर सूंघने से तीक्ष्ण गंध आती है। वसन्त ऋतु में पुष्प आते हैं और ग्रीष्म में फल पकते हैं।

जाति—इसकी एक बड़ी जाति होती है जिसे वृद्धपीलु कहते हैं। उसका लै० नाम साल्वाडोरा ओलिग्रॉयडिस (Salvadora Oleoides) है।

उत्पत्तिस्थान—यह ईराक, अफगानिस्तान, पंजाब, सिन्ध, बलूचिस्तान, राजपुताना, गुजरात, दक्षिण भारत, लंका आदि रूक्षोष्ण प्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—मूलत्वक् में राल, रंजक द्रव्य, एक क्षारतत्त्व-साल्वाडोरिन (Salvadorine) ट्राइमेथिलएमिन (Tri-methyl-amine) और क्षार जिसमें क्लोरीन प्रचुर प्रमाण में होता है। फलों में शर्करा, वसा, रंजकद्रव्य और एक क्षारतत्त्व होता है। बीजों में सफेद वसा और पीत रंजक द्रव्य होते हैं। वृद्धपीलु के बीजों में ४४·६ प्रतिशत कठिन, चमकीली, पीतवर्ण वसा होती है। ट्राइमेथिलएमिन-क्षारतत्त्व भी होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है। पका फल मधुरविपाकी और अनुष्ण होने से त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजतैल शोथहर और वेदनास्थापन तथा मूलत्वक् विस्फोटजनन हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका पका फल सारक, बीज रेचक तथा पत्तियाँ सनाय के सदृश विरेचन हैं। इसकी शाखायें दन्तशोधन हैं।

रक्तवहसंस्थान—फल रक्तशोधक और रक्तपित्तप्रशमन है।

श्वसनसंस्थान—इसका पुष्प और फल तीक्ष्ण होने से शिरोविरेचन और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—फल वृष्य है तथा छाल आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में तथा पका फल त्रिदोषजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का तैल सन्धिवात आदि में अभ्यंग के रूप में प्रयुक्त होता है। आमवात, अर्श, अर्बुद आदि में पत्तों को गरम कर बाँधते हैं। बीजचूर्ण और मूलत्वक् का लेप सर्पदंश में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदर, गुल्म, अर्श आदि में इसका शोधनार्थ प्रयोग करते हैं। विरेचन द्रव्यों के साथ सहायक रूप में भी इसका प्रयोग होता है। अरब में इसकी शाखाओं की दातून प्रसिद्ध है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, आमवात, रक्तपित्त में इसके फल प्रयुक्त होते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास एवं श्वास में शोधनार्थ पुष्प एवं फलों को सूंघते हैं तथा पत्रस्वरस या क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में फल या मूलत्वक् देते हैं,

प्रजननसंस्थान—फलों का प्रयोग क्लैब्य में तथा मूलत्वक् का रजोरोध में करते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में पत्र, फल आदि का प्रयोग होता है।

तापक्रम—फल का प्रयोग ज्वर में करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में फल का तथा सर्पविष में बीज का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, बीज, पत्र, मूलत्वक्।

मात्रा—फलस्वरस ½-१ तो०, बीजचूर्ण १-२ माशे, पत्रचूर्ण १-२ माशे, मूलत्वक् क्वाथ ४ तो०।

वक्तव्य—पीलु का बीजतैल बंबई में 'खाखण का तेल' कहलाता है।

× × × ×

'तिक्तं पित्तकरं तेषां सरं कटु विपाकि च। तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित्॥' (सु. सू. ४६)

'पीलु······दोषघ्नं गरहारि च।' (च. सू. २७)

'पीलु श्लेष्मसमीरघ्नं पित्तलं भेदि गुल्मनुत्। स्वादु तिक्तं च यत् पीलु तन्नात्युष्णं त्रिदोषहृत्॥' (भा. प्र.)

ग्राही

२०९. जातीफल

परिचय

कुल—जातीफल-कुल (मिरिस्टिकेसी-Myristicaceae)।

नाम—लै०-मिरिस्टिका फ्रैगरेन्स (Myristica Fragrans); सं०-जातीफल (गंधयुक्त फल), जातिकोष, (सुगन्धि कोषयुक्त) मालतीफल; हि०-जायफल; बं०-जायफल; पं०-जयफल; म०, गु०-जायफल; ता०-जाथिकेई; ते०-जाजिकेय; अ०-जौजबुवा; फा०-जौजबुया; अं०-नटमेग (Nutmeg)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बड़ा होता है तथा शाखायें नीचे की ओर झुकी होती हैं। **पत्र**-जामुन के सदृश किन्तु छोटे, दृढ और सुगंधित होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ गहरे हरे रंग का और निचला पृष्ठ पीताभ धूसर वर्ण होता है। **पुष्प**-छोटे, सुगंधित और पीतवर्ण होते हैं। **फल**-गोलाकार, कुछ लंबा (१-२ इञ्च लंबा) छोटे नासपाती या अमरूद के सदृश होता है। फलत्वचा-पीताभ और मोटी होती है। फलमज्जा के भीतर लगभग १½ इञ्च लम्बा, अण्डाकार, धूसरवर्ण और कठिन बीज होता है। बीज के ऊपर

एक पीले रंग का पतला कोषावरण होता है जो सूखने पर उससे पृथक् हो जाता है। इसे 'जातिपत्री' (हि०-जावित्री; अं०-मेस-Mace) कहते हैं। फल पकने पर स्वयं फट जाता है और जावित्री तथा बीज (जातीफल) वाहर निकल आते हैं। वर्षा ऋतु के वाद इसमें पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक निर्गन्ध जाति होती है उसका फल 'रामफल' तथा कोष 'रामपत्री' कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—मलाया द्वीपपुंज, पेनांग, लंका तथा दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—जायफल में उड़नशील तैल २.८%, एक स्थिर तैल, प्रोटीड, वसा, स्टार्च, पिच्छिल द्रव्य तथा क्षार होते हैं। जावित्री में जायफल के सदृश उड़नशील तैल ८-१७%, स्थिर तैल, राल, वसा, शर्करा और पिच्छिल द्रव्य होते हैं। स्थिर तैल 'जातीफल-नवनीत' (Butter of Nutmeg) कहलाता है और इसमें मिरिस्टिन (Myristin), मिरिस्टिक एसिड (Myristic acid) तथा एक सुगंधित तैल होता है। सुगन्धित तैल में मिरिस्टिसीन (myristicene) और मिरिस्टिकॉल (myristicol) नामक तत्व होते हैं। जावित्री में भी एक पीताभ सुगंधित तैल जावित्री की गंध का होता है जिसमें मेसीन (macene) नामक तत्व होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, उत्तेजक, कुष्ठघ्न और दुर्गन्धनाशक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन, आक्षेपहर और वातशामक है। अतिमात्रा में यह मादक है। मस्तिष्क पर इसकी क्रिया कर्पूर के समान होती है।

पाचनसंस्थान—यह मुखदुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन, ग्राही और कृमिघ्न है। पित्तसारक होने से पुरीष की दुर्गन्ध और कृष्णता को दूर करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल, संधिशोथ आदि में इसका लेप करते हैं। चर्मरोगों में इसका मलहम बनाकर लगाते हैं। शैत्य और अवसादयुक्त अवस्था में इसका तैल त्वचा पर रगड़ते हैं। ध्वजभंग में इसका तैल शिश्न पर लगा कर पान के पत्ते

से बाँधते हैं। दुर्गन्धयुक्त जीर्ण व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। बच्चों के प्रतिश्याय में इसको सरसों के तैल में घिस कर सिर पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—अनिद्रा, शूल, आक्षेप आदि वातिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—मुखवैरस्य, अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, विष्टम्भ, अतिसार, ग्रहणी तथा कृमि रोगों में यह प्रशस्त माना गया है। तृष्णा और वमन को रोकने के लिए भी देते हैं। विसूचिका में इससे शृत जल पीने को देते हैं। इससे अतिसार, तृष्णा, वमन, अवसाद सबमें लाभ होता है। अतीसार में इसको घिस कर नाभि पर लेप भी करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—पीनस, कास, श्वास और हिक्का में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह कामोत्तेजना और स्तम्भन के लिए वाजीकरण योगों में दिया जाता है। रजोरोध, कष्टार्त्तव में भी देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः ज्वरातीसार में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—अतिसार या ग्रहणी के बाद दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज (जायफल) और कोष (जावित्री)।

मात्रा—५–१० रत्ती, तैल–५–१५ बूँद।

विशिष्ट योग—जातीफलादि चूर्ण, जातीफलादि वटी; जातीपत्रादि क्वाथ।

वक्तव्य—जावित्री के गुणकर्म जायफल के समान ही हैं किन्तु यह विशेषकर रोचन, वर्ण्य, वेदनास्थापन है। ग्राही कम है।

× × × ×

'जातीफलं जातिकोषं मालतीफलमित्यपि। जातीफलं रसे तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रोचनं लघु॥
कटुकं दीपनं ग्राहि स्वर्यं श्लेष्मानिलापहम्। निहन्ति मुखवैरस्यं मलदौर्गन्ध्यकृष्णताः॥
कृमिकासवमिश्वासशोषपीनसहृद्रुजः।' (भा. प्र.)
'जातीफलस्य त्वक् प्रोक्ता जातिपत्री भिषग्वरैः। जातिपत्री लघुः स्वादुः कटूष्णा रुचिवर्णकृत्॥
कफकासवमिश्वासतृष्णाकृमिविषापहा।' (भा. प्र.)
'जतीकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम्।..........तिक्तं कटु कफापहम्॥
लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्।' (सु. सू. ४६)
'तैलं जातिफलोद्भूतं समुत्तेजनमग्निदम्। जीर्णातिसारशमनमाध्मानाक्षेपशूलनुत्॥
आमवातहरं बल्यं दन्तवेष्टव्रणार्त्तिनुत्।' (आ. सं.)

२१०. पर्णयवानी

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-कोलिअस एरोमेटिकस (Coleus Aromaticus); सं०-पर्णयवानी (पत्तियों में अजवाइन की सी गन्ध होने से); पाषाणभेदी (पथरीले स्थानों में होने से तथा अश्मरीभेदन होने के कारण); हि०-पत्ता अजवायन; बं०-पाथरचूर; म०-पान ओवा; गु०-ओवापान; ता०-कर्पूरवल्ली; अं०-कण्ट्री बोरेज। (Country Borage)

स्वरूप—इसका वर्षायु या बहुवर्षायु क्षुप अतिशय सुगन्धित, रोमश तथा नीचे की ओर गुल्मवत् होता है। **काण्ड**–१-३ फुट, कोमल होता है। **पत्र**–१-२ इञ्च लम्बे, दन्तुर, मांसल और किञ्चित् रोमश होते हैं। इनसे अजवायन की सी तीक्ष्ण गन्ध आती है। **पुष्प**—छोटे, नीले या बैंगनी रंग के, सघन किन्तु दूर-दूर स्थित चक्रों में होते हैं। कलिकायुक्त कोणपुष्पकों की चार पंक्तियाँ होती हैं। शीतकाल के अन्त में पुष्प और ग्रीष्म में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम निवासस्थान मलक्का द्वीपसमूह है किन्तु सम्प्रति भारत में सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक सुगन्धित तैल तथा कार्वाक्रोल (Carvacrol) नामक तत्त्व होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषप्रयोग—यह उष्ण-तीक्ष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह आक्षेपहर, वेदनास्थापन तथा मादक है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, ग्राही और क्रिमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न, कफदुर्गन्धनाशन तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीघ्न और मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल तथा जांगम विषों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि (आक्षेपक, अपतन्त्रक आदि) में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विष्टम्भ, यकृद्विकार, उदरशूल, अतिसार, ग्रहणी, विसूचिका और कृमिरोग में इसका प्रयोग मुख्यरूप से होता है। अभी हाल में आधुनिक प्रयोगों से यह विसूचिका के अतिसार को रोकने की सर्वोत्तम औषध सिद्ध हुई है।[1] इसके लिए प्रथम मात्रा १½ तोला (४ ड्राम) की और फिर १-१ घंटे पर दो मात्रा ७½ माशे (२ ड्राम) की देते हैं। यदि इससे बन्द हो तो आठ घंटों के बाद पुनः इसी क्रम से देते हैं जब तक कि पाखाना रुक न जाय। इससे विसूचिका के तण्डुलोदक जैसे दस्त कुछ ही घंटों में पीले हो जाते हैं और फिर गाढ़े,

---

१. इस सम्बन्ध में 'Antiseptic' सितम्बर '५५ के अंक में प्रकाशित डॉ० एच. एन. चटर्जी, सिनियर विजिटिंग फिजिशियन, कौलरा वार्ड, चित्तरंजन हॉस्पिटल, कलकत्ता का लेख अवलोकनीय है।

हरे रंग के होने लगते हैं तथा अन्त में बिलकुल कड़े हो जाते हैं। विसूचिका के जीवाणु भी इससे अल्प और मन्द हो जाते हैं यद्यपि पूर्णत नष्ट नहीं होते।

ग्रहणी रोग में इसके पत्तों की पकौड़ी बनाकर खिलाने की प्रथा बहुत पुरानी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास एवं हिक्का में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—स्वरस–½–१ तोला।

वक्तव्य—अधिक मात्रा में यह मादक होता है, अतः सावधानी से प्रयोग करें।

× × × ×

'Diarrhoea was substantially controlled by the oral administration of the expressed and strained juice of the leaves of coleus Aromaticus. No untoward effect was observed on any physiological system by the oral administration of this leaf juice.'

'The oral administration of leaf juice, however, did not make the stools of the treated cases Vibrio-negative, as rough colonies were observed upto the 17th day of observation. This is somewhat marked contrast to the results obtained by various workers who used the broad spectrum antibiotics which are reported to have rendered the stools vibrio-free, without producing clinical improvement of cholera.'

—H. N. Chatterjee, Antiseptic' Sept 55.

स्तम्भन

२१२. कुटज

परिचय

गण—अर्शोघ्न, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन, आस्थापनोपग, वमन (च०); आरग्वधादि, पिप्पल्यादि, हरिद्रादि, बृहत्यादि, लाक्षादि, ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी–Apocynaceae)।

नाम—लै०-हौलेरीना ऐण्टी-डिसेण्टरिका (Holarrhena Anti-dysenterica); सं०–कुटज (कुट–पर्वतश्रृंग पर होने वाला); वसन्त (छोटा वृक्ष), गिरिमल्लिका (चमेली के सदृश पुष्प होने के कारण); कालिंग (कलिंगदेश–उड़ीसा–में अधिक पाया जाने वाला), पाण्डुरद्रुम (काण्डत्वक् पाण्डु–धूसर तथा काष्ठ पाण्डुवर्ण होने से); हि०–कुड़ा, कुड़ैया; बं०–कुरची; म०–कुडा; गु०–कुडो; ता०–वेप्पलाई; ते०–कक्कोडाइस्; अ०–शज्रलिसानुल असाफीरूल मुर्ग़; फा०–दरख्त जवान कुंजिश्क तल्ख; अं०–कुर्ची (Kurchi)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**–मध्यमप्रमाण का २०–२५ फीट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**–पाण्डुधूसर तथा काष्ठ पाण्डुवर्ण और कोमल होता है। **पत्र**–६–१२ इंच लम्बे और १–१½ इंच चौड़े कदम्ब के पत्र के सदृश होते हैं। इनमें १०–१६ जोड़ी उभरी हुई सिरायें होती हैं। **पुष्प**–श्वेतवर्ण, ईषद्गन्धयुक्त, चमेली के पुष्प के सदृश लगभग १–१½ इञ्च लम्बे होते हैं। **फल**–शिम्बी के सदृश, ८–१६ इञ्च लम्बे, पतले, दो एक साथ

वृन्त की ओर मिले हुये तथा दूसरे सिरे पर पृथक् होते हैं। इन फलियों के ऊपर सफेद दाग होते हैं। **बीज**—अनेक, यव के सदृश, धूसरवर्ण, ½ इञ्च लम्बे होते हैं। इनके ऊपर मदार की तरह कोमल रूई लगी होती है। यव के समान होने से बीजों को 'इन्द्रयव' कहते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प और जाड़े में फल लगते हैं।

जाति—चरक ने इसकी दो जातियां बतलाई हैं:—(१) पुंकुटज (२) स्त्रीकुटज। पुंकुटज की काण्डत्वक् पाण्डुवर्ण फल बड़े, पुष्प अरुण तथा पत्र छोटे होते हैं और स्त्रीकुटज की छाल श्यामवर्ण, फल छोटे, पुष्प अरुण तथा पत्र छोटे होते हैं। आधुनिक विद्वान् भी इसकी दो जातियां बतलाते हैं—(१) श्वेत और (२) कृष्ण। संभवत प्राचीनों का पुंकुटज श्वेत और स्त्रीकुटज कृष्ण जाति है। श्वेत और कृष्ण कुटज में निम्नांकित भेद है:—

श्वेत	कृष्ण
१. **त्वक्**—पांडुधुसर	कृष्ण
२. **पत्र**—सूखने पर पांडुवर्ण	सूखने पर कृष्ण
३. **पुष्प**—श्वेत, छोटे, ईषद्गंध	अरुणाभ, बड़े, अधिकगंधयुक्त
४. **फली**—युग्म, दोनों सिरों पर पृथक्	युग्म, एक सिरे पर संसक्त
५. **बीज**—तिक्त	मधुर

श्वेत कुटज तथा तिक्त बीज (इन्द्रयव) अधिक गुणकारी होते हैं। आजकल बाजार में दोनों बीज मिले जुले और अधिकांश मीठे बीज आते हैं। अतः औषध के लिए चुनकर सावधानी से तिक्त बीज ही लेना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—श्वेत कुटज हिमालय प्रदेश, बंगाल, आसाम, उड़ीसा आदि में तथा कृष्ण कुटज दक्षिण भारत और महाराष्ट्र में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल और बीजों में कुर्चिसिन (Kurchicine) और कुर्चीन (Kurchine) नामक क्षारतत्त्व पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, तिक्त, कषाय तथा शीत होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह वामक, दीपन, स्तम्भन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धातुशोषण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों को इसके क्वाथ से धोते हैं। फोड़े आदि पर इसकी छाल का लेप देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, अर्श, उदरशूल और कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (वातरक्त, कुष्ठ आदि) और रक्तपित्त में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है। विषमज्वर में भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—लेखन के लिए अतिस्थूल व्यक्तियों में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, बीज।

मात्रा—१-२ तो० (क्वाथार्थ); बीजचूर्ण—४-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—कुटजारिष्ट, कुटजावलेह, कीटारि रस।

× × × ×.

'शिंबिफलः श्वेतपुष्पः कुटजो दीर्घपत्रकः।' (शि.)

'कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः। अर्शोतिसारपित्तास्रकफतृष्णामकुष्ठजित्॥' (भा. प्र.)

'इन्द्रयवं त्रिदोषघ्नं संग्राहि कटु शीतलम्। ज्वरातीसाररक्तार्शःकृमिवीसर्पकुष्ठनुत्॥
दीपनं गुदकीलास्रवातास्रश्लेष्मशूलजित्।' (भा. प्र.)

'रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः। हृद्रोगज्वरवातासृग्वीसर्पादिषु शस्यते॥' (च. क. ५)

'कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानाम्।' (च. सू. २५.)

२१३. धातकी

परिचय

गण—पुरीषसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय, संधानीय (च०); प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि (सु०)।

कुल—मदयन्तिका-कुल (लिथरेसी–Lytheraceae)।

नाम—लै०-वुडफोर्डिया फ्रटिकोजा (Woodfordia Fruticosa); सं०-धातकी, धातुपुष्पी (रक्तवर्ण पुष्पवाली); वह्निज्वाला (पुष्प रक्तवर्ण आग की लपट के सदृश); हि०-धाय; पं०-धावी; बं०-धाई; म०-धावस; गु०-धावणी; ता०-धाथरी जर्गी; ते०-सिरींजी; फा०-धावा; अं०-डाउनी ग्रिसलिया (Downy Grislea)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय क्षुप है। **शाखायें** अनेक होती हैं। **पत्र**–अभिमुख, अनार के जैसे, २-४ इञ्च लंबे, वृन्तरहित होते हैं। इनके निचले पृष्ठ पर सूक्ष्म रोम होते हैं। **पुष्प**–चमकीले लाल रंग के होते हैं। एक पुष्पदंड में पुष्पों की संख्या ५-१५ होती है। **बीज**–धूसरवर्ण और चिकने होते हैं। जाड़ों में पुष्प तथा वर्षा में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेष कर पार्वत्य प्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्पों में टैनिन २० प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, रक्तस्तम्भन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—संधानीय और रक्तपित्तशामक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरजनीय है। पित्तप्रकोप के कारण मूत्र में जो पीत, रक्त आदि विविध वर्ण आने लगते हैं, वे इससे दूर हो जाते हैं।
प्रजननसंस्थान—यह योनि से होने वाले विविध स्रावों को रोकता है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, रक्तस्राव तथा व्रणों में इसके पुष्प का अवचूर्णन या प्रदेह करते हैं। अग्निदग्ध में इसका चूर्ण तिलतैल में मिलाकर लगाते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतीसार, प्रवाहिका आदि में इसका प्रयोग करते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में यह उपयोगी है।
मूत्रवहसंस्थान—पैत्तिक प्रमेह में यह प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—स्रावयुक्त योनिव्यापत् (श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर आदि) में यह देते हैं।
त्वचा—विसर्प तथा अन्य चर्मरोगों में दिया जाता है।
तापक्रम—पैत्तिक ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। कोंकणदेशीय लोग पित्तज्वर के रोगी के मुख में तिलतैल देकर सिर पर इसके पत्ते का रस देते हैं। इससे मुखस्थ तैल पीतवर्ण हो जाता है तब उसे फेंक देते हैं और दूसरा तैल लेते हैं। इस प्रकार २-३ बार करने से पित्त निकल जाता है और फिर तैल पीले रंग का नहीं होता। इससे ज्वर भी शान्त हो जाता है।
प्रयोज्य अंग—पुष्प।
मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे।
विशिष्ट योग—धातक्यादि चूर्ण, धातक्यादि तैल।
वक्तव्य—इसके पुष्प आसव अरिष्टों में मदकरणार्थ तथा रंजनार्थ डाले जाते हैं।

× × × ×

'धातुकी दाडिमीपत्रा रक्तपुष्पा च मादिनी। (शि.)
धातकी कटुका शीता मदकृत्तुवरा लघुः। तृष्णातीसारपित्तास्रविषक्रिमिविसर्पजित्॥' (भा. प्र.)
'प्रवाहिकातिसारघ्नी विसर्पव्रणनाशिनी।' (रा. नि.)
'धातकीकुसुमं शीतं रक्तपित्तातिसारजित्।' (रा. व.)

२१४. बब्बूल

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल-(लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।
उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसेसी-Mimosaceae)।
नाम—लै०-एकेशिया अरेबिका (Acacia Arabica)। सं०-बब्बूल, किङ्किरात, युग्मकण्ट (दो कांटे एक साथ होते हैं); दृढारूढ (शाखायें मजबूत होती हैं); सूक्ष्मपत्र (छोटे पत्ते वाला); पीतपुष्प (पीले फूलवाला); कषाय (कषायरसयुक्त), मालाफल (फल अनेक खण्डों से युक्त माला के सदृश)। हि०-बबूल, कीकर; पं०-किक्कर;

बं०-बावला; म०-बाभूल; गु०-बावल; ता०-करुवेल्; ते०-नल्लतुम्म; अ०-अम्मुगीलाँ; फा०-मुगीलाँ; अं०-एकेशिया ट्री (Acacia tree)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यमप्रमाण लगभग २५-३० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड-त्वक्**-धूसरवर्ण होती है। **शाखायें** सरल, झुकी हुई और कण्टकयुक्त होती हैं। कोमल शाखाओं का दातून में प्रयोग होता है। **पत्र**-संयुक्त, **पत्रक**-छोटे, १०-२० जोड़े होते हैं। **पुष्प**-पीले रंग के होते हैं। **फली**-३-६ इंच लम्बी, ½ इञ्च चौड़ी, चपटी और श्वेतवर्ण होती है। इसके भीतर ८-१२ बीज होते हैं। बीजों के बीच बीच में फली दबी हुई होती है। काण्ड से रक्ताभ श्वेत निर्यास निकलता है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और शीतकाल में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः रूक्ष जांगल प्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में अत्यधिक कषाय द्रव्य होता है। फली में भी २२·४ प्रतिशत टैनिन पाया जाता है। गोंद में अरेबिक एसिड, कैल्शियम, मैगनोशियम, पोटाशियम तथा कुछ मैलिक एसिड, शर्करा, आर्द्रता (१४%) और क्षार ३·४ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

निर्यास स्निग्ध, मधुरकषायरस, मधुरविपाक और शीतवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। इसका निर्यास स्निग्धमधुर होने से वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक, व्रणरोपण, स्तम्भन एवं संकोचक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल और फली स्तम्भन तथा कृमिघ्न है और निर्यास स्नेहन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—गोंद मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—निर्यास मधुर स्निग्ध होने से वृष्य है तथा फली स्तम्भन है। गर्भाशय के शोथ और स्राव को दूर करता है।

त्वचा—छाल कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है तथा निर्यास बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—छाल और फली का प्रयोग कफपैत्तिक रोगों में तथा गोंद का वातपैत्तिक रोगों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, अग्निदग्ध और व्रणों में पत्तियों का चूर्ण छिड़कते हैं। प्रदर में छाल के क्वाथ की वस्ति देते हैं। गुदभ्रंश में छाल के क्वाथ से परिषेक करते हैं। मुख, दन्त एवं गले के रोगों में छाल के क्वाथ से गण्डूष करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, अर्श तथा कृमि में त्वक् तथा फली का प्रयोग करते हैं। कोष्ठगत रौक्ष्य में गोंद लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में छाल और फली देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—छाल का क्वाथ प्रमेह में तथा गोंद मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में निर्यास देते हैं। कच्ची फली को सुखा कर उसका चूर्ण चीनी मिला कर शीघ्रपतन, स्वप्नदोष आदि में देते हैं। रक्त तथा श्वेत प्रदर में छाल तथा फली का प्रयोग करते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में यह लाभकर है।

तापक्रम—दाह तथा अन्य पैत्तिक विकारों में उपयोगी है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में गोंद तथा विषों में छाल का क्वाथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, पत्र, निर्यास।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५-१० तो०; फलचूर्ण ३-६ माशे; पत्रकल्क २-४ माशे; निर्यास ३-६ माशे।

विशिष्ट योग—बब्बूलारिष्ट, लवंगादिवटी।

× × × ×

'बब्बूलः कफनुद् ग्राही कुष्ठक्रिमिविषापहः।' (भा. प्र.)
'बब्बूलस्य तु निर्यासो ग्राही पित्तानिलापहः। रक्तातिसारपित्तास्रमेहप्रदरनाशनः॥
भग्नसंधानकः शीतः शोणितस्रुतिवारणः।' (आ. सं.)
'बब्बूलस्य फलं रूक्षं विशदं स्तम्भनं गुरु। कषायं मधुरं शीतं लेखनं कफपित्तहृत्॥' (नि. र.)

२१५. आवर्त्तकी

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-कैसिया ऑरकुलेटा (Cassia Auriculata); सं०-आवर्त्तकी, चर्मरंगा (चमड़ा रंगने के काम में आता है), पीतपुष्पा; हि०-बं०-तरवर; मं०-तरवड; गु०-आवल; ता०-आवरै; ते०-तंगेडु; अं०-टैनर्स कासिया (Tanners, Cassia)।

स्वरूप—इसका क्षुप ३-१० फुट ऊँचा होता है। **पुष्प**-पीतवर्ण तथा शिम्बी में १०-२० बीज होते हैं। **काण्डत्वक्** चमड़ा रंगने के काम में आती है।

उत्पत्तिस्थान—यह महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, दक्षिण भारत तथा लंका में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में २५ प्रतिशत टैनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह स्तम्भन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह प्रबल स्तम्भन और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।
प्रजननसंस्थान—पुष्प शुक्रस्तम्भन और पंचांग गर्भाशयस्राव को दूर करता है।
त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण तथा नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप और अंजन करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका और कृमि में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तस्राव को रोकने के लिए देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में पुष्प या बीजों का चूर्ण देते हैं।
प्रजननसंस्थान—शीघ्रपतन में पुष्प तथा प्रदर में पंचांग का प्रयोग करते हैं।
त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।
प्रयोज्य अंग—त्वक्, पुष्प, बीज।
मात्रा—त्वक् क्वाथ ५-१० तो०; पुष्पस्वरस १-२ तो०; बीजचूर्ण २-४ मा०।

× × × ×

'आवर्त्तकी कषायातिस्तम्भनी तिक्तशीतला। रक्तपित्तातिसारघ्नी कृमिकुष्ठविनाशिनी॥ नेत्ररोगे प्रमेहे च तत्पुष्पं तु प्रयुज्यते।' (स्व.)

२१६. धन्वन

परिचय

गण—अम्लस्कन्ध, आसवयोनि-फल (च०)।

कुल—परुषक-कुल (टिलिएसी-Tiliaceae)।

नाम—लै०-ग्रीविया टिलिफोलिया (Grevia Tilieafolia); सं०-धन्वन, धन्वंग, धनुर्वृक्ष (इसकी शाखायें दृढ़ होने के कारण उनका धनुष बनाने में उपयोग होता है); हि०-धामन, धामिन; म०-घामण; गु०-धामण; ता०-थाडा; ते०-ठर्रा।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ४०-५० फुट ऊंचा होता है। **काण्डत्वक्**-खुरदरी, फटी सी, बाहर से हरिताभ और भीतर से श्वेत होती है। **पत्र**-एकान्तर, गोल, रोमश, फालसे के पत्र के सदृश किन्तु छोटे, लगभग २-५ इञ्च लम्बे और १-२ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीले रंग के होते हैं। **फल**-मटर के सदृश कृष्णवर्ण होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—शुष्क, उष्ण प्रदेश के जंगलों में, पश्चिम भारत, बर्मा, लंका आदि स्थानों में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, पिच्छिल। **रस**—कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कण्डूघ्न, सन्धानीय, व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल स्तम्भन है। काष्ठचूर्ण वामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

सात्मीकरण—पिच्छिल होने से यह बल्य और बृंहण है। यह अहिफेन-विष को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कपिकच्छू से उत्पन्न कण्डू में इसकी छाल पानी में घिस कर लगाते हैं। व्रण तथा क्षतों में इसका स्वरस लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल का रस रक्तातिसार में देते हैं। इसकी छाल को पानी में भिगो कर मसलने से जो लुआब उत्पन्न होता है उसे प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में इसका लुआब मिश्री मिला कर देते हैं। इसका काष्ठ वामक है, इसका अहिफेनविष में प्रयोग करते हैं। पिच्छाबस्ति में भी इसकी छाल तथा अंकुर का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला।

× × × ×

'धन्वंगस्तु धनुर्वृक्षो गोत्रवृक्षः सुतेजनः। धन्वंगः कफपित्तास्रकासहृत्तुवरो लघुः॥
बृंहणो बलकृद्रूक्षः सन्धिकृद् व्रणरोपणः।' (भा. प्र.)
'......धन्वनम्। मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम्।' (च. सू. २७)
'फलं तस्य हिमं स्वादु कषायं कफवातजित्।' (कै. नि.)
'सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित्।' (सु. सू. ४६)

२१७. आवर्त्तनी

परिचय

कुल—पिशाचकार्पास-कुल (स्टर्कुलिएसी-Sterculiaceae)।

नाम—लै०-हेलिक्टेरस आइसोरा (Helicteres isora); सं०-आवर्त्तनी, आवर्त्तफला (फल पेंचदार); हि०-मरोड़फली; बं०-आँतमोरा; म०-मुरुडशेंग; गु०-मरडासिंग; ता०-वलम्बुरि; ते०-गुवाघारा; अं०-इण्डियन स्क्रू-ट्री (Indian screw-tree)।

स्वरूप—इसका ५-६ फुट ऊँचा **गुल्म** होता है। **पत्र**—फालसे के सदृश होते हैं। पत्तियों में मध्यसिरा के दोनों ओर के भाग विषम होते हैं। **पत्रसिरायें**—५-७ पाणिवत

होती हैं। पुष्प-टेढ़े, अनियताकार, रक्तवर्ण होते हैं। फल-१-२ इञ्च लंबा, पँचदार पाँच खी-केशरों का बना होता है। वर्षा ऋतु में पुष्प तथा शीत काल में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र होता है। विशेषतः मध्य और पश्चिम भारत तथा लंका में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में स्नेहद्रव्य तथा टैनिन होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध।	**रस**—कषाय।
विपाक—कटु।	**वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न है। कषाय होने से कफ, शीत होने से पित्त और स्निग्ध होने से वात का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तरोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव और व्रणों में फल का चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, उदरशूल और कृमि में फल का चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तातीसार तथा अन्य अवयवों से होने वाले रक्तस्राव में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में मूलत्वक् का क्वाथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, फल।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला; फलचूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

'आवर्त्तनी स्निग्धशीता कषाया त्वतिसारनुत्। त्रिदोषोदरशूलास्रक्रमिरोगविनाशिनी ॥'

(स्व.)

२१८. कपित्थ

परिचय

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-फेरोनिया एलिफैण्टम् (Feronia Elephantum); सं०-कपित्थ (वन्दरों का प्रिय फल); दधित्थ (दधि के समान फलमज्जा); सुरभिच्छद (सुगन्धित पत्र); हि०-कैंत, कैथ; बं०-कैतबेल; म०-कवठ; गु०-कोठ; ता०-करुविला; ते०-वेलगा; अं०-वुड-ऐप्ल (Wood Apple)।

स्वरूप—इसका वृक्ष-बेल के सदृश २५-३० फीट ऊँचा होता है। शाखाओं पर दृढ, सरल कांटे होते हैं। पत्र-एकान्तर, संयुक्त, मेंहदी से बड़े होते हैं। पत्तों को

मसलने से सुगन्ध आती है। **पुष्प**–रक्ताभ श्वेत, ग्रीष्मऋतु में लगते हैं। **फल**–गोल, छोटे बेल की तरह होते हैं। फलमज्जा मधुराम्ल होती है। शीतकाल में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फलमज्जा में साइट्रिक एसिड प्रचुर परिमाण में, पिच्छिल द्रव्य तथा क्षार, जिसमें पोटाशियम, लौह और खटिक होते हैं, पाये जाते हैं। पत्तियों से एक सुगन्धित तैल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, अम्ल, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र वेदनास्थापन तथा शोथहर है। फल-स्तम्भन, विषघ्न और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फल रोचन, तृष्णाशामक और स्तम्भन है। पत्र-वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—कच्चा फल अकण्ठ्य किन्तु पका फल कण्ठ्य है।

सात्मीकरण—यह रूक्ष, कषाय अम्ल होने से लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पत्र वेदना तथा शोथ में गरम कर बाँधते हैं। फलमज्जा जांगम विषों तथा व्रणों में लगाते हैं। मुख तथा दन्त के रोगों में पका फल चर्वण के लिए देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, तृष्णारोग में इसका पका फल देते हैं। अतिसार, प्रवाहिका आदि में कच्चा तथा पका फल उपयुक्त है। आध्मान, आनाह में पत्रस्वरस देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तातिसार, प्रदर आदि में रक्तस्राव रोकने के लिए दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कच्चे फल का रस पिप्पलीचूर्ण और मधु के साथ हिक्का में देते हैं। कास श्वास तथा कण्ठरोगों में पका फल उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, पत्र।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०; फलमज्जा—२-४ तो०; फलस्वरस—१-२ तो०।

विशिष्ट योग—कपित्थाष्टक चूर्ण।

× × × ×

'कपित्थस्तु दधित्थः स्यात् तथा पुष्पफलः स्मृतः। कपिप्रियो दधिफलस्तथा दन्तशठोऽपि वा॥ कपित्थमामं संग्राहि कषायं लघु लेखनम्। पक्वं गुरु तृषाहिक्काशमनं वातपित्तजित्॥ स्वाद्वम्लं तुवरं कण्ठशोधनं ग्राहि दुर्जरम्।' (भा. प्र.)

'कपित्थमामं कण्ठघ्नं विषघ्नं ग्राहि वातलम्। मधुराम्लकषायत्वात् सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्॥
परिपक्वं तु दोषघ्नं विषघ्नं ग्राहि गुर्वपि।' (च. सू. २७)
'आमं कपित्थमस्वर्यं कफघ्नं ग्राहि वातलम्। कफानिलहरं पक्वं मधुराम्लरसं गुरु॥
श्वासकासारुचिहरं तृष्णाघ्नं कण्ठशोधनम्।' (सु. सू. ४६)

२१९. शमी

परिचय

कुल—शिम्बीकुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-प्रॉसोपिस स्पिसिजेरा (Prosopis Specigera)। सं०-शमी (शामक), तुंगा (ऊँची); केशहन्त्री (अकेश्य); सक्तुफला; हि०-छिकुर, छोंकर; बं०-शमी; पं०-जंड; म०-शमी; गु०-समडी; ता०-परंबै; ते०-जम्मि।

स्वरूप—इसका मध्यम प्रमाण कंटकित **वृक्ष** होता है। **काण्डत्वक्**-बाहर से श्वेताभ, भीतर पीताभ धूसर होती है। **शाखायें**-झुकी हुई, धूसरवर्ण होती हैं। **पत्र**-बबूल या खैर के सदृश छोटे, संयुक्त होते हैं जिनमें ८-१२ जोड़े पत्रक होते हैं। **पुष्प**-पीताभ होते हैं। **फली**-४-६ इञ्च लंबी, ½ इञ्च मोटी होती है जिसमें १०-१५ धूसरवर्ण बीज होते हैं। कच्ची फलियों का शाक मारवाड़ और पंजाब में खाते हैं। शीतकाल में पुष्प और वर्षा में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—पंजाब, सिंध, गुजरात, राजस्थान आदि जांगल प्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी फली में पिच्छिलद्रव्य होता है। इसके अतिरिक्त उसमें कैरोबिन (Carobin), कैरोबोन (Carobone) तथा कैरोबिक अम्ल (Carobic acid) पाये जाते हैं। बीजों में एक पीत रंजक द्रव्य पाया जाता है। शाखाओं से शर्करा के सदृश एक पदार्थ निकलता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष।	**रस**—कषाय, मधुर।
विपाक—कटु।	**वीर्य**—शीत। फल किंचित् उष्णवीर्य है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल विषघ्न है।
नाड़ीसंस्थान—यह शामक और मेध्य है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, स्तम्भन और क्रिमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
त्वचा—त्वग्दोषहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बिच्छू के दंश में इसकी छाल का लेप करते हैं।
नाडीसंस्थान—भ्रम तथा मस्तिष्कदौर्बल्य में उपयोगी है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अतिसार, प्रवाहिका, अर्श और कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में यह उपयोगी है। इसकी छाल आमवात में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल।

मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०; फलचूर्ण १-३ माशे।

× × × ×

'शमी तिक्ता कटुः शीता कषाया रोचनी लघुः।
कफकासभ्रमश्वासकुष्ठार्शःक्रिमिजित् स्मृता ॥' (भा. प्र.)
'गुरूष्णं मधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम् ।' (च. सू. २७)
'शमी रूक्षा कषाया च रक्तपित्तातिसारजित् ॥' (रा. नि.)

२२०. मायाफल

परिचय

कुल—मायाफल-कुल (क्युपुलिफेरी-Cupuliferae)।

नाम—ले०-क्वर्कस इन्फेक्टोरिया (Querous infectoria); सं०-मायाफल (फलाभास, मायारचित फल); हि०-माजूफल; बं०-माजूफल; म०-मायफल; गु०-माजुफल; ता०-मचक्काई; ते०-मसिक्काई; अ०-अफ्स (कषाय); फा०-माजू; अं०-ओक गाल (Oak-gall), मैजिक नट (Magic Nut)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय छोटा **वृक्ष** होता है। **काण्डत्वक्**-धूसरवर्ण होती है। **पत्ते**-दन्तुरधार, लम्बे, आयताकार होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी होते हैं। **फल**-छोटे, गोलाकार, पीताभ होते हैं जिनमें एक बीज होता है। इनकी शाखाओं में सिनिप्स गैली टिंक्टोरिया (Cynips Gallae Tinctoria) नामक कीड़े के द्वारा छिद्र करने से उसके चारों ओर स्वरस एकत्रित होकर ग्रन्थि सी बन जाती है। इसमें कीड़ा अपने अंडों के साथ रहता है। यही गाँठ माजूफल के नाम से प्रसिद्ध है। फलवत् प्रतीत होने से इसे मायाफल कहते हैं।

जाति—वर्णभेद से माजूफल चार प्रकार का होता है—(१) नीला, (२) काला, (३) हरा और (४) सफेद। नीले, काले एवं हरे रंग का बड़ा, गोल, छिद्ररहित माजूफल औषध के लिए प्रशस्त होता है। सफेद और सछिद्र निकृष्ट माना जाता हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह यूनान, एशिया माइनर, सीरिया और फारस में होता है और वहीं से भारत में आता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ५०-७० प्रतिशत गैलोटैनिक एसिड (Gallotannic acid) और २ प्रतिशत टैनिक एसिड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष । **रस**—कषाय ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—शीत ।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है ।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह केशरंजन, स्तम्भन और व्रणरोपण है ।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है । अतिमात्रा में देने से इससे वमन होने लगता है ।
रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है ।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है ।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है तथा मूत्रमार्ग के स्राव को कम करता है ।
प्रजननसंस्थान—योनिस्राव को दूर करता है ।
सात्मीकरण—यह लेखन और विषघ्न है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है ।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—स्तम्भन होने से रक्तस्राव को बन्द करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं । गले, दाँत एवं मुख के रोगों में इसका गंडूष करते हैं तथा दंतमंजनों में डालते हैं । गुदभ्रंश, अर्श तथा व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं । स्वेदाधिक्य में भी इसका चूर्ण त्वचा पर मलते हैं । केशों को काला करने के लिए इसे सिर में लगाते हैं ।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी और रक्तार्श में इसका प्रयोग करते हैं ।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में इसका प्रयोग करते हैं ।
श्वसनसंस्थान—कास में यह प्रयुक्त होता है ।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह तथा पूयमेह आदि रोगों में स्राव को रोकने के लिए इसका चूर्ण देते हैं ।
प्रजननसंस्थान—प्रदर में इसका अन्तःप्रयोग करते हैं तथा इसकी वर्त्ति भी योनि में रखते हैं । इनकी बस्ति भी दी जाती ।
सात्मीकरण—कुचला, धतूर, वत्सनाभ, अहिफेन तथा अंजन (ऐन्टीमनी) के विष में वमन कराने के बाद इसका क्वाथ वड़ी मात्रा में बार-बार देना चाहिए ।
प्रयोज्य अंग—कीटगृह ।
मात्रा—१-२ माशे ।
विशिष्ट योग—वज्रदन्तमंजन, मायाफलादि मलहर ।

२२१. कदली

परिचय

कुल—हरिद्राकुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae) ।
नाम—लै०-मुसा सैपिएण्टम (Musa Sapientum) । सं०-कदली (जलबहुला); वारणा (हस्तिजंघा के सदृश); मोचा (मुक्तसार, साररहित काण्ड); अम्बुसार

(सौम्य); अंशुमत्फला (किरणों के समान गुच्छेदार फल)। हि०-केला; बं०-कला; म०-केल; गु०-केलुँ; ते०-कदली; अ०-फा०-मौज, तल्ह; अं०-प्लैण्टेन (Plantain), बनाना (Banana)।

स्वरूप—इसका पत्रयुक्त **कांड** ४-१२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-४-६ फुट लंबा होता है जिसका ऊपरी पृष्ठ चमकीले हरे रंग का तथा निचला पृष्ठ फीके हरे रंग का होता है। **पुष्पमञ्जरी**-गुम्बदाकार, रक्ताभ, पत्तों के बीच से निकलती है। **फल**-गुच्छों में, २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। वन्य जाति के केले में काले रंग के बड़े बीज मिलते हैं।

जाति—केले की अनेक जातियाँ देशभेद से होती हैं। भावप्रकाश में माणिक्य, मर्त्य, अमृत, चम्पक इत्यादि का उल्लेख किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारतवर्ष तथा समुद्रतटवर्त्ती मलयद्वीपपुंज आदि में बहुत होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पके फल में २२ प्रतिशत शर्करा, स्टार्च, अलब्युमिनॉयड ४.८ प्रतिशत, वसा १ प्रतिशत; नत्रजनरहित पदार्थ ६-१२ प्रतिशत तथा क्षार, जिसमें फास्फोरिक ऐनहाइड्राइड, खटिक, लौह, क्लोरीन आदि होते हैं, पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त, इसमें जीवनीयद्रव्य सी, बी और ए पाये जाते हैं। पके फल के छिलके की भस्म में सोडियम कार्बोनेट, पोटाशियम कार्बोनेट, पोटाशियम क्लोराइड, क्षारीय फास्फेट, खटिक, सिलिका आदि होते हैं। कदली वृक्ष के क्षार में पोटाशियम लवण होते हैं। कच्चे केले के फल में कषाय द्रव्य अधिक होता है। केले के मूल में भी कषाय द्रव्य होता है। पुष्पस्वरस में पोटाश, सोडा, खटिक, मैगनीशियम, अलुमिनियम, क्लोरीन, सलफ्युरिक ऐनहाइड्राइड, फॉस्फरिक ऐनहाइड्राइड, कार्बन ऐनहाइड्राइड तथा सिलिका होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुरस्निग्ध होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन तथा वेदनास्थापन है। क्षार लेखन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह शामक और मेध्य है।
पाचनसंस्थान—यह रोचन, ग्राही, विष्टम्भी और तृष्णाशामक होता है।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—स्वरस मूत्रल है तथा फल मूत्रसंग्रहणीय है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है तथा योनिस्राव को रोकता है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोष प्रयोग—वातपित्तजन्य विकारों में इसका प्रयोग करते है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अग्निदग्ध पर फलमज्जा, पत्र या पुष्प का लेप करते हैं। मूत्रकृच्छ्र में वस्तिप्रदेश पर केले की जड़ का लेप करते हैं। कदलीक्षार और हलदी पीस कर सिध्म आदि में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार आदि मस्तिष्कदौर्बल्यजनित रोगों में कदलीकाण्ड का स्वरस पिलाते हैं।

पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी आदि में कच्चे केले या पुष्प का शाक देते हैं। पका केला भी थोड़ी मात्रा में खाने को देते हैं क्योंकि अधिक मात्रा में विष्टम्भकारक होता है। इन रोगों में सूखे कच्चे फल का चूर्ण भी पथ्यरूप में खिलाते हैं। तृष्णारोग में पके फल का शर्बत प्रयुक्त होता है। विसूचिका आदि में प्यास लगने पर काण्डस्वरस पिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में पुष्पशाक तथा फल का प्रयोग लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—वातपैत्तिक कास में केले का फल देते हैं। इससे कफ निकलता है और श्वासमार्ग खरत्व दूर होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में काण्डस्वरस पिलाते हैं तथा प्रमेह में फल देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में पका फल तथा प्रदर में पुष्प का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—दाह में पका फल तथा स्वरस उपयोगी हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में पका फल प्रयुक्त होता है। अहिफेन, शंखिया आदि के विषों में काण्डस्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प, काण्ड।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; क्षार-४-८ रत्ती; पानक-½-१ तो०।

विशिष्ट योग—कदल्यादि घृत, कदलीफलादि योग।

× × × ×

'मोचाफलं स्वादु शीतं विष्टम्भि कफनुद् गुरु। स्निग्धं पित्तास्रतृड्दाहक्षतक्षयसमीरजित्॥
पक्वं स्वादु हिमं पाके स्वादु वृष्यं च बृंहणम्। क्षुत्तृष्णानेत्रगदहृन्मेहघ्नं रुचिमांसकृत्॥'
(भा. प्र.)

'कदल्याः कुसुमं स्निग्धं मधुरं तुवरं गुरु। वातपित्तहरं शीतं रक्तपित्तक्षयप्रणुत्॥' (भा. प्र.)

'सम्पक्वं पनसं मोचं राजादनफलानि च। स्वादूनि सकषायाणि स्निग्धशीतगुरूणि च॥
कषायविशदत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्।' (च.)

'मौचं स्वादुरसं प्रोक्तं कषायं नातिशीतलम्। रक्तपित्तहरं वृष्यं रुच्यं श्लेष्मकरं गुरु॥' (सु.)

'रम्भापक्वफलं कषायमधुरं बल्यं च शीतं तथा पित्तघ्नास्रविमर्दनं गुरुतरं पथ्यं च मन्दानले।
सद्यः शुक्रविवृद्धिदं क्लमहरं तृष्णापहं कान्तिदम्, दीप्ताग्नौ सुखदं कफामयकरं संतर्पणं दुर्जरम्॥
(रा. नि.)

'मोचा गुर्वी हिमा स्निग्धा स्वाद्वी पित्तास्रनाशिनी। श्रमघ्नी योनिगदनुत् तत्काण्डं गुरु शीतलम्॥
बल्यः कदल्याः कन्दः स्यात् कफपित्तहरो गुरुः। वातलो रक्तशमनः कषायो रूक्षशीतलः॥
कर्णशूलं रजोदोषं सोमरोगं नियच्छति।'

'रम्भातोयं शीतलं ग्राहि तृष्णाकृच्छ्रान् मेहान् कर्णरोगातिसारान्।
अस्थिस्रावं स्फोटकान् रक्तपित्तं दाहं हन्यादस्रयोनिं विशेषात्॥'

'कदलीकुसुमं तिक्तं कषायं ग्राहि दीपनम्। उष्णवीर्यं बलासघ्नं तादृशास्तत्सटादयः॥'

तृट्रक्तपित्ताक्षिगदप्रमेहान् फलं कदल्यास्तरुणं निहन्ति।
संग्राहकं तिक्तकषायरूक्षं रक्तातिसारं शमयेत् ज्वरं च॥

ईषत्कषायमधुरं मध्यमं कदलीफलम् । गुर्वग्निसादकृत्त्वक्तु कटुतिक्तरसा लघुः ॥
मोचं पक्वं स्वादु पाके सकषायं हिमं गुरु । मांसलं श्लेष्मलं रुच्यं वृष्यं विष्टम्भि बृंहणम् ॥
स्निग्धं क्षतक्षयक्षुत्तृड्वातपित्तास्रदाहजित् ।' (कै. नि.)

२२२. मयूरशिखा

परिचय

कुल—हंसपदी-कुल (पौलिपोडिएसी-Polypodiaceae)।

नाम—लै०-ऐडिएन्टम् कॉडेटम (Adiantum Caudatum)। सं०-मयूरशिखा, मधुच्छदा; हि०-मयूरशिखा।

स्वरूप—यह हंसपदी की जाति का पत्रमय क्षुप है। **पत्र**—२-४ इञ्च लम्बे, मूल से गुच्छों में निकलते हैं। **पत्रक**—अभिमुख और पाँच भागों में विभक्त होते हैं। इन विभागों के अग्रभाग स्थूल होते हैं और देखने में मोरपंख के सदृश प्रतीत होते हैं। पत्र के किनारों पर मूल होते हैं।

वक्तव्य—अनेक जाति के क्षुप जिनका आकार मयूरशिखा के सदृश होता है, इस नाम पर वैद्यसमाज में प्रचलित हैं। इनमें ऐक्टिनोप्टेरिस डाइकोटोमा (Actinopteris dichotoma), एलिफैण्टोपस स्कैबर (Elephantopus scaber), क्लिओजिया क्रिस्टेटा (Cleosia cristata) मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पुराने खंडहरों की मिट्टी या दीवाल में वर्षाऋतु में उत्पन्न होती है और बरसात के बाद सूख जाती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष।
रस—तिक्त, कषाय, मधुर।
विपाक—कटु।
वीर्य—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तहर है।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका तथा कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।
त्वचा—चर्मरोगों में दिया जाता है।
तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।
प्रयोज्य अंग—पंचांग।
मात्रा—स्वरस-१-२ तोला।

'मयूराह्वशिखा प्रोक्ता सहस्राहिमधुच्छदा। नीलकंठशिखा लघ्वी पित्तश्लेष्मातिसारजित् ॥'
(भा. प्र.)

'मयूराह्वा शिखा शीता कषाया कटुपाकिनी। लघ्वी पित्तकफौ रक्तमतीसारं विनाशयेत् ॥'
(कै. नि.)

२२३. आकाशवल्ली

परिचय

कुल—त्रिवृत्-कुल (कन्वॉल्वुलेसी-Convolvulaceae)।

नाम—लै०-कुस्कुटा रिफ्लेक्सा (Cuscuta Reflexa); सं०-आकाशवल्ली (इसका स्पष्ट मूल न होने से); अमरवल्ली (बहुत दिनों तक रहने वाली); हि०-अमर-वेल; आकाशवेल; बं०-स्वर्णलता, अलोकलता; म०-निर्मुली; गु०-अकासवेल; ते०-सीतम पुरगोनेलु; फा०-अफ्तीमून हिन्दी; अं०-डौडर (Dodder)।

स्वरूप—इसकी पत्ररहित, कोमल, पीले रंग की, धागे के समान लता, बेर, बबूल आदि वृक्षों पर फैली रहती है। इसके मूल वृक्षों के कांड में ही संसक्त रहते हैं और वहीं से अपना आहार प्राप्त करते हैं। **पुष्प**-सुगन्धि, श्वेत, गुच्छों में लगते हैं। **फल**-मटर के आकार के, एक साथ १-४ होते हैं। **बीज**-कृष्णवर्ण होते हैं। पुष्प वसन्त में तथा फल ग्रीष्म में आते हैं।

इसके बीज मिट्टी में देने पर लता उत्पन्न होती है किन्तु वृक्ष पर फैलने के बाद इसके अन्य मूल निकल कर वृक्षकांड में चिपक जाते हैं जिनसे इसे पोषण प्राप्त होता है। इन पोषक मूलों के उत्पन्न होने पर पुराना पार्थिव मूल शुष्क हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें क्वर्सेटीन (Quercetin), राल तथा कुस्कुटीन (Cuscutine) नामक तत्त्व पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, पिच्छिल। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर तथा केश्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, ग्राही, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और बीज पित्तरेचक हैं। तिक्तरस होने से रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में तथा केशरोगों में इसका प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, ग्रहणी, यकृद्विकार तथा कृमि में इसका स्वरस देते हैं। बीजों का प्रयोग पित्ताधिक्य एवं विबन्ध में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों (उपदंश, आमवात आदि) में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—लता, बीज।

मात्रा—लता-स्वरस-१-२ तोला; बीजचूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

'आकाशवल्ली तु बुधैः कथितामरवल्लरी। खवल्ली ग्राहिणी तिक्ता पिच्छिलाक्ष्यामयापहा॥
तुवराग्निकरी हृद्या पित्तश्लेष्मामनाशिनी।' (भा. प्र.)
'वृष्यवल्ली बलकरी परं वृष्या रसायनी। मूत्रकृत् स्वेदजननी पुष्टिदा कार्श्यवारिणी॥
औपदंशिकरोगाँश्च हरेत्।' (वै. श.)

पुरीषविरजनीय

२२४. शल्लकी

परिचय

गण—पुरीषविरजनीय, कषायस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०) रोध्रादि, एलादि, कषायस्कन्ध (सु०)।

कुल—गुग्गुलु-कुल (बर्सेरसी-(Burseraceae))।

नाम—लै०-बॉसवेलिया सिरेटा (Boswellia Serrata); सं०-शल्लकी, सुस्रवा (सुगंधित स्राव होने से); गजभक्ष्या (इसकी पत्तियाँ हाथी बड़े चाव से खाते हैं); हि०-सलई; बं०-सालई; म०-सालई; गु०-सालेडो, धूपडो; अं०-इण्डियन ओलिबेनम (Indian Olibanum)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का लंबा होता है। **काण्डत्वक्**—पतली सुगंधित और वृक्ष से छूटती हुई प्रतीत होती है। **पत्र**—नीम के पत्तों की तरह, दन्तुर होते हैं जो शाखाओं के अग्रभाग पर लगते हैं। **पुष्प**—छोटे, सुगंधित और श्वेतवर्ण होते हैं। गर्भाशय तीन खण्डों में विभक्त होता है। फल में एक चपटा बीज होता है। वसन्त में पुष्प और शीतकाल में फल आते हैं।

इसकी छाल में चीरा लगाने से एक स्राव होता है जो जमकर गोंद के रूप में हो जाता है। इसे सं०-कुन्दुरु; हि०-कुन्दुरु; अ०-बस्तज, लवान; फा०-कुंदुर कहते हैं। इसे जल में घोंटने से दूध जैसा मिश्रण तैयार होता है।

जाति—यूनानी वैद्यक में आकृति और वर्ण के भेद से कुन्दुरु पाँच प्रकार का माना जाता है:—(१) नरकुन्दुर-इसके रक्ताभ पीत या कपिश, गोल दाने होते हैं। (२) मादा कुंदुर—इसके दाने कुछ बड़े और पांडुवर्ण होते हैं। (३) गोल कुन्दुर—इसके दाने सुडौल गोल होते हैं। (४) किशार कुन्दुर—यह पर्पटी के आकार का निर्यास है। (५) दुक्काक कुन्दुर—यह चूर्णरूप होता है। औषध में पीताभ और गोल निर्यास लेना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—यह विदर्भ, मध्यभारत, राजस्थान, दक्षिणभारत, नेपाल, छोटा नागपुर तथा हिमालय पर्वत के वनों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक गोंद, राल और सुगंधित तैल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कुन्दुरु तीक्ष्ण कटु और अनुष्ण होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशन, जन्तुघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य है।

पाचनसंस्थान—कुन्दुरु दीपन, पाचन, ग्राही, पुरीषविरजनीय और वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक तथा श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटु पौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, गंडमाला, पार्श्वशूल आदि में कुन्दुरु का गरम लेप करते हैं। जीर्णव्रण, प्रमेहपिडका आदि में इसका मलहम लगाते हैं। नेत्ररोगों में मधु के साथ इसका अंजन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—मुखदुर्गन्ध, अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, आध्मान, अर्श तथा पुरीष के अनेक वर्णविकारों में इसका प्रयोग करते हैं। पित्त की विकृति से पुरीष के स्वाभाविक वर्ण में विकार आता है, यह पित्तशामक होने से उसे ठीक करता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं तथा धूम्रपान भी कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा प्रदर में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—त्वग्दोषों में लाभकर है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, निर्यास (कुन्दुरु)।

मात्रा—त्वक्क्काथ-४-८ तो०; निर्यास-१-३ माशे।

वक्तव्य—संप्रति बाजार में जो द्रव्य कुन्दुरु नाम से प्राप्त होता है वह शल्लकी जाति के अरब, अफ्रीका में होने वाले वृक्ष (बॉस्वेलिया फ्लरिबण्डा-Boswellia Floribunda) का निर्यास है।

× × × ×

'शल्लकी गजभक्ष्या च सुवहा सुरभी रसा। महेरुणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा॥
शल्लकी तुवरा शीता पित्तश्लेष्मातिसारजित्। रक्तपित्तव्रणहरी पुष्टिकृत् समुदीरिता॥'
(भा. प्र.)

'कुन्दरुर्मधुरस्तिक्तस्तीक्ष्णः त्वच्यः कटुर्हरेत्। ज्वरस्वेदग्रहालक्ष्मीमुखरोगकफानिलान्॥'
(भा. प्र.)

'शल्लकी तिक्तमधुरा कषाया ग्राहिणी परा। कुष्ठास्रकफवातार्शोव्रणदोषार्त्तिनाशिनी॥'
'कुन्दुरुः कटुकस्तिक्तो वातश्लेष्मामयापहः। पाने लेपे च शिशिरः प्रदरामयशान्तिकृत्॥'
(ध. नि.)

२२५. शाल्मली

परिचय

गुण—पुरीषविरजनीय, शोणितास्थापन, वेदनास्थापन, कषायस्कन्ध (च०), प्रियंग्वादि (सु०)।

कुल—कार्पास-कुल (माल्वेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-बॉम्बेक्स मलाबेरिकम् (Bombax Malabaricum)। सं०-शाल्मली, मोचा (रसस्रावी), पिच्छिल (निर्यासयुक्त), रक्तपुष्प, स्थिरायु (बहुवर्षायु), कंटकाढ्य, तूलिनी। हि०-सेमल, सेमर; बं०-शिमुल; म०-सांवर; गु०-शेमलो, सीमलो; ता०-शलवघु; ते०-बूरुग; अं०-सिल्क-कॉटन ट्री (Silk-cotton Tree)।

स्वरूप—इसके बड़े कण्टकित वृक्ष होते हैं। **पत्र**—पाणिवत् विभक्त, ४-६ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**—रक्तवर्ण, मोटे दल के होते हैं। **फल**—६-७ इञ्च लम्बे, पञ्चकोष्ठीय होते हैं। फल के भीतर रुई और काले रंग के अनेक बीज होते हैं। बीजों से तैल निकलता है। शीतकाल के अन्त में पुष्प लगते हैं और ग्रीष्म ऋतु में फल पकते हैं।

इसकी छाल में कीड़ों के दंश से एक निर्यास निकलता है जिसे मोचरस कहते हैं। यह भूरे रंग का, पोला और हलका होता है।

सेमल के १-२ वर्ष की आयु के वृक्षों के मूल का 'सेमल मुशली' के नाम से औषध में प्रयोग करते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति होती है जिसे 'कूटशाल्मली' (एरिओडेण्ड्रोन एन्फ्रक्टुओजम-Eriodendron Anfructuosum) कहते हैं। इसमें काँटे बहुत कम और पुष्प श्वेत होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में तथा लंका, वर्मा और सुमात्रा में पाया जाता है। कूटशाल्मली दक्षिण भारत के पहाड़ों पर विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में स्थिर तैल होता है। मोचरस में कषायाम्ल (Tannic acid) तथा मायाफलाम्ल (Gallic acid) होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर; कषाय (मोचरस)।
विपाक—मधुर, कटु (मोचरस)। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—सेमल स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शामक है। मोचरस कषाय होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—सेमल की छाल शोथहर दाहप्रशमन, पुष्प रक्तरोधक, मोचरस स्तम्भन और व्रणरोपण है। कण्टक लेखन और वर्ण्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मोचरस स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—सेमल के पुष्प और निर्यास रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कच्चे फल कासहर हैं।

मूत्रवहसंस्थान—कच्चे फल मूत्रल हैं।

प्रजननसंस्थान—सेमल-मुशली वृष्य तथा मोचरस शुक्रस्तम्भन है।

सात्मीकरण—यह बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—सेमल के मूल, पुष्प तथा फल का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में और मोचरस का प्रयोग कफपैत्तिक विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सेमल की छाल व्रणशोथ और दाह में लगाते हैं। रक्तस्राव होने पर पुष्पस्वरस या चूर्ण लगाते हैं। दन्तमञ्जनों में मोचरस का योग करते हैं तथा मुखपाक व्रण आदि में अवचूर्णन करते हैं। सेमल के काँटों को दूध में पीस कर मुख में लगाने से चेहरे का रंग साफ होता है और व्यङ्ग, न्यच्छ आदि रोग दूर होते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मोचरस का प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी और अर्श में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में सेमल के फूल तथा मोचरस देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में कच्चे फलों का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, वृक्कशूल आदि रोगों में कच्चे फलों का चूर्ण या क्वाथ अतीव लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—सेमल मुशली शुक्रवर्धक वाजीकरण योगों में प्रयुक्त होती है। मोचरस शुक्रस्तम्भन योगों में डाला जाता है। श्वेत तथा रक्तप्रदर में भी मोचरस देते हैं। रक्तप्रदर में पुष्पस्वरस देते हैं या पुष्पों का शाक खिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कार्श्य में सेमलमुशली उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पुष्प, फल, निर्यास (मोचरस)।

मात्रा—मूलचूर्ण ½-१ तो०; पुष्पस्वरस १-२ तो०; फलचूर्ण १-३ माशे; निर्यास १-३ माशे।

विशिष्ट योग—शाल्मलीघृत।

वक्तव्य—कूटशाल्मली कटु-तिक्त, उष्णवीर्य और भेदन होता है।

× × × ×

'असारः शाल्मलीकूटो द्विधा स्थूलाणुकंटकः। पंचषट्वरपर्णो सुवाहो रक्ताब्जपुष्पकः॥
फलं सतूलं चैतस्य रसो मोचरसाभिधः। षष्टिवर्षसहस्राणि वने जीवति शाल्मलिः॥'(शि०)
'शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी। श्लेष्मला पित्तवातास्रहारिणी रक्तपित्तजित्॥
मोचास्रावो हिमो ग्राही स्निग्धो वृष्यः कषायकः। प्रवाहिकातिसारामकफपित्तास्रदाहनुत्॥
कूटशाल्मलिकस्तिक्तः कटुकः कफवातनुत्। भेद्युष्णः प्लीहजठरयकृद्गुल्मविषापहः॥
भूतानाहविबन्धास्रमेदःशूलकफापहः।' (भा. प्र.)
'शाल्मलिः पिच्छिलो वृष्यो बल्यो मधुरशीतलः।
कषायश्च लघुः स्निग्धः शुक्रश्लेष्मविवर्धनः॥' (रा. नि.)
'शाल्मलीपुष्पशाकं तु घृतसैन्धवसाधितम्। प्रदरं नाशयत्येव दुःसाध्यं च न संशयः॥(भा.प्र.)

शूलप्रशमन

२२६. यवानी

परिचय

गण—शीतप्रशमन (च०); चतुर्बीज (भा०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-कैरम कॉप्टिकम् (Carum Copticum); सं०-यवानी (क्षुद्र यव सदृश क्षुप); उग्रगंधा, अजमोदिका (छोटी अजमोदा) दीप्यका (दीपन); हि०-अजवायन; बं०-जोमान; पं०-जवैण; म०-ओंवा; गु०-अजमा; ता०-आमन; ते०-ओमान; अ०-क्यूनुल्मुलूकी; फा०-नानखाह; अं०-किंग्स क्युमिन (Kings Cumin)।

स्वरूप—इसका क्षुप २-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्ते**-सोया के सदृश होते हैं। **पुष्प**-छत्राकार, श्वेत होते हैं। **बीज**-छोटे, पीतकपिश वर्ण के होते हैं। इन्हीं बीजों का अजवायन के नाम पर प्रयोग होता है। शीतकाल में पुष्प और उसके बाद फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत तथा ईरान, मिश्र और अफगानिस्तान में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों के एक सुगंधित तैल होता है जो ठंढक से जम जाता है। इसे 'सत अजवायन' या 'अजवायन का फूल' (थायमोल-Thymol) कहते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, अनुलोमन, जन्तुघ्न, त्वच्य और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, श्लेष्मपूतिहर और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजननन है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रनाशक, स्तन्यनाशन तथा गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—शीतप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अजवायन का लेप या उसके तैल का अभ्यंग शोथ-वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। चर्मरोगों तथा बिच्छू आदि के दंश में उसका लेप करते हैं। सत अजवायन को गरम जल में मिला कर उससे व्रण धोते हैं। आध्मान होने पर पेट पर अजवायन का लेप करते हैं या उसकी पोटली बना कर सेंकते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, आनाह, उदरशूल, गुल्म, प्लीहा और कृमिरोग में इसका प्रयोग करते हैं। सत अजवायन अन्त्रगत अंकुशकृमि में तथा अन्य जन्तुओं की वृद्धि को रोकने के लिए देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास और श्वास में इसका चूर्ण देते हैं और धूम्रपान भी कराते हैं। इससे कफ आसानी से निकलता है, कफ नष्ट होता है, कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है और तद्गत जीवाणुओं की वृद्धि रुकती है। श्वास का वेग भी कम हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा सूतिकारोग में यह उपयोगी है। इससे गर्भाशय का संशोधन होता है, वात का शमन होता है, अग्नि बढ़ती है तथा ज्वर आदि उपद्रव शान्त होते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—शीतज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—ग्रहणीजन्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है। जीर्ण अहिफेन-विष में यह लाभकर है और इससे उसका अभ्यास छूट जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशे; तैल १५-३० बूँद; सत्त्व ½-१ रत्ती; अर्क २-४ तो०।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप वेदनास्थापन तथा त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—हिक्कानिग्रहण और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य, आर्त्तवजनन तथा स्तन्यजनन है।

सात्मीकरण—स्निग्ध पिच्छिल होने से बाल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कटिशूल, पार्श्वशूल तथा संधिवात में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका चूर्ण एवं क्षीरपाक कर सेवन कराते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल गुल्म तथा अतिसार, प्रवाहिका में इसका चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त आदि रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का और श्वास में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, कष्टार्त्तव एवं प्रसूति रोग में इसका प्रयोग करते हैं। हैं। प्रसव के बाद देने से इससे बल बढ़ता है, स्तन्य की वृद्धि होती है, गर्भाशय का संशोधन होता है तथा वायु के उपद्रव शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-२ माशे।

विशिष्ट योग—चतुर्बीज चूर्ण।

× × × ×

'चन्द्रशूरं हितं हिक्कावातश्लेष्मातिसारिणाम्। असृग्वातगदद्वेषि बलपुष्टिविवर्धनम्॥'

(भा. प्र.)

'दरकृष्णो वातशूलगुल्मघ्नः स्तन्यपुष्टिकृत्। बल्यो वाजीकरः पानाल्लेपाच्छोणितशूलनुत्॥'

(शो.)

संशोधन (उभयतोभागहर)

२२६. देवदाली

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च०); उभयतोभागहर, ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-लफा एकिनाटा (Luffa Echinata); सं०-जीमूत, देवदाली, गरागरी, देवताडक; हि०-बन्दाल, घघरबेल; बं०-देवताड; म०-देवडांगरी; गु०-कुकडवेला; ता०-पानिबिरा; अं०-ब्रिस्टली लफा (Bristly Luffa)।

स्वरूप—इसकी बड़ी प्रतानिनी **लता** होती है। **कांड** पतला, पंचकोण होता है। **पत्र**–लट्वाकार, दन्तुर, रोमश और १–२ इंच लम्बे होते हैं। **पुष्प**–छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**–ककोड़े के सदृश पीताभ और कंटकित होते हैं। **बीज**–छोटे होते हैं। इसका पंचांग तिक्त होता है।

जाति—इसकी एक जाति पीले फूल वाली होती है जिसके फूल में कांटे भी कम होते हैं। इसका लैटिन नाम लफा ग्रैविओलेन्स (Luffa Graveolens) है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषकर पश्चिमोत्तर भारत, गुजरात, सिन्ध, बम्बई और पूर्व बंगाल में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक तैल होता है। इसके अतिरिक्त, इसके पंचांग में एक तिक्त सत्त्व कोलोसिन्थिन के तुल्य होता है जो उभयतोभागहर है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषतः कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन, व्रणरोपण, लेखन और शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अल्पमात्रा में दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक तथा बड़ी मात्रा में वामक और रेचक है। कृमिघ्न भी हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक तथा बड़ी मात्रा में संशोधन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विशेषतः कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों में इसका स्वरस देते हैं। फल को पीस कर टिकिया बना अर्शाङ्कुरों पर लेप करने से वे सूख जाते हैं। कामला, पीनस, अपस्मार और कफज शिरोरोगों में इसका नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में अग्निमांद्य, यकृद्विकार, कामला, अर्श तथा बड़ी मात्रा में जलोदर, पाण्डु, विष, कृमि आदि में संशोधनार्थ देते हैं। कामला में वन्दाल-फल के हिम का नस्य देते हैं। इससे नाक द्वारा पीला पानी टपकता रहता है और आँखों का पीलापन दूर हो जाता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा कष्टप्रसव में यह लाभकर है। मूढगर्भ में भी इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में पाण्डु में तथा बड़ी मात्रा में विषों में संशोधनार्थ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—५-१० र० (कटुपौष्टिक); १-२ माशे (संशोधनार्थ)।

× × × ×

'जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम्। प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासहिक्काद्येष्वामयेषु च ॥'
(च. क. २)

'देवदाली तु तिक्तोष्णा कटुः पाण्डुकफापहा। दुर्नामश्वासकासघ्नी कामलाशोथनाशिनी ॥'
(रा. नि.)

'देवदाली रसे पाके तिक्ता तीक्ष्णा विषापहा। वामनी हन्ति गुदजकफशोफामकामलाः ॥
ज्वरकासारुचिश्वासहिध्मापाण्डुक्षयकृमीन्।' (कै.)

कृमिघ्न

२३०. विडङ्ग

परिचय

गण—कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, तृप्तिघ्न, शिरोविरेचन (च०); सुरसादि, पिप्पल्यादि (सु०), त्रिमद (भा०)।

कुल—विडङ्ग-कुल-(मर्सिनेसी-Myrsinaceae)।

नाम—लै०-इम्बेलिया रिब्स (Embelia Ribes); सं०-विडंग, कृमिघ्न, चित्रतंडुल (फलों पर सफेद दाग होते हैं); हि०-बायबिडंग, भाभिरंग; पं०-बावडींग, बं०-बिडंग; म०-बावडिंग; गु०-वावडींग; ता०-ते०-वायु-विलामगम्।

स्वरूप—इसका बड़ा **गुल्म** होता है। **पत्र**-अंडाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-मरिच के सदृश, गुच्छों में लगते हैं। फल के भीतर धूसरवर्ण की मज्जा और एक **बीज** होता है जिस पर सफेद दाग होते हैं। संप्रति बाजार में जो द्रव्य विडंग के नाम से चलता है उसमें तत्सदृश अनेक द्रव्यों के बीज मिलाये रहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के पार्वत्य प्रदेशों में प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें विडंगाम्ल (Embelic acid) २½ प्रतिशत; एक उड़नशील तैल, स्थिर तैल, रंजक द्रव्य, टैनिन, राल तथा क्रिस्टेम्बिन (Christembine) नामक क्षारतत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, कुष्ठघ्न और शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क और नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन और श्रेष्ठ कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है तथा इसकी विशिष्ट क्रिया रसग्रन्थियों पर होती है और उनका शोथ नष्ट होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है। इससे मूत्र की अम्लता बढ़ती है।

त्वचा—वर्ण्य और कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—यह रसायन है और इसकी उत्तेजक क्रिया शरीर के सब अंगों पर होती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कृमिदंत, दंतशूल आदि में विडंगक्वाथ का गंडूष करते हैं। चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है। जीर्ण प्रतिश्याय, कामला तथा शिरोरोगों में इसके चूर्ण का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा नाडीदौर्बल्य से उत्पन्न वातव्याधि (आक्षेपक, अपस्मार, पक्षाघात आदि) में रसोन के साथ क्षीरपाक कर इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, वमन, उदरशूल, आध्मान, विबन्ध और अर्श में इसका प्रयोग उष्णोदक या तक्र के साथ किया जाता है। गण्डूपद, स्फीत तथा तन्तु कृमियों में खाली पेट १ तोला विडंग का चूर्ण देते हैं और उसके बाद जुलाब देते हैं। इससे कृमि मर कर बाहर निकल जाते हैं। इसके बाद कुछ दिनों तक थोड़ी मात्रा में विडंग चूर्ण का इन्द्रयव, पलाश बीज, नीम की छाल आदि के साथ सेवन कराते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों तथा गंडमाला में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—इससे कुष्ठ आदि समस्त चर्मरोग दूर होते हैं और त्वचा का वर्ण ठीक होता है।

सात्मीकरण—शरीर की वृद्धि के लिए, विशेषतः दुर्बल और क्षयग्रस्त शिशुओं में यह अत्यन्त उपयोगी औषध है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—१-२ माशे।

विशिष्टयोग—विडंगादि चूर्ण, विडंगारिष्ट, विडंगलौह, विडंग तैल।

× × × ×

'विडंगं कटु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं वह्निकरं लघु। शूलाध्मानोदरश्लेष्मकृमिवातविबन्धनुत्॥'
(भा. प्र.)

'विडंग...तैलानि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि च।'
(सु. सू. ४५.)

'विडंगं कृमिघ्नानाम्।' (च. सू. २५.)

'विडंगा कटुरुष्णा च लघुः वातकफार्तिनुत्। अग्निमांद्यारुचिभ्रान्तिकृमिदोषविनाशिनी ॥'
(रा. नि.)

'विडंगतंडुलचूर्णमाहृत्य यष्टिमधुयुक्तं यथाबलं शीततोययोगेनोपयुञ्जीत शीततोयं चानुपिबेत्।''''''एते खलु अर्शांसि क्षपयन्ति, कृमीनुपघ्नन्ति, ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति, मासे मासे प्रयोगे वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति।' (सु. चि. २७.)

२३१. पलाश

परिचय

गण—रोध्रादि, मुष्ककादि, अम्बष्ठादि, न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी–Papilionacaae)।

नाम—लै०–ब्युटिआ फ्रॉण्डोसा (Butea Frondosa); सं०–पलाश (पत्र-प्रधान या मांसवत् रक्तवर्ण पुष्प); किंशुक (शुकतुण्ड के सदृश पुष्प); रक्तपुष्पक; क्षारश्रेष्ठ; ब्रह्मवृक्ष, समिद्वर (यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला); हि०–ढाक, टेसू; बं०–पलाश; म०–पलस; गु०–खाखरो (वृक्ष), केसुडा (पुष्प); पलाशपापड़ा (बीज); ता०–मुरुक्कु; ते०–मोदुग; अं०–बैस्टर्ड टीक (Bastard teak)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**–४०–५० फीट ऊँचा होता है। **कांड**–टेढ़ा तथा त्वचा फटी-सी होती है। **पत्र**–संयुक्त, एक में तीन गोलाकार, असमान पत्रक प्रायः ४–६ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**–वसन्त ऋतु में सुन्दर, रक्त-पीतवर्ण आते हैं। **फली**–५–८ इञ्च लम्बे, ¾ इञ्च चौड़े होते हैं जिनमें चपटे, गोलाकार, रक्ताभधूसर वर्ण के बीज होते हैं। त्वचा में क्षत करने से निर्यास निकलता है जो जमने पर गोंद के सदृश हो जाता है। इस गोंद को ब्युटिआ–गम (Butea-gum) या बंगाल–काइनो (Bengal-kino) कहते हैं। वसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत तथा बर्मा में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल और गोंद में काइनोटैनिक एसिड (Kino-tannic acid) तथा गैलिक एसिड ५० प्रतिशत; पिच्छिल द्रव्य तथा क्षार २ प्रतिशत पाये जाते हैं। बीजों में स्थिर तैल १८ प्रतिशत होता है जिसे मोदुग ऑयल या काइनो आयल (Moodooga oil or kino oil) कहते हैं। पत्र में एक ग्लुकोसाइड तथा पुष्प में एक पीत रंजक द्रव्य होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

इसके पुष्प मधुर विपाक और शीतवीर्य हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है। पुष्प कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पुष्प, छाल और गोंद स्तम्भन है तथा बीज लेखन है। पत्र शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, ग्राही और यकृदुत्तेजक है। पुष्प तृष्णाशामक और स्तम्भन है। गोंद अम्लतानाशक और ग्राही है। बीज उत्तम भेदन और कृमिघ्न है। क्षार अनुलोमन और भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—पुष्प तथा गोंद रक्तस्तम्भन और बीज रक्तशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—पुष्प मूत्रल तथा बीज और त्वक् प्रमेहघ्न हैं।

प्रजननसंस्थान—पलाश की गोंद वृष्य और बीज उत्तेजक हैं। पुष्प स्तम्भन हैं।

त्वचा—पुष्प और बीज कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—पुष्प ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—गोंद बल्य है। त्वक्, पुष्प और गोंद संधानीय है। बीज विषघ्न है। पंचाग रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। पुष्प कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मूत्रावरोध में फूलों को गरम कर वस्तिप्रदेश में बाँधते हैं। पत्तों को गरम कर शोथवेदनायुक्त विकारों में बाँधते हैं। व्रण, अर्श, योनिस्राव आदि में त्वक् क्वाथ से परिषेक करते हैं। बीजों का लेप चर्मरोगों में, नेत्ररोगों में करते हैं। इसका तैल ध्वजभंग में शिश्न में लगाते हैं। बिच्छू के दंश में भी इसको घिसकर लगाते हैं। बीजों का नस्य अपस्मार में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल का क्वाथ अग्निमांद्य, ग्रहणी और अर्श में करते हैं। पुष्प तृष्णा और अतिसार में प्रयुक्त होता है। पलाशबीज का चूर्ण (१–३ माशे) प्रातः सायं तीन दिनों तक सेवन कराने के बाद चौथे दिन प्रातः एरण्डतैल पिलाने से कृमि (Round worms) मर कर निकल जाते हैं। पलाश के छोटे क्षुप का क्षार बनाकर उदररोग, गुल्म तथा शूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—पुष्प तथा गोंद रक्तपित्त में और बीज रक्तविकार (वातरक्त आदि) में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में पुष्प तथा प्रमेह में बीजों का प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में पलाश की गोंद तथा प्रदर में पुष्पों का प्रयोग होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में पुष्प और बीजों का प्रयोग होता है। क्षयरोग में अतिस्वेद को रोकने के लिए गोंद का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर और दाह में पुष्प लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में गोंद का प्रयोग करते हैं। अस्थिभग्न आदि में त्वक्, पुष्प और गोंद का प्रयोग होता है। विषों में बीजों का प्रयोग होता है। रसायन कर्म में पंचांग उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र, पुष्प, निर्यास, बीज।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५–१० तो०; पत्रस्वरस १–२ तो०; पुष्प ६ माशे १ तो०; निर्यास १–३ माशे; बीजचूर्ण २–८ रत्ती; कृमिरोग में १–३ माशे।

विशिष्ट योग—पलाशबीजादि चूर्ण, पलाशक्षारघृत।

'पलाशपादपः सिद्धस्त्रिदलः शिशिरे त्रयः । कृष्णवृन्तोज्ज्वलद्रक्तपुष्पश्च तिक्तबीजकः ।
एकबीजायता शिम्बी त्रिपर्णश्च समिद्धवान् । गुणैः सर्वे समा ज्ञेयाः सितो विज्ञानदः परः ॥'
(शि०)

'पलाशो दीपनो वृष्यः सरोष्णो व्रणगुल्मजित् । भग्नसंधानकृद्दोषग्रहण्यर्शःकृमीन् हरेत् ॥
कषायः कटुकस्तिक्तः स्निग्धो गुदजरोगजित् । तत्पुष्पं स्वादु पाके तु कटु तिक्तं कषायकम् ॥
वातलं कफपित्तास्रकृच्छ्रजित् ग्राहि शीतलम् । तृड्दाहशमकं वातरक्तकुष्ठहरं परम् ॥
फलं लघूष्णं मेदार्शःकृमिवातकफापहम् । विपाके कटुकं रूक्षं कुष्ठगुल्मोदरप्रणुत् ॥' (भा. प्र.)

'क्षारश्रेष्ठः कृमिघ्नश्च संग्राही दीपनः परः । प्लीहगुल्मग्रहण्यर्शोवातश्लेष्मविनाशनः ॥
किंशुकस्यापि कुसुमं सुगंधि मधुरं च तत् । बीजं तु कटुकं स्निग्धमुष्णं कृमिबलासजित् ॥'(ध.नि.)

'पलाशतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि ।' (सु. सू. ४५)

'किंशुकं कफपित्तघ्नम् ।' (सु. सू. ४६)

'पलाशबीजानि विडंगयुक्तान्युन्मिश्रितान्यामलकीफलानाम् ।
रसेन मध्वाज्ययुतानि पीत्वा वृद्धोऽपि मासात्तरुणत्वमेति ॥' (रा. मा.)

वक्तव्य—इसके विशिष्ट रसायनकल्प रसरत्नाकर रसायनखंड में अवलोकन करें ।

२३२. चौहार

परिचय

कुल—भृंगराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae) ।

नाम—लै०-आर्टिमीसिया मैरिटिमा (Artemisia Maritima); सं०-चौहार, कीटमारी यवानी; हि०-किरमानी अजवायन; किरमाला; म०-किरमाणी ओंवा; गु०-करमाणी अजमा, छुहारो; (पश्चिमोत्तरप्रदेश) स्पिराह तर्वाह; फा०-दिर्मना; अ०-शीह; अं०-वर्मसीड (Worm-seed) ।

स्वरूप—इसका **क्षुप** दमनक के सदृश होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में कुमाऊँ से काश्मीर तक, पश्चिमोत्तर प्रदेश, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, फारस और तिब्बत में ७-८ हजार फुट की ऊँचाई पर होता है ।

रासायनिक संघटन—इसमें कर्पूर के सदृश गन्धवाला एक उड़नशील तैल होता है । पुष्पों से लगभग १·७५ प्रतिशत सैन्टोनिन (Santonin) नामक तत्त्व प्राप्त होता है जो नवीन अवस्था में श्वेतवर्ण किन्तु पुराना होने पर या धूप में रखने पर पीतवर्ण हो जाता है । इसके पंचांग को जलाने से ६½ प्रतिशत भस्म प्राप्त होती है जिसमें चूना और यवक्षार होते हैं ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । **रस**—तिक्त, कटु । **विपाक**—कटु ।
वीर्य—उष्ण । **प्रभाव**—कृमिघ्न ।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण-तीक्ष्ण होने से कफवातशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणरोपण और रोमसंजनन है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह आक्षेपशामक है । अधिक मात्रा में देने पर ओजःक्षय होने से वायु की वृद्धि होती है और तज्जन्य प्रलाप आदि लक्षण व्यक्त होते हैं ।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक और तीव्र कृमिघ्न है। इसका विशिष्ट प्रभाव गण्डूपद कृमियों और तन्तु कृमियों पर होता है। अधिक मात्रा में रेचन है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासहर और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है। इससे अम्ल मूत्र हरितपीत वर्ण तथा क्षारीय मूत्र बैंगनी लाल रंग का हो जाता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकर और आर्त्तवजनन है।

तापक्रम—शीतप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लेखन है।

उत्सर्ग—यह मुख्यतः मूत्र से और कुछ पुरीष से बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसके तैल का अभ्यङ्ग करते हैं। व्रणों में इसका तैल लगाते हैं। इसकी भस्म को तैल में मिला कर खालित्य रोग में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—आक्षेपक, अपतन्त्रक आदि रोगों में उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आध्मान, उदररोग तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। रात में खाली पेट इसकी एक मात्रा देकर सवेरे विरेचन देने से कृमि मर कर बाहर निकल जाते हैं। जीर्णरोग में एक सप्ताह बाद पुनः दूसरी मात्रा देते हैं।

श्वसनसंस्थान—श्वास रोग में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना के लिए तथा रजोरोध में प्रयोग होता है।

तापक्रम—शीतज्वर के लिए प्रशस्त है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचाङ्ग, सत्त्व (सैन्टोनिन)।

मात्रा—पञ्चाङ्ग चूर्ण-३-६ माशे; सत्त्व-$\frac{1}{2}$-१$\frac{1}{2}$ रत्ती।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने पर इससे शिरःशूल, छर्दि, अतिसार, संज्ञानाश, वाक्स्तम्भ, शीतस्वेद, हृदय एवं श्वसन का अवसाद, गहरे पीले रंग का मूत्र, कम्प, आक्षेप और अन्त में मृत्यु होती हैं। कभी कभी त्वचा पर चकत्ते भी निकलते हैं।

× × × ×

२३३. इङ्गुदी

परिचय

गण—शिरोविरेचन (च०)।

कुल—इङ्गुदी-कुल (साइमारुबेसी-Simaroubaceae)।

नाम—लै०-बैलेनाइटिस रॉक्सबर्गाई (Balanites Roxburghii)।

सं०-इङ्गुदी, तापसद्रुम, अङ्गारवृक्ष (उष्ण होने से)। हि०-इङ्गुन, हिङ्गोट; बं०-हिंगन; म०-हिंगण; गु०-इङ्गोरियो; ता०-नानफुनदा; ते०-रिंगरी।

स्वरूप—इसका छोटा **वृक्ष** १०-२० फुट ऊँचा या गुल्म होता है। पत्तियाँ जोड़ी, संयुक्त; **पत्रक**-आगे की ओर गोलाकार, मदार के पत्ते की तरह, १-१$\frac{1}{4}$ लम्बे होते हैं। पत्तियों के पास दृढ, स्थूल कण्टक होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, १ इञ्च लम्बे, सुगन्धित और ४-१० के गुच्छों में होते हैं। **फल**-अण्डाकार, लगभग १ इञ्च लम्बा, फलत्वचा भंगुर, फलमज्जा रक्ताभ हरित, बीज कठिन और पञ्चकोणीय होता है। इसके बीजों से तैल निकालते हैं जिसकी गन्ध बड़ी तीक्ष्ण और अप्रिय होती है। वसन्त में पुष्प आते हैं तथा वर्षा में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह जांगल देश में विशेषतः राजस्थान, गुजरात, सिक्किम, बिहार तथा बर्मा में होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में सैपोनिन (Saponin) होता है। फलमज्जा में १$\frac{1}{2}$ प्रतिशत साबुन, १ प्रतिशत अम्लद्रव्य, शर्करा तथा पिच्छिल द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—कृमिघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल जन्तुघ्न, केश्य और व्रणरोपण है। छाल तीक्ष्ण होने से शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, स्रंसन और कृमिघ्न है। इसकी क्रिया सिनेगा के समान होती है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह कटुपौष्टिक है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका तैल अग्निदग्ध तथा व्रणों पर लगाते हैं। केश्य होने से शिरोरोगों में भी लगाते हैं। जंगलों में प्राचीनकाल में मुनियों के आश्रम के निवासी इसी का तैल सिर में लगाते थे इसीलिए इसका नाम 'तापसद्रुम' है। शिरोरोगों में छाल की चूर्ण का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध, उदरशूल और कृमिरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास में इसके फल की मज्जा देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, श्वित्र आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक के लिए तथा विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फलमज्जा, बीज, बीजतैल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ-२-४ तोला; फलमज्जा-५-१० रत्ती; बीजचूर्ण-५-१० रत्ती; बीजतैल-५-२० बूँद।

× × × ×

'इङ्गुदः कुष्ठभूतादिग्रहव्रणविषक्रिमीन्। हन्त्युष्णः श्वित्रशूलघ्नस्तिक्तकः कटुपाकवान्॥' (भा. प्र.)

'इङ्गुदी मदगन्धा स्यात् कटूष्णा फेनिला लघुः। रसायनी हन्ति जन्तुवातामयकफव्रणान्॥' (रा. नि.)

'कृमिघ्नमिगुंदीतैलमीषत्तिक्तं तथा लघु। कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रबलापहम्॥' (सु. सू. ४५)

२३४. बर्बरी

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-ऑसिमम बैसिलिकम् (Ocimum Basilicum); सं०-बर्बरी, तुवरी (बीज किञ्चित् कषाय-स्तम्भन होने से), तुंगी (पुष्पमंजरी बड़ी होने से), खरपुष्पा (पत्तों या पुष्पों में रोम होने के कारण); अजगन्धिका (बकरे के तुल्य गंध वाली); हि०-बबरी, बबई, ममरी, वनतुलसी; बं०-बाबुई तुलसी; पं०-पबरी, नियाज़बो; म०-सबजा; ता०-पाच्छाई; ते०-रुद्रजेदु; अ०-बाज़रूज़; फा०-रैहाँ कोही; अं०-स्वीट बेसिल (Sweet basil)।

वक्तव्य—बम्बई में इसके क्षुप का विक्रय सैल्वा (Salba) नाम से होता है। वहाँ के मुसलमान प्रति शुक्रवार को इसे कब्रों पर चढ़ाते हैं।

स्वरूप—इसका रोमश **क्षुप**-१-२ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड** और **शाखायें** हरे रंग की होती हैं। **पत्र**-१-२ इञ्च लम्बे, मरुवे की पत्ती से चौड़े, सुगन्धित होते हैं। पुष्प मंजरी लगभग ½ से २-४ इञ्च तक लम्बी होती है। **पुष्प**—चक्राकार, श्वेत या बैंगनी रंग के होते हैं। **बीज**—काले रंग के, गोल, किञ्चित् लम्बे होते हैं जिन्हें जल में भिगोने पर लुआब होता है। इन्हें तुख्म शर्बती या तुख्मरैहाँ कहते हैं। कहीं-कहीं 'तोकमारी' भी कहते हैं।

जाति—भावमिश्र ने तीन प्रकार की बर्बरी का उल्लेख किया है:—(१) अर्जक इसके पुष्प श्वेत होते हैं। (२) कुठेरक—इसके पुष्प कृष्ण (नीलाभ या बैंगनी) होते हैं। (३) वटपत्र—इसके पत्र वटपत्र के आकार की किन्तु छोटी होती है।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम निवासस्थान दक्षिणपूर्व एशिया है किन्तु संप्रति समस्त भारत में विशेषतः बंगाल और पंजाब में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में एक पीताभ हरित सुगन्धित तैल होता है जो कुछ समय तक रहने के बाद स्फटिकाकार हो जाता है इसे बेसिल-कैम्फर (Basil-Camphor) कहते हैं। बीजों में पिच्छिल द्रव्य पुष्कल परिमाण में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

इसके बीज स्निग्ध, मधुर, कषाय और शीत होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक, पित्तवर्धक है किन्तु इसके बीज वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके पत्र शोथहर, वेदनास्थापन, शिरोविरेचन तथा बीज दाहप्रशमन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, विदाही, वातानुलोमन और कृमिघ्न है। बीज स्नेहन और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक और रक्तशोधक है। बीज-रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है। बीज दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—विषघ्न है। बीज बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। बीज-वातपैत्तिक रोगों में उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप शोथवेदनायुक्त स्थानों में करते हैं। पत्र का नस्य मूर्च्छा, शिरोरोग तथा पीनस में देते हैं। बीजों का लुआब दाह में तथा शुष्क व्रणों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विष्टम्भ और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। बीज कोष्ठगत रौक्ष्य तथा प्रवाहिका में इसबगोल की तरह प्रयुक्त होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है। बीजों का प्रयोग रक्तपित्त, रक्तार्श आदि में करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—पत्रस्वरस तथा बीजों का प्रयोग मूत्रकृच्छ्र में करते हैं।

प्रजननसंस्थान—पत्र आर्त्तवजनन के लिए कष्टार्त्तव आदि में लाभकर है।

त्वचा—कण्डू आदि त्वग्दोषों में उपयोगी है।

तापक्रम—विषमज्वर में दिया जाता है। बीजों का प्रयोग दाह में होता है।

सात्मीकरण—पत्र तथा मूल विषाक्त अवस्थाओं में दिये जाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, बीज।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला; पत्र-½-१ तोला; बीजचूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

'बर्बरीत्रितयं रूक्षमुष्णं कटु विदाहि च। तीक्ष्णं रुचिकरं हृद्यं दीपनं लघुपाकि च॥
पित्तलं कफवातास्रकण्डूकृमिविषापहम्।' (भा. प्र.)
'बीजं चास्या दाहशोषनाशकं परिकीर्त्तितम्।' (कै. नि.)

२३५. अफसन्तीन

परिचय

कुल—भृंगराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-आर्टिमीसिया ऐब्सिन्थियम (Artemisia Absinthium); हि०-अफसंतीन; कु०-तीतपाती; क०-टिटवीन; अ०-अफसंतीन, फा०-मरवा; अं०-वर्मवुड (Worm-wood), मगवर्ट (Mug-wort)।

स्वरूप—यह दमनक के सदृश एक छोटा **क्षुप** है। इसका **काण्ड** सरल शाखामय होता है। **शाखायें** कोमल; श्वेतरोमयुक्त तथा असंख्य पत्तियों से ढँकी होती हैं। **पत्र**—लगभग १-२ इञ्च लंबे, सफेद चमकीले रोमों से व्याप्त होने के कारण चाँदी के समान प्रतीत होती हैं। **पुष्प**—छोटे, पीताभश्वेत हैं। **फल**—छोटे दानों के रूप में होते हैं जिनके भीतर सूक्ष्म बीज भरे होते हैं। समस्त क्षुप की गंध अति तीव्र और स्वाद अतितिक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह अफ्रिका, अमेरिका, दक्षिणी यूरोप, साइबेरिया, मंगोलिया, खुरासान, नेपाल तथा भारत में काश्मीर, पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कर्पूरगंधि उड़नशील सुगंधित तैल, ऐबसिन्थीन (Absinthin) नामक सत्त्व (ग्लुकोसाइड), टैनिन, राल, सक्सिनिक अम्ल (Succinic acid), पोटाशियम तथा क्षार ७ प्रतिशत होते हैं। इसके तैल में ऐबसिन्थॉल (Absinthol); टर्पीन २ प्रतिशत तथा एक गहरे नीलवर्ण का तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—कृमिघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, यकृत्-प्लीहशोथ में इसका लेप करते हैं। कर्णशूल तथा अन्य वेदनायुक्त विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, अपस्मार तथा पक्षाघात आदि वातविकारों में उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, उदररोग तथा कृमि (विशेषतः गंडूपद और तन्तु कृमियों) में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वरों तथा नियतकालिक ज्वरों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—२-४ माशे।

२३६. कीटमारी

परिचय

कुल—ईश्वरी-कुल (एरिष्टोलोचिएसी-Aristolochiaceae)।

नाम—लै०-ऐरिष्टोलोचिया ब्रेक्टिएटा (Aristolochia Bracteata); सं०-कीटमारी, धूम्रपत्रा; हि०-कीडामार; बं०-पाटुवंग; म० गु०-कीडामारी; उ०-पानिरी; ता०-आडु-तिन्न-पळाई; ते०-कादामारा; अं०-बर्थवर्ट (Birthwort)।

स्वरूप—इसकी बहुवर्षायु प्रतानिनी **लता**-१-२ फुट ऊँची होती है। **पत्र**-१½-२ इंच लंबे चौड़े तथा इनका अग्रभाग मोटा होता है। **पुष्प**-बैंगनी रंग के गुच्छों में लगते हैं। **फल**-लगभग एक इञ्च लंबा, ६ धारवाला होता है। बीज त्रिकोणाकार होते हैं। वर्षा के बाद फूल और फल होते हैं। समस्त क्षुप अत्यन्त तिक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—गंगा-यमुना के मध्यवर्ती प्रदेश तथा पश्चिम भारत में, पश्चिम बिहार, सिंध, बुन्देलखण्ड तथा दक्षिणभारत में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें अप्रिय गंधवाला एक उडनशील तैल, एक क्षारतत्त्व तथा लवण विशेषतः पोटाशियम क्लोराइड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्णव्रणों में इसका स्वरस लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध और कृमिरोग में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध और कष्टार्त्तव में इसका सेवन कराते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर में इसका प्रयोग कालीमिर्च के साथ करते हैं।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में पांडु आदि में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—१-२ माशे।



षष्ठ अध्याय

यकृत् पर कर्म करने वाले द्रव्य

पित्तसारक

२३७. दारुहरिद्रा

परिचय

गण—अर्शोघ्न, कण्डूघ्न, लेखनीय (च०); हरिद्रादि, मुस्तादि, लाक्षादि (सु०)।

कुल—दारुहरिद्रा-कुल (बर्बेरिडी-Berberidae)।

नाम—लै०-बर्बेरिस एरिस्टेटा (Berberis Aristata); सं०-दारुहरिद्रा (हलदी के समान पीली लकड़ी); दार्वी, पर्जन्या; कटंकटेरी, पचंपचा; हि०-दारुहलदी; बं०-दारुहरिद्रा, पं०-दारहल्दी; जौनसार०-काशमोई; गढ़वाल-किंगोरा; म०-दारुहलद; गु०-दारुहलदर; ता०-मरमंजल; ते०-करतूरीपप्पु; फा०-दारचोबा; अं०-इण्डियन बर्बेरी (Indian Berbery)।

स्वरूप—इसका चिरहरित कंटकित **गुल्म** ४-८ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-दृढ, लट्वाकार, सूक्ष्मसिराजालयुक्त, सरलधार किन्तु कंटकयुक्त या दन्तुर होता है। **पुष्प-मंजरी**-२-३ इञ्च लंबी होती है जिसमें पीतवर्ण वृहत् पुष्प लगते हैं। **फल**-किशमिश के तुल्य नील तथा रक्तवर्ण, छोटे होते हैं इसे हकीम लोग 'झरिष्क' कहते हैं। पुष्प

वसन्त में तथा फल ग्रीष्म में आते हैं। काण्डत्वक् धूसर तथा अन्तःकाष्ठ गहरे पीले रंग का होता है। दारुहरिद्रा की रसक्रिया-विधि से जो घन सत्त्व प्रस्तुत होता है वह रसांजन कहलाता है।

जाति—इसकी १२-१३ उपजातियाँ प्राप्त होती हैं जिनमें B. Aristata, B. Chitria, B. Asiaticum, B. Lycium मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय प्रदेश, पारसनाथ, नीलगिरि, नेपाल आदि में २-१२ हजार फीट की ऊँचाई पर पाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल और काष्ठ में एक पीतवर्ण तिक्त क्षारतत्त्व बर्बेरिन (Brberine) नामक होता है। फल में निम्बाम्ल और सेवाम्ल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

इसका फल मधुराम्ल और शीतवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है। इसका फल पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और ग्राही है। अधिक मात्रा में मृदुरेचन है। फल रोचन और तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है। रसाञ्जन रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ और स्राव को रोकता है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और वर्ण्य है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथवेदना युक्त स्थानों पर लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। नेत्राभिष्यन्द में इसका द्रव (२ रत्ती रसौत आधे छटाँक गुलाब जल में मिला कर नेत्र में डालते हैं। नेत्रशोथ में पलकों पर रसौत का लेप करते हैं। कर्णशूल तथा कर्णस्राव में यह द्रव कानों में डालते हैं। मुख तथा गले के रोगों में रसाञ्जनद्रव से गण्डूष करते हैं। व्रणों पर रसौत का लेप करते हैं या उसके द्रव से धोते हैं। रक्तविकारजन्य शोथ, फिरङ्ग-उपदंश, गण्डमाला, भगन्दर, विसर्प आदि में भी इसका लेप करते हैं। प्रदर में योनि में इसकी उत्तरवस्ति देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, प्रवाहिका, कामला तथा यकृद्विकारों में यह अतीव उपयोगी है। फल का प्रयोग अरुचि एवं तृष्णा में करते हैं। रसांजन को मूलक स्वरस से भावित कर चने के बराबर गोलियाँ बना रक्तार्श में प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—फिरंग आदि रक्तविकारों में दारुहरिद्रा का क्वाथ देते हैं। रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर में रसौत अकेले या अन्य स्तम्भन द्रव्यों के साथ देते हैं। इससे रक्त रुक जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—श्वेतप्रदर तथा रक्तप्रदर में यह लाभकर है।

त्वचा—त्वचा तथा वर्ण के विकारों (कण्डू, स्फोट आदि) में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह सामान्य ज्वर में प्रयुक्त होता है। जीर्ण ज्वर में विशेषकर विषमज्वर में इससे बहुत लाभ होता है। विषमज्वर में जब जीवाणु यकृत् में स्थित हो जाते हैं तब कुनैन का प्रभाव नहीं होता। ऐसी स्थिति में रसौत का प्रयोग लाभकर होता है। पहले मृदुरेचन देकर १५ रत्ती रसौत जल में घोल कर दिन में तीन बार देना चाहिए। इसके बाद रोगी को पर्याप्त कपड़ा ओढ़ा कर सोने दें। कुछ देर में प्यास लगेगी किन्तु पानी पीने को न दे। लगभग १ घण्टे के बाद जब उसे पसीना आने लगे। पसीना पोंछ कर गरम दूध या साबूदाना पिलावे। इससे रोगी को कमजोरी नहीं होती, ज्वर दूर होता है, प्लीहा-यकृत् की वृद्धि शान्त होती है और रोगी का बल भी बढ़ता है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, काण्ड, फल।

मात्रा—मूलत्वक् स्वरस-१-२ तो०; क्वाथ-५-१० तो०; रसाञ्जन-½-१ माशा; २ माशे (विषम ज्वर में) फल-½-१ तो०।

विशिष्ट योग—दार्व्यादि क्वाथ, दार्व्यादि लेह, दार्व्यादि तैल।

रसाञ्जन-निर्माणविधि—दारुहरिद्रा के मूलभाग तथा निचले स्थूल काण्ड को १६ गुने जल में उबाले, जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहे तब उतार कर छान ले। इस क्वाथ में समभाग गोदुग्ध या अजादुग्ध मिला कर पुनः मन्दाग्नि पर पाक करे, जब गाढ़ा हो जाय तो उतार ले। यही रसाञ्जन है।[1] सम्प्रति व्यापारी वर्ग इसके निर्माण में दुग्ध का प्रयोग नहीं करता और उसमें अनेक अपद्रव्य भी मिले रहते हैं, अतः प्रयोग के पूर्व बाजारू रसौत का शोधन कर लेना आवश्यक है।

रसाञ्जन-शोधन—बाजार में प्राप्त होने वाले रसाञ्जन को चौगुने गरम जल में घोल कर कपड़े से छान् ले। तदनन्तर उसमें दुग्ध मिला कर मन्द आँच में पाक कर ले या धूप में सुखा ले।[2]

× × × ×

'तिक्ता दारुहरिद्रा स्याद्रूक्षोष्णा व्रणमेहनुत्। कर्णनेत्रमुखोद्भूतां रुजं कण्डूं च शोषयेत्॥
(ध. नि.)

'दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जनं ख्यातं नेत्रयोः परमं हितम्॥
रसाञ्जनं कटु श्लेष्मविषनेत्रविकारनुत्। उष्णं रसायनं तिक्तं छेदनं व्रणदोषकृत्॥' (भा. प्र.)

---

१. दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जनं ख्यातं नेत्रयोः परमं हितम्॥'
(भा. प्र.)

२. तोयेऽत्युष्णे परिक्षिप्य द्रवीकुर्याद्रसाञ्जनम्। वाससा स्रावयित्वा च पयसा मिश्रयेत् पुनः॥
मन्दाग्निना पचेद्वापि शोषयेद् सूर्यरश्मिना। एवं विशोधितं तार्क्ष्यशैलं कर्मसु योजयेत्॥'
(स्व.)

२३८. काकमाची

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध (च०)।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-सोलेनम इण्डिकम् (Solanum Indicun); सं०-काकमाची; हि०-मकोय; बं०-गुड़कामाई; पं०-मको; म०-कामोणी; गु०-पीलुडी; ता०-मणा-ताकालि-पुल्लूम; ते०-काची पुण्ड्र; अ०-इनबुस्सालब; रूबाह तुर्बुक; अं०-गार्डेन नाइटशेड (Garden Night-shade)।

स्वरूप—इसका क्षुप-वक्रशाखायुक्त १-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-२-३ इंच लम्बे, १-१½ इंच चौड़े होते हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-छोटे, स्निग्ध, गोलाकार, कच्चे में हरे और पकने पर नील या बैंगनी रंग के, गुच्छों में होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प तथा वसन्त में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के छायायुक्त स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में सोलेनिन (Solanine) नामक तत्त्व होता है जो शर्करा, सैपोनिन तथा सोलेनिडिन का यौगिक है। इसके पत्र तथा पंचांग में डल्कामेरिन या पिक्रोग्लिशियन (Dulcamarine or Picroglycian) नामक पीताभ ग्लुकोसाइड होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—अनुष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न है। स्निग्धता और किञ्चित् उष्णता के कारण वात का, तिक्त-कटु होने से पित्त और कफ का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न, हिक्कानिग्रहण और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह बाह्य तथा आभ्यन्तर अवयवों के शोथ में प्रयुक्त होता है। सन्धिवात, व्रण, वृषणशोथ, यकृच्छोथ, उदररोग में इसका लेप करते हैं। मुख तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से गंडूष करते हैं। कर्णशूल में इसका रस गरम कर देते हैं। नासारोगों में यह नाक में देते हैं। नेत्ररोगों में भी देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, छर्दि, यकृद्विकार तथा तज्जन्य यकृद्वृद्धि, अर्श, उदर और प्रवाहिका आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। प्लीहावृद्धि में भी लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, शोथ एवं वातरक्त, आमवात आदि रक्तविकारों में होता है। शोथरोग में पत्र का शाक भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, कास, हिक्का और श्वास में इसका फलचूर्ण लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्करोग, पूयमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में यह दिया जाता है।

त्वचा—त्वचा के रोगों में यह उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में यह प्रयुक्त होता है। इससे ज्वर शान्त होता है, यकृत्प्लीहा के विकार नष्ट होते हैं और रोगी के बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है। विषों में इसका प्रयोग करने से पुरीष तथा मूत्र के द्वारा शरीरस्थ विषों का निर्हरण हो जाता है। क्षयरोग में पुष्पों का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग, फल।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; फलचूर्ण-१-३ माशे; अर्क-२-५ तोला।

विशिष्ट योग—काकमाची अर्क (अर्क मकोय)।

विषाक्त प्रभाव—इसका फल अधिक मात्रा में देने से छर्दि, अतिसार, तृष्णा, उदरशूल, तारकाविस्फारण, शिरःशूल, भ्रम, प्रलाप, आक्षेप, संन्यास और अन्त में मृत्यु होती है।

निवारण—इसके विष में धतूरविष के समान चिकित्सा की जाती है।

× × × ×

'काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा। तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्॥
कटुर्नेत्रहिता हिक्काछर्दिहृद्रोगनाशिनी।' (भा. प्र.)

'त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी। नात्युष्ण शीतवीर्या च भेदिनी कुष्ठनाशिनी॥'
(च. सू. २७)

'ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम्। नात्युष्णशीतं कुष्ठघ्नं काकमाच्यास्तु तद्विधम्॥'
(सु. सू ४६)

२३९. अपामार्ग

परिचय

गण—शिरोविरेचन, कृमिघ्न, वमनोपग (च०); अर्कादि (सु०)।

कुल—अपामार्ग-कुल (अमरैण्टेसी-Amaranthaceae)।

नाम—लै०-एकाइरैन्थस ऐस्परा (Achyranthes Aspera); सं०-अपामार्ग (दोषों का मार्जक या संशोधक), शिखरी (पुष्प-फल शिखर तुल्य मंजरी में होने से); अधःशल्य (अधोमुख कंटक); मयूरक (मयूरवत् चित्रित पुष्पमंजरी); खरमंजरी (पुष्पमंजरी खर होने से), प्रत्यक्पुष्पा (पुष्प अधोमुख होने से), किणिही (व्रणनाशन); हि०-चिड़चिड़ी, चिरचिटा, चिचड़ा; बं०-आपाङ्; पं०-पुठकंडा; म०-आघाड़ा;

गु०-अघेडो; ता०-नाजुरिवि; ते०-अपामार्गामु; अ०-अल्कुम; फा०-खारेवाज़गून; अं०-चाफ ट्री (Chaff Tree)।

स्वरूप—इसका वर्षायु **क्षुप** १-२ फुट ऊँचा होता है। **शाखायें** फैली हुई और अग्रभाग में मोटी होती हैं। **पत्र**-स्वल्प, अंडाकार-गोलाकार, ३-५ इञ्च लंबे, २-३ इञ्च चौड़े, मृदु रोमश होते हैं। **पुष्पदण्ड** लंबा होता है जिसमें हरिताभ श्वेत पुष्प मंजरी के रूप में लगते हैं। **फल**-छोटे, लंबे, धूसरवर्ण होते हैं। शीतकाल में पुष्प लगते हैं और ग्रीष्म में फल पककर गिर जाते हैं।

जाति—यह दो प्रकार का होता है:—(१) श्वेत और (२) रक्त। श्वेत का वर्णन ऊपर किया गया है। रक्त अपामार्ग (A. Rubrofusco) का कांड, शाखा, पुष्प, फल आदि रक्ताभ होते हैं। पत्रों पर लाल दाग होते हैं तथा शाखायें चपटी और चतुष्कोण होती हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों ने इसकी दो जातियाँ और बतलाई हैं:—(३) A. Porphyristachys (राज-अपामार्ग) इसका क्षुप बड़ा ४-६ फुट ऊँचा होता है तथा पत्तियाँ ३-१० इञ्च लंबी होती हैं। (४) A. Argentea इसके पत्र श्वेतवर्ण होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीज तथा पंचांग में क्षार विशेषतः पोटाश होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा कफपित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, लेखन, विषघ्न और व्रणशोधन है। शिरोविरेचन भी है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, पाचन, पित्तसारक और कृमिघ्न है। बीज दुर्जर और विष्टम्भी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक, रक्तवर्धक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल, अश्मरीनाशन और मूत्राम्लतानाशक है।

त्वचा—स्वेदजनन और कण्डूघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

उत्सर्ग—इसका क्षार त्वचा, फुफ्फुस, आमाशय, यकृत् और पित्त के द्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। कफरोगों में संशोधनार्थ इसके बीजों का नस्य देते हैं और पैत्तिक रोगों में इसका स्वरस पिलाते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों, विशेषतः फूली में इसकी जड़ मधु में घिस कर अञ्जन लगाते हैं। व्रणों में इसका स्वरस लगाते हैं। वृश्चिक और सर्प के दंशस्थान पर इसका लेप करते हैं। कर्णशूलों में इसके क्षार से सिद्ध तैल डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, छर्दि, अग्निमांद्य, उदरशूल, उदररोग, आध्मान, अर्श, पित्ताश्मरी, कृमि रोगों में यह प्रयुक्त होता है। बीजों की खीर बना कर भस्मक रोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार, पाण्डु, गण्डमाला, आमवात और शोथरोग में उपयोगी है। रक्ताम्लता में भी प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—वस्तिशोथ, वृक्कशोथ, अश्मरी आदि रोगों में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोग, वर्णविकार आदि में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं। सर्पविष में इसका मूल कालीमिर्च के साथ पीस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, पत्र, पञ्चांगक्षार।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; क्वाथ-५-१० तो०; बीज चूर्ण-१-३ माशे; क्षार-४-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—अपामार्गक्षारतैल

× × × ×

'अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः। पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोनिलापहः॥
निहन्ति हृद्रुजाध्मानकण्डुशूलोदरापचीः।' (भा. प्र.)

'अपामार्गस्तु तिक्तोष्णः कटुकः कफनाशनः। अर्शःकण्डूदरामघ्नो रक्तहृद्ग्राहिवान्तिकृत्॥'
(ध. नि.)

'प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानाम्।' (च. सू. २५)

२४०. कालमेघ

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-ऐण्ड्रोग्राफिस पैनिकुलेटा (Andrographis Paniculata)। सं०-यवतिक्ता, कालमेघ, कल्पनाथ; हि०-कालमेघ; बं०-कालमेघ; म०-पालेकिराईत; गु०-लीलुं करियातुं; ता०-नीलावेम्बु; ते०-वेलावेमु; अं०-कालमेघ (Kalmegh)।

स्वरूप—इसका क्षुप १-३ फुट ऊँचा होता है। **कांड**—चतुष्कोण, नीचे चिकना और ऊपर रोमश होता है। **पत्र**—अभिमुख, रेखाकार, २-३ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्प**—छोटे श्वेत या नील होते हैं तथा दूर से देखने पर मच्छर के सदृश प्रतीत होते हैं। **फल**—यवाकार और तिक्त होता है। **बीज**—अनेक, चतुष्कोण, रोमश होते हैं। इसका पंचांग अत्यन्त तिक्त होता है। वर्षा के अन्त से शीतकाल तक पुष्प और फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः बंगाल और आसाम में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पत्र में किंचित् सुगंधि तैल और दो तिक्तपदार्थ पाये जाते हैं। समस्त क्षुप में 'कालमेघिन' (Kalmeghin) नामक तिक्त रालदार सत्त्व तथा प्रचुर परिमाण में पर्णहरित (क्लोरोफिल-Chlorophyll) पाया जाता है। पंचांग की भस्म में सोडियम क्लोराइड और पोटाशियम लवण पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । **रस**—तिक्त ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है ।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है ।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है ।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न और नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक है ।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्वृद्धि, विबन्ध और कृमिरोग में यह उपयोगी है ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में उपयोगी है ।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है ।

तापक्रम—इसका चूर्ण मरिच चूर्ण के साथ मलेरिया में देते हैं । जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं । इससे यकृत् ठीक होता है, ज्वर शान्त होता है और बल की वृद्धि होती है ।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं ।

प्रयोज्य अंग—पंचांग ।

मात्रा—चूर्ण ५-१० रत्ती; स्वरस २-४ माशे; क्वाथ २-४ तो० ।

विशिष्ट योग—कालमेघसत्त्व (Extract kalmegh) ।

संग्रहविधि—वर्षा ऋतु के अन्त में या शीत के आरंभ में इसका संग्रह कर छाया में सुखाकर सुरक्षित रूप में रख देना चाहिए ।

× × × ×

'शंखिनी तिक्तला चैव यवतिक्ताऽक्षिपीडकः । ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु ॥
विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद् योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु ।
नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शंखिन्या निस्तुषीकृतम् ॥' (च. अ० ११)

२४१. दुग्धफेनी

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae) ।

नाम—लै०-टैरेक्सेकम ऑफिसिनेल (Taraxacum Officinale); सं०-दुग्धफेनी, लूतारि, पयस्विनी; हि०-दुधल, दुधली; सिं०-बुथुर; म०-बाथुर; अं०-डैण्डीलियन (Dandelion) ।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप वनगोभी के सदृश होता है । **पत्र**-मूलस्तम्भ से

निकले, ३-४ इञ्च लंबे और कटे हुये होते हैं। **पुष्प**-पीले ३-४ इञ्च लंबे पुष्पदण्ड पर होते हैं। समस्त क्षुप में श्वेत, गाढ़ा दुग्ध होने से इसे 'दुग्धफेनी' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश, तिब्बत और नीलगिरि में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके दुग्ध में टैरेनेसिन (Taranacin) नामक एक तिक्त पदार्थ, टैरेक्सेसरीन (Taraxacerin) नामक एक स्फटिकीय तत्त्व, पोटाशियम, कैलशियम तथा राल होते हैं। मूल में इन्युलिन २५%, पेक्टीन, शर्करा, लेव्युलिन, भस्म ५-७ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—स्वेदजनन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्ण व्रणों में शोधनार्थ इसका स्वरस देते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, यकृद्वृद्धि, कामला, विबन्ध, उदररोग और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।
त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।
सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य तथा विषों में यह लाभकर है।
प्रयोज्य अंग—मूल।
मात्रा—चूर्ण-५-१० रत्ती, क्वाथ-२½-५ तो०।

× × × ×

'दुग्धफेनी कटुस्तिक्ता शिशिरा विषनाशिनी।
व्रणापसारिणी रुच्या युक्त्या चैव रसायनी॥' (रा० नि०)

२४२. कासनी

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-साइकोरियम इण्टिबस (Cichorium intybus); हिं०-कासनी; अ०-हिंदुबा; फा०-कासनी; अं०-एण्डिव् (Endive), चिकोरी (Chicory)।

स्वरूप—इसका **पौधा**-३-६ फीट ऊँचा होता है। शाखायें कोमल होती हैं। **पत्र**-खुरदरे, आयताकार होते हैं। इनका स्वाद तिक्त होता है। **पुष्प**-नीलवर्ण के होते हैं। **बीज**-श्वेतधूसर, हलके और किंचित् तिक्त होते हैं। **मूल**-गोपुच्छाकार, बाहर से धूसर और भीतर से सफेद, तिक्त और पिच्छिल होता है।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं:—(१) वन्य, (२) ग्राम्य। वन्य जाति का वर्णन ऊपर किया गया है। ग्राम्य जाति का क्षुप बागों में लगाया मिलता है। इसका लैटिन नाम साइकोरियम एण्डिविया (Cichorium endivia) कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ६ हजार फुट की ऊँचाई पर पश्चिमोत्तर भारत, काश्मीर, पंजाब, दक्षिण भारत, ईरान और यूरोप में होती है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक मृदु तैल होता है। इसकी भस्म में शर्करा, सेल्युलोज, भस्म, वसा, नत्रजनयुक्त पदार्थ आदि होते हैं। जड़ में पोटाश सलफेट और नाइट्रेट, पिच्छिल द्रव्य, तिक्त द्रव्य, एन्युलिन ३६% होते हैं। पुष्पों में एक वर्णरहित, स्फटिकीय ग्लुकोसाइड, साइकोरिन (Cichorin) तथा लैक्ट्युसिन (Lactucin) और इण्टिबिन (Intybin)।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

इसका मूल उष्णवीर्य है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शामक, दाहप्रशमन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह शामक और निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—मूल आर्त्तवजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न तथा शीत होने से दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पैत्तिक शोथ, शिरःशूल, यकृच्छोथ, शीतपित्त, वातरक्त, दाह आदि में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कोद्वेग तथा अनिद्रा में इसके वीजों का पानक देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, कामला, पित्तोदर, तृष्णा आदि रोगों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्द्रव तथा रक्तविकारों में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसके मूल और वीजों का प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में इसका मूल प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर, पित्तज्वरों में तथा दाहसंशमनार्थ इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्वल्य में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, वीज।

मात्रा—पत्रस्वरस-१-२ तो०; मूलचूर्ण-३-६ माशे; बीजचूर्ण-३-६ माशे।

विशिष्ट योग—अर्क कासनी (मात्रा-५-१० तो०)।

× × × ×

२४३. पारिजात

परिचय

कुल—पारिजात-कुल (ओलिएसी-Oleaceae)।

नाम—लै०-निक्टैन्थिस आर्बर ट्रिस्टिस (Nyctanthes Arbor Tristis); सं०-पारिजात, शेफालिका, मन्दार, प्राजक्त, रागपुष्पी। हि०-हरसिंगार, परजाता; बं०-शेफालिका, शिउली; म०-पारिजात; गु०-हारशणगार; ते०-माझायु; अं०-वीपिंग निक्टैन्थस (Weeping Nyctanthes), नाइट जैस्मिन (Night Jasmine)

स्वरूप—इसका छोटा **वृक्ष** १०-१५ फुट ऊँचा, कभी कभी २५-३० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-अभिमुख, रोमश और खर, ४-५ इञ्च लम्बे, २-२½ इञ्च चौड़े होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ हरितवर्ण तथा निम्न पृष्ठ श्वेताभ होता है। **पुष्पवृन्त** पीतरक्त, **पुष्प** श्वेत और सुगन्धि होते हैं। ये रात में खिलते है और प्रातः झड़ जाते हैं। **बीजकोष**-चपटा, द्विकोणीय होता है जिसमें दो बीज होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत और वर्मा में होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्पों में एक सुगन्धित तैल होता है। पत्तों में निक्टैन्थीन (Nyctanthine) नामक क्षारतत्त्व, कषायद्रव्य, राल, रंजकद्रव्य, शर्करा तथा किञ्चित् तैलीय द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातहर है। पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और केश्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। पित्तविकारोंमें संशोधनार्थ देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का लेप खालित्य रोग में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—पत्रस्वरस अग्निमांद्य, विबन्ध, यकृद्विकार, पित्त-विकार, अर्श तथा कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में इसके पत्र या त्वचा का चूर्ण (१-२ रत्ती) पान के रस में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—त्वग्दोषों में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में पत्तियों का रस देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, त्वक्।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; चूर्ण-१-५ रत्ती।

× × × ×

'शेफालिः कटुतिक्तोष्णा रूक्षा वातक्षयापहा। स्यादङ्गसंधिवातघ्नी गुदवातादिदोषनुत्॥'
(रा. नि.)

'प्राजक्तः पारिजातश्च हारश्रृंगारपुष्पकः। नालकुंकुमको रागपुष्पी च खरपत्रकः॥' (नि. सं.)

'रसः प्राजक्तपत्रस्य ज्वरघ्नो तिक्तकः स्मृतः। पर्णखण्डसमायुक्ता त्वचा कासविनाशिनी॥'

२४४. दमनक

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)

नाम—लै०-आर्टिमिसिया सिवर्सियाना (Artemisia Sieversiana) सं०-दमनक, तपोधन, गन्धोत्कट, ब्रह्मजट, पुष्पचामर; हि०-दौना; बं०-दोना; म०-दवण; गु०-डमरो।

स्वरूप—इसका क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। पत्र और शाखायें अल्प होती हैं। पत्र और पुष्प से उग्र गन्ध आती है। पुष्पमञ्जरी चँवर के आकार की होती है। क्षुप का स्वाद तिक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—एक तिक्त सत्व, हरितवर्ण, कर्पूरगन्धि उड़नशील तैल और प्रचुर मात्रा में यवक्षार होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। उष्ण होने से वात का तथा तिक्त होने से पित्त और कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और वातहर है। मस्तिष्क पर इसकी क्रिया कर्पूर की जैसी होती है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन और पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक, शोथहर और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह उत्तेजक और गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में तथा व्रणशोथ पर इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विष्टम्भ, आध्मान, उदरशूल, यकृद्विकार तथा पित्ताधिक्य में इसे देते हैं। इससे पुरीष के द्वारा अधिक पित्त बाहर निकल जाता है। उदररोगों में इसका क्षार देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं। इसमें विशेषतः इसका क्षार लाभकर होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध और कष्टार्त्तव में उपयोगी है। कामोत्तेजना के लिए भी देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे आम का पाचन होता है, पुरीष, स्वेद तथा मूत्र का निर्गम होता है और अंगमर्द शान्त होकर निद्रा आती है।

सात्मीकरण—पांडुरोग में इसका प्रयोग लौहभस्म के साथ करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, पत्र, पुष्प।

मात्रा—स्वरस-½-१ तो०; चूर्ण—५-१० रत्ती।

'दमनस्तुवरस्तिक्तो हृद्यो वृष्यः सुगंधिकः। ग्रहणीविषकुष्ठास्रक्लेदकण्डूत्रिदोषजित्॥'
(भा.प्र.)

'दमनः स्याद्रसे तिक्तो विषघ्नो भूतदोषनुत्। त्रिदोषशमनो हृद्यः कण्डूकुष्ठापहः स्मृतः॥'
(ध.नि.)

२४५. सप्तचक्रा

परिचय

कुल—सप्तचक्रा-कुल (सैमिडेसी-Samydaceae)।

नाम—लै०-कैसिएरिया एस्कुलेण्टा (Casearia Esculanta); सं०-सप्तचक्रा (मूल काटने पर उसमें सात चक्र दीखते हैं); स्वर्णमूल (मूल की वाह्यत्वचा स्वर्णवर्ण होती है); म०-सप्तरंगी, सतकपी; बं०-चिल्ला; संथाली-कर्क; ता०-काड्डलार्शिगी; ते०-कोड्डजुंगुरु; गोवा-सतगुंडा; अं०-वाइल्ड कौरी फ्रूट (Wild Cowrie fruit)।

स्वरूप—इसका गुल्माकार **क्षुप** २-५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-दन्तुर होते हैं। और पत्रवृन्त असमान होते हैं। **पुष्प**-हरिताभ होते हैं। **फल**-नारंगी रंग के, १-२ इञ्च लंबे, अंडाकार होते हैं। **मूल**-की वाह्य त्वचा सुनहले रंग की तथा मूल काटने पर भीतर सात चक्र दिखाई पड़ते हैं। ताजे मूल में इन्द्रधनुष के सदृश भिन्न भिन्न वर्ण दिखाई देते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मलाबार, बम्बई से कुर्ग तक और लंका में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टैनिन और कैथार्टिक एसिड के सदृश एक तत्त्व होता है। मूल में धूसरपीत राल, टैनिक एसिड, रंजक द्रव्य, स्टार्च और एक उदासीन स्फटिकीय तत्त्व होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा पित्तसारक है। मधुरकशमन भी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधन और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—इससे मूत्र की मात्रा कम होती है और उसमें यदि शर्करा आती हो तो वह भी कम होती है।

त्वचा—यह स्वेदापनयन है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में तथा पित्तरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके मूल का लेप अर्शांकुरों पर करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विष्टम्भ, यकृद्वृद्धि, पित्तविकार तथा अर्श में यह लाभकर है। यकृत् की मधुरक-प्रक्रिया सुधरने के कारण शर्करा-संबन्धी विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, प्रमेहपिडका तथा शोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—इक्षुमेह में इसका प्रयोग करते हैं। इससे मूत्र कम आता है और उसमें शर्करा भी कम होती है। रोगी का साधारण स्वास्थ्य भी इससे अच्छा होता है।

त्वचा—अतिस्वेद में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वचा।

मात्रा—चूर्ण १–३ माशे; ५–१० रत्ती (कटुपौष्टिक कर्म के लिए); क्वाथ के लिए ½–१ तो०।

२४६. काकतुण्डी

परिचय

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लिपिएडेसी-Asclepiadaceae)।

नाम—लै०-ऐस्क्लिपियस कुरासाविका (Asclepias Curassavica); सं०-काकतुण्डी; हि०-बं-काकतुंडी, वनकापास; म०-करकी; अं०-ब्लड फ्लावर (Blood flower)।

स्वरूप—इसका दुग्धयुक्त बहुवर्षायु क्षुप २–३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-विपरीत, भालाकार, मिर्चे के पत्ते के सदृश, २–३ इंच लंबे होते हैं। **पुष्प**-नारंगी रंग के, शिखरयुक्त मंजरियों में लगते हैं। **फली**-चिकनी, लगभग ३ इंच लंबी, नवीन अवस्था में काकतुंड के सदृश प्रतीत होती है।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल निवासस्थान पश्चिम भारतीय द्वीपसमूह है किन्तु संप्रति भारत के अनेक प्रदेशों में विशेषतः देहरादून, बंगाल आदि में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में विन्सटौक्सिन (Vincetoxin) तथा ऐस्क्लिपिन या ऐस्क्लिपिएडिन (Asclepine or Asclepiadin) नामक सक्रिय तत्त्व होते हैं। इसकी क्रिया इमेटिन के सदृश होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप विदाही, रक्तोत्क्लेशक और जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातवर्धक है और दौर्बल्य तथा अवसाद उत्पन्न करता है।

पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा (¼–½ र०) में यह दीपन है। इससे आमाशय का रक्तसंवहन बढ़ता है और उसके कारण उसका स्राव अधिक होता है। अधिक मात्रा

(१-२ माशे) में यह वामक है। इससे प्राणदा नाडी, मस्तिष्कस्थित वमनकेन्द्र तथा कोष्ठगत पेशी प्रभावित होकर वमन होता है। यह यकृदुत्तेजक और पित्तसारक है। पहले इससे रेचन होता है उसके बाद ग्राही क्रिया होती है। पत्रस्वरस कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयावसादक और रक्तरोधक है। विशेषतः पुष्पस्वरस रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में तथा जीर्ण व्रणों में इसका प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में अग्निमांद्य में यह प्रयुक्त होता है। कास, कुकुरखाँसी, पैत्तिक विकार (अम्लपित्त), ज्वर आदि में वमनार्थ इसका प्रयोग करते हैं। यकृच्छोथ, अर्श, कामला, प्रवाहिका में यह अतीव लाभकर माना जाता है। प्रवाहिका में देने पर शीघ्र प्रवाहण शान्त हो जाता है और पुरीष में श्लेष्मा और रक्त आना बन्द हो जाता है। कृमिरोग में पत्रस्वरस देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्राव को रोकने के लिए पुष्पस्वरस देते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास एवं फुफ्फुसशोथ में यह उपयोगी है। शमनार्थ अल्प मात्रा में तथा संशोधनार्थ अधिक मात्रा में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह में इसका व्यवहार किया जाता हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में यह लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोग में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में कटुपौष्टिक के लिए देते है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, पुष्प।

मात्रा—मूलचूर्ण-$\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ रत्ती (कटुपौष्टिक), १-२ माशे (वमनार्थ); पत्रस्वरस ३-६ माशे; पुष्पस्वरस-$\frac{1}{2}$-१ तोला।

× × × ×

मधुरकशमन

२४७. मधुनाशिनी

परिचय

कुल—अर्क-कुल-(ऐस्क्लिपिएडेसी-Asclepiadaceae)।

नाम—लै०-जिमनेमा सिलवेस्टर (Gymnema sylvestre); सं०-मधु-

नाशिनी, मेषशृंगी (?); हि०-गुड़मार, बं०-मेड़ासिंगी; म०-गु०-कावली; ता०-शिरुकुरुंज; ते०-बोडापर्त्त ।

स्वरूप—इसकी कोमल प्रतानिनी **लता** बड़ी लम्बी, रोमश तथा अनेकशाखायुक्त होती हैं । **पत्र**-रोमश, अभिमुख, १-२½ इञ्च लम्बे, १-२ इञ्च चौड़े, अंडाकार, लट्वाकार होते हैं । **पुष्प**-पीताभ, शिखराकार गुच्छों में होते हैं । **फल**-१½-२ इञ्च लम्बे, कठोर, भालाकार होते हैं । दोमें से प्रायः एक फली का विकास नहीं होता । **बीज**-½ इञ्च लम्बे, अंडाकार, चपटे और पक्षसहित होते हैं । शरदृऋतु में पुष्प और शीतकाल के अन्त में फल लगते हैं । पत्तियों को चबाने पर रसना के द्वारा मधुर और तिक्तरस का ग्रहण नहीं होता । १-२ घंटे तक यह प्रभाव रहता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह कोंकण, त्रावनकोर, गोवा एवं मध्यभारत में विशेष होता है । विन्ध्यप्रदेश के वनांचलों में भी पाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में दो राल, जिम्नेमिक अम्ल (Gymnemic acid) ६%, किण्वतत्त्व (Euzymes), क्वर्सिटाल (Quercitol), कैलशियम ऑक्जलेट, रंजक द्रव्य और कुछ चिंचाम्ल आदि पाये जाते हैं । इसकी भस्म में क्षार, फास्फरिक अम्ल, फेरिक ऑक्साइड और मैंगनीज पाये जाते हैं । छाल में स्टार्च और कैल्शियम लवण प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष । **रस**—कषाय, कटु ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्र शोथहर और मूल वेदनाहर और विषघ्न है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, ग्राही और यकृदुत्तेजक है । स्वभावतः यकृत् की क्रिया शर्करा के सात्मीकरण की होती है । यह इस क्रिया के द्वारा प्रतीहारिणीगत रक्त से अधिक शर्करा को खींच कर उसे शर्कराजन के रूप से संचित कर देता है और इस प्रकार रक्तगत शर्करा को प्राकृतिक मान (०·१२ प्रतिशत) पर रहता है । इस क्रिया में स्वभावतः अग्न्याशय, अधिवृक्क, अवटु तथा पोषणक ग्रन्थियों के स्राव सहायक होते हैं । गुड़मार यकृत् की इस क्रिया में प्रत्यक्षतः यकृत् को उत्तेजित कर तथा अप्रत्यक्षतः अग्न्याशय ग्रन्थि के स्राव (अंशुलीन-Insulin) को प्रेरित कर सहायक होता है । अतः इसके सेवन से रक्तगत शर्करा की मात्रा कम हो जाती है और मूत्र में भी शर्करा आना बन्द हो जाता है । यह क्रिया पत्रचूर्ण की ही होती है, उससे पृथक्कृत तत्त्वों की नहीं ।[1] इसके मूल की क्रिया इपीकाक के तुल्य होती है और इससे वमन होता है ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है ।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है ।

1. In the enzyme isolated from the leaves no such action was seen.
—Nadkarni.

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

तापक्रम—विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पत्तियों का लेप एरंडतैल मिलाकर ग्रंथिशोथ, यकृच्छोथ, प्लीहावृद्धि आदि में लगाते हैं। मूल का लेप सर्पविष में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, प्रवाहिका, यकृद्विकार, कामला तथा अर्श में प्रयुक्त होता है। रक्तगत शर्कराधिक्य में इसका पत्रचूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं। इन रोगों में मूलत्वक् का धूम्रपान भी करते हैं। इससे कफ शान्त होता है और शिर का भारीपन आदि उपद्रव दूर होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रगत शर्करा (इक्षुमेह) में इसका अतीव प्रसिद्ध प्रयोग है। अश्मरी में भी लाभकर है। १-२ माशे पत्रचूर्ण प्रातः सायं मधु या गोदुग्ध से देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में उपयोगी है।

तापक्रम—विषमज्वर में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक के लिए यह प्रयुक्त होता है। **मूल का** क्वाथ सर्पविष में पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—पत्रचूर्ण-१-२ माशे; मूलक्वाथ-४-८ तोला; बीजचूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

२४८. बिम्बी

परिचय

गण—मूलिनी (च०); ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-कॉक्सिनिया इण्डिका (Coccinia Indica); सं०-बिम्बी, तुण्डी, (शुकतुण्डवत् फल) तुण्डिकेरी, रक्तफला, दन्तच्छदा (दन्तुर पत्र); हि०-कुंदरू, तिरकोल; बं०-तेलाकूचा; म०-तोंडले; गु०-टिंडोरा; पं०-कन्दुरी; ता०-कोवई; ते०-डोंडाटिगा।

स्वरूप—इसकी वर्षायु प्रतानिनी या आरोही **लतायें**-होती हैं। **काण्ड**-पंचकोण होता है। **पत्र**-विच्छेदयुक्त, त्रिकोण या पंचकोणाकार, दन्तुर, लट्वाकार या वृत्ताकार १½-२½ इञ्च लंबे तथा लगभग ४ इञ्च व्यास वाले होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, बड़ा २-४ के गुच्छों में और श्वेत होता है। **फल**-स्निग्ध, मांसल, वेलनाकार, १-२ इञ्च लंबा, ½-१ इञ्च चौड़ा होता है। यह कच्चे में हरा तथा पकने पर सुन्दर लालरंग का

हो जाता है। इसके पृष्ठ पर दस श्वेत धारियाँ होती हैं। पके फल से साहित्य में ओष्ठ की उपमा देते हैं। फल में अनेक वीज होते हैं।

जाति—यह कटु और मधुर दो प्रकार की होती है। कटु जंगली और मधुर ग्राम्य होती है। कटु जाति का पंचांग तिक्त होता है और उसका औषधार्थ उपयोग होता है। विहार में इसे 'तिरकोल' कहते हैं। मधुर जाति के फल और पत्र का शाक में व्यवहार करते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में वन्य रूप से होता है। बंगाल विहार में बहुत होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में राल, एक क्षारतत्त्व, स्टार्च, शर्करा, गोंद, वसा, सेन्द्रिय अम्ल तथा भस्म १६ प्रतिशत होते हैं। इनके अतिरिक्त, एक किण्वतत्त्व भी पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है। वमन के द्वारा कफ का तथा रेचन के द्वारा पित्त को वाहर निकालता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणरोपण, शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, वमन, रेचन, यकृदुत्तेजक और मधुरक-शमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों को गरम कर शोथ में बाँधते हैं। पत्रस्वरस व्रणों में देते हैं। कच्चा फल मुखपाक में चबाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, कामला में इसका प्रयोग करते हैं। वमन और रेचन के लिए कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में इसके मूल और फल का प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, विशेषतः इक्षुमेह में यह लाभकर है। इसका पत्रस्वरस या मूलस्वरस १ तो० या चूर्ण ३-६ माशे की मात्रा में एतदर्थ दिया जाता है। ओजोमेह में भी उपयोगी है। पूयमेह में भी देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा (५-१० रत्ती) की मात्रा में कटुपौष्टिक कर्म के लिए दौर्बल्य, पांडु में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; चूर्ण—३-६ माशे।

वक्तव्य—मधुर जाति का फल मधुर, शीत स्तन्यजनन और स्तम्भन होता है। इसका प्रयगो रक्तपित्त में करते हैं।

× × × ×

'तुण्डिका कफपित्तासृक्शोथपांडुज्वरापहा। श्वासकासापहं स्तन्यं फलं वातकफापहम्॥'
(ध. नि.)

'तिक्तं प्रसूनं पित्तघ्नं तत्परं कामलापहम्।' (कै. नि.)
'तिक्तबिम्बीफलं तिक्तं पित्तघ्नं वातकोपनम्। विषघ्नमतिरुच्यं स्यात् गुरु श्लेष्मकरं न च॥
शोफास्रपाण्डून् जयति न मेध्यं छर्दिकृत् परम्॥' (कै. नि.)

अर्शोघ्न

१४६. महानिम्ब

परिचय

गण—अधोभागहर, पिप्पल्यादि (सु०)।

कुल—निम्ब-कुल (मेलिएसी-Meliaceae)।

नाम—लै०-मेलिया एजेडरैक (Melia azedarach); सं०-महानिम्ब, रम्यक, द्रेक; हि०-बकायन; पं०-धरेक; क०-द्रेंक; बं०-घोड़ानिम; म०-बकाणा निंब; गु०-बकान लिंबडो; ता०-मालिया भेपाम्; ते०-भुरकभेपा, करन्दभेपा; अ०-हर्बीत; फा०-आजाद-दरख्त; अं०-पर्सियन लिलक (Persian lilac), बीड ट्री (Bead Tree)।

स्वरूप—इसका मध्यम प्रमाण का वृक्ष नीम के सदृश ४०-५० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-१-२ फुट लम्बे, संयुक्त, त्रिपक्षवत्, शाखाओं पर समूह में लगे होते हैं। **पत्रक**-½-३ इञ्च लम्बे, ⅙-१¼ इञ्च चौड़े, लम्बाग्र और आरा के सदृश दन्तुरधार होते हैं। नीम की अपेक्षा इसके पत्ते लम्बाई में छोटे किन्तु चौड़ाई में अधिक होते हैं। **पुष्प**-श्वेत वर्ण, सुगंधित होते हैं। **फल**-१ इञ्च से कम लम्बे, निम्बफलवत्, कच्चे में हरे और पकने पर पीले होते हैं। **बीज** एक और बड़ा होता है। वसन्त में पुष्प और शीत काल में फल होते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति (M. Composita) उड़ीसा में होती है। इसके पत्र द्विपक्षवत् और फल १ इञ्च से बड़े होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में २-३ हजार फीट की ऊँचाई पर विशेषतः उत्तर भारत और दक्षिण भारत में पाया जाता है। बलूचिस्तान, चीन, फारस में भी होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी अन्तस्त्वक् में क्रियाशील तत्त्व (एक हलका पीला अस्फटिकीय, तिक्त, रालदार पदार्थ) होता है। बाह्यत्वक् में शर्करा और टैनिन होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **विपाक**—कटु।
रस—तिक्त, कटु, कषाय। **वीर्य**—अनुष्ण।
प्रभाव—अर्शोघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह कटुतिक्त कषाय होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है। अनुष्ण होने से वात को भी शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का शामक है। अधिक मात्रा में मादक प्रभाव होता है।

पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है। बाह्यत्वक् कषायाधिक्य से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है। वातिक विकारों में भी दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में पत्तों और पुष्पों का लेप करते हैं। कुष्ठ, अन्य चर्मरोग तथा गण्डमाला में पत्र एवं छाल का लेप करते हैं। व्रणों में पत्र का लेप एवं स्वरस का परिषेक करते हैं। संक्रामक रोगों से बचने के लिए इसके बीजों का धारण करते हैं। पुष्पों का लेप शिर में यूका लिक्षा आदि को मारने के लिए तथा फोड़े फुन्सी में करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पत्रस्वरस आक्षेपक, अपतंत्रक, गृध्रसी आदि वातविकारों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग रक्तार्श तथा कफवातिक अर्श में एवं कृमिरोग में करते हैं। अर्श में गुठली का तथा कृमि में मूलत्वक्, पत्र एवं सूखे फलों का प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग के बाद रेचन अवश्य देना चाहिए।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्ण एवं चातुर्थिक ज्वरों में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्वल्य में तथा मूषक विष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, पत्र, फल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ-५-१० तो०; पत्रस्वरस-१-२ तो०; बीजचूर्ण ४ र०-१ मा०।

विशिष्ट योग—अर्शोघ्नी वटी।

अहित प्रभाव—इसका अधिक मात्रा में (७-८ वीज) प्रयोग करने पर मादकता एवं अन्त में मृत्यु हो जाती है।

× × × ×

'खरच्छदो भूमिरुहः पृष्ठपत्रोदरस्तथा। निंबपत्रः पंक्तिपत्रः श्रेणिपत्रो हिमद्रुमः॥' (शि.)

'महानिम्बोऽहिमो रूक्षस्तिक्तो ग्राही कषायकः। कफपित्तभ्रमच्छर्दिकुष्ठहृल्लासरक्तजित्॥
प्रमेहश्वासगुल्मार्शोमूषिकाविषनाशनः।' (भा. प्र.)

'महानिम्बस्त्वशिशिरः कषायः कटुतिक्तकः। अस्रदाहबलासघ्नो विषमज्वरनाशनः॥'
(रा. नि.)

'लवणोत्तमहिंगुकलिंगयवांश्चिरबिल्वमहापिचुमन्दयुतान्।
पिब सप्तदिनं मथितालुडितान् यदि मर्दितुमिच्छसि पायुरुहान्॥' (वा. चि. ८)

'महानिंबजटाकल्को गृध्रसीनाशनः परः।' (शो.)

२५० करीर

परिचय

कुल—वरुण-कुल (कैप्परिडेसी-Capparidaceae)

नाम—लै०-कैप्परिस एफाइला (Capparis Aphylla); सं०-करीर, क्रकर (तीक्ष्ण कंटक); अपत्र (पत्रहीन, अल्पपत्र), ग्रन्थिल (गांठदार); मरुभूरुह (जाङ्गल-प्रदेश में होने वाला); हि०-करील, व्रज-टेंट, टेंटी; पं०-करीं; म०-नेबती; गु०-केर; ता०-करियल; ते०-एनुगदन्त; अं०-केपर प्लान्ट (Caper Plant), केपर बेरी (Caper Berry)।

स्वरूप—इसका कंटकित **गुल्म**-५-६ फुट तक फैला रहता है। **शाखायें**-कण्टकित और हरित होती हैं। **पत्र**-नहीं होते या बहुत छोटे होते हैं। **पुष्प**-गुलाबी रंग के जिनमें पर्याप्त मधु होता है। **फल**-पकने पर लाल हो जाते हैं। उनके भीतर छोटे छोटे बीज रहते हैं। वसन्त में पुष्प और ग्रीष्म में फल लगते हैं। पुष्प और कच्चे फलों का अचार और शाक वनाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह रूक्ष-उष्ण प्रदेश यथा राजस्थान, पञ्जाब, सिन्ध आदि में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में एक तिक्त पदार्थ सिनेगिन के सदृश होता है। पुष्पकलिकाओं में कैप्रिक एसिड (Capric acid) तथा एक ग्लुकोसाइड होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणशोधन और वेदनास्थापन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, पाचन, भेदन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—श्वासहर है।
त्वचा—स्वेदजनन है।
सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्ण व्रणों तथा सन्धिरोगों में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में अंकुर चवाते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, आमदोष, विवन्ध, उदरशूल, अर्श और कृमि में यह अतीव उपयोगी है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में प्रयुक्त होता है। आमवात, सन्धिवात आदि में भी होते हैं।
श्वसनसंस्थान—श्वासरोग में दिया जाता है।
त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।
सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य और विषों में देते हैं।
प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, फल।
मात्रा—फाण्ट ४-८ तो०; चूर्ण १-२ माशे।

× × × ×

'करीरः कटुकस्तिक्तः स्वेद्युष्णो भेदनः स्मृतः। दुर्नामकफवातामगरशोथव्रणप्रणुत् ॥'
(भा. प्र.)

'करीरः कटुकस्तिक्तो लघूष्णो भेदनो जयेत्। दुर्नामकफवातामगरशोफकृमिव्रणान् ॥'
(कै. नि.)

'करीरकुसुमानि कटुविपाकानि वातहराणि सृष्टमूत्रपरीषाणि च।'
करीरफलानि च स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च' ॥ (सु. सू. ४६)
'लवणं ह्यर्कपत्राणि करीरतरुजान्यपि। मद्यैरम्लैश्च युक्तानि युक्त्या क्षारं दहेत् पुटे ॥
सुखोदकेन मद्यैर्वा रसैरम्लैश्च पाययेत्। पीतः क्षारो ह्ययं हन्याद् वातार्शांस्यचिरेण तु ॥'
(ग. नि.)

२५१. सूरण

परिचय

कुल—सूरण-कुल (एरेसी-Araceae)।
नाम—लै०-एमॉर्फोफैलस कैम्पेन्युलेटस (Amorphophallus Campanu-

latus); सं०-सूरण, श्रोल, कण्डूल, अर्शोघ्न, कन्दनायक; हि०-सूरन, ओल, जमीकन्द; बं०-ओल; म०-गु०-सूरण; ता०-करुला; ते०-मुण्णकन्द; अं०-तेलुगु पोटैटो (Telugo Potato), एलिफैण्ट्स फुट (Elephant's foot)।

स्वरूप—इसका वर्षायु **गुल्म** १-३ फुट ऊँचा होता है। इसके कन्द से अनेक श्वेतवर्ण मूल निकलते हैं। **कन्द**-ऊपर के भाग में दबा हुआ, ६-१० इंच व्यासवाला, अर्धगोलाकार होता है। काण्ड के ऊपर फीके हरे, नीचे की ओर तीन भागों में विभक्त, १-३ फुट लंबे, छत्राकार **पत्र** होते हैं। **पुष्प**-उभयलिंगी, स्त्रीकेशरदंड रक्तवर्ण या बैंगनी होता है। **फल**-लाल रंग का होता है जिसमें २-३ बीज होते हैं। वर्षाऋतु के प्रारंभ में पुष्प और बाद में फल होते हैं।

जाति—उत्पत्तिभेद से सूरण दो प्रकार का होता है:—(१) ग्राम्य और (२) वन्य। वन्य सूरण का लैटिन नाम A. Sylvaticus है इसे 'मदनमस्त' भी कहते हैं। ग्राम्य सूरण गाँवों के आसपास लगाया होता है और वन्य सूरण वन में स्वयंजात होता है। वर्णभेद से पुनः यह दो प्रकार का होता है:—(१) श्वेत और रक्ताभ। प्रायः ग्राम्य सूरण श्वेत और वन्य सूरण रक्ताभ श्वेत होता है। औषधार्थ वन्य रक्ताभ श्वेत सूरण का तथा शाकार्थ ग्राम्य श्वेत सूरण का प्रयोग किया जाता है। समस्त कन्दशाकों में सूरण श्रेष्ठ माना गया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र प्रसिद्ध है।

रासायनिक संघटन—कन्द में एक कटु, तीक्ष्ण, दाहक रस होता है जो त्वचा में लगने पर कण्डू, दाह आदि लक्षण उत्पन्न करता है। वन्य ओल में यह रस अधिक होता है। कन्द में कैलशियम आक्जलेट भी होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, कषाय। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—अर्शोघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, शूलप्रशमन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है। यकृत् की क्रिया ठीक करने, वायु का अनुलोमन करने तथा अर्शांकुरों को संकुचित करने से यह अर्श में लाभकर होता है। अधिक खाने से यह विष्टम्भ करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—कन्द वृष्य, आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह बल्य और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं। आमवात में भी लाभकर है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, श्लीपद, अर्बुद आदि में सूरण को पीसकर घी और मधु के साथ लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध, उदरशूल, गुल्म, यकृत्प्लीहा, अर्श और कृमि में विशेष उपयोगी है। विशेषतः कफवातज अर्श में यह लाभ करता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा रजोरोध में इसका मोदक बनाकर सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशे।

विशिष्ट योग—सूरणमोदक।

प्रयोग-निषेध—दद्रु, कुष्ठ आदि चर्मरोग वाले तथा रक्तपित्त के रोगियों को इसका सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह रक्तपित्तकोपक है।

प्रयोग-विधि—सूरण को गीली मिट्टी की मोटी तह में लपेट कर आग में रख दे। जब मिट्टी लाल हो जाय तब ठंढा होने पर मिट्टी धोकर अलग कर दे। फिर धूप में खूब सुखा कर चूर्ण कर ले। अथवा यदि शाक में प्रयोग करना है तो इस प्रकार पुटपक्व सूरण के यथेच्छ व्यञ्जनकल्प बनाकर प्रयोग करे। पुटपक्व ओल को यदि कांजी आदि में कुछ काल तक संधान करने के बाद प्रयोग किया जाय तो उसका गुण बढ़ जाता है। संप्रति गाँवों में सूरण के कन्दे के चारों ओर मिट्टी खोद कर भात रख देते हैं और फिर मिट्टी से ढंक देते हैं। यह सूरण श्रेष्ठ माना जाता है। इसे 'भत-ओल' कहते हैं।

अहित प्रभाव—अशुद्ध और कच्चे सूरण का प्रयोग करने से मुखपाक, कंठदाह, कण्डू आदि उपद्रव होते हैं।

निवारण—इन उपद्रवों के निवारण के लिए नींबू, इमली आदि अम्ल पदार्थों का सेवन करे।

× × × ×

'सूरणो दीपनो रूक्षः कषायः कण्डुकृत् कटुः। विष्टम्भी विशदो रुच्यः कफार्शः कृन्तनो लघुः॥
विशेषादर्शसे पथ्यः प्लीहगुल्मविनाशनः। सर्वेषां कन्दशाकानां सूरणः श्रेष्ठ उच्यते॥
दद्रूणां कुष्ठिनां रक्तपित्तिनां न हितो हि सः। सन्धानयोगं संप्राप्तः सूरणो गुणवत्तरः॥' (भा.प्र.)
'सूरणो गुदकीलहा।' (सु. सू. ४६)
'सूरणः कटुको रूच्यो दीपनः पाचनस्तथा। कृमिदोषहरो वातशूलगुल्मार्शसां हितः॥
श्वासं कासं च प्लीहानं निवारयति सेवितः।' (ध. नि.)
'वनसूरणकन्दस्तु विशेषादर्शसां हितः। गुल्मे स्थौल्ये तथा वाते श्लेष्मवाते हितः परम्॥' (कै. नि.)
'मासमेकमनन्नाशी सूरणं भक्षयेत् सुखम्। तक्रानुपानमाश्वर्शोनिर्मूलोन्मूलनोत्सुकः॥' (वै.म.)
'मृल्लिप्तं सौरणं कन्दं पक्त्वाग्नौ पुटपाकवत्। अद्यात् सतैललवणं दुर्नामविनिवृत्तये॥' (शो०)

२५२. वृन्ताक

परिचय

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-सोलेनम मेलोंगिना (Solanum Melongena); सं०-वृन्ताक

(बड़ा फलवृन्त वाला), वार्त्ताक (स्वास्थ्य को विकृत करने वाला—वार्त्तं स्वास्थ्यमाकयति; अथवा वृत्ताकार फल वाला), वार्ताकु; भण्टाक (वृत्ताकार फल); हि०-बैंगन; बं०-वेगुन; म०-वांगे; गु०-वेंगन; ता०-कट्टरिकाई; ते०-वनकायि; अ०-वादंजान; फा०-वादंगान; अं०-ब्रिञ्जल (Brinjal), एग-प्लाण्ट (Egg-plant)।

स्वरूप—इसका वर्षायु या द्विवर्षायु कंटकित **क्षुप**-२-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-में भी कांटे होते हैं। **पत्तियाँ**-३-६ इंच लम्बी, अण्डाकार, विस्तृत और अनेक भागों में विभक्त होती हैं। **पुष्प**-नीलाभ या बैंगनी रंग के होते हैं। **फल**-३-६ इंच लम्बे, श्वेत, बैंगनी या रक्ताभ होते हैं। फल का प्रयोग शाकार्थ होता है।

जाति—फल के अनुसार यह कई प्रकार का होता है। फल की आकृति लम्बगोल या गोल होती है। साधारणतः लम्बगोल जाति को बैंगन और गोल जाति को भण्टा कहते हैं। वर्णभेद से भी यह श्वेत, बैंगनी और रक्ताभ होता है। गोलाकार श्वेतवर्ण का कोमल भण्टा प्रशस्त माना गया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—आर्द्र फल में ८८·२६ प्रतिशत आर्द्रता होती है। सूखे फल में ईथर एक्स्ट्रैक्ट ४·२० प्रतिशत, अलब्युमिनॉयड १६·३७ प्रतिशत, विलेय कार्बोहाइड्रेट ५५·२३ प्रतिशत, काष्ठसूत्र १७ प्रतिशत और भस्म ७·२० प्रतिशत होते हैं। हरी पत्तियों में विटामिन सी होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—अर्शोघ्न।

कर्म

दोषकर्म—इसका कोमल फल त्रिदोषशामक होता है। उष्णता के कारण कफवातशामक तथा माधुर्य से पित्तशामक है। प्रौढ फल कटु होने से त्रिदोषकोपक है विशेषतः कफपित्तकारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है। पत्र मादक है।

पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन और अर्शोघ्न है। बीज विष्टम्भी है।

रक्तवहसंस्थान—बीज हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—बीज, पत्र तथा मूल श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—फल मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है। पत्र विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज व्याधियों में इसके कोमल फल का प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ और वेदनायुक्त स्थानों में इसके फल को पका कर उसकी पुल्टिस बाँधते हैं। दन्तशूल में इसके बीजों का धूम देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अर्दित, गृध्रसी आदि वातविकारों तथा अनिद्रा आदि लक्षणों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, यकृद्विकार, विबन्ध और अर्श में इसका कोमल फल देते हैं। श्वेत कोमल भण्टे का भर्त्ता अर्शरोग में बड़ा लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में बीज देते हैं।

श्वसनसंस्थान—बीज, पत्र और मूल का प्रयोग कासश्वासरोग में करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसका पथ्य देते हैं। पत्रस्वरस सर्पविष आदि में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, बीज, मूल, पत्र।

मात्रा—बीजचूर्ण-५-१० रत्ती; मूलचूर्ण-५-१० रत्ती; पत्रस्वरस-२-६ माशे।

× × × ×

'वृन्ताकं स्वादु तीक्ष्णोष्णं स्वादुपाकमपित्तलम्। ज्वरवातबलासघ्नं दीपनं शुक्रलं लघु॥
तद्बालं कफपित्तघ्नं वृद्धं पित्तकरं लघु। वृन्ताकं पित्तलं किंचिदंगारपरिपाचितम्॥
कफमेदोनिलामघ्नमत्यर्थं लघु दीपनम्। तदेव हि गुरु स्निग्धं तत्तैललवणान्वितम्॥
अपरं श्वेतवृन्ताकं कुक्कुटाण्डसमं भवेत्। तदर्शःसु विशेषेण हितं हीनं च पूर्वतः॥' (भा. प्र.)
'कफपित्तकराः माषाः कफपित्तकरं दधि। कफपित्तकरा मत्स्या वृन्ताकं कफपित्तकृत्॥'
(भा. प्र.)

'......बालं कासज्वरापहम्। त्रिदोषशमनं पथ्यं मधुरं रसपाकयोः॥
रूच्यं ज्वरघ्नमर्शोघ्नं क्षुद्रवातंगिनीफलम्। श्लेष्मलं सृष्टविण्मूत्रं शीतलं गुरु बृंहणम्॥'
'वार्त्ताकं कोमलं पथ्यं चक्षुष्यं सर्वदोषजित्। मध्यमं पित्तजननं पक्वं वातप्रकोपणम्॥'
(कै. नि.)

'लवणमरिचचूर्णेनावृतं रामठाढ्यं दहनवदनपक्वं जम्बुकान्तं नितान्तम्।
हरति पवनदोषं श्लेष्महन्तृ प्रसिद्धं जठरभरणभव्यं चारुभोज्यं भरित्थम्॥' (रा. नि.)

प्लीहा पर कर्म करने वाले द्रव्य

२५३. रोहीतक

परिचय

कुल—श्योनाक-कुल (बिगनोनिएसी-Bignoniaceae)

नाम—लै०-टेकोमेला अण्डयुलेटा (Tecomella Undulata); सं०-रोहीतक (रक्तपुष्प वाला); दाडिम पुष्प (अनार की तरह पुष्प); दाडिमच्छद (अनार की तरह पतली लम्बी पत्तियाँ); प्लीहघ्न (प्लीहावृद्धि में प्रयुक्त होने वाला); हि०-रोहेड़ा; म०-रोहिड़ा; गु०-रोहिडो।

स्वरूप—इसका छोटा वृक्ष १०-१५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-५-६ इञ्च लम्बे और १½ इंच चौड़े, आयताकार, कुंठिताग्र और लहरदार किनारे के होते हैं। देखने में ये बिलकुल अनार की पत्तियों के सदृश मालूम होते हैं। **पुष्प**-छोटे, रक्तपीतवर्ण, शाखाओं के अग्र पर लगते हैं। **फली**-पतली, कुछ टेढ़ी, लगभग ८ इञ्च लम्बी होती है। **बीज**-सपक्ष, १ इञ्च लम्बे होते हैं। शीतकाल में पुष्प लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः राजपुताना, पञ्जाब, काठियाबाड़, कच्छ आदि में होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।
प्रभाव—भेदन।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तनाशन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—चक्षुष्य और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, अनुलोमन, भेदन और कृमिघ्न है। प्लीहा का संकोचक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहण है।

प्रजननसंस्थान—योनिस्राव को शान्त करता है।

सात्मीकरण—लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्त रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्ररोगों में और व्रणों में इसका स्वरस डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध, गुल्म, उदररोग, यकृत् और प्लीहा की वृद्धि, कामला, अर्श और कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (उपदंश, फिरंग, वातरक्त आदि) में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—कफपैत्तिक प्रमेह में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—श्वेत प्रदर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे; क्वाथ-५-१० तो०।

विशिष्ट योग—रोहीतकारिष्ट, रोहीतकाद्यचूर्ण, रोहीतकघृत, रोहीतकलौह।

× × × ×

'रोहीतको रोहितको रोही दाडिमपुष्पकः। रोहीतकः प्लीहघाती रुच्यो रक्तप्रसादनः॥'
(भा. प्र.)

'रोहीतको यकृत्प्लीहगुल्मोदरहरः सरः।' (ध. नि.)

'रोहीतकौ कटुस्निग्धौ कषायौ च सुशीतलौ। कृमिदोषव्रणप्लीहरक्तनेत्रामयापहौ॥' (रा. नि.)

२५४. शरपुंखा

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-टेफ्रोजिया पर्प्युरिया (Tephrosia purpurea); सं०-शरपुंखा

(पत्तियों को तोड़ने से वाण के अग्रभाग के समान नुकीले टूटते हैं); प्लीहशत्रु (प्लीहा-वृद्धि नाशक); नीलवृक्षाकृति (नील के क्षुप के सदृश); हि०-सरफोंका; बं०-बननील; म०-उन्हाली; गु०-शरपंखों; पं०-सरपंख; ता०-कमुक्किवेलाई; ते०-वेंपलि; फा०-बर्गसूफार; अं०-पर्पल टेफ्रोजिया (Purple Tephrosia)।

स्वरूप—इसका वर्षायु गुल्माकार अनेक शाखायुक्त **क्षुप**—लगभग २-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**—३-६ इञ्च लम्बे, संयुक्त होते हैं। **पत्रक**—१३-२१ की संख्या में होते हैं। इनका अग्रभाग गोलाई लिए मोटा होता है। **पुष्पदण्ड**—३-६ इञ्च लम्बा होता है जिसमें रक्तवर्ण पुष्प लगते हैं। **फली**—१-२ इञ्च लंबी, कुछ टेढ़ी होती है जिसमें ६-१० बीज होते हैं। पुष्प वर्षा ऋतु में तथा फल जाड़े में लगते हैं।

जाति—पुष्पभेद से इसकी दो जातियाँ होती हैं:—(१) रक्त (२) श्वेत। रक्त का वर्णन ऊपर किया गया है। श्वेत जाति का क्षुप छोटा, जमीन पर फैला हुआ होता है। इसकी शाखायें रोमों से आवृत होती हैं। पुष्प भी श्वेताभ होता है। इसका लैटिन नाम T. Villosa है। राजनिघंटु ने इस कण्टपुंखा (कंटकित शरपुंखा) का भी वर्णन किया है। श्वेत जाति रसायन में प्रशस्त मानी गई है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः पथरीले प्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें क्लोरोफिल, भूरा राल, मोम, क्वर्सेटीन के सदृश एक स्फटिकीय पदार्थ, गोंद, किंचित् अलब्युमिन, रंजक द्रव्य तथा भस्म ६% जिसमें स्वल्प मैंगनीज होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—भेदन।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, कुष्ठघ्न, विषघ्न, जन्तुघ्न, व्रणरोपण, रक्तरोधक और दन्त्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तशामक और रक्तशोधक है। श्वेत शरपुंखा शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है। श्वेत शरपुंखा शुक्रस्तम्भन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है। श्वेत शरपुंखा रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, चर्मरोग, गंडमाला, अपची, विष, कृमि में इसके मूल का लेप करते हैं। क्षत में पत्रस्वरस देते हैं। दन्त रोगों में इसकी दातून करते हैं या मूलचूर्ण का मंजन। बीजों का लेप भी चर्मरोगों में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध, शूल, गुल्म, यकृद्विकार, प्लीहावृद्धि, अर्श और कृमि में अतीव लाभकर है। इनमें शरपुंखा क्षार का विशेष प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है। मूल रक्तस्राव को रोकने के लिए देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह प्रयुक्त होता है। कास में शरपुङ्खा-चूर्ण का धूमपान भी करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—मूढगर्भ, कष्टार्त्तव में लाभकर है। श्वेत शरपुंखा शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—मूषकविष तथा कच्ची धातुओं (Metals) के सेवन से उत्पन्न विषों में इसके बीजचूर्ण का प्रयोग तक्र के साथ करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पंचांग, क्षार।

मात्रा—चूर्ण ३-६ माशे; स्वरस १-२ तो०; क्षार १-२ माशे।

× × × ×

'नीलिकाकृतिपत्रा च प्रसिद्धा भूमिमंडले। शिंबीफला रक्तपुष्पा नीलवर्णा महौषधिः॥
शरपुंखेति विख्याता श्वेतपुष्पा क्वचिद् भवेत्। तस्याः पत्रं यदाकृष्य गृह्यते त्रोट्यते करात्॥
तत्पत्रं जायते साक्षादूर्ध्वं सच्छरपुङ्खवत्। इयमास्ते परीक्षास्याः औषधेः दिव्यतेजसः॥' (शि.)
'शरपुङ्खा प्लीहशत्रुर्नीलवृक्षाकृतिश्च सा। शरपुंखा यकृत्प्लीहगुल्मव्रणविषापहः॥
तिक्तः कषायः कासास्रश्वासज्वरहरो लघुः।' (भा. प्र.)
'शरपुंखाः कटूष्णाश्च कृमिवातरुजापहाः। श्वेता त्वाशुगुणाढ्या स्यात् प्रशस्ता च रसायने॥
कण्टपुंखा कटूष्णा च कृमिशूलविनाशिनी।' (रा. नि.)
'शरपुंखायाः कल्कः तक्रेण निषेवितो यथाग्निबलम्।
यदि न जयति प्लीहानं शैलोऽपि तदा जले प्लवते॥' (शो०)
'या विशालविटपा शरपुंखा मूलमात्मदशनैः मुहुरस्याः।
चर्वितं निगिरितं विनिहन्ति प्लीहवृद्धिमकठोरभुजश्च॥' (रा. मा.)
'मूलं च शरपुंखायाः पेषयेत्तंडुलाम्बुना। पीत्वा चमाषमात्रं तु अतिरक्तं प्रशान्तयेत्॥(भै.र.)

२५५. झाबुक

परिचय

कुल—झाबुक-कुल (टैमरिस्सिनी-Tamariscinae)

नाम—लै०-टैमरिक्स गैलिका (Tamarix Gallica); सं०-झाबुक; हि०-झाऊ, फरास; बं०- झाऊ; बिहार-झउवा; पं०-फरवां; गु०-प्रांस; अ०-तर्फा; फा०-गज; अं०-टैमरिस्क (Tamarisk)

स्वरूप—इसका गुल्माकार छोटा **वृक्ष** ६–८ फुट का होता है। **शाखायें** रक्ताभ बादामी रंग की होती हैं। **पत्र**–लम्बे, पतले होते हैं। **पुष्प**–श्वेत वर्ण कुछ रक्ताभ गुच्छों में होते हैं। इसकी शाखाओं पर एक प्रकार के कीड़े के दंश से उसके चारों ओर ग्रन्थि सी बन जाती है। इसे 'माँई' (Tamarix Gall) कहते हैं। यह हरिताभ पीत या कपिश वर्ण की तथा आकृति में मटर से लेकर रीठे के बराबर तक होती है। इसकी शाखाओं से यवास शर्करा की भांति एक शर्करा भी निकलती है जिसे झावुकशर्करा (गजङ्गवीन–Tamarix Manna) कहते हैं। देर तक रखने पर यह पिघल कर मधु के समान हो जाती है।

जाति—झाऊ का वृक्ष दो प्रकार का होता है:—(१) बड़ा, (२) छोटा। छोटे का लैटिन नाम (T. Articulata) है। इसे लाल झाऊ भी कहते हैं। पुष्पभेद से भी यह श्वेत और रक्त दो प्रकार का होता है। रक्त झाऊ का पुष्प बैंगनी या लाल रंग का होता है। इसका लैटिन नाम (T. Dioica) है।

उत्पत्तिस्थान—यह नदियों के किनारे तथा समुद्रतटवर्त्ती प्रदेशों में होता है। विशेषकर फारस, अफगानिस्तान, उत्तरभारत और गुजरात में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी माँईं में कषायद्रव्य (टैनिक एसिड) प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। झावुकशर्करा में इक्षुशर्करा, ग्लुकोज और द्राक्षशर्करा पाई जाती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—कषाय होने से यह स्तम्भन है।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

प्लीहा—यह प्लीहा को संकुचित करता है तथा उसकी वृद्धि और काठिन्य को दूर करता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन, रक्तशोधक और शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—स्तम्भन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—प्लीहावृद्धि, शोथ में पत्र का लेप करते हैं। पत्रक्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं तथा उसमें प्रदर और गुदभ्रंश में रोगियों को अवगाहन कराते हैं। शीताद तथा दन्तपूय में पत्रक्वाथ से गंडूष कराते हैं। रक्तस्राव तथा व्रणों में शुष्क पत्रों का अवचूर्णन भी करते हैं। व्रणों में तथा अर्शांकुरों में पत्र की धूनी देते हैं।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—अतिसार और प्रवाहिका में त्वक् या माईं का प्रयोग करते हैं।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में पत्रक्वाथ देते हैं और इसकी लकड़ी के बने प्याले में रखा जल पीने को देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में माँईं का प्रयोग करते हैं। कुष्ठ एवं शोथ में मूलक्वाथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—श्वेत और रक्तप्रदर में माँईं का प्रयोग करते हैं। उसकी वर्त्ति बनाकर योनि में भी रखते हैं। पत्र क्वाथ की उत्तर बस्ति भी देते हैं। शुक्र-दौर्बल्य, शीघ्रपतन में माँईं का चूर्ण या पत्रस्वरस देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, माँईं, शर्करा।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०; स्वरस-१-२ तो०; चूर्ण-३-६ माशे; माँईं चूर्ण-२-४ माशे; शर्करा—½-१ तो०।



सप्तम अध्याय

प्रजननसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य

प्रजास्थापन

२५६. दूर्वा

परिचय

गण—प्रजास्थापन, वर्ण्य (च०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लै०-साइनोडन डैक्टिलन (Cynodon dactylon); सं०-दूर्वा, शतपर्वा, शतवीर्या, गोलोमी; हि०-दूब; बं०-दूर्वा; पं०-दुबड़ा; म०-दुरू; गु०-ध्रो; ता०-दोविघास; ते०-खेरिचा; अ०-उश्ब; फा०-मर्ग; अं०-कौच ग्रास (Conch grass)।

स्वरूप—इसकी लता जमीन पर फैलने वाली होती है। **कांड**-में अनेक ग्रंथियाँ होती हैं और प्रत्येक ग्रंथि से मूल निकल कर जमीन से लगा रहता है। **पत्र**-१-४ इंच लम्बे, रेखाकार होते हैं। **पुष्पदंड**-१-२ इञ्च लम्बा हरित या बैंगनी रंग का होता है। **बीज**-अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं।

जाति—यह दो प्रकार की होती है:—(१) श्वेत और (२) नील। श्वेत दूर्वा का यहाँ वर्णन किया गया है। इसीका औषध में विशेष प्रयोग होता है। इसका क्षुप श्वेतवर्ण होता है। नील दूर्वा का क्षुप इससे अधिक विस्तृत होता है अतः इसे 'अनन्ता' 'सहस्र-वीर्या' 'लता' आदि नाम दिये गये हैं। निघंटुओं में एक तृतीय जाति 'गंडदूर्वा' भी है। इसे गंडीरी कहते हैं। यह जलाशयों के पास होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर, विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन, व्रणरोपण, दाहप्रशमन और वर्ण्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य तथा शामक है।
पाचनसंस्थान—यह छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन और रक्तशोधक है।
प्रजननसंस्थान—प्रजास्थापन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—यह जीवनीय और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य व्याधियों में, विशेषतः कफपैत्तिक रोगों मे प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत, व्रण, अर्श में इसका लेप करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस डालते हैं तथा पलकों पर लेप करते हैं। दाह को शान्त करने के लिए पैत्तिक शिरोरोग, विसर्प, शीतपित्त आदि में लेप करते हैं। वर्ण-विकारों तथा चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद, अपस्मार तथा वेदना-प्रधान रोगों में इसका स्वरस पिलाते हैं।

पाचनसंस्थान—छर्दि, तृष्णा, अतिसार, प्रवाहिका, अर्श में यह उपयोगी है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त और उपदंश आदि रक्तविकारों में दिया जाता है।
प्रजननसंस्थान—प्रदर रोग में तथा गर्भस्राव, गर्भपात आदि योनिव्यापदों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे रक्त रुकता है, गर्भाशय को शक्ति प्राप्त होती है तथा गर्भ को पोषण मिलता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।
त्वचा—कुष्ठ आदि त्वग्दोषों में लाभकर है।
सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में तथा विषों में इसका स्वरस पिलाते हैं।
प्रयोज्य अंग—पंचांग
मात्रा—स्वरस १-२ तो०; चूर्ण १-३ माशे; क्वाथ ५-१० तो०।
विशिष्ट योग—दूर्वादि क्वाथ, दूर्वाद्य घृत, दूर्वाद्य तैल।

× × × ×

'दूर्वा शीता कषाया च रक्तपित्तकफापहा।' (ध. नि.)
'दूर्वाः कषायाः मधुराश्च शीताः पित्ततृषारोचकवान्तिहन्त्र्यः।
सदाहमूर्च्छाग्रहभूतशान्तिश्लेष्मश्रमध्वंसनतृप्तिदाश्च ॥' (रा. नि.)
'दूर्वा तु रक्तपित्तघ्नी कण्डूत्वग्दोषनाशिनी।' (रा. व.)
'दूर्वा स्वाद्वी हिमा तिक्ता कषाया जीवनी जयेत्। कफपित्तास्रवीसर्पतृष्णादाहत्वगामयान् ॥'
(कै. नि.)
'वृषादनी पयस्या च लता चोत्पलसारिवा। यथासंख्यं प्रयोक्तव्याः गर्भस्रावे पयोयुताः ॥'
(सु. शा. १०)

२५७. कमल

परिचय

गण—मूत्रविरजनीय (च०); उत्पलादि (सु०)।

कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी-Nymphaeaceae)।

नाम—लै०-नेलम्बियम स्पीसियोजम (Nelumbium speciosum)। सं०-कमल (जल को शोभित करने वाला), पद्म (मनोहर), नलिन (सुगंधित), अरविन्द (अराकार-चक्राकार पत्र वाला), महोत्पल (जल में पलनेवाला), सहस्रपत्र (अनेक दलयुक्त), शतपत्र (सौ दलोंवाला), कुशेशय (जलज), पंकेरुह (पंक में उत्पन्न), तामरस (मनोहर और सरस), सारस (तालाबों में होने वाला), बिसप्रसून (मृणाल में लगने वाला पुष्प), राजीव (केशरसमूह से युक्त), पुष्कर (पौष्टिक), अम्भोरुह (जलज); हि०-कमल, पुरइन; बं०-पद्म; म०-गु०-कमल; ता०-तामरै; ते०-तामर; अ०-कातिलुन्नहल; अं०-सैक्रेड लोटस (Sacred lotus)।

स्वरूप—यह जल में होने वाला क्षुप है। इसका मूल जल के भीतर पंक में रहता है। **पत्र**-चिकने, गोलाकार, चक्र के सदृश, १-३ फुट व्यास के, पानी के ऊपर पत्रनाल पर लगे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत या रक्त, सुगंधित होते हैं। पुष्प का व्यास ४-१० इञ्च होता है जो ४-६ फुट लंबे पुष्पदंड पर जल के कुछ ऊपर लगा रहता है। पुंकेशर अनेक होते हैं। स्त्रीकेशर पृथक्-पृथक् कर्णिका में जहाँ तहाँ दबे रहते हैं। पुष्पदल अनेक होते हैं जिसके कारण इसे शतदल, सहस्रदल कहा जाता है। इनमें सभी बाह्यदल कर्णिका के नीचे से निकलते हैं। कर्णिका (बीजाधार) स्पंज के समान और धूसर होता है जिसमें ½ इञ्च लंबे, गोल, कृष्ण और चिकने बीज रहते हैं। इसके पुष्पों का विकास प्रातःकाल सूर्योदय होने पर होता है और संकोच सायंकाल हो जाता है अतः ये 'सूर्यविकाशी' कहलाते हैं।

कमल के विभिन्न अवयवों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं:—

पुष्प—पद्म आदि उपरोक्त नाम। **बीज**-सं०-पद्मबीज, कमलाक्ष, पद्मकर्कटीः; हि०-कमलगट्टा; म०-कमलकांकड़ी, गु०-कमलकाकड़ी। **कमलनाल**-सं०-बिस, मृणाल; हि०-मुरार, भसींड; म०-भिसें। **कमलकन्द**-सं०-शालूक, करहाटक; गु०-लोढ। **कमलबीजकोश**-सं०-कर्णिका, वराटक, बीजकोश; हि०-कमल का छत्ता; म०-घांगुड, ढांपणी; गु०-घीतेलां। **नवपल्लव**-सं०-संवर्त्तिका। **पञ्चाङ्ग**-सं०-पद्मिनी, कमलिनी।

जाति—पुष्प के वर्णभेद से कमल अनेक प्रकार का होता है। निघंटुओं में इसके मुख्य तीन भेदों का उल्लेख है:—(१) श्वेत (पद्म), (२) रक्त (कोकनद) और (३) नील (इन्दीवर)। आधुनिक वनस्पतिशास्त्र के अनुसार कमल में केवल श्वेत और रक्त दो ही जातियाँ होती हैं और फिर उनके अनेक उपभेद होते हैं किन्तु नील जाति उनमें नहीं होती। नील जाति कुमुद में होती है और प्राचीन आचार्यों ने कमल के भेदों में कुमुद की जातियों का भी समावेश कर लिया है अतः इसका नीलकमल भेद प्रचलित है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः बम्बई, काश्मीर, बिहार और बंगाल के जलाशयों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल और बीज में राल, ग्लुकोज, मेटार्बिन (Metarbine), कषाय द्रव्य (टैनिन), वसा और नेलम्बिन (Nelumbine) नाम का क्षारतत्त्व पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर, कषाय, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और वर्ण्य है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और शामक है।
पाचनसंस्थान—छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, हृदयसंरक्षक तथा शोणितास्थापन है।
प्रजननसंस्थान—यह प्रजास्थापन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरेचनीय और मूत्रविरजनीय है।
त्वचा—वर्ण्य और त्वग्दोषहर है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—यह बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह तथा वर्णविकारों में इसका लेप किया जाता है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मूर्च्छा, मानसिक उद्वेग तथा तज्जन्य अनिद्रा में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा और अतिसार, प्रवाहिका आदि में यह उपयोगी है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में तथा अन्य तीव्र व्याधियों में हृदय पर आघात न हो इसके लिए इसका प्रयोग करते हैं। रक्तस्तम्भन के लिए रक्तातिसार, प्रदर, रक्तार्श एवं रक्तपित्त में यह अतीव प्रशस्त है। रक्तविकारों (वीसर्प, विस्फोट आदि) में भी देते हैं। रक्ताल्पता में भी दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—गर्भावस्था में देने से यह गर्भाशय के स्रावों को बन्द करता है, उसे बल प्रदान करता है और गर्भ का भी पोषण करता है। इस प्रकार यह गर्भावस्था के लिए बड़ा उपयोगी है। इस समय इसका केशर मक्खन के साथ या कमलगट्टे की पेया का प्रयोग करना चाहिए।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेह में उपयोगी है।
त्वचा—वर्णविकार तथा अनेक चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—तीव्र ज्वर तथा दाह में इसका प्रयोग करते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है, दाह आदि उपद्रव दूर होते हैं, विषों का निर्हरण होता है तथा हृदय को शान्ति मिलती है। ज्वर में दाह, तृष्णा होने पर बीज से शृत जल पिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, विशेषतः दुर्बल तथा क्षयग्रस्त बच्चों में इसका प्रयोग होता है। सामान्यतः ऐसे बच्चों का पाखाना भी पतला होता है और दिनों दिन बच्चा कमजोर होता जाता है। इसके प्रयोग से पाखाना ठीक होता है और बल की वृद्धि होती है। विषों में भी यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग (विशेषतः बीज, केशर और मूल)।

मात्रा—बीज चूर्ण-३-६ माशे; केशर-५-१५ रत्ती; मूलस्वरस-१-२ तोला।

विशिष्ट योग—अरविन्दासव।

× × × ×

'कमलं शीतलं वर्ण्यं मधुरं कफपित्तजित्। तृष्णादाहास्रविस्फोटविषवीसर्पनाशनम् ॥'
(भा. प्र.)

'उत्पलकुमुदपद्मकिंजल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)
उत्पलानि कषायानि रक्तपित्तहराणि च।' (च. सू. २७)
'सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम्।' (सु. सू. ४६)
'पद्मबीजं हिमं स्वादु कषायं तिक्तकं गुरु। विष्टम्भि वृष्यं रूक्षं च गर्भसंस्थापकं परम् ॥
कफवातहरं बल्यं ग्राहि पित्तास्रदाहनुत्।' (भा. प्र.)

२५८. कुमुद

परिचय

गण—मूत्रविरजनीय (च०), उत्पलादि (सु०)।

कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी-Nymphaeaceae)।

नाम—लै०-निम्फिया लोटस (Nymphaea lotus); सं०-कुमुद, उत्पल, हि०-कुईं, कोईं; बं०-कुसुद, शालूक, सन्धि; म०-कमोद; गु०-पोयणुं; ता०-वेल्लम्बल; ते०-अल्लिकाडा; अ०-अर्नबुलमाऽ:; फा०-नीलूफर; अं०-वाटर लिलि (Water Lily)।

स्वरूप—इसका स्वरूप कमल के समान ही होता है। पत्ते कुछ छोटे और किञ्चित् म्लान होते हैं। पुष्प चन्द्रविकाशी होता है—यह चन्द्रमा के निकलने पर (रात्रि में) खिलता है और प्रातः संपुटित हो जाता है। पुष्प के स्त्रीकेशर चक्राकार स्थित, कुछ परस्पर संसक्त और कर्णिका में कुछ दबे रहते हैं। केवल ऊपर के बाह्यदल कर्णिका से मिले रहते हैं। पत्रनाल तथा पुष्पनाल प्रातः पानी की सतह तक ही होते हैं जिससे पत्तियाँ पानी पर तैरती रहती हैं और पुष्प भी उसी के समानान्तर होते हैं। इसके बीज छोटे, गोल, कच्चे में लाल और पकने पर काले हो जाते हैं। इसे 'भेंट' या 'बेरा' कहते हैं। इसे भूनने पर रामदाने के सदृश किन्तु उससे बहुत हलका सफेद लावा होता है। इसका पथ्य ज्वर आदि में देते हैं।

जाति—इसकी भी पुष्पभेद से श्वेत रक्त और नील जातियाँ तथा अनेक उपजातियाँ होती है। इनमें N. Esculenta, N. Stellata, N. Rubra आदि मुख्य हैं। इनमें श्वेत कुमुद का ही औषध में प्रयोग होता है। इसके संस्कृत नाम कुवलय, कैरव आदि हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र तालाबों और गढ़ों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, स्टार्च, निर्यास आदि होते हैं।

गुण-कर्म

इसके गुणकर्म कमल के समान ही हैं।

विशिष्ट योग—नीलोत्पलादि हिम, शर्बत नीलूफर।

× × × ×

'श्वेतं कुवलयं प्रोक्तं कुमुदं कैरवं तथा। कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम् ॥'
(भा. प्र.)

'पतिष्यति गर्भे······क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत्।······पयसा पाययेत् उत्पलादिकल्कं वा।'
(सु. शा. १०)

२५९. कशेरुक

परिचय

कुल—मुस्तक-कुल (साइपरेसी-Cyperaceae)।

नाम—लै०-स्किर्पस ग्रॉसस (Scirpus grossus, Var. kysoor); सं०-कशेरुक; हि०-कसेरू; बं०-केशुर; म०-कचरा; ता०-गुण्डातुङ्गागड्डि; ते०-गुंडातिगागड्डि; अं०-वाटर चेस्टनट (Water Chestnut)।

स्वरूप—यह वर्षायु पौधा तालाबों में या आर्द्रभूमि में होता है। **कांड**-४-६ फीट ऊँचे, अंगुलिवत् स्थूल, तीन पहल के होते हैं। **पत्र**-अल्प, कांड के प्रायः समान ही लम्बे और इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्पमंजरी**-बड़ी लगभग ३ फुट लम्बी होती है। **फल**-छोटे, धूसर या कृष्णवर्ण होते हैं। इसका कन्द जायफल के बराबर, कुछ गोलाकार, ऊपर से कृष्णवर्ण और रोमश तथा भीतर से सफेद होता है। स्वाद में मधुर और सुगन्धि होता है। वर्षा में पुष्प और बाद में फल आते हैं।

जाति—यह दो प्रकार का होता है—(१) राजकसेरुक (बड़ा कसेरू) और (२) कसेरुक (छोटा कसेरू)। ऊपर छोटा कसेरू का वर्णन किया गया है। इसे चिचोड़ भी कहते हैं। बड़े कसेरू का कन्द बड़ा और मोटा होता है। यह औषध के लिए प्रशस्त माना गया है। इसका लैटिन नाम स्किर्पस ट्युबरोसस (S. Tuberosus) है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण प्रदेशों में और चीन में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में स्टार्च ६२ प्रतिशत, प्रोटीन ७ प्रतिशत, गोंद ७ प्रतिशत, भस्म २½ प्रतिशत और काष्ठभाग ६ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह पित्तशामक और कफवातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह चक्षुष्य, दाहप्रशमन तथा व्रणशोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, विष्टम्भि और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और प्रजास्थापन तथा स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—पित्तज रोग में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्ररोगों में मुलेठी के साथ इसका लेप करते हैं। दाह, विस्फोट तथा व्रणशोथ में भी इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णा, छर्दि तथा अतिसार में प्रयुक्त होता है। विसूचिका में इसको गुलाबजल में पीसकर पिलाते हैं। इससे तृष्णा, वमन, अतिसार शान्त होते हैं और हृदय को शक्ति मिलती है। कसेरु के फूल को कामला में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भावस्था में इसका प्रयोग करते हैं। प्रसव के बाद स्तन्यजननार्थ भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पैत्तिक प्रमेह में यह लाभकर है।

तापक्रम—पित्तज्वर में दाह, तृष्णा आदि के शमनार्थ इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—½-१ तो०।

विशिष्ट योग—कशेर्वादि पय, कशेर्वादि लेप।

× × × ×

'कशेरु द्विविधं तत्तु महद्राजकशेरुकम्। मुस्ताकृति लघु स्याद्यत्तच्चिचोढमिति स्मृतम्॥
कशेरुकद्वयं शीतं मधुरं तुवरं गुरु। पित्तशोणितदाहघ्नं नयनामयनाशनम्॥
ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मारुचिस्तन्यकरं स्मृतम्।' (भा. प्र.)
'गुरु विष्टम्भिशीतौ च शृंगाटककशेरुकौ।' (सु. सू. ४६)
'कशेरुकं हिमं रूक्षं मधुरं तुवरं गुरु। संग्राहि शुक्रलं स्तन्यकफमारुतवर्धनम्॥
पित्तशोणितदाहघ्नं नयनामयनाशनम्। वृष्यं मेहं तृषां हन्याद्विष्टम्भि कृमिकारि च॥
कशेरुकस्य पुष्पं तु पित्तघ्नं कामलापहम्।' (कै. नि.)
'तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे''पयसा पाययेत् कशेरुशृंगाटकशालूककल्कं वा।'
(सु. शा. १०)

२६०. शृंगाटक

परिचय

कुल—शृङ्गाटक-कुल (ओनेग्रेसी-Onagraceae)।

नाम—लै०-ट्रैपा बाइस्पिनोजा (Trapa bispinosa); सं०-शृङ्गाटक (शृंगाकार कंटक होने से), जलफल (पानीफल), त्रिकोणफल, हि०-सिंघाड़ा; बं०-पानिफल; पं०-गाडियाँ; म०-शेंगाडा; गु०-शींघोडां; ता०-सिंगेड़ा; ते०-पारिगाद्दा; अं०-वाटर कैल्ट्रॉप (Water caltrop), इण्डियन वाटर चेस्टनट (Indian water chestnut)।

स्वरूप—यह पानी में होने वाली एक लता है। इसके **पत्ते**-गोलाकार, लाल सिराओं से युक्त, दन्तुरधार, लगभग २ इञ्च चौड़े और २-३ इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रवृन्त**-४-६ इञ्च लंबा, रक्ताभ होता है। **फल**-त्रिकोणाकार जिसके दो कोणों पर दो बड़े काँटे होते हैं। फल की ऊपरी त्वचा हरी होती है और उसके हटाने पर फलमज्जा सफेद निकलती है। इसीका प्रयोग होता है वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक जाति और होती है जिसका लैटिन नाम T. Incisa है। यह चतुष्कोणाकार होता है और इसके चारों कोनों पर १-१ बड़े कांटे और उनके बीच में दो छोटे कांटे होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में तालावों या गढ़ों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में स्टार्च तथा मैंगनीज प्रचुर परिमाण में होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—मधुर, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषतः पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, रोचन, विष्टम्भी और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और प्रजास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज रोगों में विशेषतः पैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, अरुचि, अतिसार, ग्रहणी में देते हैं। ग्रहणी रोग में शुष्क सिंघाड़े के आंटे का हलुवा बनाकर देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भावस्था में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—संताप तथा दाह में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—फलमज्जा।

मात्रा—$\frac{1}{2}$-१ तो०।

× × × ×

'शृंगाटकं जलफलं त्रिकोणफलमित्यपि। शृंगाटकं हिमं स्वादु गुरु वृष्यं कषायकम्॥
ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मप्रदं दाहास्रपित्तनुत्।' (भा. प्र.)

'श्रृंगाटकः शोणितपित्तहारी गुरुः सरो वृष्यतमो विशेषात्।
त्रिदोषतापश्रमदोषहारी रुचिप्रदो मेहनदार्ढ्यहेतुः ॥' (रा. नि.)
'श्रृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्याः गर्भस्रावे पयोयुताः ॥' (सु. शा. १०)

गर्भाशय-संकोचक

२६१. ईश्वरी

परिचय

कुल—ईश्वरी-कुल (ऐरिस्टोलोचिएसी-Aristolochiaceae)।

नाम—लै०-ऐरिस्टोलोचिया इडिका (Aristolochia Indica); सं०-ईश्वरी, नाकुली (नकुलवत् सर्पविष का शत्रु या नकुलों को प्रिय); हि०-ईश्वरमूल, इसरमूल, इसरॉल; बं०-ईशेरमूल; म०-सापसण; गु०-रूहिमूल; ता०-पेरुमारिन्दु; ते०-दुलागवेला; अं०-इण्डियन बर्थवर्ट (Indian Birthwort)।

स्वरूप—इसकी बहुवर्षायु लता होती है। मूलस्तम्भ काष्ठीय तथा काण्ड पतले और नलीदार होते हैं। शाखायें कोमल होती हैं। **पत्र**-प्रायः २-४ इञ्च लम्बे, १ इञ्च चौड़े, लम्बाग्र होते हैं और अग्रभाग के पास सब से अधिक चौड़े होते हैं। इनके मूल भाग से ३-५ सिरायें पाणिवत् निकली होती हैं। **पुष्प**-हरिताभ श्वेत, १-३ इञ्च लम्बे, तुरही के आकार के होते हैं। **फल**-लगभग गोलाकार और फटने पर छत्राकार हो जाता है। **बीज**-त्रिकोणाकार और सपक्ष होते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प और फल लगते हैं। मूल से कपूर के समान गन्ध आती है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेष कर नेपाल, दक्षिणभारत और बंगाल में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में उड़नशील तैल, रञ्जक द्रव्य और एक क्षार-तत्त्व पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषकर कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह विषघ्न, व्रणशोधन, शोथहर और वेदनास्थापन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक और नाडियों का उत्तेजक है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, शूलप्रशमन, ग्राही और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक और शोथहर है। रक्तशोधक भी है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—गर्भाशय-संकोचक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—स्वेदजनन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सर्पविष में, व्रणों में तथा शोथवेदनायुक्त विकारों (सन्धिवात, आमवात आदि) में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि तथा अवसादयुक्त मानस रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विष्टम्भ, उदरशूल, ग्रहणी तथा कृमिरोग में उपयोगी है। विसूचिका तथा शिशुओं के दन्तोद्भेद में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ, सन्धिवात तथा आमवात में इसका प्रयोग होता है। रक्तविकारों में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—बालकों के प्रतिश्याय और कास में पत्रस्वरस देते हैं। इससे वमन होकर सब कफ निकल जाता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव तथा प्रसव के बाद गर्भाशय-संशोधन के लिए ईश्वरमूल पिप्पलीमूल के साथ देते हैं। रजोरोध और कष्टार्तव में भी प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ आदि त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—विषमज्वर, त्रिदोषज्वर तथा प्रसूतिज्वर में यह विशेषतः प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—सर्प, बिच्छू, लूता, मूषक आदि प्राणियों के विष में इसका पत्रस्वरस या मूल पीस कर पिलाते हैं। अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक कर्म के लिए देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—मूलचूर्ण-५-१० रत्ती, पत्रस्वरस-१-३ माशे।

× × × ×

'नाकुली तुवरा तिक्ता कटुकोष्णा नियच्छति। भोगिलूतावृश्चिकाखुविषज्वरकृमिव्रणान् ॥'

(भा. प्र.)

'नाकुली कटुका तिक्ता तथोष्णा कृमिरोगहृत्। वृश्चिकोन्दुरसर्पादिविषं नाशयति क्षणात् ॥
तुवरा च त्रिदोषघ्नी कन्देऽप्येते गुणाः स्मृताः'। (ग. नि.)

२६२. कालाजाजी

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)।

नाम—लै०-नाइगेला सेटाइवा (Nigella Sativa); सं०-कालाजाजी, उपकुंचिका, कालिका, पृथ्वीका; हि०-कलौंजी, मंगरैल; बं०-मुगरेला, कालजीरा; म०-कलोंजी; गु०-कलोंजी; ता०-कसनजीरागम्; ते०-नल्लाजिलाकार; अ०-शोनोज़; फा०-स्याहदानः; अं०-स्मॉल फनेल (Small funnel)।

स्वरूप—इसका छोटा सा क्षुप खेतों में होता है। पत्रदण्ड के दोनों ओर जोड़े पत्र होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, नील अथवा पीताभ होते हैं। **फल**-गोलाकार होते हैं

जिसमें त्रिकोणाकार, कृष्णवर्ण, सुगन्धित अनेक बीज होते हैं। ऊपर का बीजावरण हटाने पर श्वेत बीजमज्जा दिखाई देती है। पुष्प शरद् ऋतु में तथा फल शीतकाल में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल वासस्थान दक्षिण यूरोप है। संप्रति समस्त भारत में विशेषतः पश्चिम भाग में और मिश्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक पीताभ उड़नशील तैल १·५ प्रतिशत और एक स्थिर तैल ३७·५ प्रतिशत होते हैं। इनके अतिरिक्त, सुगन्धित तैल, अलब्यूमिन, शर्करा, पिच्छिल द्रव्य, सेन्द्रिय अम्ल, मेटार्बिन, विषाक्त ग्लुकोसाइड, मेलान्थिन (Melanthin), अरेबिक अम्ल (Arabic acid), आर्द्रता और भस्म ५ प्रतिशत होती है। उड़नशील तत्त्व मुख्य कार्यकारी भाग होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन; शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उत्तेजक और वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—दुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, ग्राही और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक और स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

उत्सर्ग—त्वचा, स्तन तथा वृक्कों से इसका उत्सर्ग होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में तथा खालित्य में बीजों का लेप करते हैं। शिरःशूल तथा कामला में इसके चूर्ण का नस्य देते हैं। प्रतिश्याय और अर्शाङ्कुरों में इसकी धूनी देते हैं। वातव्याधि में इसके तैल का अभ्यंग करते हैं और संधिशोथ आदि में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—मुखदुर्गन्ध, अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, अतिसार, ग्रहणी और कृमिरोग में यह प्रयुक्त होता है। विशेषतः गण्डूपद कृमि में देते हैं। विरेचन द्रव्यों के साथ मरोड़ को बन्द करने के लिए इसे मिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और पार्श्वशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव तथा प्रसवोत्तर काल में इसका सेवन कराते हैं। इससे गर्भाशय का संशोधन होता है, दूध बढ़ता है और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। रजोरोध और कष्टार्त्तव में भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—त्वग्दोषों में दिया जाता है।

तापक्रम—विषमज्वर विशेषतः शीताभिप्राय में बीजों का चूर्ण गुड़ के साथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-३ माशे।

× × × ×

'पृथ्वीका कटुतीक्ष्णोष्णा वातगुल्मामदोषनुत्। श्लेष्माध्मानहरा जीर्णा जन्तुघ्नी दीपनी परा॥' (रा. नि.)

'......कुञ्चिका......। रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम्॥' (च. सू. २७)

'जीरकत्रितयं रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राहि पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत्॥
ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रूच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसारहृत्॥' (भा. प्र.)

२६३. अन्नामय

परिचय

कुल—छत्रक-कुल (फंगाई-Fungi)।

नाम—लै०-क्लैविसेप्स पर्प्युरिया (Claviceps Purpurea); सं०-अन्नामय; म०-तांब; गु०- गेरवो; अं०-अर्गट (Ergot)।

स्वरूप—यह जौ, मकई, गेहूँ आदि अन्नों में होने वाला एक प्रकार का रोगविशेष है। यह ½-१ इञ्च लम्बा, रक्तकपिश, किंचित् वक्र, त्रिकोणाकार या चतुष्कोण, दुर्गन्धयुक्त और अप्रिय स्वाद वाला होता है। लम्बाई में इस पर झुर्रियाँ होती हैं और अनुप्रस्थ दिशा में विदार होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें अर्गोटॉक्सिन (Ergotoxine), सेन्सिबेमीन (Sensibamine), अर्गोक्लेविन (Ergoclavine), अर्गोमेट्रिन (Ergometrine) नामक क्षारतत्त्व होते हैं। इनके अतिरिक्त टाइरेमिन, अर्गेमिन या हिस्टेमिन, ऐगमेटिन नामक तत्त्व तथा स्थिर तैल ३० प्रतिशत और कुछ रञ्जक द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्तरस के कारण कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण होने से यह उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अधिक काल तक सेवन करने से मस्तिष्कशक्ति का ह्रास होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृत्पेशी तथा सांवेदनिक नाडियों पर क्रिया होने से यह हृदय-संकोच को प्रबल बनाता है। यह सर्वांगीण सूक्ष्म धमनियों का संकोच करती है जिससे रक्तभार बढ़ जाता है। अतः यह रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—इससे गर्भाशय का तीव्र संकोच होता है जिससे उसके भीतर के पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। यह क्रिया शीघ्र लगभग २० मिनट के बाद प्रारम्भ हो जाती है। गर्भाशय-पेशियों के संकुचित होने से तद्गत रक्तवहस्रोतों का मुख भी बन्द हो जाता है जिससे रक्तस्राव रुक जाता है। यह वाजीकरण है।

श्वसनसंस्थान—इसका प्रभाव श्वसनकेन्द्र पर होने के कारण श्वसन की संख्या और शक्ति बढ़ जाती है। अधिक मात्रा से केन्द्र अवसादित होता है और श्वसन मन्द और क्षीण हो जाता है।

नेत्र—क्षणिक प्रसार के बाद नेत्र कनीनिका का प्रबल संकोचन होता है।

शरीरस्थ स्राव—सर्वांगीण रक्तवाहिनियों का संकोच होने से ग्रन्थियों में रक्त की कमी हो जाती है जिसके कारण लाला, स्वेद, स्तन्य और मूत्र का स्राव कम हो जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ध्वजभङ्ग में इसको पीस कर शिश्न पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—प्रसवोत्तर रक्तस्राव को रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। प्रदर में भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्ट प्रसव में तथा प्रसवोत्तरकाल में यह अतीव प्रशस्त है। इसके प्रयोग से प्रसव सुविधा से हो जाता है तथा प्रसव के बाद रक्तस्राव नहीं होता, पेट का दर्द शान्त हो जाता है, गर्भाशय अपनी पूर्व स्थिति में चला आता है तथा ज्वर आदि उपद्रव नहीं होने पाते। प्रसव के बाद, विशेषतः बहुप्रजाताओं में इसका प्रयोग ५-६ दिनों तक प्रातः सायं करना चाहिए। इसके लिए निम्नाङ्कित मिश्रण बहुत प्रसिद्ध है:—

अन्नामय सत्त्व	३० बूँद
कुनैन हाइड्रोक्लोर	२ रत्ती
स्पिरिट क्लोरोफार्म	१५ बूँद
हृत्पत्री सत्त्व	५ बूँद
जल	२½ तोला
	१ मात्रा

गर्भपात के बाद भी इसका प्रयोग करते हैं। नपुंसकता, स्वप्नदोष तथा शीघ्रपतन में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—समस्त।

मात्रा—१०-२० रत्ती (फाण्टरूप में प्रयोग श्रेयस्कर है)।

विशिष्ट योग—अन्नामय सत्त्व (Liq. Ext. of Ergot)।

मात्रा—१०-२० बूँद।

वक्तव्य—यदि योनिद्वार संकीर्ण या किसी अर्बुद आदि से अवरुद्ध हो तो इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार प्रबल गर्भाशयसंकोच से दब कर बच्चे की मृत्यु की आशंका होती है या गर्भाशय के ही विदीर्ण होने का भय रहता है।

तीव्र विषलक्षण—मन्द क्षीण नाडी, झुनझुनी, कण्डू, तृष्णा, आमाशय तथा अंत्र में क्षोभ, गर्भाशय से रक्तस्राव, गर्भपात, संज्ञानाश और अवसादन।

जीर्ण विषलक्षण—अधिक दिनों तक प्रयोग से पूतिकोथ या स्पर्श संज्ञानाश, खाञ्ज्य, इन्द्रियदौर्बल्य आदि लक्षण होते हैं।

२६४. कार्पास

परिचय

गण—बृंहणीय (च०), वातसंशमन (सु०)।

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-गॉसिपियम हर्बेसिअम (Gossypium Herbaceum)। सं०-कार्पासी, तुण्डिकेरी, समुद्रान्ता (समुद्रतटवर्त्ती प्रदेशों में उत्पन्न होने से); हि०-कपास; बं०-कापास; म०-कापसी; गु०-कपास, वोण; पं०-कपा; ता०-कार्बाशम्; ते०-कार्पासिमु; अं०-कॉटन प्लाण्ट (Cotton Plant)।

स्वरूप—इसका क्षुप-१०-१२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-एरण्डपत्र के समान आगे की ओर ३-५ भागों में विभक्त होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। फल के भीतर रूई तथा अनेक बीज (बिनौले) होते हैं। **बीज**-धूसर या कृष्णवर्ण होते हैं, इनसे तैल निकलता है। **मूल**-बाहर से पीताभ तथा भीतर श्वेत होता है। शीतकाल में पुष्प आते हैं तथा ग्रीष्मऋतु में फल पक कर फट जाते हैं।

जाति—कपास की अनेक जातियाँ देशभेद से होती हैं। इसकी एक जाति जंगलों में स्वयं उत्पन्न होती है उसे अरण्यकार्पासी या भारद्वाजी कहते हैं। हिन्दी में इसे बनकपास तथा लैटिन में थेस्पेसिया लैम्पस (Thespasia Lampas) कहते हैं। एक और जाति जो उद्यानों में लगाई जाती है उसे उद्यानकार्पास या देवकार्पास कहते हैं। हिन्दी में इसे नर्मा तथा लैटिन में गॉसिपियम आर्बोरियम (Gossypium Arboreum) कहते हैं। इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः बंगाल, गुजरात, बम्बई और मद्रास में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में स्टार्च, क्रोमोजन २८ प्रतिशत, ग्लुकोज, पीत राल, स्थिर तैल, किंचित् टैनिन तथा भस्म ६ प्रतिशत होती है। बीजों में १०-२९ प्रतिशत तैल, अलब्युमिनायड, अन्य नत्रजनयुक्त पदार्थ १८-२५ प्रतिशत तथा लिगनिन १५-२५ प्रतिशत होते हैं। मूलत्वक् में एक पीत या वर्णरहित अम्ल-राल, डाइहाइड्रोक्सिबेञ्जोइक अम्ल (Di-hydroxy-benzoic acid) तथा फेनोल होते हैं। पुष्पों में एक रंजक द्रव्य तथा गॉसिपेटिन (Gossypetin) नामक ग्लुकोसाइड पाया जाता है। बीजों के तैल से गॉसिपॉल (Gossypol) नामक एक स्फटिकीय द्रव्य प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध । **रस**—मधुर, कषाय ।
विपाक—मधुर । **वीर्य**—ईषत् उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर, स्निग्ध होने से वातशामक है । मधुरस्निग्ध होने से कफ तथा उष्ण होने से पित्त को बढ़ाता है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—कपास के बीज नाडीसंस्थान के लिए पौष्टिक है । पुष्प उत्तेजक और सौमनस्यजनन है ।

पाचनसंस्थान—बीज स्नेहन और स्रंसन हैं । पत्रस्वरस पिच्छिल और पुष्प यकृदुत्तेजक है ।

प्रजननसंस्थान—मूलत्वक् गर्भाशयसंकोचक और आर्त्तवजनन है । इसकी क्रिया अर्गट के समान होती है । बीज स्तन्यजनन और वृष्य हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—बीज तथा पत्र मूत्रजनन है ।

तापक्रम—बीज विषमज्वरघ्न है ।

सात्मीकरण—बीज बल्य तथा विषघ्न है । पत्र रक्तवर्धक है । पुष्प भी विषघ्न हैं ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि में इसका प्रयोग होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का लेप शोथवेदनायुक्त विकारों में, विषों में, अग्निदग्ध, व्रण और क्षतों में करते हैं । बीजों के तैल का अभ्यंग सन्धिवात शिरःशूल आदि में करते हैं । रूई जलाकर क्षत तथा व्रणों में रखते हैं । पत्रस्वरस कर्णरोगों में डालते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीसंस्थान के दौर्बल्य से उत्पन्न विकारों यथा उन्माद, अपस्मार आदि में बीजों का प्रयोग करते हैं । मानसरोगों में पुष्प का पानक भी देते हैं ।

पाचनसंस्थान—बीजों का प्रयोग विबन्ध में करते हैं । पत्रस्वरस प्रवाहिका में देते हैं । पुष्प का पानक यकृद्विकार और कामला में देते हैं ।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव और अनार्त्तव में मूलत्वक् का क्वाथ या चूर्ण देते हैं । क्वाथ में सोया, कलौंजी और पुराना गुड़ मिलाने से अच्छी क्रिया होती है । प्रसव के बाद यह क्वाथ देने से गर्भाशय संकुचित होता है, रक्तस्राव बन्द होता है और ज्वर आदि उपद्रव नहीं होने पाते । १ घंटे में इसका प्रभाव होता है । अधिक मात्रा में देने से गर्भपात होता है । बिनौले का प्रयोग स्तन्यवृद्धि के लिए तथा वाजीकरण के लिए करते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में बीजचूर्ण तथा पत्रस्वरस देते हैं ।

तापक्रम—बीजों का फाण्ट शीतज्वर में ज्वर आने से पूर्व देते हैं ।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में बीजों का प्रयोग करते हैं । पाण्डु में पत्रस्वरस देते हैं । सर्पविष में बीज प्रयुक्त होते हैं तथा धतूरा के विष में पुष्प तथा बीजों का फाण्ट देते हैं ।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, पुष्प, बीज।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०; बीजचूर्ण-३-६ मा०।

× × × ×

'कार्पासको लघुः कोष्णो मधुरो वातनाशनः। तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृन्मूत्रवर्धनम्॥
तत्कर्णपिडकानादपूयस्रावविनाशनम्। तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु॥' (भा.प्र.)
'कार्पासिका किंचिदुष्णा कषाया मधुरा लघुः।' (कै. नि.)

२६५. लांगली

परिचय

गण—उपविष।

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-ग्लोरिओजा सुपर्बा (Gloriosa superba); सं०-लांगली (हलाकार कन्द); कलिहारी, विशल्या (शल्य को निकालने वाली), अग्निशिखा (रक्तपुष्पवाली); गर्भनुत् (गर्भपातिनी); हि०-कलिहारी, कलियारी; बं०-उलटचंडाल, विलांगुलि; म०-कललावी; खड्या नाग; गु०-दूधियो वछनाग; ता०-कलाई-पाई-कि-जंगु; ते०-आदा-विनाभि; अं०-सुपर्ब लिलि (Superb Lily)।

स्वरूप—यह एक सुन्दर बहुवर्षायु वृक्षारोही **लता** होती है। इसका **कांड** पतला लगभग १०-१२ **फुट** लंबा होता है। भौमिक कांड हलाकार, वक्र, स्थान-स्थान पर संकुचित होता है। इसी से लता की उत्पत्ति प्रतिवर्ष होती है। **पत्र**—वृन्तरहित, ६-८ इञ्च लंबे तथा अग्रभाग पर सूत्राकार होते हैं जिसके सहारे वह वृक्षों पर चढ़ती है। **पुष्प**-३-४ इञ्च लंबे, नीचे की ओर पीतवर्ण तथा क्रमशः ऊपर की ओर रक्तवर्ण होते हैं। **फल**-३-४ इञ्च लंबे होते हैं। **मूल**-आलू के समान, मृदु, गोला या चपटा लगभग १ इञ्च मोटा होता है। यह लता वर्षा ऋतु के आरंभ में उत्पन्न होती है और बरसात के बाद सूख जाती है।

जाति—कन्द की आकृति के अनुसार यह दो प्रकार का होता है। एक का कन्द गोल तथा दूसरे का चपटा-लंबा और दो भागों में विभक्त होता है। पहले को स्त्रीलांगली और दूसरे को पुरुषलांगली कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह बंगाल, दक्षिण भारत, वर्मा तथा लंका में अधिक होती है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में दो राल, कषाय द्रव्य, सुपर्बिन (Superbine) नामक एक तिक्त द्रव्य, ग्लोरिओजिन (Gloriosine) नामक एक क्षारतत्त्व तथा स्टार्च होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त। **विपाक**—कटु।
वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—गर्भपातन।

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक, क्षोभक तथा गर्भपातन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में यह दीपन, पित्तसारक और कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में यह वामक और रेचक होता है तथा इससे आमाशय में तीव्र दाह और क्षोभ उत्पन्न होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक है।

तापक्रम—यह विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में देने से यह बल्य और रसायन है।

विषाक्त प्रभाव—अधिक मात्रा में देने से वमन, विरेचन, उदरशूल तथा अन्त में हृदयावरोध से मृत्यु हो जाती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, व्रण, गंडमाला, अर्श तथा वृश्चिक-सर्प आदि के दंश पर इसका लेप करते हैं। शरीर के भीतर कोई शल्य (काँटा, तीर आदि) घुसा हो तो त्वचा पर लेप करने से वह ऊपर आ जाता है। सुखप्रसव और अपरापातन के लिए इसके कन्द का लेप हाथ पैर के तलवों पर नाभि, बस्तिप्रदेश तथा वंक्षण पर किया जाता है। गर्भनिष्कासनार्थ इसका कन्द योनि में रखते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा से इसका चूर्ण अग्निमांद्य, पित्तविकार तथा कृमि में प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—कुष्ठरोग में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव में गर्भनिष्कासनार्थ इसका चूर्ण देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में यह दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—१-२ रत्ती (कटुपौष्टिक); ३-६ रत्ती (गर्भनिष्कासनार्थ)।

विशिष्ट योग—कासीसादि तैल, लांगलीरसायन।

× × × ×

'कलिहारी सरा कुष्ठशोफार्शोव्रणशूलजित्। सक्षारा श्लेष्मजित्तिक्ता कटुका तुवरापि च॥ तीक्ष्णोष्णाकृमिहल्लघ्वी पित्तला गर्भपातिनी।' (भा. प्र.)

'लांगली कटुरुष्णा च कफवातविनाशिनी। तिक्तासरा च श्वयथुगर्भशल्यव्रणापहा॥' (ध.नि.)

'पाठालांगलिसिंहास्यमयूरकजटाः पृथक्। नाभिवस्तिभगालेपात् सुखं नारी प्रसूयते॥'(च.द.)

'लांगलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्।' (सु. शा. १०)

२६६. हरमल

परिचय

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-पेगानम हरमल (Peganum Harmala); हि०-हरमल, इस्वंद; बं०-इस्वांध; म०-हरमल; गु०-हरसर; पं०-हुर्मुल; ता०-विराति; ते०-सिमागोरन्ति विष्णलु; अ०-हरमल; फा०-इस्पंद; अं०-सीरियन रू (Syrian Rue)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय बहुवर्षायु क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-एकान्तर २-३ इंच लंबे तथा बहुखंडित होते हैं। **पुष्प**-श्वेत पत्रकोण से निकलता है। पुष्पबाह्यदल आभ्यन्तर दलों से बड़े तथा पुंकेशर १२-१५ दो चक्रों में स्थित होते हैं। **फल**-गोलाकार, त्रिकोष्ठीय और विदारी तथा प्रत्येक कोष्ठ में १-१ त्रिकोणाकार, धूसरवर्ण बीज होता है। बीजों से तमाखू के समान उग्र गन्ध आती है और उनका स्वाद अति तिक्त होता है। कहते हैं कि बीजों को जलती आग में डालने से आग बुझ जाती है। जुलाई में पुष्प तथा सितम्बर में फल आते हैं।

जाति—वर्णभेद से यह दो प्रकार का होता है:—(१) इसे 'इस्पंद अरबी' कहते हैं। (२) रक्त-इसे 'इस्पंद सोख्तनी' कहते हैं। रक्त का ही प्रयोग विशेष होता है तथा यही उत्तम भी है।

उत्पत्तिस्थान—यह अरब, ईरान, सिंध, काश्मीर, पंजाब, पश्चिमोत्तर भारत तथा उत्तरी अफ्रीका में होता है। ईरान से ही इसका प्रसार हुआ है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ४ प्रतिशत तीन क्षारतत्त्व होते हैं:—हरमलोल (Harmalol), (२) हरमलिन (Harmaline), (३) हरमिन (Harmine)। इन सबमें प्रथम सबसे कम तथा द्वितीय सबसे अधिक परिमाण में होता है। हरमलिन ओजःसारीय विष (Protoplasmic poison) के वर्ग का है और कुनैन के समान कार्य करता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—वेदनास्थापन तथा जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और आक्षेपहर है। मादक भी है।

पाचनसंस्थान—यह वातानुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक, आर्त्तवजनन तथा स्तन्यजनन है। वाजीकरण भी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातव्याधि में इसका धूपन तथा लेप करते हैं। कर्णशूल और बाधिर्य में इसका तैलपाक कर कान में डालते हैं। दन्तशूल में इसका धूपन करते हैं। दुष्टव्रणों में तथा बाह्यकृमियों में इसे तैल में मिलाकर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गृध्रसी, अपतंत्रक, अपस्मार, आक्षेपक आदि वात-व्याधि में प्रयुक्त होता है। शूल में भी देते हैं।

पाचनसंस्थान—उदरशूल तथा कृमिरोग में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा हिक्का में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्टार्त्तव में तथा स्तन्यवृद्धि के लिए देते हैं। वाजीकरण में भी विशेष प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वरों में विशेषतः विषमज्वरों में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में भी उपयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-२ माशे।

अहित प्रभाव—इसके अतियोग से दाह, मद, मोह तथा हृल्लास होते हैं।

निवारण—इसके निवारण के लिए मधुर पानक तथा अम्ल द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

२६७. सिताब

परिचय

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-रुटा ग्रेविओलेन्स (Ruta Graveolens); हि०-सिताब, तितली; म०-सताप; गु०-सताव; ता०-अरूवदाण; ते०-सद्दापाक; अ०-सुजाब, फैजन; फा०-सुद्दाब; अं०-गार्डेन रू (Garden Rue)।

स्वरूप—इसका क्षुप-छोटा होता है। **पत्र**-पतले, धूमिलवर्ण होते हैं तथा उनका स्वाद तिक्त और गन्ध तीक्ष्ण, अप्रिय होती है। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। **फल**-त्रिकोष्ठीय, जिनमें तीन बीज त्रिकोणाकार होते हैं।

जाति—ग्राम्य और वन्य भेद से यह दो प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह ईरान, अफगानिस्तान, पंजाब आदि स्थानों में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक ग्लुकोसाइड, रुटिन (Rutin) तथा एक उड़नशील गन्धयुक्त तैल होता है। तैल में ९० प्रतिशत मेथिलनॉ निलकेटोन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक, वेदनास्थापन, जन्तुघ्न और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह आक्षेपहर, नाडीबल्य तथा अधिक मात्रा में मादक विष है।

पाचनसंस्थान—उड़नशील तैल के कारण तथा तिक्तरस से यह दीपन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—इससे गर्भाशय का संकोच तीव्र होता है तथा आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—यह तीक्ष्ण, उष्ण होने से स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पक्षाघात आदि वातविकारों में इसकी पत्तियों को मद्य में पीसकर लेप करते हैं। शोथ में भी इसका लेप देते हैं। कर्णशूल तथा कर्णस्राव में इसका स्वरस कान में देते हैं। सर्प, बिच्छू आदि के दंशस्थान पर भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, आक्षेपक, अपस्मार तथा अपतन्त्रक रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः स्त्रियों और बालकों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—आध्मान, अजीर्ण, उदरशूल तथा कृमिरोग में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय एवं कास में इसका स्वरस प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव, रजोरोध एवं कष्टार्त्तव में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है। इससे मूत्र और स्वेद का निःसरण होता है तथा नाडी की गति भी ठीक होती है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग (विशेषतः पत्र)।

मात्रा—स्वरस-२-३ माशे; चूर्ण-५-१० रत्ती; फाण्ट-१-२ तोला; तैल १-५ बूँद।

आर्त्तवजनन

२६८. उलटकम्बल

परिचय

कुल—पिशाचकार्पास-कुल (स्टर्कुलिएसी-Sterculiaceae)

नाम—लै०-ऐब्रोमा ऑगस्टा (Abroma Augusta); सं०-पिशाचकार्पास, पीवरी; हि०-उलटकम्बल; बं०-ओलटकम्बल; अं०-डेविल्स कॉटन (Devil's cotton)

स्वरूप—इसका छोटा **वृक्ष** लगभग १० फुट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्** से रेशम के सदृश सूत्र निकलते हैं। **पत्र**-४-६ इञ्च लम्बे, ४-५ इञ्च चौड़े एवं खण्डित-धार होते हैं। **पुष्प**-गुच्छों में, बैंगनी रंग के, अधोमुख होते हैं। **पुष्प के** बाह्यदल ४ तथा आभ्यन्तर दल ५ होते हैं। **फल**-पञ्चकोणीय तथा पञ्चकोष्ठीय होता है जिसके

भीतर मूली के जैसे कृष्णवर्ण अनेक बीज होते हैं। अगस्त-सितम्बर में पुष्प तथा अक्टूबर से जनवरी तक फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह बङ्गाल, खासिया पहाड़ तथा सिक्किम में प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—मूलत्वक् में निर्यास, अस्फटिकीय सत्त्व तथा ११ प्रतिशत भस्म होती है। मूल में स्थिर तैल, राल तथा अल्प प्रमाण में क्षारतत्त्व होते हैं। इसमें मैगनीशियम भी होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण (मूल); स्निग्ध (पत्र)।

रस—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—इसकी विशिष्ट क्रिया गर्भाशय पर होती है। यह गर्भाशयबल्य, गर्भाशयोत्तेजक, आर्त्तवजनन तथा वेदनास्थापन है। इससे आर्त्तव साफ आता है, नियमित होता है तथा आर्त्तवकाल की पीडा शान्त होती है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका पत्रस्वरस मूत्रल और स्नेहन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवात रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव और अनियमित ऋतुस्राव में यह अतिशय लाभकर है। यह मासिक के तीन दिन पूर्व से दो दिन बाद तक दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह में पत्रस्वरस देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण-१०-१५ रत्ती; ताजा मूल-४-८ माशे; मूलस्वरस-२ माशे, पत्रस्वरस-१-२ तोला।

वक्तव्य—अन्य कल्पों की अपेक्षा स्वरस अधिक गुणकारी होता है, अतः उसी का प्रयोग यथासम्भव करना चाहिए।

× × × ×

'पीवरी योषिणी सा स्याद् योनिव्यापद्विनाशिनी।
रजोदोषप्रशमनी' (आ. वि. अ. १३)

२६९. वंश

परिचय

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)

नाम—लै०-बम्बुसा अरुण्डिनेसिया (Bambusa Arundinacea); सं०-वंश, वेणु, त्वक्सार (दृढ त्वचा वाला); तृणध्वज (तृणों में श्रेष्ठ, ऊँचा); शतपर्वा (अनेक

पर्वों वाला); यवफल (यवाकार फल)। हि०-बाँस; बं०-बाँश; म०-वांबू; गु०-वाँस; ता०-मझिल; ते०-मूलकाश ; अ०-कसब; फा०-न; अं०-बम्बू (Bamboo)।

नाम-वंशलोचन—सं०-वंशरोचना, तुगाक्षीरी, त्वक्क्षीरा; हि०-वंसलोचन; गु०-वंशलोचन, वांसकपूर; अ०, फा०-तवाशीर; अं०-बम्बू मन्ना (Bamboo Manna)।

स्वरूप—यह ४०-५० फुट ऊँचा अति प्रसिद्ध **वृक्ष** है। इसका **कांड** १२-१६ इञ्च मोटा होता है और उसमें थोड़ी थोड़ी दूर पर अनेक पर्व होते हैं। पर्वों के बीच का भाग पोला होता है। **पत्र**-लम्बे, अग्र भाग में नुकीले होते हैं। प्रायः ३० वर्ष की आयु में पुष्प और फल आते हैं। **पुष्पदण्ड** लम्बा अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त होता है। पुष्प एक लिंगी होते हैं। **फल**-देखने में यव के सदृश होते हैं इन्हें 'वंशयव' कहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ देशभेद से होती हैं जिनमें B. Spinosa, B. Tulda, B. Vulgaris आदि प्रमुख हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः आसाम में अधिक होता है। इसके अतिरिक्त, वर्मा तथा जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में प्रचुर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—स्त्रीजाति के बांस में एक प्रकार का रस जम कर पोले भाग में सञ्चित हो जाता है उसे वंशलोचन कहते हैं। यह जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों से भारत में आता है। सम्प्रति कृत्रिम वंशलोचन बाजारों में आता है।

वंशलोचन में ९० प्रतिशत सिलिका, लौह का पेरॉक्साइड, पोटाश, चूना, अलुमिनियम, शाकतत्त्व, अनेक किण्वतत्त्व (Enzymes) तथा ग्लुकोसाइड पाये जाते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। **रस**—मधुर, कषाय।

विपाक—मधुरविपाक। **वीर्य**—शीत।

पत्रांकुर और वंशयव उष्णवीर्य है।

वंशलोचन कषाय-मधुर, मधुरविपाक तथा शीतवीर्य है।

कर्म

दोषकर्म—वंशमूल कफपित्तशामक है। पत्राङ्कुर तथा फल पित्तवर्धक है। वंशलोचन वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—वंशमूल वर्ण्य और कुष्ठघ्न तथा पत्राङ्कुर शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—पत्राङ्कुर दीपन, पाचन कृमिघ्न तथा विदाही है। फल कृमिघ्न है। वंशलोचन शामक, तृष्णानिग्रहण और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—वंशलोचन हृद्य और रक्तस्तम्भन तथा वंशमूल रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—वंशलोचन कफनिःसारक और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—पत्र आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—वंशमूल तथा वंशलोचन मूत्रल है। फल मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—वंशलोचन ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—वंशलोचन बल्य और बृंहण है। फल लेखन और विषघ्न है। मूल भी विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वंशमूल और फल का प्रयोग कफपित्त विकारों में; वंशलोचन का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वंशमूल का लेप वर्णविकारों में करते हैं। इसको जला कर दद्रु, कुष्ठ, खालित्य आदि पर लेप करते हैं। पत्राङ्कुरों का व्रणशोथ और व्रणों पर लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांध, अजीर्ण तथा कृमि रोग में पत्राङ्कुर का अन्य सुगन्धि द्रव्यों के साथ क्वाथ कर देते हैं। वंशलोचन वमन, अतिसार और तृष्णा रोगों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वंशलोचन हृद्रोग और रक्तपित्त में तथा मूल रक्तविकारों में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—वंशलोचन कास, श्वास और यक्ष्मा में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव में तथा प्रसवोत्तर गर्भाशयशोधन के लिए पत्रक्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में वंशमूल तथा वंशलोचन लाभकर हैं। प्रमेह रोग में वंशयव का भात रोगी को खिलाते हैं।

तापक्रम—वंशलोचन जीर्णज्वर तथा क्षयज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में वंशलोचन देते हैं। फल का प्रयोग मेदोरोग तथा विषों में करते हैं। मूल और अंकोठ का क्वाथ कुक्कुरविष में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, पत्राङ्कुर, फल, वंशलोचन।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला; वंशलोचन-१-३ माशे।

विशिष्ट योग—सितोपलादि चूर्ण, तालीशाद्य चूर्ण।

× × × ×

'वंशः सरो हिमः स्वादुः कषायो बस्तिशोधनः। छेदनः कफपित्तघ्नः कुष्ठास्रव्रणशोथजित्॥
तत्करीरः कटुः पाके रसे रूक्षो गुरुः सरः। कषायः कफहृत् स्वादुर्विदाही वातपित्तलः॥
तद्यवास्तु सरा रूक्षा कषायाः कटुपाकिनः। वातपित्तकरा उष्णा बद्धमूत्राः कफापहाः॥'
(भा. प्र.)

'रूक्षः कषायानुरसो मधुरः कफपित्तहा। मेदःक्रिमिविषघ्नश्च बल्यो वेणुयवो मतः॥'
(च. सू. २७)

'वंशजा बृंहणी वृष्या बल्या स्वाद्वी च शीतला। तृष्णाकासज्वरश्वासक्षयपित्तास्रकामलाः॥
हरेत् कुष्ठं व्रणं पाण्डुं कषाया वातकृच्छ्रजित्।' (भा. प्र.)

२७०. शण

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminoseae)।

नाम—लै०-क्रोटैलेरिया जन्सिया (Crotalaria Juncea); सं०-शण;

हि०-सन; बं०-शण; म०-ताग; गु०-शण; ता०-जेना सानार; ते०-जनमु; अं०-बंगाल हेम्प (Bengal Hemp), सन हेम्प (Sunn Hemp)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप होता है। पत्र-१-३ इञ्च लंबे, चिकने, रोमश होते हैं। पुष्प-गुच्छबद्ध, पीतवर्ण होते हैं। **शिम्बी**-लगभग १ इञ्च लंबी, रोमश होती है। प्रत्येक शिम्बी में १०-१५ बीज होते हैं। वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल आते हैं। इसके सूत्रों से वोरे आदि बनाये जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह बंगाल, मैसूर और दक्षिणभारत में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में प्रचुर पिच्छिल द्रव्य, कुछ ठोस वसा तथा राल होती है।

गुण

गुण—स्निग्ध (पत्र); रूक्ष, तीक्ष्ण (बीज)। **रस**—कषाय, अम्ल, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत (पत्र); उष्ण (बीज)।

कर्म

दोषकर्म—बीज कफवातशामक तथा पत्र वातपित्तशामक हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्रलेप दाहप्रशमन तथा त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—बीज दीपन, पाचन, अनुलोमन हैं। अतिमात्रा में वामक और विरेचन होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—पत्र रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—बीज आर्त्तवजनन हैं।

त्वचा—पत्र त्वग्दोषहर है।

सात्मीकरण—बीज लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—बीज कफवातज रोगों में तथा पत्र वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह तथा चर्मरोगों में पत्तियों का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण एवं विबन्ध में बीजों का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में पत्र का फांट देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में बीजों का चूर्ण प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में पत्र का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में बीजों का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, बीज।

मात्रा—पत्रस्वरस-१-२ तो०; फाण्ट-५-१० तो०; बीजचूर्ण-$\frac{1}{2}$-१ तो०।

× × × ×

'शणस्त्वम्लः कषायश्च मलगर्भास्रपातनः। वान्तिकृद्वातकफनुत् ज्ञेयस्तीव्रांगमर्दनुत्॥'
(रा. नि.)

आर्त्तवशमन

२७१. लोध्र

परिचय

गण—शोणितास्थापन, सन्धानीय, पुरीषसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); लोध्रादि, न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—लोध्र-कुल (सिम्प्लोकेसी-Symplocaceae)।

नाम—लै०-सिम्प्लोकस रेसिमोसा (Symplocos Racemosa); सं०-लोध्र, शावर (शावर प्रदेश-पठान में होने से); स्थूलवल्कल (मोटी छाल वाला); हि०-लोध; पं०-पठानीलोध; बं०-लोध; म०-लोध्र; गु०-लोधर; ता०-वेल्लि-लोठि; ते०-लोधुग-चेट्टु।

स्वरूप—इसका सदाहरित मध्यम प्रमाण **वृक्ष** होता है। **पत्र**-लंबे, गोलाकार, ३-५ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्पदंड**-२-४ इञ्च, लंबे होते हैं जिन पर पीताभ श्वेत पुष्प होते हैं। **फल**-½ इञ्च लंबा कड़ा होता है। छाल रक्तवर्ण होती है।

जाति—इसकी एक और जाति (सिम्प्लोकस क्रैटिग्वायडिस-Symplocos crataigoides) हिमालय प्रदेश में ३-८ हजार फुट की ऊँचाई पर होती है। इसका वृक्ष ४० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-२-३ इञ्च लंबे, १-१½ इञ्च चौड़े, अंडाकृति, दन्तुधार होते हैं। **पुष्पदंड**-१-५ इञ्च लम्बा होता है। **फल**-½-⅓ इञ्च का, गोलाकार होता है। इसकी छाल हलके धूसरवर्ण की होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर तथा पूर्व भारत, मालाबार और बर्मा में विशेष पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ये क्षारतत्त्व होते हैं:—(१) लॉट्युरिन (Loturine) ०.२४ प्रतिशत, (२) कॉलॉट्युरिन (Colloturine) ०.०२% प्रतिशत, (३) लॉट्युरिडिन (Loturidine) ०.०६ प्रतिशत तथा (४) क्विनोविन। इनके अतिरिक्त, रक्तरञ्जक द्रव्य तथा भस्म (७¼%) जिसमें सोडा कार्बोनेट (१८%) होता है। इसमें टैनिन नहीं होता।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय और शीत होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, कुष्ठघ्न, रक्तस्तम्भन, व्रणरोपण और संकोचक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ और स्राव को शान्त करता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथ, चर्मरोग, रक्तस्राव, व्रण में लेप के रूप में देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप पलकों पर करते हैं। इससे पीडा और शोथ शान्त हो जाते हैं। कर्णस्राव में इसका अवचूर्णन कान में करते हैं तथा दन्तमंजनों में भी इसका प्रयोग होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन होने से अतिसार, रक्तातिसार तथा प्रवाहिका में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त तथा शोथ रोगों में यह प्रयुक्त होता है। यह छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करता है जिससे रक्तस्राव बन्द होता है और शोथ शान्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयशोथ, प्रदर (रक्त और श्वेत) में इसका प्रयोग होता है। इन रोगों में इसके क्काथ की योनिवस्ति भी देते हैं। गर्भस्राव में भी देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे; क्काथ-५-१० तोला।

विशिष्ट योग—लोध्रासव, लोध्रादि क्काथ।

× × × ×

'लोध्रो ग्राही लघुः शीतः चक्षुष्यः कफपित्तनुत्। कषायो रक्तपित्तासृग्ज्वरातीसारशोथहृत्॥'
(भा. प्र.)

२७२. अशोक

परिचय

गण—कषायस्कन्ध, वेदनास्थापन (च०), रोध्रादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी- Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०-सैरका इण्डिका (Saraca Indica); सं०-अशोक, हेमपुष्प (स्वर्णवर्ण पुष्प वाला), ताम्रपल्लव; हि०-म०-गु०-अशोक; बं०-अशोक; ता०-अशोघम्; ते०-अशोकसु।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** आम के सदृश २५-३० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-३-६ इञ्च लम्बे, आम के पत्तों की तरह होते हैं। **पल्लव**-ताम्रवर्ण और कोमल होते हैं। **पुष्प**-गुच्छों में, सुगन्धि, पहले पीताभरक्त और बाद में रक्तवर्ण हो जाते हैं। **शिम्बी**-३-१० इञ्च लम्बी, १½-२ इञ्च चौड़ी, चपटी होती है जिसमें ४-८ लम्बे, चपटे बीज होते हैं। वसन्त में पुष्प तथा शरद् में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—बंगाल, दक्षिणभारत तथा बर्मा में प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में हीमैटॉक्सिलिन (Haematoxylin) नामक तत्त्व, प्रचुर परिमाण में टैनिन तथा कैटेचिन और कुछ लौह पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वेदनास्थापन और विषघ्न है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।
पाचनसंस्थान—स्तम्भन, कृमिघ्न और तृष्णाशामक है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन, रक्तशोधक तथा शोथहर है।
प्रजननसंस्थान—गर्भाशय के शैथिल्य, पीडा तथा स्राव को शान्त करताहै।
मूत्रवहसंस्थान—बीज मूत्रल और अश्मरीनाशन है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पीडा तथा विष में इसका लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनाप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।
पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, कृमि तथा तृष्णा में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है। पुष्पों का प्रयोग रक्तपित्त में करते हैं।
प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, कष्टार्त्तव तथा गर्भाशय शैथिल्य में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—बीजों का चूर्ण मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में देते हैं।
तापक्रम—दाह में प्रयुक्त होता है।
प्रयोज्य अंग—त्वक्, बीज, पुष्प।
मात्रा—त्वक्-१-२ तोला (क्वाथ के लिए); बीजचूर्ण-१-३ माशे; पुष्पचूर्ण-१-३ माशे।
वक्तव्य—क्षीरपाक के रूप में छाल का प्रयोग प्रदर में विशेष उपयोगी है।
विशिष्ट योग—अशोकारिष्ट, अशोकघृत।

× × × ×

'अशोकः शीतलस्तिक्तो ग्राही वर्ण्यः कषायकः। शोषापचीतृषादाहकृमिशोथविषास्रजित्॥ (भा. प्र.)
'अशोकवल्कलक्वाथशृतं दुग्धं सुशीतलम्। यथाबलं पिबेत्प्रातस्तीव्रासृग्दरनाशनम्॥' (च.द.)
'अशोकस्य त्वचा रक्तप्रदरस्य विनाशिनी।' (शो०)

स्तन्यजनन

२७४. नल

परिचय

गण—तृणपंचमूल (सु०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लैं०-अरूण्डो डोनेक्स (Arundo Donax); सं०-नल, पोटगल, शून्यमध्य (पोला होने से), धमन (इसके पोले काण्ड की नलिकायें बनाते हैं); हिं०-नरकट; बं०-नल; म०-नल, देवनल; गु०-नाली।

स्वरूप—यह बाँस के सदृश किन्तु छोटा पतला होता है। इसका पौधा १०-१२ फुट ऊँचा होता है तथा काण्ड पतला ईख के सदृश होता है। **काण्ड**-पर्व पीताभ तथा पर्वान्तर भाग खोखला होता है। **पत्र**-बांस के सदृश किन्तु छोटे और पतले होते हैं। **पुष्पदंड** धूसरवर्ण होता है। भौमिक काण्डों द्वारा इस पौधे की वृद्धि होती है और शीघ्र बढ़कर यह झाड़दार हो जाता है। इसके पर्वान्तर खोखले भाग से हुक्के तथा वाद्ययंत्र की नलिकायें बनाई जाती हैं।

जाति—इसकी एक और जाति फ्रैगमाइटिस कर्क (Phragemites Karka) है। इसके पर्व छोटे होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह आनूपदेश में अधिक होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। स्निग्ध होने से वात, मधुर-शीत होने से पित्त तथा कषायतिक्त होने से कफ का शामक है। विशेषतः वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक तथा रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन और वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज, विशेषतः वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विसर्प तथा अन्य चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा अन्य रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यवृद्धयर्थ इसके मूल का क्वाथ देते हैं। शुक्रदौर्बल्य में भी लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ तथा मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

तापक्रम—दाह की शान्ति के लिए प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ–५–१० तोला।

विशिष्ट योग—तृणपंचमूलक्वाथ, पंचतृणक्षीर।

× × × ×

'वंशपत्रो मृदुच्छदः। छिद्रांत्रो नर्तको रन्ध्री मृत्युपुष्पो विभीषणः॥'

'नलस्तु मधुरस्तिक्तः कषायः कफरक्तजित्।' (भा. प्र.)

'नलः शीतः कषायश्च पित्तमूत्रविनाशनः।' (ध. नि.)

'देवनालोऽतिमधुरो वृष्य ईषत् कषायकः। नलः स्यादधिको वीर्ये शस्यते रसकर्मणि॥'
(रा. नि.)

२७५. रोहिष

परिचय

गण—स्तन्यजनन।

कुल—यवकुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लै०-साइम्बोपोगन मार्टिनि (Cymbopogon Martini); सं०-रोहिष, कत्तृण, सौगन्धिक; हि०-रूसाघास, मिरचागंध; बं०-अगियाघास; म०-रोहिष गवत; गु०-रोंसडो; अं०-रूसा ग्रास (Rusa Grass)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** ५–६ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**–चिकना, पत्रयुक्त, प्रायः रक्ताभ होता है। **पत्र**–अग्र की ओर क्रमशः पतले होते हैं। पत्तियों से गुलाब के समान सुगन्ध आती हैं। **पुष्पमंजरी**–रक्ताभ पत्रकोष से आवृत होती है। वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल आते हैं। दूर से देखने पर यह क्षुप धान के पौधे के सदृश दिखता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, दक्षिणभारत, लंका और बर्मा में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों से एक सुगन्धि तैल निकाला जाता है। इसे गैनिऑल (Ganiol) कहते हैं। इसका वर्ण रक्ताभ नील, गन्ध गुलाब के सदृश तथा स्वाद अदरख के समान होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, चर्मरोग तथा खालित्य में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विसूचिका, शूल तथा कृमि में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा वातरक्त आदि रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और प्रतिश्याय में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यवृद्ध्यर्थ यह प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में देते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, तैल।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला; तैल-१-२ बूँद।

× × × ×

'रोहिषं तुवरं तिक्तं कटुपाकं व्यपोहति। हृत्कण्ड्व्याधिवातास्रशूलकासकफज्वरान्॥' (भा. प्र.)

'कत्तृणं श्वासकासघ्नं हृद्रोगशमनं परम्। विसूच्यजीर्णशूलघ्नं कफवातास्रनाशनम्॥' (ध. नि.)

'कत्तृणं कटुकं तिक्तमुष्णं कटु विपाकतः। बलासवातरुधिरकण्डूहृद्रोगनाशनम्॥
कृमिकासज्वरश्वासशूलाजीर्णारुचिप्रणुत्। (कै. नि.)

स्तन्यशमन

२७६. मल्लिका

परिचय

कुल—पारिजात-कुल (ओलिएसी-Oleaceae)।

नाम—लै०-जैस्मिनम् सैम्बक (Jasminum sambac); सं०-मल्लिका, शीतभीरु (शीतकाल में नष्ट हो जाने से); हि०-बेला, मोगरा, मोतिया; बं०-बेल; म०-मोगरा; गु०-मोगरो; अं०-अरेबियन जैस्मिन (Arabian Jasmine)।

स्वरूप—इसका क्षुप २-४ फुट ऊँचा झाड़दार होता है। **पत्र**-अभिमुख क्रम से निकलते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, सुगन्धि होते हैं। **फल**-½ इञ्च लम्बा होता है जिसमें १-२ कृष्णवर्ण बीज होते हैं।

जाति—इसकी तीन प्रमुख जातियाँ होती हैं:—(१) वार्षिकी-इसमें वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं। (२) ग्रैष्मी-इसमें ग्रीष्म ऋतु में फूल आते हैं। (३) अतिमुक्ता-जिसमें मोती के समान छोटे फूल आते हैं। प्रथम और द्वितीय जाति को बेला या मोगरा तथा तृतीय जाति को मोतिया कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत, बर्मा, लंका में प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्पों में एक सुगन्धि तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पुष्प-शोथहर, स्तन्यशमन तथा पत्र-व्रणरोपण और कुष्ठघ्न है।

पाचनसंस्थान—पत्र ग्राही है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—मूल रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—मूल गर्भाशयोत्तेजक और आर्त्तवजनन है। वृष्य भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषज विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—स्तनशोथ पर पुष्पों का कल्क बाँधते हैं और ४-४ घंटे पर बदलते हैं। इससे स्तन्य कम होता है, शोथ तथा पूय की क्रिया बन्द होती है। पत्र का लेप व्रणों में तथा चर्मरोगों में करते हैं। मुखपाक में पत्र-क्वाथ से गंडूष करते हैं। नेत्ररोगों में पुष्प एवं पत्र का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—३-४ कोमल पत्तियों को पीस मिश्री मिला कर रक्तज प्रवाहिका में पिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—मूल रक्तविकारों में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव में मूल का क्वाथ देते हैं। ध्वजभंग में भी मूल का क्वाथ देते हैं और पुष्पों का कल्क वस्तिप्रदेश पर रखते हैं। पुष्पों की मनोहर गन्ध से भी कामशक्ति जाग्रत होती है, अतः इसका माल्य धारण करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, पुष्प।

मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०।

× × × ×

'मल्लिकोष्णा लघुर्वृष्या तिक्ता च कटुका हरेत्। वातपित्तास्यदृग्व्याधिकुष्ठारुचिविषव्रणान्॥' (भा. प्र.)

'मालतीमल्लिके तिक्ते सौरभ्यात् पित्तनाशने।' (सु. सू. ४६)

स्तन्यशोधन

२७७. पाठा

परिचय

गण—स्तन्यशोधन, ज्वरहर, संधानीय (च०); आरग्वधादि, पिप्पल्यादि, बृहत्यादि, पटोलादि, अम्बष्ठादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी-Menispermaceae)।

नाम—लै०-सिसेम्पेलस परेरा (Cissampelos Pareira); सं०-पाठा,

अम्बष्ठा, वरतिक्ता, अविद्धकर्णी, पीलुफला, रसा; हि०-पाढ़, पाढ़ी; बं०-एकलेजा; म०-पाडावल; गु०-काली पाठ; ता०-अप्पाट्टा; ते०-पाडा; अं०-वल्वेट लीफ (Velvet leaf)।

स्वरूप—इसकी वृक्षों सहारे चढ़ने वाली या जमीन पर फैलने वाली **लता** होती है। **पत्र**-एकान्तर, हृदयाकृति, १-४ इञ्च लंबे तथा १-१½ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त लगभग २-४ इञ्च लंबा पीठ की ओर लगा रहता है। पत्रसिरायें-७-११ होती हैं। पत्र एवं शाखायें मृदु श्वेत रोमों से आवृत होती हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, पीताभ श्वेत होते हैं। **फल**-मटर के सदृश, रक्तवर्ण या नारंगी रंग के होते हैं। **बीज** वक्राकृति होते हैं। पुष्प वर्षाऋतु में तथा फल शीतकाल में आते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति होती है जिसे राजपाठा कहते हैं। इसका लैटिन नाम-साइक्लिया पेल्टेटा (Cyclea Peltata) है। स्टिफेनिया ग्लैब्रा (Stephania glabra) स्टिफेनिया हर्नेण्डिफोलिया (Stephania Hernandifolia) नामक क्षुप भी राजपाठा के अन्तर्गत माने जाते हैं। राजपाठा की पत्तियाँ बड़ी होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—सिंध और पंजाब से लेकर दक्षिणभारत और लंका तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मूल में सिसेम्पेलिन (Cissampeline) नामक तत्त्व ½ प्रतिशत पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—त्रिदोषशामक विशेषतः कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणरोपण, विषघ्न और कुष्ठघ्न है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन, ग्राही और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
प्रजननसंस्थान—स्तन्यशोधन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—विषघ्न और बल्य है।
उत्सर्ग—मूत्रमार्ग से यह बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में विशेषतः कफवातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दुष्टव्रण, नाडीव्रण, कण्डू, कुष्ठ तथा सर्पविष में इसके पत्र और मूल का लेप करते हैं। अधकपारी में पाठामूल के स्वरस या चूर्ण का नस्य लेते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, अतिसार और प्रवाहिका में यह अतीव उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, हृद्रोग और शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यदोषों के निवारणार्थ इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—वस्तिशोथ, मूत्रकृच्छ्र तथा अधोग रक्तपित्त में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में उपयोगी है।

तापक्रम—शीतज्वर तथा ज्वरातिसार में देते हैं। दाह की शान्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—कटु पौष्टिक के रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०, चूर्ण—१-२ माशे।

विशिष्ट योग—गंगाधरचूर्ण, कुटजाष्टक क्वाथ।

× × × ×

'पाठोष्णा कटुका तीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः। हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातीसारहृद्रुजः॥
दाहकण्डूविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान्।' (भा. प्र.)
'पाठा तिक्तरसा बल्या विषघ्नी कुष्ठकण्डुनुत्। छर्दिहृद्रोगज्वरजित्त्रिदोषशमनी परा॥
पाठातिसारशूलघ्नी कफपित्तज्वरापहा।' (ध. नि.)
'पाठा······शाकं······विद्याद्ग्राहि त्रिदोषघ्नम्।' (च. सू. २७)

शुक्रजनन

२७८. मुशली

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-एस्पेरेगस ऐडसेन्डेन्स (Asparagus Adscendens); सं०-मुशली; हि०-सफेद मुसली; म०-सफेद मुसली; गु०-धोली मुसली; ता०-तन्निर-विट्टंग; ते०-सल्लोगड्डा; अ०-फा०-शकाकुले हिन्दी।

स्वरूप—यह शतावरी जाति का कण्टकित और स्वावलम्बी क्षुप होता है। **काण्ड**-लम्बा, ऊँचा, मोटा, गोल और स्निग्ध होता है। **शाखायें**-धूसरवर्ण, पोली अवनत और आरोहणशील होती हैं। समस्त क्षुप में $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बे, स्थूल और सीधे काँटे होते हैं। **पत्राभास काण्ड**-$\frac{1}{2}$-२ इञ्च लम्बे, केशाकृति, गोल और ६-२० की संख्या में एक साथ गुच्छों में होते हैं। मूलस्तम्भ से श्वेत, कन्दीय, लम्बगोल मूलों का गुच्छा निकला रहता है। इन मूलों का सफेद मुसली के नाम से व्यवहार होता है।

जाति—मुसली दो प्रकार की होती है-(१) श्वेत और (२) कृष्ण। श्वेत जाति को सामान्यतः मुशली कहते हैं जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। कृष्ण मुशली को 'तालमूली' तथा हिन्दी में स्याह मुसली कहते हैं। यह तालमूली-कुल (ऐमरिलिडेसी-Amaryllidaceae) का क्षुप है और इसका लैटिन नाम कर्क्युलिगो ऑर्किआयडिस

(Curculigo Orchioides) है। इसका पौधा छोटा होता है। पत्तियाँ ३-४ की संख्या में होती हैं। जो ६-१८ इञ्च लम्बी, रेखाकार होती हैं। पुष्प-पीत और दो पङ्क्तियों में होते हैं। बीज काले और चमकीले होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिम हिमालय, पञ्जाब, गुजरात, बम्बई, रुहेलखण्ड, अवध तथा मध्यभारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ऐस्पैरेगिन, अलब्युमिनयुक्त पदार्थ, पिच्छिल द्रव्य तथा सेल्युलोज होता है। मूलचूर्ण में ७७½ प्रतिशत जलविलेय भाग, प्रक्षिप्तांश १२½ प्रतिशत तथा जल ६ प्रतिशत होता है। काली मुसली में स्निग्ध द्रव्य १¼, राल और कषाय द्रव्य ४, लुआब २०, स्टार्च ४३½, जल ४½ प्रतिशत होता है। शुष्क कन्द से ८½ प्रतिशत भस्म मिलती है जिसमें चूना होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर, विशेषतः वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और शुक्रल है।

मूत्रवहसंस्थान—काली मुसली की विशेष क्रिया मूत्रमार्ग पर होती है। यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में विशेषतः वातपैत्तिक रोगों में देते हैं। अर्श में यह लाभकर होता है।

संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह और नपुंसकता में यह अतीव उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—काली मुसली का प्रयोग मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, कृशता में प्रयुक्त होता है। इसमें स्टार्च नहीं होता अतः इक्षुमेह के रोगियों को पथ्यरूप में दिया जा सकता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे।

विशिष्ट योग—मुशलीपाक, मुशल्यादि योग।

× × × ×

"मुशली मधुरा वृष्या वीर्योष्णा बृंहणी गुरुः। तिक्ता रसायनी हन्ति गुदजान्यनिलं तथा॥"

(भा. प्र.)

२८०. शतावरी

परिचय

गण—बल्य, वयःस्थापन, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगंधादि, कंटकपंचमूल, पित्तप्रशमन (सु०)।

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-ऐस्पेरेगस रेसिमोसस (Asparagus racemosus); सं०-शतावरी, शतमूली (गुच्छे में अनेक मूल होने से), शतवीर्या, बहुसुता, अतिरसा; हि०-सतावर; बं०-शतमूली; म०-गु०-शतावरी; ता०-सडावरी; ते०-चल्ला; अं०-वाइल्ड ऐस्पेरेगस (Wild Asparagus)।

स्वरूप—इसकी कण्टकयुक्त आरोहिणी **लता** होती है। शाखायें त्रिकोणयुक्त, स्निग्ध और रेखान्वित होती हैं। **पत्र**—अत्यन्त सूक्ष्म सोये के पत्तों के सदृश होते हैं। कांटे ¼-½ इच लंबे, कुछ वक्र होते हैं। **पत्राभास काण्ड** ½-१ इञ्च लंबे, २-६ एक साथ गुच्छों में तथा हँसिया के आकार के होते हैं। **पुष्पदंड**—बहुशाखा-प्रशाखायुक्त होता है जिसमें अनेक श्वेत या गुलाबी, सुगंधि और छोटे पुष्प लगते हैं। **फल**—मटर के आकार के होते हैं जिनमें १-२ बीज होते हैं। मूलस्तम्भ से स्थूल, लंबगोल, दोनों सिरों पर नुकीले, श्वेत मूलों का गुच्छा निकलता है। इन्हीं कन्दों का औषध में प्रयोग होता है। वर्षा के प्रारम्भ में इसके मूल से नवीन शाखायें निकलती हैं और फिर पुष्पों का आविर्भाव होता है। शरद् ऋतु में फल आते हैं।

जाति—इसकी एक और बड़ी जाति होती है जिसे महाशतावरी, सहस्रमूली, सहस्र-वीर्या आदि कहते हैं। इसकी लता बड़ी होती है तथा कन्द लंबे और संख्या में अधिक होते हैं। इसका लैटिन नाम A. Sarmentosa है। एक और जाति कंटकरहित होती है जो हिमालय में ८-९ हजार फीट की ऊँचाई तक मिलती है। इसका लैटिन नाम A. Filicinus है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः उत्तर भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके ताजे कन्द में जलविलेय भाग ५२½ प्रतिशत, प्रक्षिप्तांश ३३½ प्रतिशत और जल ९ प्रतिशत होता है। जलविलेय भाग में ७ प्रतिशत शर्करा होती है। कुछ पिच्छिलद्रव्य भी होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शामक, वेदनास्थापन और बल्य है। पत्र-दाहप्रशमन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और वेदनास्थापन तथा नाड़ीबलदायक है।

पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तपित्तशामक और शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भपोषक, स्तन्यजनन तथा शुक्रल है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह बल्य और रसायन है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इससे सिद्ध तैलों का प्रयोग शिरोरोग, वातव्याधि तथा दौर्बल्य में करते हैं। पत्र का लेप विस्फोट तथा मसूरिका में करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क दौर्बल्य, अपस्मार, मूर्च्छा और वातव्याधि में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य; शूल, गुल्म, ग्रहणी और अर्श में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त और शोथ में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्राव, रक्तप्रदर, स्तन्यक्षय तथा शुक्रदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

सात्मीकरण—क्षयरोग तथा दौर्बल्य में उपयोगी है।

नेत्ररोग—दृष्टिमांद्य में इसका सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला, क्वाथ-५-१० तोला, चूर्ण-३-६ माशे।

विशिष्ट योग—शतावरी घृत, फल घृत, नारायण तैल, विष्णु तैल, शतमूल्यादि लौह, शतावरी पानक।

× × × ×

'शतावरी गुरुः शीता तिक्ता स्वाद्वी रसायनी।
मेधाग्निपुष्टिदा स्निग्धा नेत्र्या गुल्मातिसारजित्॥
शुक्रस्तन्यकरी बल्या वातपित्तास्रशोथजित्।
महाशतावरी मेध्या हृद्या वृष्या रसायनी॥
शीतवीर्या निहन्त्यर्शोग्रहणीनयनामयान्।
तदंकुरस्त्रिदोषघ्नो लघुरर्शःक्षयापहा' ॥' (भा. प्र.)

'वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी। महती चैव हृद्या च मेध्याग्निबलवर्धिनी॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी वृष्या शीता रसायनी। कफपित्तहरास्तिक्तास्तस्या एवांकुराः स्मृताः॥'
(सु. सू. ४६)

'शतावरी हिमा तिक्ता रसे स्वादुः क्षयास्रजित्। वातपित्तहरी वृष्या रसायनवरा स्मृता॥'
(ध. नि.)

'भुक्त्वा वरीं क्षीरयुतां विलासी भुंक्ते शतं सुन्दरि! सुन्दरीणाम्।' (वै. जी.)

२८१. मखाना

परिचय

कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी-Nymphoeaceae)।

नाम—लै०-इयुरिएल् फेरोक्स (Euryale Ferox); सं०-मखान्न (यज्ञ में प्रयुक्त अन्न); पद्मबीजाभ (कमलगट्टे के सदृश); पानीयफल (जल में होने वाला फल); हि०-मखाना; बं०-माखना; पं०-जवेर; म०-मकाणे; गु०-मखाणा; उ०-काँटापद्म; ता०-मल्लानिपद्मन; अं०-फॉक्स नट (Fox nut)।

स्वरूप-यह जल में उत्पन्न होने वाला कुमुद के सदृश क्षुप है। इसके पत्र,

नाल तथा फल पर कांटे होते हैं। **पत्तियाँ** पानी पर तैरती हैं। **पत्र**–१–४ **फुट** व्यास के, वृत्ताकार, वक्र कण्टकों से आवृत होते हैं। **पुष्प**–१–२ इंच लम्बा, बाहर से बैगनी रंग के तथा भीतर रक्तवर्ण होते हैं। पुष्पदंड लम्बा कंटकावृत होता है और जल के कुछ ऊपर तक उठा रहता है। स्त्रीकेशर चक्राकार में स्थित तथा परस्पर पूर्णतः संयुक्त और कर्णिका में घँसे हुये होते हैं। आभ्यन्तर दल तथा पुंकेशर अनेक होते हैं। पुष्प वर्षाऋतु में आते हैं। **फल**–गोल या अण्डाकार होता है जिसमें ४–२० कृष्णवर्ण बीज होते हैं। इन्हीं बीजों को भून कर हथौड़ी से कूटते हैं और इस प्रकार प्रस्तुत लावा बाजार में मखाना के नाम से मिलता है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः उत्तर विहार (मिथिला) के तालाबों में होता है। उत्तरभारत में भी होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—मधुर, कषाय, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक विशेषतः वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म–पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है। अधिक मात्रा में लेने पर विष्टम्भी होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—यह प्रजास्थापन, शुक्रजनन और शुक्रस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—भुना हुआ मखाना मूत्र को कम करता है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों विशेषतः वातपैत्तिक रोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग–पाचनसंस्थान—ग्रहणीरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गर्भावस्था, प्रदर, शुक्रमेह और प्रसव के बाद इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका लावा प्रमेह में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—½–१ तोला।

विशिष्ट योग—पौष्टिक चूर्ण।

× × × ×

'मखान्नं पद्मबीजस्य गुणैस्तुल्यं विनिर्दिशेत्।' (भा. प्र.)

'विष्टम्भि वृष्यं रूक्षं च गर्भसंस्थापकं परम्। कफवातहरं बल्यं ग्राहि पित्तास्रदाहनुत्॥' (भा. प्र.)

२८२. कोकिलाक्ष

परिचय

गण—शुक्रशोधन (च०)।

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-ऐस्टराकैन्था लॉंगिफोलिया (Asteracantha Longifolia); सं०-कोकिलाक्ष, इक्षुरक; हि०-तालमखाना; वि०-गोखुला; बं०-कुले खाडा, काँटाकलिका; म०-तालिमखाना; गु०-एखरो; ता०-निर्मल्लि; ते०-निगुरी तेरू।

स्वरूप—इसका क्षुप २-४ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-ईख के सदृश पर्वयुक्त और शाखारहित, चतुष्कोण और पतला होता है। पर्वग्रन्थि पर चारों ओर ५-६ अवृन्त, लम्बे पत्र होते हैं तथा पीतवर्ण का १ इञ्च लम्बा तीक्ष्ण कंटक होता है। पत्रों के ऊपर काण्ड के चारों ओर नील या बैंगनी रंग के पुष्प निकलते हैं। प्रत्येक बीजकोष में छोटे लाल रंग के ४-८ बीज होते हैं। बीजों को मुंह में रखने से पिच्छिल हो जाते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—कहीं कहीं श्वेतपुष्प कोकिलाक्ष भी मिलता है।

उत्पत्तिस्थान—यह जलासन्न प्रदेश में, तालाबों या नहरों के किनारे तथा धान के खेत में बिहार और बंगाल में प्रचुर परिमाण में होता है। कोंकण प्रदेश में भी अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ३१ प्रतिशत अलब्युमिनॉयड, कुछ क्षारतत्त्व तथा २१ से २३ प्रतिशत एक पीताभ, मधुर, स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—बीज नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—यकृदुत्तेजक तथा अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन है। शोथहर भी है।

प्रजननसंस्थान—बीज वृष्य हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूल, बीज तथा पत्र मूत्रल हैं।

सात्मीकरण—बीज बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों (यथा तृष्णा, दाह आदि) में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—बीजों का प्रयोग नाडीदौर्बल्य, वात व्याधि तथा आमवात में होता है।

पाचनसंस्थान—कामला, यकृदुदर तथा आनाह में मूल और पत्र का प्रयोग करते हैं। उदररोग में क्षार भी देते हैं। प्रवाहिका में इसबगोल के समान इसके बीजों का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, वातरक्त और रक्ताल्पता में प्रयुक्त होता है। वातरक्त में पत्रशाक भी खिलाते हैं। शोथ में मूल क्वाथ या पंचांगक्षार गोमूत्र से देते हैं।

प्रजननसंस्थान—बीजों का चूर्ण शुक्रदौर्बल्य तथा क्लैब्य में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, बस्तिशोथ में मूल, पत्र एवं बीजों का प्रयोग करते हैं। पंचांग का क्षार भी मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में बीजों का चूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, बीज, क्षार।

मात्रा—पंचांगस्वरस-२-५ तो०; क्वाथ—५-१० तो०; बीजचूर्ण—१-३ माशे, क्षार—२-५ रत्ती।

विशिष्ट योग—पौष्टिक चूर्ण।

× × × ×

'कण्टकी दीर्घपत्रश्च पल्वलेषु प्ररोहति।' (शि.)

'क्षुरकः शीतलो वृष्यः स्वाद्वम्लः पिच्छिलस्तथा।
तिक्तो वातामशोथाश्मतृष्णादृष्ट्यानिलास्रजित् ॥' (भा. प्र.)

'कोकिलाक्षस्तु मधुरः शीतः पित्ताश्मरिप्रणुत्। वृष्यः कफहरो बल्यो रुच्यः संतर्पणः परः ॥'
(रा. नि.)

'स्वयंगुप्तेक्षुरकयोः फलचूर्णं सशर्करम्। धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत् ॥'
(सु. चि. २६)

'कोकिलाक्षकनिर्यूहः पीतस्तच्छाकभोजिना। कृपाभ्यास इव क्रोधं वातरक्तं नियच्छति ॥'
(वा. चि. २२)

'शोथनुत् कोकिलाक्षस्य भस्ममूत्रेण वाम्भसा।' (च. द.)

२८३. मुञ्जातक

परिचय

कुल—मुञ्जातक-कुल (ऑर्किडेसी-Orchidaceae)।

नाम—लै०-युलोफिया कॉम्पेस्ट्रिस (Eulophia Compestris); सं०-मुञ्जातक; हि०-सालम; ते०-गोरु चेट्टु; अ०-सालब मिश्री; अं०-सालेप (Salep)।

स्वरूप—इसका क्षुप ८-१२ इञ्च ऊँचा होता है। **पत्र**—लंबे होते हैं और उनका अग्रभाग क्रमशः नुकीला होता है। **पुष्पदंड** मूलप्रदेश से निकलता है और लगभग १-२ फुट लंबा, कठिन और सीधा होता है। इस पर अनेक **पुष्प** बड़े, नील या बैंगनी रंग के लगते हैं। वसन्त में पुष्प लगते हैं। इसका **कन्द** शृंगाकार मुशली के सदृश होता है और खाने में स्वादिष्ट तथा मधुर होता है।

वक्तव्य—संप्रति बाजार में जो सालम मिलता है वह अनेक तत्सम क्षुपों से एकत्रित किया जाता है। उपर्युक्त क्षुप के अतिरिक्त, E. Nuda तथा E. Virens नामक क्षुपों से भी गृहीत कन्द को सालम के नाम से लेते हैं। यूरोप (जर्मनी) में Orchis Mascula नामक क्षुप से सालम लिया जाता है। फारस, अफगानिस्तान से जो सालम (बादशाही) आता है वह दूसरी जाति (Allium Macleanii) का होता है। भारत में शतावरी, मुशली तथा तालमूली के कन्दों से भी नकली सालम बनाया जाता है।

जाति—कन्द की आकृति के अनुसार इसके दो भेद किये गये हैं। एक प्रकार का कन्द हाथ के पंजे के सदृश होता है, इसे पंजा सालम कहते हैं। दूसरे प्रकार का कन्द रसोनवत् होता है उसे लहसुनिया सालम कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह फारस, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, मिश्र, नेपाल, काश्मीर, नीलगिरि में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में प्रचुर परिमाण में पिच्छिल द्रव्य तथा भस्म २·६ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—वातपित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क एवं नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—लघुपाक तथा ग्राही है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क तथा नाडियों के दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका आदि में यह पौष्टिक के रूप में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—प्रसवोत्तर दौर्बल्य, शुक्रदौर्बल्य एवं व्यवायशोष में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—१-३ माशे।

× × × ×

'बल्यः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणात्मकः। वातपित्तहरः स्वादुर्वृष्यो मुञ्जातकः परम्॥'
(च. सू. २७)

२८४. कपिकच्छू

परिचय

गण—बल्य, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि, वातसंशमन (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-म्युकुना प्रुरिएन्स (Mucuna Pruriens); सं०-कपिकच्छू (इसके रोम शरीर पर लगने से खुजली होती है); आत्मगुप्ता (रोमों से स्वयं सुरक्षित) ऋष्यप्रोक्ता (रीछ के सदृश रोमश); मर्कटी (वानर के सदृश रोमश); कण्डुरा (कण्डू उत्पन्न करने वाली); अव्यण्डा (अण्डाकार बीज); दुःस्पर्शा, प्रावृषायणी (प्रावृट्ऋतु में

होने वाली); शूकशिम्बी; हि०-केवाँच, कौंच; बं०-आलकुशी; म०-खाजकुहिली; गु०-कौचा, कवच; ता०-पुनाइक काली; ते०-नइक कोरान; अ०-काउहेज प्लाण्ट (Cowhage Plant)।

स्वरूप—इसकी **लता**-सेम के सदृश होती है। **पत्र**-छोटे ३-५ इञ्च लम्बे, त्रिपत्रक, सेम की पत्ती के समान और रोमश होते हैं। **पुष्पदण्ड**-½-१ फुट लम्बा, झुका हुआ होता है जिसपर १-१½ इञ्च लम्बे नील या बैंगनी रंग के पुष्प लगते हैं। **शिम्बी**-२-३ इञ्च लम्बी, कुछ वक्र होती है। इसके ऊपर सघन रोम होते हैं जो शरीर से स्पर्श होते ही तीव्र कण्डू, दाह और शोथ उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक शिम्बी में ५-६ पीताभ, धूसरवर्ण, चपटे बीज होते हैं जिनका मुखभाग कृष्ण होता है। बीजमज्जा श्वेतवर्ण होती है। वर्षाऋतु में लता उत्पन्न होती है और शरत्-हेमन्त में पुष्प और फल लगते हैं। इसकी फलियों का शाक और अचार बनाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में राल, टैनिन, स्नेहद्रव्य तथा कुछ मैंगनीज पाये जाते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—मूल और बीज नाडीसंस्थान के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—इसके फलरोम कृमिघ्न हैं।

प्रजननसंस्थान—बीज वृष्य है तथा मूल योनिसंकोचक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूल मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—मूल और बीजचूर्ण नाडीदौर्बल्य और वातव्याधि में प्रयुक्त होते हैं।

पाचनसंस्थान—गण्डूपद कृमि (Round worm) को मारने के लिए १ रत्ती फलरोम गुड़, मधु या मक्खन में मिला कर देते हैं और दूसरे दिन विरेचन देते हैं। इससे कृमि मर कर निकल जाते हैं।

प्रजननसंस्थान—बीज शुक्रदौर्बल्य और क्लैब्य में प्रयुक्त होता है। मूल के क्वाथ में भिगोया पिचु योनिशैथिल्य में रखते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूल का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र तथा अन्य वृक्करोगों में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में अतीव उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—बीज, मूल, रोम।

मात्रा—बीजचूर्ण-३-६ माशे; मूलक्वाथ-५-१० तोला; रोम-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—वानरी गुटिका, माषबलादि पाचन।

'कपिकच्छुर्भृशं वृष्या मधुरा बृंहणी गुरुः। तिक्ता वातहरी बल्या कफपित्तास्रनाशिनी॥
तद्बीजं वातशमनं स्मृतं वाजीकरं परम्।' (भा. प्र.)
'कपिकच्छूभवं मूलं क्वाथयेत् विधिना भिषक्। योनिः संकीर्णतां याति क्वाथेनानेन धारयेत्॥'
(भा. प्र.)

२८५. उटङ्गन

परिचय

कुल—वासक-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-ब्लेफरिस इड्युलिस (Blepharis idulis); हि०-उटङ्गन, उतञ्जन; म०-उटङ्गन; गु०-उटींङ्गण।

स्वरूप—यह एक क्षुप है। इसका फल छोटा, बादामी रंग का स्निग्ध चमकदार और द्विबीजयुक्त है। बीज-हृदयाकृति, चपटे, रोमश होते हैं। जल में भिगोने पर ये रोम जल सोख कर फूल जाते हैं और लुआबदार हो जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मिश्र, ईरान, अफगानिस्तान, सिन्ध और पञ्जाब में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक स्फटिकीय तिक्ततत्त्व, पिच्छिल द्रव्य तथा अलब्युमिन होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—यह शुक्रजनन, शुक्रस्तम्भन तथा कामोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रयोग

दोषकर्म—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा क्लैब्य में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—३-५ माशे।

शुक्रशोधन

२८६. कुष्ठ

परिचय

गण—शुक्रशोधन, लेखनीय, आस्थापनोपग (च०); एलादि (सु०)।

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)

नाम—लै०-सॉसुरिया लैप्पा (Saussurea Lappa); सं०-कुष्ठ, वाप्य (जल-वापी में उत्पन्न होने वाला), उत्पल (उदक में होने से), काश्मीर (काश्मीर में होने वाला); हि०-कूठ, बं०-कुड़; गु०-कठ, उपलेट; ता०-कोष्टम्, गोस्तन; ते०-कुष्टम्; फा०-कुस्त-इ-तल्ख; अ०-कुस्ते हिन्दी; अं०-कॉस्टस (Costus)।

स्वरूप—इसका क्षुप ६–७ फुट ऊँचा जलीय स्थानों में होता है। **काण्ड**—कनिष्ठिका अंगुलि के सदृश स्थूल और दृढ होता है। **पत्रदण्ड**–२–३ फुट लम्बा तथा पत्र बड़े और हृदयाकार होते हैं। **पुष्प**–गोला, गेंदा की तरह, बैंगनी रंग का होता है। **बीज** छोटे, चपटे और वक्र होते हैं। **मूल**–स्थूल और बहुवर्षायु होता है तथा इसी से प्रतिवर्ष नया पौधा उगता है। शरद् ऋतु में पुष्प और फल आते हैं, उसी समय इसके मूल का संग्रह करते हैं। मूल ३–६ इञ्च लम्बे, ½–1½ इञ्च मोटे गाजर के सदृश एक भाग में कुछ फटे हुए तथा तोड़ने पर भीतर सफेद होते हैं। इनका बाहरी पृष्ठ धूसर होता है तथा उस पर अनुलम्ब रेखायें होती हैं। इनमें तीक्ष्ण सुगन्ध होती है जिसके कारण चीन देश में यह धूप की तरह जलाये जाते हैं।

जाति—कुछ लोग कुष्ठ के दो भेद मानते हैं:—(१) कुस्त–इ–तल्ख (कटु), (२) कुस्त–इ–शीरीं (मधुर)। लोक में क्रमशः इन्हें कडुआ और मीठा कूठ कहते हैं। शास्त्र में यह वर्गीकरण नहीं मिलता। मधुर कूठ का वर्णन आयुर्वेदीय निघण्टुओं में नहीं मिलता। व्यवहार में मधुर कुष्ठ के नाम पर पुष्करमूल, इरसा या कूठ का अपक्व मूल लिया जाता है। वस्तुतः कुष्ठ कटु ही होता है, उसका अन्य कोई भेद नहीं।

उत्पत्तिस्थान—काश्मीर।

रासायनिक संघटन—मूल में तीक्ष्ण सुगन्धि तैल १·५%, ग्लुकोसाइड, सॉस्युरिन (Saussurine) नामक क्षारतत्त्व ०·०५%, राल ६%, किंचित् तिक्त पदार्थ, कुछ टैनिन, १८ प्रतिशत इन्युलिन, एक स्थिर तैल, पोटाशियम नाइट्रेट, शर्करा आदि होते हैं। पत्र में किञ्चित् क्षारतत्त्व होता है किन्तु सुगन्धि तैल नहीं होता। मूल को जलाने से ३½ प्रतिशत भस्म मिलती है जिसमें प्रचुर मैंगनीज होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दुर्गन्धनाशन, जन्तुघ्न, वेदनास्थापन, वर्ण्य तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह आक्षेपशामक और वातहर है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, शोथहर और उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कफनिःसारक और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक, आर्त्तवजनन, स्तन्यजनन, शुक्रशोधन और वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्णव्रणों में, शिरःशूल, दन्तशूल, सन्धिशोथ, आमवात तथा चर्मरोगों में कुष्ठ का चूर्णन, लेप तथा धूपन करते हैं। वर्ण-विकार तथा खालित्य में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि तथा अपस्मार, आक्षेपक आदि आक्षेप-प्रधान रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, विष्टम्भ, उदररोग, शूल, अतिसार और विसूचिका में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, आमवात आदि रक्तविकार, शोथ तथा हृद्दौर्बल्य में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, पार्श्वशूल, कुकुरखाँसी, हिक्का तथा श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध तथा कष्टार्त्तव में तथा प्रसूति के बाद स्तन्यवृद्ध्यर्थ इसका प्रयोग करते हैं। शुक्रशोधन एवं वाजीकरण के लिए इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—२-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—कुष्ठादि चूर्ण, कुष्ठादि क्वाथ, कुष्ठादि तैल।

परीक्षा—जिसे तोड़ने पर कुछ भी कणवत् भाग न निकले और जो मृगशृंग के सदृश दृढ़ और चिकना हो वही कूठ उत्तम और ग्राह्य है।[1]

× × × ×

'कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु। हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान्॥' (भा.प्र.)

'कुष्ठं वातकफश्वासकासहिक्काज्वरापहम्।' (रा. व. नि.)

'कुष्ठं वातहराभ्यंगोपयोगिनाम्।' (च. सू. २५)

'यः कुष्ठचूर्णं रजनीविरामे मध्वाज्यसंमिश्रितमत्ति नित्यम्।
स मत्तमातंगबलः सुगन्धिर्वाग्मी चिरायुश्च भवेन्मनुष्यः॥' (रा. मा.)

---

१. 'भंगे मनागपि न चेन्निपतन्ति ततः कणाः। मृगशृङ्गोपमं कुष्ठम्' (च. द.)

अष्टम अध्याय
मूत्रवहसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य
मूत्रविरेचनीय
२८७. पुनर्नवा
परिचय

गण—वयःस्थापन, कासहर, स्वेदोपग, अनुवासनोपग (च०); विदारिगंधादि (सु०)।

कुल—पुनर्नवा-कुल (निक्टेजिनेसी-Nyctaginaceae)।

नाम—लै०-बोर्हेविया डिफ्युजा (Boerhavia Diffusa); सं०-पुनर्नवा (पुनः पुनर्नवा भवति इति-जो फिर से प्रतिवर्ष नवीन हो जाय; शरीरं पुनर्नवं करोति-जो रक्तवर्धक होने से शरीर को पुनः नया बना दे); वर्षाभू (वर्षाऋतु में होने वाला), शोथघ्नी (शोथनाशक); हि०-गदहपुरना, गदहबिण्डो, बिसखपरा; बं०-पुनर्नवा, गदापुण्या; पं०-इटसिट; म०-घेटुली, खापरा; गु०-राती साटोडी, बसेडो; ता०-सुकुएट्टि; ते०-आतातासामिदि; अ०-हन्दकूकी; अं०-स्प्रेडिंग हॉगवीड (Spreding Hogweed)।

स्वरूप—इसकी बहुवर्षायु प्रतानिनी **लता**-२-३ फुट लम्बी होती है। वर्षा में इसके नये पौधे निकलते हैं और ग्रीष्म में सूख जाते हैं। **पत्र**-१-१½ इञ्च लम्बे, गोल या अण्डाकार, मांसल, मृदुरोमश, विपरीत क्रम से होते हैं। **पुष्प**-सूक्ष्म, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-½ इञ्च लम्बे, गोलाकार होते हैं जिनमें चौलाई के बीजों की तरह बीज होते हैं। **मूल**-स्थूल, दृढ़ और श्वेत होता है। शीतकाल में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—यह दो प्रकार का होता है—१. श्वेत २. रक्त। श्वेत पुनर्नवा का वर्णन ऊपर किया गया है। रक्त पुनर्नवा का क्षुप, पत्र तथा पुष्प रक्ताभ होते हैं। इसकी लता भी लम्बी होती है। यह श्वेत की अपेक्षा अधिक सुलभ है। राजनिघण्टु ने एक नील जाति का भी उल्लेख किया है किन्तु अब यह नहीं मिलता।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें पुनर्नवीन (Punarnavine) नामक एक किञ्चित् तिक्त क्षारतत्त्व, पोटाशियम नाइट्रेट ०·४१ प्रतिशत, स्नेहद्रव्य पाये जाये हैं। भस्म में सलफेट, क्लोराइड, नाइट्रेट और क्लोरेट पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर, तिक्त, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण। रक्तपुनर्नवा, कटुविपाक, शीतवीर्य है।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। मधुर तिक्त कषाय होने से पित्त का तथा उष्ण होने से कफवात का शमन करता है। शीत होने से रक्त पुनर्नवा वातवर्धक और पित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, रेचन है। बड़ी मात्रा में वामक है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तवर्धक और शोथहर है। इससे हृदय की क्रिया तीव्र होती है, रक्तभार बढ़ता है।

श्वसनसंस्थान—कासहर है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज वृष्य हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है। रक्तभार बढ़ने से मूत्रनिर्माण अधिक होता है।

त्वचा—स्वेदजनन है। कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथरोग में पुनर्नवा से स्वेदन, उपनाह, लेप या इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं। नेत्ररोगों में इसका स्वरस देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदररोग तथा विबन्ध में पुनर्नवा पिलाते हैं। वमन के लिए ५ माशे की मात्रा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, पांडु और शोथ के लिए यह अतीव उपयोगी है। शोथ में इसके पत्र का शाक भी खिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और उरःक्षत में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर में रक्तपुनर्नवा का मूलस्वरस तथा वाजीकरणार्थ बीजों का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः चतुर्थक में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। सर्प, मूषिक आदि विषों में पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, पंचांग (मूल का प्रयोग अधिक कार्यकर है)।

मात्रा—मूलस्वरस-६ माशे-१ तो०; बीजचूर्ण—१-३ माशे; पंचांगस्वरस—१-२ तो०।

विशिष्ट योग—पुनर्नवाष्टक, पुनर्नवासव, पुनर्नवाम्बु; पुनर्नवादिमंडूर।

× × × ×

'कटुः कषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा। शोफानिलगरश्लेष्महरी ब्रध्नोदरप्रणुत् ॥'
(भा. प्र.)

'पुनर्वारुणा तिक्ता कटुपाका हिमा लघुः। वातला ग्राहिणी श्लेष्मपित्तरक्तविनाशिनी ॥'
(भा. प्र.)

'पुनर्नवा भवेदुष्णा तिक्ता रूक्षा कफापहा। सशोथपांडुहृद्रोगकासोरःक्षतशूलनुत् ॥' (ध. नि)

'वर्षाभूर्मधुरा तिक्ता कषाया कटुका सरा। क्षारोष्णा दीपनी रूक्षा शोफानिलकफापहा ॥
हृद्या रुच्या जयेदर्शोव्रणपाण्डुगरोदरम् ।' (कै. नि.)

'उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च। तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोथनाशनम् ॥'
(सु. सू. ४६)

'पुनर्नवस्यार्धपलं नवस्य पिष्टं पिबेद्यः पयसार्धमासम्।
मासद्वयं तत्त्रिगुणं समां वा जीर्णोऽपि भूयः स पुनर्नवः स्यात् ॥' (यो. र.)

२८८. गोक्षुर

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय, शोथहर, कृमिघ्न, अनुवासनोपग (च०); विदारिगन्धादि, वीरतर्वादि, लघुपञ्चमूल, कण्टकपञ्चमूल, वाताश्मरीभेदन (सु०)।

कुल—गोक्षुर-कुल (जाइगोफिलेसी-Zygophyllaceae)।

नाम—लै०-ट्रिबुलस टिरेस्ट्रिस (Tribulus Terrestris); सं०-गोक्षुर (छुरे की तरह तेज काँटे खेतों में चरने वाले पशुओं के पैर में गड़ते हैं और क्षत करते हैं); श्वदंष्ट्रा (कुत्ते की दंष्ट्रा-Canine Teeth-के सदृश तीक्ष्ण कंटक युक्त); स्वादुकंटक (मधुर कंटक वाला); त्रिकंटक (तीन काँटों वाला); वनशृङ्गाट (वनों में होने वाला सिंघाड़े की आकृति का फल); चणद्रुम (चने के सदृश क्षुप); इक्षुगन्धिका (ईख के समान मधुर गंध वाला); हिं०-गोखरू, हथचिकार; बं०-गोखरी, गोक्षुर; म०-सराटे, कांटेगोखरू; गु०-न्हाना गोखरू, बेठा गोखरू; पं०-भखड़ा; ता०-नेरुनजि; ते०-पाल्लेरुमुल्लु; फा०-ख़ोरख़सक; अ०-हसक; अं०-स्मॉल कैल्ट्राप्स (Small Caltrops)।

स्वरूप—यह जमीन पर फैलने वाला क्षुप है। २-३ फुट लम्बी इसकी शाखायें चारों ओर फैली रहती हैं। **पत्र**–चने के पत्तों की तरह होते हैं। **पुष्प**–छोटे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**–ईषत् पञ्चकोणीय, २-३ तीक्ष्ण कांटों से युक्त होता है। इसमें अनेक बीज होते हैं। बीजों में एक सुगन्धित तैल होता है। **मूल**–४-५ इञ्च लम्बा, धूसरवर्ण, ईषत्, उग्रगन्धि तथा मधुर होता है। शरद् ऋतु में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं।

जाति—गोक्षुर दो प्रकार का मिलता है:—(१) बृहत् गोक्षुर (बड़ा गोखरू)-यह तिलकुल (पिडैलिएसी-Pedaliaceae) का क्षुप है, इसका लैटिन नाम है—पिडैलियम म्युरेक्स (Pedalium Murex)। (२) लघु गोक्षुर (छोटा गोखरू)-इसका वर्णन ऊपर किया गया है। बड़ा गोखरू के फल और पत्र छोटे गोखरू से बड़े होते हैं। फल तिक्त होने के कारण इसे तिक्त गोक्षुर भी कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः उत्तर और दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—फल में एक क्षारतत्त्व, ३·५ प्रतिशत स्थिर तैल, सुगंधित तैल, राल तथा नाइट्रेट होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह आमाशय के लिए बल्य, अनुलोमन, ग्राही तथा कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में सारक है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तपित्तशामक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन तथा वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीनाशन तथा मूत्रल है। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि पर्याप्त प्रमाण में स्थित नाइट्रेट तथा सुगंधि तैल के कारण यह मूत्रल क्रिया करता है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, वेदनायुक्त विकार, वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निदौर्बल्य, संग्रहणी, अर्श तथा कृमि में देते हैं। विबन्ध में बड़ी मात्रा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त तथा शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गर्भपात, योनिव्यापत् तथा क्लैब्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र तथा बस्तिशोथ में दिया जाता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल, पंचांग।

वक्तव्य—चूर्ण के लिए फल तथा क्वाथ के लिए मूल और पंचांग लेते हैं।

मात्रा—फलचूर्ण ३-६ माशे, क्वाथ ५-१० तो०।

विशिष्ट योग—गोक्षुरादि चूर्ण, गोक्षुराद्यवलेह, गोक्षुरादि गुग्गुलु, गोक्षुरादि क्वाथ, दशमूलारिष्ट।

× × × ×

'गोक्षुरः शीतलः स्वादुर्बलकृद्बस्तिशोधनः। मधुरो दीपनो वृष्यः पुष्टिदश्चाश्मरीहरः॥
प्रमेहश्वासकासार्शःकृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्।' (भा. प्र.)

'गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम्।' (च. सू. २४)

'त्रिकण्टकस्य बीजानि चूर्णं माक्षिकसंयुतम्। अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिबेत्॥'
(सु. चि. ७)

'चूर्णं श्वदंष्ट्राफलवाजिगन्धाविनिर्मितं माक्षिकसंप्रयुक्तम्।
क्षीरेण सार्धं परिपीयमानं शोथं च कासं च निहन्ति पुंसाम्।' (रा. मा.)

२८६. कुश

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय, स्तन्यजनन, मधुरस्कन्ध (च०), तृणपंचमूल (सु०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लै०-एराग्रॉस्टिस साइनोसुरायडिस (Eragrostis Cynasuroides); सं०-कुश, सूच्यग्र (पत्राग्र सूचीमुख के सदृश तीक्ष्ण); यज्ञभूषण (यज्ञ में बहुशः प्रयुक्त होने वाला)। हि०-कुश।

स्वरूप—यह १-२ फीट ऊँचा, दृढ बहुवर्षायु क्षुप होता है। **मूल** दृढ और गहराई तक होता है। मूलस्तम्भ से लगभग १८ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े, अग्रभाग पर सुई के

सदृश तीक्ष्ण पत्र निकलते हैं। पत्रधार पर सूक्ष्म, दृढ रोम होते हैं जिनके कारण यह तीक्ष्ण होता है। **पुष्पदण्ड**—६–१८ इञ्च लम्बा, सीधा होता है। **बीज**—$\frac{1}{4}$ लम्बे, अण्डाकार, चपटे होते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प तथा शीत ऋतु में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति 'दर्भ' कहलाती है। इसके पत्ते लम्बे और खर होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह खुले मैदानों में भारत में सर्वत्र पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न है। स्निग्धता के कारण वात का, माधुर्य और शैत्य के कारण कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—स्तम्भन, तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीनाशन एवं मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—रक्तातीसार, प्रवाहिका एवं तृष्णा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर तथा स्तन्यक्षय में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी तथा बस्तिशूल में दिया जाता है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—दाह में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ ५–१० तो०।

विशिष्ट योग—तृणपंचमूल क्वाथ, कुशावलेह, कुशाद्य घृत।

× × × ×

'दर्भद्वयं त्रिदोषघ्नं मधुरं तुवरं हिमम्। मूत्रकृच्छ्राश्मरीतृष्णाबस्तिरुक्प्रदरास्रजित्॥' (भा.प्र.)

'दर्भः स्निग्धो हिमः स्वादुः कषायः कफपित्तहा। विसर्पदाहकृच्छ्राश्मतृष्णाबस्तिविकारनुत्॥' (कै. नि.)

'कुशमूलं समुद्धृत्य पेषयेत्तण्डुलाम्बुना। एतत् पीत्वा त्र्यहान्नारी प्रदरात् परिमुच्यते॥' (वृन्द)

२९१. कास

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय, स्तन्यजनन (च०); तृणपंचमूल (सु०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लै०-सैकरम स्पॉन्टेनियम (Saccharum Spontaneum)। सं०-कास, काण्डेक्षु, श्वेतचामर, इषीका। हि०-कास, बं०-केशे; म०-कसई; गु०-कांसड़ो; अं०-थैचग्रास (Thatch-grass)।

स्वरूप—इसका क्षुप आर्द्र और निम्न भूमि में विशेषतः होता है। यह ५-७ फुट (कभी कभी १५-२० फीट तक भी) लम्बा होता है। **काण्ड** ठोस होता है। **पत्र**—पतले होते हैं और उनका किनारा मुड़ा होता है। **पुष्पदण्ड**—१-२ फुट लम्बा होता है जिस पर श्वेतवर्ण, मृदु पुष्प गुच्छों में होते हैं। शरद् ऋतु में पुष्प और शीत ऋतु में फल होते हैं।

जाति—इसकी एक बड़ी जाति होती है जिसे 'खागड़' (Reed) कहते हैं। इसका लैटिन नाम S. Fuscum है। इसके काण्ड की कलम बनाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ५ हजार फीट की ऊँचाई तक भारत, लङ्का, दक्षिण यूरोप और आस्ट्रेलिया में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।
प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरेचनीय तथा अश्मरीभेदन है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, उरःक्षत आदि में प्रयुक्त होता है।
पाचनसंस्थान—पैत्तिक अजीर्ण, रक्तातीसार तथा रक्तार्श में देते हैं।
प्रजननसंस्थान—स्तन्यवृद्ध्यर्थ तथा रक्तप्रदर में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में देते हैं।
तापक्रम—दाह में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—क्षयरोग में उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—मूल।
मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०।
विशिष्ट योग—तृणपंचमूल क्वाथ, कुशावलेह, कुशाद्य घृत।

'कासः स्यान्मधुरस्तिक्तः स्वादुपाको हिमः सरः। मूत्रकृच्छ्राश्मदाहास्रक्षतपित्ताचिरोगजित्॥'
(भा॰ प्र॰)

'कासेक्षुर्मधुरस्तिक्तः स्वादुपाको हिमो जयेत्। मूत्रकृच्छ्राश्मरीदाहरक्तपित्तक्षतक्षयान्॥'
(कै. नि.)

२९२. शर

परिचय

गण—तृणपंचमूल (सु०) ।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae) ।

नाम—लै०-सैकरम मुञ्ज (Saccharum Munja); सं०-शर, बाण, मुञ्ज; हि०-सरपत, मूँज, कण्डा; बं०-शर; पं०-काना; म०-तिरकांडे; गु०-तीरकांस ।

स्वरूप—नदियों के किनारे होने वाला यह एक बहुवर्षायु क्षुप है । यह देखने में ईख के समान होता है । **कांड**-१०-१२ फुट ऊँचा, ग्रंथियुक्त होता है । ग्रंथियों के बीच के पर्व लम्बे और पतले होते हैं । **पत्ती**-पतली, चपटी, ३-५ फुट लम्बी, २-३ इञ्च चौड़ी, तीक्ष्णाग्र होती है । **पुष्प**-गुच्छों में तथा पुष्पदंड १-२ फुट लम्बा होता है । **पुष्प**-ईषद्रक्त तथा सूखने पर श्वेत हो जाते हैं । शरद् ऋतु में पुष्प आते हैं । काण्ड, पत्र एवं पत्रकोष से निकाले हुए सूत्रों से रस्सी बनाते हैं ।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं :—(१) भद्रमुञ्ज-जिसे 'शर' भी कहते हैं । इसका वर्णन ऊपर किया गया है । (२) मुञ्ज-इसका आकार-प्रकार छोटा होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत, विशेषतः बिहार, बंगाल आदि में होता है ।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध । **रस**—मधुर, कषाय ।
विपाक—मधुर । **वीर्य**—शीत ।

कर्म

दोषकर्म—त्रिदोषहर है । स्निग्ध होने से वात, शीत होने से पित्त तथा कषाय होने से कफ का शामक है ।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—तृष्णानिग्रहण है ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा रक्तपित्तहर है ।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन तथा वृष्य है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है ।

तापक्रम—दाहप्रशमन है ।

नेत्र—चक्षुष्य है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—तृष्णा, अर्श में प्रयुक्त होता है ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा विसर्प आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है ।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में तथा स्तन्यवृद्ध्यर्थ देते हैं । शुक्रदौर्बल्य में भी देते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है ।

तापक्रम—दाह में देते हैं ।

नेत्र—नेत्ररोगों में प्रयुक्त होता है ।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल ।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला।
विशिष्ट योग—तृणपंचमूल क्वाथ।

× × × ×

'मुञ्जद्वयं तु मधुरं तुवरं शिशिरं तथा। दाहतृष्णाविसर्पास्रमूत्रकृच्छ्राक्षिरोगहृत्॥
दोषत्रयहरं वृष्यं मेखलासूपयुज्यते।' (भा. प्र.)

२९३. इक्षु

परिचय

गण—तृणपंचमूल (सु०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लै०-सैकरम ऑफिसिनेरम (Saccharum officinarum); सं०-इक्षु, दीर्घच्छद, भूरिरस, असिपत्र, मधुतृण, गुडमूल; हि०-ईख, गन्ना; बं०-इक्षु, आक, म०-ऊँस; गु०-शेरडी; ता०-कारुम्बु; ते०-चेरुकु; अ०-कसबुस्सुकर; फा०-नैशकर; अं०-सुगरकेन (Sugar-Cane)।

स्वरूप—ईख का **क्षुप** सर्वप्रसिद्ध है। इसका **कांड**-६-१२ फुट ऊँचा, स्थूल एवं ग्रंथियुक्त होता है। **पत्र**-पतले, चपटे ३-४ फुट लम्बे, २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्पों** का गुच्छा बड़ा और अनेकशाखायुक्त होता है। वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल होते हैं।

जाति—भावप्रकाश ने १२ जातियों का वर्णन किया है। देशभेद से इसकी अनेक जातियाँ संप्रति होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्णप्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इक्षु में शर्करा, जल, पिच्छिलद्रव्य, राल, वसा, अलब्युमिन, ग्वैनिन तथा कैल्शियम ऑक्जलेट पाया जाता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक तथा कफवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—सारक और कृमिकर है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—श्लेष्मनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य और स्तन्यजनन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—विबन्ध तथा कामला में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा स्तन्यवर्धनार्थ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा वृक्करोगों में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, कृशता में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—स्वरस, मूल, शर्करा।

मात्रा—स्वरस-२-४ तोला; मूलक्वाथ-५-१० तोला।

विशिष्ट योग—तृणपंचमूलक्वाथ।

× × × ×

'इक्षवो रक्तपित्तघ्ना बल्या वृष्या कफप्रदाः। स्वादुपाकरसाः स्निग्धाः गुरवो मूत्रलाः हिमाः॥' (भा. प्र.)

'इक्षवो मधुरा मधुरविपाका गुरवः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तप्रशमनाः कृमिकराश्चेति।' (सु. सू. ४५)

'मत्स्यण्डिका-खण्ड-शर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धा गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च।' (सु. सू. ४५)

२९४. भूम्यामलकी

परिचय

गण—कासहर, श्वासहर (च०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युफॉर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-फिलैन्थस युरिनेरिया (Phyllanthus Urinaria); सं०-भूम्यामलकी, भूधात्री, तामलकी, बहुपत्रा, बहुफला; हि०-भुईआंवला; बं०-भुईं आम्ला; म०-भुई आँवली; गु०-भोंयआँवली।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप ½-१ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**—आँवले की तरह किन्तु कुछ चौड़े होते हैं। **पुष्प**—पीतवर्ण होते हैं। **फल**—लगभग सरसों के बराबर किन्तु आँवले के सदृश, त्रिविभागयुक्त होते हैं। **बीज**—श्वेत और कोमल होते हैं। वर्षाऋतु में यह क्षुप उत्पन्न होता है। शरदृऋतु में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं। ग्रीष्म में यह सूख जाता है।

जाति—यह श्वेत और रक्त दो प्रकार का होता है। रक्त जाति की शाखायें रक्तवर्ण होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्तभारत के उष्ण प्रदेशों (आसाम, बंगाल, बिहार, दक्षिण भारत आदि) में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक कार्यकारी तत्त्व फिलैन्थीन (Phyllanthin) नामक होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप व्रणरोपण, शोथहर और कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, स्तम्भन और तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तपित्तहर है।

श्वसनसंस्थान—कासहर और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयशोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत, व्रणशोथ और चर्मरोगों में लेप करते हैं। इसकी पत्तियों का लेप लवण के साथ अस्थिभग्न में करते हैं। इसका मूल कांजी में पीसकर सेंधानमक के साथ नेत्ररोगों में नेत्र पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, तृष्णा, कामला, अम्लपित्त, अतिसार और प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में देते हैं। हिक्का में इसका मूलस्वरस चीनी के साथ पिलाते हैं या नस्य देते हैं।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज तंडुलोदक में पीस कर रक्त और श्वेतप्रदर में दिये जाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में यह उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—जीर्ण विषमज्वर में इसके पंचांग का क्वाथ देते हैं। इससे ज्वर रुकता है और यकृत्प्लीहा की वृद्धि शान्त होती है।

सात्मीकरण—यह दौर्बल्य और विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस १-२ तो०; चूर्ण ३-६ माशे।

× × × ×

'भूधात्री वातकृत्तिक्ता कषाया मधुरा हिमा। पिपासाकासपित्तास्रकफपाण्डुक्षतापहा ॥' (भा.प्र.)

'तामलकी हिमा तिक्ता कषाया मधुरा लघुः। रोचनी पांडुपित्तास्रकफकुष्ठविषापहा ॥
जयेच्छ्वासतृषादाहहिध्माकासक्षतक्षयान्।' (कै. नि.)

'भूधात्री तु कषायाम्लपित्तमेहविनाशिनी। शिशिरा मूत्ररोगार्त्तिशमनी दाहनाशिनी॥' (रा.नि.)

'भूम्यामलकीबीजं तु पीतं तण्डुलवारिणा। दिनद्वयत्रयेणैव स्त्रीरोगं नाशयेद्ध्रुवम् ॥' (वं.से.)

२६५. कंकोल

परिचय

कुल—पिप्पली-(पाइपरेसी-Piperaceae)।

नाम—लै०-पाइपर क्युवेबा (Piper Cubeba); सं०-कंकोल, गन्धमरिच; हि०-कबाबचीनी, शीतलचीनी; बं०-कबाबचिनि; गु०-चणकबाब; ता०-विलमिलाकू; ते०-टोकामिरियालू, अ०-कबाबेसीनी, हब्बुल-उरुस;[1] फा०-कबाबचीनी; अं०-क्युबेब (Cubeb)।

स्वरूप—इसकी वृक्षरोहिणी **लता** होता है। **पत्र**-५-६ इंच लंबे, अंडाकार होते हैं जिनका अग्रभाग नुकीला होता है तथा पृष्ठभाग पर अनेक सिरायें होती हैं। **पुष्प**-छोटे, गुच्छों में, एकलिंगी होते हैं। **फल**-गोलाकार, मरिच के तुल्य होते हैं। **फल**-उग्रगंधि, कटु होता है तथा उसे मुख में रखने पर ठंढक का अनुभव होता है। शरदृऋतु में पुष्प और फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—जावा, सुमात्रा, मलाया आदि टापुओं में यह होता है। भारत में मैसूर में इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक क्रियाशील तत्त्व ३ प्रतिशत, एक हरिताभ नील उड़नशील सुगंधि तैल १०-१५ प्रतिशत, तैलयुक्त राल ३ प्रतिशत (जिसमें क्युबेबिन (Cubebin) नामक तत्त्व २ प्रतिशत तथा क्युबेबिक अम्ल १ प्रतिशत होता है); वसा, मोम, स्टार्च, तैल, गोंद ८ प्रतिशत तथा भस्म ५ प्रतिशत होते हैं। भस्म में कैल्शियम और मैगनीशियम के मैलेट होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—रक्तोत्क्लेशक, उत्तेजक, शोथहर, दुर्गन्धनाशन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन तथा अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—श्लेष्मनिःसारक और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त स्थानों पर इसका लेप करते हैं। व्रणों में इसका तैल लगाते हैं। मुख तथा गले के रोगों में इसे मुँह में रखते हैं। दाँत के रोगों के लिए इसे दन्तमञ्जनों में मिला कर प्रयोग करते हैं। नपुंसकता में इसका

१. शिश्न पर लेप करने से संभोग में आनन्दजनक होने से इसे हब्बुल-उरुस (नवपरिणीता-वधूफल-Bridegroom's berry) कहते हैं।

लेप शिश्न पर करते हैं। शिरोगत श्लेष्मा तथा शिरःशूल में इसका नस्य देते हैं। शरीर की दुर्गन्ध नष्ट करने के लिए लेपों में इसे डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अरुचि, विष्टम्भ, अर्श में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृदौर्बल्य में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध तथा ध्वजभङ्ग में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण पूयमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे, तैल-५-२० बूँद।

× × × ×

'कङ्कोलं कटु तीक्ष्णोष्णं वक्त्रजाड्यहरं परम्। दीपनं पाचनं रुच्यं कफवातनिकृन्तनम् ॥'
(रा. नि)

'कङ्कोलकं......कटुतिक्तं कफापहम्। लघु तृष्णापहं वृष्यं वक्त्रदौर्गन्धनाशनम् ॥' (सु. सू. ४६)

२९६. हपुषा

परिचय

कुल—देवदारु-कुल (कोनीफेरी-Coniferae)।

नाम—लै०-ज्युनिपेरस कॉम्युनिस (Juniperus Communis)। सं०-हपुषा, हवुषा; हि०-हाऊबेर; पं०-अवहल; अ०-अबहल, हब्बुल अरअर; फा०-समरसरोकोही; अं०-जुनिपर (Juniper)।

स्वरूप—यह छोटा गुल्मवत् **वृक्ष** होता है। इसका **पत्र** भांग के पत्तों की तरह होता है। **फल**-भूरे काले रंग का, गोल, छोटे बेर के सदृश सुगंधि होता है। इसके भीतर ३ या अधिक बीज होते हैं।

जाति—यह दो प्रकार का होता है:—(१) छोटा (२) बड़ा (J. Macropoda)। छोटे की पत्तियाँ छोटी और बड़े की पत्तियाँ बड़ी होती हैं। फल के आकार में भी अन्तर होता है। भावप्रकाश ने भी दो भेद बतलाये हैं:—(१) अश्वत्थ-फल, (२) प्रथमफल (बृहत् फल)[१]

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर हिमालयप्रदेश, नेपाल, भूटान, ईरान आदि में ११ हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फल में एक उड़नशील तैल १.२ प्रतिशत, द्राक्षशर्करा ५०%, राल १०%, एक अस्फटिकीय तत्व (जुनिपरीन-Juniperin); वसा, मोम, प्रोटीड ४%, मैलेट, फार्मिक तथा एसिटिक अम्ल होते हैं। फल में ऑक्जेलिक अम्ल भी होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

---

१ तन्मध्ये प्रथमफलं मत्स्यवद्विस्रगंधकम्। द्वितीयमश्वत्थफलसदृशं मत्स्यगंधि च ॥ (भा.प्र.)

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, शोथहर, व्रणरोपण और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, किंचित् ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन और गर्भाशयशोथहर है। अधिक प्रयोग से गर्भपात हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीव्र मूत्रजनन है। इसका अधिक प्रयोग होने से मूत्र में रक्त आने लगता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना, चर्मरोग तथा व्रणों में लेप किया जाता है। ध्वजभंग में शिश्न पर लेप करते हैं। बाधिर्य में इसका लेप कान में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात आदि वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदरशूल, गुल्म, अर्श, ग्रहणी तथा कृमि में देते हैं। उदररोगों में भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध तथा श्वेतप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण पूयमेह तथा बस्तिशोथ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण-३-५ माशे; तैल-१-२ बूँद (दीपनार्थ), ४-६ बूँद (मूत्रजननार्थ)।

× × × ×

'हपुषा दीपनी तिक्ता कटूष्णा तुवरा गुरुः। पित्तोदरसमीरार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृत्॥'
(भा. प्र.)

हपुषा कटुतिक्तोष्णा गुरुर्वातबलासजित्। प्रदरोदरविड्बन्धशूलगुल्मार्शसां हिता॥'
(रा. नि.)

२६७. अनानास

परिचय

कुल—अनानास-कुल (ब्रोमिलिएसी-Bromeliaceae)।

नाम—लै०-अनानास सेटाइवस (Ananas Sativus); हि०-अनानास, कटहल सफरी; बं०-आनारस; म०-अन्नास; गु०-अनन्नास; ता०-अनाशपाम्फम; ते०-अनानाश; अ०-ऐनुन्नास; अं०-पाइन-ऐपुल (Pine-apple)।

स्वरूप—यह पत्रमय क्षुप है। **पत्र** लम्बा और दन्तुर होता है। **पुष्प**-काण्ड के

ऊपरी भाग में लगता है। **फल**—लम्बगोल, कटहल के आकार का, कच्चे में हरा और पकने पर पीताभ हो जाता है। इसके पृष्ठ भाग पर अनेक नेत्राकार चिह्न होते हैं। **बीज**—अल्प, अण्डाकार, चपटे होते हैं। एक काण्ड में एक ही फल लगता है। ग्रीष्म के अन्त और वर्षा में पुष्प तथा फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह अमेरिका (ब्राजिल) का आदिवासी है। यूरोप में यह १५१३ ई० में गया और भारत में सर्वप्रथम १५६४ ई० में पुर्त्तगालियों द्वारा मालाबार प्रदेश में लाया गया। संप्रति समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें 'ब्रोमेलिन' (Bromelin) नामक तत्त्व होता है। फलस्वरस में मांसतत्त्व को पचाने वाला एक किण्वतत्त्व होता है जो अम्ल और क्षारीय माध्यम में समान रूप से कार्यकारी है। दूध को जमाने वाला भी एक किण्वतत्त्व है। इसकी भस्म में स्फुरकाम्ल, गन्धकाम्ल, चूना, मैगनीशिया, सिलिका, लौह, सोडियम तथा पोटाशियम क्लोराइड होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर (पका फल), अम्ल (कच्चा फल)।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, अनुलोमन और रेचन है। पत्रस्वरस तीव्र रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—कच्चे फल का स्वरस तीव्र गर्भाशयोत्तेजक, और आर्त्तवजनन है। अतिमात्रा में इससे गर्भपात होता है।[1]

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीभेदन और मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अरुचि, उदरशूल, अम्लपित्त, कामला तथा विबन्ध में फलस्वरस देते हैं। कृमिरोग में पत्रस्वरस देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में इसका शर्बत और मुरब्बा बनाकर सेवन कराते हैं। रक्तपित्त में भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में कच्चे या पके फल का रस देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में तृष्णा, दाह तथा सन्ताप की शान्ति के लिए इसका रस पिलाते हैं।

---

१. एक विद्वान् का कथन है कि एक पूरे कच्चे फल का स्वरस पिलाने से तीन मास का गर्भ २२ घंटे में गिर जाता है। दूसरे विद्वान् का कथन है कि पके फल का रस २ पाइण्ट (लगभग १। सेर) पिलाने से आसन्नप्रसवा का गर्भ बाहर आ जाता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र।

मात्रा—फलस्वरस–२–५ तो०; पत्रस्वरस–१–२ तो०।

२९८. बन्दाक

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय (च०); वीरतर्वादि (सु०)।

कुल—बन्दाक-कुल (लॉरेन्थेसी–Loranthaceae)।

नाम—लै०-लॉरेन्थस लाँगिफोलियस (Loranthus Longifolius); सं०-बन्दाक, वृक्षादनी, वृक्षरुहा; हि०-बाँदा; बं०-मान्दा; म०-बांडगुल; गु०-बांदो; अ०-खरक़तान।

स्वरूप—इसका **क्षुप** आम, बबूल आदि के वृक्षों पर पराश्रयी के रूप में होता है। **शाखायें** पतली धूसरवर्ण होती हैं। **पत्र**–३–६ इञ्च लम्बे, १–२ इञ्च चौड़े, अण्डाकार, लसोड़े के पत्र के सदृश होते हैं। **पुष्प**–रक्त, नील या श्वेत होते हैं। **फल** छोटे, रक्तवर्ण, खिरनी के तुल्य, गुच्छों में होते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। उपर्युक्त क्षुप को बड़ा बाँदा तथा लॉरेन्थस ग्लोबुसस (Loranthus globusus) को छोटा बाँदा कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबलदायक, आक्षेपशामक है।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तपित्तशामक, रक्तशोधक तथा शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज व्याधियों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, व्रण एवं क्षत में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार तथा आक्षेपक में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—प्रवाहिका, अतिसार, रक्तातिसार में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—उदुम्बर वृक्ष पर उत्पन्न बन्दाक गर्भस्थापन के लिए देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।
प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प।
मात्रा—स्वरस-१-२ तोला।

× × × ×

'बन्दाकः स्याद्धिमः तिक्तः कषायो मधुरो रसे। मांगल्यः कफवातास्ररक्षोव्रणविषापहः॥' (भा. प्र.)
'वृक्षादनी हिमा तिक्ता कषाया मधुरा रसे। अश्मरीकफवातास्ररक्षोव्रणविषापहा॥' (कै. नि.)
'वन्दाकमौदुम्बरमादरेण वन्ध्यांगना पुष्पविशुद्धिवारे।
पूर्वं विरिक्ता लभते कुमारं छागस्य दुग्धेन सह प्रपीय॥' (वै. म.)

२९९. त्रपुष

परिचय

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-कुकुमिस सेटाइवा (Cucumis Sativa); सं०-त्रपुष, कंटकिफल; सुधावास, सुशीतल; हि०-खीरा; बं०-शशा; म०-तवसें, खिरा; गु०-तांसली; ता०-मुहीवेट्टि; ते०-उजाकाइपा; अ०-क़सद; फा०-ख़ियार; अं०-कॉमन कुकुम्बर (Common Cucumber)।

स्वरूप—यह वर्षायु रोमश **लता** होती है। **पत्रदंड**-२-३ इञ्च लंबा होता है जिस पर गोल पंचकोणविशिष्ट, ३-६ इञ्च व्यास के पत्र लगते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, एकलिंगी होता है। **फल**-हरिताभ श्वेत या हरिताभ पीत, मुख पर कृष्णाभ, रोमश, कंटकित, ४-१२ इञ्च लंबे, १-१½ इञ्च मोटे होते हैं। **बीज** अनेक, लंबे-चपटे, दोनों सिरों पर नुकीले, स्निग्ध और श्वेतवर्ण होते हैं।

जाति—इसकी बड़ी और छोटी दो जातियाँ होती हैं। बड़े का फल बड़ा तथा हरित-पीत होता है। छोटे में फल छोटा, कंटकित और हरित-श्वेत होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है। विशेषतः उष्ण बालुकामय प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में स्थिर तैल, स्टार्च, राल तथा शर्करा होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह पित्तशामक तथा वातकफवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, विष्टम्भी तथा पित्तशामक है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बीज बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, अनिद्रा और शिरःशूल में इसके बीजों का तैल लगाते हैं और फल का कल्क लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा और कामला में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

तापक्रम—दाहप्रशमन के लिए इसके बीज गर्मियों में ठंढाई में दिये जाते हैं।

सात्मीकरण—बीजों का चूर्ण दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, बीज।

मात्रा—स्वरस-२-५ तो०; बीजचूर्ण—१-३ माशे।

× × × ×

'स्वादु पित्तापहं शीतं रक्तपित्तहरं परम्। तद्बीजं मूत्रलं शीतं रूक्षं पित्तास्रकृच्छ्रजित् ॥'
(भा. प्र.)

३००. कर्कटी

परिचय

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)

नाम—लै०-कुकुमिस युटिलिस्सिमस (Cucumis utilissimus); सं०-कर्कटी, एर्वारुक; हि०-ककड़ी; म०, गु०, बं०-कॉकड़ी; अ०-क़िस्सा; फा०-ख़ियार्जः; अं०-कुकुम्बर (Cucumber)।

स्वरूप—इसका क्षुप लगभग खीरे के सदृश होता है। **फल**-बेलनाकार, १ हाथ या उससे अधिक लम्बे हरिताभ श्वेत होते हैं तथा उनके पृष्ठभाग पर उभरी रेखायें लंबाई में होती हैं।

गुण-कर्म

त्रपुष के तुल्य ही इसके गुणकर्म हैं।

× × × ×

'एर्वारुकद्वयं स्वादु रूक्षं तिक्तं हिमं गुरु।
रुच्यं संग्राहि कृच्छ्रघ्नं ज्वरवातकफप्रदम् ॥' (कै. नि.)

३०१. चञ्चु

परिचय

कुल—परुषक-कुल (टिलिएसी-Tiliaceae)

नाम—लै०-कॉर्कोरस एकुटैंगुलस (Corchorus Acutangulus) सं०-चंचु; हि०-चेंच, म०-सुंच, गु०-छुंछ।

स्वरूप—इसके क्षुप बरसात में उगते हैं और उसके बाद सूखने लगते हैं। **कांड**-१-२ फुट लंबा होता है। **पत्र**-१-३ इञ्च लंबे, $\frac{1}{2}$-$1\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े, दन्तुरधार होते हैं।

पुष्प-पीतवर्ण, १-३ की संख्या में एक पुष्पदंड पर होते हैं। **फल**-शृंगाकार होता है जिसके पृष्ठभाग पर छः रेखायें होती हैं। इसके भीतर अनेक विभाग होते हैं जिनमें कृष्णवर्ण, तिक्तरस, पिच्छिल बीज होते हैं। पत्तियों का शाक बनाते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं:-महाचंचु, क्षुद्रचंचु इत्यादि।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर, कषाय। **विपाक**—मधुर।

वीर्य—शीत। बीज कटु और उष्णवीर्य होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—बीज कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—पत्र बल्य, बृंहण है तथा बीज विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य, उदरशूल, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी तथा अर्श में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ट, कंडू में बीज देते हैं।

सात्मीकरण—पत्र का दौर्बल्य में तथा बीजों का प्रयोग मूषकविष में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, बीज।

मात्रा—पत्रस्वरस-१-२ तो०, बीजचूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

'चञ्चुः शीता सरा रूच्या स्वाद्वी दोषत्रयापहा।
धातुपुष्टिकरी बल्या मेध्या पिच्छिलिका स्मृता॥ (भा. प्र.)
'चंचुस्तु मधुरा तीक्ष्णा कषाया मलशोषणी।
गुल्मोदरविबंधार्शोग्रहणीरोगनाशिनी॥' (रा. नि.)
'लघुः पाके च जन्तुघ्नः पिच्छिलो व्रणिनां हितः।
कषायमधुरो ग्राही चुच्चूस्तेषां त्रिदोषहा॥' (सु. सू. ४६)
'चंचुबीजं कटूष्णं च गुल्मशूलोदरार्त्तिजित्।
विषत्वग्दोषकंडूघ्नमाखोर्दुष्टविषापहम्॥' (नि. र.)

अश्मरीभेदन

३०२ पाषाणभेद

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय (च०), वीरतर्वादि (सु०)।

कुल—पाषाणभेद-कुल (सैक्सिफ्रेगेसी-Saxifragaceae)।

नाम—लै०-सैक्सिफ्रेगा लिग्युलेटा (Saxifraga ligulata)। सं०-पाषाणभेद, अश्मघ्न (पत्थरों को फोड़ कर उत्पन्न होने तथा अश्मरी का भेदन करने वाला); हि०-पखानभेद, सिलफड़ा, पथरचूर; म० गु०-पखानभेद; क०-पहांड़।

स्वरूप—इसका छोटा बहुवर्षायु क्षुप पहाड़ की चट्टानों पर फैला होता है। चट्टानों के बीच में जो दरारें होती हैं उनमें से इसका **काण्ड** बाहर निकलता है। **मूल**-रक्तवर्ण, स्थूल लगभग १ इञ्च होता है। इससे अनेक उपमूल निकल कर चारों ओर फैले रहते हैं। **पत्र**-गोलाकार, प्रायः ३-५ इञ्च व्यास के, मांसल, किनारों पर दाँत युक्त, ऊपरी पृष्ठ पर हरे तथा निचले पृष्ठ पर रक्ताभ होते हैं। एकत्र २-४ पत्तियों से अधिक नहीं होती। **पुष्प**-श्वेत, रक्ताभ या नील होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ५-१० हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय प्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में टैनिक एसिड और गैलिक एसिड १५$\frac{1}{2}$%, स्टार्च १९%, खनिजलवण, मेटार्बिन, अल्ब्युमिन ७$\frac{3}{4}$%, ग्लुकोज ५$\frac{1}{2}$%, पिच्छिल द्रव्य २$\frac{1}{2}$%, मोम, सुगन्धिद्रव्य होते हैं। भस्म १२·८७ प्रतिशत होती है जिसमें कैल्शियम ऑक्जलेट अधिक मिलता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।
प्रभाव—अश्मरीभेदन।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन तथा भेदन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक और हृद्य है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ तथा नेत्रभिष्यन्द में इसका लेप करते हैं। बच्चों में दन्तोद्भेद के समय इसे मधु के साथ लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, अर्श, गुल्म और प्लीहा में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—योनिव्यापद् (श्वेत और रक्त प्रदर तथा कष्टार्त्तव) में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र में यह अतीव उपयोगी है। प्रमेह रोग, जिसमें मूत्र गाढा आता है, यह दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—यह अहिफेन विष में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—१-३ माशे।

विशिष्ट योग—पाषाणभेदादिक्वाथ, पाषाणभेदाद्यघृत।

× × × ×

'अश्मभेदो हिमस्तिक्तः कषायो वस्तिशोधनः। भेदनो हन्ति दोषार्शोगुल्मकृच्छ्राश्महृद्रुजः॥ योनिरोगान् प्रमेहाँश्च प्लीहशूलव्रणानि च।' (भा. प्र.)

३०३. वरुण

परिचय

गण—वरुणादि, वाताश्मरीनाशन, कफाश्मरीनाशन (सु०)।

कुल—वरुण-कुल (कैप्परिडेसी-Capparidaceae)।

नाम—लै०-क्रेटिवा रिलिजिओसा (Crataeva Religiosa); सं०-वरुण, तिक्तशाक; हि०-वरुना, बर्ना; बं०-वरुण; म०-हाडवर्णा; गु०-वरणे; ता०-मावलिंगम्; ते०-उरुमत्ति; अं०-थ्रीलीव्ड केपर (Three-leaved caper)।

स्वरूप—इसका बड़ा **वृक्ष**-२५-३० फुट ऊँचा होता है। **छाल**—धूसरवर्ण और तिक्त होती है तथा उसपर अनुप्रस्थ दिशा में चीरे होते हैं। **पत्र**-लगभग ६ इञ्च लम्बे, बेलपत्र के सदृश त्रिपत्रक होते हैं। **पत्रक**-अण्डाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं तथा उनको मसलने से एक प्रकार की तीक्ष्ण गन्ध निकलती है। **पुष्प**-२-३ इञ्च लम्बे, नीलाभ श्वेत, सुगन्धि होते हैं। **फल**-नींबू के सदृश, फलमज्जा पीताभ तथा बीज छोटे होते हैं। फल पकने पर लाल हो जाते हैं। पुष्प वसन्त में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः मध्यभारत, बंगाल, आसाम और मलाबार में होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में सैपोनिन (Saponin) पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, मधुर, कषाय। **विपाक**—कटु।

वीर्य—उष्ण। **प्रभाव**—भेदन।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप राई के समान रक्तोत्क्लेशक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, भेदन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, विद्रधि तथा गंडमाला में इसकी छाल का का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, यकृद्विकार तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, अन्तर्विद्रधि, गण्डमाला आदि में छाल का क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र तथा बस्तिशूल में इसकी छाल या जड़ का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में पत्रस्वरस देते हैं।

सात्मीकरण—पत्रस्वरस दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, पत्र।

मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०; स्वरस १-२ तो०।

विशिष्ट योग—वरुणादि क्वाथ, वरुणाद्य घृत, वरुणाद्य तैल।

× × × ×

'वरुणः पादपः तिक्तः त्रिपर्णो भ्रमरप्रियः। बिल्वपत्रो वृत्तफलो बहुपुष्पः कषायकः॥' (शि०)
'वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्। निहन्ति गुल्मवातास्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः॥ कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः।' (भा. प्र.)
'वरुणः शीतवातघ्नः तिक्तो विद्रधिजन्तुजित्। तथा च कटुरुष्णश्च रक्तदोषहरः परः॥'(ध.नि.)
'माक्षिकाढ्यः सकृत्पीतः क्वाथो वरुणमूलजः। गण्डमालां हरत्याशु चिरकालानुबन्धिनीम्॥ (वृन्द)
'···मूलं वरुणकस्य च। जलेन क्वथितं पीतमपक्वं विद्रधिं जयेत्॥' (वृन्द)

३०४. कुलत्थ

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)

नाम—लै०-डॉलिकस बाइफ्लोरस (Dolichos Biflorus); सं०-कुलत्थ; हि०-कुलथी; बं०-कुर्चिकलाई; म०-कुलथी; गु०-कलथी; ता०-कोल्लु; ते०-उलावालु; अं०-हार्सग्राम प्लाण्ट (Horse-gram Plant)

स्वरूप—यह एक त्रिपर्ण वर्षायु क्षुप है। **पत्र**—१-२ इञ्च लम्बे, अण्डाकार होते हैं। **पुष्प**—½-१ इञ्च लम्बे, पीतवर्ण होते हैं तथा १-३ एक साथ होते हैं। **शिम्बी**—१-२ इञ्च लम्बी, टेढ़ी होती है जिसमें ५-६ धूसरवर्ण चपटे, गोलाकार बीज होते हैं।

वर्षा में पुष्प और शरद् में फल आते हैं। इसके बीज आहार में दाल के रूप में व्यवहृत होते हैं।

जाति—चक्रपाणि ने श्वेत, रक्त, कृष्ण और चित्र ये चार प्रकार कुलत्थ के कहे हैं। वन्य और ग्राम्य भेद से भी यह दो प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत (विशेषतः बम्बई, मद्रास), बर्मा तथा लङ्का में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में प्रोटीन, स्टार्च, तैल, सूत्र, फास्फोरिक अम्ल, तैल, भस्म तथा युरिएज (Urease) पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कषाय।

विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण। **प्रभाव**—भेदन।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा रक्तपित्तकोपक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्वेदापनयन तथा शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह विदाही, अनुलोमन, भेदन और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—लेखन और शुक्रनाशन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अवसाद की अवस्था में जब अतिस्वेद होता है तब कुलथी का चूर्ण शरीर की त्वचा पर मलते हैं। शोथ में इसमें स्वेदन करते हैं। सन्निपात में कर्णमूलशोथ होने पर इसका लेप प्रसिद्ध है। नेत्र रोगों में इसका अञ्जन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आनाह, यकृत्प्लीहा, शूल, गुल्म, अर्श तथा कृमि में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—पीनस, कास, श्वास और हिक्का में प्रयुक्त होता है। हिक्का में इसका धूम्रपान भी करते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रसव के बाद गर्भाशयशोधन के लिए तथा कष्टार्तव में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, बस्तिशूल तथा मूत्रकृच्छ्र में कुलथी का पानी (हिम) पिलाते हैं। अश्मरी में इसका चूर्ण मूली के पत्रस्वरस के साथ भी देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में भी देते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—२-४ माशे।

विशिष्ट योग—कुलत्थादि प्रलेप, कुलत्थयूष, कुलत्थाद्य घृत ।

× × × ×

'कुलत्थः कटुकः पाके कषायः पित्तरक्तकृत् । लघुर्विदाही वीर्योष्णः श्वासकासकफानिलान् ॥
हन्ति हिक्काश्मरीशुक्रदाहानाहान् सपीनसान् । स्वेदसंग्राहको मेदोज्वरक्रिमिहरः सरः ॥'
(भा. प्र.)

'कुलत्थिका कटुस्तिक्ता स्यादर्शःशूलनाशिनी । विबन्धाध्मानशमनी चक्षुष्या व्रणरोपणी ॥'
(रा. नि.)

'उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः ।
कुलत्थाः ग्राहिणः कासहिक्काश्वासार्शसां हिताः ॥' (च.)

'कषायस्वादुरूक्षोष्णाः कुलत्था रक्तपित्तलाः । पीनसश्वासकासार्शोहिध्मानाहकफानिलान् ॥
घ्नन्ति शुक्राश्मरीं शुक्रं दृष्टिं शोथं तथोदरम् । ग्राहिणो लघवस्तीक्ष्णाः विपाकेऽम्लाः विदाहिनः ॥'
(वृ. वा.)

मूत्रसंग्रहणीय

३०५. जम्बू

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, पुरीषविरजनीय, छर्दिनिग्रहण (च०), न्यग्रोधादि (सु०), पंचपल्लव ।

कुल—लवंग-कुल (मिर्टेसी-Myrtaceae) ।

नाम—लै०-युजिनिया जम्बोलना (Eugenia Jambolana); सं०-जम्बू, महाफला, फलेन्द्रा; हि०-जामुन; बं०-काल जाम; पं०-जामलु; म०-जांभूल; गु०-जांबू; ता०-शंबु, नावल्; ते०-नेरेडु; अं०-जम्बुल (Jambul), ब्लैक बेरी (Black Berry) ।

स्वरूप—इसका चिरहरित बड़ा वृक्ष होता है । **पत्र**–३–६ इञ्च लंबे, २–३ इञ्च चौड़े होते हैं । **पुष्प**-श्वेत या स्वर्णवर्ण होते हैं । **फल**–½–1½ इञ्च लंबे, अंडाकार, कच्चे में हरित, प्रौढावस्था में रक्त और बैंगनी तथा परिपक्वावस्था में गाढ़ नील वर्ण हो जाते हैं । फल के भीतर अस्थि छोटी होती है । पुष्प वसन्त में आते हैं । **फल**–ग्रीष्मान्त या वर्षा के प्रारम्भ में आते हैं । फल खाये जाते हैं ।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं जिनमें राजजम्बू, क्षुद्रजम्बू, नदीजम्बू या काकजम्बू, भूमिजंबू तथा गुलाबजामुन ये जातियाँ मुख्य हैं । राजजम्बू का वर्णन ऊपर किया गया है । इसे 'फलेन' (फलेन्द्र) भी कहते हैं । क्षुद्रजम्बू-इसे 'कठजामुन' कहते हैं । इसके फल छोटे होते हैं तथा उनका मांसल भाग कम होता है । नदीजम्बू या काकजंबू जंगली जाति है जो जंगलों में नदी नालों के किनारे पाई जाती है । भूमिजम्बू का वृक्ष झाड़ीदार और छोटा होता है तथा फल छोटा मटर के सदृश होता है । गुलाबजामुन-यह विदेशी जामुन है जो बर्मा और बंगाल में होता है । इसका फल अस्थिरहित, गोलाकार गुलाबी रंग का होता है तथा इससे गुलाब की सी गंध आती है । यह राजजंबू का ही एक प्रकार है । इन सब में राजजंबू सर्वोत्तम होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है ।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक ग्लुकोसाइड-जम्बोलिन (Jamboline), फेनोलयुक्त द्रव्य (इलैगिक अम्ल-Ellagic acid), पीताभ सुगंधित तैल, पर्णहरित, वसा, राल, गैलिक एसिड, अलब्युमिन आदि पदार्थ होते हैं। छाल में १२% तथा एक गोंद होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, मधुर, अम्ल।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्षकषाय होने से कफ का तथा शीत, कषाय होने से पित्त का शमन करता है। रूक्ष, शीत, कषाय होने से यह प्रबल वातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—स्तम्भन, त्वग्दोषहर और दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक तथा स्तम्भन है। पत्र-छर्दिनिग्रहण हैं तथा छाल भी स्तम्भन है। फल अधिक लेने से विष्टम्भजनक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका फल तथा गुठली यकृत् के द्वारा जो शर्करा की पाचनक्रिया होती है उसे सुधारता है। अतः इससे रक्तगत तथा मूत्रगत शर्करा कम होती है और मूत्र का प्रमाण भी कम होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव होने पर तथा व्रणों में इसकी छाल का अवचूर्णन करते हैं। दाह में फलों का सिरका तिलतैल में मिलकार लगाते हैं। सन्निपात ज्वर में जब सन्ताप अधिक होता है तथा दाह, प्रलाप आदि उपद्रव होने लगते हैं तब जामुन का सिरका तिलतैल में मिलाकर कपड़े में भिंगों मस्तक पर रखते हैं और ललाट पर इसकी पट्टी देते हैं। उपदंश, फिरंग आदि चर्म विकारों में इसके पत्र से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल तथा फलों का सिरका अग्निमांद्य, अजीर्ण, शूल, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि में देते हैं। जामुन की गुठली का चूर्ण तथा छाल का क्वाथ भी जीर्ण अतिसार, प्रवाहिका में लाभकर है। कोमल पत्र वमन में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—पत्रस्वरस रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। गुठली रक्तप्रदर, रक्तातिसार आदि में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—फल की गुठली का चूर्ण इक्षुमेह तथा उदकमेह के लिए अत्युत्तम औषध है। फलों का सिरका भी प्रमेह में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, फलास्थि, त्वक्, पत्र।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; चूर्ण-१-३ माशे।

विशिष्ट योग—जम्ब्वाद्य तैल, पंचपल्लवयोग।

'जम्बूः संग्राहिणी रूक्षा कफपित्तास्रदाहजित् ।' (भा. प्र.)
'जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम् ।' (च. सू. २७)
'अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित् ।' (सु. सू. ४६)
'जाम्बवं वातजननानाम् ।' (च. सू. २५)
'ग्राही कषायस्तन्मजा विशेषान्मधुमेहहा ।' (नि. र.)
'जम्बूः कषायमधुरा श्रमपित्तदाहकंठार्त्तिशोषशमनी क्रिमिदोषहन्त्री ।
श्वासातिसारकफकासविनाशिनी च विष्टम्भिनी भवति रोचनपाचनी च ॥' (रा. नि.)

३०६. आम्र

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, पुरीषसंग्रहणीय, छर्दिनिग्रहण, हृद्य, कषायस्कन्ध, अम्लस्कन्ध (च०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-मैंगिफेरा इण्डिका (Mangifera indica)। सं०-आम्र, चूत, रसाल, सहकार, पिकवल्लभ, मधुदूत । हि०-आम; बं०-आम्र; पं०-अंब; गु०-आंबो; ता०-मांगस; ते०-मावि; अ०-अंबज; फा०-अंब; अं०-मैंगो (Mango)।

स्वरूप—इसका वृक्ष ३०-४० फुट तक ऊँचा होता है। **पत्र**-५-६ इञ्च लम्बे, १-२ इञ्च चौड़े, अग्रभाग पर नुकीले होते हैं। **पुष्प**-हरित-पीत मञ्जरी के रूप में होता है जिससे मादक सुगन्ध आती है। **फल**-२-४ इञ्च लम्बे, गोल, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ हो जाते हैं। फल के भीतर बड़ी गुठली (बीज) तथा उसके भीतर बीजमज्जा होती है। वसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म-वर्षा में फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। व्यवहार में कलमी और बीजू ये दो भेद मुख्य माने जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्णप्रदेशों में विशेषतः बिहार, बंगाल, मद्रास आदि में होता है।

रासायनिक संघटन—कच्चे फल में जल २१%, जलीय सत्त्व ६१·५%, सेल्युलोज ५%, अविलेय भस्म १·५% और विलेय भस्म १·९% (जिसमें पोटाश, टार्टरिक, साइट्रिक तथा मैलिक एसिड होते हैं) रहते हैं। पके फल में पीत रञ्जक द्रव्य, पर्णहरितद्रव्य, कार्बन बाइसल्फाइड, बेञ्जोल, गैलिक एसिड, साइट्रिक एसिड तथा गोंद होती है। छाल में टैनिन होता है। बीज-मज्जा में गैलिक और टैनिक एसिड, वसा, शर्करा, गोंद, भस्म तथा प्रचुर स्टार्च होते हैं। इसके फल में विटामिन सी प्रचुर मात्रा में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष । **रस**—कषाय ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—शीत ।

पका फल गुरु-स्निग्ध तथा मधुर और कच्चा फल अम्ल होता है।

कर्म

दोषकर्म—इसकी छाल, पत्र, पुष्प तथा बीजमज्जा कफपित्तशामक है। पका फल वातपित्तशामक तथा कच्चा फल त्रिदोषकारक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—छाल, पुष्प, पत्र तथा बीजमज्जा रक्तरोधक तथा व्रणरोपण है। कच्चा फल आग में पकाने पर दाहप्रशमन होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कच्चा फल रोचन, दीपन है। पका फल स्नेहन, अनुलोमन, सारक है। पत्र-छर्दिनिग्रहण है। पुष्प, त्वक् तथा बीजमज्जा स्तम्भन है। बीजमज्जा कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—पका फल हृद्य और शोणितास्थापन है। कच्चा फल रक्तपित्त-कोपक है।

प्रजननसंस्थान—पका फल वृष्य है। त्वक् तथा बीजमज्जा गर्भाशयशोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—बीजमज्जा मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—कच्चा फल आग में पका पानक बना कर देने से दाहप्रशमन होता है।

सात्मीकरण—पका फल बल्य, वर्ण्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—छाल, पत्र, पुष्प तथा बीजमज्जा का प्रयोग कफपैत्तिक विकारों में करते हैं। पका फल वातपैत्तिक विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, क्षत तथा व्रण में छाल, पुष्प, पत्र तथा बीजमज्जा का चूर्ण लगाते हैं। लू लगने पर तथा दाह में कच्चे फल को आग में पका कर त्वचा पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य में कच्चे फल की चटनी देते हैं। पका फल विबन्ध, कोष्ठगत रौक्ष्य में देते हैं। पत्र का स्वरस वमन को रोकने के लिए देते हैं। पुष्प, त्वक् तथा बीजमज्जा का प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका में करते हैं। बीजमज्जा का चूर्ण कृमि में भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्ताल्पता, रक्तपित्त में पका फल देते हैं। रक्तपित्त में छाल, पुष्प तथा बीजमज्जा का भी प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में पका फल देते हैं। रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर बीजमज्जा प्रयुक्त होती है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह तथा पूयमेह में बीजमज्जा देते हैं। पूयमेह में पल्लव-स्वरस भी दिया जाता है।

तापक्रम—लू लगने पर (अंशुघात में) कच्चे फल को आग में पका कर पानक बना कर पिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, वर्णविकार तथा कृशता में पका आम खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीजमज्जा।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; क्वाथ-५-१० तोला; चूर्ण-१-३ माशे।

विशिष्ट योग—पुष्यानुग चूर्ण, आम्रपानक।

अतियोग से हानि—आम का कच्चा फल अधिक खाने से मन्दाग्नि, विषमज्वर, रक्तविकार, विबन्ध तथा नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं।

उपचार—उपर्युक्त उपद्रव होने पर सोंठ का चूर्ण जल से या जीरा का चूर्ण काला नमक मिलाकर देना चाहिए।

'आम्रपुष्पमतीसारकफपित्तप्रमेहनुत् । असृग्दरहरं शीतं रुचिकृद् ग्राहि वातलम् ॥'
'आम्रं बालं कषायाम्लं रुच्यं मारुतपित्तकृत् । तरुणं तु तदत्यम्लं रूक्षं दोषत्रयास्रकृत् ॥'
पक्वं तु मधुरं वृष्यं स्निग्धं बलसुखप्रदम् । गुरु वातहरं हृद्यं वर्ण्यं शीतमपित्तलम् ॥
कषायानुरसं वह्निश्लेष्मशुक्रविवर्धनम् ।'
'मन्दानलत्वं विषमज्वरं च रक्तामयं बद्धगुदोदरं च ।
आम्रातियोगो नयनामयं च करोति तस्मादति तानि नाद्यात् ॥'
शुण्ठ्यंभसोऽनुपानं स्यादाम्राणामतिभक्षणे । जीरकं वा प्रयोक्तव्यं सह सौवर्चलेन च ॥'

(भा. प्र.)

'आम्रबीजं कषायं स्याच्छर्द्यतीसारनाशनम् । ईषदम्लं च मधुरं तथा हृदयदाहनुत् ॥'
आम्रस्य पल्लवो रुच्यः कफपित्तविनाशनः ।' (भा. प्र.)
'रक्तपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्धनम् । पक्वमाम्रं जयेद्वायुं शुक्रमांसबलप्रदम् ॥'

(च. सू. २७)

'पित्तानिलकरं बालं पित्तलं बद्धकेशरम् । हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम् ॥
कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु । पित्ताविरोधि संपक्वमाम्रं शुक्रविवर्धनम् ॥'

(सु. सू. ४६.)

'त्वङ्मूलपल्लवं ग्राहि कषायं कफपित्तजित् ।' (ध. नि.)
'आम्रत्वचा कषाया च मूलं सौगन्धि तादृशम् । रुच्यं संग्राहि शिशिरं पुष्पं रोचनदीपनम् ॥'

(रा. नि.)

३०७. वट

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); न्यग्रोधादि (सु०); क्षीरिवृक्ष, पञ्चवल्कल (भा०)।

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)

नाम—लै०-फाइकस बंगालेन्सिस (Ficus Bengalensis); सं०-वट, न्यग्रोध, बहुपाद, रक्तफल, शुङ्गी, क्षीरी; हि०-वड़, वरगद; बं०-बट; पं०-बोड़; म०-वड; गु०-वड; ता०-आला; ते०-पेद्दिमारी; अ०-कबिरुल् अश्जार; फा०-दरख्तेरीशः; अं०-बैनियन ट्री (Banyan Tree)।

स्वरूप—इसका बड़ा **वृक्ष** होता है तथा **शाखायें** बहुत दूर तक चारों ओर फैली रहती हैं। **काण्डत्वक्**-श्वेत-धूसर, मोटी होती है। **पत्र**-मोटे, गोलाकार या अण्डाकार, ४-६ इञ्च लम्बे-चौड़े होते हैं। पत्रमूल में ३-५ सिराएँ होती हैं। **फल**-गोलाकार, पकने पर रक्तवर्ण होते हैं। तथाकथित फल के भीतर छोटे छोटे पुष्प होते हैं इसलिए अदृष्टपुष्प होने के कारण इसे वनस्पति कहा गया है। पुष्प वसन्त-ग्रीष्म में तथा फल वर्षा में होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—छाल और शुङ्ग में १० प्रतिशत टैनिन, मोम और कॉउचुक (रबड़) होता है। फल में तैल, अलब्युमिनॉयड, कार्बोहाइड्रेट, सूत्र और भस्म ५-६ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, व्रणरोपण, रक्तरोधक, शोथहर और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तपित्तहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयशोथहर और शुक्रस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वट का दूध व्रण, क्षत, विपादिका तथा सन्धिशोथ, आमवात, वंक्षणशोथ, ग्रंथिशोथ आदि में लगाते हैं। कर्णस्राव तथा दन्तशूल में भी वट का दूध लगाते हैं। नेत्राभिष्यन्द, अर्म तथा शुक्र रोग में वटदुग्ध लगाते हैं। स्तनशैथिल्य में वटजटा का लेप करते हैं। चर्मरोगों तथा व्रणाधिकारों में भी वटजटा का लेप लाभकर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, रक्तातिसार, प्रवाहिका में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वर्णविकार, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर में यह उपयोगी है। इन रोगों में छाल के क्वाथ की उत्तरबस्ति भी देते हैं। शुक्रस्तम्भन के लिए वट का दूध बताशे में खाते हैं। गर्भस्थापन के लिए भी स्त्रियों को वटशुंग का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल का क्वाथ देते हैं तथा फल खिलाते हैं।

तापक्रम—दाह में भी देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, क्षीर, पत्र, जटा, फल।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०, चूर्ण-३-६ माशे; क्षीर-१०-२० बूँद।

विशिष्ट योग—न्यग्रोधादिचूर्ण, न्यग्रोधाद्य घृत।

× × × ×

'वटः शीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत्॥' (भा.प्र.)
वटः शीतःकषायश्च स्तम्भनो रूक्षणात्मकः। तथा तृष्णाच्छर्दिमूर्च्छारक्तपित्तविनाशनः॥' (ध.नि.)
'गर्भदं वटशुंगं तु पिबेद्वन्ध्या रजस्वला। वारिणा शुक्लपक्षे हि पुष्येण च समाहृतम्॥' (शो.)
'वटांकुरा मसूराश्च प्रलेपाद् व्यंगनाशनम्।' (भा. प्र.)

३०८. उदुम्बर

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०), न्यग्रोधादि (सु०), क्षीरिवृक्ष, पंचवल्कल (भा०)।

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)।

नाम—लै०-फाइकस ग्लोमरेटा (Ficus Glomerata) सं०-उदुम्बर, जन्तुफल,

यज्ञांग, हेमदुग्धक (दूध श्वेत किन्तु हवा लगने पर थोड़ी देर में पीला हो जाता है); हि०-गूलर; बं०-यज्ञडुम्बुर; म०-उंबर; गु०-उंबरो, उमरडो; ता०-खारसा; ते०-राइगा; अ०-जम्मैज; फा०-अंजीरे आदम; अंजीरे अहमक्; अं०-क्लस्टर फिग (Cluster Fig), कण्ट्री फिग (Country Fig)।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** ३०-४० फीट ऊँचे होते हैं। **छाल**-रक्ताभ धूसर होती है। **पत्र**-३-४ इञ्च लंबे, अग्रभाग पर नुकीले, तीन सिराओं से युक्त होते हैं। **फल**-कच्चे में हरे तथा पकने पर लाल हो जाते हैं। वसन्त में पुष्प आते हैं तथा वर्षा में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें टैनिन, मोम, कॉउच्चूक (रबड़) तथा भस्म होती है। भस्म में सिलिका और फॉस्फरिक एसिड होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निसादक, स्तम्भन है। पका फल कृमिकारक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयशोथहर और शुक्रस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना, व्रण पर दूध लगाते हैं तथा वर्णविकारों में उदुम्बर के शुंग का लेप करते हैं। पत्रक्वाथ से व्रण प्रक्षालन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रक्तातिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में छाल का क्वाथ देते हैं तथा कच्चे फलों का शाक खिलाते हैं। बच्चों के अतिसार तथा दन्तोद्भेद में दूध देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में छाल और फल का प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में छाल का क्वाथ देते हैं। इन रोगों में उत्तरबस्ति भी देते हैं। गर्भपोषणार्थ भी देते हैं। शुक्रदौर्बल्य में दूध का प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल का क्वाथ देते हैं और पका फल खिलाते हैं।

तापक्रम—दाहरोग में पका फल देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, क्षीर।

मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे, क्वाथ-५-१० तोला; क्षीर-१०-२० बूँद।

विशिष्ट योग—उदुम्बरसार।

'उदुम्बरः क्षीरवृक्षो हेमदुग्धः सदाफलः। अपुष्पफलसंबद्धो यज्ञांगः शीतवल्कलः॥
कृमिवृक्षो जन्तुफलो मशकी जघनेफलः। पुष्पशून्यः शीतफलः पवित्रः सुप्रतिष्ठितः॥'
'उदुम्बरो हिमो रूक्षो गुरुः पित्तकफास्रजित्। मधुरस्तुवरो वर्ण्यो व्रणशोधनरोपणः॥'

(भा. प्र.)

'औदुम्बरं कषायं स्यात् पक्वं तु मधुरं हिमम्। कृमिकृत् रक्तपित्तघ्नं मूर्च्छादाहतृषापहम्॥'

(ध. नि.)

'उदुम्बरक्वाथयुतं सिताढ्यं सुगंधशालिप्रभवं सितं च।
या पिष्टमश्नाति न गर्भपातपीडामसौ विन्दति जातु नारी॥' (शो.)
'नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम्। आभ्यां वा पायसं सिद्धं दद्यादत्यग्निशान्तये॥'

(च. चि. १९)

३०६. अश्वत्थ

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); न्यग्रोधादि (सु०); क्षीरिवृक्ष, पंचवल्कल (भा०)।

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-(Urticaceae)

नाम—लै०-फाइकस रिलिजिओसा (Ficus Religiosa); सं०-अश्वत्थ, पिप्पल, चलपत्र, बोधिद्रु; हि०-पीपल; बं०-अश्वत्थ, आशुद्; म०-पिंपल; गु०-पीपलो; ता०-अरक; ते०-रागी; अ०-शज्रतुल मुर्तअश; फा०-दरख्ते लर्जां; अं०-सैक्रेड फिग (Sacred Fig)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** बड़ा होता है। पुराने वृक्ष की छाल फटी सी, श्वेतधूसर होती है। **पत्र**-पतले, चिकने, ५-७ सिरायुक्त, हृदयाकृति, अग्रभाग पर नुकीले होते हैं। **फल**-छोटे, गोलाकार, कच्चे में हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। ग्रीष्म में फल लगते हैं और वर्षा में पकते हैं। पुराने पीपल के वृक्ष पर लाह लगती है। हिन्दुओं के समाज में इसका अत्यधिक धार्मिक महत्त्व है। बौद्धों का तो यह प्रतीक वृक्ष ही है।

उत्पत्तिस्थान—भारत में यह सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में टैनिन, रबड़ और मोम होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, व्रणरोपण, वेदनास्थापन, शोथहर तथा रक्तरोधक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल स्तम्भन है। पका फल मधुर होने से स्नेहन अनुलोमन और मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—छाल कफघ्न तथा फल श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—छाल, मूल, फल तथा त्वक् गर्भस्थापन और वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वर्णविकारों में अश्वत्थ-शुंग का लेप करते हैं। व्रणों में छाल का अवचूर्णन करते हैं। वेदना, शोथ तथा रक्तस्राव में दूध लगाते हैं। व्रणशोथ, भगन्दर तथा मुखपाक में भी छाल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल छर्दि, अतिसार, प्रवाहिका में देते हैं। पक्का फल उदरशूल, विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त आदि रक्तविकारों में छाल का क्वाथ मधु मिलाकर पिलाते हैं। रक्तपित्त में छाल तथा फल देते हैं।

श्वसनसंस्थान—छाल का क्वाथ या स्वरस कुकुरखाँसी में तथा फल का चूर्ण श्वासरोग में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन के लिए फल का चूर्ण देते हैं। वाजीकरण के लिए फल, मूल, त्वक् तथा शुङ्ग से सिद्ध क्षीर का चीनी और मधु मिला कर सेवन कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल तथा फल देते हैं।

प्रयोज्य अंग—छाल, फल, पत्र।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; क्वाथ-५-१० तो०; चूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

'पिप्पलो दुर्जरः शीतः पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित्। गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्यो योनिविशोधनः॥'
(भा. प्र.)

'पिप्पलः सुमधुरस्तु कषायः शीतलश्च कफपित्तविनाशी।
रक्तदाहशमनः स हि सद्यो योनिदोषहरणः किल पक्वः॥' (रा. नि.)

'बोधिद्रुमकषायन्तु पिबेत्तं मधुना सह। वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम्॥'
(च. चि. २९)

'अश्वत्थफलमूलत्वक्शुङ्गसिद्धं पयो नरः। पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति॥'
(सु. चि. ११)

३१०. प्लक्ष

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); न्यग्रोधादि (सु०); क्षीरिवृक्ष, पंचवल्कल (भा०)।

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)।

नाम—लै०-फाइकस लैकर (Ficus Lacor), सं०-प्लक्ष, पर्कटी, हि०-पाकर, पकड़ी; बं०-पाकुड़; म०-पिंपरी; गु०-पीपली; पीपर; ता०-पेपरी; ते०-पसारी;

स्वरूप—इसका वृक्ष बड़ा होता है। **छाल**-हरिताभ धूसर होती है। **पत्र**-गूलर के सदृश किन्तु उससे छोटे होते हैं। पत्र में ४-१० जोड़ी सिरायें होती हैं। पत्रांकुर खट्टे होते हैं। **फल**-श्वेतवर्ण, गोलाकार, छोटे होते हैं। ग्रीष्म-वर्षा में पुष्प-फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक, शोथहर तथा व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शामक है।
पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तहर तथा रक्तशोधक है।
प्रजननसंस्थान—योनिदोषहर है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, शोथ, विसर्प तथा व्रणों में इसकी छाल का अवचूर्णन या लेप करते हैं। मुखपाक में इसकी छाल के काढ़े से कुल्ला करते हैं।
अभ्यान्तर-नाडीसंस्थान—मूर्च्छा, प्रलाप, भ्रम आदि मानसिक विकारों में देते हैं।
पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका आदि में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा अन्य रक्त विकारों में लाभकर है।
प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में किया जाता है। श्वेतप्रदर में छाल के काढ़े की उत्तरबस्ति तथा वर्त्ति भी लगाते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।
तापक्रम—दाह में देते हैं।
प्रयोज्य अंग—त्वक्।
मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला।

× × × ×

'**धवः** कषायः शिशिरो व्रणयोनिगदापहः। दाहपित्तकफास्रघ्नं शोथहा रक्तपित्तहृत्॥ रक्तदोषहरो मूर्च्छाप्रलापभ्रमनाशनः।' (भा. प्र.)

३११. बीजक

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।
उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।
नाम—लै०-टेरोकार्पस मार्सुपियम् (Pterocarpus Marsupium); सं०-बीजक; हि०-बिजयसार; बं०-पीतशाल, पियासाल; म०-बिवला; गु०-बीयो; ता०-भेंगाई; ते०-पेदागि; अ०-दम्म उल अखवैन हिन्दी; अं०-इण्डियन काइनो (Indian Kino), मलाबार काइनो (Malabar Kino)।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** ३०–४० फुट ऊँचे होते हैं। **छाल**–धूसरवर्ण तथा उस पर लम्बाई में चीरे होते हैं। गोंद लाल रङ्ग की होती है। **पत्र**–संयुक्तदल; **पत्रक**–५–६ लम्बे, लहरदार किनारी के होते हैं। **पुष्प**–पीताभ होते हैं। **शिम्बी**–१$\frac{1}{2}$–२ इञ्च की होती है जिसमें २ बीज होते हैं। शीतकाल के आरम्भ में पुष्प आते हैं तथा पौष-माघ में फल पकते हैं। इसकी लकड़ी पानी में डालने से पहले पीला फिर काला हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह मध्य एवं दक्षिण भारत, मद्रास, बिहार, लंका आदि प्रदेशों में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी गोंद में विशिष्ट कषायद्रव्य-काइनोटैनिक एसिड (Kino-tannic acid) ७०–८० प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त, पायरो कैटेचिन (Pyro-Catechin), गैलिक एसिड तथा गोंद पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, सन्धानीय, कुष्ठघ्न, केश्य है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—सन्धानीय और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग–कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ और विसर्प, श्वित्र, कुष्ठ, उदर्द आदि चर्मरोगों में पत्र का लेप करते हैं। दन्तशूल में गोंद चबाने को देते हैं। इसके काण्डसार को घिस कर आघातजन्य पीडा में लगाते हैं। पालित्य रोग में इससे सिद्ध तैल बालों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार और प्रवाहिका में गोंद तथा छाल का प्रयोग करते हैं। विशेषतः बच्चों और स्त्रियों में व्यवहृत होता है। कृमिरोग में छाल का क्वाथ या चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (वातरक्त, आमवात, सन्धिवात आदि) तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में काण्डसार का क्वाथ पिलाते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, उदर्द, विसर्प आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—संधानीय होने से यह अभिघातज वेदना को शान्त करता है। इसके लिए इसके काण्डसार का क्वाथ दूध और चीनी मिला कर देते हैं। रक्त को शुद्ध करने तथा संधानीय होने के कारण दौर्बल्य में भी प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार, निर्यास।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०, चूर्ण-३-६ मा०; निर्यास-२-५ रत्ती।

× × × ×

'बीजकः कुष्ठवीसर्पश्वित्रमेहव्रणक्रिमीन्।
हन्ति श्लेष्मास्रपित्तं च त्वच्यः केश्यो रसायनः॥' (भा. प्र.)
'यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ।' (सु. चि. ६)
'बीजकः सकषायश्च कफपित्तास्रनाशनः।' (ध. नि)

३१२. असन

परिचय

गण—उदर्दप्रशमन (च०); सालसारादि (सु०)।

कुल—हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रेटेसी-Combretaceae)

नाम—लै०-टर्मिनेलिया टोमेण्टोजा (Terminalia Tomentosa); सं०-असन; हि०-असन, सइन; म०-अइन; गु०-अइन; ता०-कुरुप्य-मारुता-माराम; ते०-माद्दि।

स्वरूप—इसके बड़े बड़े **वृक्ष** १०० फीट तक लंबे होते हैं। **पत्र**-घोड़े के कान की तरह ८-१० इञ्च लंबे, **पुष्प**-छोटे, पीताभ होते हैं। **फल**-१½-२ इञ्च लंबा, लगभग १ इञ्च चौड़ा होता है। फल पर लंबाई में पाँच पंख के सदृश दन्तुर उभार होते हैं। वृक्ष की छाल पर लंबे चीरे होते हैं। बाहर का काष्ठ रक्ताभ श्वेत तथा अन्तःसार काला या धूसर होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह ४ हजार फीट की ऊँचाई तक नेपाल, सिक्किम, उत्तरप्रदेश तथा दक्षिण भारत के वनों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—छाल में अविलेय द्रव्य ६४%, सत्त्व पदार्थ ४.४%, कषायद्रव्य २०.२%, भस्म ६.७% होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—जन्तुघ्न, शोथहर और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ और जीर्ण व्रणों में छाल का लेप करते हैं तथा उसके क्वाथ से परिषेक करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (उपदंश, श्लीपद आदि) में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में दिया जाता है।

त्वचा—कुष्ठ, उदर्द आदि चर्मरोगों में देते हैं।

सात्मीकरण—इसकी छाल का स्वरस दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, काण्डसार।

मात्रा—क्वाथ ५–१० तो०।

× × × ×

'असनः कटुरुष्णश्च तिक्तो वातार्त्तिदोषनुत्। स्तम्भनो गलदोषघ्नः रक्तमंडलनाशनः॥' (स्व.)

'धवाश्वकर्णासनबालपत्रसारास्तथा पिप्पलीवत् प्रयोज्याः।
लोहोपलिप्ताः पृथगेव जीवेत् समाः शतं व्याधिजराविमुक्तः॥' (वा. उ. ३९)

३१३. धव

परिचय

गण—सालसारादि, मुष्ककादि (सु०); असनादि, मुष्ककादि (वा०)।

कुल—हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रेटेसी-Combretaceae)।

नाम—लै०-एनोजीसस लैटिफोलिया (Anogeissus Latifolia); सं०-धव, गौर (त्वचा श्वेत होने से), धुरन्धर, दृढ (इसकी लकड़ी मजबूत होने से पहिए बनाये जाते हैं); हि०-धवः वाकली; बं०-दाओया; म०-धावड़ा; गु०-धावड़ो; ता०-विल्लाइनाग।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ८० फुट तक ऊँचा होता है। **छाल**—हरिताभ श्वेत होती है। बाह्य काष्ठ पीताभ होता है। **पत्र**—१½–३ इञ्च लंबे, १–२ इञ्च चौड़े, चिकने होते हैं। **पुष्प**—यवाकार गोल गुच्छों में होते हैं। इस वृक्ष से एक निर्यास निकलता है। वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय प्रदेश से लंका तक यह सर्वत्र पार्वत्य प्रदेशों में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—रक्तरोधक, व्रणरोपण और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—रसायन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में देते हैं।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—क्षत, व्रण तथा शोथ में इसका लेप या प्रक्षालन करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका तथा रक्तार्श में यह उपयोगी है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में काण्डसार का क्वाथ देते हैं।
त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं। इसका निर्यास वृश्चिक और सर्पविष में उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—त्वचा, काण्डसार, निर्यास।
मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०; निर्यास ५-१० रत्ती।

× × × ×

"धवो दृढतरुः गौरः कषायो मधुरत्वचः। पाण्डुतरुः पीतफलो धवलश्च भरोद्वहः॥' (शि.)
"धवः शीतः प्रमेहार्शःपांडुपित्तकफापहः। मधुरस्तुवरस्तस्य फलं तु मधुरं मनाक्॥' (भा. प्र.)

३१४. तिनिश

परिचय

गण—सालसारादि (सु०)।
कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।
उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।
नाम—लै०-ऑउजिनिया डैल्बर्जिआयडिस (Ougenia Dalbergioides); सं०-तिनिश, स्यन्दन, रथद्रु (लकड़ी मजबूत होने से पहिये आदि बनाते हैं); हि०-सन्दन, छानन; बं०-तिनिश; म०-तिनस्, स्यन्दन; गु०-तणछ।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**-२०-४० फुट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-धूसर, श्वेताभ या कपिश वर्ण होती है। त्वचा में क्षत करने से दानेदार रक्तवर्ण गोंद निकलती है। **पत्र**-संयुक्त, पक्षाकार, त्रिपर्ण होते हैं। **पत्रक**-ईषत् गोलाकार, पलाशपत्र के सदृश ३-६ इञ्च लम्बे होते हैं। आगे का पत्रक सबसे बड़ा होता है। **पुष्प**-गुच्छों में, रक्ताभ या गुलाबी होते हैं। **शिम्बी**-२-३ इञ्च लम्बी, मूँगफली के सदृश होती है जिसके भीतर २-३ चपटे बीज होते हैं। वसन्त में पुष्प और ग्रीष्म में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालयप्रदेश के वनों में प्रचुर पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथहर, कुष्ठघ्न, व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, कुष्ठ, श्वित्र एवं व्रणों में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वचा, काण्डसार, गोंद।

मात्रा—क्वाथ-१-१० तोला; गोंद-५-१० रत्ती।

× × × ×

'तिनिशः श्लेष्मपित्तास्रमेदःकुष्ठप्रमेहजित्। तुवरः श्वित्रदाहघ्नो व्रणपांडुक्रिमिप्रणुत्।
(भा. प्र.)

नवम अध्याय

ज्वरहर

(क) सन्तापनिवारक

३१५. सहदेवी

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-वर्नोनिया साइनेरिया (Vernonia Cineria); सं०-सहदेवी; हि०-सहदेई; बं०-छोट कुकसिमा; म०-सहदेवी; गु०-सेदरडी, सहदेवी; ता०-ससिरा-संगलानीर; ते०-घेरिटी कारनिना; अं०-फ्लीबेन (Fleabane)।

स्वरूप—इसका कोमल **क्षुप-१-३** फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-पतला, रेखायुक्त तथा शाखायें रोमश होती हैं। **पत्र**-अनेक आकार के (रेखाकार, अंडाकार), रोमश, अवृन्त या सूक्ष्मवृन्त होते हैं। **पुष्प**-नीले या बैंगनी रंग के होते हैं। वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल होते हैं।

जाति—पुष्पभेद से यह श्वेत और नील दो प्रकार की होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।
प्रभाव—ज्वरघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन तथा ज्वरघ्न है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है।
त्वचा—कुष्ठघ्न और स्वेदजनन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना में इसका लेप करते हैं। ज्वर में इसका मूल शिखा में बाँधते हैं तथा इसका स्वरस शरीर में मलते हैं। नेत्राभिष्यन्द तथा स्नायुक कृमि में इसके पत्र का लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अर्श और कृमि में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, श्लीपद में उपयोगी है।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।
त्वचा—कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में लाभकर है।
तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्ण ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। कुनैन के साथ विषमज्वर में भी यह अच्छा लाभ करता है।
प्रयोज्य अङ्ग—पंचांग, मूल।
मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; क्वाथ-५-१० तोला।

× × × ×

'दण्डोत्पला सहदेवी विषमज्वरनाशिनी। सहदेवी द्विधा प्रोक्ता श्वेता नीला च पुष्पतः॥
द्वयं चैकान्तरं हन्ति भक्षणात् धारणादपि। निद्राकरा धृता शीर्षे नीला सिध्मविनाशिनी॥' (शो.)

'सहदेवीकृता पिण्डी सर्वविस्फोटनाशिनी।' (शो.)
'स्वरसैः सहदेव्या वा सिद्धं तैलं ज्वरं जयेत्।' (वै. म.)
'सहदेवीशिफा बद्धा श्वेतसूत्रेण कन्यया। निहन्ति दक्षिणे पाणौ ज्वरभूतग्रहादिकान्॥' (वै. म.)

'ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवीजटा यथा।' (च. सू. २६)

(ख) आमपाचन

३१६. किरात

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, स्तन्यशोधन, तृष्णानिग्रहण (च०), आरग्वधादि (सु०)।
कुल—भूनिम्ब-कुल (जेन्शिएसी-Gentiaceae)।

नाम—लै०-स्वर्शिया चिरायता (Swertia Chirata); सं०-किरात, किराततिक्त (वनों में होने वाला तिक्त द्रव्य); भूनिम्ब (निम्बवत् तिक्त छोटा क्षुप); हि०-चिरायता; बं०-चिरेता; पं०-चरैता; म०-किराईत; गु०-करियातुं; ता०-नोलवेम्बु; ते०-नीलवेम; अ०-क़सबुज़्ज़रीरा; फा०-नैनिहावंदी; अं०-चिरेट्टा (Chiretta)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**–२–३ फुट ऊँचा होता है। **कांड**-स्थूल, गोलाकार तथा ऊपर की ओर चतुष्कोण होता है। **पत्र**–विपरीत २–३ इञ्च लम्बे, $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ इञ्च चौड़े, नोकदार होते हैं। नीचे की पत्तियाँ बड़ी और ऊपर की छोटी होती हैं। **पुष्पदण्ड**–अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त होता है जिसपर हरित पीत, छोटे पुष्प आते हैं। बीज अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। शरद् ऋतु में पुष्प-फल आते हैं। पुष्पित होने पर इसका संग्रह करते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें तिक्तता का भी अन्तर होता है। भावप्रकाश ने इसी के अनुसार तिक्त और अर्धतिक्त ये दो भेद किये हैं। अर्धतिक्त प्रकार को मीठा चिरायता भी कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में काश्मीर से भूटान तक ४ हजार से १० हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। नेपाल में विशेष होता है। मध्यप्रदेश, दक्षिण भारत में भी होता है।

रासायनिक संघटन—ओफेलिक अम्ल (Ophelic acid) नामक तिक्त तत्त्व एक तिक्त पीला ग्लुकोसाइड (चिरैटिन–Chiratin); राल, गोंद, पोटाश कार्बोनेट और फास्फेट, चूना और मैगनीशियम पाये जाते हैं। भस्म ४–६ प्रतिशत होती है। टैनिन नहीं होता।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणशोधन है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, तृष्णानिग्रहण, आमपाचन, पित्तसारक, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, रक्तपित्तहर तथा शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।
प्रजनसंस्थान—स्तन्यशोधन है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में देते हैं।
संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—इसके क्वाथ से व्रणों को धोते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, तृष्णा, यकृद्विकार, विबन्ध तथा कृमि रोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में दिया जाता है। रक्तपित्त, रक्तार्श में भी दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यविकार में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, चर्मरोग में देते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में चिरायता देते हैं। इससे ज्वर, दाह, यकृत्प्लीहा आदि शान्त होते हैं और रोगी का दौर्बल्य दूर होता है। ज्वर में चिरायते का काढ़ा अतिप्रसिद्ध है। दाह में भी देते हैं।

सात्मीकरण—अन्न न पचने से जो दौर्बल्य होता है तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०; चूर्ण २-६ माशे।

विशिष्ट योग—सुदर्शन चूर्ण, किरातादि क्वाथ।

× × × ×

'किरातः सारको रूक्षः शीतलस्तिक्तको लघुः। सन्निपातज्वरश्वासकफपित्तास्रदाहनुत्॥
कासशोथतृषाकुष्ठज्वरव्रणकृमिप्रणुत्।' (भा. प्र.)
'किरातको रसे तिक्तः सरः शीतो लघुस्तथा। श्लेष्मपित्तास्रशोफार्शःकासतृष्णाज्वरापहः॥'
(ध. नि.)

३१७. हरिद्रु

परिचय

कुल—मंजिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)।

नाम—लै०-एडिना कॉर्डिफोलिया (Adina Cordifolia); सं०-हरिद्रु, पीतदारु, कदम्बक; हि०-हल्दू; बं०-केलिकदम्ब, धूलिकदम्ब, दाकम्; म०-हेद, हलदरवा; गु०-हलदरवो; ता०-सञ्जकदमी; ते०-लुन्धुकदमी।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** २५-३० फुट ऊँचे होते हैं। **पत्रवृन्त**-१-२ इञ्च लंबा, **पत्र**-विपरीत, ४-९ इञ्च व्यास का, प्रायः वृत्ताकार, आधार पर हृदयाकारत था तीक्ष्णाग्र होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। **फल**-सुपारी के सदृश होते हैं जिसमें ५ बीज होते हैं। **पुष्प**-वसन्त में तथा बाद में फल लगते हैं। **काण्ड**-त्वक् श्वेत या धूसर होती है। **काष्ठ**-कठिन, दृढ़, पीतवर्ण होती है किन्तु कुछ काल बाद रक्ताभ हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के पश्चिम प्रदेश, बंगाल तथा हिमालय की निचली पहाड़ियों में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एक तिक्त पदार्थ होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, वर्ण्य, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन, आमपाचन, पित्तसारक, स्तम्भन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, वर्णविकार, व्रणों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, वमन, तृष्णा, यकृद्विकार, ग्रहणी तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में दिया जाता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में उपयोगी है। इससे ज्वर, दाह शान्त होते हैं, यकृत् की क्रिया ठीक होती है तथा बल बढ़ता है।

सात्मीकरण—पाण्डु तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र।

मात्रा—स्वरस १-२ तो०; क्वाथ ५-१० तो०; चूर्ण १-३ माशे।

× × × ×

'हरिद्रुको महावृक्षः कदम्बाभफलो गिरौ। भवेत् वृत्तदलः पीतकाष्ठः श्रीमान् सुदारकः॥'(शि.)

'हरिद्रः शीतलस्तिक्तो मंगल्यः पित्तवान्तिजित्।
अंगकान्तिकरो बल्यो नानात्वग्दोषनाशनः॥' (रा. नि.)

३१८. त्रायमाणा

गण—तिक्तस्कन्ध (च०); लाक्षादि (सु०)।

कुल—भूनिम्ब-कुल (जेन्शिएसी-Gentiaceae)।

नाम—लै०-जेन्शियाना कुरो (Gentiana Kurroa); सं०-त्रायमाणा, त्रायन्ती, गिरिसानुजा, बलभद्रा; हिं०-(सोलन) कड़; (काश्मीर) नीलकण्ठ, तीता; अ०-गाफिस; फा०-गुलकल्ली; अं०-इण्डियन जेन्शियन (Indian Gentian)।

स्वरूप—यह छोटा क्षुप ६-७ अंगुल ऊँचा पहाड़ के चट्टानों के बीच-बीच गढों में होता है। **मूल**-पीतवर्ण, चतुष्कोण, ४-६ अंगुल गहरा होता है। ऊपर चट्टान पर फैले हुए मूलीय, ३-४ लंबे पत्ते होते हैं। बीच से लगभग ६ इञ्च का एक पुष्पदंड निकलता है जिस पर नीलवर्ण दो तीन पुष्प लगते हैं। शरद् में पुष्प आते हैं।

जाति—इसकी एक विदेशी जाति जो ईरान में होती है G. Dahurica कहलाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ५ से १० हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें जेन्शियोपिक्रिन (Gentiopicrin) नामक तिक्त द्रव्य, जेन्शियनिक अम्ल (Gentianic acid); पेक्टिन, अस्फटिकीय शर्करा होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन, रोपण, कुष्ठघ्न और केश्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, आमपाचन, पित्तसारक, अनुलोमन, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक तथा शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन तथा स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न और स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण, चर्मरोग तथा खालित्य में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, यकृद्विकार, अर्श, आध्मान, शूल, गुल्म, विबन्ध, उदररोग तथा कृमि में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा स्तन्यविकार में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ट में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में अतीव प्रशस्त माना गया है।

सात्मीकरण—पाण्डु तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग, मूल।

मात्रा—स्वरस १-२ तो०; चूर्ण ३-६ माशे।

× × × ×

'त्रायन्ती तुवरा तिक्ता सरा पित्तकफापहा। ज्वरहृद्रोगगुल्मास्त्रभ्रमशूलविषप्रणुत् ॥' (भा. प्र.)

'त्रायमाणाश्टतं वापि पयसा ज्वरितः पिबेत्।' (च. चि. ३)

३१९. पटोल

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण (च०); पटोलादि, आरग्वधादि (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-ट्राइकोसैन्थस कुकुमेरिना (Trichosanthes Cucumerina); सं०-पटोल, कूलक, कर्कशच्छद, राजीफल, बीजगर्भ, कुष्ठहा, कासभंजन; हि०-परवल, बं०-पटोल; म०-गु०-परवल; ता०-कम्बुयुदालाई; ते०-कम्बुपटला।

स्वरूप—इसकी वर्षायु **लता**-बड़ी लम्बी होती है। **कांड**-के प्रत्येक ग्रन्थि से मूल निकलते हैं। **पत्र**-हृदयाकार, कर्कश, ३-४ इञ्च लम्बे और २ इञ्च चौड़े नुकीले होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-लम्बगोल, दोनों सिरों पर नुकीले, २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। फल के ऊपर सफेद धारियाँ होती हैं। फल कच्चे में श्वेताभ हरित तथा पकने पर पीले या रक्ताभ हो जाते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं :—(१) ग्राम्य (मधुर), (२) वन्य (तिक्त)। ग्राम्य जाति का फल मधुर होने से शाक में व्यवहृत होता है तथा वन्य जाति का प्रयोग औषध में होता है। यह सर्वाङ्ग तिक्त होता है। तिक्त जाति का क्षुप स्वयं जंगलों में होता है। मधुर जाति का लैटिन नाम T. Dioica है।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकतर गंगा के तीरवर्ती प्रदेशों में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, केश्य, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, तृष्णानिग्रहण, पित्तसारक, अनुलोमन, रेचन तथा कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में देने से वामक और रेचक है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों से प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में मूल का लेप करते हैं। व्रण तथा खालित्य में पत्रस्वरस लगाते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, तृष्णा, यकृद्विकार, कामला, उदररोग, अर्श तथा कृमिरोगों में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त तथा शोथ में उपयोगी है।
श्वसनसंस्थान—कास में देते हैं।
त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि में दिया जाता है।
तापक्रम—पित्तज्वर, जीर्णज्वर आदि ज्वरों में लाभकर है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; क्वाथ-५-१० तोला।

विशिष्ट योग—पटोलादि क्वाथ, पटोलाद्य चूर्ण।

× × × ×

'कफपित्तहरं वर्ण्यमुष्णं तिक्तमवातलम्। पटोलं कटुकं पाके वृष्यं रोचनदीपनम् ॥'
(सु. सू. ४६)

'पटोलं कटुकं तिक्तमुष्णं पित्ताविरोधि च। कफासृक्कण्डुकुष्ठानि ज्वरदाहौ च नाशयेत् ॥'
(ध. नि.)

'पटोलस्य भवेन्मूलं विरेचनकरं सुखात्। नालं श्लेष्महरं पत्रं पित्तहारि फलं पुनः ॥
दोषत्रयहरं प्रोक्तं तद्वत्तिक्तपटोलिका।' (भा. प्र.)

'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा। फलं तस्य त्रिदोषघ्नं मूलं तस्य विरेचनम् ॥'
(रा. व.)

३२०. कारवेल्लक

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध (च०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-मोमोर्डिका चैरन्टिया (Momordia Charantia); सं०-कारवेल्लक, कठिल्ल, सुषवी; हि०-करैला; बं०-करला, उच्छे; म०-कारलें; गु०-कारेलां; ता०-पाकै, पाकल्; ते०-काकर; अं०-बिटर गॉर्ड (Bitter Gourd)।

स्वरूप—इसकी वर्षायु **लता**-होती है। **पत्र**-गोलाकार, १-३ इञ्च व्यास के रोमश, अनेक असमान भागों में विभक्त होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, एकलिंगी होते हैं। **फल**-१-३ इञ्च लम्बे, हरितवर्ण, बीज में मोटे तथा दोनों सिरों पर क्रमशः नुकीले होते हैं। उनके पृष्ठभाग पर त्रिकोणाकार उभार होते हैं। **बीज**-½ इञ्च लम्बे, चपटे होते हैं। फल शाकार्थ व्यवहृत होता है।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं:—(१) बड़ी और (२) छोटी। बड़ी जाति का कारवेल्लक तथा छोटी को कारवेल्ली (करैली) कहते हैं। इसका लैटिन नाम M. Muricata है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक तिक्त ग्लुकोसाइड, एक पीत अम्ल, राल तथा भस्म ६ प्रतिशत होती है। ताजे फल में ८८·७५ प्रतिशत आर्द्रता होती है। सूखे फल में ईथर एक्सट्रैक्ट २·९३%, अलब्युमिनॉयड १·६२%, विलेय कार्बोहाइड्रेट ८५·४१%, काष्ठसूत्र १·५१% और भस्म ८·५३% होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, दाहप्रशमन, चक्षुष्य तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, पित्तसारक, भेदन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन तथा स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—मेदोनाशक और विषघ्न हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, व्रण तथा अर्श में इसका लेप करते हैं। दाह में पत्रस्वरस लगाते हैं तथा नक्तान्ध्य में पत्र का लेप नेत्रों पर करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आमदोष, यकृद्विकार, विबन्ध, अर्श तथा कृमि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—शोथ और रक्तविकारों में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध तथा स्तन्यविकार में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी और प्रमेह में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में दिया जाता हैं।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है। ज्वर में करैले का शाक पथ्य में भी देते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विष में प्रयुक्त होता हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; वमनार्थ-१० तो०।

वक्तव्य—करैले के अतियोग से उपद्रव होने पर चावल और घी खिलाते हैं।

× × × ×

'कारवेल्ली पीतपुष्पा मंडपी चीरितच्छदा।' (शि.)

'कारवेल्लं सकटुकं कटुपाकमवातलम्। दीपनं भेदनं तिक्तमवृष्यमहिमं लघु॥
हन्त्यरोचकपित्तास्रकफपाण्डुव्रणक्रिमीन्। श्वासकासप्रमेहाश्मकोठकुष्ठज्वरानपि॥
कारवेल्लीफलं वन्यं ज्वरार्शःकृमिनाशनम्। कासघ्नं दीपनं हृद्यं सतिक्तं कफवातजित्॥'

(कै. नि.)

३२१. कर्कोटकी

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध (च०), तिक्तवर्ग (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-मोमोर्डिका कोचिन-चाइनेन्सिस (Momordica Cochin-chinensis); सं०-कर्कोटकी, पीतपुष्पा, महाजाली; हि०-खेखसा, ककोड़ा; पं०-ककोड़ा; बं०-काँकरोल; म०-करटोलें; गु०-कंटोला, कंकोडां; ता०-अदाविकाकर।

स्वरूप—इसकी वर्षायु **लता** होती है **पत्र**—हृदयाकृति, ४-५ इञ्च व्यास के, रोमश, दन्तुरधार, प्रायः तीन भागों में विभक्त होते हैं। **पुष्प**—पीतवर्ण, एकलिंगी होते हैं जो संध्या में खिलते हैं। **फल**—छोटे, अंडाकार होते हैं और उनके पृष्ठ भाग पर कंटकवत् उभार होते हैं। **फलमज्जा**—रक्तवर्ण होती है। **बीज**—छोटे चपटे, कृष्णाभ होते हैं। लता के नीचे कन्द होता है। ग्रीष्म तथा वर्षा में पुष्प और फल होते हैं।

जाति—इसकी एक जाति में फल नहीं लगते उसे वन्ध्याकर्कोटकी (बाँझ खेखसा) कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी भस्म में मैंगनीज होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणशोधन, केश्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तिक्त होने से यह रोचन, दीपन, आमपाचन, पित्तसारक तथा स्निग्ध होने से अनुलोमन और रेचन है। इसका मूल अधिक मात्रा में लेने से वामक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है। मूल रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशय शोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन तथा प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। संशोधनार्थ पित्तविकारों में भी देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों में तथा खालित्य रोग में इसके मूल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, हृल्लास, अग्निमान्द्य, आमदोष, यकृद्विकार, विबन्ध और अर्श में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, शोथ देते हैं। रक्तार्श में कन्द का चूर्ण लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास तथा पार्श्वशूल में इसका प्रयोग करते हैं इन रोगों में इसके फल का शाक भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रसव के वाद इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में मूल का चूर्ण दिया जाता है तथा फल का शाक भी देते हैं। अश्मरी में भी प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य तथा विष में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; चूर्ण-३-६ माशे।

× × × ×

'कर्कोटकी पीतपुष्पा महाजालीति चोच्यते।' (भा. प्र.)

'कर्कोटी मलहृत् कुष्ठहृल्लासारुचिनाशिनी। श्वासकासज्वरान् हन्ति कटुपाका च दीपनी॥' (भा. प्र.)

'कर्कोटकी कटूष्णा च तिक्ता विषविनाशिनी। वातघ्नी पित्तहृच्चैव दीपनी रुचिकारिणी॥
वन्ध्याकर्कोटकी तिक्ता कटूष्णा च कफापहा। स्थावरादिविषघ्नी च शस्यते सा रसायने॥' (रा. नि.)

'कर्कोटीमूलिका पीता दशाहं पयसा सह।
भित्त्वाऽश्मशर्कराः शीघ्रं पातयत्येव खण्डशः॥' (शो.)

३२२. चिचिण्ड

परिचय

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)

नाम—लै०-ट्राइकोसैन्थस एंग्विना (Trichosanthes Anguina); सं०-चिचिण्ड, श्वेतराजि, सुदीर्घ; गृहकूलक; हि०-चिचिंधा, चिचड़ा; बं०-चिचिङ्गा, होंपा; म०-पडावल; गु०-पंडोलु; ता०-पुडल; ते०-सिंगापटल; अं०-स्नेक-गॉर्ड (Snake-gourd)।

स्वरूप—इसकी वर्षायु **लता** होती है। **पत्र**-हृदयाकार, पञ्चकोणविशिष्ट, दोनों पृष्ठों पर रोमश होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, पीत होते हैं। **फल**-२-३ फुट लम्बा बेलनाकार होता है। फल के पृष्ठ भाग पर श्वेत धारियां होती हैं। **बीज**-फल के भीतर अनेक होते हैं। वर्षा में पुष्प और फल होते हैं। फल शाक में व्यवहृत होता है।

जाति—इसका आदिम वासस्थान दक्षिणपूर्व एशिया है किन्तु अब भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—ताजे फल में ९५ प्रतिशत जल होता है। शुष्क फल में ईथर एक्स्ट्रैक्ट २·२ प्रतिशत, प्रोटीन २·२ प्रतिशत, विलेय शाकतत्त्व ६७·८५ प्रतिशत, काष्ठसूत्र १०·६० प्रतिशत और भस्म ५·६ प्रतिशत होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचन—रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन है। पक्व फल रेचन तथा बीज कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमान्द्य, आमदोष, विबन्ध में इसका प्रयोग होता है। पक्व फल रेचनार्थ तथा बीज कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—क्षयरोग में पथ्य है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०।

× × × ×

'चिचिण्डः श्वेतराजिः स्यात् सुदीर्घः गृहकूलकः।
चिचिण्डो वातपित्तघ्नो बल्यः पथ्यो रुचिप्रदः॥
शोषिणोऽतिहितः किंचिद् गुणैर्न्यूनः पटोलतः।' (भा. प्र.)

(ग) नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक

३२३. सप्तपर्ण

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, कषायस्कन्ध, कुष्ठघ्न, उदर्दप्रशमन, शिरोविरेचन (च०); आरग्वधादि, लाक्षादि, अधोभागहर (सु०)।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी-Apocynaceae)।

नाम—लै०-ऐल्स्टोनिया स्कॉलरिस (Alstonia scholaris); सं०-सप्तपर्ण, विशालत्वक्, शारद (शरदृतु में पुष्पित होने वाला); विषमच्छद; हि०-छितवन, सतौना; बं०-छातिम; पं०-सतौना; म०-सातवीण; गु०-सातवण; ता०-एलिलै प्पालै; ते०-एडाकुलरिटि।

स्वरूप—इसका चिरहरित वृक्ष ४०-५० फुट ऊँचा होता है। **त्वक्**-स्थूल भंगुर और श्वेत होती है तथा काटने पर श्वेत दुग्ध निकलता है। **पत्र**-लगभग ७ की संख्या में, ४-६ इच लंबे तथा १-१½ इञ्च चौड़े होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ स्निग्ध हरित तथा

निम्न पृष्ठ श्वेताभ होता है। पत्तियों को तोड़ने से भी दूध निकलता है। **पुष्प**–हरिताभ श्वेत सुगंन्धि, गुच्छों में होता है। **फली**–लगभग १ फुट लंबी, कुछ टेढ़ी और चपटी होती है। **बीज**–छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं जिनके दोनों किनारों पर रूई सी लगी होती है। फल पकने पर फट जाते हैं और ये बीज हवा में उड़ कर बिखर जाते हैं। शरद्ऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। बंगाल तथा दक्षिण भारत में विशेषतः पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—छाल में डिटेमिन (Ditamine); एकिटेमिन (Echitamine), एकिटेनिन (Echitenine), एकिकॉउचिन (Echicaoutchien), एकिसरीन (Echicerin), एकिटिन (Echitin), एकिटीन (Echitein), एकिरेटिन (Echiretin), वसाम्ल तथा वसायुक्त रालमय पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न विशेषतः कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न और व्रणशोधन-रोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, स्तम्भन तथा कृमिघ्न है। दुग्ध रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषज विकारों में विशेषतः कफवातज रोगों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ तथा जीर्णव्रणों में छाल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, प्रवाहिका तथा कृमि में छाल का प्रयोग करते हैं। विबन्ध एवं उदररोगों में दूध देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा हृद्रोग में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है। शिरोरोगों में इसका पुष्प शिरोविरेचन के लिए देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रसूता स्त्रियों को इसका सेवन कराते हैं। इससे अग्नि और बल की वृद्धि होती है, ज्वर का प्रतिषेध होता है तथा स्तन्य की वृद्धि होती है।

त्वचा—कुष्ठ, उदर्द आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में, विशेषतः विषम ज्वर में इसकी क्रिया कुनैन के तुल्य होती है और उसके समान उपद्रव भी नहीं होते।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, विशेषतः ज्वरजन्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, क्षीर, पुष्प।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; क्वाथ-५-१० तो०; त्वक्चूर्ण-६-१२ रत्ती; दुग्ध-३-६ रत्ती।

विशिष्ट योग—सप्तच्छदादि क्वाथ, सप्तच्छदादि तैल, सप्तपर्णसत्त्वादि वटी।

× × × ×

'सप्तपर्णः शाल्मलीसदृशपत्रो गजमदगन्धपुष्पः शरदि विकसनशीलः उच्चैर्वृक्षः।' (डल्हण)
'सप्तपर्णो गुच्छपुष्पो बहुत्वक् शाल्मलीच्छदः।' (शि.)
'त्रिदोषशमनो हृद्यः सुरभिर्दीपनः सरः। शूलगुल्मकृमीन् हन्ति कुष्ठं शाल्मलिपत्रकः॥' (ध. नि.)
'सप्तपर्णो व्रणश्लेष्मवातकुष्ठास्रजन्तुजित्। दीपनः श्वासगुल्मघ्नः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः॥'
(भा. प्र.)

३२४. करवीर

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, कुष्ठघ्न (च०); लाक्षादि, शिरोविरेचनद्रव्य (सु०)।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी-Apocynaceae)।

नाम—लै०-नेरियम ओडोरम (Nerium Odorum); सं०-करवीर, अश्वमारक; हि०-कनेर, कनैल; बं०-करवी; म०-कण्हेर; गु०-करेणर, करेण; ता०-आलारी; ते०-जान्नेरत; अ०-सम्मुल्हिमार; फा०-खरजहरा; अं०-रोजबेरी स्पर्ज (Rose-berry Spurge)।

स्वरूप—इसका छोटा **वृक्ष**-१०-१५ फुट ऊँचा होता है। वृक्ष के मूल तथा काण्ड से अनेक शाखाप्रशाखायें निकलती हैं जिससे यह सघन और झाड़ीदार हो जाता है। **पत्र**-४-६ इञ्च लंबे, नुकीले होते हैं। पत्र की मध्यशिरा कठिन होती है। पत्र तथा छाल में क्षत होने से सफेद दुग्ध निकलता है। **पुष्प**-सुगंधि, श्वेत, पीत, रक्त या नील होते हैं। **फल**-गोल या लंबे होते हैं। ग्रीष्म वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—पुष्पभेद से इसकी चार जातियाँ हैं:—(१) श्वेत, (२) पीत, (३) रक्त और (४) कृष्ण। संप्रति प्रथम तीन ही प्रकार उपलब्ध हैं, कृष्ण दुर्लभ है। श्वेत, रक्त और कृष्ण के फल पतले, ५-६ इञ्च लंबे होते हैं। पीत करवीर का फल गोलाकार, चतुष्कोण होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह अफगानिस्तान और भारत में ५५०० फुट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मूल में दो तिक्त अस्फटिकीय तत्त्व होते हैं जिनका हृदय पर तीव्र विषाक्त प्रभाव होता है। इनमें एक जल में अविलेय है तथा दूसरा विलेय है। प्रथम का नाम 'नेरिओडोरिन' (Neriodorin) तथा दूसरे का नाम 'नेरिओडोरीन' (Neriodorein) है। इनके अतिरिक्त एक ग्लुकोसाइड, रोजेगिनिन (Rosaginine), एक सुगंधि तैल, डिजिटैलिन के सदृश एक स्फटिकीय पदार्थ-नेरीन

(Neriene), टैनिक एसिड और मोम होते हैं। पत्तियों में ओलिएड्रीन (Oleandrine) नामक क्षारतत्त्व, एक ग्लुकोसाइड, स्युडो-कुरारिन (Pseudo-curarine), नेरीन (Neriene) तथा नेरिऐण्टीन (Neriantine) नामक तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण तथा शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, विदाही तथा भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—पीत कनेर की हृदय पर क्रिया डिजिटेलिस के समान तथा श्वेत और रक्त कनेर की स्ट्रोफैन्थस के समान होती है। यह हृद्य है और इससे हृदय को शक्ति प्राप्त होती है। अधिक मात्रा में हृदय के लिए विष है। रक्तशोधक भी है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्कों का रक्तसंवहन बढ़ने से मूत्र अधिक आता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न और स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है। १ रत्ती पीले कनेर की छाल से वही कार्य होता है जो १५ रत्ती सिनकोना की छाल से।

सात्मीकरण—यह तीव्र विष है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, व्रण तथा शोथ में मूल को पीस कर लेप करते हैं। विशेषतः उपदंश और फिरंग के व्रणों पर इसका लेप करते हैं। पत्रस्वरस नेत्ररोगों में आँखों में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, उदररोग तथा विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है। हृदय दुर्बल होकर जब अकार्यक्षम हो जाता है और उसके कारण जब श्वासकष्ट, शोथ, दौर्बल्य आदि लक्षण प्रकट होते हैं तब करवीर का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में ज्वर उतरने पर १/२ रत्ती की मात्रा में इसका घनसत्व देने से पुनः ज्वर का वेग रुकता है। यह औषध खाली पेट नहीं देनी चाहिए।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने से अवसाद, नाडीदौर्बल्य, हृदय तथा श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है।

उपचार—इसमें आमाशय का शोधन करने के बाद घी पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१/८-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—करवीराद्य तैल।

करवीरोऽगुलिपत्रः स्यात् श्वेतो रक्तश्च पीतकः। तथा पाटलपुष्पश्च गुणैस्तुल्यश्चतुर्विधः॥'
(शि.)

'करवीरद्वयं तिक्तं कषायं कटुकं च तत्। व्रणलाघवकृन्नेत्रकोपकुष्ठव्रणापहम्॥
वीर्योष्णं कृमिकण्डुघ्नं भक्षितं विषवन्मतम्।' (भा. प्र.)
'करवीरः कटुस्तिक्तो वीर्ये चोष्णो ज्वरापहः। चक्षुष्यः कुष्ठकण्डूघ्नः प्रलेपाद्विपमन्यथा॥'
(ध. नि.)

३२५. पूतिकरञ्ज

परिचय

गण—अधोभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिएसी-Caesalpiniaceae)।

नाम—लै०-सीजलपिनिया बॉण्डुसेला (Caesalpinia Bonducella)। सं०-पूतिकरञ्ज, लताकरञ्ज, घृतकरञ्ज, कण्टकीकरञ्ज, कुबेराक्ष, प्रकीर्य। हि०-कँटकरेज; काँटाकरञ्ज, करञ्जुवा; बं०-नाटाकरञ्जा; म०-सागरगोटा; गु०-कांकच; ता०-गाच चाक्काई; ते०-गाच चाक्कया; अं०-फीवर प्लाण्ट (Fever Plant)।

स्वरूप—इसका छोटा झाड़ीदार गुल्म होता है। **काण्ड** तथा शाखाओं पर काँटे होते हैं। **पत्र**-१-इञ्च लम्बे, पक्षाकार होते हैं। **पत्रक**-१२-१६ की संख्या में होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। **फल**-२ इञ्च लम्बे, चपटे तथा कण्टकावृत होते हैं जिनके भीतर दो बीज होते हैं। **बीजावरण**-कठिन तथा नीलाभ धूसर होता है और बीजमज्जा श्वेत होती है। वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः समुद्र के तटवर्ती प्रदेश (बम्बई, बंगाल तथा दक्षिण भारत) में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक तिक्तसत्त्व २ प्रतिशत, तैल २५%; क्षार २$\frac{३}{४}$%, प्रोटीन २०%, स्टार्च ३५$\frac{१}{२}$% प्रतिशत होते हैं। तिक्तसत्त्व का नाम 'नाटिन' (Natin) या बॉण्डुसिन (Bonducin) है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, रेचन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है। बीजों में स्थित तिक्त सत्त्व कुनैन के समान कार्यकर है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका लेप शोथ तथा वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। आमवात, सन्धिवात में इसका तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, शूल, उदररोग, अर्श, यकृत्प्लीहा तथा कृमि रोगों में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—उपदंश आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—प्रसूता स्त्रियों को गर्भाशयशोधनार्थ इसका सेवन कराते हैं। इससे ज्वर, शूल, शोथ आदि उपद्रव भी शान्त होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में बीजों का चूर्ण काली मिर्च के साथ देते हैं।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, फल, मूल।

मात्रा—बीजमज्जाचूर्ण-१०-२० रत्ती; मूलचूर्ण-१०-१५ रत्ती; पत्रस्वरस-१-२ तोला।

विशिष्ट योग—विषमज्वरघ्नी वटी।

× × × ×

'स्रंसनं कटुकं पाके लघु वातकफापहम्। शोथघ्नमुष्णवीर्यं च पत्रं पूतिकरञ्जजम्॥' (सु. सू. ४६.)

'विरेचने प्रयोक्तव्यः पूतीकः।' (च. सू. १)

'कुबेराक्षं यकृत्प्लीहवातघ्नं व्रणरोपणम्।' (शो.)

३२६. द्रोणपुष्पी

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-ल्युकस किफेलोटस (Leucas Cephalotes); सं०-द्रोणपुष्पी (प्याले या मटके के सदृश पुष्प वाला); फलेपुष्पा (फल पर पुष्प होने के कारण); हि०-गूमा; बं०-हलकसा, घलघसे; म०-तुंबा, कुंमा; गु०-कूबो; ता०-तुम्बारी; ते०-पुयाप्पातोसी।

स्वरूप—यह वर्षायु क्षुप वर्षाऋतु में उगता है। **कांड**-२-३ फुट, चतुष्कोण और रोमश होते हैं। **पत्र**-२-३ इञ्च लंबे, ½ इञ्च चौड़े, दन्तुरधार और रोमश होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, गुच्छों में गोल, १-२ इञ्च व्यास के, कोणपुष्पकों से घिरे होते हैं।

पुष्पगुच्छ के ऊपर प्रायः दो पत्तियाँ लगी रहती हैं (देहातों में गूमा के विषय में 'फूल के ऊपर पत्ता' यह बुझौवल प्रसिद्ध है)। पुष्प शाखाओं पर पत्रकोण में लगे होते हैं तथा आकृति में द्रोण (प्याला या मटका-Cup or bucket) के सदृश होते हैं। पुष्प शीतकाल में लगते हैं। गरमी में क्षुप सूख जाता है।

जाति—कुछ और क्षुप द्रोणपुष्पी के नाम से प्रचलित हैं जिनमें—L. Linifolia, L. Aspera, L. Zeylanica मुख्य हैं। सामान्यतः इन्हें बड़ी और छोटी इन दो जातियों में विभक्त कर सकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक तथा भारत से लंका तक सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्पों में एक सुगंधि तैल तथा एक क्षारतत्त्व होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, लवण, मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कफघ्न, जन्तुघ्न और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननस्थान—आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में शमनार्थ तथा पित्तविकारों में शोधनार्थ दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—प्रतिश्याय तथा शिरःशूल में इसके स्वरस का नस्य लेते हैं। व्रणों को इसके क्वाथ से धोते हैं। सर्पविष आदि में भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आध्मान, शूल, विबन्ध, कामला तथा कृमिरोग में देते हैं। कामला में इसके स्वरस का अंजन भी नेत्रों में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध और कष्टार्त्तव में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः विषमज्वर तथा वातश्लैष्मिक ज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग (विशेषतः पत्र और पुष्प)।

मात्रा—स्वरस-½-१ तो०।

'द्रोणपुष्पी गुरुः स्वादू रूक्षोष्णा वातपित्तकृत्। सतीचणा लवणा स्वादुपाका कट्वी च भेदनी॥
कफामकामलाशोषतमकश्वासजन्तुजित्।' (भा. प्र.)

'द्रोणपुष्पी कटुः सोष्णा रुच्या वातकफापहा। अग्निमांद्यहरा चैव कामलाज्वरहारिणी॥'
(रा. नि.)

'द्रोणपुष्पीरसो वापि निहन्ति विषमज्वरान्।' (भा. प्र.)
'अंजने कामलार्त्तानां द्रोणपुष्पीरसो हितः।' (वृन्द.)

३२७. तुलसी

परिचय

गण—सुरसादि (सु०)।

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-ऑसिमम सैंक्टम (Ocimum Sanctum); सं०-तुलसी, सुरसा, ग्राम्या, सुलभा, बहुमंजरी, अपेतराक्षसी, शूलघ्नी, देवदुन्दुभि; हि०-तुलसी; म०-तुलस; ते०-गाप्पाराचेट्टु; अं०-होली बेसिल (Holy basil)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-लगभग १ इञ्च लम्बे, गोलाई लिए, सुगन्धित होते हैं। **पुष्पमंजरी**-५-६ इंच लम्बी होती है। **बीज**-चपटे, रक्ताभ होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—मुख्यतः इसके दो भेद होते हैं:—(१) श्वेत और (२) कृष्ण। श्वेत के पत्र और शाखायें श्वेताभ और कृष्ण के कृष्णाभ होते हैं। गुण में काली तुलसी उत्तम मानी जाती है। इनके अतिरिक्त, रामतुलसी (जिसके क्षुप और पत्र बड़े होते हैं) और कपूरी तुलसी (जिससे कपूर निकाला जाता है) भी इसके भेद हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्तभारत के घरों और मन्दिरों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक पीताभ हरित सुगन्धि तैल पाया जाता है जो कुछ काल रखने से स्फटिकाकार हो जाता है। इसे तुलसी-कर्पूर (Basil-Camphor) कहते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

बीज स्निग्ध, पिच्छिल और शीत हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, दुर्गन्धनाशन, उत्तेजक, वातहर और शोथघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—बीज मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बीज बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्णव्रण, शोथ, पीडा में इसका लेप करते हैं। अवसाद की अवस्था में इसको त्वचा पर मलते हैं। बाह्य कृमियों में भी इसका प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, छर्दि, उदरशूल तथा कृमि में प्रयुक्त होता है। बीज पिच्छिल होने से प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार, शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास तथा पार्श्वशूल में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—तुलसी के बीज पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह, बस्तिशोथ तथा अश्मरी में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में यह प्रयुक्त होता है। विषमज्वर का यह प्रतिषेधक भी है। इसका क्षुप लगाने से मच्छड़ों तथा मलेरिया के जीवाणुओं से रक्षा हो जाती है।

सात्मीकरण—बीजों का प्रयोग दौर्बल्य में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; बीजचूर्ण—१-२ माशे।

× × × ×

'तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत्। दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्रपार्श्वरुक्कफवातजित्॥'
(भा. प्र.)

'हिक्काकासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशनः। पित्तकृत् कफवातघ्नः सुरसः समुदाहृतः॥'
(च. सू. २७)

'कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशनः। पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः॥'
(सु. सू. ४६.)

३२८. कुनैन

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)

नाम—लैं०-सिनकोना ऑफिसिनेलिस (Cinchona officinalis); हि०-कुनैन; अं०-सिनकोना (Cinchona)।

स्वरूप—इसका चिरहरित **वृक्ष**-२०-२५ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-गोलाकार और लम्बा तथा छाल बाहर से धूसर, सफेद और काले दागों से युक्त तथा भीतर पीत वर्ण होती है। **पत्र**-विपरीत, ३-४ इञ्च लम्बे तथा पत्रवृन्त रक्ताभ होता है। **पुष्पदण्ड**-अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त होता है जिसमें गुच्छों में गुलाबी रंग के फूल, कुछ सफेदी लिए होते हैं। **फल**-$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बा, रक्ताभ धूसर स्वतः स्फोटी होता है जिसके भीतर अनेक छोटे, चपटे, धूसर बीज होते हैं। ग्रीष्म में पुष्प तथा वर्षा में फल लगते हैं।

जाति—इस वृक्ष की अनेक जातियां (लगभग ३०-४०) होती हैं जिनमें पीत कुनैन (C. Calisaya), रक्त कुनैन (C. Succimbra), C. Ledgeriana, C. Cordifolia आदि मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान दक्षिण अमेरिका है। १६३९ ई० में पेरू देश की रानी काउण्टेस सिनकॉन (Countess Cinchon) ने इसका व्यवहार किया और ज्वरमुक्त हुई। तब से इसका प्रचार बढ़ा और वहाँ यूरोप में फैला। क्रमशः भारत में भी इसका प्रवेश हुआ और अब नीलगिरि, आसाम, दार्जिलिंग में इसकी खेती होती है। बर्मा, जावा में भी यह प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में मुख्यतः पाँच स्फटिकीय क्षारतत्त्व होते हैं:—क्विनीन (Quinine), सिनकोनीन (Cinchonine), क्विनिडिन (Quinidine), सिनकोनिडिन (Cinchonidine), हाइड्रोक्विनीन (Hydroquinine)। इनके अतिरिक्त, लगभग २० अस्फटिकीय क्षारतत्त्व होते हैं। चाइनिक या क्विनिक अम्ल (Chinic or Quinic acid), चाइनोविक अम्ल (Chinovic acid), और सिनको-टैनिक एसिड (Cincho-tannic acid):—ये तीन अम्ल; एक ग्लुकोसाइड (चायनोविन-Chinovin); रञ्जक द्रव्य तथा किंचित् उड़नशील तैल होते हैं।

क्षारतत्त्वों की उपस्थिति पर ही छाल की कार्यकारिता निर्भर है। क्विनीन सबसे अधिक रक्तजाति (Red cinchona) में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। उष्ण होने से कफवात का तथा तिक्त होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, आमपाचन, स्तम्भन, कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक तथा रक्तशोधक है। प्लीहा को संकुचित करता है तथा श्वेतकणों को बढ़ाता है।

श्वसनस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है। विशेषतः नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है।

उत्सर्ग—इसका मुख्य उत्सर्ग मूत्र से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बाह्यकृमियों में तथा वेदनाप्रधान रोगों में छाल का लेप करते हैं। कर्णस्राव में कान में डालते हैं। मुखपाक तथा गलशोथ में इससे कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, यकृद्विकार, प्रवाहिका तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय तथा कास में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध में तथा गर्भाशयशोधन के लिए प्रसव के बाद देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में यह श्रेष्ठ औषध है। ज्वर आने के पूर्व देने से ज्वर का वेग रुक जाता है। जीर्ण विषमज्वर में देने से ज्वर उतरता है, यकृत्प्लीहा की वृद्धि शान्त होती है, रोगी की अग्नि और बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, सत्त्व (कुनैन)।

मात्रा—त्वक्चूर्ण १-२ माशे; सत्त्व १-५ रत्ती।

वक्तव्य—सत्त्व को किसी अम्ल में विलीन कर देने से लाभ अधिक होता है।

विषाक्त लक्षण—इसकी अधिक मात्रा देने से वात की वृद्धि हो जाती है और उदावर्त्त, पाचनविकार, विवन्ध, दौर्बल्य, कर्णनाद, बाधिर्य, दृष्टिमांद्य, भ्रम आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उपचार—वातशामक स्निग्ध-मधुर द्रव्यों (दूध, फल आदि) का सेवन करना चाहिए।

दाहप्रशमन

३२९. उत्पल

परिचय

गण—दाहप्रशमन, मूत्रविरजनीय (च०), उत्पलादि (सु०)।

कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी-Nymphoeaceae)।

नाम—लै०-निम्फिया स्टिलेटा (Nymphoea Stellata); सं०-उत्पल, कुमुद; हि०-कुईं, कोईं; बं०-कुमुद, शंधि, शालूक; म०-कमोद; गु०-पोयणु; ता०-नह्ल-कलव; ते०-अल्लिकाडा; फा०-नीलोफर; अं०-इण्डियन वाटर लिलि (Indian water lily)।

स्वरूप—यह एक जल में होने वाला क्षुप है। **पत्र**-पानी में तैरता हुआ गोलाकार ६-१८ इञ्च व्यास के होते हैं। कुछ पत्तों का रंग रक्ताभ होता है। **पुष्प**-३-१० इञ्च व्यास के, श्वेत, रक्त तथा नीलवर्ण होते हैं। बाह्यदल ४, आभ्यन्तरदल १२, पुंकेशर प्रायः ४० की संख्या में होते हैं। **फल**-१$\frac{1}{4}$ इंच व्यास के; हरितवर्ण, प्रायः १५-२० कोषों से युक्त होते हैं। **बीज**-छोटे, गोलाकार, कच्चे में लाल और पकने पर काले हो जाते हैं। इन्हें 'बेरा या भेंट' कहते हैं। इनको भून कर लावा बनाते हैं। पुष्प विशेषतः शरद् ऋतु में होते हैं।

वक्तव्य—कुमुद और कमल की विस्तृत रचनागत विशेषताओं के लिए कमल का वर्णन देखें।

जाति—यह पुष्प के वर्णभेद से श्वेत, रक्त और नील-तीन प्रकार का होता है। यों वनस्पतिशास्त्र के अनुसार इसकी अनेक उपजातियाँ होती हैं यथा N. Rubra, N. cyanea आदि।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में तालाबों और गढ़ों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, स्टार्च, गोंद इत्यादि पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर, कषाय, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य है।

पाचनसंस्थान—छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरजनीय है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों विशेषतः कफपित्तरोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में पुष्प का स्पर्श एवं लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मूर्च्छा, अपस्मार आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा, अतिसार, रक्तार्श में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गर्भावस्था में इसका सेवन करने से गर्भस्राव आदि का भय नहीं रहता।

मूत्रवहसंस्थान—पैत्तिक प्रमेह में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है। ज्वर में बीजों की लावा का पथ्य देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पुष्प, बीज।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; क्वाथ—५-१० तो०।

विशिष्ट योग—उत्पलादि चूर्ण, उत्पलादि हिम।

× × × ×

'कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम्।' (भा. प्र.)

'पद्मिन्या ये गुणाः प्रोक्ताः कुमुदिन्याश्च ते स्मृताः।' (भा. प्र.)

'उत्पलकुमुदपद्मकिंजल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

३३०. चन्दन

परिचय

गण—दाहप्रशमन, अंगमर्दप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, वर्ण्य, कण्डूघ्न, विषघ्न, तिक्तस्कन्ध (च०), सालसारादि, पटोलादि, सारिवादि, प्रियंग्वादि, गुडूच्यादि, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—चन्दन-कुल (सैण्टलेसी-Santalaceae)।

नाम—लै०-सैण्टलम ऐलबम (Santalum Album); सं०-चन्दन, श्रीखण्ड, भद्रश्री, गन्धसार, मलयज, चन्द्रद्युति; हि०-सफेद चंदन; गु०-सुखड; ता०-सन्दनमारम्; ते०-गन्धपुचेक्का; अ०-संदले अब्यज; फा०-संदले सफेद; अं०-सैण्डल वुड (Sandal wood)।

स्वरूप—इसका चिरहरित २०-४० फीट ऊँचा **वृक्ष** होता है। **छाल**-बाहर से धूसर, कृष्णाभ और भीतर से रक्ताभ भंगुर होती है तथा उस पर लम्बे चीरे होते हैं। बाहरी काष्ठ श्वेत और निर्गन्ध तथा भीतरी काण्डसार धूसर और अतिशय सुगंधि होता है। यह कठिन और तैलयुक्त होता है। **पत्र**-१-२ इञ्च लंबे, अंडाकार नुकीले होते हैं। **पुष्प**-पीताभ बैंगनी होते हैं। **फल**-गोलाकार, ½ इञ्च व्यास के, पकने पर कृष्णवर्ण होते हैं। इसके पत्र, त्वचा एवं पुष्प निर्गन्ध होते हैं। वर्षा से शीतकाल पर्यन्त पुष्प और बाद में फल होते हैं। चन्दन का वृक्ष लगभग ५० वर्षों के बाद परिपक्व होता है।

जाति—अनेक विद्वान् इसके बाहरी काष्ठ को श्वेतचन्दन तथा भीतरी काष्ठ को पीतचन्दन कहते हैं। राजनिघंटु ने देशभेद तथा कालभेद से इसके सात भेद किये हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मैसूर, कुर्ग और मालाबार में अधिक होता है। पहाड़ों की कंकरीली जमीन में होने वाला वृक्ष उर्वरा भूमि में होने वाले वृक्ष से उत्तम होता है तथा उसमें तैल अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—काण्डसार तथा मूल में २-६ प्रतिशत उड़नशील तैल होता है जिसे परिस्रवणविधि से प्राप्त करते हैं। मूल में तैल अधिक होता है। प्रायः १ मन चन्दन की लकड़ी से आधा पाव तेल निकलता है। तैल-पीताभ, गाढ़ा, तीक्ष्णगंधि एवं स्वाद में कटुतिक्त होता है। चन्दन तैल में सैण्टलोल (Santalol) नामक तत्त्व ९० प्रतिशत होता है।

परीक्षा—जो चंदन स्वाद में तिक्त, घिसने पर पीला, काटने में लाल, ऊपर से श्वेत, गाँठदार और कोटरयुक्त हो, वह उत्तम माना जाता है।[1]

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

---

१. स्वादे तिक्तं कषे पीतं छेदे रक्तं तनौ सितम्। ग्रंथिकोटरसंयुक्तं चंदनं श्रेष्ठमुच्यते ॥' (भा० प्र०)

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शामक, दुर्गन्धहर, दाहप्रशमन, वर्ण्य तथा त्वग्दोषहर है।

नाडीसंस्थान—सौमनस्यजनन तथा मेध्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, आमाशय, अन्त्र और यकृत् के लिए बल्य, ग्राही तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक तथा रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक तथा श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन तथा मूत्रमार्ग के लिए कोथप्रशमन है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—अंगमर्दप्रशमन तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चन्दन का लेप पैत्तिक शिरःशूल, दाह, विसर्प तथा अन्य चर्मरोग, वर्णविकार तथा अतिस्वेदजन्य दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिए करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मानसिक व्यग्रता तथा दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, पाचनदौर्बल्य, अतिसार-प्रवाहिका तथा कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास में उपयोगी है। इससे कफ आसानी से निकल जाता है तथा कफ में रक्त तथा पूय आना बन्द होता और कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर तथा शुक्रमेह में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह तथा बस्तिशोथ में देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—अंगमर्द तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार, तैल।

मात्रा—चूर्ण ३-६ माशे; तैल ५-२० बूँद।

विशिष्ट योग—चन्दनादि चूर्ण, चन्दनादि वटी, चन्दनासव।

× × × ×

'चन्दनं दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणलेपनानाम्।' (च. सू. २५)

'चन्दनं शीतलं रूक्षं तिक्तमाह्लादनं लघु। श्रमशोषविषश्लेष्मतृष्णापित्तास्रदाहनुत्॥'(भा.प्र.)

३३१. रक्तचन्दन

परिचय

गण—पटोलादि, सारिवादि, प्रियंग्वादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-टेरोकार्पस सैण्टेलिनस् (Pterocarpus Santalinus)। सं०-रक्तचन्दन, कुचन्दन, तिलपर्णी, रक्तसार, प्रवालफल; हि०-लालचन्दन; गु०-रतांजली, लालचन्दन; ता०-चेञ् चन्दनम्; ते०-एर्र चंदनमु; अ०-सन्दल अहमर; फा०-सन्दल सुर्ख; अं०-रेड सैण्डल (Red Sandal)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** १५-३० फुट ऊँचा होता है। **त्वक्**-कृष्णाभ धूसर होती है। **काष्ठ**-बाहर की ओर श्वेतवर्ण तथा भीतरी काण्डसार रक्तवर्ण होता है। **पत्र**-३-५ इञ्च लंबे, संयुक्त होते हैं। **पत्रक**-आगे की ओर गोलाकार तिल के पत्तों के सदृश होते हैं। **पुष्पदंड**-लंबा होता है जिसके चारों ओर पुष्प होते हैं। **शिम्बी**-२-३ इञ्च लंबी होती है जिसमें लालरंग के बीज गुंजा के सदृश होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण भारत के मलाबार प्रदेश में होता है।

रासायनिक संघटन—एक स्फटिकीय लालरंग का तत्त्व-सैण्टलिन (Santalin) या सैण्टलिक एसिड (Santalic acid); सैण्टल टेरोकार्पिन (Santal Pterocarpin) नामक एक श्वेत स्फटिकीय अविलेय पदार्थ; होमोटेरोकार्पिन (Homopterocarpin); ग्लुकोसाइड तथा रंजक द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहशामक, स्तम्भन, शोथहर और त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक और रक्तशोधक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, क्षत, शोथ, शिरःशूल तथा चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है। नेत्ररोगों में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छर्दि, तृष्णा और अतिसार में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—दाह और ज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार।

मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे।

'रक्तं शीतं गुरु स्वादु च्छर्दितृष्णास्रपित्तहृत्। तिक्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरव्रणविषापहम् ॥'
(भा. प्र.)

'रक्तचन्दनमतीव शीतलं तिक्तमीक्षणगदास्रदोषनुत्।
भूतपित्तकफकासज्वरभ्रान्तिजन्तुवमिजित्तृषापहम् ॥' (रा. नि.)

३३२. प्रियंगु

परिचय

गण—मूत्रविरजनीय, पुरीषसंग्रहणीय (च०); प्रियंग्वादि, अञ्जनादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी-Verbenaceae)।

नाम—लै०-कैलिकार्पा मैक्रोफाइला (Callicarpa Macrophylla); सं०-प्रियंगु, फलिनी, कान्ता, गन्धफली, श्यामा, अंगनाप्रिया; हि०-प्रियंगु, डइया; बं०-मठारा; पं०-सुमली।

स्वरूप—यह गुल्माकार थोड़ा ऊँचा क्षुप होता है। शाखाओं पर सघन तूलरोम होते हैं जो नवीन भागों पर विशेष रूप से स्पष्ट होते हैं। **पत्र**–६–१० इञ्च लम्बे, आयताकार, तीक्ष्णाग्र, दन्तुरधार होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चिकना तथा निचला पृष्ठ तूलरोमश होता है। **पुष्प**–छोटे, गुलाबी रंग के, सघन, गोल गुच्छों में पत्रकोण से निकलते हैं। **फल**–मांसल, श्वेत तथा चार खंडों का होता है तथा प्रत्येक खंड में एक-एक बीज होता है। फल पकने पर उसका ऊपरी पृष्ठ स्पंज के सदृश प्रतीत होता है।

जाति—भावप्रकाश ने इसके दो भेद बतलाये हैं:—(१) प्रियंगु, (२) गन्धप्रियंगु। गन्धप्रियंगु में गन्ध अधिक होती है। यह तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae) का द्रव्य है। इसका लैटिन नाम प्रुनस महालेब (Prunus Mahaleb) है। इसे मराठी में गहुला; गुजराती में घऊँरथा; अरबी में महलिब कहते हैं। इसकी फलमज्जा हलके भूरे रंग की, सुगन्धि होती है और गन्धद्रव्यों में इसका प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की निचली पहाड़ियों तथा तराई में प्राप्त होता है। गन्धप्रियंगु बलूचिस्तान में होता है।

रासायनिक संघटन—गन्धप्रियंगु में हायड्रोसायनिक अम्ल होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। विशेषकर वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, वेदनास्थापन तथा दुर्गन्धनाशन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा रक्तपित्तशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरजनीय है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, शिरःशूल, अतिस्वेद एवं दुर्गन्धि व्रणों में लेप करते हैं। आमवात में पत्तियों से सेंकते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनाप्रधान (आमवात, सन्धिवात आदि) रोगों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, रक्तातीसार में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा रक्तविकारों में यह अत्युत्तम औषध है।

मूत्रवहसंस्थान—पैत्तिक प्रमेहों में उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प, पत्र, त्वचा।

मात्रा—गन्धप्रियंगु फलमज्जा चूर्ण-२-५ रत्ती; प्रियंगु-चूर्ण-१-२ माशे।

विशिष्ट योग—प्रियंग्वादि तैल।

× × × ×

'प्रियंगुः शीतला तिक्ता तुवरानिलपित्तहृत्। रक्तातीसारदौर्गन्ध्यस्वेददाहज्वरापहा ॥
गुल्मतृड्विषमेहघ्नी तद्वद्गन्धप्रियंगुका ।' (भा. प्र.)
'प्रियंगुः शीतला तिक्ता मोहदाहविनाशिनी। ज्वरवान्तिहरा रक्तमुद्रिक्तं च प्रशामयेत् ॥'
(ध. नि.)

'गन्धप्रियंगुः शोणितपित्तातियोगप्रशमनानाम् ।' (च. सू. २५)
'पीतः प्रियंगुकाकल्कः सक्षौद्रस्तण्डुलाम्बुना। रक्तस्रावं जयेच्छीघ्रं धन्वमांसरसाशिनः ॥'
(च. चि. १०)

३३३. एला

परिचय

गण—कटुकस्कन्ध, श्वासहर, अंगमर्दप्रशमन, शिरोविरेचन (च०); एलादि (सु०)।

कुल—हरिद्रा-कुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम—लै०-एलिटेरिआ कार्डेमोमम् (Elettaria Cardamomum); सं०-एला, त्रिपुटा, त्रुटिः, सूक्ष्मा, द्राविडी, उपकुंचिका; हि०-छोटी इलायची, गुजराती; बं०-छोट एलाच; म०-बेलची, वेलदोडे; गु०-एलची; ता०-ते०-इल्लाई; अ०-काकुल; फा०-हीलबक, इलायची खुर्द; अं०-लेसर कार्डेमम (Lesser Cardamom)।

स्वरूप—यह पत्रमय छोटा **क्षुप** होता है। **पत्र**-१-२ फुट लंबे, १-२ इंच चौड़े, सुगंधि होते हैं। **पुष्पदंड**-लंबा होता है जिसमें अनेक फल लगते हैं। इन्हीं फलों का प्रयोग इलायची के नाम से करते हैं। इनके भीतर उग्रगंधि, काले रंग के अनेक बीज होते हैं।

जाति—यह अनेक प्रकार की होती है यथा मघरा (माघ में होने वाली), क्रान्ति (शरद् में होने वाली), नील (कृष्णाभ लंबी) आदि।

उत्पत्तिस्थान—गुजरात, मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर-कोचीन तथा लंका और बर्मा में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में स्थिर तैल १०%, उड़नशील तैल ५%, पोटाशियम लवण ३%, स्टार्च ३%, पिच्छिल द्रव्य २%, पीत रंजक द्रव्य, भस्म ६-१०%, (जिसमें मैंगनीज होता है) रहते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। गुण और रस से कफ का, विपाक से वात का तथा वीर्य से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—मुखशोधन, दुर्गन्धनाशन, छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, पाचन, और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वात, पित्त और कफ से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—मुखरोग, वमन, हृल्लास, तृष्णा, अरुचि, अग्निमांद्य, उदरशूल, आध्मान तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

तापक्रम—दाहरोग में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा क्षय में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—५-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—एलादिचूर्ण, एलाद्यरिष्ट, एलादिगुटिका, एलाद्यमोदक, एलादिक्काथ।

× × × ×

'रसे तु कटुका शीता लघ्वी वातहरी मता। एला सूक्ष्मा कफश्वासकासार्शोमूत्रकृच्छ्रहृत्॥'
(भा. प्र.)

'सूक्ष्मैला मूत्रकृच्छ्रघ्नी श्वासकासक्षये हिता। सूक्ष्मैला शीतला स्वाद्वी हृद्या रोचनदीपनी॥'
(ध. नि.)

'सूक्ष्मैला मूत्रकृच्छ्रार्शःश्वासकासक्षये हिता।' (शो.)

'सूक्ष्मैलामागधीमूलं प्रलीढं सर्पिषा सह। नाशयत्याशु हृद्रोगं गुल्मानपि विशेषतः॥'

३३४. बृहदेला

परिचय

कुल—हरिद्रा-कुल (सिटैमिनेसी–Scitaminaceae)।

नाम—लै०-ऐमोमम् सबुलेटम (Amomum Subulatum); सं०-बृहदेला, स्थूला, भैद्रला, बहुला, पृथ्वीका; हि०-बड़ी इलायची; बं०-बड़ एलाच, नेपाली एलाच; गु०-एलचा; ता०-एलम् ; ते०-पेंगुएलाकुलु; अ०-काकुले कुवार; फा०-हील कलाँ; इलायची सुर्ख; अं०-ग्रेटर कार्डेमम् (Greater Cardamom)।

स्वरूप—इसका क्षुप छोटी इलायची के सदृश होता है। पत्तियाँ कुछ अधिक लम्बी-चौड़ी, मञ्जरीपत्र-रक्ताभ धूसर, पुष्प-पीताभ तथा फल लगभग १ इञ्च लम्बा रक्ताभ धूसर होता है। पत्तियों में गन्ध भी विशिष्ट नहीं होती। वर्षा के प्रारम्भ में पुष्प होते हैं तथा शरद् में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पूर्वी हिमालय प्रदेश में विशेषतः नेपाल में तथा लङ्का में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक सुगन्धित तैल होता है जिसमें साइनिओल (Cineole) की प्रचुर मात्रा होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दुर्गन्धनाशन, शूलहर, त्वग्दोषहर और व्रणरोपण है

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, पित्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुखरोगों तथा दन्तरोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं। शिरःशूल में इसका लेप करते हैं। कण्डू आदि चर्मरोगों में लेप देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनाप्रधान वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, हृल्लास, वमन, तृष्णा, अग्निमान्द्य, शूल, आध्मान, यकृद्विकार तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।
त्वचा—चर्मरोगों में प्रयोग करते हैं।
तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य और विष में देते हैं।
प्रयोज्य अंग—फल।
मात्रा—५-१० रत्ती।

× × × ×

'स्थूला च कटुका पाके रसे चानलकृल्लघुः। रूक्षोष्णा श्लेष्मपित्तास्रकण्डूश्वासतृषापहा॥
हृल्लासविषबस्त्यास्यशिरोरुग्वमिकासनुत्।' (भा. प्र.)
'भद्रैला कटुका पाके रसे पित्ताग्निकृल्लघुः। रूक्षोष्णा रोचनी श्वासकासवातास्रपित्तहा॥
हन्ति हृल्लासतृट्कण्डूशिरोबस्त्यास्यरुग्वमीः।' (कै. नि.)

३३५. चम्पक

परिचय

कुल—चम्पक-कुल (मैगनोलिएसी-Magnoliaceae)।

नाम—लै०-माइकेलिया चम्पक (Michelia Champaca); सं०-चम्पक, चाम्पेय, हेमपुष्प; हि०-चम्पा, बं०-चाँपा; पं०-चंबा; म०-चाँफा; गु०-चंपो; ता०-संबगम्; ते०-चंपकसु; अं०-गोल्डेन चम्पा (Golden Champa)।

स्वरूप—यह चिरहरित, सुन्दर, ऊँचा वृक्ष होता है। **पत्र**-एकान्तर ८-१० इञ्च लम्बे, २-४ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र, महुए के पत्तों के सदृश होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, १-२ इञ्च व्यास के, उग्रगन्धि होते हैं। **फल**-लम्बे जिसमें १-४ रक्ताभ धूसर बीज होते हैं। काण्डत्वक् बाहर से धूसर तथा भीतर से रक्ताभ होती है। पुष्प बरसात में आते हैं तथा शीतकाल में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह नेपाल, बंगाल, आसाम, नीलगिरि, त्रावनकोर तथा बर्मा में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एक उड़नशील सुगन्धि तैल, स्थिर तैल, राल, टैनिन, पिच्छिलद्रव्य, स्टार्च तथा शर्करा होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु, कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, त्वग्दोषहर तथा व्रणशोधन और रोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, आमपाचन तथा अनुलोमन, क्रिमिघ्न है। मूल विरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—मूलत्वक् गर्भाशयोत्तेजक और आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—छाल ज्वरघ्न विशेषतः नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है। पुष्प दाह-प्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—दाह, कण्डू आदि चर्मरोग, व्रण तथा शिरःशूल में छाल एवं पुष्प का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आमदोष, शूल, आध्मान तथा कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार (उपदंश, गंडमाला, आमवात आदि), रक्तपित्त तथा शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—मूलत्वक् रजोरोध और कष्टार्तव में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पुष्प मूत्रकृच्छ्र तथा पूयमेह में देते हैं।

त्वचा—त्वचा का प्रयोग कुष्ठ में करते हैं।

तापक्रम—छाल का फांट जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में प्रयुक्त होता है। पुष्पों का दाह में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विष में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वचा और पुष्प।

मात्रा—त्वक्क्वाथ—२-५ तो०; पुष्पचूर्ण-१-२ माशे।

× × × ×

'चम्पकः कटुकस्तिक्तः कषायो मधुरो हिमः। विषक्रिमिहरः कृच्छ्रकफवातास्रपित्तजित् ॥'
(भा. प्र.)

'चम्पकः कटुकस्तिक्तः शिशिरो दाहनाशनः। कण्डूकुष्ठव्रणहरः कफपित्तविनाशनः ॥'
(रा. नि.

'चम्पकं कटुकं तिक्तं कषायं मधुरं हिमम्। निहन्ति कफपित्तास्रमूत्रकृच्छ्रविषक्रिमीन् ॥'
(कै. नि.)

३३६. शैवाल

परिचय

कुल—शैवाल-कुल (ऐल्गी-Algae)।

नाम—लै०-सिरेटोफाइलम सबमर्सम (Serratophylum Submersum); सं०-शैवाल, शैवल, जलनीली; हि०-सेवार, काई; बं०-शेफोआला; म०, गु०-शैवाल; अ०-तुहलब; फा०-परम वज़ग़; अं०-मॉस (Moss)।

स्वरूप—यह तालाबों या गढ़ों में होने वाला एक क्षुद्र **क्षुप** है। पानी के ऊपर इसका ऐसा सघन आवरण बन जाता है कि पानी बिलकुल ढँक जाता है और नीलाभ हरित हो जाता है। इसी लिए इसे 'जलनीली' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। विशेषतः पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णाहर और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में, विशेषतः पैत्तिक रोगों में, प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह और रक्तार्श में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा और रक्तातिसार में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में दिया जाता है।

प्रयोज्य ंग—पञ्चाङ्ग।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला।

× × × ×

'शैवालं तुवरं तिक्तं मधुरं शीतलं लघु। स्निग्धं दाहतृषापित्तरक्तज्वरहरं परम् ॥' (भा. प्र.)

'शैवालं शीतलं स्निग्धं सन्तापव्रणनाशनम् ।' (रा. नि.)

३३७. सीताफल

परिचय

कुल—सीताफल-कुल (एनोनेसी-Anonaceae)

नाम—लै०-एनोना स्क्वेमोजा (Anona Squamosa); सं०-सीताफल, गण्डगात्र, कृष्णवीज; हि०-शरीफा; बं०-आता; म० गु०-सीताफल; ता०-सीता; ते०-सीतापाण्ड; अ०-शरीफा; अं०-कस्टर्ड ऐप्ल (Custard apple)।

स्वरूप—इसका मध्यमाकृति **वृक्ष**-१०-१५ फुट ऊंचा होता है। **पत्र**-२-३ इञ्च लम्बे, १-१½ इञ्च चौड़े अमरूद के पत्तों के सदृश होते हैं। **पुष्प**-१ इञ्च लम्बा, अकेला या जोड़ा होता है। **फल**-मांसल, २-३ इञ्च व्यास के मीठे होते हैं। फल के ऊपरी पृष्ठ पर अनेक गोलाकार उभार होते हैं इसलिए इसे 'गण्डगात्र' कहते हैं। **बीज**-कुछ लम्बे, चपटे अण्डाकार और कृष्णवर्ण होते हैं। **पुष्प**-वसन्त में तथा फल शरद् ऋतु में होते हैं।

जाति—इसकी एक जाति 'रामफल' (A. Reticulata) कहलाती है। इसका वृक्ष कुछ बड़ा और फल चिकना होता है।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम निवासस्थान अमेरिका है किन्तु सम्प्रति भारत में सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फलमांस में आर्द्रता ६४·६२% तथा शर्करा ·६·५५% होती है। बीजों में एक तैल तथा राल होती है। बीज, पत्र तथा कच्चे फल में एक कटु तत्त्व, क्षारतत्त्व तथा विषाक्त राल होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बीज एवं पत्र जन्तुघ्न और शोथहर है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसा पका फल सारक तथा कच्चा फल स्तभन है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्त शामक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप तथा बीजों का चूर्ण यूका लिक्षा आदि कृमियों को मारने के लिए लगाते हैं। व्रणों में भी लेप करते हैं तथा व्रणशोथ पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कच्चा फल अतिसार, प्रवाहिका में खिलाते हैं तथा पके फल का रस विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्द्रव, हृद्दौर्बल्य तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में उपयोगी है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।
तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
प्रयोज्य अंग—फल।
मात्रा—२-४ तो०।

× × × ×

'गण्डगात्रं हिमं वृष्यं वातपित्तनिषूदनम्। श्लेष्मलं तर्षशमनं वान्त्युक्लेशनिपीडनम्॥'
(अत्रिसंहिता)

'सीताफलं तु मधुरं शीतं हृद्यं बलप्रदम्। बृंहणं शुक्रलं दाहरक्तपित्तमरुत्प्रणुत्॥' (स्व.)

३३८. टंक

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

नाम—लै०-पाइरस कॉम्युनिस (Pyrus Communis); सं०-टंक, अमृतफल; हि०-नासपाती; पं०-नाक, नासपाती; का०-नाख, नाक; अ०-कुम्मस्रा; फा०-अमूरुद; अं०-पियर (Pear)।

स्वरूप—यह एक प्रसिद्ध फल है जो अनेक आकार-प्रकार का होता है। सामान्यतः यह कठिन होता है किन्तु काश्मीर आदि प्रदेशों की नासपाती कोमल होती है। इसे नाख कहते हैं।

जाति—यह चार प्रकार की होती है:—(१) नाख (२) वन्य (कुम्मस्रा बर्री), (३) उद्यानज (कुम्मस्रा बुस्तानी) (४) अम्ल (कुम्मस्रा हामिज) ।

उत्पत्तिस्थान—यह पूर्वी और मध्य यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में होती है। भारत में काश्मीर, पंजाब और सीमाप्रान्त में होती है)।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध । **रस**—मधुर, कषाय ।
विपाक—मधुर । **वीर्य**—शीत ।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है ।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—रोचन, विष्टम्भी और स्तम्भन है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अरुचि और ग्रहणी में इसका फल खाते हैं किन्तु अधिक नहीं खाना चाहिए क्योंकि विष्टम्भी होने से शूल उत्पन्न करता है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है ।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में देते हैं ।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में लाभकर है ।

प्रयोज्य अंग—फल ।

मात्रा—रोगी के बलाबल के अनुसार ।

× × × ×

'अमृतफलं लघु वृष्यं सुस्वादु त्रीन् हरेद् दोषान् ।
देशेषु मुद्गलानां बहुलं तल्लभ्यते लोकैः ॥' (भा. प्र.)
'कषायं मधुरं टङ्कं वातलं गुरु शीतलम् ।' (च. सू. २७)
शीतं कषायं मधुरं टंकं मारुतकृद्गुरु ।' (सु. सू. ४६)

३३९. तूद

परिचय

कुल—वट-कुट (अर्टिकेसी-Urticaceae)।

नाम—लै०-मोरस इण्डिका (Morus Indica); सं०-तूद, तूत, क्रमुक, मधुपिप्पली; हि०-तूत, शहतूत; बं०-तूँत; गु०-शेतूर; ता०-मुसु; ते०-काम्वालि चेट्टु; फा०-तूत; अं०-ह्वाइट मलबरी White Mulberry)।

स्वरूप—इसका मध्यम प्रमाण का **वृक्ष** होता है। **काण्डत्वक्**-रक्ताभ या पीताभ धूसर होती है। **पत्र**-२-४ इञ्च लंबे, अंडाकार दन्तुरधार होते हैं तथा मूलभाग में तीन सिरायें स्पष्ट होती है। **पत्रवृन्त**-१-२ इञ्च लंबा होता है। **पुष्प**-एकलिंगी, सूक्ष्म, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-लंवा या लंवगोल होता है। शीतऋतु में पुष्प तथा वसन्त में फल लगते हैं।

जाति—फल के अनुसार इसकी दो जातियाँ होती हैं:—(१) एक जाति का फल पीताभ श्वेत, लंवा और मीठा होता है तथा (२) दूसरी जाति का फल रक्ताभ कृष्ण लंवगोल और मधुराम्ल होता है। फारसी में इन्हें क्रमशः तूत नब्ती (M. Alba) और तूत स्याह (M. Nigra) कहते हैं। आकृति के अनुसार भी यह वृक्ष दो प्रकार का होता है:—(१) छोटा, (२ बड़ा। उत्पत्ति स्थान की दृष्टि से भी इसके दो भेद किये गये हैं—(१) वन्य, (२) ग्राम्य।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है। हिमालय की तराई में यह जंगली होता है।

रासायनिक संघटन—फल में शर्करा, पेक्टिन, साइट्रेट, मैलेट आदि होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कच्चा फल अम्ल और उष्णवीर्य है।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियाँ व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल दीपन, अनुलोमन तथा छाल रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है। कच्चा फल रक्तपित्तकोपक है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—फल बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप शय्याव्रणों में करते हैं तथा पत्रक्वाथ से मुख और गले के रोगों में कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आध्मान, विबन्ध तथा कृमि में फल एवं त्वक् का प्रयोग करते हैं। त्वक् विशेषतः स्फीत-कृमि (Tape-worm) में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग और रक्तपित्त में पका फल देते हैं।

तापक्रम—दाह में फलों का पानक दिया जाता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ–५–१० तोला; फलस्वरस–२–५ तोला।

× × × ×

'तूतं पक्वं गुरु स्वादु हिमं पित्तानिलापहम्। तदेवामं गुरु सरमम्लोष्णं रक्तपित्तकृत् ॥' (भा. प्र.)

'तूदस्य तु फलं स्वादु बलवर्णाग्निवृद्धिकृत्। तूदं तु मधुराम्लं स्याद् वातपित्तहरं सरम् ॥ दाहप्रशमनं वृष्यं कषायं कफनाशनम्।' (ध. नि.)

शीतप्रशमन

३४०. अगुरु

परिचय

गण—शीतप्रशमन, श्वासहर, शिरोविरेचन, तिक्तस्कन्ध (च०); एलादि, सालसारादि, श्लेष्मसंशमन (सु०)।

कुल—अगुरु-कुल (थाइमेलिएसी–Thymelaeaceae)।

नाम—लै०–एक्विलेरिया अगलोचा (Aquilaria Agallocha); सं०–अगुरु, लोह (लोहवद् भारी तथा कृष्ण होने के कारण), कृमिज, कृमिजग्ध (कृमियों के द्वारा वृक्ष में कोटर या ग्रंथि बनने से अगुरु-सार उत्पन्न होता है)। हि० म० गु०–अगर; बं०–अगरु; ता०–आगलि चन्द; ते०–अगुरु; अ०–ऊद; अं०–एलो वुड (Aloe wood), ईगल वुड (Eagle wood)।

स्वरूप—इसका चिरहरित लंबा **वृक्ष** होता है। **काण्डत्वक्**–बाहर से बिलकुल कागज के समान पतली होती है जिसे प्राचीनकाल में लोग भोजपत्र के समान लिखने के काम में लाते थे। काष्ठ श्वेत और कोमल होता है जिसे काटने पर सुगंध निकलती है। पुराने वृक्षों का अन्तःकाष्ठ कृष्णवर्ण होता है, इससे मधु के सदृश गन्ध आती है। **पत्र**–चमड़े की तरह पतले, तीक्ष्णाग्र, २–३ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्प**–श्वेत, गुच्छों में होते हैं। **फल**–१–२ इंच लंबा, मखमल के सदृश कोमल होता है। ग्रीष्म में पुष्प तथा वर्षा में फूल होते हैं।

पुराने वृक्ष का अन्तःसार अगुरु के नाम से व्यवहृत होता है। जो कृष्णाभ, सुगंधि और भारी होता है तथा पानी में डूब जाता है, वह अगुरु उत्तम माना जाता है। पुराने वृक्ष के भीतर एक प्रकार के कृमि (Fungus) प्रविष्ट हो जाते हैं और वहाँ इनके कारण गोंद या राल उत्पन्न होती है जिससे अगुरु में सुगंध आती है। इसी से आचार्यों ने इसे 'कृमिजग्ध' कहा है।

उत्पत्तिस्थान—यह पूर्वी हिमालय प्रदेश, आसाम, मणिपुर, चटगाँव, भूटान, बर्मा, सुमात्रा तथा मलयद्वीप में होता है। विशेषतः कृष्णागुरु आसाम, दाहागुरु गुजरात तथा मंगल्यागुरु केदारनाथ में होता है।

जाति—राजनिघण्टु ने अगुरु चार प्रकार का बतलाया है—(१) कृष्णागुरु, (२) काष्ठागुरु (पीत), (३) दाहागुरु तथा (४) मंगल्यागुरु। इनमें मंगल्यागुरु सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यूनानी विद्वानों ने इसके गुरुत्व के अनुसार तीन भेद किये हैं:—(१) ग़र्क़ी (जल में डूबने वाला), (२) नीमग़र्क़ी (आधा डूबनेवाला), (३) समलः (तैरनेवाला)। देशभेद से भी अनेक प्रकार किये गये हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल तथा राल होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप उत्तेजक, शीतप्रशमन, दुर्गन्धहर, कुष्ठघ्न, शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीसंस्थान का उत्तेजक तथा वातहर है।

पाचनसंस्थान—यह मुखदुर्गन्धनाशन, दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राशय की शिथिलता दूर करता है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शैत्य, दुष्टव्रण, चर्मरोग, शोथ, वेदनायुक्त विकार (संधिवात, आमवात आदि) में अगुरु का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—मुख की दुर्गन्ध नष्ट करने के लिए इसे चबाते हैं। अग्निमांद्य, आमदोष तथा कोष्ठगत वात के शमन के लिए यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकार (वातरक्त आदि) में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, हिक्का में प्रयुक्त होता है। श्वास में अगुरु का तैल १-२ बूँद पान में रख कर खिलाते हैं। कफरोगों में इसका नस्य भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—शय्यामूत्र तथा हस्तिमेह में यह उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में उपयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार, तैल।

मात्रा—५-१५ रत्ती; तैल १-५ बूँद।

विशिष्ट योग—अगुर्वादि तैल।

× × × ×

'अगुरूष्णं कटु त्वच्यं तिक्तं तीक्ष्णं च पित्तलम्। लघु कर्णाक्षिरोगघ्नं शीतवातकफप्रणुत्॥ कृष्णं गुणाधिकं तत्तु लोहवद्वारिमज्जति। अगुरुप्रभवः स्नेहः कृष्णागुरुसमः स्मृतः॥'(भा.प्र.)
'रास्नागुरूणि शीतापनयनप्रलेपनानाम्।' (च. सू. २५)
'अगुरुसारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च।' (सु. सू. ४५)
काकतुंडाकृतिः स्निग्धो गुरुश्चैवोत्तमोऽगुरुः। असारपाण्डुरं रूक्षं लघुं चाधममादिशेत्॥
नादेयं नाप्युपादेयं तित्तिरिपक्षकागुरुः। शाल्मलीकाष्ठसंकाशो नैव ग्राह्यः कदाचन॥'(भै.र.)

३४१. दरियाई नरियल

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-लोडॉयसिया सिचलेरम् (Lodoicea Seychellarum); हि०-दरियाई नारियल; म०-दर्याचा नारल; गु०-झेरी नारियेल; ता०-कदतरंगाय; ते०-समुद्रपुटंकाया; अ०-नारजीले बहरी; फा०-नारगीले दरियाई; अं०-सी कोकोनट (Sea Cocoanut)।

स्वरूप—यह नारिकेल जाति का एक **वृक्ष** है जिसका फल आकृति में नारियल के सदृश होता है किन्तु उससे अधिक कठिन, स्थूल और भारी, लगभग २०-२५ सेर तक होता है। बाजार में इसके सूखे मग्ज के कटे हुए बेडौल सफेद टुकड़े प्राप्त होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सिचेलीज टापू, अफ्रीका तथा अमेरिका के समुद्रतट पर होता है। समुद्र के द्वारा ही यह भारत के पश्चिमी समुद्रतट और लङ्का तक फैला। संप्रति बम्बई में प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण और वामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रगत शर्करा को कम करता है।

तापक्रम—यह शीतप्रशमन तथा प्राकृत देहाग्नि का संरक्षक है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ग्रन्थिशोथ तथा सांप, बिच्छू आदि के दंशस्थान पर इसका लेप करते है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विसूचिका में इसको गुलाबजल में घिस कर पिलाते हैं। इससे वमन होता है और उसके द्वारा संपूर्ण निकल जाता है। प्यास को भी शान्त करता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में जहरमोहरा खताई के साथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—इक्षुमेह में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—अहिफेन और वत्सनाभ के विष में इसे घिस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मग्ज (मज्जा)।

मात्रा—४–८ रत्ती।

विशिष्ट योग—जवाहरमोहरा।

कोथप्रशमन

३४२. गर्जन

परिचय

कुल—शाल-कुल (डिप्टरोकार्पी-Dipterocarpae)

नाम—लै०-डिप्टरोकार्पस एलेटस(Dipterocarpus Alatus); सं०-अश्व-कर्ण (?); गर्जन; बं०-तेलिया गर्जन; ता०-यन्नाई।

स्वरूप—यह शाल जाति का एक **वृक्ष** है। इसकी छाल धूसरवर्ण होती है। बाहरी पृष्ठभाग श्वेत तथा भीतरी रक्ताभ धूसर और कठिन होता है। **पत्रवृन्त**-रोमश, **पत्र**-३-५ इञ्च लम्बे, १२-१५ जोड़ी सिराओं से युक्त होते हैं। शीतकाल में पुष्प तथा वसन्त में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—चटगाँव, बर्मा, श्याम, म लाया तथा अण्डमन में इसके वृक्ष बहुत होते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके काष्ठ से एक राल्युक्त तैल निकलता है जिसे 'गर्जन का तेल' कहते हैं। यह हलके भूरे रंग का मधु के सदृश गाढ़ा होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिककर्म-बाह्य—कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-मूत्रवहसंस्थान—मूत्रवहसंस्थान पर इसकी विशिष्ट क्रिया 'कोपेबा' के समान होती है। यह श्लेष्मल कला को उत्तेजित करता, मूत्र का प्रमाण बढ़ाता तथा मूत्रगत जीवाणुओं को नष्ट करता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण पूयमेह में इसका तैल दूध के साथ दिन में २-३ बार देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में भी तैल खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—तैल। **मात्रा**—२-६ माशे।

व्रणशोधन

३४३. गांगेरुकी

परिचय

कुल—परुषक-कुल (टिलिएसी-Tiliaceae)।

नाम—लै०-ग्रीविया पॉपुलिफोलिया (Grewia Populifolia); सं०-गांगेरुकी; हि०-गंगेरन; गु०-गंगेटी।

स्वरूप—इसका छोटा वृक्ष ५-१० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-½-1½ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, किञ्चित् सुगन्धि ग्रीष्मकाल में आते हैं। शीतकाल में फल पकते हैं। पकने पर फल कषाययुक्त मधुराम्ल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः पश्चिम भारत में प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन, व्रणरोपण और रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण तथा सद्यःक्षत में इसके मूल या छाल का स्वरस देते हैं। इससे शोधन, रोपण तथा रक्तस्तम्भन होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रक्तप्रवाहिका में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, मूल।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; क्वाथ-५-१० तोला।

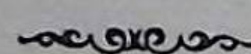
वक्तव्य—कुछ विद्वान् इसे नागबला के प्रतिनिधिरूप में लेते हैं।

× × × ×

'गांगेरुकं ......। मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम् ॥' (च. सू. २७)

'सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित्। तद्वद् गांगेरुकं विद्यात् ॥' (सु. सू. ४६)

'खड्गादिच्छिन्नगात्रस्य तत्कालं पूरितो व्रणः। गांगेरुकीमूलरसैर्जायते गतवेदनः ॥' (शा.)



दशम अध्याय

धातुओं पर कर्म करने वाले द्रव्य

जीवनीय

३४४. जीवन्ती

परिचय

गण—जीवनीय, मधुरस्कन्ध (च०); काकोल्यादि (सु०)।

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लीपिएडेसी-Asclepiadaceae) ।

नाम—लै०-लेप्टाडीनिआ रेटिकुलेटा (Leptadenia Reticulata); सं०-जीवन्ती, शाकश्रेष्ठा, पयस्विनी; हि०-डोडीशाक; म०-खानदोडकी, शिरदोडी; गु०-दोडी, डोडी।

स्वरूप—यह एक **लता** है जो बरसात में होती है। **पत्र**-हृदयाकृति, श्वेताभ, मांसल होते हैं। **पुष्प**-नीलाभ श्वेत या पीताभ हरित होते हैं। **फली**-शृंगाकार, २-४ इंच लंबी होती है। कच्ची फलियों का शाक बनाते हैं। यह शाकों में श्रेष्ठ मानी गई है।

जाति—यह दो प्रकार की होती है:—जिसकी फली तोड़ने से श्वेत दुग्ध निकलता है वह 'जीवन्ती' और जिससे पीला दूध निकलता है वह 'स्वर्ण-जीवन्ती' कहलाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः पश्चिम और दक्षिण भारत में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और रसायन है।

नेत्र—दृष्टिशक्तिवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पैत्तिक शोथ में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य, विष्टम्भ तथा ग्रहणी में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह तथा पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—क्षय, शोष, यक्ष्मा में दिया जाता है।

नेत्र—दृष्टिशक्ति मन्द होने पर इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशे; क्वाथ ५-१० तो०।

विशिष्ट योग—जीवन्त्याद्य घृत, जीवनीयादि तैल।

× × × ×

'जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा। रसायनी बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः॥' (भा. प्र.)

'जीवन्ती मधुरा शीता रक्तपित्तानिलापहा। क्षयदाहज्वरान् हन्ति कफवीर्यविवर्धनी॥'(रा.नि.)

'जीवन्ती मधुरा शीता सुस्निग्धा ग्राहिणी लघुः।
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी बल्या वृष्या रसायनी॥' (कै. नि.)

'चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा। शाकानां प्रवरा' (ध. नि.)

'चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती समुदाहृता।' (सु. सू. ४६)

'जीवन्तीशाकं शाकानाम्।' (च. सू. २५)

३४५. मुद्गपर्णी

परिचय

गण—जीवनीय, शुक्रजनन, मधुरस्कन्ध (च०); काकोल्यादि, विदारिगंधादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-फैसिओलस ट्राइलोबस (Phaseolus Trilobus); सं०-मुद्गपर्णी, क्षुद्रसहा, शूर्पपर्णी, काकमुद्गा, मार्जारगंधिका; हि०-मुँगवन; बं०-मुगानी; म०-रानमुग; गु०-अडबाउ मग, जंगली मग।

स्वरूप—इसकी **लता** होती है। काण्ड की प्रत्येक ग्रन्थि से मूल बाहर निकलते हैं। **पत्र**-संयुक्त, त्रिपर्ण, रोमश; **पत्रक**-विषम चतुर्भुजाकार या अण्डाकार होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। **फली**-१-२ इञ्च लम्बी, चपटी होती है जिसमें ६-१२ तक बीज होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं। **मूल**-कन्दवत् स्थूल होता है।

जाति—यह वन्य और ग्राम्य दो प्रकार की होती है। वन्य जाति स्वयंजात जंगलों में होती है और उसके पत्ते बड़े और चौड़े होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक विशेषतः वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, रक्तस्तम्भन और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक तथा शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—जीवनीय तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों विशेषकर वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, क्षत तथा नेत्ररोगों में इसका लेप करते हैं। रक्तप्रदर में इसका पिचु योनि में धारण कराते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी और अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त आदि रक्तविकार, रक्तपित्त तथा शोथ में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर और दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—क्षय रोग में प्रयुक्त होता है। मूषिकविष में मूल का चूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग, मूल।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला; चूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

'अरण्यमुद्गजा वल्ली सशिम्बा पीतपुष्पका। मुद्गवल्ल्याभपर्णा या मुद्गपर्णीति सा स्मृता॥' (शि.)

'मुद्गपर्णी हिमा रूक्षा तिक्ता स्वाद्वी च शुक्रला। चक्षुष्या क्षतशोथघ्नी ग्रहणीज्वरदाहनुत्॥ दोषत्रयहरी लघ्वी ग्रहण्यर्शोतिसारहृत्।' (भा. प्र.)

'मुद्गपर्णी हिमा स्वादुर्वातरक्तक्षयापहा। पित्तदाहज्वरान् हन्ति चक्षुष्या कफशुक्रला॥'

(रा. नि.)

३४६. माषपर्णी

परिचय

गण—जीवनीय, शुक्रजनन, मधुरस्कन्ध (च०); काकोल्यादि, विदारिगन्धादि (सु०)

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)

नाम—लै०-टिरैम्नस लैबिएलिस (Teramnus Labialis); सं०-माषपर्णी, महासहा, लोमशपर्णी, कृष्णवृन्ता, हयपुच्छिका, काम्बोजी; हिं०-मषवन, बनउड़द; बं०-माषानी; बनकलाई; म०-रान उड़द; गु०—जंगली अड़द।

स्वरूप—इसकी उड़द की सी **लता** होती है। **पत्र**-½-1½ इञ्च लम्बे, संयुक्त, त्रिपर्ण होते हैं। **पत्रक**-अंडाकार १-२ इञ्च लम्बे, रोमश होते हैं। **पुष्पदण्ड**-१-४ इञ्च लम्बा होता है जिस पर बैंगनी रंग के पुष्प लगते हैं। **शिम्बी**-१-२ इञ्च लम्बी, कुछ टेढ़ी और रोमश होती है जिसमें ८-१० बीज होते हैं। शीतकाल में फूल-फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है विशेषतः बंगाल और दक्षिण भारत में देखा जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक और कफवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—दीपन, स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक, रक्तशोधक और शोथहर है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—जीवनीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह अर्दित, पक्षाघात, सन्धिवात आदि वातव्याधियों में तथा रक्तपित्त आदि पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—उदरशूल, विष्टम्भ तथा ग्रहणी में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तविकार और शोथ में प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में देते हैं।
तापक्रम—ज्वर एवं दाह में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—क्षयरोग में दिया जाता है।
प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, मूल।
मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०; चूर्ण-१-३ माशे।
वक्तव्य—इसके अन्य प्रयोग मुद्गपर्णी के समान जानें।

× × × ×

'माषपर्णसदृक्पर्णा रोमालुर्वनसम्भवा। मार्जारमोदनी माषपिण्डी च वक्रनालका॥ हयपुच्छसमाकारा मधुरा पर्वतोद्भवा।' (शि.)
'माषपर्णी हिमा तिक्ता स्निग्धा शुक्रबलासकृत्। मधुरा ग्राहिणी शोथवातपित्तज्वरास्रजित्॥' (भा. प्र.)
'माषपर्णी रसे तिक्ता वृष्या दाहज्वरापहा। शुक्रवृद्धिकरी बल्या शीतला पुष्टिवर्धनी॥' (रा. नि.)
'सहाद्वयं''''''ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च बलप्रदाः पित्तनिबर्हणाश्च। (सु. सू. ४६)
'माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम्। समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान्॥ इक्षवादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत्। केवलं तु पयः तस्याः शृतं वा शृतमेव वा॥ शर्करामधुसर्पिर्भिः युक्तं तद्वृष्यमुत्तमम्।' (च. चि. २)

सन्धानीय

३४७. लज्जालु

परिचय

गण—सन्धानीय, पुरीषसंग्रहणीय (च०); प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि (सु०)।
कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।
उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसेसी-Mimosaceae)।

नाम—लै०-माइमोसा प्युडिका (Mimosa Pudica)। सं०-लज्जालु, नमस्कारी, शमीपत्रा, खदिरका, समङ्गा, रक्तपादी। हिं०-लजालु, लजौनी, लज्जावन्ती, छुईमुई; बं०-लाजक, लज्जावती; म०-लाजालू, लाजरी; गु०-रीसामणी; ता०-तोट्टच्युरङ्गी; ते०-मुनुगुदा-मरमु; अं०-सेन्सिटिव प्लाण्ट (Sensitive Plant)।

स्वरूप—इसका गुल्मजातीय कण्टकित **क्षुप** १-४ हाथ ऊँचा होता है। **पत्रवृन्त**—लम्बे होते हैं जिनसे चार पत्रकदण्ड पाणिवत् निकले रहते हैं। **पत्रक**—खदिर पत्र के सदृश, रेखाकार, पतले वृन्त के दोनों ओर पंक्तिबद्ध होते हैं। स्पर्श से पत्तियाँ संकुचित हो जाती हैं इसीलिए इसे 'लज्जालु' 'नमस्कारी' आदि नाम दिए गए हैं। पत्रकोणीय पुष्पदण्ड के अग्रभाग पर गुलाबी **पुष्प** रुई के सदृश मृदु होता है। पुंकेशर-संख्या में चार, बहुत बड़े होते हैं। **फली**-$\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इंच लंबी होती है जिस पर बीजों की सन्धियों पर सूक्ष्म धूसरवर्ण काँटे होते हैं। **बीज**-प्रत्येक फली में ३-४ होते हैं। शीतकाल में पुष्प लगते हैं।

जाति—इसकी एक और छोटी जाति होती है जिसका क्षुप अशाख ८-१२ अङ्गुल ऊँचा होता है। ऊपरी भाग से निकले लम्बे पत्रवृन्तों में १०-१५ जोड़े पत्रक होते हैं। पुष्पवृन्त लगभग २ इञ्च लम्बा होता है जिसमें पीतवर्ण पुष्प लगता है। **फल**-छोटी राई के दानों की तरह होते हैं। शीतकाल के अन्त में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पौधा ब्राजिल का आदिवासी है और अब भारत के समस्त उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में १० प्रतिशत टैनिन तथा ५५ प्रतिशत भस्म होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह सन्धानीय, रक्तस्तम्भन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है। यह छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करता है और रक्तरोधक है। रक्तशोधक और शोथहर भी है।

प्रजननसंस्थान—बीज वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहघ्न है।

सात्मीकरण—सन्धानीय और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह क्षत, व्रण, भगन्दर में लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका तथा रक्तार्श में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—उरःक्षत, रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। कुष्ठ और शोथ में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में दिया जाता है। बीज शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, विशेषतः सिकतामेह में देते हैं।

सात्मीकरण—आभ्यन्तरिक धातुओं के क्षत तथा भग्न में इसका प्रयोग करते हैं। सर्पविष में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, मूल।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०।

× × × ×

'रक्तपादी शमीपत्रा स्पृक्का खदिरपत्रिका। स्पर्शात् संकोचतां याति पुनश्च प्रसृता भवेत्॥' (कै.)

'लज्जालुः शीतला तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। रक्तपित्तमतिसारं योनिरोगान् विनाशयेत्॥' (भा. प्र.)

'रक्तपादी कटुः शीता पित्तातिसारनाशिनी। शोफदाहश्रमश्वासव्रणकुष्ठकफास्रनुत्॥' (रा. नि.)

बल्य

३४८. बला

परिचय

गण—बल्य, बृंहणीय, प्रजास्थापन, मधुररुकन्ध (च०); वातसंशमन (सु०)।

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी–Malvaceae)।

नाम—लै०-सिडा कॉर्डिफोलिया (Sida Cordifolia); सं०-बला, वाट्यालिका, खरयष्टिका; हि०-बरियार, खिरैंटी, पं०-खरयटी; बं०-वेड़ेला; म०-चिकणा; गु०-बल, बला, खरेटी; ता०-पनियार तुट्टि; ते०-तेलाआन्टिस; अं०-कण्ट्री मैलो (Country Mallow)।

स्वरूप—इसका छोटा **क्षुप** २-४ फुट ऊँचा होता है। **मूल और काण्ड** दृढ होता है, इसलिए इसे बला नाम दिया गया है। **पत्र**-एकान्तर, १-२ इञ्च लंबे, १ इञ्च चौड़े, रोमश, ७-९ सिराओं से युक्त, गोलदन्तुर होते हैं। **पुष्प**-पत्रकोणोद्भूत, पीतवर्ण होते हैं। पुष्प के बाह्य और आभ्यन्तर दल संख्या में ५-५ होते हैं। **फल**-मूंग के समान, पंचकोष्ठीय होते हैं। **बीज**-छोटे, भूरे या काले रंग के दानों के रूप में होते हैं। इन बीजों को 'बीजबन्द' कहते हैं। वर्षा के बाद पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—निघंटुओं में 'बलाचतुष्टय' के नाम से बला की चार जातियों का उल्लेख है:—बला, अतिबला, महाबला और नागबला। स्वयं बला पुष्पभेद से श्वेत और पीत दो प्रकार की है। आधुनिक वानस्पतिक-कुल के अनुसार S. Cordifolia, S. Spinosa, S. acuta आदि अनेक क्षुप बला के अन्तर्गत आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत और लंका में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ०·०८५ प्रतिशत क्षारतत्त्व होता है। बीजों में सबसे अधिक (०·३२ प्रतिशत) क्षारतत्त्व होता है। क्षारतत्व का मुख्यभाग 'इफेड्रीन' (Ephedrine) है। इसके अतिरिक्त, वसाम्ल, पिच्छिल द्रव्य, पोटाशियम नाइट्रेट, राल होते हैं। टैनिन या ग्लुकोसाइड नहीं होता।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—लेप वेदनास्थापन और शोथहर है।
आभ्यन्तर-नाडीस्थान—यह नाडियों के लिए बल्य और वातहर है।
पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रल और प्रजास्थापन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—बल्य, बृंहण और ओजोवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
स्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ तथा नेत्ररोगों में इसका लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में देते हैं।
पाचनस्थान—कोष्ठगत वात तथा ग्रहणी में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त तथा उरःक्षत में दिया जाता है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह, प्रदर तथा गर्भाशय दौर्बल्य में गर्भपोषणार्थ प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।
तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षयरोग, कृशता आदि में उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, पत्र।
मात्रा—स्वरस १-२ तो०; चूर्ण १-३ माशे।
विशिष्ट योग—बलादि क्वाथ, बलाद्य घृत, बलाद्यरिष्ट, चन्दनबलालाक्षादि तैल।

× × × ×

'बलाचतुष्टयं शीतं मधुरं बलकान्तिकृत्। स्निग्धं ग्राहि समीरास्रपित्तास्रक्षतनाशनम्॥' (भा.प्र.)
'बला संग्राहिक-बल्य-वातहराणाम्।' (च. सू. २५)

**'बला स्निग्धा हिमा स्वादु वृष्या बल्या त्रिदोषनुत्।
रक्तपित्तं क्षयं हन्ति बलौजो वर्धयत्यपि॥'** (ध. नि.)

३४९. अतिबला

परिचय

गण—बल्य, बृंहणीय, मधुरस्कन्ध (च०), वातसंशमन, मधुर (सु०)।
कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।
नाम—लै०-एब्युटिलन इण्डिकम (Abutilon Indicum); सं०-अतिबला,

कंकतिका, ऋष्यप्रोक्ता; हि०-कंघी, ककही; बं०-पेटारि, झाँपी; म०-मुद्रा; गु०-खपाट, डावली, कांसकी, ता०-तात्ती; ते०-तुतिरिचेट्टु; अ०-मश्तुल् गोल; फा०-दरख्तशान।

स्वरूप—इसके क्षुप ४-५ फुट ऊँचा क्षुप होता है। **पत्र**-दन्तुर और मृदुरोमश होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं जिसमें पुंनाल लंबा और स्त्रीकेशर १५ या इससे अधिक होते हैं। **फल**-गोलाकार किन्तु ऊपर की ओर कंघी की तरह दाँत होते हैं। **बीज**-१५-२० की संख्या में भूरे या काले होते हैं। इसके बीजों को भी 'बीजबन्द' कहते हैं।

जाति—अतिबला दो प्रकार की होती है:—१. छोटी। २ बड़ी। बड़ी जाति (A. Hirtum) का क्षुप बड़ा होता है तथा शाखाओं और पुष्पदण्डों पर लम्बे रोम होते हैं।

उत्पत्तिसंस्थान—यह समस्त भारत और लंका में होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में पिच्छिलद्रव्य, टैनिन, सेन्द्रिय अम्ल, कुछ ऐस्पैरेगिन (Asparagin) तथा भस्म (जिसमें क्षारीय सलफेट, क्लोराइड, मैगनीशियम फास्फेट और कैल्शियम कार्बोनेट होते हैं) पाये जाते हैं। मूल में भी ऐस्पैरेगिन होता है।

गुण-कर्म

इसके गुणकर्म और प्रयोग बला के समान ही हैं।

३५०. महाबला

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-सिडा रॉम्बिफोलिया (Sida Rhombifolia); सं०-महाबला, पीतपुष्पा, सहदेवा, क्षेत्रबला; हि०-पीला बरियार; बं०-पीत बेड़ेला, हल्दे बेड़ेला; गु०-खेतराऊ बल।

स्वरूप—इसका क्षुप ३-५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-एकान्तर लट्वाकार या विषम चतुर्भुजाकार होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण छोटे, पुंकेशर अनेक होते हैं। **फल** छोटे जिनमें दोनों ओर दो शृंगारकार भाग होते हैं। **बीज**-१-२ होते हैं। वर्षा के बाद फूल और फल होते हैं।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म और प्रयोग बला के समान होते हैं।

३५१. भूमिबला

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-सिडा ह्युमिलिस (Sida Humilis); सं०-भूमिबला (भूमौ वलते प्रसरति इति भूमिबला-जो जमीन पर फैले); हि०-फरीद बूटी, गंगेरन; बं०-जोंका; म०-भुईबल, भुईचिकणा; गु०-भोंयबल; ता०-वेभिला।

वक्तव्य—आचार्य यादवजी तथा स्व० भगीरथ स्वामी ने इसी को 'नागबला' माना है। 'नागवत् सर्पवत् वलते प्रसरति इति नागवला यह व्युत्पत्ति इनके मन्तव्य का आधार है।

परिचय—यह झाड़ीदार रोमयुक्त वनस्पति जमीन पर या झाड़ों पर फैलने वाली है। २-३ फुट तक यह सांप की तरह टेढ़ी मेढ़ी फैलती है। काण्ड की प्रत्येक ग्रन्थि में मूल निकलते हैं। पत्र-½-१ इंच लंवे, लट्वाकार या हृदयाकार, कंगूरेदार और रोमश होते हैं। पुष्प पीतवर्ण होते हैं। वर्षा के वाद पुष्प और फल आते हैं।

संग्रहविधि—माघ-फाल्गुन मास में जव इसके पत्ते झड़ गये हों और नये पत्ते न निकले हों उसी समय इसके प्रौढ मूलों को निकाल ले। फिर जल से धो, छाल अलग कर ले और छाया में शुष्क कर सुरक्षित शुद्ध पात्र में रख ले।

गुणकर्म और प्रयोग

इसके गुणकर्म और प्रयोग वला के समान हैं।

३५२. विदारी

परिचय

गण—वल्य, वृंहणीय, वर्ण्य, कण्ठ्य, स्नेहोपग, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि, वल्लीपञ्चमूल, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—शिम्वी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-प्युरेरिआ टयुवरोजा (Pueraria Tuberosa); सं०-विदारी, स्वादुकन्दा, इक्षुगन्धा, गजवाजिप्रिया, कन्दपलाश, भूमिकूष्माण्ड; हि०-विदारीकन्द, विलाईकन्द, सुराल; पतालकोहड़ा; वं०-शीमिया; म०-वेंदरिया वेल, वींदरी; गु०-खाखरवेल, विदारी; मा०-घोड़वेल।

स्वरूप—यह आवर्त्तिनी मोटी लता होती है जो वहुत दूर तक फैली रहती है। **काण्ड**-छिद्रयुक्त होता है। **पत्र**-पलाश के समान त्रिपत्रक होते हैं, अतः इसे कन्दपलाश कहते हैं। **पत्रक**-४-६ इञ्च लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े, लट्वाकार और तीक्ष्णाग्र होते हैं। पत्र के निम्न पृष्ठ पर सघन रोम होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-६-१८ इञ्च लम्बी होती है जिसमें बैंगनी रंग के पुष्प आते हैं। **फल**-२-३ इञ्च लम्बी, रोमश होती है। मूल में १-१½ फीट लम्बे और १ फुट मोटे कन्द होते हैं। इन कन्दों में मुलेठी का सा मधुर स्वाद आता है अतः इसे 'स्वादुकन्दा' 'इक्षुविदारी' कहते हैं। लतायें घोड़े वहुत खाते हैं अतः 'गजवाजिप्रिया' नाम है। कन्द के काटे हुये सुखाये सफेद टुकड़े बाजार में मिलते हैं।

जाति—इसकी एक दूसरी जाति 'क्षीरविदारी'[1] कहलाती है। संस्कृत में 'क्षीरवल्ली' 'पयस्विनी' आदि इसके नाम हैं। लैटिन में इसका नाम 'आइपोमिया डिजिटेटा' (Ipomoea Digitata) है, यह त्रिवृत् कुल (Convolvulaceae) की वनस्पति है। हिन्दी में इसे 'भुईं कोहड़ा' कहते हैं। इसकी बड़ी लता आरोहिणी या प्रतानिनी होती है। पत्र-हस्तिपादवत् या अंगुलिवत् पञ्चधा विभाजित होते हैं। पुष्प बैंगनी रंग के वर्षा में आते हैं। कन्द ऊपर से भूरे रंग का, कूष्माण्ड के सदृश किन्तु भीतर से श्वेत होता है। कन्द काटने पर प्रचुर क्षीर निकलता है।

बंगाल में एक दूसरा कन्द भी 'भुईंकुम्हड़ा' के नाम से मिलता है। यह पीताभ, तिक्त होता है तथा ट्राइकोसैन्थस कॉर्डेटा (Trichosanthes Cordata) नामक लता का कन्द है।

---

१. विदारीकन्दः स द्विविधः एको दीर्घकाण्डो वहुक्षीरः क्षीरविदारी व्यवह्रियते। अन्यो हस्तिपादकोऽल्पक्षीरः।' (च. पा.)

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश के निचली पहाड़ियों के क्षेत्र में पर्याप्त होता है यथा नेपाल, बंगाल, आसाम, पञ्जाब आदि।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में राल, शर्करा और मुख्यतः स्टार्च होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिककर्म-पाचनसंस्थान—स्नेहन, पित्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—वर्ण्य है।

तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य, पित्तविकार, यकृत्प्लीहावृद्धि, विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद एवं वातपैत्तिक कास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा स्तन्यवृद्ध्यर्थ इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—वर्णविकारों में किया जाता है।

तापक्रम—विषमज्वर और दाह में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय तथा शोष में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण—$\frac{1}{4}$—१ तो०।

× × × ×

'विदारी मधुरा स्निग्धा बृंहणी स्तन्यशुक्रदा। शीता स्वर्या मूत्रला च जीवनी बलवर्णदा॥ गुरुः पित्तास्रपवनदाहान् हन्ति रसायनम्।' (भा. प्र.)

'मधुरो बृहणो वृष्यः शीतः स्वर्योऽतिमूत्रलः। विदारीकन्दो बल्यस्तु वातपित्तहरश्च सः॥ (सु. सू. ४६)

'चूर्णं विदार्याः सुकृतं स्वरसेनैव भावितम्। सर्पिर्मधुयुतं लीढ्वा दश स्त्रीरधिगच्छति॥' (सु. चि. २६)

'पयस्तैलं घृतं चैव विदारीक्षुरसं मधु। संमूर्च्छ्य पाययेदेतत् विषमज्वरनाशनम्॥' (च. द.)

३५३. वाराही

परिचय

कुल—वराहकन्द-कुल (डायोस्कोरिएसी-Dioscoreaceae)।

नाम—लै०-डायोस्कोरिया वल्बिफेरा (Dioscorea Bulbifera); सं०-वाराहीकन्द; हि०-वाराहीकन्द, गेंठी; म०-कुकरकन्द; गु०-डुक्करकन्द ।

स्वरूप—इसकी आरोही वामावर्त्त **लता** होती है। **कांड**-चिकने होते हैं तथा पत्रकोणों में लगभग १ इञ्च व्यास के कन्दसदृश उभार होते हैं। **पत्र**-एकान्तर २-६ इञ्च लम्बे, १½-४ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र और आधार पर ताम्बूलाकार होते हैं। पत्राधार पर ९ सिरायें होती हैं। **पुंपुष्प** की मंजरी २-४ इंच लम्बी तथा स्त्रीपुष्प की मंजरी ४-१० इञ्च लम्बी होती है। **फल**-तीन पंखवाले तथा बीज भी आधार पर पंखयुक्त होते हैं। **कन्द**-छोटे आकार का भूरे रंग का होता है जिसपर वराहरोमवत् सघन, लम्बे रोम होते हैं। काटने पर कन्द भीतर पीताभ श्वेत होता है।

जाति—इसकी दूसरी जाति भावप्रकाश ने 'चर्मकारालुक' बताई है जिसे कुछ विद्वान् 'सुथनी' मानते हैं। D. Bellophylla (तुरार) का भी वाराहीकन्द के नाम पर प्रयोग होता है। Tacca aspera या Tacca integrifolia को भी कुछ लोग वाराहीकन्द मानते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। मध्यभारत और कोंकणप्रदेश में भी होता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में स्टार्च प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कटु, तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—बल्य और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नाडीव्रण में इससे सिद्ध तैल देते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल तथा कृमिरोग में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, गंडमाला आदि में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, उपदंश आदि त्वग्दोषों में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण-½-१ तोला।

× × × ×

'श्यामकर्कशवाराहवृषणाकारकंदका। ताम्बूलवल्लीछदना वाराही गृष्टिरुच्यते॥' (कै. नि.)
'वाराहमूर्धवत् कंदो वाराहीकन्दसंज्ञितः। भिषजां तदलाभेन चर्मकारालुको मतः॥' (वृन्द)
'शौकरो मधुरस्तिक्तः कटुको रसपाकयोः। शुक्रायुःस्वरवर्णाग्निबलपित्तविवर्धनः॥
कफकुष्ठमरुन्मेहकृमीन् हन्ति रसायनम्।' (कै. नि.)
'वाराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः। मेहकुष्ठकृमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनः॥'
(सु. सू. ४६)
'वाराहीमूलचूर्णस्य शतं मधुयुतं क्रमात्। युवा स्यात् पयसा पीत्वा क्षीराज्याज्यभुगाहृतः॥'
(शो०)

३५४. वाताद

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

नाम—लै०-प्रुनस एमिगडेलस (Prunus Amygdalus); सं०-वाताद, वाताभ, वातवैरी, नेत्रोपमफल; हि०-बादाम; म०-गु०-बदाम; अ०-लौज़ुल; फा०-बादाम; अं०-अलमॉण्ड (Almond)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**-मध्यमप्रमाण का होता है। **फल**-कच्चे में खट्टा तथा पकने पर खटमिट्ठा होता है। कच्चे फलों का साग बनाते हैं। **बीज**-बादाम के नाम पर व्यवहृत होते हैं। उनकी मज्जा खाई जाती है।

जाति—यह दो प्रकार का है—(१) मधुर, (२) कटु। कडुआ बादाम विषाक्त होता है। इसमें हाइड्रोसायनिक अम्ल नामक विषाक्त तत्व रहता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी एशिया तथा यूरोप में होता है। भारत में पंजाब, काश्मीर आदि प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—मीठे बादाम में स्थिर तैल ५६%, इमल्शिन (Emulsin) नामक किण्वतत्त्व, पिच्छिलद्रव्य ३%, शर्करा ६%, प्रोटीड २५% तथा भस्म ३-५% होती है। भस्म में पोटाशियम, कैल्शियम तथा मैगनीशियम फास्फेट होते हैं। कडुए बादाम में स्थिर तैल ४५%, एमिगडेलिन ३%, प्रोटीड २५%, इमल्शिन, शर्करा ३%, पिच्छिलद्रव्य ३%, भस्म ३ से ५ प्रतिशत तथा हायड्रोसायनिक अम्ल होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक तथा कफपित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—कड़ुआ बादाम का लेप कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न और कृमिघ्न है। मीठे बादाम का लेप त्वग्दोषहर, दन्त्य, वर्ण्य और बल्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, स्नेहन, अनुलोमन और मृदुरेचन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन, वाजीकर तथा स्तन्यजनन है। गर्भाशय के शोथ को दूर करता है तथा आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कड़ुए बादाम का लेप कण्डू, विशेषतः योनिकण्डू में करते हैं। मीठे बादाम का लेप चर्मरोगों में, वर्णविकारों में करते हैं। बादाम का छिलका जला कर दन्तमञ्जनों में डालते हैं। बादाम का तैल बलवृद्धि के लिए शिर में मालिश करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, नाडीदौर्बल्य तथा अनेक वातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, कोष्ठगतवात, जीर्णविबन्ध में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—वातिक कास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, वाजीकरणार्थ तथा स्तन्यवृद्धि के लिए देते हैं। श्वेतप्रदर तथा कष्टार्तव में भी लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं। इक्षुमेह में इसकी पेया बना कर देते हैं क्योंकि इसमें स्टार्च नहीं होता।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीजमज्जा, बीजमज्जातैल।

मात्रा—बीजमज्जा-७-११ दाने; तैल-½-१ तोला।

× × × ×

'वातादो वातवैरी स्यान्नेत्रोपमफलस्तथा। वाताद उष्णः सुस्निग्धो वातघ्नः शुक्रकृद्गुरुः॥'
'वातादमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः। स्निग्धोष्णः कफकृन्नेष्टो रक्तपित्तविकारिणाम्॥'
(भा. प्र.)

'वातामा......गुरूष्णस्निग्धमधुराः......बलप्रदाः। (च. सू. २७)

'वाताम......प्रभृतीनि। पित्तश्लेष्मकराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च। बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च॥' (सु. सू. ४६)

३५५. मुकूलक

परिचय

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-पिस्टेसिया विरा (Pistacia Vera)। सं०-मुकूलक, हि०-पिस्ता; म०-पिस्ते; अ०-फुस्तुक; फा०-पिस्तः; अं०-पिस्टेशिओ (Pistachio)।

स्वरूप—बादाम की तरह यह भी एक वृक्ष की बीजमज्जा है। इसका मेवे में प्रयोग होता है। काकड़ासिङ्गी के समान इसके पत्तों पर भी एक प्रकार का कीटकोश बनता है उसे पिस्ते का फूल (गुलपिस्ता, बुजगुञ्ज, बुजगुन्द) कहते हैं। यह एक ओर से गुलाबी, दूसरी ओर से पीताभश्वेत, अनेक आकृति के तथा स्वाद में कषायाम्ल होते हैं। बीज के छिलके को 'पोस्ते पिस्तः' कहते हैं। इसका भी औषध में प्रयोग होता है। इसका फल जैतून के सदृश अंडाकार और रक्ताभ होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह सीरिया और अफगानिस्तान में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—बीजमज्जा में एक मधुर सुगन्धि तैल होता है। पिस्ते के फूल में गैलो-टैनिक एसिड के सदृश एक कषायद्रव्य ४५% तथा ७ प्रतिशत एक तैलीय राल होती है।

गुणकर्म

बीजमज्जा के गुणकर्म और प्रयोग बादाम के समान ही हैं। यह बल्य, वृष्य और बृंहण है। विशेषतः पिस्ते का फूल तथा छिलका स्तम्भन है और इसका प्रयोग कास, अतिसार, छर्दि आदि में करते हैं। गलशोथ, मुखपाक आदि में इनकी गोलियाँ मुख में रख कर चूसते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीजमज्जा, फूल और छिलका।

मात्रा—बीजमज्जा-½-१ तो०; फूल और छिलके का चूर्ण-३-६ माशे।

× × × ×

'मुकूलविटपो निम्बतुल्यपत्रोऽम्लकं फलम्।' (शि.)

'''मुकूल'''। गुरूष्णस्निग्ध मधुराः'''बलप्रदाः।
वातघ्नाः बृंहणा वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः॥ (च. सू. २७)

'मुकूल'''प्रभृतीनि। पित्तश्लेष्मकराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च। बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च।' (सु. सू. ४६)

३५६. निकोचक

परिचय

कुल—देवदारु-कुल (कोनिफेरी-Conifrae)।

नाम—लै०-पाइनस जिरार्डियाना (Pinus Gerardiana); सं०-निकोचक; हि०-चिलगोजा, म०-चिलगोजे; गु०-चिलूगोजा; पहाड़ी-नेजा, नेवजा; अ०-हब्बसनोबर किबार; फा०-चिल्गोजः; अं०-एडिबुल पाइन (Edible Pine), नेवजा पाइन (Neoza Pine)।

स्वरूप—यह एक प्रकार के मादा देवदारु जाति के वृक्ष के फल हैं। **फल**—लगभग १ इञ्च लंबा, लंबगोल, एक ओर कुछ चपटा, धूसरवर्ण होता है। ऊपर का छिलका पतला और भंगुर होता है। इसके भीतर श्वेत, मधुर एवं स्निग्ध मज्जा निकलती है।

उत्पत्तिस्थान—यह शीराज, आजरबैजान, रोम, ईरान, अफगानिस्तान और पश्चिमोत्तर हिमालय प्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मज्जा में १३·६%, अलब्युमिनॉयड, २२·५% स्टार्च और तैल ५१·२ प्रतिशत होते हैं।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म और प्रयोग बादाम के तुल्य हैं। यह बल्य, वृष्य और बृंहण है।

प्रयोज्य अंग—मज्जा।

मात्रा—$\frac{1}{2}$–१ तो०।

× × × ×

'निकोचकमुत्तरापथिकं कोल्लकफलम्' (ड.)

'निकोचकं गुरु स्निग्धं वृष्योष्णं स्वादु बृंहणम्। रक्तप्रसादनं बल्यं वातघ्नं कफपित्तकृत्॥' (म. नि.)

'निकोचकं गुरु स्निग्धं वृष्योष्णं धातुवर्धनम्। रक्तप्रसादनं स्वादु बल्यं पित्तकरं मतम्॥' (नि. र.)

३५७. काजू

परिचय

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-एनाकार्डियम ऑक्सिडेण्टेल (Anacardium Occidentale)। सं०-काजूत, काजूतक, वृत्तारुष्कर; हि०, म०, गु०-काजू; बं०-हिजली बादाम, फा०-बादामे फिरंगी; अं०-केश्यू (Cashew)।

स्वरूप—इसका चिरहरित **वृक्ष**-बड़ा आम्र के सदृश होता है। **पत्र**-४-८ इञ्च लंबे, ३-५ इञ्च चौड़े होते हैं। **पत्रसिरायें**-१० जोड़ी होती हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, लाल दागों से युक्त होता है। पुंकेशर छः होते हैं जिनमें एक सबसे बड़ा होता है। **फल**-धूसरवर्ण, वृक्काकृति होता है जिसके भीतर सफेद रंग की गिरी निकलती है। यही काजू है। इसकी छाल से पीले रंग की गोंद निकलती है। **पत्र** और **पुष्प** में तीक्ष्ण सुगंधि होती है। वसन्त, ग्रीष्म में पुष्प-फल लगते हैं। इसकी गिरी खाते हैं तथा फल-रस से एक प्रकार का मद्य और छिलके से एक अलकतरा तैयार करते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान अमेरिका है। पुर्तगालियों के द्वारा भारत में इसका प्रवेश हुआ। सम्प्रति गोआ, दक्षिण भारत, बंगाल, उड़ीसा, बम्बई तथा अण्डमन में होता है।

रासायनिक संघटन—गिरी से पीताभ तैल निकलता है। छिलके से जो अलकतरा के सदृश गाढ़े काले रंग का तैल निकलता है उसमें ९० प्रतिशत एनाकार्डिक एसिड (Anacardic acid) तथा १० प्रतिशत दाहक तैल कार्डोल (Cardol) होते हैं। इसका तैल त्वचा पर लगने से छाले उठ जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषतः वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, केश्य और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क तथा नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, स्नेहन और अनुलोमन है। वृक्ष की छाल ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और हृद्य है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है। तैल विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों विशेषतः वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, व्रण तथा शूल में इसका तैल लगाते हैं। खालित्य, पालित्य में भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—स्मृतिदौर्बल्य, नाडीदौर्बल्य तथा अनेक वातविकारों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध में दिया जाता है। छाल का प्रयोग ग्रहणी में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा हृद्दौर्बल्य में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में तथा वाजीकरणार्थ प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में देते हैं। गिरी का तैल क्षोभक विषों में पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—गिरी, तैल।

मात्रा—गिरी $\frac{1}{2}$–१ तो०; तैल–$\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ तो०।

× × × ×

'काजूतको वृत्तपत्रो गुच्छपुष्पश्च पार्वती।
स्निग्धपीतफलश्चैव पृथग्बीजो ह्यरुष्करः॥' (शि.)
'काजूतकोऽग्निकृत् केश्यः स्वाद्वाख्यश्चोपपुष्पिकः।' (नि. र.)
'काजूतकस्तु तुवरो मधुरोष्णो लघुः स्मृतः।
धातुवृद्धिकरो वातकफगुल्मोदरज्वरान्॥
कृमिव्रणाग्निमांद्यानि कुष्ठं च श्वेतकुष्ठकम्।
संग्रहण्यर्शमानाहान् नाशयेत् इति कीर्त्तितम्॥' (नि. र.)

३५८. अक्षोट

परिचय

कुल—अक्षोट-कुल (जगलैण्डेसी-Juglandaceae)।

कुल—लै०-जगलैन्स रेजिया (Juglans Regia); सं०-अक्षोट, अक्षोड (बिभीतक के सदृश पत्र वाला), कर्पराल, शैलपीलु, रेखाफल, मदनाभफल; हि०-अखरोट; बं०-आखरोट; म०, गु०-अखरोड; क०-आखार; ता०-आकरोट; ते०-आखरोढ; अ०-जौज़; फा०-गौज़; अं०-वालनट (Walnut)।

स्वरूप—इसका मध्यमप्रमाण का सुगन्धि वृक्ष होता है। नई शाखाओं का बाह्य

पृष्ठ मखमली होता है। **छाल**–धूसर ½–२ इञ्च मोटी होती है तथा उसमें लम्बे चीरे होते हैं। **काष्ठ**–धूसरवर्ण होता है जिसमें काले दाग होते हैं। **पत्र**–६–१२ इञ्च लम्बे, संयुक्त; **पत्रक**–५–११ या ७–९ जोड़े, ३–९ इञ्च लम्बे, २–४ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**–एकलिंगी, हरितवर्ण २–५ इञ्च लम्बा होता है। **फल**–गोलाकार, हरित रेखासहित, कठिन आवरणयुक्त, मदनफल के आकार का होता है। फल में एक बीज होता है जिसमें दो परदे रहते हैं। वसन्त में पुष्प तथा शरद में फल आते हैं। गिरी–धूसरश्वेत, टेढ़ी-मेढ़ी होती है, जिसे खाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में ५–१० हजार फुट ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—फल में आक्जेलिक अम्ल तथा वेरियम नामक क्षारतत्त्व होता है। गिरी में ४०–४५ प्रतिशत स्थिर तैल, अक्षोटाम्ल (Juglandic acid) तथा राल होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक और कफपित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—इसका लेप वर्ण्य, कुष्ठघ्न, शोथहर और वेदनास्थापन है। छाल स्तम्भन है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—नाडियों के लिए तथा मस्तिष्क के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, स्नेहन तथा अनुलोमन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग बाह्य—वर्णविकार, चर्मरोग, शोथ तथा वातव्याधि में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों तथा मस्तिष्क-दौर्बल्य में देते हैं।

पाचनसंस्थान—उदरविकार (शूल, गुल्म आदि) तथा विबन्ध के लिए उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—इसे भून कर कास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—क्षय, दौर्बल्य और कृशता में दिया जाता है।

प्रयोज्य ंग—मज्जा।

मात्रा—१–२ तोला।

'अक्षोटः शाखी सुमहद्दन्तिपत्रोऽथ तत्फलम् ।
पलमात्रं च गालाभं मध्ये प्रोन्नतरेखकम् ॥' (शि०)
'अखोटः पार्वतीयश्च फलस्नेहो गुडाशयः । कीरेष्टः कर्परालश्च स्वादुमज्जः पृथक्छदः ॥
रेखाफलो वृत्तफलो मदनाभफलश्च सः ॥' (नि. र.)
'अखोटकं गुणे स्निग्धं मधुरं रसपाकयोः । गुरूष्णं बृंहणं वृष्यं बल्यं विष्टम्भि रोचनम् ॥
हृद्यं क्षयास्रपवनदाहघ्नं कफपित्तलम् ।' (नि. र.)
'अक्षोटकोऽपि वातादसदृशः कफपित्तकृत् ।' (भा. प्र.)

३५६. उरुमाण

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)।

नाम—लै०-प्रुनस आर्मिनियाका (Prunus Armeniaca); सं०-उरुमाण। हि०-जर्दालु, खुरमानी, खूबानी; क०-चेर; अ०-मिशमिश; फा०-जरदालू, जर्द आलू; अं०-एप्रिकॉट (Apricot)।

स्वरूप—इसका फल गोल, अखरोट के सदृश श्वेताभ हरित होता है। सूखने पर भूरा हो जाता है। रक्ताभ पीत फल को खुरमानी कहते हैं। फल के भीतर बादाम की तरह गुठली और उसके भीतर वैसी ही मज्जा निकलती है। इसे 'शकर बादाम' कहते हैं।

जाति—फल मधुर, मधुराम्ल और अम्ल तीन प्रकार का होता है। बीजमज्जा मधुर और कटु दो प्रकार का होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश, दक्षिण भारत, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान आदि में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजमज्जा में ४०-४५ प्रतिशत वर्णरहित तैल होता है। जो थोड़ी देर रखने पर पीला हो जाता है। इसका गुणधर्म बादाम के तैल के सदृश है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्र का लेप शोथहर तथा वेदनास्थापन है। पुष्प रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मज्जा दीपन, स्नेहन, पित्तसारक तथा अनुलोमन है। पत्र कृमिघ्न है। तैल कृमिघ्न और विरेचन है।

प्रजननसंस्थान—मज्जा वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—कडुए बादाम का तैल अश्मरीभेदन है।

तापक्रम—ज्वरहर है।

सात्मीकरण—बल्य तथा बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पत्र का लेप शोथ, वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। कर्णशूल में पत्र का रस देते हैं। रक्तस्राव रोकने के लिए पुष्पों का अवचूर्णन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत वातपित्तविकार तथा विबन्ध में मज्जा देते हैं। कृमिरोग में पत्रक्वाथ तथा मज्जातैल देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ मज्जा का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—कड़ुए बादाम का तैल अश्मरी में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में दाहतृष्णा होने पर यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, मज्जा, पत्र, तैल।

मात्रा—फल ५-१० दाने; मज्जा १-२ तो०; पत्रक्वाथ ५-१० तो०; मज्जातैल १-३ माशे।

× × × ×

'उरुमाणप्रभृतीनि। पित्तश्लेष्मकराण्याहुः स्निग्धोष्णानि गुरूणि च॥
बृंहणान्यनिलघ्नानि बल्यानि मधुराणि च।' (सु. सू. ४६)
'गुरूष्णाः स्निग्धमधुराः सोरुमाणा बलप्रदाः।' (च. सू. २७)

३६०. गर्जर

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-डॉकस कैरोटा (Daucas Carota); सं०-गर्जर, गाजर, नारंगवर्णक; हि०-बं०-म०-गु०-गाजर; ता०-गार्जार; ते०-पिताकन्द; अ०-जज़र; फा०-गज़र, ज़र्द; अं०-कैरॉट (Carrot)।

स्वरूप—इसका **कांड** २-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-२-३ इञ्च लंबे, पत्राकार रोमश होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-छोटे, श्वेतवर्ण सौंफ के सदृश होते हैं। **मूल**-लाल या नारंगी रंग का गोपुच्छाकार होता है। यह खाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में कैरोटिन (Carotin), हाइड्रोकैरोटिन, शर्करा, स्टार्च, पेक्टीन, सेवाम्ल (Malic acid), लिगनिन, अलब्युमिन, लवण तथा एक उड़नशील तैल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, एक टर्पीन तथा सीनिओल के सदृश एक पदार्थ होता है। इसमें लौह भी पर्याप्त प्रमाण में होता है। बीजों में एक पीत, उग्रगंधि तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर, तिक्त। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजशोथहर और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गाजर मस्तिष्क और नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःस्सारक है।
प्रजननसंस्थान—बाजीकरण है। बीज में बाजीकरणशक्ति अधिक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है। बीज अश्मरीभेदन, मूत्रल, आर्त्तवजनन तथा गर्भाशयसंकोचक है।
सात्मीकरण—यह बल्य और बृंहण है। कोथप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में बीजों का लेप करते हैं तथा व्रणों पर अवचूर्णन करते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क दौर्बल्य में गाजर का सेवन कराते हैं।
पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, आनाह, ग्रहणी, अर्श तथा उदररोग में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में गाजर का हलुवा या पाक खिलाते हैं। रक्तपित्त तथा रक्तविकारों में प्रयोग करते हैं। शोथ में प्रयुक्त होता है।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, ध्वजभंग में प्रयुक्त होता है। बीजों का प्रयोग रजःकृच्छ्र तथा कष्टप्रसव में करते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्रदाह में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में देते हैं। आभ्यन्तर कोथ में इसका प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अंग—मूल, बीज।
मात्रा—स्वरस-२-४ तोला, बीजचूर्ण-३-६ माशे।

× × × ×

'गृञ्जनो मूलकैस्तुल्यो रक्तकन्दो रसालु च। (शि.)
'नारंगवर्णकश्चैव स्वदुमूलश्च स स्मृतः।' (रा. नि.)
'गाजरं मधुरं तीक्ष्णं तिक्तोष्णं दीपनं लघु। संग्राहि रक्तपित्तार्शोग्रहणीकफवातजित्॥'
(भा. प्र.)

'बीजं चोष्णं मतं चास्य वृष्यं वै गर्भपातकृत्।' (रा. नि.)
'ग्राही गृंजनकस्तीक्ष्णो वातश्लेष्मार्शसां हितः।' (च.)

३६१. तवक्षीर

परिचय

कुल—हरिद्रा-कुल (सिटैमिनेसी-Scitaminaceae)।

नाम—लै०-कर्क्युमा ऑगस्टिफोलिया (Curcuma Augustifolia)। सं०-तवक्षीर, हि०-तेखुर; बं०-टिकुर, एरारूट; म०-तवकीर; ता०-किसांगु; ते०-गद्दालु; अं०-कर्क्युमा स्टार्च (Curcuma Starch), ईस्ट इण्डियन एरोरूट (East Indian arrowroot)।

स्वरूप—यह छोटा गुल्म जातीय क्षुप होता है। **पत्र**–छोटे हलदी के सदृश १–१½ फुट लम्बे होते हैं। **पुष्पदण्ड**–१ फुट लंबा होता है। कन्द को सुखाकर उसका श्वेत चूर्ण तेखुर के नाम से व्यवहृत होता है। ग्रीष्म में पुष्प और बाद में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश, अवध, बिहार में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें स्टार्च, शर्करा, गोंद तथा वसा होती हैं।

वक्तव्य—भारतीय अरारोट इसके अतिरिक्त तज्जातीय अन्य पौधों (यथा C. Leucorhiza, C. Montana, C. Rubescens आदि) से भी तैयार किया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—वातपित्तशामक है।
संस्थान कर्म-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत वात, प्रवाहिका और ग्रहणी में इसका पथ्य देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग और रक्तपित्त में देते हैं।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह तथा वस्तिशोथ में दिया जाता है।
तापक्रम—ज्वर तथा दाह में देते हैं।
सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—कन्दचूर्ण।
मात्रा—१–२ तो० पेया के रूप में दिया जाता है।

× × × ×

विकासी

३६२. पूग

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-एरिका कैटेचु (Areca Catechu), सं०-पूग, क्रमुक, गुवाक; हि०-सुपारी; बं०-शुपारी; म०-सुपारी, पोफल; गु०-सोपारी; ता०-पकुक कोट्टाई गफकू; तै०-पोका-वाका-वाफ्फा; अ०-फोफल; फा०-पोपल; अं०-बेटलनट (Betel nut)।

स्वरूप—यह शाखारहित वृक्ष ३०–४० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**–४–६ फुट

लंबे; **पत्रक**–१–२ फुट लंबे, सूक्ष्म रोमश होते हैं। **पुष्पदण्ड**–कठिन, अनेकशाखा प्रशाखायुक्त होता है। **फल**–एक साथ अनेक लगते हैं जो १–२ इञ्च लंबे, गोलाकार, चिकने, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ अथवा रक्तवर्ण हो जाते हैं। इसका ऊपरी आवरण सौत्रिककोश का होता है जिसे हटाने पर सुपारी निकलती है। शरद् में पुष्प और वसन्त में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत के उष्ण प्रदेश में विशेषतः मैसूर, मलाबार, दक्षिण भारत, आसाम और बंगाल में होता है। मलाया द्वीप में भी प्रचुर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—सुपारी में कत्था, टैनिन १५%, गैलिक एसिड, वसा १४%, गोंद तथा एरिकोलिन (Arceoline) ०.०७%, एरिकेन (Arecaine) १%, एरिकेडिन (Arecaidine), गुवाकोलिन (Guvacoline), गुवाकिन (Guvacine) तथा कोलिन (Choline) नामक क्षारतत्त्व पाये जाते हैं। कच्ची सुपारी में कषाय द्रव्य अधिक होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। स्वेदन करने पर त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य है।

रक्तवहसंस्थान—सुपारी में स्थित एरिकोलिन नामक क्षारतत्त्व की क्रिया मस्केरिन, पैलिटिअरीन तथा पाइलोकार्पीन के समान होती है। यह हृदय से संबद्ध प्राणदा नाडी के सूत्रों को उत्तेजित कर हृदय को अवसादित करता है तथा रक्तभार को कम करता है। रक्तपित्तशामक भी है।

पाचनसंस्थान—यह लालास्राव को बढ़ाता है तथा दुर्गन्ध को नष्ट करता है। फलतः मुखवैशद्यकारक, रोचन, मुखवैरस्यनाशन और दीपन है। कषाय रस के कारण यह स्तम्भन है किन्तु अधिक मात्रा में देने पर यह अन्त्रगति को तीव्र करता है फलतः मरोड़, क्षोभ और पतले दस्त आते हैं। एरिकोलिन नामक तत्त्व के कारण यह तीव्र कृमिघ्न है और इसकी विशिष्ट क्रिया गण्डूपद और स्फीत कृमियों पर होती है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वास नलिका की पेशियों को संकुचित करता है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रस्तम्भन है तथा गर्भाशय शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—यह ओजोनाशक, विकासी तथा धातुओं में शैथिल्य उत्पन्न करने वाला है। अधिक खाने से भ्रम उत्पन्न करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह स्वेदन करने पर त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुखपाक, शीताद तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं। श्वेतप्रदर में इसके क्वाथ की उत्तर-बस्ति देते हैं तथा पिचुधारण

करते हैं। व्रणों पर इसका अवचूर्णन करते हैं। सुपारी की अन्तर्दग्ध भस्म दन्तमंजनों में डालते हैं। कटिशूल और वातव्याधि में इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वात व्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अतिसार, प्रवाहिका तथा कृमिरोग में देते हैं। ३ माशे सुपारी का चूर्ण २ तोले नींबू के रस में या पाव भर दूध में मिला कर १२-१४ घंटे उपवास मिले हुए रोगी को देते हैं। इससे गण्डूपद स्फीत कृमि मर कर निकल जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा श्वेतप्रदर में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—बहुमूत्र में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—१-३ माशे।

विशिष्ट योग—पूगखण्ड।

वक्तव्य—विकासी होने से इसका सेवन दूध, घी आदि स्निग्ध पदार्थों के योग में करना उत्तम है।

शोधन—वालू में भूनने या जल में स्वेदन कर सुखा लेने से सुपारी शुद्ध हो जाती है।

अहित प्रभाव—अधिक खाने से नशा सा आता है और चक्कर आते हैं।

निवारण—पानी पीने से तथा स्निग्ध पदार्थों के सेवन से ठीक हो जाता है।

× × × ×

'पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्। मोहनं दीपनं रुच्यमास्यवैरस्यनाशनम्॥
आर्द्रं तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहरं स्मृतम्। स्विन्नं दोषत्रयच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम्॥'
(भा. प्र.)

'गव्यकरीषघ्राणाज्जलपानाल्लवणभक्षणाद्वापि।
शाम्यति पूगीफलमदश्चूर्णरजः शर्कराकवलात्॥' (ग. नि.)

रसायन

३६३. हरीतकी

परिचय

गण—त्रिफला, आमलक्यादि, परुषकादि, त्रिवृतादि (सु०); प्रजास्थापन, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न, कासघ्न, अर्शोघ्न (च०)।

कुल—हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रेटेसी-Combretaceae)।

नाम—लै०-टर्मिनेलिया चेबुला (Terminalia Chebula); सं०-हरीतकी[1], अभया, पथ्या, कायस्था, पूतना, अमृता, हैमवती, अव्यथा, चेतकी, श्रेयसी, शिवा, वयस्या, विजया, जीवन्ती, रोहिणी; हि०-हर्रे, हरड़; बं०-हरीतकी; म०-हरडे, गु०-हरडे; ता०-कान्दाकाई; ते०-कान्दूकार; उ०-कारेवी; अ०-हलीलज; फा०-हलीलः; अं०-चेबुलिक मिरोबेलन (Chebulic Myrobalan)।

---

१. 'हरस्य भवने जाता हरिता च स्वभावतः।
हरते सर्वरोगांश्च तस्मात् प्रोक्ता हरीतकी॥' (म. नि.)

स्वरूप—यह ८०-१०० फुट तक ऊँचा वृक्ष होता है। काष्ठ दृढ़ और कठिन होता है। **पत्र**—३-८ इञ्च लम्बे, २-४ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र होते हैं। पत्रसिरायें ६-८ जोड़ी होती हैं। **पुष्पवृन्त**—छोटा, श्वेत या पीत, उग्रगन्धि होता है। **फल**—१-१½ इञ्च लम्बा होता है जिसके पृष्ठ भाग पर पाँच रेखायें होती हैं। ये कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभधूसर हो जाते हैं। **बीज**—प्रत्येक फल में एक होता है।

जाति—शास्त्र में हरीतकी की सात जातियाँ बतलाई गई हैं:—(१) विजया (२) रोहिणी (३) पूतना (४) अमृता (५) अभया (६) जीवन्ती और (७) चेतकी।[1] चेतकी भी दो प्रकार की मानी गई है:—(१) श्वेत (२) कृष्ण। श्वेत चेतकी लम्बी छः अङ्गुल की तथा कृष्ण छोटी एक अङ्गुल ही होती है। संभवतः यह वर्गीकरण देशभेद और तत्परिणामस्वरूप गुणकर्म भेद से किया गया है।[2] निम्न-तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा:—

	जाति	स्वरूप	प्रयोग	उत्पत्तिस्थान
१.	विजया	अलाबुवृत्त	सर्वरोग	विन्ध्य
२.	रोहिणी	वृत्त	व्रण	झांसी
३.	पूतना	सूक्ष्म, अस्थिमय	प्रलेप	सिन्ध
४.	अमृता	मांसल	शोधन	मध्यप्रदेश
५.	अभया	पंचरेखायुक्त	नेत्ररोग	चम्पारन
६.	जीवन्ती	स्वर्णवर्ण	सर्वरोग	सौराष्ट्र
७.	चेतकी	त्रिरेखायुक्त	रेचन	हिमालय

व्यावहारिक दृष्टि से यह तीन प्रकार की है:—(१) छोटी हर्रें (हलीलः स्याह), (२) पीली हर्रें (हलीलः जर्द), (३) बड़ी हर्रें (हलीलः काबुली)। ये तीनों वस्तुतः एक ही वृक्ष के फल हैं जो अवस्थाभेद से भिन्न हो जाते हैं। हरीतकी वृक्ष से कच्चे कोमल फल (गुठली होने से पूर्व) स्वयं गिर जाते हैं या तोड़ कर सुखा लिए जाते हैं वे 'छोटी हर्रें' कहलाते हैं। गुठली होने के बाद प्रौढावस्था में जो अपरिपक्व फल लिए जाते हैं वे 'पीली हर्रें' कहलाते हैं और हरीतकी के पूर्ण परिपक्व फल 'बड़ी हर्रें' के नाम से लिए जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः पार्वत्य प्रदेश में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। उत्तर भारत, मध्यप्रदेश, बंगाल, मद्रास, मैसूर तथा बम्बई में होता है।

रासायनिक संघटन—फल में टैनिक एसिड ४५%, प्रचुर गैलिक एसिड, पिच्छिल द्रव्य, भूरा पीला रंजक, द्रव्य तथा चेबुलिनिक अम्ल (Chebulinic acid) जो जल में उबालने पर टैनिक और गैलिक एसिड में विभक्त हो जाता है।

---

१. 'विजया रोहिणी चैव पूतना चामृताभया।
जीवन्ती चेतकी चेति पथ्यायाः सप्त जातयः॥' (भा. प्र.)

२. 'विन्ध्याद्रौ विजया हिमाचलभवा स्याच्चेतकी पूतना
सिन्धौ स्यादथ रोहिणी तु विजया जाता प्रतिस्थानके॥
चम्पायाममृताभया च जनिता देशे सुराष्ट्राह्वये।
जीवन्ती च हरीतकी निगदिताः सप्त प्रभेदाः बुधैः॥' (रा. नि.)

परीक्षा—नवीन, स्निग्ध, ठोस, वृत्त, भारी जो पानी में डालने पर डूब जाय तथा वजन में दो तोले की हो वह हरीतकी श्रेष्ठ मानी जाती है।[1]

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—पञ्चरस[2] (लवणवर्जित), कषायप्रधान।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण। **प्रभाव**—त्रिदोषहर।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुरतिक्तकषाय होने से पित्त, कटुतिक्तकषाय होने से कफ तथा अम्लमधुर होने से वात का शमन करता है। इस प्रकार त्रिदोषहर है।[3] विशेषतः वातशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य—इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का बल्य और मेध्य है। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति को भी बढ़ता है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, मृदुरेचन तथा कृमिघ्न है। स्विन्न हरीतकी ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, शोणितास्थापन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है तथा गर्भाशयशोथहर एवं प्रजास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में विशेषतः वातव्याधि में प्रयुक्त होता है। विशेषकर, लवण के साथ कफज, शर्करा के साथ पित्तज, घृत के साथ वातज तथा गुड़ के साथ त्रिदोषज विकारों में देते हैं।[4]

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त स्थानों में हरें का लेप करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पलकों पर लगाते हैं। व्रणों का प्रक्षालन इसके क्वाथ से करते हैं और इसका मलहम लगाते हैं। इसके क्वाथ से मुख और गले के रोगों में कुल्ला करते हैं।

---

१. नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी क्षिप्ता च याम्भसि। निमज्जेत् सा सुप्रशस्ता कथितातिगुणप्रदा॥ नवादिगुणयुक्तत्वं तथैवात्र द्विकर्षता। हरीतक्याः फले यत्र द्वयं तच्छ्रेष्ठमुच्यते॥'(भा.प्र.)

२. पथ्याया मज्जनि स्वादुः स्नायावम्लो व्यवस्थितः।
वृन्ते तिक्तस्त्वचि कटुरस्थिस्थस्तुवरो रसः॥ (भा. प्र.)

३. स्वादुतिक्तकषायत्वात् पित्तहृत् कफहृत्तु सा। कटुतिक्तकषायत्वादम्लत्वाद् वातहृच्छिवा॥ (भा. प्र.)

४ लवणेन कफं हन्ति पित्तं हन्ति सशर्करा। घृतेन वातजान् रोगान् सर्वरोगान् गुणान्विता॥ (भा. प्र.)

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा मस्तिष्कदौर्बल्य में इसका प्रयोग, करते हैं। वातव्याधि में यह अत्यन्त प्रशस्त माना जाता है। दृष्टिमांद्य आदि इन्द्रियदौर्बल्य में देते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, शूल, आनाह, गुल्म, विबन्ध, उदररोग, अर्श कामला, यकृत्प्लीहा तथा कृमि में प्रयुक्त होता है। ग्रहणीरोग में उबाल कर देते हैं। अग्निमांद्य में मुँह में रखकर चबाते हैं, विबन्ध में चूर्ण खाते हैं, ग्रहणी में उबाल कर लेते हैं तथा त्रिदोषज विकारों में भूनकर सेवन करते हैं।[1]

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, वातरक्त आदि रक्तविकार तथा शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, स्वरभेद, हिक्का और श्वास में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह, श्वेतप्रदर तथा गर्भाशयदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी और प्रमेह में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि त्वग्दोषों में सेवन कराते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—रसायन कर्म में यह प्रयुक्त होता है। इसके लिए विभिन्न ऋतुओं में अनुपानभेद से इसका प्रयोग करते हैं यथा—

ऋतु हरीतकी[2]

ऋतु	अनुपान
१. वर्षा	सैन्धव
२. शरद्	शर्करा
३. हेमन्त	शुंठी
४. शिशिर	पिप्पली
५. वसन्त	मधु
६. ग्रीष्म	गुड़

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—बड़ी हर्रे-३-६ माशे (रेचनार्थ), १-माशे (रसायनार्थ), छोटी हर्रे— १-३ माशे।

वक्तव्य—पीली हर्रे का औषध में प्रायः प्रयोग नहीं होता। यह रंगने के काम में व्यापार में आती है।

विशिष्ट योग—अभयामोदक, अभयारिष्ट, पथ्यादिवटी, पथ्यादि क्वाथ, व्याघ्रीहरीतकी, चित्रकहरीतकी, अगस्तिहरीतकी, दन्तीहरीतकी, हरीतकी खंड, पथ्यादि चूर्ण।

प्रयोग निषेध—अतिखिन्न, अतिक्षीण, रूक्ष, अतिकृश, लंघनकर्शित, विमुक्तरक्त, पित्ताधिक्ययुक्त, गर्भवती ये हरीतकी का सेवन न करें। तृष्णा, मुखशोष,

---

१. चर्विता वर्धयत्यग्निं पेषिता मलशोधनी।
स्विन्ना संग्राहिणी पथ्या भृष्टा प्रोक्ता त्रिदोषनुत्॥ (भा. प्र.)

२. सिन्धूत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात्।
वर्षादिष्वभया प्राश्या रसायनगुणैषिणा॥ (भा. प्र.)

नवज्वर तथा हनुस्तम्भ में भी नहीं देना चाहिए। कषायप्रधान तथा उष्ण-वीर्य होने से इन रोगों में वर्जित हैं।[1]

× × × ×

'वासादलो द्रुमोऽद्रिस्थः फलं तस्य हरीतकी।' (शि.)

'व्रण्यमुष्णं सरं मेध्यं दोषघ्नं शोथकुष्ठनुत्। कषायं दीपनं चाम्लं चक्षुष्यं चाभयाफलम्॥' (सु. सू. ४६)

'हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम्। रूक्षोष्णा दीपनी मेध्या स्वादुपाका रसायनी॥
चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमनी। श्वासकासप्रमेहार्शःकुष्ठशोथोदरक्रिमीन्॥
वैस्वर्यग्रहणीरोगविबन्धविषमज्वरान्। गुल्माध्मानव्रणच्छर्दिहिक्काकण्ठहृदामयान्॥
कामलां शूलमानाहं प्लीहानं च यकृद्गदम्। अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातं च नाशयेत्॥' (भा. प्र.)

'उन्मीलिनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां निर्मूलिनी पित्तकफानिलानाम्।
विस्रंसिनी मूत्रशकृन्मलानां हरीतकी स्यात् सह भोजनेन॥' (भा. प्र.)
'अन्नपानकृतान् दोषान् वातपित्तकफोद्भवान्।
हरीतकी हरत्याशु भुक्तस्योपरि योजिता॥' (भा. प्र)
'हरीतकी पंचरसा च रेचनी कोष्ठामयघ्नी लवणेन वर्जिता।
रसायनी नेत्ररुजापहारिणी त्वगामयघ्नी किल योगवाहिनी॥' (रा. नि.)
'हरीतकी पथ्यानाम्।' (च. सू. २५.)

'हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम्। दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम्॥
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम्। सर्वदोषप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम्॥
कुष्ठं गुल्ममुदावर्त्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम्। अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम्॥
हृद्रोगं सशिरोरोगमतिसारमरोचकम्। कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम्॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं कामलां क्रिमीन्। श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमंगावसादनम्॥
स्रोतोविबन्धान् विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः। स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी॥' (च. चि. १.)

'प्रपथ्या लेखनी लघ्वी मेध्या चक्षुर्हिता सदा। मेहकुष्ठव्रणच्छर्दिशोफवातास्रकृच्छ्रजित्॥
वातानुलोमनी हृद्या सेन्द्रियाणां प्रसादनी। संतर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी॥' (ध. नि.)

३६४. आमलकी

परिचय

गण—वयःस्थापन, विरेचनोपग (च०); त्रिफला, परुषकादि (सु०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युफॉर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लैं०-फिलैन्थस एम्ब्लिका (Phyllanthus Emblica), सं०-आमलकी धात्री, वयस्या; हि०-आँवला; बं०-आमलकी, आमला; म०, गु०-आँवला; ता०-नेल्लि-

---

1. 'अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्शिताः।
सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये॥' (च. चि. १.)
'तृष्णायां मुखशोषे च हनुस्तम्भे गलग्रहे।
नवज्वरे तथा क्षीणे गर्भिण्यां न प्रशस्यते॥' (ध. नि.)
अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रूक्षः कृशो लंघनकर्शितश्च।
पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत्॥' (भा. प्र.)

काई; ते०-उशीरिकी; फा०-आम्लज, आमलः; अं०-एम्ब्लिक मिरोबेलन (Emblic Myrobalan)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**-मध्यम प्रमाण का २०-२५ फुट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-श्वेतधूसर पतली; भीतरी काष्ठ-दृढ़ और रक्तवर्ण होता है। पत्रदंड लंबा; **पत्र**-संयुक्त इमली के पत्तों की तरह किन्तु पत्रक पतले और छोटे होते हैं। **पुष्पदंड** लंबा होता है जिसमें छोटे, पीतवर्ण पुष्प लगते हैं। **फल**-अंडाकार, पीताभ हरित होते हैं जिनके बाह्य पृष्ठ पर छः रेखायें होती हैं। भीतर षट्कोण बीज होता है। पुष्प शरद् में लगते हैं तथा चैत्र में पक जाते हैं।

जाति—वन्य और ग्राम्यभेद से आँवला दो प्रकार का होता है। वन्य आँवला छोटा, कठिन, अष्ठिल तथा ग्राम्य आँवला बड़ा, मृदु और मांसल होता है।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, निर्यास, शर्करा, अलब्युमिन, सेल्युलोज तथा खनिज द्रव्य (मुख्यतः कैलशियम) होते हैं। विटामिन सी भी पाया जाजा है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, शीत। **रस**—पंचरस (लवणरहित), अम्लप्रधान।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। अम्ल से वात, मधुर-शीत से पित्त तथा रूक्षकषाय से कफ का शमन करता है।[1] विशेषतः पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, चक्षुष्य और केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य, नाडियों के लिए बल्य तथा इन्द्रियों की शक्ति का वर्धक है।

पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, अनुलोमन और यकृदुत्तेजक है। अल्पमात्रा में स्तम्भन तथा बड़ी मात्रा में स्रंसन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह तीनों दोषों से उत्पन्न विकारों विशेषतः पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

---

१. हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यतः।
कफं रूक्षकषायत्वात् फलं धात्र्यास्त्रिदोषजित्॥ (भा. प्र.)

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, पैत्तिक शिरःशूल तथा मूत्रावरोध में इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों में इसका स्वरस डालते हैं तथा लगाते हैं। खालित्य और पालित्य रोगों में आँवले से सिर धोते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, दृष्टिमांद्य आदि इन्द्रियदौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध्य, यकृद्विकार, उदावर्त्त, उदररोग तथा अर्श में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, यक्ष्मा में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा प्रदर और गर्भाशयदौर्बल्य में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेहों में ताजे आँवले का रस पिलाते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर, तृष्णा, दाह आदि में आँवला लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—स्वरस-१-१ तो०; चूर्ण—३-६ माशे।

विशिष्ट योग—च्यवनप्राश, ब्राह्मरसायन, धात्रीलौह, धात्रीरसायन।

× × × ×

'हरीतकीसमं धात्रीफलं किन्तु विशेषतः। रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम् ॥' (भा. प्र.)

'विद्यादामलके सर्वान् रसान् लवणवर्जितान्।' (च. सू. २७.)

'तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि। यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः ॥' (च. चि. ३.)

'अम्लं समधुरं तिक्तं कषायं कटुकं सरम्। चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम्।
हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वात्फलेभ्योऽभ्यधिकं च यत् ॥' (सु. सू. ४६.)

'कटुमधुरकषायं किंचिदम्लं कफघ्नम्। रुचिकरमतिशीतं हन्ति पित्तास्रतापम्।
श्रमवमनविबन्धाध्मानविष्टम्भदोषप्रशमनममृताभं चामलक्याः फलं स्यात् ॥' (रा. नि.)

३६५. गुडूची

परिचय

गण—वयःस्थापन, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यशोधन, तृप्तिघ्न (च०); गुडूच्यादि, पटोलादि, आरग्वधादि, काकोल्यादि, वल्लीपञ्चमूल (सु०)।

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी-Menispermaceae)।

नाम—लै०-टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया (Tinospora Cordifolia); सं०-गुडूची, मधुपर्णी, अमृता, छिन्नरुहा, वत्सादनी, तन्त्रिका, कुण्डलिनी, चक्रलक्षणिका; हि०-गिलोय, गुडिच; बं०-गुलञ्च; म०-गुलवेल; गु०-गलो; ता०-शिण्डिलकोडि; ते०-टिप्पाटिगो; अ०-गुलञ्च।

स्वरूप—यह एक बहुवर्षायु[1] **लता** है जो नीम, आम आदि वृक्षों पर कुण्डलाकार

---

१. 'ततो येषु प्रदेशेषु कपिगात्रात् परिच्युताः।
पीयूषबिन्दवः पेतुस्तेभ्यो जाता गुडूचिका ॥' (भा. प्र.)
बहुवर्षायु तथा अमृततुल्य गुणकारी (रसायन) होने से इसका नाम 'अमृता' है।

चढ़ती है। इससे अनेक सूत्रवत् वाताशन मूल निकल कर नीचे की ओर झूलते रहते हैं। **त्वचा**–ऊपर की धूसरवर्ण, बहुत पतली होती है जिसे हटाने पर नीचे हरितमांसल भाग दिखाई पड़ता है। **पत्र**–हृदयाकार, एकान्तर, तीक्ष्णाग्र और स्निग्ध होते हैं। **पुंपुष्प**–छोटे, पीतवर्ण, गुच्छबद्ध होते हैं। **स्त्रीपुष्प**–एक-एक होते हैं। **फल**–मटर के समान होते हैं जो पकने पर लाल हो जाते हैं। ग्रीष्मऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक जति 'पद्मगुडूची' या 'कन्दगुडूची' कहलाती है। इसके पत्र बड़े तथा त्रिखण्ड होते हैं। काण्ड में भी स्थान-स्थान पर अर्बुदाकार उत्सेध जाते हैं। यह संभवतः T. Malabarica है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें स्टार्च, बर्बेरिन (Berberine) तथा एक तिक्त सत्त्व होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध-उष्ण होने से वात, तिक्त-कषाय होने से कफ और पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, दीपन, पाचन, पित्तसारक, अनुलोमन और कृमिघ्न है। आमाशयगत अम्लता इससे कम होती है।

रक्तवहस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक एवं रक्तवर्धक है।

श्वसनस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन और मूत्रविरजनीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है। घृत के साथ वात, शर्करा के साथ पित्त तथा मधु के साथ कफ के विकारों में दिया जाता है।[1]

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, वातरक्त आदि में गुडूची से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, छर्दि, अग्निमांद्य, शूल, यकृद्विकार, कामला, अम्लपित्त, प्रवाहिका, ग्रहणी तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

---

१. 'घृतेन वातं सगुडा विबन्धं पित्तं सिताढ्या मधुना कफं च।
वातास्रमुग्रं रुबुतैलमिश्रा शुण्ठ्यामवातं शमयेद् गुडूची ॥' (ध. नि.)

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार (वातरक्त, आमवात आदि) तथा पाण्डु में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह, पूयमेह तथा प्रमेह में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि समस्त चर्मरोगों में दिया जाता है। फिरंग की द्वितीयावस्था में जब विकार त्वचा में अधिष्ठित होता है तब इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में गुडूची-स्वरस देते हैं। इससे ज्वर-दाह शान्त होते हैं, अग्नि बढ़ती है तथा दौर्बल्य दूर होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय में तथा रसायनकर्म में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—काण्ड।

मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०; चूर्ण १-३ माशे; सत्त्व ५-१५ रत्ती।

विशिष्ट योग—गुडूच्यादि चूर्ण, गुडूच्यादि क्वाथ, गुडूचीलौह, अमृतारिष्ट; गुडूचीतैल।

वक्तव्य—यथासंभव ताजी गुडूची का ही प्रयोग करना चाहिए। संग्रह करना हो तो वर्षा के पूर्व उसे छाया में सुखा कर रखना चाहिए।

× × × ×

'गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी। संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याग्निदीपनी॥
दोषत्रयामतृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम्। कामलाकुष्ठवातास्रज्वरकृमिवमीर्हरेत्॥' (भा. प्र.)

'अमृता सांग्राहिक-वातहर-दीपनीय-श्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

'ज्ञेया गुडूची गुरुरुष्णवीर्या तिक्ता कषाया ज्वरनाशिनी च।
दाहार्त्तितृष्णावमिरक्तवातप्रमेहपाण्डुभ्रमहारिणी च॥' (रा. नि.)

'कन्दोद्भवा गुडूची च कटूष्णा संनिपातहा। विषघ्नी ज्वरभूतघ्नी वलीपलितनाशिनी॥'
(ध. नि.)

'अमृतायाः शतं चूर्णं वाससा परिशोधितम्। पृथक् षोडशभागाः स्युः गुडमाक्षिकसर्पिषाम्॥
यथाग्नि भक्षयेदेतन्नरो हितमिताशनः। नास्य कश्चिद् भवेद् व्याधिः न जरा पलितं न च॥'
(भा. प्र.)

३६६. अश्वगन्धा

परिचय

गण—बल्य, बृंहणीय, मधुरस्कन्ध (च०)।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-विथैनिया सॉम्निफेरा (Withania Somnifra)। सं०-अश्वगंधा, वाराहकर्णी, बलदा, कुष्ठगंधिनी; हि०-असगंध, बं०-अश्वगंधा; म०-आसंध, डोरगुंज; गु०-आसंध, घोड़ा आहन, घोड़ा आकुन; ता०-आमकुलांग; ते०-पिनिरु; अं-विण्टर चेरी (Winter Cherry)।

स्वरूप—इसका क्षुप १-५ फुट ऊँचा होता है। शाखायें गोलाकार चारों ओर फैली रहती है। **पत्र**-एकान्तर २-४ इञ्च लंबे, गोलाई लिए, श्वेतरोमश होते हैं। **पुष्प**-पत्रकोणोद्भूत, पीताभ हरित, चिलम के आकार के, गुच्छों में रहते हैं। **फल**-छोटे, गोलाकार, रसभरी के सदृश कवच के भीतर तथा पकने पर लाल हो जाते हैं।

बीज–छोटे, चिकने और चपटे होते हैं। **मूल**–ऊपर से धूसर, भीतर श्वेत, अंगुलि सदृश मोटे तथा १–१॥ फुट तक लंबे होते हैं। कच्चे मूल से अश्व के सदृश गन्ध आती है इसलिए इसे 'अश्वगन्धा' कहते हैं। शरदृऋतु में पुष्प तथा बाद में फल आते हैं।

जाति—यह देशभेद से ग्राम्य और वन्य दो प्रकार की होती है। वन्य असगंध अवसादक, स्वापजनन और मूत्रल है अतः इसका बाह्य प्रयोग ही करते हैं। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए ग्राम्य अश्वगंधा लेते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। विशेष कर मालवा में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—वन्य जाति के मूल में 'सॉम्निफेरीन' (Somniferin) नामक क्षारतत्त्व पाया जाता है जिसके कारण इसमें निद्राजनन और अवसादक धर्म हैं। ग्राम्य जाति में शर्करा, वसा, राल तथा कुछ रंजक द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य, मस्तिष्कशामक है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।
प्रजननसंस्थान—वाजीकरण तथा गर्भाशयशोथहर है।
मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—बल्य, बृंहण, रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—गलगण्ड, ग्रन्थिशोथ आदि में इसके पत्र या मूल का लेप करते हैं। इसके मूल से सिद्ध तैल का अभ्यंग दौर्बल्य और वातव्याधि में करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, मूर्च्छा, भ्रम, अनिद्रा आदि तथा वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंथान—उदरविकार (शूल, विष्टम्भ आदि) तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृदयदौर्बल्य, रक्तविकार एवं शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास में देते हैं। श्वास में असगंध का क्षार मधु और घृत के साथ देने का विधान है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा श्वेतप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—श्वित्र, कुष्ठ आदि में देते हैं।

सात्मीकरण—क्षय, शोष, विशेषतः बालशोष में यह अधिक लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—मूल, क्षार।

मात्रा—चूर्ण-३-६ माशे; क्षार-१-३ माशे।

विशिष्ट योग—अश्वगंधादि चूर्ण, अश्वगंधारसायन, अश्वगंधाघृत, अश्वगंधारिष्ट।

× × × ×

'कंदिनी वाजिगंधा स्यात् क्षुपा पर्पोटिवत् फला। वनजा वृत्तपर्णी च कंदो वाजीकरः स्मृतः॥' (शि.)

'अश्वगन्धानिलश्लेष्मश्वित्रशोथक्षयापहा। बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णातिशुक्रला॥' (भा. प्र.)

'पीताश्वगंधा पयसार्धमासं घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा।
कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते बालस्य शस्यस्य यथाम्बुवृष्टिः॥' (च. द.)

'शिशिरे योऽश्वगंधायाः कन्दचूर्णं पलोन्मितम्। मासमत्ति समध्वाज्यं स वृद्धोऽपि भवेद्युवा॥' (रा. भा.)

'पादकल्केऽश्वगंधायाः क्षीरे दशगुणे पचेत्। घृतं पेयं कुमाराणां पुष्टिकृद्बलवर्धनम्॥' (च. द.)

३६७. वृद्धदारु

परिचय

गण—अधोभागहर (सु०)।

कुल—त्रिवृत्-कुल (कॉन्वल्वुलेसी-Convolvulaceae)।

नाम—लै०-आर्जिरिया स्पिसिओजा (Argyreia Speciosa); सं०-वृद्धदारु, छागान्त्री, वृष्यगंधिका, अन्तःकोटरपुष्पी; हि०-बिधारा, घावपत्ता, समुद्रशोष; बं०-बिजताड़क; म०-समुद्रशोक; गु०-समदरशोष, वरधोरा; ता०-समुद्रशोक; ते०-समुद्रपेला।

स्वरूप—इसकी विस्तृत आरोहिणी **लता** होती है। **कांड**-कठिन, गोलाकार एवं स्थूल होता है जिसपर रूई के सदृश श्वेत रोम होते हैं। **पत्र**-४-१२ इञ्च लम्बे, अधिक चौड़े, लट्वाकार या ताम्बूलाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ स्निग्ध तथा निचला पृष्ठ तूलरोमश होता है। **पुष्प**-घंटाकृति होते हैं और इनके बाह्यदल सफेद तथा आभ्यन्तरदल बैंगनी या गुलाबी होते हैं। ये रात में खिलते हैं और इनसे सुगन्ध आती है। **फल**-१ इञ्च लम्बा, लम्बगोल, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ धूसर होते हैं। पकने पर ये स्वयं फट जाते हैं और इनसे तीन धार वाले, सफेद भूरे बीज निकलते हैं। वर्षा से शीतकाल तक पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं।

वक्तव्य—अनेक विद्वान् इसी कुल की दूसरी लता को विधारा मानते हैं जो दुग्धयुक्त है।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र बागों में लगाया मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कषायद्रव्य तथा अम्ल राल होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणपाचन, दारण, शोधन और रोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, आमपाचन, अनुलोमन और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन है तथा गर्भाशय के शोथ को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणपाचन और दारण के लिए पत्र का रोमश पृष्ठ व्रणशोथ पर बाँधते हैं। शोधन और रोपण के लिए ऊपरी चिकना पृष्ठ व्रण पर रखते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, विबन्ध, अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, स्वरभेद में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा श्वेतप्रदर में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

सात्मीकरण—क्षय, शोष में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, काण्ड, बीज।

मात्रा—चूर्ण-१-२ माशे; बीजचूर्ण-५-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—वृद्धदारुकसमचूर्ण।

× × × ×

'त्रिकोणकाण्डा सुबहुप्रताना फलेषु पीता कुसुमेषु रक्ता।
पत्रैः सदुग्धैर्मृदुरोमवद्भिस्ताम्बूलजल्पैर्घनमूलकन्दैः॥' (अ. सं. टीका)

'वृद्धदारुः कषायोष्णः कटुस्तिक्तो रसायनः। वृष्यो वातामवातार्शःशोथमेहकफप्रणुत्॥
शुक्रायुर्बलमेधाग्निस्वरकान्तिकरः सरः।' (भा. प्र.)

'वृद्धदारुकमूलानि श्लक्ष्णचूर्णानि कारयेत्। शतावर्या रसेनैव सप्तवारांश्च भावयेत्॥
माषद्वयं तु तच्चूर्णं सर्पिषा सह योजयेत्। मासमात्रोपयोगेन मतिमान् जायते नरः॥
मेधावी स्मृतिमांश्चैव वलीपलितवर्जितः।' (भै. र.)

'अश्वगंधा दशपला तन्मात्रो वृद्धदारुकः। चूर्णीकृत्योभयं विद्वान् घृतभाण्डे निधापयेत्॥
कर्षैकं पयसा पीत्वा नारीभिर्नैव तृप्यति। अगत्वा प्रमदां भूयाद्वलीपलितवर्जितः॥' (शा.)

३६८. गुलशकरी

कुल—परुषक-कुल (Tiliaceae)।

नाम—लै०-ग्रीविया हिर्सुटा (Grewia Hirsuta), सं०-गुड़शर्करा, खरगन्धा,

गोरक्षतण्डुला, चतुष्फला (फल पकने पर फटकर चार भागों में विभक्त हो जाते हैं), हि०-गुलशकरी; गंगरेन; बं०-गोरक्षचाकुले, वनमेथी; म०-गांगी, गांगेटी; गु०-गंनेटी; मा०-गांगिया।

वक्तव्य—कुछ विद्वानों ने इसका लैटिन नाम S. Spinosa दिया है। स्वर्गीय गुरुवर्य चरकाचार्य श्री धर्मदासजी इसी को नागवला मानते थे। उनका संप्रदाय अब भी यही मानता है।

जाति—इसकी बड़ी जाति 'गांगेरुकी' वृक्ष (ग्रीविया पौपुलिफोलिया-Grewia Populifolia) है जिसका वर्णन अन्यत्र किया गया है।

स्वरूप—यह बहुवर्षायु क्षुप ६-७ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-२-३ इञ्च लंबे, नुकीले, दन्तुर और रोमश होते हैं। प्रत्येक पत्र के मूल से २-३ **पुष्प**-निकलते हैं जो भीतर की ओर पीतवर्ण तथा बाहर गुलाबी होते हैं। **फल**-छोटे, पीले, चतुःकोष्ठीय होते हैं जो पकने पर फटकर चार भागों में विभक्त हो जाते हैं। पके फल मधुर स्वादिष्ट होते हैं और खाये जाते हैं। इन्हें 'शिकारी मेवा' भी कहते हैं। **बीज**-५-६ होते हैं। शरद्-हेमन्त में पुष्प-फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण, पथरीले, पार्वत्यप्रदेश में होता है। विशेषतः बिहार, विन्ध्यप्रदेश, राजस्थान, कोंकण आदि में मिलता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तस्तम्भन, वेदनास्थापन और व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य और मेध्य है।
पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अम्लतानाशन तथा अनुलोमन है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य और गर्भस्थापन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—यह रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, क्षत और व्रणों में इसके मूल और पत्र का लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, स्मृतिदौर्बल्य और वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।
पाचनसंस्थान—कोष्ठगत वात, अम्लपित्त तथा विबन्ध में दिया जाता है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, उरःक्षत, यक्ष्मा और स्वरभेद में अति लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, रक्तप्रदर और गर्भपात में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः उष्णाभिप्राय विषमज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला; मूलत्वक् चूर्ण-१-३ माशे।

× × × ×

'स्निग्धा रुच्या बल्या वृष्या ग्राहिणी वातपित्तजित्। तद्वन्नागबलाऽत्यर्थं कृच्छ्रे क्षीणे क्षते हिता॥' (रा. व.)

"...नागबलामूलानि'......पयसा मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्। जीर्णे च क्षीर-सर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्। संवत्सरप्रयोगात् अस्य वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठति इति समानं पूर्वेण।' (च. चि. १)

'पिबेन्नागबलामूलस्यार्धकर्षविवर्धनम्। पलं क्षीरयुक्तं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक्॥
एषः प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः।' (च. चि. १६)

'रसोनयोगं विधिवत् क्षयार्त्तः क्षीरेण वा नागबलाप्रयोगम्।' (सु. उ. ४१)

'चूर्णं नागबलायास्तु घृतमाक्षिकमिश्रितम्। प्रलिह्यात् प्रातरुत्थाय क्षयव्याधिनिवारणम्॥' (शो.)

'मूलं नागबलायास्तु चूर्णं दुग्धेन पाययेत्। हृद्रोगश्वासकासघ्नम्'......' (च. द.)

उपविष

३६९. गुञ्जा

परिचय

गण—मूलविष (सु०), उपविष (भा०)।

कुल—शिम्बी-कुल लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनोसी–Papilionaceae)।

नाम—लै०–ऐब्रस प्रिकेटोरियस (Abrus Precatorius); सं०-गुञ्जा, रक्तिका, काकणन्ती, काकचिञ्ची; हि०-रत्ती, घुंघची; बं०-कुँच; म०-गुञ्ज; गु०-चणोठी; ता०-गुन्दुमानि; ते०-गुरिगिञ्ज; फा०-चश्मखरोक्ष; अं०-इण्डियन लाइकरिस रूट (Indian liquorice root)।

स्वरूप—इसकी अनेकशाखायुक्त **लता** होती है। **पत्र**-इमली के जैसे, संयुक्त २-३ इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रक**-संख्या में २०-४० होते हैं। **पुष्प**-सघन गुच्छों में गुलाबी या नीले रंग के होते हैं। **शिम्बी**-१-१½ इञ्च लंबी, ¼-½ इञ्च चौड़ी होती है जिसमें ४-४ रक्त, श्वेत या कृष्ण वर्ण के मटर के सदृश बीज होते हैं। रक्त गुंजा के मुखभाग पर काला चिह्न होता है। मूल और पत्र में मुलेठी के सदृश मिठास होती है। शरद् में पुष्प आते हैं तथा शीतकाल में फल पकता है।

जाति—बीज के वर्ण के अनुसार यह तीन प्रकार का होता है। (१) श्वेत (२) रक्त और (३) कृष्ण। मूल, पत्र तीनों के तथा बीज श्वेत के औषधकर्म में लिए जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। इसके अतिरिक्त, लंका और श्याम देश में बहुत होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में विषाक्त प्रोटीन, मेदोविश्लेषक किण्वतत्त्व, ऐब्रुसिक अम्ल (Abrussic acid) नामक एक ग्लुकोसाइड, हिमेग्लुटिनिन (Haemagglutinin), किंचित् युरिएज, राइसिन के समान कार्यकारी ऐब्रिन (Abrin) नामक अलब्युमिनयुक्त पदार्थ होते हैं। उबालने पर बीजों की शक्ति नष्ट हो जाती है। मूल में १५ प्रतिशत ग्लिसराइजिन (Glycyrrizin) तथा ८ प्रतिशत अम्लराल होती है। पत्तियों में १० प्रतिशत ग्लिसरायजिन तथा ऐब्रिन होती है। बीजों के आवरण में एक रक्तवर्ण रंजक द्रव्य होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

मूल—मधुर और स्निग्ध होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—बीज कफवातशामक हैं। पत्र और मूल त्रिदोषहर हैं विशेषतः वातपित्तशामक हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीज कुष्ठघ्न, व्रणरोपण, वेदनास्थापन तथा केश्य है। पत्र-शोथहर, वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक और बल्य है। अधिक मात्रा में मादक है।

पाचनसंस्थान—पत्र स्नेहन हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक हैं।

श्वसनसंस्थान—पत्र और मूल स्नेहन और कफनिःस्सारक हैं।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है। इसके बीज गर्भनिरोधक भी है। मूल गर्भाशयोत्तक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूल और पत्र मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—मूल और बीज विष है। अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—बीजों का प्रयोग कफवातक विकारों में करते हैं। पत्र और मूल का त्रिदोषज रोगों में प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्म रोग, कुष्ठ, जीर्ण व्रण तथा खालित्य रोग में बीजों का लेप करते हैं। इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग वातव्याधि में करते हैं। पत्र-व्रणशोथ तथा व्रणों में लेप किया जाता है। पत्र से सिद्ध तैल का अभ्यंग वातव्याधि में करते हैं। मुखपाक में उसके क्वाथ से गण्डूष करते हैं। शिरःशूल में बीजों के चूर्ण का नस्य लेते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि, पक्षाघात तथा ऊरुस्तम्भ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—पत्र और मूल का प्रयोग कास और स्वरभेद में मुलेठी के समान करते हैं। स्वरभेद में पत्तियों की गोलियां बनाकर चूसते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ इससे सिद्ध दुग्ध देते हैं। गर्भनिरोध के लिए ऋतुकाल में प्रतिदिन २ बार करके एक सप्ताह तक देते हैं। गर्भनिष्कासन के लिए इसका मूल प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूल और पत्र का प्रयोग मूत्रकृच्छ्र में करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, मूल, पत्र।

मात्रा—बीजचूर्ण-½-१½ रत्ती; मूलचूर्ण-५-१० रत्ती; पत्रक्वाथ-५-१० तोला।

विशिष्ट योग—गुञ्जाभद्ररस।

विषाक्त प्रभाव—बीजचूर्ण अधिक मात्रा में खाने से वमन और रेचन होते हैं। मूत्राघात होता है तथा हृदयावसाद की स्थिति उत्पन्न होती है। क्षतों में प्रलेप से भी विषाक्त क्रिया होती है। मूल अधिक मात्रा में लेने से वामक होता है। मुखक्षत में मूल का लेप करने से विषक्रिया करता है।

निवारण—चौलाई का रस चीनी मिलाकर पीने से गुञ्जा का विष नष्ट होता है।[1]

शोधन—गुञ्जा के बीजों को कांजी या गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करने से शुद्धि हो जाती है।[2]

× × × ×

'गुञ्जावल्ली तु मधुरा चिंचापत्री सुशिम्बिका। बीजं कृष्णारुणं श्वेतं जायते सर्वभूमिषु॥' (शि.)

'गुञ्जाद्वयं तु केश्यं स्यात् वातपित्तज्वरापहम्। नेत्रामयहरं वृष्यं बल्यं कण्डूव्रणापहम्॥
मुखशोषभ्रमश्वासतृष्णामदविनाशिनी। कृमीन्द्रलुप्तकुष्ठानि रक्तवद्ध बलापि च॥' (भा.प्र.)

'गुञ्जा सोष्णा रसे तिक्ता कषाया कफपित्तहा। चक्षुष्या शुक्रला केश्या त्वच्या रुच्या बलप्रदा॥
इन्द्रलुप्तहरा तीव्रा सविषा मदमोहकृत्। हन्ति रक्षोग्रहविषं कण्डूकुष्ठविषक्रिमीन्॥' (कै. नि.)

'मूलं तु मधुरं तिक्तं मुखशोषहरं परम्। मुखपाकहरं पत्रं, सर्वं श्वेताभवं शुभम्॥ (नि.सं.)

'गुंजाद्वयं च शीतोष्णं बीजं वान्तिकरं, शिफा। शूलघ्नी विषकृत् पत्रं वश्ये श्वेता प्रशस्यते॥' (ध. नि.)

विषघ्न

३७०. शिरीष

परिचय

गण—विषघ्न, वेदनास्थापन, शिरोविरेचन, कषायस्कन्ध (च०); सालसारादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसेसी-Mimosaceae)।

---

१. मेघनादरसो ग्राह्यः शर्करायुक्तपानतः। उच्चटायाः विकारस्य शान्तिः स्यात्।

२. गुञ्जा कांजिकसंस्विन्ना प्रहरात् शुध्यति ध्रुवम्।' (र. ए. सु.)

नाम—लै०-ऐल्बिज्जिया लिबेक (Albizzia Lebbeck)। सं०-शिरीष, कपीतन, मृदुपुष्प, शुकप्रिय। हि०-सिरिस; बं०-शिरीष; म०-शिरस; गु०-सरसडो; पं०-शरीं; ता०-दिरासन वेधि; ते०-दिर्सन; अ०-सुल्तानुल् अश्जार।

स्वरूप—इसका बड़ा वृक्ष ५०-६० फुट ऊँचा सड़कों के किनारे होता है। **पत्र**-संयुक्त, चिकने तथा लोमयुक्त होते हैं। **पत्रक**-चौड़े, ४-८ जोड़े होते हैं। **पुष्प**-पीताभ श्वेत, सुगन्धि और कोमल होते हैं। **शिम्बी**-½-१ फुट लंबी, ½-¾ इञ्च चौड़ी, चपटी और कड़ी होती है जिसमें ६-१० की संख्या में धूसर, चिपटे गोलाकार बीज होते हैं। शीतकाल में पत्तियाँ झड़ जाती हैं। वर्षाकाल में पुष्प और शीत-वसन्त में फल आते हैं।

जाति—यह दो प्रकार का होता है:—(१) श्वेत, (२) कृष्ण। श्वेत शिरीष कम देखने में आता है। इसकी काण्डत्वक् श्वेतवर्ण होती है। कृष्ण अधिक होता है। इसकी छाल कृष्णाभ होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में सैपोनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—ईषद् उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। उष्ण होने से वात तथा कषायतिक्त होने से पित्त तथा कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, विषघ्न तथा चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है। अधिक मात्रा में वामक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—शिरोविरेचन और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, गंडमाला आदि में बीजों का लेप करते हैं। वर्णविकार, चर्मविकार तथा व्रणों में इसका तथा त्वचा का लेप करते हैं। दन्तदौर्बल्य में छाल के क्वाथ से गंडूष करते हैं। नेत्ररोगों में विशेषतः रतौंधी में पत्रस्वरस नेत्र में डालते हैं। बीजों को घिस कर अंजन भी लगाते हैं। विषों में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, विसर्प, शोथ, गंडमाला आदि में छाल का क्वाथ या बीजचूर्ण खिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा प्रतिश्याय में इसका प्रयोग करते हैं। जीर्ण कफरोगों में बीजचूर्ण का नस्य देते हैं। श्वास में पुष्पस्वरस पिप्पलीचूर्ण और मधु के साथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—बीजों का चूर्ण गोदुग्ध के साथ वाजीकरणार्थ तथा शुक्रदौर्बल्य में देते हैं। पुष्प भी शुक्रस्तम्भनार्थ देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में बीजचूर्ण देते हैं।

सात्मीकरण—स्थावर और जांगम विषों में छाल का क्वाथ या बीजचूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अंग—छाल, बीज, पत्र, पुष्प।

मात्रा—त्वक्चूर्ण-३-६ माशे; बीजचूर्ण-१-२ माशे; पुष्प या पत्रस्वरस-१-२ तो०।

विशिष्ट योग—महाशिरीष अगद, शिरीषारिष्ट।

× × × ×

'शिरीषो मधुरोऽनुष्णस्तिक्तश्च तुवरो लघुः। दोषशोषविसर्पघ्नः कासव्रणविषापहः॥' (भा.प्र.)
'तिक्तोष्णो विषहा वर्ण्यस्त्रिदोषशमनो लघुः। शिरीषकुष्ठकण्डूघ्नस्त्वग्दोषश्वासकासहा॥' (कै.नि.)
'शिरीषो विषघ्नानाम्।' (च. सू. २५)

'रसे शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं सितम्।
भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जने हितम्॥' (च. चि. २५)

३७१. निर्विषा

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)।

नाम—लै०-डेल्फिनियम डेन्युडेटम (Delphinium Denudatum)। सं०-निर्विषा, विषहा, विषभवा, विशल्यकरणी; हि०-निर्विषी; ने०-नीलो विष; अ०-जद्वार; फा०-माहबरवीन।

स्वरूप—यह अनेकशाखाप्रशाखायुक्त एक २-३ फुट ऊँचा क्षुप है। **पत्र**-धनिया के पत्तों की तरह अल्प, दीर्घवृन्त तथा ५-६ पक्षाकार भागों में विभक्त होते हैं। **पुष्प**-अल्प, नीलाभ, तूलरोमश होते हैं। फल में बीज १-७ की संख्या में होते हैं। **मूल**-१-१½ इञ्च लंबे, शंक्वाकार, कृष्णाभ धूसर होते हैं। मुंह में रखने पर पहले मधुर और बाद में तिक्त मालूम होते हैं।

जाति—यूनानी वैद्यक में इसकी पाँच जातियाँ बतलाई हैं जिनमें जद्वार खताई और जद्वार अकरबी मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में काश्मीर से कुमायूं तक ८-१२ हजार फीट की ऊँचाई पर होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें डेल्फिनिन (Delphinine) तथा स्टैफिसैग्रिन (Staphisagrine) नामक दो क्षारतत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, लेखन, विषघ्न और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडियों के लिए बल्य और वातहर है।

पाचनसंस्थान—दीपन, आमपाचन, पित्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तशोधक है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
प्रजननसंस्थान—वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीनाशन और मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—यह उत्तेजक और कटुपौष्टिक है। यह उत्तम विषघ्न है। सर्पविष, वत्सनाभ विष, डिजिटेलिन तथा मस्केरिन के विष का यह विशेषरूप से निवारक माना जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वर्णविकार, कुष्ठ तथा वेदना में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इसे चबाते हैं। सांप, बिच्छू आदि के विष पर लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा विविध वातव्याधि (पक्षाघात, अर्दित, आक्षेपक आदि) में इसका प्रयोग करते हैं।
पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, कामला तथा उदररोग में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—हृदौर्बल्य तथा उपदंश आदि रक्तविकारों में देते हैं।
श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय तथा कासश्वास में देते हैं।
प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा कष्टार्त्तव में दिया जाता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।
सात्मीकरण—उत्तेजक और बल्य होने से यह अनेक रोगों में शक्ति की रक्षा के लिए प्रयुक्त होता है। सर्पविष, वत्सनाभविष, हृत्पत्रीविष आदि में यह दिया जाता है।
प्रयोज्य अंग—मूल।
मात्रा—४-८ रत्ती।

× × × ×

'निर्विषा कटुका सोष्णा कफवातास्रदोषनुत्। अनेकविषदोषघ्नी व्रणसंरोपणी च सा॥'

(रा. नि.)

३७२. छिलहिण्ट

परिचय

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी-Menispermaceae)।

नाम—लै०-कॉक्युलस हिर्स्युटस (Cocculus Hirsutus); सं०-छिलहिण्ट, महामूल, पातालगरुड; हि०-पातालगरुड़ी, जलजमनी, फरीदबूटी; बं०-हमेर; म०-वसनवेल; गु०-पाताल गलोरी; ता०-कटुक्कोडि; ते०-चिपुरुटिगे।

स्वरूप—इसकी **लता** पाठा के समान होती है। **काण्ड**-मृदु और श्वेतरोमश होता है। **पत्र**-मृदु, श्वेतरोमश, अनेक आकार प्रकार के, नीचे के पत्ते बड़े, लट्वाकार-

आयताकार २ इञ्च लम्बे और २ इञ्च चौड़े तथा ऊपर की पत्तियां क्रमशः छोटी आयताकार होती हैं। पुष्प–एकलिंगी, सूक्ष्म और हरिताभ होते हैं। फल–कच्चे में हरे और पकने पर काले बैंगनी रंग के होते हैं। बीजाधार–घोड़े के नाल के सदृश होते हैं। वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण तथा समशीतोष्ण प्रदेशों–बिहार, बंगाल, पञ्जाब, मद्रास, नेपाल आदि–में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—दो तत्त्व, अम्ल तथा एक पीताभ हरित, मृदु और सुगन्ध राल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण। **प्रभाव**—विषघ्न।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध-उष्ण होने से वात तथा तिक्त होने से पित्त और कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप विषघ्न, शामक और त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह विषों में तथा चर्मरोगों में लेप के रूप में दिया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, विष्टम्भ तथा शूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों (उपदंश, आमवात आदि) में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रस्तंभन और वाजीकरण के लिए इसका स्वरस पिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रदाह, मूत्रकृच्छ्र तथा पूयमेह में पत्र का स्वरस चीनी मिला कर देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वरों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा सर्पविष में इसका मूल पीसकर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—स्वरस–१–२; क्वाथ—५–१० तो०।

'हिलहिण्टो महामूलः पातालगरुडाह्वयः।
छिलहिण्टः परं वृष्यः कफघ्नः पवनापहः॥' (भा. प्र.)

रक्तस्तम्भन

३७३. नागकेशर

परिचय

गण—एलादि, प्रियंग्वादि, अञ्जनादि (सु०); चतुर्जात (भा०)।

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लै०-मेसुआ फेरिया (Mesua Ferrea), सं०-नागकेशर, नागपुष्प, चाम्पेय; हि०-पीला नागकेशर; बं०-नागेश्वर; म०-नागचांपा (वृक्ष), नागकेशर; गु०-पीलुं नागकेशर; ता०-विलुट्ट-चंपकम्; ते०-नागचंपकमु; अ०-मिस्कुरुम्मान; फा०-नारेमुष्क; अं०-आयरनवुड ट्री (Iron-wood tree); कॉबराज सैफ्रोन (Cobras Saffron)।

स्वरूप—इसका सदाहरित, सुन्दर और मध्य प्रमाण का वृक्ष होता है। शाखायें कोमल तथा छाल रक्ताभ होती है जिससे पीतहरित निर्यास बबूल की गोंद के सदृश निकलता है। **पत्र**–२–६ इञ्च लंबे, $1\frac{1}{2}$–$1\frac{3}{4}$ इञ्च चौड़े, नुकीले होते हैं। इनका ऊर्ध्वपृष्ठ स्निग्ध तथा हरित एवं अधःपृष्ठ श्वेताभ होता है। ऊपर के पत्रकोणों से २–४ इञ्च व्यास के सुगंधि पुष्प निकलते हैं जिनके पुंकेशर पीतवर्ण गुच्छों में होते हैं तथा पुष्पबाह्यदल स्थायी एवं कठोर होता है। **फल**–१–$1\frac{1}{4}$ इञ्च लंबा, लंबगोल होता है जिसके भीतर १–४ कठोर, मेंहदी के वीज के सदृश, धूसर वीज होते हैं। फल से एक निर्यास भी निकलता है। वसन्त में पुष्प और शरद् में फल लगते हैं। औषध में पुंकेशर के गुच्छों का ही प्रयोग होता है। इन केशरों को नागकेशर तथा पुष्प को नागपुष्प कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः नेपाल, पूर्वी हिमालयप्रदेश, बंगाल, आसाम, दक्षिणभारत, बर्मा तथा अण्डमन में ५ हजार फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—कच्चे फल में एक तैलयुक्त राल होता है जिससे एक पीताभ, सुगंधित तैल प्राप्त होता है। बीजों में एक स्थायी तैल होता है। फलावरण में कषाय द्रव्य होता है। केशर में दो तिक्त पदार्थ होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण (ईषत्)।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—वीजों का तैल वेदनास्थापन है। केशर दुर्गन्धनाशन, स्वेदापनयन तथा उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, अर्शोघ्न, ग्राही, क्रिमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग-बाह्य—बीजों का तैल सन्धिवात आदि में मालिश करते हैं। नागकेशर का लेप दुर्गन्ध, अतिस्वेद तथा व्रणों पर करते हैं। क्लैब्य में इसका लेप शिश्न पर करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद आदि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, तृष्णा, छर्दि, क्रिमि, अर्श तथा प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है। रक्तार्श का रक्त रोकने के लिए यह अतीव उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त तथा रक्तविकार में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का, श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा रक्तप्रदर में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि त्वग्दोषों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुंकेशर।

मात्रा—चूर्ण-४-८ रत्ती।

× × × ×

'नागपुष्पं कषायोष्णं रूक्षं लघ्वामपाचनम्। ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम्॥ दौर्गन्ध्यकुष्ठवीसर्पकफपित्तविषापहम्।' (भा. प्र.)

'नागकेशरमल्पोष्णं लघु तिक्तं कफापहम्। बस्तिवातामयघ्नं च कण्ठशीर्षरुजापहम्॥' (रा. नि.)

'केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्। अर्शांस्यपयान्ति रक्तानि॥' (च. चि. १४)

३७४. सुरपुन्नाग

परिचय

गण—एलादि (सु०)।

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लै०-ऑक्रोकार्पस लॉञ्जिफोलियस (Ochrocarpus Longifolius); सं०-सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरपर्णिका; हि०-लाल नागकेशर; बं०-नागकेशर; म०-सुरंगी (वृक्ष), लाल नागकेशर; गु०-रातुं नागकेशर; ता०-नागेशरपु; ते०-सरापुन्ना; अं०-अलेक्जेंड्रियन लॉरेल (Alexandrian Laurel)।

स्वरूप—इसका बड़ा वृक्ष होता है। **छाल**—रक्ताभ धूसर होती है। **पत्र**—५-६ इञ्च लम्बे, २-२½ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**—उभयलिंगी, सुगन्धि तथा पीताभ रक्त

होते हैं। फल—मौलसिरी के फल के सदृश १ इंच लम्बा होता है जिसमें एक बीज रहता है। पुष्प वसन्त में तथा फल बाद में लगते हैं। इसकी अविकसित पुष्पकलिका नागकेशर के नाम से बिकती है।

उत्पत्तिस्थान—दक्षिण कोंकण से मलावार तक समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में होता है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म नागकेशर के समान ही किन्तु कुछ अम्ल होते हैं।

× × × ×

'पुन्नागः सुरपर्णिका सुगंधिपुष्पयुक्ता दक्षिणापथे 'सुरपति' नाम्ना प्रतीता।' (डल्हण)

३७५. पुन्नाग

परिचय

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लै०-कैलोफाइलम इनोफाइलम् (Calophyllum inopyllum) सं०-पुंनाग, तुंग। हि०-सुलतान चंपा; बं०-सुलतान चंपा, काठचाँपा, म०-उंडी, उंडल; ता०-पुन्नागम्; ते०-पुन्नाविट्टुलु।

स्वरूप—इसका चिरहरित २०-२५ फुट ऊँचा सुन्दर वृक्ष होता है। पत्र—अंडाकार वटपत्र के सदृश ४-६ इञ्च लंबे, ३-४ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प—श्वेतवर्ण, सुगंधि होते हैं। फल—गोल, पकने पर पीतवर्ण होते हैं। बीजों से तैल निकाला जाता है। वर्षा में पुष्प और बाद में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसके वृक्ष दक्षिण भारत के समुद्रतट तथा बंगाल में होते हैं।

रासायनिक संघटन—बीजों में तैल तथा राल होता है। तैल को विदेशों में डोम्बा आयल (Domba Oil) कहते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। तैल वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजतैल लेखन और वेदनास्थापन है। निर्यास व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—स्नेहन और मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजतैल आमवात, संधिवात तथा चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल का क्वाथ प्रवाहिका, रक्तातीसार में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में छाल का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बीजों का तैल मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वचा, बीज, तैल।

मात्रा—क्वाथ ५–१० तो०; तैल।

× × × ×

'पुन्नागो मधुरः शीतः सुगंधिः पित्तनाशकृत्।' (रा. नि.)

३७६. जपा

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-(Malvaceae)।

नाम—लै०-हिबिस्कस रोजा साइनेन्सिस (Hibiscus Rosa-Sinensis); सं०-जपा, औण्ड्रपुष्प; हि०-ओड़हुल, गुड़हल, जवा; बं०-जवा; पं०-गुड़हल; म०-जास्वंद; गु०-जासुस, जासुद; ता०-शपात्तुपू; ते०-दासनमु; अ०, फा०-अंगिरा हिन्दी; अं०-शू फ्लावर (Shoe flower), चाइनीज रोज (Chinese rose)।

स्वरूप—अनेक-शाखाप्रशाखायुक्त इसका छोटा **वृक्ष** होता है। **पत्र**-अंडाकार, दन्तुर, तीक्ष्णाग्र, शहतूत के पत्र जैसे होते हैं। **पुष्प**-अनेक प्रकार के, प्रायः लाल रंग के, घंटाकार होते हैं। बीजकोष गोलाकार होता है जिसमें अनेक बीज रहते हैं। पुष्प और फल बराबर होते हैं।

जाति—पुष्पभेद से यह चार प्रकार की है—(१) रक्त, (२) नील, (३) पीत (४) श्वेत।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कषाय, मधुर।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक और केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह सौमनस्यजनन और मस्तिष्क बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत में इसके पुष्पों का स्वरस देते हैं। खालित्य में इसके फूलों को गोमूत्र में पीसकर लगाते हैं। फूलों से सिद्ध तैल शिरोरोग में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—रक्तातीसार, रक्तार्श में इसको देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त तथा रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ शुक्रदौर्बल्य में पुष्पों का गुलकन्द खिलाते हैं। रक्तप्रदर में पुष्पकालिका दूध में पीसकर देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, कालिका।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०; कल्क-३-६ माशे।

विशिष्ट योग—जवाकुसुम तैल।

× × × ×

'जपा संग्राहिणी केश्या त्रिसन्ध्या कफवातकृत्।' (भा. प्र.)

'जपा शीता च मधुरा स्निग्धा पुष्टिप्रदा मता। गर्भवृद्धिकरी ग्राही केश्या जन्तुप्रदा मता॥
वातजन्तुकरा दाहप्रमेहार्शोविनाशिनी। धातुरुक् प्रदरं चेन्द्रलुप्तं च विनाशयेत्॥
जपापुष्पं लघु ग्राहि तिक्तं केशविवर्धनम्।' (नि. र.)

३७७. पर्णबीज

परिचय

कुल—पर्णबीज-कुल (क्रैसुलेसी-Crassulaceae)।

नाम—लै०-ब्रायोफाइलम कैलिसियम (Bryophyllum Calycinum)। सं०-पर्णबीज, हि०-पथरचट, पथरचूर; बं०-पाथरकूँचि; ते०-सिमाजासुलु।

स्वरूप—इसका रोमश कांड १-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्रक**-३, मांसल, अंडाकार, दन्तुर तथा ३-६ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्प**-२ इञ्च लंबे रक्तवर्ण होते हैं। **शिम्बी**-४ भागों में विभक्त होती है जिसमें अनेक बीज होते हैं। इसकी पत्तियों के दन्तुर किनारे में बीज होते हैं जिससे पत्तियाँ जमीन में गिरने से वहाँ नया क्षुप उत्पन्न हो जाता है। शीतकाल में पुष्प और ग्रीष्म में फल होते हैं।

जाति—इसकी एक बड़ी जाति है जिसे बंगाल में हिमसागर कहते हैं और लेटिन नाम कैलंची लैसीनिएटा (Kalanchoe Laciniata) है। इसका क्षुप, पत्र आदि बड़े और मांसल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण प्रदेशों विशेषतः बंगाल में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तों में कैलशियम सलफेट, कैलशियम ऑक्जलेट तथा एसिड टार्टरेट आफ पोटाशियम होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, अम्ल।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तस्कन्दन है। इससे सूक्ष्म धमनियों का संकोच होता है जिससे रक्तस्राव बन्द होता है। व्रणशोधन और रोपण भी है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह रक्तरोधक है तथा रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अभिघातजन्य शोथ, व्रण आदि में इसका पत्रकल्क का लेप देते हैं। क्षत में पत्रस्वरस देते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श तथा रक्तप्रदर में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—स्वरस-$\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ तोला।

३७८. आयापान

परिचय

कुल—भृंगराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-युपेटोरियम् आयापान (Eupatorium Ayapana); हि०-बं०-आयापान।

स्वरूप—इसका छोटा गुल्मजातीय **क्षुप**-२-४ फुट ऊँचा होता है। शाखायें सरल रक्ताभ और किंचित रोमश होती हैं। **पत्र**-२-३ इञ्च लंबे, $\frac{3}{4}$ इञ्च चौड़े, कोमल, तीक्ष्णाग्र रक्ताभ तथा विपरीत क्रम में होती है। इनमें तीन स्पष्ट सिरायें होती हैं तथा पत्तियों को मसलने से तीक्ष्ण सुगंध आती है। **पुष्प**-बैंगनी रंग के होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह बंगाल में विशेष होता है। मूलतः यह अमेरिका के ब्राजिल प्रदेश का निवासी है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील सुगंधि तैल तथा आयापानिन (Ayapanine) नामक एक स्फटिकीय तत्त्व होता है। इसके अतिरिक्त प्रचुर कषाय द्रव्य होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक, व्रणशोधन, व्रणरोपण तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, ग्राही तथा अधिक मात्रा में वामक और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक तथा रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, विशेषतः नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक तथा शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, व्रण तथा विषों में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, विसूचिका, रक्तातिसार में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, अवसाद, रक्तविकार तथा रक्तपित्त के लिए यह अतीव प्रशस्त औषध है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—रक्तमूत्रता तथा पैत्तिक प्रमेहों में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में जाड़ा लगने के समय इसका फांट गरम-गरम पिलाते हैं। अमेरिका में पीतज्वर के लिए यह प्रसिद्ध है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। सर्पविष में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस-२-४ माशे; फाण्ट-२-५ तोला; चूर्ण-२-४ माशे।

× × × ×

३७९. झण्डु

परिचय

कुल—भृंगराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-टैगेटस इरेक्टा (Tagetes Erecta), सं०-झण्डु; हि०-गेंदा; बं०-गेंदा; म०-झेंडु; गु०-गलगोटो; ता०-बाण्टि; फा०-गुलहजारा।

स्वरूप—इसका गुल्मजातीय रोमश क्षुप होता है। कांड और शाखायें कोणयुक्त तथा रोमश होती हैं। **पत्र**-एकान्तर, पक्षाकार, रोमश होते हैं। **पुष्प**-गहरे पीले रंग के होते हैं। **बीज**-लंबे और कृष्णवर्ण होते हैं। शीतकाल के प्रारंभ में इसके पुष्प लगते हैं।

जाति—पुष्प के वर्णभेद तथा आकृतिभेद से इसकी अनेक जातियाँ होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मूलतः मैक्सिको का निवासी है, संप्रति समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, कटुसत्त्व तथा एक पीत रंजक द्रव्य होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक तथा शोथहर है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक एवं रक्तरोधक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्त विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत, व्रण तथा शोथ में पुष्प एवं पत्र का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा रक्तपित्त (रक्तार्श, रक्तप्रदर आदि) में पुष्पस्वरस या कल्क घी में तलकर देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, पत्र।

मात्रा—स्वरस-१-२ तो०।

× × × ×

'झण्डुः कटुकषाया स्याज्ज्वरभूतग्रहापहा।' (रा. नि.)

३८०. शाक

परिचय

गण—सालसारादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी-Verbenaceae)।

नाम—लै०-टेक्टोना ग्रैण्डिस (Tectona Grandis)। सं०-शाक, साग, खरपत्र, महापत्र, स्थिरसार। हि०-सागौन, सागवान; बं०-सेगुन; म०-गु०-सागवान; ता०-टेक्कूटेक; ते०-टेकू; अं०-टीक-वुड (Teak-wood)।

स्वरूप—इसका बड़ा **वृक्ष** १००-१५० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-बड़े, लगभग १ फीट लंबे, आयताकार, नुकीले, खरस्पर्श, निचले पृष्ठ पर रोमश होते हैं। मुख्य पत्र-सिरायें ८-१० जोड़ी होती हैं। **पुष्पदण्ड**-अनेकशाखायुक्त, १-२ फुट लंबा होता है जिसमें श्वेतवर्ण पुष्प गुच्छों में लगते हैं। पुष्पगुच्छ ४ भागों में विभक्त होता है। **फल**-छोटे, ⅔ इंच व्यास के गोलाकार, रोमाकीर्ण तथा चार भागों में विभक्त होते हैं। अन्तः काष्ठ कठिन, दृढ और धूसरवर्ण होता है। वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मध्यभारत, उड़ीसा, बंगाल, दक्षिण भारत एवं बर्मा में बहुत होता है।

रासायनिक संघटन—काष्ठ में एक राल होती है तथा इसके अन्तर्धूम परिस्रवण से एक तैल प्राप्त होता है जो पशुओं के व्रणों में तथा रंगने के काम में आता है। काष्ठ के कोटरों में कैलशियम फास्फेट, अमोनियम और मैंगनीशियम फास्फेट तथा सिलिका संचित मिलते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

बीज स्निग्ध हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। बीज वातशामक हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—काष्ठ शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न तथा दाहप्रशमन है। पत्रस्वरस रक्तस्तम्भन है। बीजतैल केश्य और कण्डूघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल पित्तशामक, स्तम्भन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—पत्रस्वरस शोणितास्थापन तथा शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—बीज मूत्रजनन है। छाल मूत्रस्तम्भन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—मेदोहर हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है। बीज वातव्याधि में दिए जाते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—काष्ठचूर्ण शोथ, दाह, भल्लातक-विष तथा शिरःशूल में लेप करते हैं। बीजतैल खालित्य रोग तथा चर्मरोगों में लगाते हैं। पत्रस्वरस क्षतों में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अम्लपित्त, प्रवाहिका तथा कृमिरोग में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तविकार तथा शोथ में पत्रस्वरस देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रदर तथा गर्भपात में इसका क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पुष्पों का शाक तथा छाल का क्वाथ प्रमेह में प्रयुक्त होता है। बीज मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी हैं।

त्वचा—कुष्ठ में अन्तःसार का क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—दाह में छाल या काष्ठ का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, काष्ठ, पत्र, बीज।

मात्रा—क्वाथ ५–१० तो०; स्वरस १–२ तो०; चूर्ण १–३ माशे।

× × × ×

'शाको भूमिरुहः पृष्ठपत्रोदरसुकर्कशः। महापत्रो रागगर्भो मंजरीकः सुदारुकः ॥' (शि.)
'शाकः कषायः शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः। कुष्ठश्लेष्मानिलहरो गर्भसंधानस्थैर्यकृत् ॥
शाकपुष्पं प्रमेहघ्नं रूक्षं तुवरतिक्तकम्। कफपित्तहरं वातकोपनं विशदं लघु ॥' (कै. नि.)
'भूमिरुहस्तु शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः।' (भा. प्र.)
'शाकस्तु सारसः प्रोक्तः पित्तदाहश्रमापहः। कफघ्नं मधुरं रुच्यं कषायं शाकवल्कलम् ॥'
(रा. नि.)

३८१. रक्तनिर्यास

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-कैलेमस ड्रेको (Calamus Draco); सं०-रक्तनिर्यास; हि०-खूनखराबा, हीरादोखी; म०-हिरादखण; गु०-हीरादखण; अ०-दम्मुल अख्वैन; फा०-खून सियावशाँ; अं०- ड्रेगन्स ब्लड (Dragon's blood)।

स्वरूप—यह एक वृक्ष का निर्यास है जो नीलाभ रक्तवर्ण होता है तथा चूर्ण करने पर गहरे लाल रंग का होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह अरब, अफ्रीका तथा सकोतरा द्वीप में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें बेंज़ोइक अम्ल तथा सिनेमिक अम्ल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—रक्तस्तम्भन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह अत्युत्तम रक्तस्तम्भन और रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—प्रयोव्रण तथा जीर्णव्रणों में इसका चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, उरःक्षत आदि में यह अतीव उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—१-१½ माशे।

× × × ×

३८२. कुकुन्दर

परिचय

कुल—भृंगराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-ब्लुमिया लैसरा (Blumea Lacera); सं०-कुकुन्दर, ताम्रचूड़, मृदुच्छद, कुक्कुरद्रु; हि०-कुकरौंधा; बं०-कुकसिम, कुकुरशोंगा; म०-कुकुरवन्दा; गु०-कोकरोंदा; बम्बई-भामवारदा; ता०-काट्ठु मूलांगी; ते०-आदवी; अं०-ब्लुम (Blume)।

स्वरूप—यह १-२ फुट ऊँचा क्षुप होता है। **पत्र**-कासनी के सदृश खण्डित, किन्तु मांसल, रोमश और उग्रगन्धि होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीत, रोमश तथा उभयलिंगी होते हैं। **बीज**-छोटे और कृष्णवर्ण होते हैं। क्षुप के ऊपरी कोमल भाग ताम्रवर्ण होते हैं। अतः इसे 'ताम्रचूड़' कहा है। वर्षाऋतु में इसके क्षुप उत्पन्न होते हैं और ग्रीष्म में सूख जाते हैं। शीतकाल के अन्त में पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ देखने में आती हैं। कुछ छोटे, कुछ बड़े, कुछ की पत्तियाँ खण्डित-विभिन्न और कुछ की केवल दन्तुर होती हैं। इनमें B. Erientha; B. Densiflora; B. Balsamifera आदि मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में २ हजार फुट की ऊँचाई तक विशेषतः आर्द्र और ऊँची भूमि में देखा जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल तथा एक कर्पूर होता है जिसे नागी कपूर या पत्री कपूर कहते हैं। इसके भौतिक गुणकर्म भीमसेनी कपूर के सदृश होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शिरोविरेचन, शोथहर, चक्षुष्य, रक्तस्तम्भन, कृमिघ्न तथा व्रणरोपण हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा कृमिघ्न है। मूल अतिमात्रा में वामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोणितास्थापन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका पत्रस्वरस तथा चूर्ण प्रतिश्याय, शिरःशूल में नस्य के रूप में प्रयुक्त होता है। शोथ में पत्तियों को गरम कर बाँधते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पत्रस्वरस नेत्र में डालते हैं। बाह्यकृमियों को नष्ट करने के लिए इसका स्वरस लगाते हैं। क्षत में तथा व्रणों में इसका स्वरस या कल्क लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग, कृमि, यकृद्विकार तथा अर्श के लिए उत्तम औषध है। अर्श में अर्शांकुरों पर पत्रकल्क बाँधते हैं तथा पत्रकल्क में मरिच चूर्ण मिलाकर गोलियाँ बना कर खिलाते हैं। मूल का प्रयोग भी करते हैं। मुखशोथ में मूल मुख में रखते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्राव, रक्तविकार तथा शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास तथा श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—कुक्कुरविष में इसका मूल १ तो० की मात्रा में पीस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—स्वरस-१ तो०, कल्क-१-६ माशे।

× × × ×

'कुकुन्दरस्ताम्रचूडः सूक्ष्मपत्रो मृदुच्छदः।'
'कुकुन्दरः कटुस्तिक्तो ज्वररक्तकफापहः। तन्मूलमार्द्रं निक्षिप्तं वदने मुखशोषहृत्॥'
(भा. प्र.)

३८३. कुम्भिका

परिचय

कुल—सूरण-कुल (एरेसी-Araceae)।

नाम—लै०-पिस्टिया स्ट्रेटिओटस (Pistia stratiotes); सं०-कुम्भिका, वारिपर्णी, वारिमूली; हि०-जलकुम्भी; बं०-टोकापाना; म०-प्राशनी; ता०-आगमातमाराई; ते०-आनटेरी-टामार; अं०-ट्रापिकल डकवीड (Tropical duck-weed)।

स्वरूप—यह एक कांडहीन क्षुप है जो जलाशयों में होता है। **पत्र**-१-४ इञ्च लंबे, मांसल, गोलाकार होते हैं। **पुष्प** एकलिंगी होते हैं। गर्भाशय-झिल्लीयुक्त होता है जिसमें अनेक लंबे बीज होते हैं। ग्रीष्म में पुष्प तथा वर्षा के बाद फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के तालाबों और गढ्ढों में देखा जाता है। एशिया, अफ्रीका और अमेरिका में भी होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सोडियम, पोटाशियम, मैगनीशियम, चूना, लौह, अल्ब्युमिनियम तथा सिलिकिक अम्ल होते हैं। भस्म में पोटाशियम, क्लोराइड और सलफेट होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध से वात, तिक्तमधुर-शीत से पित्त तथा रूक्ष-तिक्त से कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, रक्तस्तम्भन तथा दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन एवं मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन है। इसकी भस्म शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बाह्यकृमि (खटमल आदि) को नष्ट करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। इसका स्वरस रक्तस्राव रोकने के लिए लगाते हैं। पत्रकल्क का लेप व्रण एवं दाह पर करते हैं। इसकी भस्म कण्डू, दद्रु आदि पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विबन्ध तथा रक्तप्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार एवं रक्तपित्त में देते हैं। इसकी भस्म गोमूत्र के साथ गलगंड में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, शोष में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला।

× × × ×

'वारिपर्णी हिमा तिक्ता लघ्वी स्वाद्वी सरा कटुः। दोषत्रयहरी रूक्षा शोणितज्वरशोषकृत्॥' (भा. प्र.)

'जलकुंभीकजं भस्म पक्कं गोमूत्रगालितम्। पिबेत् कोद्रवतक्राशी गलगंडोपशान्तये॥'(वृन्द)

रक्तप्रसादन

३८४. सारिवा

परिचय

गण—स्तन्यशोधन, पुरीषसंग्रहणीय, ज्वरहर, दाहप्रशमन, मधुरस्कन्ध (च०); सारिवादि, विदारिगंधादि, वल्लीपंचमूल (सु०)।

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लीपिएडेसी-Asclepiadaceae)।

नाम—लै०-हेमिडेस्मस इण्डिकस (Hemidesmus Indicus)। सं०-सारिवा, गोपी, गोपकन्या, शारदी; हि०-बं०-अनन्तमूल, कपूरी, (मूल से कपूर की तरह गंध होने से); म०-उपरसाल, उपलसरी; गु०-उपलसरी, कपूरीमधुरी; ता०-नान्नारि; ते०-मुक्तापुलगाम्; अं०-इण्डियन सार्सापरिला (Indian Sarsaparilla), कण्ट्री सार्सापरिला (Country Sarsaparilla)।

स्वरूप—इसकी पतली, आवर्त्तनी **लता** ५-१५ **फुट** लंबी होती है। **पत्र**-अभिमुख, दूर-दूर पर विभिन्न आकार के अनार की पत्ती के सदृश १-४ इञ्च लंबे, $\frac{1}{4}$-१$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्तियों का निचला पृष्ठ हलके रंग का श्वेताभ तथा ऊपरी पृष्ठ श्वेतरेखांकित होता है। **पुष्प**-पत्रकोणीय, गुच्छों में नीलाभ हरित होते हैं। **फल**-शृङ्गाकार, दो-दो एक साथ किन्तु अपसारी, ४-५ इञ्च लंबे होते हैं। इसके भीतर रूई होती है। मूल और कांड ऊपर से रक्तवर्ण और भीतर से श्वेत होते हैं। आर्द्र मूल से कपूर की तरह गंध आती है।

जाति—सारिवा दो प्रकार की होती है—(१) श्वेत और (२) कृष्ण। श्वेत सारिवा का ऊपर वर्णन किया गया है। कृष्णसारिवा का मूल अत्यन्त कृष्णवर्ण होता है। संप्रति दो द्रव्य कृष्णसारिवा के नाम पर लिए जाते हैं:—(१) क्रिप्टोलेपिस बुकेनाना (Cryptolepis Buchanana) इसकी पत्तियाँ बड़ी, लंबी चौड़ी जामुन की पत्ती के सदृश होती हैं और उनके तोड़ने से बहुत दूध निकलता है। इसे जम्बूपत्रा सारिवा भी कहते हैं। (२) इक्नोकार्पस फ्रुटिसेन्स (Ichnocarpus frutescens) यह कुटजकुल की वनस्पति है। इसकी पत्तियाँ छोटी अंडाकार, लंबगोल होती हैं। मूल में सुगंध नहीं होती।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः बिहार, बंगाल, बम्बई, ट्रावनकोर तथा लंका में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कौमारिन (Coumarine) नामक तत्त्व, एक उड़नशील तैल, हेमिडेस्मिन (Hemidesmine) नामक एक तत्त्व तथा स्माइलैस्परिक एसिड (Smilasperic acid) नामक एक स्फटिकीय तत्त्व होते हैं। एक किण्वतत्त्व तथा सैपोनिन भी होते हैं। इसका कार्यकारी तत्त्व मूलत्वक् में होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। मधुरस्निग्ध होने से वात, शीत होने से पित्त तथा तिक्त होने से कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा स्तम्भन है।

रक्तवहस्थान—रक्तशोधक तथा शोथहर है।

श्वसनस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है तथा स्तन्यशोधन और गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन और मूत्रविरजनीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—रसायन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका रस नेत्राभिष्यन्द में डालते हैं। दाह तथा शोथ में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, वातरक्त, उपदंश, फिरंग की द्वितीयावस्था, जीर्ण आमवात, श्लीपद तथा गण्डमाला में अतीव उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, स्तन्यविकार, प्रदर तथा गर्भस्राव आदि योनिव्यापद् में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेहों में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प, विस्फोट आदि चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, पांडु तथा शोष में उपयोगी है। विषों में भी देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—फाण्ट-५-१० तो०; कल्क-३-६ माशे।

वक्तव्य—यथासंभव अनन्तमूल का क्वाथ नहीं करना चाहिए।

विशिष्ट योग—सारिवादि क्वाथ, सारिवादि वटी, सारिवाद्यवलेह, सारिवाद्यासव।

'सारिवा दाडिमीपत्रा श्वेतरेखांकितच्छदा। दुग्धगर्भा शिंबिफला तूलिनी कृष्णवल्लरी ॥' (शि.)
'सारिवा जम्बूपत्रा दुग्धगर्भा वल्ली स्वनामप्रसिद्धा कृष्णसारिवा···चन्दनगंधा।' (ड.)
'सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु। अग्निमांद्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम् ॥
दोषत्रयास्त्रप्रदरज्वरातीसारनाशनम्।' (भा. प्र.)
'सारिवे द्वे तु मधुरे पित्तवातास्रनाशने। कण्डूकुष्ठज्वरहरे मेहदुर्गन्धनाशने ॥' (ध. नि.)
'अनन्ता संग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

३८५. मञ्जिष्ठा

परिचय

गण—वर्ण्य, विषघ्न, ज्वरहर (च०); प्रियंग्वादि, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—मंजिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)।

नाम—लै०-रुबिया कॉर्डिफोलिया (Rubia Cordifolia); सं०-मञ्जिष्ठा, विकसा, समंगा, कालमेषिका, रक्तांगी, रक्तयष्टिका, योजनवल्ली, वस्त्ररंजिनी; हिं०-मंजीठ; बं०-मंजिष्ठा; म०-मंजिष्ठ; गु०-मजीठ; ता०-मन्दिट्टु; ते०-ताम्रवल्ली; अ०-फुव्व; फा०-रूनास, रोदक; अं०-इण्डियन मैडर (Indian madder)।

स्वरूप—यह अनेक-शाखाप्रशाखायुक्त, दूरव्यापी आरोहिणी **लता** है। **काण्ड**-चतुष्कोणाकार रक्ताभ होता है। **पत्र**-हृदयाकृति, तीक्ष्णाग्र, २-४ इञ्च लंबे, ऊर्ध्वतल पर खरस्पर्श तथा निम्न पृष्ठ पर रोमश होते हैं। **पत्रवृन्त**-पत्तियों से दुगुना लंबा होता है और उस पर कंटक सदृश वक्र रचनायें होती हैं। **पुष्प**-छोटे, पीताभ श्वेत, रोमश होते हैं। **फल**-$\frac{1}{6}$ इञ्च लंबे, गोलाकार, मांसल, बैंगनी या कृष्णवर्ण होते हैं। शरदृऋतु में पुष्प तत्पश्चात् फल लगते हैं। मूल, रक्ताभ, लंबा और स्थूल होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर हिमालय, नीलगिरि तथा अन्य पहाड़ी प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में रालयुक्त सत्त्व पदार्थ, गोंद, शर्करा, रंजक द्रव्य, तथा चूने के लवण होते हैं। रंजक द्रव्य में एक पर्प्युरिन (Purpurin) नामक लाल स्फटिकीय तत्त्व रहता है। इसके अतिरिक्त, इसमें पीत ग्लुकोसाइड-मंजिष्ठिन (Manjistin), गैरेन्सिन (Garancin), अलिजैरिन (Alizarin) तथा जैन्थिन (Xanthine) होते हैं। मूल से एक तैल निकाला जाता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, व्रणरोपण तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इससे मस्तिष्क एवं नाडियों को शान्ति मिलती है। अधिक मात्रा में देने से मद और भ्रम होते हैं।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, स्तम्भन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक और आर्त्तवजनन है। स्तन्यशोधन भी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—वर्ण्य, बल्य, रसायन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, व्रण तथा चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के उद्वेगप्रधान रोगों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, आमदोष, अतिसार तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, कास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में उपयोगी है। प्रसव के बाद गर्भाशयशोधन, ज्वरप्रतिषेध तथा स्तन्यशुद्धि के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह विशेषतः मञ्जिष्ठामेह में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्णज्वर एवं प्रसूतिज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—वर्णविकार, दौर्बल्य तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ ५-१० तो०; चूर्ण १-३ माशे।

विशिष्ट योग—मञ्जिष्ठादि क्वाथ, मञ्जिष्ठाद्यर्क।

× × × ×

'मञ्जिष्ठा मधुरा तिक्ता कषाया स्वरवर्णकृत्। गुरुरुष्णा विषश्लेष्मशोथयोन्यक्षिकर्णरुक्। रक्तातीसारकुष्ठास्रवीसर्पव्रणमेहनुत्।' (भा. प्र.)

'मञ्जिष्ठा मधुरा स्वादे कषायोष्णा गुरुस्तथा। कफोग्रव्रणमेहास्रविषनेत्रामयाञ्जयेत्॥'(ध. नि.)

'मंजिष्ठा कुष्ठवैस्वर्यशोथघ्नी मूत्रकृच्छ्रजित्।' (रा. व.)

'मंजिष्ठाचन्दनकषायं मञ्जिष्ठामेहिनं पाययेत्।' (सु. चि. ११)

३८६. चोपचीनी

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिऐसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-स्माइलेक्स ग्लैब्रा (Smilax Glabra); सं०-द्वीपान्तरवचा। हि०-चोपचीनी; बं०-तोपचीनी; म०-गु०-चोपचीनी; ता०-परंगिचेक्काई; ते०-पिरंगिचेक्का; अ०-अस्लुस्सीनी; फा०-चोबचीनी; अं०-चायना रूट (China Root)।

स्वरूप—इसकी आरोही विस्तृत **लता** होती है। **पत्र**-अंडाकार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं। **मूल**-स्थूल, भारी और रक्ताभ होता है।

जाति—इसकी छोटी जाति का लैटिन नाम स्माइलेक्स चायना (Smilax China) है।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान चीन और जापान है। संप्रति आसाम, टेनासरिम आदि में होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में वसा, शर्करा, ग्लुकोसाइड, रंजक द्रव्य, सैपोनिन, गोंद और स्टार्च होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य और वातहर है।

पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन और सारक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है। इसकी विशिष्ट क्रिया रसग्रन्थि, त्वचा और स्नायुओं पर होती है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और शुक्रशोधन है

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन, कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं।

अभ्यान्तर-नाडीसंस्थान—यह उन्माद, अपस्मार तथा विभिन्न वातव्याधि (पक्षाघात, आमवात, सन्धिवात आदि) में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आध्मान, शूल, विबन्ध तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार विशेषतः उपदंश की द्वितीय और तृतीय अवस्था तथा इससे उत्पन्न उपद्रवों में प्रयुक्त होता है। शोथ, गंडमाला में भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—इसे दूध में उबाल कर वाजीकरणार्थ एवं शुक्रविकारों में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह तथा उससे उत्पन्न संधिशोथ, संधिजाड्य आदि उपद्रवों में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण ३-६ माशे। क्वाथ की अपेक्षा चूर्ण अधिक लाभकर है।

विशिष्ट योग—चोपचीनीपाक।

× × × ×

'फिरंगदेशसंभूता चीनदेशेऽथ विश्रुता। नामतश्चोपचीनी स्यादश्वगंधासमा भवेत ॥

अश्वगन्धासमं पत्रमौषधिः ग्रन्थिसंयुता । वर्णतः पाटलाभा च ।' (शि.)
'द्वीपान्तरवचा किंचित्तिक्तोष्णा वह्निदीप्तिकृत् । विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी ॥
वातव्याधीनपस्मारमुन्मादं तनुवेदनाम् । व्यपोहति विशेषेण फिरंगामयनाशिनी ॥'(भा.प्र.)
'चोपचीनीभवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम् । फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेल्लवणं त्यजेत् ॥'(भै.र.)

३८७. उशबा (जंगली)

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-स्माइलेक्स जिलेनिका (Smilax Zeylanica); हि०-रामदातून, जंगली उशवा; बं०-सालसा; म०-घोटबेल।

स्वरूप—इसकी बड़ी कंटकयुक्त आरोही **लता** होती है। **पत्र**-अंडाकार, ६-१२ इञ्च लंबे और उतने ही चौड़े होते हैं। मुख्य सिरायें ७-९ होती है। **पुष्प**-गुच्छों में लगते हैं। **फल**-गुच्छों में होते हैं तथा प्रत्येक फल में १-२ बीज होते हैं। **मूल**-रक्ताभ, गुच्छों में होता है यथा उससे अनेक उपमूल निकले रहते हैं।

वक्तव्य—उशबा मगरबी जिसे हिन्दी में सालसा भी कहते हैं विदेशी द्रव्य है और दक्षिण तथा मध्य अमेरिका में होता है। उसके प्रतिनिधि रूप में यह द्रव्य प्रयुक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह आर्द्रतायुक्त पार्वत्यप्रदेश में होता है।

गुण-कर्म

इसके गुणकर्म चोपचीनी के समान हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण ३-६ माशे; क्वाथ ५-१० तो०।

विशिष्ट योग—माजून उशबा।

३८८. मुण्डी

परिचय

गण—रसायन (च०)।

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-स्फिरेन्थस इण्डिकस (Sphaeranthus indicus)। सं०-मुण्डी, श्रावणी, तपोधना। हि०-मुण्डी, गोरखमुण्डी; बं०-मुड़मुड़िया; म०-गु०-गोरखमुण्डी; ता०-कारागुई; ते०-बड़तारापु।

स्वरूप—यह लगभग १ फुट ऊँचा गन्धयुक्त **क्षुप** धान या रबी के खेतों में फैला हुआ होता है। **कांड**-गोलाकार, सपक्ष होता है। **पत्र**-अवृन्त, रोमश, १-२ इञ्च लंबे, अभिलट्वाकार होते हैं। **पुष्पदंड**-पत्राभिमुख, ५-७ इञ्च लंबे होते हैं जिनमें कदम्ब-पुष्प के समान बैंगनी रंग के पुष्पों के गुच्छ लगते हैं। शीतकाल में पुष्प और बाद में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति 'महाश्रावणी' या 'महामुण्डी' कहते हैं। इसका लैटिन नाम S. Africans है। इसका क्षुप बड़ा होता है। इसे भूकदम्बिका भी कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ५ हजार फुट की ऊँचाई तक समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक तिक्त क्षारतत्त्व-स्फिरैन्थीन (Sphaeranthine) नामक पाया जाता है। इससे एक रक्ताभपीत वर्ण का सुगंधि तैल भी प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कटु, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और नाडीबल्य है। वेदनास्थापन भी है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन, कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ वेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, अपस्मार तथा वातव्याधि में देते हैं। शिरःशूल विशेषतः सूर्यावर्त्त और अर्धावभेदक में मरिच के साथ पीसकर स्वरस पीते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, यकृद्प्लीहावृद्धि, कामला, अर्श तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार (वातरक्त, विस्फोट आदि), शोथ, श्लीपद, गंडमाला, अपची आदि में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास तथा श्वास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—मूल का तैल वाजीकरणार्थ खिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह तथा प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस-½-२ तोला; क्वाथ-५-१० तोला; चूर्ण-½-१ माशा।

विशिष्ट योग—मुण्डी अर्क।

'विष्वक्मुण्डी सुगन्धि च कदम्बाभफला स्थिरा। तृणकांगुलिवत्पत्रा-' (शि.)
'मुण्डी तिक्ता कटुः पाके वीर्योष्णा मधुरा लघुः। मेध्या गंडापचीकुष्ठकृमियोन्यर्त्तिपाण्डुनुत्॥ श्लीपदारुच्यपस्मारप्लीहमेदोगुदार्त्तिहृत्। महामुण्डी च तत्तुल्या गुणैरुक्ता महर्षिभिः॥'
(भा. प्र.)
'मुण्डिका कटुतिक्ता स्यादनिलास्रविनाशिनी। अपचीघ्नी ह्यपस्मारगण्डश्लीपदनाशिनी॥'
(ध. नि.)

'पीत्त्वा मुण्डितिकोत्थं स्वरसं मरिचावचूर्णितं चोष्णम्।
भक्तादौ सप्ताहात् सूर्यावर्त्तार्धभेदकौ हन्यात्॥' (शो.)

३८९. शिशपा

परिचय

गण—आसवयोनिसार, कषायस्कन्ध (च०); सालसारादि, मुष्ककादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-डैलबर्जिया सीसू (Dalbergia Sissoo); सं०-शिंशपा, कृष्णसारा, श्यामा, पिच्छिला; हि०-शीशम, शीशो; बं०-शिशू; म०-शिशव; गु०-सीसम, पं०-शरई; ता०-नुब्बूकाटाई; ते०-शिशुकारा; अं०-रोजवुड (Rose-Wood)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ५०-६० फुट ऊंचा होता है। **काण्ड**-स्थूल, गोलाकार तथा काण्डत्वक् विदीर्ण होती है। अन्तःकाष्ठ दृढ़, कठिन, श्याम होता है जो फर्नीचर बनाने के काम में आता है। **शाखायें**-कोमल और अवनत होती हैं। पत्रवृन्त लम्बा और वक्र होता है जिसमें १-२ इञ्च लम्बे, किञ्चिद् गोलाकार, कोमल, मृदुरोमश पत्रकों के ३-५ जोड़े लगे रहते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीताभ श्वेत होते हैं। **शिम्बी**-पतली, धूसरवर्ण, रोमश १-४ इञ्च लम्बी, लगभग ½ इञ्च चौड़ी होती है जिसमें ⅓ इञ्च लम्बे, चपटे बीज होते हैं। ग्रीष्म में पुष्प और शीतकाल में फल होते हैं।

इसकी पतली टहनियों को चबाया जाय तो श्वेत, पीत और अन्त में रक्त हो जाती है। पत्र चबाने से लुआब होता है।

जाति—अन्तःसार के वर्णभेद से यह दो प्रकार का होता है:—(१) कृष्णसार (२) कपिलसार। कृष्णसार का लै० नाम डैलबर्जिया लैटिफोलिया (D. Latifolia) है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, कटुतिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, कृमिघ्न और व्रणशोधन है। पत्र चक्षुष्य और रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—इसका मूल स्तम्भन, पत्र दीपन, अनुलोमन स्तम्भन तथा काष्ठ कृमिघ्न हैं।

रक्तवहसंस्थान—काष्ठ रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
प्रजननसंस्थान—काष्ठ गर्भाशयसंकोचक और आर्त्तवजनन है। पत्र स्तम्भन है।
मूत्रवहसंस्थान—पत्र मूत्रल तथा मूत्रमार्ग का स्नेहन है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—काष्ठ लेखन तथा पत्र बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कृमि, कुष्ठ आदि चर्मरोग तथा दुष्टव्रणों में शीशम का तैल लगाते हैं। पत्रस्वरस नेत्ररोगों एवं क्षतों में देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—त्वचा का प्रयोग गृध्रसी आदि वातविकारों में करते हैं।

पाचनसंस्थान—मूल प्रवाहिका, अतिसार में; पत्र अग्निमांद्य, शूल, प्रवाहिका, रक्तातिसार, वमन, रक्तार्श में तथा काष्ठचूर्ण कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—काष्ठचूर्ण विविध रक्तविकार (फिरङ्ग, उपदंश, कण्डू, वातरक्त आदि) एवं शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का और श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—काष्ठ रजोरोध, कष्टार्तव में तथा पत्रस्वरस रक्तप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पत्रस्वरस पूयमेह, लालामेह में देते हैं। वसामेह में काष्ठकषाय देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प, श्वित्र आदि चर्मरोगों में काष्ठचूर्ण देते हैं।
तापक्रम—ज्वर में सारकषाय देते हैं। दाह में पत्रस्वरस दिया जाता है।
सात्मीकरण—काष्ठ मेदोरोग में तथा पत्रस्वरस पाण्डु में देते हैं।
प्रयोज्य अंग—पत्र, काष्ठ, त्वचा, मूल।
मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; चूर्ण-३-६ माशे।

× × × ×

'शिंशपा कृष्णसारा स्यात् वृत्तपत्राऽणुपुष्पका। शिंबिफला गुच्छपुष्पा तद्वत् कपिलशिंशपा॥' (शि.)

'शिंशपा पिच्छिला श्यामा कृष्णसारा च सा गुरुः। कपिला सैव मुनिभिर्भस्मगर्भेति कीर्त्तिता॥'
'शिंशपा कटुका तिक्ता कषाया शोथहारिणी। उष्णवीर्या हरेन्मेदःकुष्ठश्वित्रवमिक्रिमीन्॥
बस्तिरुग्व्रणदाहास्रबलासान् गर्भपातिनी।' (भा. प्र.)

'कटूष्णं कण्डुदोषघ्नं बस्तिरोगविनाशनम्। शिंशपायुगलं वर्ण्यं हिक्काशोथविसर्पजित्॥' (ध. नि.)

'शिंशपासारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च।' (सु. सू. ४५)
'उदकाद्द्विगुणं क्षीरं शिंशपासारसंयुतम्। तत् क्षीरशेषं क्वथितं पेयं सर्वज्वरापहम्॥' (सु. उ. ३९)

'वसामेहिनं शिंशपाकषायम्।' (सु. चि. ११)

३९०. सुरञ्जान

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-कॉल्चिकम् ल्युटिअम् (Colchicum luteum); हि०-म०-गु०-सुरंजान; क०-विरक्युम; अ०-असाबअ हुर्मुस (प्राचीन), अल्लहलाह (नवीन); फा०-सूरिंजान, जाफराने मर्गजारी; अं०-काश्मीर या बिटर हर्मोडैक्टिल (Kashmir or bitter hermodactyl), कॉल्चिकम (Colchicum)।

स्वरूप—सिंघाड़े के सदृश यह एक कन्द है।

जाति—वर्ण और रस के भेद से हकीमों ने इसके तीन भेद किये हैं:—(१) श्वेत, (२) पीत और (३) कृष्ण। श्वेत सुरंजान रस में मधुर होता है अतः इसे सूरिंजाने शीरीं (मीठा सुरंजान) कहते हैं। पीत सुरंजान कुछ छोटा और तिक्त होता है, इसे सूरिंजाने तल्ख (कड़ुआ सुरंजान) कहते हैं। काला सुरंजान विषाक्त होता है। हकीम लोग मीठा सुरंजान आभ्यन्तर प्रयोग में तथा कड़ुआ सुरंजान बाह्य प्रयोग में लाते हैं किन्तु आधुनिक चिकित्सा में कड़ुआ सुरंजान का ही आभ्यन्तर प्रयोग होता है क्योंकि यह अधिक वीर्यवान् है।

उत्पत्तिस्थान—काश्मीर, पंजाब, अफगानिस्तान आदि पश्चिमोत्तर हिमालयप्रदेश में कड़ुआ सुरंजान होता है। मीठा सुरंजान ईरान से आता है। इसकी विदेशी जाति (C. Autumnale) मध्य एवं दक्षिणी यूरोप, इङ्गलैंड, आयर्लैण्ड, इटली, कोल्थिक, मिश्र आदि देशों की आर्द्र चरागाहों में होती है। B. P. का कॉल्चिकम यही है।

रासायनिक संघटन—कड़ुए सुरंजान में कॉल्चिकिन (Colchicine) नामक क्षारतत्व प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, कषायद्रव्य, स्टार्च, शर्करा, गोंद आदि होते हैं। मीठे सुरंजान में भी एक क्षारतत्त्व होता है।

कड़ुए सुरंजान की रसक्रिया से प्रस्तुत घनसत्त्व 'हरनतूतिया' के नाम से उत्तरभारत में प्रसिद्ध है। यह गहरे भूरे रंग का होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है। व्रणशोधन और रोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक है। बड़ी मात्रा में मादक और अवसादक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पित्तसारक, वामक एवं रेचक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—मीठा सुरंजान वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—मीठा सुरंजान बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—केसर और अंडे के साथ इसका लेप आमवात आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में करते हैं। व्रणों में चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गृध्रसी, संधिवात आदि वातविकारों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—उदररोग विशेषतः यकृत्प्लीहोदर में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त (Gout) की यह प्रसिद्ध औषध है। अन्य रक्तविकारों में भी देते है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्य में मीठा सुरंजान देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।

सात्मीकरण—मीठा सुरंजान बलवृद्धि के लिए देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण-(कड़ुआ) १-३ रत्ती, (मीठा) १-३ माशे; सत्त्व-½-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—माजूने सुरिंजान।

× × × ×

बृंहण

३६१. क्षीरिणी

परिचय

गण—परुषकादि (सु०)।

कुल—मधूक-कुल (सैपोटेसी-Sapotaceae)।

नाम—लै०-माइमुसॉप्स हेक्जेण्ड्रा (Mimusops Hexandra), सं०-क्षीरिणी, क्षीरिका, फलाध्यक्ष, राजादन; हि०-खिरनी, खिन्नी; बं०-क्षीरखेजूर; म०-राजण, खिरणी; गु०-रायण, राणकोकडी; ता०-पल्ल; ते०-पोला।

स्वरूप—यह २०-२५ फुट ऊँचा चिरहरित वृक्ष-होता है। काण्डत्वक् के तीन स्तर होते हैं। प्रथम स्तर धूसरवर्ण, मध्यम स्तर हरितवर्ण तथा अन्तिम स्तर कृष्णाभ दुग्धपूर्ण होता है। पुराने वृक्षों की छाल में कोटर होते हैं। काष्ठ रक्ताभ या कृष्णाभ, कठिन और दृढ होता है। **पत्र**—२-४ इञ्च लंबे, १-२ इञ्च चौड़े, चर्मवत् होते हैं। **पुष्पदंड**—अनेकशाखायुक्त होता है जिस पर छोटे पीताभ श्वेत पुष्प लगते हैं। **फल**—नीम फल के समान गुच्छों में, कच्चे में हरा और पकने पर पीला होता है। फलों से गाढ़ा, लसदार दूध निकलता है। फल के भीतर स्निग्ध और कृष्णवर्ण एक बीज होता है जिसकी पीताभ मज्जा से तेल निकाला जाता है। शीतकाल में पुष्प और वसन्त में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत विशेषतः बम्बई और उत्तरभारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—छाल में टैनिन, राल, मोम, स्टार्च, रंजक द्रव्य और खनिज पदार्थ होते हैं। फलों में शर्करा, रबड़, पेक्टीन, टैनिन तथा रंजक द्रव्य होते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका फल शोथहर, वर्ण्य, व्रणरोपण है। छाल स्तम्भन एवं व्रणरोपण है। बीज-लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—बल्य है।

पाचनसंस्थान—छाल स्तम्भन तथा फल तृष्णा शामक है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—छाल शुक्रस्तम्भन तथा फल वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य—फलों को पीस कर व्यङ्ग, न्यच्छ आदि वर्णविकारों में लेप करते हैं। इनका दूध व्रणशोथ तथा व्रणों पर लगाते हैं। छाल का चूर्ण दन्तरोगों में तथा रक्तस्राव रोकने के लिए प्रयुक्त होता है। व्रणों में भी लगाते हैं। बीजों को घिस कर नेत्ररोगों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा मूर्च्छा, भ्रम, मदात्यय आदि रोगों में फल खिलाते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, छर्दि में फल देते हैं। अतिसार, प्रवाहिका में छाल का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में दिया जाता है। रक्तप्रदर में पत्रशाक या कल्क देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर एवं दाह में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—क्षय, शोथ, दौर्बल्य, कृशता में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, त्वक्, पत्र।

मात्रा—त्वक् क्वाथ-५-१० तो०, चूर्ण—३-६ माशे; पत्रकल्क—१-३ माशे।

'क्षीरिणी स्यान्महास्कन्धा दृढकाष्ठा दृढच्छदा। तत्फलं मधुरं पीतं सक्षीरं मृदुलं भवेत्॥'
(शि.)

'क्षीरिकायाः फलं वृष्यं बल्यं स्निग्धं हिमं गुरु। तृष्णामूर्च्छामदभ्रान्तिक्षयदोषत्रयास्रजित्॥'
(भा. प्र.)

३९२. खर्जूर

परिचय

गण—श्रमहर, विरेचनोपग, मधुरस्कन्ध, कषायस्कन्ध, फलासव (च०)।

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-फिनिक्स सिल्वेस्ट्रिस (Phoenix sylvestris); सं०-खर्जूर; हि०-खजूर, बं०-खेजूर; म० गु०-खजूर; अ०-रुतब; फा०-खुर्मा; अं०-डेट (Date)

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ३०-४० फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सरल, धूसरवर्ण लगभग ३ फुट मोटा होता है। पत्रवृन्त काण्डसंलग्न होता है। **पत्र**-६-७ फुट लम्बा, पक्षाकार होता है। **पत्रक**-६-१२ इञ्च लम्बे, लगभग १ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। सामने एक पत्र होता है। पत्र के मूल में ४ इञ्च लम्बा काँटा होता है। **पुष्प** एकलिंगी और अलग अलग वृक्षों पर होते हैं। स्त्रीजाति के खर्जूर में फल लगते हैं और पुरुष जाति में नहीं। **फल**-१-१½ इञ्च लम्बा, गोलाकार पीतवर्ण होता है, पकने पर रक्ताभ हो जाता है। फल के भीतर एक कठिन बीज होता है। ग्रीष्म में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं। इसके वृक्ष से एक प्रकार का रस निकलता है उसे खजूरी कहते हैं। कुछ कालतक रखने से यह मद्य में परिणत हो जाता है। रस से गुड़ भी बनाया जाता है।।

जाति—यह दो प्रकार का होता है। (१) खर्जूर, (२) पिंडखर्जूर। पिंडखर्जूर का फल बड़ा, मांसल होता है। पत्तियाँ अतितीक्ष्णाग्र होती हैं। इसका लैटिन नाम P. Dactylifera है। इसी का फल सूखने पर 'छुहाड़ा' (गोस्तन खर्जूर) कहलाता है। इन्हीं तीनों को भावमिश्र ने 'खर्जूरत्रितय' कहा है। राजनिघण्टु में खर्जूरी, पिण्डखर्जूरी, राजखर्जूरी, मधुखर्जूरी, भूखर्जूरी ये भेद बतलाये गये हैं। भावप्रकाश ने सुलेमानी खजूर का भी उल्लेख किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। पिण्डखर्जूर उत्तरी अफ्रिका, मिश्र, सीरिया और अरब का आदिवासी है, सम्प्रति पञ्जाब और सिन्ध में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—पिण्डखर्जूर में खनिजलवण, लौह, टैनिन, पिच्छल द्रव्य, तथा चूना होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका मूल वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबलदायक, मस्तिष्कशामक और वातहर है।

पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और स्तम्भन है। अधिक खाने से विष्टम्भी है। पत्र कृमिघ्न है।

रक्तवहसंथान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—श्रमहर, बल्य और बृंहण है। खजूरी एवं गुड भी बल्य है।

वक्तव्य—ताजी खजूरी (रस) बल्य, वृष्य और मूत्रल है। मद्य होने पर दीपन, पाचन और उत्तेजक होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दन्तशूल में इसके मूल के क्वाथ से कुल्ला करते हैं या मूल चूर्ण लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मूर्च्छा, भ्रम, मदात्यय, मस्तिष्क दौर्बल्य तथा कटिशूल, गृध्रसी आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, छर्दि, कोष्ठगत वात तथा अतिसार में देते हैं। पत्रक्वाथ कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—उरःक्षत, कास, श्वास, हिक्का में खजूर की गुठली देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में देते हैं।

सात्मीकरण—थकावट, क्षय, शोष में प्रयुक्त होता है। क्षयरोग में खजूर का रस (खजूरी) भी पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, रस।

मात्रा—५-७ दाने; रस-५-१० तोला।

× × × ×

'खर्जूरीत्रितयं शीतं मधुरं रसपाकयोः। स्निग्धं रुचिकरं हृद्यं क्षतक्षयहरं गुरु॥
तर्पणं रक्तपित्तघ्नं पुष्टिविष्टम्भशुक्रदम्। कोष्ठमारुतहृद् बल्यं वांतिवातकफापहम्॥
ज्वरातिसारक्षुत्तृष्णाकासश्वासनिवारकम्। मदमूर्च्छामरुत्पित्तमद्योद्भूतमदान्तकृत्॥'(भा.प्र.)
खर्जूरीतरुतोयं तु मदपित्तकरं भवेत्। वातश्लेष्महरं रुच्यं दीपनं बलशुक्रकृत्॥' (भा. प्र.)
'मधुरं बृंहणं वृष्यं खर्जूरं गुरु शीतलम्। क्षयेऽभिघाते दाहे च वातपित्ते च तद्धितम्॥
(च. सू. २७)
'क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु। रसे पाके च मधुरं खार्जूरं रक्तपित्तनुत्॥' (सु. सू. ४६)

'दाहघ्नी मधुरास्रपित्तशमनी तृष्णार्त्तिदोषापहा,
शीता श्वासकफश्रमोदयहरा सन्तर्पणी पुष्टिदा।
वह्नेर्मान्द्यकरी गुरुर्विषहरा हृद्या च दत्ते बलं,
स्निग्धा वीर्यविवर्धनी च कथिता पिण्डाख्यखर्जूरिका॥' (रा. नि.)

'घृतं खर्जूरमृद्वीकाशर्कराक्षौद्रसंयुतम् । सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासनिबर्हणम् ॥'
(च. चि. ८)

'खर्जूरमध्यं मागध्यः''' । मधुद्वितीयाः कर्त्तव्याः ते हिक्कासु विजानता ॥' (सु. उ. ५०)

'क्वाथं खर्जूरपत्राणां सक्षौद्रमुषितं निशि । पीत्वा निवारयत्याशु क्रिमिसंघमशेषतः ॥' (भै.र.)

३९३. ताल

परिचय

गण—मधुरस्कंध, कषायस्कन्ध, पत्रासव (च०); सालसारादि, सारशिरोविरेचन, मधुरस्कन्ध (सु०)।

कुल—नारकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-बोरेसस फ्लैबेलिफेरा (Borassus Flabellifera), सं०-ताल, ताड, तृणराज, महोन्नत, लेख्यपत्र; हि०, म०, गु०-ताड़, बं०-ताल; ता०-पालम्; ते०-तारिचेट्टु; फा०-दरख्ते ताड़ी; अं०-पामीरा पाम (Palmyra palm)।

स्वरूप—इसका शाखारहित **वृक्ष**–६०–७० फुट ऊँचा होता है। **पत्र**–५–१० फुट लंबे पंखे के समान होते हैं। सिरायें उठी हुई अग्रभाग तक फैली रहती हैं। पत्रदंड के दोनों ओर किनारों पर कृष्णवर्ण तीक्ष्ण दाँत होते हैं। **पुष्प**–एकलिंगी पृथक्-पृथक् वृक्षों पर होते हैं। स्त्री जाति में फल होते हैं और पुंजाति में केवल पुष्पदंड होता है। **पुष्पदंड**–अमलतास की फली के समान लंबगोल होता है। एक पुष्पदंड में १५–२० फल लगते हैं। **फल**–गोलाकार, कड़ा, कृष्णाभ धूसर और पकने पर पीताभ हो जाता है। **फलमांस**–सूत्रबहुल, रक्ताभपीत और मधुर होता है। **बीज** प्रत्येक फल में १–३ की संख्या में अंडाकार कुछ चपटे और कठिन होते हैं। वसन्त में पुष्प और वर्षा में फल पकते हैं।

तालवृक्ष से एक प्रकार मदरस निकलता है इसे 'ताड़ी' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत के उष्णप्रदेश, बर्मा तथा लंका में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें गोंद, वसा और अलब्युमिनॉयड होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्रस्वरस, रक्तस्तम्भन, दाहप्रशमन, शोथहर, व्रणरोपण है। फलमज्जा त्वग्दोषहर है। पुष्पदंड क्षार लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—तालपत्रस्वरस मस्तिष्कबलवर्धक है।

पाचनसंस्थान—फल स्नेहन, मृदुरेचन और अधिक मात्रा में विष्टम्भी है। ताड़ी दीपन और अनुलोमन है। क्षार भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—फल हृद्य पत्रस्वरस रक्तरोधक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—मूल या पत्रस्वरस कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—पका फल वृष्य है। पुष्पदंड आर्त्तवजनन है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, दाह, शोथ एवं व्रणों में पत्रस्वरस देते हैं । फलमज्जा तथा क्षार चर्मरोगों में लगाते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मूर्च्छा, प्रलाप आदि में तालपत्र-स्वरस देते हैं ।

पाचनसंस्थान—कच्चे फल का खण्ड बना कर तृष्णा, विबन्ध में प्रयोग करते हैं । अग्निमांद्य, तृष्णा तथा विबन्ध में ताजी ताड़ी देते हैं । प्लीहावृद्धि, गुल्म में तालपुष्प का क्षार गुड़ के साथ खिलाते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—पका फल हृद्दौर्बल्य में देते हैं । पत्रस्वरस रक्तपित्त तथा उपदंश आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है ।

श्वसनसंस्थान—मूलस्वरस कुकुरखाँसी में देते हैं ।

प्रजननसंस्थान—पका फल शुक्रदौर्बल्य में उपयोगी है । पुष्पदण्ड का क्वाथ रजोरोध, कष्टार्तव में दिया जाता है ।

मूत्रवहसंस्थान—बीजमज्जा, ताजी ताड़ी तथा मूलस्वरस मूत्रकृच्छ्र में देते हैं ।

त्वचा—पक्व फल चर्मरोगों में देते हैं ।

तापक्रम—ज्वर और दाह में पत्रस्वरस देते हैं । सन्निपात ज्वर में तालपत्रस्वरस का अनुपानरूप में प्रयोग करते हैं । इससे ज्वर, दाह, प्रलाप आदि शान्त होते हैं और हृदय को शक्ति मिलती है ।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और शोष में फल, ताड़ी एवं इससे उत्पन्न गुड़, शर्करा आदि का प्रयोग करते हैं ।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, पुष्पदण्ड, ताड़ी, फल, बीज, क्षार ।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला; ताड़ी-५-१० तोला; क्षार-१-२ माशे ।

× × × ×

'तालस्तु लेख्यपत्रः स्यात्तृणराजो महोन्नतः । पक्वं तालफलं पित्तरक्तश्लेष्मविवर्धनम् ॥
दुर्जरं बहुमूत्रं च तन्द्राभिष्यन्दशुक्रदम् । तालमज्जा तु तरुणः किंचिन्मदकरो लघुः ॥
श्लेष्मलो वातपित्तघ्नः सस्नेहो मधुरः सरः । तालजं तरुणं तोयमतीव मदकृन्मतम् ।
अम्लीभूतं तदा तु स्यात् पित्तकृद्वातदोषहृत् ।' (भा. प्र.)

'तालशस्यानि सिद्धानि'……। बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च ॥' (च. सू. २७)

'फलं स्वादुरसं तेषां तालजं गुरुपित्तजित् । तद्बीजं स्वादुपाकं च मूत्रलं वातपित्तजित् ॥
स्वादुपाकरसान्याहू रक्तपित्तहरांस्तथा । शुक्रलाननिलघ्नांश्च कफवृद्धिकरानपि ॥' (सु. सू. ४६)

'फलं स्वादुरसं पाके तालजं गुरु पित्तजित् । तद्बीजं स्वादु पाके तु मूलं स्याद्रक्तपित्तजित् ॥'
(ध. नि.)

'तालपुष्पभवः क्षारः सगुण्डः प्लीहनाशनः ।' (च. द.)

'उन्मादे समधुः पेयः शुद्धो वा तालशाखजः । रसः……' (च. द.)

३६४. मधूक

परिचय

कुल—मधूक-कुल (सैपोटेसी-Sapotaceae)।

नाम—लै०-बैसिया लैटिफोलिया (Bassia Latifolia); सं०-मधूक, गुडपुष्प, मधुपुष्प, मधुस्रव; हिं०-महुवा, वं०-महुया, मउल; म०-मोहडा; गु०-महुडो; ता०-इल्लुपि; ते०-इप्पाचेट्टु; अं०-इण्डियन बटर ट्री (Indian butter tree)।

स्वरूप—यह अनेकशाखाप्रशाखायुक्त ४०-५० फीट ऊँचा **वृक्ष** होता है। **त्वक्**-कृष्णाभ धूसर, विदीर्णवत् तथा अन्तःकाष्ठ रक्ताभ होता है। **पत्र**-५-९ इञ्च लंबे, आयताकार, १०-१२ सिराओं से युक्त होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, मांसल और रसमय होता है। **फल**-गोलाकार, १-२ इंच लंबा, कच्चे में हरा तथा पकने पर पीला हो जाता है। फल में १-४ गहरे लाल रंग के बीज होते हैं। ग्रीष्म में पुष्प आते हैं तथा वर्षा में फल पकते हैं। बीजों से तैल निकालते हैं तथा पुष्पों से देशी मद्य प्रस्तुत करते हैं।

जाति—एक जाति जो कीचड़मिश्रित भूमि में होती है 'जलमधूक' या 'मधूलक' कहलाती है। इसका लैटिन नाम B. Longifolia है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः बम्बई, मध्यप्रदेश, बंगाल, दक्षिण तथा लंका के जांगल प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्प में इक्षुशर्करा २·२%, आवर्त्तशर्करा ५२·६%, सैल्युलोज २·४%, अलब्युमिनायड २·२%, भस्म तथा जल होते हैं। बीजों में ५० से ५५ प्रतिशत स्थिर तैल, वसा, कषायद्रव्य, सैपोनिन, अलब्युमिन, गोंद, स्टार्च, पिच्छिल द्रव्य तथा भस्म होते हैं। (भस्म में सिलिसिक अम्ल, स्फुरकाम्ल तथा गंधकाम्ल, चूना, लौह, पोटाश और सोडा होते हैं।) पुष्प में किण्वतत्त्व तथा किण्व भी होते हैं जिससे उसकी शर्करा शीघ्र मद्य में परिणत हो जाती है। पत्तियों में भी सैपोनिन होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

शुष्क पुष्प उष्ण होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल वेदनास्थापन तथा कुष्ठघ्न है। पुष्पस्वरस स्नेहन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—तृष्णानिग्रहण, स्नेहन, अनुलोमन तथा स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है, फल अहृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और स्तन्यजनन है। बीजमज्जा आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का तैल वातव्याधि में तथा चर्मरोगों में लगाते हैं। पैत्तिक शिरोरोगों में मधूकस्वरस का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में महुए के पुष्पों का क्षीरपाक देते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, कोष्ठगत वात अतिसार, ग्रहणी, में पुष्पस्वरस तथा त्वक् क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में ताजे पुष्पों का स्वरस देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में तथा स्तन्यवृद्धि के लिए प्रयुक्त होता है। बीजमज्जा की वर्त्ति रजोरोध में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय और शोष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, फल, त्वक् बीज, तैल, पत्र।

मात्रा—पुष्प २–५ तो०; त्वक्क्वाथ ५–१० तो०।

विशिष्ट योग—मधूकासव।

× × × ×

'मधूकपुष्पं मधुरं शीतलं गुरु बृंहणम्। बलशुक्रकरं प्रोक्तं वातपित्तविनाशनम्॥'
फलं शीतं गुरु स्वादु शुक्रलं वातपित्तनुत्। अहृद्यं हन्ति तृष्णास्रदाहश्वासक्षतक्षयान्॥'(भा.प्र.)
'रक्तपित्तहराण्याहुर्गुरूणि मधुराणि च। बृंहणीयमहृद्यं च मधूककुसुमं गुरु॥
वातपित्तोपशमनं फलं तेनोपदिश्यते।' (सु. सू. ४६)
'मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धावशेषितम्। क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत्॥
तं पिबन् ग्रहणीदोषान् जयेत् सर्वान् हिताशनः।' (च. चि. १९)
'सद्यश्च्युतं स्थूलमधूकपुष्पं संशोधितं केशरधूलिवर्जितम्।
संपाचितं शुभ्रसिताघृताभ्यां सजीरकं जीवनदं हि जीविनाम्॥' (क्षे. कु.)

३९५. छत्रक

परिचय

कुल—छत्रक-कुल (फंगाई-Fungi)।

नाम—लै०-एगेरिकस कैम्पेस्ट्रिस (Agaricus Campestris); सं०-छत्रक हि०-खुमी; म०-अलम्बे; गु०-बिलाडीनो टोप; ता०-नाईक्काडाई; ते०-कुक्कागोडुगु।

स्वरूप—यह एक छत्राकार छोटा क्षुप है। इसका साग बनाकर खाते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियां होती हैं जिनमें कुछ विषाक्त और कुछ निर्विष होती हैं। एक विदेशी जाति (A. Albus) भी होती है जिसे गारीकून सफेद कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकतर पजाब, काश्मीर आदि पहाड़ी प्रदेशों में होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है। कफवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।
सात्मीकरण—बृंहण और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक रोगों में देते हैं।
संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—क्षय, शोष में इसका क्षीरपाक कर देते हैं।
प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।
मात्रा—३-६ माशे।

× × × ×

'सर्पच्छत्रकवर्ज्यास्तु बह्व्योऽन्याश्छत्रजातयः।
शीताः पीनसकर्य्यश्च मधुरा गुर्व्य एव च ॥' (च. सू. २७)

लेखन (कर्शन)

३९६. चिरबिल्व

परिचय

गण—लेखनीय, भेदनीय (च०) श्लेष्मसंशमन (सु०)।
कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)।
नाम—लै०-होलोप्टेलिया इण्टेग्रिफोलिया (Holoptelia Integrifolia)। सं०-चिरबिल्व, करञ्जी, उदकीर्य, हि०-चिलबिल, म०-वावला; ता०-आया; ते०-नाविलि।
स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यमप्रमाण का होता है। शाखायें श्वेताभ होती हैं। **पत्र**—१-८ इञ्च लम्बे, २-४ इञ्च चौड़े, अण्डाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं। हरी पत्तियों में पारदर्शक बिन्दु होते हैं तथा शुष्क पत्तियों के अधर पृष्ठ पर छोटे बिन्दुवत्-उभार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, हरे, गुच्छों में होते हैं। **फल**-सपक्ष और नताग्र होता है। वसन्त में पुष्प और बाद में फल आते हैं। पत्र तथा काष्ठ में दुर्गन्ध होती है।
जाति—फल-भेद से इसकी कई जातियाँ होती है।
उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत की छोटी पहाड़ियों के प्रदेश में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त, कषाय।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, भेदन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसकी छाल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, छर्दि, उदररोग, शूल, गुल्म, अर्श तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०।

× × × ×

'करञ्जी स्तम्भनी तिक्ता तुवरा कटुपाकिनी। वीर्योष्णा वमिपित्तार्शः कृमिकुष्ठप्रमेहजित्॥'
(भा. प्र.)

३६७. हैमवती

परिचय

गण—लेखनीय, मूलिनी (च०); मुस्तादि (सु०)।

कुल—केशर-कुल (आइरिडेसी-Iridaceae)।

नाम—लै०-आइरिस वर्सिकलर (Iris Versicolor) सं०-हैमवती, पारसीक वचा; हि०-बालबच; म०-बालवेखंड; गु०-बालवज; क०-मजारपोश, मजारमुण्ड; अ०-ईरसा, सौसन; अं०-ओरिस रूट (Oris root)।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप बच के सदृश होता है। कश्मीर में यह प्रायः मुसलमानों की कब्रों पर देखने में आता है, अतः इसे मजारपोश (कब्र का फूल) या मजार मुण्ड (कब्र की जड़) कहते हैं। इसका मूल लंबगोल, गाँठदार और सफेद होता है तथा उससे वनफ्शे की तरह सुगंध आती है।

जाति—पुष्पभेद से यह श्वेत, रक्त और नील तीन प्रकार का होता है। हकीम लोग सफेद फूल वाले को सौसन और नील पुष्प वाले को ईरसा कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह कश्मीर और ईरान में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, स्टार्च, राल तथा कषाय द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न, व्रणशोधन और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीसंस्थान का उत्तेजक और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, पित्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वृषणशोथ, गंडमाला, आमवात, जीर्णव्रण, चर्मरोग, खालित्य एवं प्राणियों के दंशस्थान पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृत्प्लीहावृद्धि और उदरशूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (आमवात आदि) तथा शोथ और गंडमाला में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—मेदोरोग और विषों में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—५-१० रत्ती।

× × × ×

'पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा। हैमवत्युदिता तद्वद्वातं हन्ति विशेषतः॥'

(भा. प्र.)

अंगमर्दप्रशमन

३९८. शालपर्णी

परिचय

गण—अंगमर्दप्रशमन, बल्य, स्नेहोपग, श्वयथुहर, मधुरस्कंध (च०); विदारिगन्धादि, लघुपंचमूल (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-डेस्मोडियम गैंगेटिकम् (Desmodium Gangeticum); सं०-शालपर्णी (शालवृक्ष के पत्तों के सदृश पत्र होने के कारण), स्थिरा, सौम्या, गुहा, विदारिगंधा, दीर्घांघ्रि, अंशुमती, त्रिपर्णी; हि०-सरिवन, बं०-शालपानि; म०-सालवण; गु०-शालवण; ते०-कोलकुपोन्ना।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप २-४ फुट ऊँचा होता है। **कांड**-किंचित् कोणयुक्त होता है। **पत्र**-शालपत्र के सदृश, आयताकार ३-६ इंच लंबे, १½-२ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र होते हैं। इनका निचला पृष्ठ फीके रंग का और रोमश होता है। **पुष्प**-नील या गुलाबी, छोटे, ६-१२ इच लंबी मंजरियों में रहते हैं। **शिम्बी**-पतली, चपटी, टेढी, ६-८ संधियों की और वक्र रोमों से आवृत होती है जिससे यह कपड़ों में चिपक जाती है। ६-८ फलियाँ एक साथ लगाती हैं। वर्षा में पुष्प और शरद् में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक त्रिपर्णी जाति भी होती है जिसमें तीन-तीन पत्रक एक साथ होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की निचली पहाड़ियों में तथा समस्त भारत की समतल भूमि में होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में एक पीत राल, तैल, क्षारतत्त्व तथा ६ प्रतिशत भस्म होती है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध-उष्ण होने से वात, मधुर होने से पित्त तथा तिक्त होने से कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, स्नेहन, अनुलोमन, स्तम्भन एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, शोथहर और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण, रसायन और अङ्गमर्दप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, कोष्ठवात, अर्श, अतिसार, वमन, तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—उरःक्षत, कास एवं यक्ष्मा में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और प्रमेह में लाभकर है।

तापक्रम—विषम ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोष एवं अङ्गमर्द में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग।

मात्रा—क्वाथ-५-१० तोला।

विशिष्ट योग—शालपर्ण्यादि क्वाथ।

× × × ×

'शालपर्णी स्थिरा सौम्या त्रिपर्णी पीवरी गुहा। विदारिगन्धा दीर्घांग्रिर्दीर्घपत्रांशुमत्यपि॥
शालपर्णी गुरुश्छर्दिज्वरश्वासातिसारजित्। शोषदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी॥
तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासकृमिप्रणुत्।' (भा. प्र.)

'शालपर्णी रसे तिक्ता गुरुष्णा वातदोषजित्। विषमज्वरमेहार्शः शोथसंतापनाशिनी॥'
(रा. नि.)

'विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणाम्।' (च. सू. २५)

३९९. पृश्निपर्णी

परिचय

गण—अंगमर्दप्रशमन, संधानीय, शोथहर, मधुरस्कन्ध (च०), विदारिगंधादि, हरिद्रादि, लघुपंचमूल (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेसी-Papilionaceae)।

नाम—लै०-युरेरिया पिक्टा (Uraria Picta); सं०-पृश्निपर्णी (पतली, लंबी पत्तियाँ), पृथक्पर्णी, कलशी, धावनी, गुहा, शृगालविन्ना (शृगालपुच्छवत् पुष्प-मञ्जरी); चित्रपर्णी अंघ्रिपर्णी; हि०-पिठवन; बं०-चाकुले, गोरक्षचाकुले; शंकरजटा; म०-पिठवण; गु०-पीठवण; ता०-कोलापोन्ना; ते०-कोल्कुपोन्ना।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप २-४ फुट ऊँचा होता है। पत्र संयुक्त, विभिन्न आकार के, नीचे के गोलाई लिए तथा ऊपर के लंबे होते हैं। **पत्रक**-३-६ इञ्च लंबे होते हैं तथा उन पर सफेद रंग की चौड़ी धारियाँ होती हैं। पुष्प छोटे, रक्तवर्ण या नील ३-४ इञ्च लंबी सघन मंजरी में लगते हैं। फल आने पर ये मंजरियाँ शृगाल-पुच्छाकार मालूम होती हैं। **बीज**-वृक्काकार, पीताभ १-१२ होते हैं। वर्षा में पुष्प और बाद में फल होते हैं।

जाति—अनेक अन्य पौधों का भी प्रयोग पृश्निपर्णी नाम से होता है जिनमें U. Lagopoides, U. Hamosa मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत की ऊसर भूमि तथा खुले जंगलों में होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।
संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य और वातहर है।
पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, दीपन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य, शोणितास्थापन और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न, दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य, संधानीय और अङ्गमर्दप्रशमन है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में प्रयोग करते हैं।
पाचनसंस्थान—तृष्णा, कोष्ठवात, रक्तातिसार, रक्तार्श तथा ग्रहणी में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार, वातरक्त तथा शोथ में उपयोगी है।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।
तापक्रम—ज्वर तथा दाह में देते हैं।
सात्मीकरण—दौर्बल्य, शोष, अंगमर्द में प्रयुक्त होता है। सर्पविष में भी देते हैं।
अस्थिभग्न में मांसरस से इसका मूलक्वाथ देते हैं।
प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, मूल।
मात्रा—क्वाथ-५-१० तो०।
विशिष्टयोग—दशमूलारिष्ट।

× × × ×

'क्षुपा सशिंबा सत्पत्रा वर्षान्ते च भवेत्तु सा। कटुस्वाद्वणुबीजा स्यात् लोके पीठवनी मता॥'
(कै. नि.)

'पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी चित्रपर्ण्यंघ्रिपर्णिका। क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी कलशी धावनी गुहा॥
पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा। हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारतृड्वमीः॥'
(भा. प्र.)

'पृश्निपर्णी रसे स्वादुर्लघूष्णाऽस्त्रत्रिदोषजित्। कासश्वासप्रशमनी ज्वरतृड्दाहनाशिनी॥'
(ध. नि.)

'पृश्निपर्णी सांग्राहिक-वातहर-दीपनीय-वृष्याणाम्'। '(च. सू. २५)
'मूलं शृगालविन्नायाः पीत्वा मांसरसेन तु ।
चूर्णीकृत्य त्रिसप्ताहादस्थिभग्नमपोहति ॥' (भा. प्र.)

व्रणरोपण

४००. मांसरोहिणी

परिचय

गण—बल्य (च०), न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—निम्ब-कुल (मेलिएसी-Meliaceae)।

नाम—लै०-सॉयमिडा फेब्रिफ्युजा (Soymida Febrifuga)। सं०-मांसरोहिणी, रोहिणी, प्रहारवल्ली, चर्मकषा । हि०-रोहण; बं०-रोहन; गु०-रोण, रोहणी; ता०-शेम्भरम्; ते०-चेरामानु; अं०-इण्डियन रेड वुड (Indian red wood)।

स्वरूप—इसका निम्ब के सदृश ऊँचा वृक्ष होता है। **पत्र**-पक्षाकार, ६-१८ इञ्च लम्बे, संयुक्त होते हैं। **पत्रक**-३-६ जोड़े, १½-५ इञ्च लम्बे, ⅚-२¾ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रसिरायें-१०-१४ होती हैं। **पुष्प**-छोटे, उभयलिङ्गी, हरिताभ श्वेत होते हैं। **फल**-मृदङ्गाकार, सेव के बराबर, भूरे रक्तवर्ण के होते हैं जिनके भीतर अनेक सपक्ष बीज होते हैं। छाल रक्तवर्ण होती है तथा क्षत करने से रक्त के सदृश स्राव निकलता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पर्वतों पर तथा वनों में देखा जाता है। विशेषतः पश्चिमोत्तर, मध्य एवं दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में एक तिक्त पदार्थ, राल, स्टार्च, टैनिन तथा गैलिक एसिड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष।	**रस**—कषाय, कटु, मधुर।
विपाक—कटु।	**वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—सन्धानीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसका लेप करते हैं। इसके क्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं। मुख एवं दन्त के रोगों में इससे गण्डूष करते हैं। प्रदर में इसकी उत्तरबस्ति देते हैं। फल व्रणों के सवर्णीकरण में भी प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में दिया जाता है। मलेरिया में इसकी छाल का काढ़ा आधी छँटाक की मात्रा में दिन में तीन बार देते हैं।

सात्मीकरण—अस्थिभग्न तथा उरःक्षत आदि में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे; क्वाथ-२-५ तो०।

अहित प्रभाव—अधिक मात्रा में देने से भ्रम, संज्ञानाश, तन्द्रा आदि उपद्रव होते हैं।

निवारण—इसके निवारण के लिए स्निग्धमधुर वातशामक उपचार करना चाहिए।

× × × ×

'स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा। रसे पाके तु कटुका तुवरा शीतला च सा॥'

(भा. प्र.)

'सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागले रोहिणीफलम्। तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम्॥'

(सु. चि. १)

अस्थिसन्धानीय

४०१. अस्थिशृंखला

परिचय

कुल—द्राक्षा-कुल (वाइटेसी-Vitaceae)।

नाम—लै०-वाइटिस क्वैड्रैङ्गुलेरिस (Vitis quadrangularis), सं०-अस्थिशृंखला, अस्थिसंहारी, वज्रवल्ली, ग्रंथिमान; हि०-हड़जोड़; बं०-हाड़जोड़ा; म०-कांडवेल; गु०-हाडसांकल; ता०-पेरुण्डेयकडि; ते०-नुल्लेरुटिगे।

स्वरूप—इसकी ग्रंथियुक्त लंबी लता होती है। **कांड**-हरा, चतुष्कोण और बीच बीच में ग्रन्थियुक्त होता है जिससे देखने में श्रृङ्खला (सांकल) के सदृश मालूम होता है। **पत्र**-अल्प, हृदयाकृति, ३-५ भागों में विभक्त तथा दन्तुधार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण, रोमश होते हैं। **फल**-गोल, रक्तवर्ण, रसयुक्त तथा मटर के बराबर होते हैं। लता की एक ग्रंथि जमीन में देने पर लता उग आती है। लंका तथा दक्षिण भारत में इसके काण्ड का शाक बनाकर खाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण प्रदेशों में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष।	**रस**—मधुर।
विपाक—अम्ल।	**वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन और संधानीय है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

सात्मीकरण—सन्धानीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अस्थिभग्न, अभिघातज शोथ आदि में इसका लेप करते हैं या इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं। नाक से खून आने पर इसके स्वरस का नस्य लेते हैं। कर्णस्राव में इसका रस कान में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, अर्श तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, फिरंग, उपदंश में तथा रक्तस्राव में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा प्रदर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—अस्थिभग्न में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—काण्ड, पत्र।

मात्रा—स्वरस-१-२ तोला।

विशिष्ट योग—अस्थिसंहारतैल।

× × × ×

'अस्थिसंहारकः प्रोक्तो वातश्लेष्महरोऽस्थियुक्। उष्णः सरः कृमिघ्नश्च दुर्नामघ्नोऽक्षिरोगहृत् ॥
रूक्षः स्वादुर्लघुर्वृष्यः पाचनः पित्तलः स्मृतः। भिषग्वरैर्यथा नाम फलं चापि प्रकीर्त्तितम् ॥'
'काण्डं त्वग्विरहितमस्थिश्रृंखलायाः माषार्द्धद्विदलमकञ्चुकं तदर्धम्।
संपिष्टं तदनु ततस्तिलस्य तैले संपक्वं वटकमतीव वातहारि ॥' (भा. प्र.)
'वज्रवल्ली सरा रूक्षा कृमिदुर्नामनाशिनी। दीपन्युष्णा विपाकेऽम्ला स्वाद्वी वृष्या बलप्रदा ॥
अस्थिसंधानजननी वातश्लेष्महरा लघुः।' (कै. नि.)
'अर्शसां तु विशेषेण हिता चैवाग्निदीपनी। चतुर्धारा काण्डवल्ली भूतोपद्रवकुलहा ॥' (नि.र.)
'सघृतेनास्थिसंहारम्'.....। संधियुक्तेऽस्थिभग्ने च पिबेत् क्षीरेण मानवः ॥' (च. द.)

द्वितीय खण्ड

जांगम द्रव्य

प्रथम अध्याय

१. लक्षण

सजीवसृष्टि के दो विभाग होते हैं:—(१) उद्भिद् जगत् (Vegetable Kingdom) और (२) जन्तुजगत् (Animal Kingdom)। उद्भिद् जगत् से प्राप्त होने वाली (स्थावर) ओषधियों का वर्णन प्रथम खंड में किया गया है। जन्तुजंगत् से प्राप्त होने वाले जिन पदार्थों का चिकित्सा में उपयोग होता है उन्हें जांगम या जान्तव द्रव्य कहते हैं यथा कस्तूरी, अंबर आदि।[1]

२. वर्गीकरण

जन्तु जगत् भी चार वर्गों में विभाजित किया गया है:—(१) जरायुज, (२) अण्डज, (३) स्वेदज, (४) उद्भिज। जरायुज प्राणी वे हैं जिनका गर्भाधान के पश्चात् गर्भाशय में विकास होता है यथा मनुष्य, पशु आदि। अण्डज वे कहलाते हैं जो गर्भाशय के बाहर अंडे में विकसित होते हैं यथा पक्षी, सर्प आदि। स्वेदज प्राणी निम्न श्रेणी के कृमि, कीट आदि हैं जो मनुष्य आदि प्राणियों के स्वेद में या पृथ्वी के वाष्प में विकसित होते हैं। इनमें कुछ तो अंडे देते हैं तथा कुछ का विकास अयौन पद्धति से होता है। सूक्ष्म जीवाणुओं का अन्तर्भाव इसी वर्ग में होता है। चौथा वर्ग उद्भिज्ज प्राणियों का है जो अपने जीवन का कुछ काल निष्क्रिय रूप से पृथ्वी के भीतर या अन्यत्र पड़े-पड़े व्यतीत करते हैं यथा मेढ़क, वीरबहूटी आदि।[2]

इन चार प्रकार के प्राणियों से प्राप्त होने वाले द्रव्य भी चार प्रकार के होते हैं और उन्हीं संज्ञाओं से अभिहित होते हैं:—(१) जरायुज–कस्तूरी, गोरोचन आदि; (२) अण्डज–अण्डा, मयूर, पारावत आदि; (३) स्वेदज–जलौका, शंख, प्रवाल आदि; (४) उद्भिज्ज–बीरबहूटी, केंचुआ आदि।

३. प्रयोज्य अंग

छोटे जन्तुओं का सर्वांग औषध में लिया जाता है जिस प्रकार छोटे क्षुपों का ंचांग लिया जाता है यथा बीरबहूटी, रेगमाही आदि, किन्तु बड़े जन्तुओं के विभिन्न अंगों, दोष-धातु-मलों का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है यथा पित्त, रक्त, मूत्र, यकृत् आदि।[3] शरीर के भीतर किसी विकार के क्रम में उत्पन्न द्रव्य का भी औषध में प्रयोग

---

१. 'द्रव्याणि पुनरोषधयस्तास्तु द्विविधाः स्थावराः जांगमाश्च।' (सु. सू. १)

२. 'जांगमाः खल्वपि चतुर्विधाः जरायुजाण्डस्वेदजोद्भिज्जाः। तत्र पशुमनुष्यव्यालादयो जरायुजाः। खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः। कृमिकीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः। इन्द्रगोपमंडूकप्रभृतय उद्भिज्जाः।' (सु. सू. १)

'भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति–जराय्वण्डस्वेदोद्भिदः। तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैका योनिरपरिसंख्येयभेदा भवति, भूतानामाकृतिविशेषापरिसंख्येयत्वात्।' (च.शा.३)

३. 'मधूनि गोरसाः पित्तं वसा मज्जसृगामिषम्। विण्मूत्रचर्मरेतोऽस्थिस्नायुश्रृंगनखाः खुराः॥ जंगमेभ्यः प्रयुज्यन्ते केशा रोमाणि रोचनाः।' (च. सू. १)

'तत्र'……जंगमेभ्यश्चर्मनखरोमरुधिरादयः।' (सु. सू. १)

होता है। यथा मछली के आँतों में होने वाली ग्रन्थि का अम्बर के नाम से तथा बैल के पित्ताशय में होने वाली पित्ताश्मरी या गोरोचन के नाम से व्यवहार होता है।

वर्णन की सुविधा के लिए जरायुज प्राणियों के प्रयोज्य अंगों को निम्नांकित विभागों में विभाजित किया जा सकता है:—

१. दोष—पित्त आदि।
२. धातु—रक्त, मांस, मेद आदि।
३. उपधातु—दुग्ध, तथा दधि आदि उसके विकार।
४. मल—मूत्र, पुरीष आदि।
५. अंग-प्रत्यंग—मुष्क, यकृत्, दन्त आदि।
६. विकार—गोरोचन, फादजहर हैवानी आदि।

४. प्रयोग का सिद्धान्त

शरीर के दोषधातुमल अपने समानगुण वाले द्रव्यों से वृद्धि तथा विपरीतगुणवाले द्रव्यों से ह्रास को प्राप्त होते हैं यह आयुर्वेद का मौलिक सिद्धान्त है। इस संबन्ध में यह भी कहा है कि शरीर के जो दोष, धातु या मल क्षीण हुए हों उनकी चिकित्सा में उसी दोष, धातु या मल का प्रयोग होना चाहिए। यदि किसी कारण ऐसा संभव न हो तब समानगुण वाले औद्भिद या अन्य द्रव्यों का प्रयोग किया जाना चाहिए। यथा पित्त का क्षय होने पर पित्तपंचक का प्रयोग करना चाहिए और उसके अभाव में उष्ण वीर्य पित्तवर्धक वनस्पतियों या खनिजों का प्रयोग करना उचित है। इसी आधार पर रक्तक्षय में रक्त, मांसक्षय में मांस आदि का विधान है। आभ्यन्तर अंगों की क्रिया में क्षय होने पर भी उस अङ्ग का प्रयोग करते हैं यथा यकृत् की खराबी होने पर रोगी को यकृत् खिलाते हैं।[1]

५. जांगम द्रव्यों का संग्रह

जंगम प्राणियों से रक्त, मांस, रोम आदि द्रव्यों का संग्रह उनकी मध्यम आयु में करना चाहिए। क्षीर, मूत्र और पुरीष उनका आहार जीर्ण होने पर लेना चाहिए।[2]



---

१. 'धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्यभ्यस्यमानैः।' सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धिर्विपर्ययाद् ह्रासः। तस्मान्मांसमाप्यायते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थिस्तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामागर्भेण। यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्यवतामाहारविकाराणामसान्निध्यं स्यात् सन्निहितानां वाऽप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात्, तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात्, तद्यथा शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणाम्''''' कर्मापि च यद्यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदाऽऽसेव्यम्।' (च. शा. ६)

२. जंगमानां वयःस्थानां रक्तरोमनखादिकम्।
क्षीरमूत्रपुरीषाणि जीर्णाहारेषु संहरेत्॥ (सु. सू. ३७)
'मांसं वयसि मध्यमे।' (सु. सू. ४६)

द्वितीय अध्याय

जरायुज द्रव्य

वर्णन की सुविधा के लिए जरायुज द्रव्यों को दोष, धातु, उपधातु, मल, अंग-प्रत्यंग तथा विकार इन छः भागों में विभक्त किया गया है, ऐसा पीछे कहा जा चुका है। इसी क्रम से इस अध्याय में द्रव्यों का वर्णन किया जायगा।

(क) दोष

१. पित्त

परिचय

गण—कटुस्कन्ध (च०)।

नाम—सं-पित्त, मायु, हि०-पित्त; अ०-सफरा; अं०-बाइल (Bile)।

स्वरूप—यह गहरे पीताभ हरित वर्ण का एक द्रव होता है। इसका स्वाद तिक्त और अप्रिय होता है। यह क्षारीय है तथा जल एवं ९०% अलकोहल में विलेय है।

उत्पत्तिस्थान—यह प्राणियों के यकृत् में उत्पन्न होता है और पित्तकोष में संचित रहता है। विशेष कर यह भैंसा, सूअर, बकरा, मयूर, कृष्णसर्प, रोहूमछली और बिल्ली से प्राप्त किया जाता है। इनको पित्तगण कहते हैं।[1] मछली, गाय, घोड़ा, मनुष्य और मयूर के पित्त को पित्तपंचक कहते हैं।[2] आधुनिक चिकित्सा में शोधित वृषपित्त (Purified oybile) का प्रयोग होता है।

रासायनिक संघटन—पित्त में ग्लाइकोकॉलिक अम्ल (Glycocholic acid) टॉरोकॉलिक अम्ल (Taurocholic acid), लवण, कोलेस्टरीन, रञ्जकपदार्थ (Biliverdin तथा Bilirubin) होते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, तीक्ष्ण, द्रव, सर, लघु। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण तमोदोष को दूर करता है तथा आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन है। यह पित्तनिःसारक है और इससे पित्त के ठोस और द्रव दोनों भागों का स्राव बढ़ता है। यह अग्न्याशय के मेदोविश्लेषक तत्त्व को बढ़ाता है और इस प्रकार मेद के पाचन और शोषण में सहायक होता है। क्षारीय होने से यह पाचनसंस्थान की अम्लता को दूर करता है। पित्तगत अम्ल बृहदन्त्र की

---

१. 'महिषक्रोडमत्स्यानां छागस्य च शिखण्डिनः। कृष्णाहिरोहितानां च मार्जारस्य च मायुभिः॥ प्रोक्तः पित्तगणः (र. चू. ९)

२. 'पित्तं पञ्चविधं मत्स्यगवाश्वनरबर्हिजम्।' (रसार्णव ५)

श्लेष्मलकला को उत्तेजित करते हैं तथा उसकी परिसरणगति को बढ़ाते हैं। इससे अन्त्रगत जीवाणु और तज्जन्य विष भी नष्ट होते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न और कटुपौष्टिक है।

नेत्र—चक्षुष्य है।

शोषण और उत्सर्ग—अन्त्र से शोषित होकर यह यकृत् में जाता है। वहाँ से पित्त के साथ उत्सृष्ट होता है। कुछ अम्ल मूत्र के साथ निकलते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका कफवातज रोगों में प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—श्वित्र, कुष्ठ और अर्श में इसका लेप किया जाता है। कर्णपाली के उत्पुटक नामक उपद्रव में वाराह, गौ तथा हरिण के पित्त से सिद्ध तैल लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद और अपस्मार में इसका अञ्जन, सेक, नस्य, धूम और प्रधमन करते हैं। विशेषतः कुत्ते के पित्त का अञ्जन और धूपन अपस्मार में विहित है। अपस्मार में गोह, नकुल, हाथी, हरिण, रीछ और गाय के पित्त से सिद्ध तैल का पान और अभ्यङ्ग करते हैं। बालग्रहों में भी पित्त का अञ्जन, नस्य, अभ्यङ्ग, सेक आदि किया जाता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, यकृद्विकार, जीर्ण विबन्ध और कृमि में प्रयुक्त होता है। विशेषतः जब यकृत् की क्रिया मन्द होने से पित का स्राव कम होता है और स्नेह पदार्थों का पाचन कम होने लगता है तब इसका प्रयोग करते हैं। जीर्ण विबन्ध तथा बद्धगुदोदर में इसकी बस्ति भी देते हैं। अन्त्रस्थ विषों में भी यह लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—फुफ्फुसशोथ में भालू के पित्त का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में इसका प्रयोग करते हैं तथा गोपित्त और मत्स्यपित्त का पिचु योनि में धारण कराते हैं।

तापक्रम—जीर्ण विषमज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—विषों में अगद तथा लेप के रूप में अनेक पित्तों का प्रयोग है। सुश्रुतोक्त 'आर्षभ अगद' (क० ६) में अनेक पित्त हैं। लेप द्वारा प्रयुक्त विष को दूर करने के लिए रीछ के पित्त का लेप करते हैं। कटुपौष्टिक होने से पाण्डुरोग में लाभकर है।

नेत्र—कूर्म, रोहित के पित्त का अञ्जन पित्तविदग्ध दृष्टि में करते हैं।

मात्रा—१-३ माशे; सत्त्व-२-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—ज्वरनागमयूर चूर्ण, आर्षभ अगद।

प्रयोगविधि—इसके अप्रिय स्वाद को दूर करने के लिए इसकी गोली बना किसी आवरण में लपेट कर प्रयोग करते हैं। पाचनसंस्थान के विकारों में भोजन के दो घंटे बाद दिया जाता है। जल अधिक पिलाना चाहिए।

× × × ×

'मूत्रं पित्तं क्षारः पालाशः कुष्ठहा लेपः।' (च. चि. ७)

'वर्त्तिः स्यान्मरिचार्धांशा पित्ताभ्यां गोशृगालयोः। तयाऽञ्जयेदपस्मारभूतोन्मादज्वरार्दितान्॥
भूतार्त्तानमरार्त्तांश्च नरांश्चैव दृगामये।' (च. चि. ९)

'पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम्।' (च. चि. १०)

'वाराहं गव्यमैणेयं पित्तं सर्पिश्च संसृजेत्। लेपमुत्पुटके दद्यात्तैलमेभिश्च साधितम्॥'
(सु. सू. १६.)

'कुक्कुटपुरीषगुञ्जाहरिद्रापिप्पलीचूर्णमिति गोमूत्रपित्तपिष्टो द्वितीयः (आलेपः अर्शसाम्)
(सु. चि. ६)

'वर्त्तिं कृत्वा तां गवां पित्तपिष्टां, लेपः कार्यः श्वित्रिणां श्वित्रहारी।
लेपात् पित्तं शैखिनं श्वित्रहारि' (सु. चि. ९)

'चूर्णान्यथैषां निहितानि शृंगे न्यसेच्च पित्तानि समाक्षिकाणि।
वराहगोधाशिखिशल्लकीनां मार्जारजं पार्षतनाकुले च॥
यस्यागदोऽयं सुकृतो गृहे स्यान्नाम्नार्षभो नाम नरर्षभस्य।' (सु. क. ६)

'गोधानकुलमार्जारऋक्षपित्तप्रभावितान्। नस्याभ्यञ्जनसेकेषु विदध्याद्योगतत्त्ववित्॥'
(सु. उ. ६०)

'गोधानकुलनागानां पृषतर्क्षगवामपि। पित्तेषु सिद्धं तैलं च पानाभ्यंगेषु पूजितम्॥'
(सु. उ. ६१)

२. पाचक किण्वतत्त्व (Digestive ferments)

आमाशयिक किण्वतत्त्व (पेप्सिन–Pepsin)

परिचय

यह आमाशयिक रस का एक पाचक तत्त्व है जो मांसतत्त्व के पाचन में विशेषरूप से सहायक होता है। यह प्राणियों के आमाशय से प्राप्त किया जाता है।

स्वरूप—यह वर्णरहित, मांसगन्धि चूर्ण या पत्तों के रूप में होता है। जल में किंचित् विलेय है तथा अलकोहल में १ प्रतिशत घुलता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—अम्ल, लवण।
विपाक—अम्ल। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह प्रोटीन को पेप्टोन में बदल देता है अतः मांसतत्त्व के पाचन में सहायक होता है। यह इतना शक्तिशाली है कि अपने से २५०० गुना अधिक अंडे के अलब्यूमिन को गला देता है।

प्रयोग

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य विशेषतः मांसतत्त्व के अपचन में दिया जाता है। आहार द्रव्यों को पूर्वपक्व बनाने के लिए भी इसका प्रयोग होता है और इस प्रकार पूर्वपक्व आहार ऐसे अग्निमांद्य के रोगियों को मुख या गुदा

द्वारा दिया जाता है। निम्नांकित कारणों से उत्पन्न अग्निमांद्य में यह विशेष उपयोगी है:—

१. आमाशय का क्षय या विस्तार।

२. श्लेष्मा का अधिक स्राव।

३. रक्तसंवहन की अल्पता यथा पाण्डु, दौर्बल्य, वार्धक्य आदि।

४. आमाशयिक व्रण आदि।

इसके अतिरिक्त यह बालकों के अजीर्णजन्य वमन और अतिसार में प्रयुक्त होता है।

प्रयोग-विधि—इसका चिरकाल तक प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे आमाशय की प्राकृत शक्ति का क्षय होने लगता है। पेप्सिन भोजन के साथ या तुरत बाद तनु लवणाम्ल के साथ देना चाहिए।

मात्रा—२-५ रत्ती।

अग्न्याशयिक किण्वतत्त्व (पैंक्रियाटिन-Pancreatin)

परिचय

यह प्राणियों के अग्न्याशय से प्रस्तुत एक पदार्थ है जिसमें अग्न्याशय के तीनों (ट्रिप्सिन, एमाइलेज और लाइपेज) किण्वतत्त्व वर्त्तमान होते हैं।

स्वरूप—यह वर्णरहित, मांसगंधि एक चूर्ण है। जल में विलेय तथा अलकोहल में अविलेय है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन एवं ग्राही है। अग्न्याशय की क्रिया को उद्दीप्त करता है।

प्रयोग

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, अतिसार, ग्रहणी में यह प्रयुक्त होता है। आहार के पूर्व-पाचन के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसकी गोली बनाकर स्वर्जिक्षार के साथ भोजन के दो घंटे बाद देते हैं। अग्नयाशय को उद्दीप्त करने के कारण प्रमेह में भी लाभकर है।

मात्रा—२-५ रत्ती।

३. लाला

परिचय

नाम—सं०-लाला; हि०-लार, थूक; अं०-सेलाइवा (Saliva)।

स्वरूप—यह एक श्वेतवर्ण जलीय तथा पिच्छिल तरल पदार्थ है।

उत्पत्तिस्थान—यह शिरोभाग में स्थित लाला ग्रंथियों से निःस्रुत होता है।

गुण

गुण—मृदु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

यह चक्षुष्य और विषघ्न है।

प्रयोग

अश्व की लाला का अञ्जन नेत्ररोगों में करते हैं। मनुष्य की लाला के साथ जयपाल को घिसकर सर्पविष में अञ्जन करते हैं।[1]

(ख) धातु

४. रक्त

परिचय

नाम—सं०-रक्त, रुधिर, लोहित, शोणित, असृक्; हि०-लहू; अ०-दम; फा०-खून; अं०-ब्लड (Blood)।

स्वरूप—यह शरीर का एक रक्तवर्ण द्रव धातु है। जीवन के लिए प्रमुखरूप से आवश्यक होने से इसे जीवरक्त भी कहते हैं इसमें रक्तकण, श्वेतकण तथा रक्त-चक्रिकायें ये तीन प्रकार के कण और रक्तमस्तु होता है। रक्तमस्तु में रक्तरस तथा रक्तस्कन्दक भाग होते हैं। रक्तकण में लौहित्य हीमोग्लोबिन नामक रञ्जक द्रव्य के कारण होता है।

रासायनिक संघटन—रक्त में मुख्यतः लौह का अंश होता है। प्राच्य दृष्टि से जीवरक्त पाञ्चभौतिक तथा आर्त्तवरक्त आग्नेय होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, लवण।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न और सवर्णीकरण है। आभ्यन्तर कृमियों को बाहर निकलता है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोणितास्थापन है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वराह और गौ के रक्त का लेप कुष्ठ और श्वित्र में करते हैं। कृमिज शिरोरोग में रक्त का नस्य देते हैं। इससे कृमि आकर्षित होकर बाहर निकलते हैं और फिर उसकी गंध से मूर्च्छित हो जाते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में तथा किसी कारण से अतिरक्तस्राव होने पर प्राणियों का ताजा रक्त रोगी को पिलाते हैं। आधुनिक चिकित्सा में ताजे रक्त का सिराओं द्वारा अन्तःक्षेप (Blood Transfusion) करते हैं। ऐसी स्थिति में बस्ति द्वारा भी रक्त देते हैं।

---

१. 'जयपालभवां मज्जां भावयेन्निम्बुकद्रवैः। एकविंशतिवेलं तु ततो वर्त्ति प्रकल्पयेत्॥ मनुष्यलालया घृष्ट्वा ततो नेत्रे तयाऽञ्जयेत्। सर्पदष्टविषं जित्वा संजीवयति मानवम्॥' (शा.)

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में मृग, अज, अवि तथा वराह के रक्त से सिद्ध घृत के सेवन का विधान है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य विशेषतः रक्ताल्पता जन्य में यह अतीव उपयोगी है। मत्स्यविष तथा अन्य विषों में छाग आदि का रक्त पिलाते हैं।

मात्रा—ताजा रक्त-१-२ तो०; रक्तरञ्जक द्रव्य-३-६ माशे।

× × × ×

'लोहितं लोहितेन'। (च. शा. ६)

'धन्वजानामसृग्लिह्यान्मधुना मृगपक्षिणाम्। सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते॥' (च. चि. ४)

'रुधिरं मार्गमाजं वा घृतभृष्टं प्रशस्यते।' (च. चि. १९)

'मृगाजाविवराहासृग् दध्यम्लफलसर्पिषा। अरजस्का पिबेत्॥' (च. चि. ३०)

'मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्। पिबेज्जीवाभिसंधानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति॥
तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत्।' (च. सि. ६)

'शशैणदक्षमार्जारमहिषाघ्यजशोणितैः।
सद्यस्कैर्मृदितैर्बस्तिर्जीवादाने प्रशस्यते॥' (च. सि. १०)

'अतिप्रवर्त्तमाने रक्ते''एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां रुधिरं क्षीरयूषरसैः सुस्निग्धैश्च अश्नीयात्।' (सु. सू. १५)

'अतिनिःस्रुतरक्तो वा भिन्नकोष्ठः पिबेदसृक्।' (सु. चि. २)

'अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥' (सु. उ. ४५)

'वमनातियोगे प्रवृद्धे''तमजासृक्चन्दनोशीराञ्जनलाजचूर्णैः सशर्करोदकैर्मन्थं पाययेत्।' (सु. चि. ३४)

'वाराहमाहिषौरभ्रबैडालैणेयकौक्कुटम्।
सद्यस्कमसृगण्डं वा देयं पिच्छिलबस्तिषु॥' (सु. चि. ३८)

'नस्यं हि शोणितं दद्यात्तेन मूर्च्छन्ति जन्तवः। मत्ताः शोणितगन्धेन समायान्ति पयस्ततः॥
तेषां निर्हरणं कार्यं ततो मूर्धविरेचनैः।' (सु. उ. २६)

५. मांस

परिचय

नाम—सं०-मांस, आमिष; हि०-मांस; अ०-लह्म; फा०-गोश्त; अं०-मीट (Meat)।

स्वरूप—यह शरीर का एक प्रसिद्ध पार्थिव धातु है।

जाति—चरक ने मांस की अष्टविध योनि का वर्णन किया है अर्थात् जिन प्राणियों से मांस प्राप्त किया जाता है उन्हें आठ वर्गों में विभाजित किया है:—यथा-प्रसह, भूमिशय, आनूप, जलज, जांगल, विष्किर और प्रतुद है।[1]

---

१. 'प्रसस्य भक्षयन्तीति प्रसहास्तेन संज्ञिताः।
भूशया बिलशायित्वादानूपानूपसंश्रयात्॥
जले निवासाज्जलजा जले चर्याज्जलेचराः।
स्थलजा जांगलाः प्रोक्ता मृगा जांगलचारिणः॥
विकीर्य विष्किराश्चैव प्रतुद्य प्रतुदाः स्मृताः।
योनिरष्टविधा त्वेषा मांसानां परकीर्त्तिता॥' (च. सू. २७)

१. प्रसह-गौ, गर्दभ, अश्व, वानर आदि । ५. जलचर-हंस, वक, सारस आदि ।
२. भूमिशय-मण्डूक, नकुल, गोधा आदि । ६. जांगल-हरिण, ऋष्य आदि ।
३. आनूप-महिष, हस्ती, वराह आदि । ७. विष्किर-लाव, कपिञ्जल, वर्तीर आदि ।
४. जलज-मत्स्य, कूर्म, शंख, शुक्ति आदि । ८. प्रतुद-मयूर, कुक्कुट, कपोत, चटक आदि ।

सुश्रुत ने जलेशय, आनूप, ग्राम्य, क्रव्यभुज, एकशफ और जांगल ये छः भी मांस के निर्धारित किये हैं ।

गुण

गुण—गुण, स्निग्ध । **रस**—मधुर ।
विपाक—मधुर । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—मधुर स्निग्ध होने से यह वातपित्तशामक और कफवर्धक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—स्नेहन, स्वेदन, कुष्टघ्न, व्रणोत्सादन और संधानीय है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीवल्य है ।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और क्षीरजनन है ।

सात्मीकरण—यह विशेष रूप से मांसवर्धक है, अतः बृंहणीय द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है । मांसरस तर्पणीय द्रव्यों में सर्वोत्तम माना गया है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातव्याधि में उष्ण मांस का प्रदेह तथा शाल्वणस्वेद प्रसिद्ध है । इसके अतिरिक्त, मांस पिण्डस्वेद, प्रस्तरस्वेद तथा अवगाहस्वेद के रूप में विभिन्न वातविकारों में प्रयुक्त होता है । व्रणों में इसका प्रयोग करते हैं । भग्न में भी प्रयुक्त होता है । कुष्ठ में मांसपोट्टली से स्वेदन करते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि तथा नाडीदौर्बल्य में दिया जाता है ।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ और स्तन्यवृद्ध्यर्थ देते हैं ।

सात्मीकरण—कृशता, दौर्बल्य, क्षय और शोष में मांस परमोपयोगी है । शोष में मांसाहारी प्राणियों का मांस विहित है । बलवृद्ध्यर्थ यापन बस्तियों में भी मांस का प्रयोग होता है ।

विशिष्ट योग—छागलाद्य घृत ।

वक्तव्य—विशेषतः वराहमांस चक्षुष्य, माहिषमांस वृष्य तथा गोमांस विषमज्वरघ्न है । मांसवर्ग के विशेष अध्ययन के लिए चरक-सूत्रस्थान २७ तथा सुश्रुत सूत्रस्थान ४६ अध्याय का अवलोकन करें ।

× × × ×

'मांसं बृंहणीयानाम् ।' रसस्तर्पणीयानाम् । क्रव्यादरसाभ्यासो ग्रहणीदोषशोषार्शोघ्नानाम् ॥
(च. सू. २५)

'शरीरबृंहणे नान्यदाद्यं मांसाद् विशिष्यते ।' (च. सू. २७)
'क्षये मांसरसः परम् ।' (च. सू. २७)
'तस्मान्मांसमाप्यायते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः ।' (च. शा. ६)

'गत्वा स्नात्वा पयःपीत्वा रसं चानु शयीत ना। तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च ॥'
(च. चि. २)

'शुष्यते क्षीणमांसाय कल्पितानि विधानवित्। दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः॥'
'मांसेनोपचितांगानां मांसं मांसकरं परम्। तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छ्रस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम्॥'
'मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽनु च। नियतानल्पचित्तस्य चिरं काये न तिष्ठति॥'
(च. चि. ८)

'बर्हितित्तिरिदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयोः। खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम् ॥'
(च. चि ८)

'मांसाशिनां च मांसानि भक्षयेद् विधिविन्नरः। विशुद्धमनसस्तस्य मांसं मांसेन वर्धते॥'
(सु. चि. १)

'गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत्' (च. चि. ७)

६. मेद

परिचय

नाम—सं०-मेद; हि०-चर्बी; अ०-शहम; अं०-फैट (Fat)।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, मृदु। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्नेहन, संधानीय, बल्य एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—स्नेहन और अनुलोमन है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

सात्मीकरण—बृंहण और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि में इसका मुख्यतः प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पक्षाघात; वातव्याधि, भग्न, क्षत तथा ध्वजभंग में इसका अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं। वातव्याधि में इसकी बस्ति भी देते हैं।

पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य तथा विबन्ध में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा मैथुनसम्बन्धी अशक्तता को दूर करने के लिए उपयोगी है।

सात्मीकरण—कार्श्य और दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

× × × ×

'मेदो मेदसा।' (च. शा. ६)
'मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम्।
क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनिले॥

श्वतक्षीररसेणाद्यात् सक्षौद्रघृतशर्करम् ।' (च. चि. ११)

'ग्राम्यानूपौदकानाञ्च वसामेदोमज्जानो गुरूष्णमधुराः वातघ्नाः जांगलैकशफक्रव्यादादीनां लघुशीतकषाया रक्तपित्तघ्नाः, प्रतुदविष्किराणां श्लेष्मघ्नाः। तत्र घृततैलवसामेदोमज्जानो यथोत्तरं गुरुविपाका वातहराश्च ।' (सु. सू. ४५)

७. वसा

परिचय

गण—मधुरवर्ग (सु०) मधुरस्कन्ध (च०)।

नाम—सं०-वसा; हि०-चर्बी; अ०-शहम; अं०-फैट (Fat)।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, मृदु । **रस**—मधुर ।

विपाक—मधुर । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह प्रमुख वातशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—स्नेहन, संधानीय, बल्य और वेदनास्थापन है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य और वेदनास्थापन है ।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है ।

सात्मीकरण—बृंहण और बल्य है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि में यह सभी स्नेहों में श्रेष्ठ माना गया है। पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में वह बहुशः प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातव्याधि, भग्न, क्षत, ध्वजभंग आदि में इसका अभ्यंग करते हैं। अर्श में कृष्णसर्प, वराह, उष्ट्र तथा बिडाल की वसा का लेप और धूपन करते हैं। कर्णपालीवर्धन के लिए गोधा, प्रतुद, विष्किर, आनूप तथा औदक प्राणियों की वसा का अभ्यंग करते हैं। निरुद्धप्रकश में वराहवसा का परिषेक करते हैं। तिमिररोग में गृध्र, सर्प तथा कुक्कुट की वसा का अंजन विहित है। कर्णरोगों में कुक्कुटवसा से कर्णपूरण करते हैं। विषमज्वर में व्याघ्र की वसा का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में नक्र, मत्स्य, कूर्म, वराह आदि की वसा का पान तथा बस्ति देते हैं।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभंग में वराहवसा का पान कराते हैं। वातप्रदर में वराह की वसा तथा महायोनि में वराह एवं कुक्कुट की वसा का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—कृशता और दौर्बल्य में उपयोगी है।

× × × ×

'वसा वसया ।' (च. शा. ६)

'जंगमात्मकस्तु वसा, मज्जा सर्पिरिति । तेषां यथापूर्वं श्रेष्ठं वातश्लेष्मविकारेषु, यथोत्तरं पित्तविकारेषु सर्वं एव वा सर्वेष्वपि च विकारेषु योगमायान्ति संस्कारविशेषात् ।' (च.वि. ८)

'सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दृष्टश्चतुर्विधः । पानाभ्यञ्जनबस्त्यर्थं नस्यार्थं चैव योगतः ॥'
(च. सू. १)

'विद्धभग्नाहतभ्रष्टयोनिकर्णशिरोरुजि । पौरुषोपचये स्नेहे व्यायामे चेस्यते वसा ॥' (च. सू. १३)

'वातातपसहा ये च रूक्षा भाराध्वकर्शिता । संशुष्करेतोरुधिरा निष्पीतकफमेदसः ॥
अस्थिसन्धिसिरास्नायुमर्मकोष्ठमहारुजः । बलवान्मारुतो येषां खानि चावृत्य तिष्ठति ॥
महच्चाग्निबलं येषां वसासात्म्याश्च येनराः । तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते ॥'
(च. सू. १३)

'व्यायामकर्शिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः । महाग्निमारुतप्राणाः वसायोग्या नराः स्मृताः ॥'
(सु. चि. ३१)

'गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिंगस्य वसामपि ।'
एषां प्रयोगाद् भक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा । शेफसा वाजिवद् याति यावदिच्छं स्त्रियो नरः ॥'
(च. चि. २)

'तिलचूर्णं दधि घृतं फाणितं शौकरी वसा । क्षौद्रेण संयुतं पेयं वातासृग्दरनाशनम् ॥'
(च. चि. ३०)

'वराहकुक्कुटवसा घृतं च मधुरैः श्रृतम् । पूरयित्वा महायोनिं बध्नीयात् क्षौमलक्तकैः ॥'
(च. चि ३०)

'कृष्णसर्पवराहोष्ट्रजतुकावृषदंशजाम् । वसामभ्यञ्जने दद्यात् धूपनं चार्शसां हितम् ॥'
(च. चि. १४)

८. अस्थि

परिचय

नाम—सं०-अस्थि । हि०-हड्डी; अं०-बोन (Bone) ।

स्वरूप—यह एक श्वेतवर्ण कठिन धातु है ।

रासायनिक संघटन—इसमें कैल्शियम तथा स्फुरक अधिक परिमाण में होते हैं ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, कठिन । **रस**—मधुर ।
विपाक—मधुर । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप लेखन है ।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—श्वासहर तथा हिक्कानिग्रहण है ।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है ।

सात्मीकरण—विषघ्न और अस्थिवर्धक है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—गर्दभास्थि को जलाकर श्वित्र में लेप करते हैं । अपस्मार में कुक्कुर तथा गर्दभ की अस्थि का नस्य, धूपन और प्रदेह देते हैं । अर्श में गजास्थि का लेप करते हैं ।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—अस्थि की भस्म श्वास और हिक्का में देते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—क्रौञ्च, उष्ट्र तथा गर्दभ की अस्थि अश्मरीरोग में देते हैं । सारस की अस्थि कफज मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होती है । हस्तिमेह में हस्ती, अश्व, शूकर, गर्दभ तथा उष्ट्र की अस्थि का क्षार मधु के साथ देते हैं ।

सात्मीकरण—अस्थि दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। विष में बलाका की अस्थि का धूम देते हैं।

× × × ×

'अस्थित रुणास्थ्ना।' (च. शा. ६)

'शुनःस्कन्धास्थिनखरान् पर्शुकांश्चेति पेषयेत्। बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात् सधूपनः॥'

'खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः। कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्॥'

(च. चि. १०)

'प्रलेपः स्यात् गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च।' (च. चि. १४)

'एकद्विशफशृंगाणि चर्मास्थीनि खुरांस्तथा। सर्वाण्येकैकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम्॥

चूर्णं लिहन् जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम्।' (च. चि. १७)

'शिखिबर्हबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम्।

धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत्॥' (च. चि. २३)

'क्रौञ्चोष्ट्ररासभास्थीनि श्वदंष्ट्रा तालमूलिका। अजमोदा कदम्बस्य मूलं नागरमेव च॥

पीतानि शर्करां भिन्द्युः सुरयोष्णोदकेन वा।' (सु. चि. ७)

'हस्तिमेहिनं'·····'मधुमिश्रं हस्त्यश्वशूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारं चेति।

९. मज्जा

परिचय

यह अस्थियों के भीतर रहने वाला स्नेह भाग है। नलकास्थियों के मध्य भाग में पीतमज्जा तथा उनके प्रान्तभाग और अन्य अस्थियों में रक्तमज्जा होती है। औषध में रक्तमज्जा का प्रयोग होता है।

गण—मधुरस्कन्ध (च०); मधुरवर्ग (सु०)।

नाम—सं०-मज्जा; अं०-रेडबोन मैरो (Red bone-marrow)।

स्वरूप—यह रक्तवर्ण गाढ़ा स्नेह पदार्थ है। ग्लिसरीन के साथ मिला कर इसे द्रव रूप में रक्खा जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ९० प्रतिशत स्नेह होता है जिसमें लेसिथिन अधिक होता है। इसके अतिरिक्त, सेन्द्रिय लौह तथा कोलेष्टरोल होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक एवं कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—स्नेहन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य और वातशामक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

सात्मीकरण—यह विशेषतः रक्त, मेद, अस्थि और मज्जा धातुओं को बढ़ाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातव्याधि में इसका बाह्य प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में मज्जापान, नस्य एवं बस्ति का प्रयोग करते हैं। महास्नेह का प्रयोग सिरामज्जास्थिगत वात में करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—पाण्डु, हलीमक, रक्तपित्त, अस्थिवक्रता तथा कृशता में यह अतीव उपयोगी है।

मात्रा—३-६ माशे; घनमज्जा-२-४ रत्ती।

विशिष्ट योग—मज्जागुटिका।

× × × ×

'मज्जा मज्ज्ञा।' (च. शा. ६)

'बलशुक्ररसश्लेष्ममेदोमज्जाविवर्धनः।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने हितः॥' (च. सू. १३)

'दीप्ताग्नयः क्लेशसहाः घस्मराः स्नेहसेविनः।
वातार्त्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः॥' (च. सू. १३)

'धन्वानूपौदकानां तु भित्त्वाऽस्थीनि पचेज्जले। तं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत्॥
तत्सिद्धं नावनाभ्यंगात् तथा पानानुवासनात्। सिरापर्वास्थिकोष्ठस्थं प्रणुदत्याशु मारुतम्॥
ये स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीणशुक्रौजसश्च ये। बलपुष्टिकरं तेषामेतत् स्यादमृतोपमम्॥'
(च. चि. २८)

१०. शुक्र

परिचय

यह शरीर का चरम धातु है जो सन्तानोत्पत्ति के कार्य में आता है।

नाम—सं०-शुक्र, रेत; अ०-मनी; अं०-सीमन (Semen)।

स्वरूप—यह स्फटिक के समान अर्धद्रव धातु है जो अण्डकोष में उत्पन्न होकर शिश्नमार्ग से बाहर निकलता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म-प्रयोग

यह विशेषतः शुक्रवर्धक है। महिष, वृषभ, बस्त, चटक, हंस, मयूर, नक्र आदि प्राणियों के शुक्र का पान या उसकी पूपलिका शष्कुली आदि बना कर भक्षण शुक्रदौर्बल्य के रोगियों को कराते हैं। इन सबमें नक्र (घड़ियाल) का रेत सर्वोत्तम माना जाता है।

× × × ×

'शुक्रं शुक्रेण।' (च. शा. ६)

'नक्ररेतो वृष्याणाम्।' (च. सू. २५)

'चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा।
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत्॥

एभिः पूपलिकाः कार्याः शष्कुल्यो वर्तिकास्तथा ।
पूपा धानाश्च विविधाः भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः ॥
एषां प्रयोगाद् भक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा ।
शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छं स्त्रियो नरः ॥' (च. चि. २)
'न ना स्वपिति रात्रीषु निस्तब्धेन च शेफसा ।
तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्ररेतसि ॥' (च. चि. २)
'महिषवृषभवस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः ।' (सु. चि. २६)

(ग) उपधातु

११. दुग्ध

परिचय

दुग्ध एक श्वेतवर्ण का प्रसिद्ध द्रव पदार्थ है जो प्राणियों के स्तन से निकलता है। स्तन से निकलने के कारण इसे 'स्तन्य' भी कहते हैं।

गण—मधुर वर्ग (सु०)।

नाम—सं०-दुग्ध, क्षीर, पय, स्तन्य; हि०-दूध; सिं०-खीर; ता०-पाल; अ०-लबन्; फा०-शीर; लै०-लैक्टस (Lactus); अं०-मिल्क (Milk)।

जाति—औषध में गौ, महिषी, बकरी, भेंड़ी, घोड़ी, गदही, हथिनी, ऊँटनी और नारी इनका दुग्ध प्रयुक्त होता है। इसे क्षीराष्टक कहते हैं। इनमें गोदुग्ध सबमें उत्कृष्ट तथा भेंड़ी का दूध निकृष्ट माना गया है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, मृदु, पिच्छिल। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक और कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्नेहन, सन्धानीय, रोपण और बलवर्धक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य, निद्राजनन और नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—स्नेहन, अनुलोमन और मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, शोणितास्थापन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—हिक्कानिग्रहण तथा कास श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन, शुक्ररेचन, गर्भस्थापन, गर्भवृद्धिकर एवं स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—त्वग्दोषहर और वर्ण्य है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—जीवनीय, बृंहणीय, श्रमहर, संतर्पण और बल्य है। ओज के दसों गुण गोदुग्ध में होने के कारण वह विशेषरूप से ओजोवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुखपाक में दुग्ध का कवलग्रह करते हैं। शोष के रोगी को क्षीरकोष्ठ में अवगाहन कराते हैं। नारीस्तन्य का नस्य हिक्का और तृष्णा में देते हैं। पित्ताभिष्यन्द में नारीस्तन्य नेत्र में डालते हैं। सद्योव्रण तथा भग्न में भी प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मदात्यय, अनिद्रा तथा नाडीदौर्बल्य में लाभकर है। महिषीक्षीर में सर्वोत्तम निद्राजनन माना गया है।

पाचनसंस्थान—अम्लपित्त, गुल्म, उदर और विबन्ध में इसका प्रयोग करते हैं। अजाक्षीर, रक्तातीसार एवं ग्रहणी में देते हैं। उदररोग में उष्ट्रीक्षीर अधिक लाभकर है। अत्यग्नि में नारीस्तन्य के साथ उदुम्बरत्वक् का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त, रक्तविकार, पांडु तथा शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का, कास और श्वास में देते हैं। उरःक्षत तथा वातज कास में विशेषरूप से लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, शुक्राश्मरी, गर्भपात तथा स्तन्याल्पता में इसका प्रयोग करते हैं। गर्भपोषण के लिए गर्भिणी स्त्रियों को इसका सेवन विशेष कराते हैं। प्रदर में भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र मे देते हैं। भेंड़ी का दूध अश्मरीरोग में विशेष हितकर है।

त्वचा—चर्मरोगों तथा वर्णविकारों में लाभकर है।

तापक्रम—जीर्णज्वर, विषमज्वर में इसका प्रयोग होता है। पञ्चगव्य, पञ्चाज, पञ्चमाहिष, पञ्चाविक तथा पञ्चसार का प्रयोग विषमज्वर में निर्दिष्ट है।

सात्मीकरण—कार्श्य और दौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है। बालरोगों में विशेषतः बालशोष में गदही का दूध दिया जाता है।

× × × ×

'क्षीरं जीवनीयानाम्।' 'क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम्।' (च. सू. २५)
'अजाक्षीरं शोषघ्नस्तन्यसात्म्यसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्। 'महिषीक्षीरं स्वप्नजननानाम्।' अविक्षीरं श्लेष्मपित्तजननानाम्।' (च. सू. २५)
'गोक्षीरं क्षीराणाम् (हिततमम्), अविक्षीरं क्षीराणाम् (अहिततमम्)' (च. सू. २६)
'प्रायशो मधुरं स्निग्धं शीतं स्तन्यं पयो मतम्। प्रीणनं बृंहणं वृष्यं मेध्यं बल्यं मनस्करम्॥
जीवनीयं श्रमहरं श्वासकासनिबर्हणम्। हन्ति शोणितपित्तं च सन्धानं विहतस्य च॥
सर्वप्राणभृतां सात्म्यं शमनं शोधनं तथा। तृष्णाघ्नं दीपनीयं च श्रेष्ठं क्षीणक्षतेषु॥
पाण्डुरोगेऽम्लपित्ते च शोषे गुल्मे तथोदरे। अतिसारे ज्वरे दाहे श्वयथौ च विशेषतः॥
योनिशुक्रप्रदोषेषु मूत्रेषु प्रदरेषु च। पुरीषे ग्रथिते पथ्यं वातपित्तविकारिणाम्॥
नस्यलेपावगाहेषु वमनास्थापनेषु च। विरेचने स्नेहने च पयः सर्वत्र युज्यते॥' (च. सू. १)

'तत्र सर्वमेव क्षीरं सर्वप्राणभृतामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यत्वात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्वविरुद्धं, जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममददाहपिपासाहृद्वस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्त्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोगगर्भास्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं पाप्मापहं बल्यं वृष्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं

बृंहणं संधानं वमनविरेचनास्थापनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम् ।' (सू. सु. ४५)

'स्वादु शीतं मृदु स्निग्धं बहलं श्लक्ष्णपिच्छिलम् । गुरु मन्दं प्रसन्नं च गव्यं दशगुणं पयः ॥ तदेवं गुणमेवौजः सामान्यादभिवर्धयेत् । प्रवरं जीवनीयानां क्षीरमुक्तं रसायनम् ॥'(च.सू.२७)

'उपवासाध्वभाष्यस्त्रीमारुतातपकर्मभिः । क्लान्तानामनुपानार्थं पयः पथ्यं यथामृतम् ॥'

(च. सू. २७)

'केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा । शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्युक्तं तद् वृष्यमुत्तमम् ॥'

(च. चि. २)

जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् । पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम् ॥

(च. चि. ३)

'पयसः प्रयोगो विषमज्वरे ।' (च. चि. ३)

१२. दधि

गण—अम्लस्कन्ध (च०), अम्लवर्ग (सु०) ।

नाम—सं०-दधि; हि०-दही; अ०-सुगरात; फा०-जुगराज; अं०-कर्ड (Curd) ।

स्वरूप—दूध को जमाने पर इसकी संज्ञा दही हो जाती है । दही की मलाई को 'सर' तथा पानी को 'दधिमण्ड' या 'मस्तु' कहते हैं ।

जाति—रसभेद से यह तीन प्रकार का है—मधुर, अम्ल, अत्यम्ल । अन्य दृष्टियों से भी इसके अनेक विभाग किये गये हैं ।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध । **रस**—अम्ल, कषाय ।

विपाक—अम्ल । **वीर्य**—उष्ण ।

ताजे दही का रस मधुर और विपाक भी मधुर होता है ।

कर्म

दोषकर्म—वातशामक और कफपित्तवर्धक है ।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—निद्राजनन है ।

पाचनसंस्थान—दीपन, रोचन, स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है ।

रक्तवहसंस्थान—दधि के अतिसेवन से रक्तविकार और शोफ उत्पन्न होता है ।

प्रजननसंस्थान—दही की मलाई वृष्य है । अम्ल दधि आर्त्तवजनन है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है ।

तापक्रम—विषमज्वरघ्न है ।

सात्मीकरण—बृंहण, संतर्पण, अभिष्यन्दी है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में देते हैं ।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—अनिद्रा के रोगियों को खिलाते हैं ।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अरुचि, अतिसार तथा ग्रहणी में प्रयुक्त होता है । दधिसर का प्रयोग अर्श में होता है । यमक में भृष्ट दधिसर पुरीषक्षय में लाभकर है ।

प्रजननसंस्थान—दधिसर का प्रयोग शुक्रदौर्बल्य में करते हैं। अम्ल दधि रजोरोध में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—विषमज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—कृशता, दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोगविधि—रात्रि में दही का प्रयोग नहीं करे। बिना घी-चीनी मिलाये भी न खाये। मूँग का यूष मिलाकर खाये। मधु मिलाकर खाये। आँवले के साथ खाये। दही को गरम कर न खाये। रक्तपित्त, कफविकार तथा शोथ में प्रयोग न करे। शरद्, ग्रीष्म और वसन्त में दधि नहीं खाना चाहिए।

उपद्रव—दही के अनियमित तथा अति सेवन से ज्वर, रक्तपित्त, वीसर्प, कुष्ठ, पाण्डु, कामला और शोथ रोग होते हैं।

× × × ×

'रोचनं दीपनं वृष्यं स्नेहनं बलवर्धनम्। पाकेऽम्लमुष्णं वातघ्नं मंगल्यं बृंहणं दधि ॥
पीनसे चातिसारे च शीतके विषमज्वरे। अरुचौ मूत्रकृच्छ्रे च कार्श्ये च दधि शस्यते ॥'
(च. सू. २७)

'दधि तु मधुरमम्लमत्यम्लं चेति। तत् कषायानुरसं स्निग्धमुष्णं पीनसविषमज्वरातिसारारोचकमूत्रकृच्छ्रकार्श्यापहं वृष्यं प्राणकरं मंगल्यं चेति।
महाभिष्यन्दि मधुरं कफमेदोविवर्धनम्। कफपित्तकृदम्लं स्यादत्यम्लं रक्तदूषणम् ॥'
(सु. सू. ४५)

'दध्युष्णं दीपनं स्निग्धं कषायानुरसं गुरु। पाकेऽम्लं श्वासपित्तास्रशोथमेदः कफप्रदम् ॥
मूत्रकृच्छ्रे प्रतिश्याये शीतगे विषमज्वरे। अतिसारेऽरुचौ कार्श्ये शस्यते बलशुक्रकृत् ॥'
(भा. प्र.)

'कफपित्तकरा माषाः कफपित्तकरं दधि। कफपित्तकरा मत्स्या वृन्ताकं कफपित्तकृत् ॥ (भा.प्र.)
'मन्दकं दध्यभिष्यन्दकराणाम्।' 'दधि शोफं जनयति।' (च. सू. २७)
'न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम्। नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना ॥' (च.)
'ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्ड्वामयभ्रमान्।
प्राप्नुयात् कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः ॥'
'दध्नः सरं शरच्चन्द्रसन्निभं दोषवर्जितम्। शर्कराक्षौद्रमरिचैस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान् ॥
बलवर्णस्वरोपेतः पुमांस्तेन वृषायते।' (च. चि. २)
'दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति रक्तानि। (च. चि. १४)
'दध्नः सरश्च यमके भृष्टो वर्चःक्षये हितः।' (सु. उ. ४०)

१३. तक्र

परिचय

गण—अम्लवर्ग (सु०)।

नाम—सं०-तक्र, मथित, घोल, उदश्वित्; हिं-मट्ठा, छाछ; बं०-घोल; म०-ताक; गु०-छास, मठो; अ०-मखीस; फा०-दोग; अं०-बटरमिल्क (Butter-Milk)।

स्वरूप—दही में चौथाई जल मिला कर मथने पर जो द्रव पदार्थ प्रस्तुत होता है उसे तक्र कहते हैं। बिना जल मिलाये मलाई रहित दही को मथने पर जो द्रव तैयार

होता है वह मथित कहलाता है। इसी विधि से मलाई सहित दही का द्रव घोल कहलाता है। दही में आधा जल देकर प्रस्तुत द्रव उदश्वित् कहा जाता है।[1] गरम दूध में खटाई डालने से दूध फट जाता है और ठोस भाग नीचे बैठ जाता है तथा द्रवांश ऊपर रह जाता है। ठोस भाग को संस्कृत में कूर्चिका, हिन्दी में छेना और द्रवांश को मस्तु कहते हैं।

जाति—रसभेद से तक्र तीन प्रकार का होता है:—मधुर, अम्ल और अत्यम्ल। स्वरूपभेद से भी यह तीन प्रकार का होता है—रूक्ष, अर्धस्निग्ध, स्निग्ध।[2]

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर, अम्ल, कषाय।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह रसप्रभाव से त्रिदोषहर है। अम्ल से वात, मधुर से पित्त तथा कषाय से कफ को शान्त करता है।[3]

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, अनुलोमन और ग्राही है। उदरस्थ कृमियों को भी नष्ट करता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न, स्रोतःशोधक तथा लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, अर्श, शूल, गुल्म, उदररोग, कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

तापक्रम—विषमज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—विषों में तथा संतर्पणज रोगों में दिया जाता है।

विशिष्ट योग—तक्रारिष्ट।

प्रयोगविधि—वातज रोगों में अम्ल तक्र सैन्धव के साथ, पित्तज रोगों में मधुर तक्र चीनी के साथ तथा कफज रोगों में त्रिकटु और क्षार के साथ तक्र का प्रयोग करना चाहिए।

---

१. ससरं निर्जलं घोलं मथितं त्वसरोदकम्।
तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्वित्त्वर्धवारिकम्॥ (भा. प्र.)

२. रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम्।
तक्रं दोषाग्निबलवित् त्रिविधं तत् प्रयोजयेत्॥' (च. चि. १४)

३. 'अम्लेन वातं मधुरेण पित्तं कफं कषायेण निहन्ति सद्यः।' (भा. प्र.)

प्रयोगनिषेध—उरःक्षत, दुर्बलता, मूर्च्छा, भ्रम, दाह एवं रक्तपित्त में तथा उष्णकाल में तक्र का प्रयोग निषिद्ध है।

× × × ×

'तक्राभ्यासो ग्रहणीदोषशोफार्शोघृतव्यापत्प्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

'तक्रं तु मधुरमम्लं कषायानुरसमुष्णवीर्यं लघु रूक्षमग्निदीपनं गरशोफातिसारग्रहणीपाण्डुरोगार्शःप्लीहगुल्मारोचकविषमज्वरतृष्णाच्छर्दिप्रसेकशूलमेदःश्लेष्मानिलहरं मधुरविपाकं हृद्यं मूत्रकृच्छ्रस्नेहव्यापत्प्रशमनमवृष्यं च।......
वातेऽम्लं सैन्धवोपेतं पित्ते स्वादु सशर्करम्। पिबेत्तक्रं कफे चापि व्योषक्षारसमन्वितम्॥'
(सु. सू. ४५.)

'नातिसान्द्रं मतं पाने स्वादु तक्रमपेलवम्।' (च. चि. १३)
गौरवारोचकार्त्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम्। तक्रं वातकफार्त्तानाममृतत्वाय कल्पते॥
(च. चि. १३)

'हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु। भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम्॥
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः।
'स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः। तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते॥
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्त्तते। नास्ति तक्रात् परं किंचिदौषधं कफवातजे॥'
(च. चि. १४)

'वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम्। तत् प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव च॥
(च. चि. १४)

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात्। श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत्॥
कषायोष्णविकासित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे मतम्। वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत्॥
तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणां तथार्शसाम्। विहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत्॥'
(च. चि. १५)

'नैव तक्रं क्षते दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले। न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपित्तजे॥ (भा. प्र.)

१४. नवनीत

परिचय

दही या दूध को मथ कर जो स्नेहांश पृथक् होता है उसे नवनीत कहते हैं।

नाम—सं०-नवनीत, हैयंगवीन; हि०-मक्खन, नेउन; बं०-नोनी; म०-लोणी; गु०-माखण; अ०-जबद; अं०-बटर (Butter)।

स्वरूप—यह श्वेतवर्ण, ठोस, मृदु और स्निग्ध होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय, ईषदम्ल।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—दाहप्रशमन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य तथा मेध्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और श्वासमार्ग का स्नेहन है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य है।
नेत्र—चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोष प्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में इसका लेप करते हैं। जीर्ण व्रणों में इसके साथ अन्य औषधियों का मलहम बनाकर लगाते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मूर्च्छा, भ्रम, वातव्याधि आदि में लाभकर है।
पाचनसंस्थान—ग्रहणी, अर्श में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में दिया जाता है।
श्वसनसंस्थान—कास, क्षय, उरःक्षत में उपयोगी है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।
तापक्रम—दाह में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—शोष, दौर्बल्य में दिया जाता है।
नेत्र—दृष्टिशक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयोग करते हैं।
मात्रा—१-२ तोला।

× × × ×

'नवनीतं पुनः सद्यस्कं लघु सुकुमारं मधुरं कषायमीषदम्लं शीतलं मेध्यं दीपनं हृद्यं संग्राहि पित्तानिलहरं वृष्यमविदाहि क्षयकासव्रणशोषार्शोर्दितापहं च। क्षीरोत्थितं पुनः नवनीतमुत्कृष्टस्नेहमाधुर्यमतिशीतं सौकुमार्यकरं चक्षुष्यं संग्राहि रक्तपित्तनेत्ररोगहरं प्रसादनं च।' (सु. सू. ४५)

'नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति रक्तानि॥' (च. चि. १४)
'प्राग्भक्तं नवनीतं वा दद्यात् समधुशर्करम् (रक्तातिसारे) (च. चि. १९)

१५. घृत

परिचय

नाम—सं०-घृत, सर्पि, आज्य; हि०-घी, म०-तूप; अ०-सम्न; फा०-रोगन जर्द।
स्वरूप—यह पीताभ श्वेत स्नेहपदार्थ है जो ठंढक से जम जाता है और थोड़ी गर्मी से भी पिघल जाता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—दाहप्रशमन, स्नेहन, रक्षोघ्न, विषघ्न, चक्षुष्य और व्रणरोपण है। शल्यतन्त्र में दाहकर्म में भी उपयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य तथा नाडीबलदायक है।

पाचनसंथान—स्नेहन, दीपन, अनुलोमन है। सभी स्नेहन द्रव्यों में घृत श्रेष्ठ माना गया है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है। गर्भस्थापन तथा गर्भवृद्धिकर भी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण, रसायन और विषघ्न है।

नेत्र—चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिकविकारों में यह प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, ज्वर, कुष्ठ, पैत्तिकगुल्म, रक्तार्श, वृश्चिकविष, नेत्ररोग, व्रण, अग्निदग्ध में शतधौत या सहस्रधौत घृत का अभ्यंग करते हैं। मूत्रजन्य विकारों तथा ग्रहबाधाओं में अन्य रक्षोघ्न द्रव्यों के साथ घी का धूपन करते हैं। पुराणघृत का नस्य विषमज्वर में, माहिष और अजा घृत का नस्य नासागत रक्तपित्त में; तथा कोष्ण घृतमंड का नस्य हिक्का में करते हैं। पार्श्वशूल में कोष्ण घृत या पुराण घृत का प्रदेह लाभकर होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, वातव्याधि, वातरक्त, मूर्च्छा, भ्रम आदि में घृतपान कराते हैं। उन्माद, अपस्मार में विशेषतः पुराण घृत उपयोगी है। शिरोरोगों में घृत का पान करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, उदावर्त्त और गुल्म में घृत का सेवन करते हैं। वातिक अर्श में घृतमंड से अनुवासन देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त, सन्निपातज्वरोत्थ शोथ एवं गलगंड में घृत का प्रयोग करते हैं। पांडु और हलीमक में गुडूचीस्वरस तथा क्षीर से सिद्ध माहिष घृत प्रशस्त है।

श्वसनसंस्थान—कास में मधु, घृत और शर्करा का लेह प्रसिद्ध है। श्वास में पुराण घृत का सेवन कराते हैं। स्वरभेद में मरिच के साथ घी पिलाते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में लाभकर है। गर्भावस्था में गर्भपुष्टि के निमित्त घृत का सेवन कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

त्वचा—वर्णविकार तथा चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में पुराण घृत अतीव लाभकर है। जीर्णज्वर में भी घृतपान प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोष में देते हैं। वृश्चिकविष में घृत का स्वेद, अभ्यंग सेक और पान करते हैं। जलसंत्रास में पुराण घृत पिलाते हैं।

नेत्र—वाताभिष्यन्द, अन्यतोवात में कर्कटसिद्ध घृत देते हैं। तिमिररोग में घृतसेवन कराते हैं।

× × × ×

'घृतं पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितम्। निर्वापणं मृदुकरं स्वरवर्णप्रसादनम्॥ (च.सू.१३)
'वातपित्तप्रकृतयो वातपित्तविकारिणः। चक्षुःकामाः क्षताः क्षीणाः वृद्धाः बालास्तथाऽबलाः॥
आयुःप्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्वरार्थिनः। पुष्टिकामाः प्रजाकामाः सौकुमार्यार्थिनश्च ये॥
दीप्त्योजःस्मृतिमेधाग्निबुद्धीन्द्रियबलार्थिनः। पिबेयुः सर्पिरार्त्ताश्च दाहशस्त्रविषाग्निभिः॥'
(च. सू. १३)

'सर्पिर्वातपित्तप्रशमनानाम्।' 'समघृतसक्तुप्राशाभ्यासो वृष्योदावर्त्तहराणाम्।' (च.सू.२५)
'गव्यं सर्पिः सर्पिषाम् (हिततमम्), आविकं सर्पिः सर्पिषाम् (अहिततमम्)' (च.सू. २६)
'स्मृतिबुद्धयग्निशुक्रौजः कफमेदोविवर्धनम्। सर्वस्नेहोत्तमं सर्पिर्मधुरं रसपाकयोः॥'
(च. सू. २७)

'शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुः शुक्रचक्षुषाम्। बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्॥
'क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्। वातपित्तविषोन्मादशोथालक्ष्मीज्वरापहम्॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम्।' (अ. हृ. सू. ५)

'यथा प्रज्वलितं वेश्म परिषिञ्चन्ति वारिणा। नराः शान्तिमभिप्रेत्य तथा जीर्णज्वरे घृतम्॥
स्नेहाद्वातं शमयति शैत्यात् पित्तं नियच्छति। घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात्तु जयेत् कफम्॥
नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवर्त्तते। यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतम्॥'
(च. नि. १)

'सर्पिः खल्वेवमेव पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दवीर्यत्वाच्च, पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च। (च. वि. १)

(घ) मल

१६. सूत्र

परिचय

गण—कटुकस्कन्ध (च०), शिरोविरेचन (सु०)।

नाम—सं०-मूत्र, प्रस्राव; हि०-पेशाब, मूत; अ०-बोल; अं०-युरिन (Urine)।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, लवण।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न और लेखन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक, रक्तवर्धक तथा शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—इससे मूत्र का प्रमाण बहुत बढ़ता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में तथा पैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ मूत्र का प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वीसर्प, कुष्ठ, विष आदि में मूत्र का परिषेक, उत्सादन आदि करते हैं। सशूल अर्श में तथा कष्टार्त्तव में, गोमूत्र में अवगाहन करते हैं। नाडीस्वेद में मूत्र का प्रयोग होता है। उन्माद में गोमूत्र का सेक, अञ्जन, नस्य, धूम आदि देते हैं। कर्णशूल में मूत्राष्टक से कर्णपूरण करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग, अर्श, पाण्डु, कामला तथा कृमि में गोमूत्र का पान कराते हैं। उदर रोग में मूत्र की बस्ति भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार, रक्ताल्पता तथा शोथ में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्तव में मूत्र का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

त्वचा—वीसर्प आदि त्वग्रोगों में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर एवं जीर्णज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—विषों में तथा मेदोरोग में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—२½-५ तोला।

वक्तव्य—गाय, भैंस, बकरी, भेंड़, हाथी, घोड़ा, गदहा, ऊँट इन आठ प्राणियों का मूत्र व्यवहृत होता है। इन सबमें गोमूत्र सर्वोत्तम है।

× × × ×

१७. पुरीष

परिचय

नाम—सं०-पुरीष, शकृत्, विट्; हि०-गोबर, लीद, बिट; अं०-फीसेज (Faeces)

स्वरूप और रासायनिक संघटन—पुरीष के स्वरूप और रासायनिक संघटन का अध्ययन शरीरक्रियाविज्ञान में करना चाहिए।[1]

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—स्वेदन, वेदनास्थापन, क्रिमिघ्न, कुष्ठघ्न, लेखन, दारण, सवर्णीकरण और शिरोविरेचन है।

---

१. चौखम्बा विद्याभवन द्वारा प्रकाशित लेखक का 'अभिनव शरीर क्रिया विज्ञान' देखें।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह तीक्ष्ण और लेखन होने से उत्तम संज्ञाप्रबोधन है।
पाचनसंस्थान—छर्दिनिग्रहण, दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तपित्तशामक है। शोथहर भी है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न, हिक्कानिग्रहण और श्वासहर है।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।
नेत्र—चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज-विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—गो, खर, उष्ट्र, वराह और अश्व के पुरीष पिण्ड, प्रस्तर आदि स्वेदनकर्म में प्रयुक्त होते हैं। अर्श में गो, खर, अश्व शकृत् के पिण्ड से स्वेदन; वराह, वृष एवं हस्ती के पुरीष से धूपन तथा कुक्कुटपुरीष और पारावतविट् का लेप करते हैं। कुष्ठ में गोमय से घर्षण करते हैं। श्वित्र में गृहकुक्कुटपुरीष तथा गजपुरीष का लेप करते हैं। व्रणों के दारण के लिए कपोत और गृध्र के पुरीष का लेप करते हैं। सवर्णीकरण के लिए गोमय का लेप किया जाता है। नेत्ररोगों में छागलपुरीष का अञ्जन देते हैं। गोशकृद्रस कफज शिरोरोगों में नस्यार्थ व्यवहृत होता है। कपोतविट् का लेप कफज अर्बुद में करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद और अपस्मार में पुरीष का प्रयोग बहुत मिलता है। उन्माद में उलूक, मार्जार, शृगाल और बस्त के पुरीष का सेक, अञ्जन, प्रधमन, धूम और नस्य दिया जाता है। पक्षियों के विट् तथा गोपुरीष का धूपन, लेप, अभ्यंग, स्नान और उत्सादन अपस्मार में करते हैं। जलौका पुरीष को जलाकर उसका नस्य अपस्मार में देते हैं। नकुल, उलूक, मार्जार, गृध्र, सर्प और काक के तुण्ड, पक्ष और पुरीष का धूपन अपस्मार में विहित है। खर, अश्व, गृध्र, उलूक आदि प्राणियों के पुरीष का धूपन तथा इनसे सिद्ध तैल का नस्य, अभ्यंग, सेक बालग्रहों में लाभप्रद है। पंचगव्य घृत अपस्मार में एक प्रसिद्ध फलप्रद योग है।

पाचनसंस्थान—छर्दिरोग में मक्षिका विट् का प्रयोग करते हैं। उदररोग, पांडु, कामला और कृमि में पुरीष प्रयुक्त होता है। कृमिरोग में अश्वपुरीष लाभकर है। अश्व, गर्दभ का पुरीषरस उदावर्त्त में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार में पुरीष देते हैं। रक्तपित्त में गो, अश्व तथा पारावत् का पुरीष मधु और घृत से प्रयुक्त होता है। मक्षिकाविट् भी चीनी, चन्दन और मधु में मिलाकर रक्तपित्त में देते हैं। गलगंड में गोमय भस्म का सेवन कराते हैं।

श्वसनसंस्थान—गोशकृद्रस का प्रयोग मधु के साथ कास में करते हैं। हिक्का में गौ, अश्व एवं मक्षिका शकृत् का नस्य देते हैं। खर, अश्व, उष्ट्र, वराह, मेष और हस्ती का पुरीष कफप्रधान श्वास में हितकर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उष्ट्र, अश्वतर, खर तथा अन्य मृगों के पुरीष का चूर्ण प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—विषमज्वर में उपयोगी है। विषमज्वर में विडाल शकृत् का धूपन भी करते हैं।

सात्मीकरण—अजा, अश्व, गौ आदि के पुरीष से सिद्ध घृत का प्रयोग यक्ष्मा तथा शोष में करते हैं। विष में गोमयस्वरस का लेह और अंजन करते हैं।

नेत्र—गोशकृद् दृष्टिवर्धक होने से इसका तिमिर रोग में नस्य देते हैं तथा नक्तान्ध्य में पान कराते हैं।

विशिष्ट योग—पञ्चगव्यघृत।

× × × ×

'अथाश्वशकृदाहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्यातपे शोषयित्वोदूखले क्षोदयित्वा···तेषां तु खलु चूर्णानां पाणितलं चूर्णं यावद्वा साधु मन्येत, तत् क्षौद्रेण संसृज्य कृमिकोष्ठाय लेढुं यच्छेत्।' (च. चि. ७)

'युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद् गोश्वशकृद्रसम्।' (च. चि. ४)

'सक्षौद्रं ग्रथितं रक्ते लिह्यात् पारावतं शकृत्।' (च. चि. ४)

'गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम्। सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम्॥' (च. चि. १०)

'खराश्वोष्ट्रवराहाणां मेषस्य च गजस्य च। शकृद्रसं बहुकफे चैकैकं मधुना पिबेत्॥' (च. चि. १७)

'कपोतगृध्रकंकाणां पुरीषाणि च दारणम्।' (सु. सू. ३७)

'गोश्वाव्यजेभैणखरोष्ट्रजातः शकृद्रसक्षीररसक्ततोयैः।
द्राक्षाश्वगन्धामगधासिताभिः सिद्धं घृतं यक्ष्मविकारहारि॥ (सु. उ. ४१)

'अजाशकृन्मूत्रपयोघृतासृग्मांसालयानि प्रतिसेवमानः।
स्नानादिनानाविधिना जहाति मासादशेषं नियमेन शोषम्॥' (सु. उ. ४१)

(च) अङ्ग-प्रत्यङ्ग

१८. मुष्क

परिचय

नाम—सं०-मुष्क, वृषण, अण्ड; हि०-आँड़; अं०-टेस्टिकल (Testicle)।

स्वरूप—वृषणों का बहिःस्राव शुक्र होता है तथा एक अन्तःस्राव होता है जिससे मूँछ, दाढ़ी आदि पुंस्त्व के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

गुण-कर्म

वृषण के सेवन से शुक्र की वृद्धि होती है तथा पुंस्त्वव्यञ्जक चिह्नों के उद्गम में सहायता मिलती है। शुक्रदौर्बल्य तथा क्लैब्य में वृषणों का सेवन कराते हैं। विशेषतः बकरे, भेड़, वृषभ, वानर तथा विडाल के वृषण का प्रयोग होता है।

मात्रा—चूर्ण-३-६ रत्ती।

× × × ×

'पिप्पली लवणोपेतं बस्ताण्डं क्षीरसर्पिषा। साधितं भक्षयेद् यस्तु स गच्छेत् प्रमदाशतम्॥' (सु. चि. २६)

'घृतं माषान् सवस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे। भर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि॥
ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः। एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः॥' (च. चि. २)

१९. जुन्दबेदस्तर

परिचय

नाम—सं०-गन्धमार्जार; हि०-गन्धबिलाव; अ०-जुंद, जुंदबेदस्तर; फा०-गुन्द-बेदस्तर; लै०-कैस्टोरियम (Castorium); अं०-बीवर (Beaver)।

स्वरूप—यह खरगोश की जाति के कैस्टर फाइबर या बीवर (Castor fiberor Beaver) नामक प्राणी के त्वचारहित वृषण हैं। ये २-३ इञ्च लम्बे, गहरे भूरे रंग या श्यामवर्ण होते हैं तथा इनसे कस्तूरी की सी गन्ध आती है। यह ईथर और मद्य में विलेय है।

जाति—वर्णभेद से तीन प्रकार का है—(१) पीत (२) रक्त और (३) कृष्ण। पीत सर्वोत्तम तथा कृष्ण निकृष्ट है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल (जिसमें कार्बोलिक अम्ल होता है), राल १५-५८% तथा कैस्टोरिन (Castorine), कोलेष्टरीन, सैलिसीन आदि सत्व पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातप्रशमन है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उत्तेजक, शोथहर, वेदनास्थापन, शीतप्रशमन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य, आक्षेपहर तथा वातशामक है।
श्वसनसंस्थान—कासहर एवं श्वासहर है।
प्रजननसंस्थान—वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—शीतप्रशमन और उष्णताजनन है।
सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों में, पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों तथा कफज शिरोरोगों में इसका लेप करते हैं। ध्वजभंग में इसका पतला लेप शिश्न पर करते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, आक्षेपक, अपस्मार, अपतन्त्रक, पक्षाघात आदि रोगों में प्रयुक्त होता है।
श्वसनसंस्थान—कास, कुकुरखांसी और श्वास में लाभकर है।
प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा रजोरोध में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—शैत्य और अवसाद में दिया जाता है।

सात्मीकरण—अहिफेन विष और वृश्चिक विष में उपयोगी है।

मात्रा—२-५ रत्ती।

अहित प्रभाव—अधिक मात्रा में लेने पर व्यग्रता, मुखशोष, भ्रम, रक्तपित्त, विस्फोट आदि पित्तप्रधान उपद्रव होते हैं।

निवारण—पुदीना, श्लेष्मातक और सोये का काढ़ा मधु मिलाकर पिलावे। वमन होने के बाद अम्ल फल, आसव-अरिष्ट या गर्दभदुग्ध पिलावे।

× × × ×

२०. गन्धमार्जारवीर्य

परिचय

नाम—सं०-गन्धमार्जारवीर्य; मलाबार-पुनुगु; अ०-जबाद; अं०-सिवेट (Civet)।

स्वरूप—यह गन्धमार्जार (मुश्कबिल्ली) का शुक्र है। यह पीताभ श्वेत, मृदु, स्निग्ध और मधु के सदृश गाढ़ा होता है।

परीक्षा विधि—सुतली के सिरे पर लगाकर आग के पास रखने पर यदि पिघल जाय तो कृत्रिम और चिपका रहे तो असली समझना चाहिए।

रासायनिक संघटन—इसमें अमोनिया, वसा, राल तथा उड़नशील तैल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, व्रणपाचन, दुर्गन्धनाशन, कण्डूघ्न एवं उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह इन्द्रियबलप्रद, सौमनस्यजनन और उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन और शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है। गर्भाशयोत्तेजक भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका मर्दन करते हैं। व्रण, कण्डू तथा अन्य चर्मरोगों में लगाते हैं। बाधिर्य में इसे बादाम के तेल में घोंट कर कान में डालते हैं। प्रतिश्याय, शिरःशूल, हृद्द्रव तथा श्वास में इसका नस्य देते हैं। कामोत्तेजना के लिए शिश्न पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद, मूर्च्छा में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—उदावर्त्त, उदरशूल में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा कष्टप्रसव में दिया जाता है।

मात्रा—१-२ माशे।

× × × ×

२१. कस्तूरी

परिचय

नाम—सं०-कस्तूरी, मृगनाभि, मृगमद, सहस्रभित्; हि०-कस्तूरी; अ०-मिस्क; फा०-मुश्क; अं०-मस्क (Musk)।

स्वरूप—नरकस्तूरा मृग (Fam-Ruminantia; Moschus Moschiferus) की नाभि के पास एक अंडाकार कोश होता है। इसके ऊपर सफेद बाल रहते हैं और बीच में एक छिद्र होता है। इस कोश के भीतर एक कृष्णवर्ण या रक्ताभ कृष्ण, दानेदार, उग्रगंधि पदार्थ भरा रहता है। यही कस्तूरी है। १-२ वर्ष की आयु तक कस्तूरी श्वेत तरल के रूप में होती है किन्तु क्रमशः वह कृष्णाभ और ठोस हो जाती है।

जाति—भावमिश्र ने वर्ण और उत्पत्तिस्थान के भेद से तीन प्रकार की कस्तूरी बतलाई है:—(१) कामरूपीय, (२) नैपाली और (३) काश्मीरी। कामरूपीय कस्तूरी कृष्णवर्ण और सर्वश्रेष्ठ होती है। नैपाली नीलवर्ण और मध्यम होती है। काश्मीरी कस्तूरी कपिलवर्ण और निकृष्ट मानी गई है।

उत्पत्तिस्थान—रूस, चीन, मध्य एशिया, तिब्बत, नेपाल, भूटान, आसाम, काश्मीर आदि हिमालयप्रदेश में ७-८ हजार फीट की ऊँचाई पर घने जङ्गलों में कस्तूरा मृग मिलता है। उसे मार कर नाभ्यंड से कस्तूरी प्राप्त की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें अमोनिया, ओलीन, कोलेस्टरीन, वसा, मोम, जिलेटिनयुक्त द्रव्य, अल्ब्युमिनयुक्त पदार्थ तथा भस्म होती है। भस्म में पोटाशियम, सोडियम और कैल्शियम क्लोराइड होते हैं। तिर्यक् पातन से इसके द्वारा एक गाढ़ा, वर्णरहित तैल प्राप्त होता है जिसे मस्कोन (Muskone) कहते हैं।

परीक्षा—जो कस्तूरी पिङ्गलाभ कृष्ण, सुगन्धि, जल में अविलेय हो तथा आग में रखने पर पूरा नहीं जले बल्कि उससे चमड़े की गन्ध आवे वह उत्तम मानी जाती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—तिक्त, कटु।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—दुर्गन्धनाशन और शीतप्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य, मस्तिष्कबल्य, आक्षेपहर तथा वातशामक है।

पाचनसंस्थान—दीपन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में प्रयुक्त होती है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दुर्गन्ध, शैत्य और अवसाद में प्रयुक्त होती है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद, अपस्मार, अपतन्त्रक, संन्यास, पक्षाघात तथा अन्य वातिकविकारों में अतीव लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य और शूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास, कुकुरखाँसी, श्वास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—सन्निपात ज्वर में इसका प्रयोग अत्यन्त प्रसिद्ध है। इससे ज्वर शान्त होता है तथा मस्तिष्क और हृदय सुरक्षित रहते हैं।

सात्मीकरण—विषों में दिया जाता है।

मात्रा—½-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—कस्तूरीभैरव, कस्तूरीभूषण, मृगमदासव।

× × × ×

'कामरूपोद्भवा कृष्णा नैपाली नीलवर्णयुक्। काश्मीरे कपिलच्छाया कस्तूरी त्रिविधा स्मृता॥
कामरूपोद्भवा श्रेष्ठा नैपाली मध्यमा भवेत्। काश्मीरदेशसंभूता कस्तूरी हमा स्मृता॥
कस्तूरिका कटुस्तिक्ता क्षारोष्णा शुक्रला गुरुः। कफवातविषच्छर्दिशीतदौर्गन्ध्यशोषहृत्॥'
(भा. प्र.)

'या गन्धं केतकीनां वहति भृशतरं वर्णतः पिंगलाभा।
स्वादे तिक्ता कटूष्णा लघु परितुलिता मर्दिता चिक्कणा स्यात्॥
दग्धा नो याति भस्म चिमचिमीकुरुते चर्मगन्धा हुताशे,
सा शुद्धा शोभनीया वरमृगतनुजा राजयोग्या प्रदिष्टा॥'

'करतलजलमध्ये स्थापनीया महद्भिः पुनरपि तदवश्यं चिन्तनीयं मुहूर्त्तम्॥
यदि भवति च रक्तं तज्जलं पीतवर्णं न भवति मृगनाभिः कृत्रिमोऽयं विकारः॥ (कै. नि.)

२२. यकृत्

परिचय

नाम—सं०-यकृत्; अ०-कबिद; फा०-ज़िगर; अं०-लिवर (Liver)।

स्वरूप—यकृत् प्राणिशरीर का एक प्रमुख अंग है। आहार के पाचन, शर्करा के सात्मीकरण तथा रक्तनिर्माण में यह महत्त्वपूर्ण योग देता है।

गुणकर्म

यह यकृत् की क्रियाओं को उत्तेजित करता है। अतः यकृत् की क्रिया मन्द पड़ने से जो विकार ग्रहणी, पाण्डु आदि होते हैं उनमें प्राणियों के यकृत् का सेवन कराया जाता है। शंखिया और बिस्मथ के विषाक्त प्रभावों को दूर करने के लिए भी प्रयुक्त होता है। रक्तस्तम्भन होने से रक्तपित्त और रक्तार्श में लाभकर है। यकृद्दाल्युदर तथा

जलोदर में भी प्रतिदिन पावभर ताजा यकृत् खिलाने का विधान है। विशेषतः अजा के यकृत् का प्रयोग होता है। नक्तान्ध्य में गोधा तथा अजा के यकृत् का अञ्जन करते हैं।

मात्रा—चूर्ण-२-६ रत्ती; तरलसार-½-१ तोला।

विशिष्ट योग—यकृच्चूर्ण, यकृत्सत्वपानक (Extractus hepatis Liqidum)।

× × × ×

'अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्। यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् ॥' (सु. उ. ४५)

'हरेणुमगधाजास्थिमज्जैलाकृदन्वितम्। शकृद्रसेनाञ्जनं वा श्लेष्मोपहतदृष्टये ॥'
विपाच्य गोधायकृदर्धपाटितं सुपूरितं मागधिकाभिरग्निना।
निषेवितं तद्यकृदञ्जनेन निहन्ति नक्तान्ध्यमसंशयं खलु ॥
तथा यकृच्छागभवं हुताशने विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम्।
प्रयोजितं पूर्ववदाश्वसंशयं जयेत् क्षपान्ध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम् ॥ (सु. उ. १७)
'सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेभ्यः प्रधाना भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्तिनस्तानाददीत। (सु. सू. ४६)

२३. प्लीहा

नाम—सं०-प्लीहा; अ०-तिल्ली; अं०-स्प्लीन (Spleen)।

प्लीहा का प्रयोग नक्तान्ध में करते हैं। यह भी यकृत् के समान रक्तनिर्माण का कार्य करता है। श्वेतकणों का निर्माण होने से यह शरीर को रोगों से बचाता भी है। अतः पाण्डु, क्षय, सन्निपातज्वर, विषमज्वर आदि में प्रयुक्त होता है। खटिक के सात्मीकरण में सहायक होने से यह यक्ष्मा में दिया जाता है। रक्तस्तम्भन होने से रक्तप्रदर में लाभकर है।

मात्रा—चूर्ण २-५ रत्ती; तरलसत्त्व ३-६ माशे।

विशिष्ट योग—प्लीहा, प्लीहा चूर्ण (Desiccated Spleen), प्लीहा सत्त्वपानक (Syrup haemolin)।

× × × ×

'प्लीहा यकृच्चाप्युपभक्षिते उभे प्रकल्प्य शूल्ये घृततैलसंयुते।
ते सार्षपस्नेहसमायुतेऽञ्जनं नक्तान्ध्यमाश्वेव हतः प्रयोजिते ॥' (सु. उ. १७)

२४. आमाशय

परिचय

यह प्राणियों के पाचनसंस्थान का प्रमुख अंग है।

नाम—सं०-आमाशय; अं०-स्टमक (Stomach)।

गुणकर्म

इससे मुख्यतः मांसतत्त्व का पाचन होता है तथा रक्तनिर्माण में सहायता मिलती है। इससे एक ऐसा स्राव निकलता है जो अस्थि की लालमज्जा पर क्रिया कर रक्तकणों का निर्माण उचितरूप से करने में सहायक होता है। इसके अभाव में पाण्डुरोग हो जाता है। अतः घातक पाण्डु, ग्रहणी तथा गर्भावस्था की रक्ताल्पता आदि में इसका प्रयोग होता है।

मात्रा—½-१ तो० चूर्ण।

विशिष्ट योग—आमाशय चूर्ण (Desiccated Stomach)।

२५. अग्न्याशय

परिचय

नाम—सं०-अग्न्याशय; अं०-पेंक्रियाज (Pancreas)।

स्वरूप—यह भी पाचनसंस्थान का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इससे एक बहिःस्राव निकलता है जो पित्त के साथ मिलकर आहार के पाचन में योग देता है तथा दूसरा अन्तःस्राव होता है जो यकृत् द्वारा निर्मित शर्करा की मात्रा को नियमित रखता है। इस अन्तःस्राव का नाम इन्सुलीन (Insulin) है।

गुणकर्म

यह दीपन, पाचन और मधुरकशमन होने से पाचनसंबन्धी विकारों यथा ग्रहणी, अतिसार, अग्निमांद्य आदि में तथा इक्षुमेह में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—चूर्ण-२-५ रत्ती, द्रवसत्त्व-२-६ माशे।

विशिष्ट योग—अग्न्याशयचूर्ण (Pancreatin), अग्न्याशय-तरलसत्त्व (Liguor Pancreatis)।

× × × ×

२६. निःस्रोत या अन्तःस्रवा ग्रन्थियाँ

(Ductless or Endocrine glands)

शरीर में कुछ ग्रंथियाँ ऐसी भी हैं जिनका स्राव बाहर प्रत्यक्ष न होकर भीतर ही भीतर रक्त में मिलकर शरीर के अंगों पर कार्य करता है। इन्हें निःस्रोत ग्रंथियाँ कहते हैं। अवटु, उपावटु, पोषणक, बालग्रैवेयक तथा अधिवृक्क ग्रंथियाँ ऐसी ही हैं। ये विशेषतः सात्मीकरण क्रियाओं से संबन्ध रखती हैं और शरीर के विकास में विभिन्न रूप से सहायक होती हैं। आधुनिक चिकित्सा में इन ग्रंथियों का अत्यधिक महत्त्व है और विभिन्न रोगों में इनका प्रयोग किया जाता है। यहाँ संक्षेप में इनके प्रयोग बतलाये जा रहे हैं:—

(क) अवटु ग्रन्थि (Thyroid gland)

परिचय

यह ग्रंथि अवटुतरुणास्थि के भीतर ग्रीवा में रहती है।

स्वरूप—इसका चूर्ण पीताभ श्वेतवर्ण होता है। इसकी गन्ध और स्वाद मांस के समान होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें आयोडिन का अंश अधिक होता है। मनुष्य की ग्रंथि में सामान्यतः १० मिलीग्राम आयोडिन होता है।

गुणकर्म

नाडीसंस्थान—यह नाड़ीसंस्थान को उत्तेजित करता है, फलतः इसके अति प्रयोग से कम्प, व्यग्रता, अनिद्रा आदि उपद्रव होते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्नि तथा पाचनशक्ति को बढ़ाता है। अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—अधिक काल तक प्रयोग करने से नाडी की तीव्रता, हृद्द्रव, हृत्स्पन्दन की दुर्बलता आदि लक्षण होते हैं। रक्तभार कम हो जाता है तथा श्वेतकणों की संख्या बढ़ती है। शोथहर तथा रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशय को शक्ति प्रदान करता है तथा स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—त्वग्दोषहर तथा केश्य है।

तापक्रम—यह तापक्रम को बढ़ाता है।

सात्मीकरण—यह मांसतत्त्व, स्नेह तथा शाकतत्व के सात्मीकरण की प्रक्रिया को उत्तेजित करता है। विशेषतः इससे मांसतत्त्व का उत्सर्ग अधिक होता है और शरीर की स्थूलता और भार कम होता है। यह अस्थिसन्धानीय भी है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग मुख्यतः मूत्र द्वारा होता है।

प्रयोग

अवटु ग्रन्थि का प्रयोग उसके क्षयजन्य विकारों श्लैष्मिकशोथ (Myxoedema), अस्थिवक्रता (Cretinism) आदि में करते हैं।

नाड़ीसंस्थान—सहज मूढता, रजःक्षयज मनोविभ्रम तथा शिरःशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—पाचनसम्बन्धी विकार तथा जीर्णविबन्ध में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृच्छूल, सन्धिवात, विविध रक्तविकार, गलगण्ड तथा शोथ में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—आसन्न गर्भस्राव में तथा स्तन्यवृद्ध्यर्थ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बालकों के शय्यामूत्र में उपयोगी है।

त्वचा—विचर्चिका, पामा, खालित्य आदि में लाभकर है।

सात्मीकरण—क्षय तथा बच्चों में विकास समुचित न होने पर इसका प्रयोग करते हैं। मेदोरोग में भी देते हैं। अस्थिभग्न में इससे लाभ होता है।

मात्रा—¼-२ रत्ती (चूर्ण), (अधिक से अधिक ३ रत्ती प्रतिदिन)।

विशिष्ट योग—अवटु चूर्ण (Desiccated Thyroid gland), तरलसत्त्व (Liquor Thyroid)-५-१५ बूँद।

तीव्र विषाक्त लक्षण—इसके अतियोग से तीव्र नाड़ी, ज्वर, शिरःशूल, मूर्च्छा, अतिसार, व्यग्रता, वेदना, कण्डू और कभी कभी प्रलाप ये लक्षण होते हैं।

जीर्ण विषाक्त लक्षण—शरीर भार की कमी, पेशीक्षय, केशपतन, नेत्रविस्फार और अन्त में क्षय से मृत्यु हो जाती है।

(ख) उपावटु ग्रन्थि (Parathyroid glands)

परिचय

ये संख्या में चार और अवटुग्रन्थि में संलग्न रहती हैं। इनका कार्य शरीर में खटिक का सात्मीकरण, शारीर विषों का निराकरण तथा मूत्र में स्फुरक के उत्सर्ग को बढ़ाना है। खटिक के समुचित सात्मीकरण से नाडीसंस्थान पर शामक प्रभाव होता है। इस ग्रन्थि के निकाल देने पर नाडीसंस्थान की उत्तेजनीयता बढ़ जाती है और कम्पवात (Tetany) नामक रोग हो जाता है।

गुणकर्म

नाडीसंस्थान—यह आक्षेपशामक है।

पाचनसंस्थान—यह उदरस्थ अङ्गों में रक्तसंचहन बढ़ाता है तथा आमाशय, अन्त्र की गति को भी बढ़ा देता है।

रक्तवहसंस्थान—नाडी की गति कम होती है। रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

सात्मीकरण—खटिक के सात्मीकरण में सहायता देता है।

प्रयोग

नाडीसंस्थान—कम्पवात, आक्षेपक, अपतन्त्रक आदि आक्षेपप्रधान वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—आमाशयिक तथा ग्रहणी के व्रणों में इसका प्रयोग लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—रक्त में खटिक की कमी होने से इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—चूर्ण-$\frac{१}{४०}$-$\frac{१}{२०}$ रत्ती।

विशिष्ट योग—उपावटु चूर्ण (Desiccated Parathyroid gland)।

× × × ×

(ग) बालग्रैवेयक (Isthmus)

परिचय

गुणकर्म और प्रयोग

इसका प्रयोग बच्चों के पोषण संबन्धी विकारों में करते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती (वटी के रूप में)।

(घ) पोषणक ग्रन्थि (Pituitary gland)

यह ग्रंथि मस्तिष्क के तलदेश में स्थित है। इसके तीन भाग हैं—(१) अग्रिम पिण्ड (Anterior lobe) (२) मध्य पिंड (Pars intermedia) तथा (३) पश्चिम पिण्ड (Posterior lobe)।

१. पश्चिम पिण्ड

रासायनिक संघटन—इसमें मुख्यतः दो तत्त्व होते हैं:—१. ऑक्सिटॉसिन (Oxytocin) या पिटॉसिन (Pitocin)-यह गर्भाशय संकोचक है। २. वेजोप्रेसिन (Vasopressin) या पिट्रेसिन (Pitressin)-यह रक्तभार को बढ़ाता है। इसके अन्तःस्राव का नाम 'पिट्वीटरीन' (Pituitarin) है।

संस्थानिक कर्म

पाचनसंस्थान—यह लाला, आमाशयिक, अग्न्याशयिक तथा आंत्रिक स्रावों को कम करता है। अन्त्र की परिसरणगति को भी बढ़ाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तभार को बढ़ाता है तथा हृदय को मन्द करता है।

प्रजननसंस्थान—यह तीव्र गर्भाशयसंकोचक है। इसकी क्रिया अर्गट की अपेक्षा शीघ्र किन्तु कम समय तक रहने वाली होती है। लगभग २½ मिनट में इसकी क्रिया प्रारंभ होती है और १ घंटे से कम रहती है। गर्भाशय की पेशियों को संकुचित करने से यह क्रिया होती है। यह स्तन्यजनन भी है। स्तन्य का परिमाण इससे नहीं बढ़ता किन्तु स्तन्यग्रन्थियों के संकोच से स्तन्य के निस्सरण में सहायता मिलती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह पहले मूत्र को बढ़ाता है किन्तु शीघ्र ही मूत्र का परिमाण कम हो जाता है जो चिरस्थायी होता है। यह मूत्र में क्लोराइड का उत्सर्ग बढ़ाता है।

शोषण—त्वचा से इसका शोषण नहीं होता। मुख के द्वारा देने पर भी यह आमाशयिक पाचक रसों द्वारा नष्ट हो जाता है। गुदा द्वारा तथा नस्य द्वारा देने से इसका प्रभाव स्पष्ट होता है।

प्रयोग

पाचनसंस्थान—आध्मान, आन्त्रिक पक्षाघात, आमाशयिक व्रण तथा अम्लपित्त में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तभारवर्धक होने के कारण यह स्तब्धता (Shock) के प्रतिषेध और निवारण में विशेषतः शल्यकर्म में संज्ञानाश के समय प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह कष्टप्रसव में गर्भाशय के संकोच को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त होता है। प्रसवोत्तर रक्तस्राव में भी दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—बहुमूत्र में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में देते हैं। इसके अतिरिक्त, बहिर्नेत्रिक (Exophthalmic goitre) दानवास्थि (Gigantism) आदि रोगों में भी प्रयुक्त होता है।

मात्रा—२-५ युनिट (सत्त्व); चूर्ण-½-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—पोषणकसत्त्व (Pittiuary autract) चूर्ण (Desiccatt Piexitedry)।

२. अग्रिमपिण्ड (Anteior lobe)

इसमें दो प्रकार के कोषाणु होते हैं। एक प्रकार के कोषाणुओं (Chromophobe Cells) से लिङ्गव्यञ्जक लक्षणों (मूँछ, दाढ़ी आदि) के विकसित होने में सहायता मिलती है और दूसरे प्रकार के कोषाणुओं (Chromophyl Cells) से शरीरवर्धक स्राव तथा यौन क्रियाओं के उत्तेजक स्राव निकलते हैं। अवटु, उपावटु तथा अधिवृक्क ग्रन्थियों को भी इससे उत्तेजन मिलती है।

प्रयोग

प्रजननसंस्थान—वन्ध्यात्व, मौन लक्षणों का समय पर तथा उचित विकास न होना, रजोरोध, कष्टार्तव आदि लक्षणों में अग्रिम पिण्ड के यौनस्राव (जो ऐनट्वीट्रीन-Antuitrin के नाम से मिलता है) का प्रयोग करते हैं। अधिक मात्रा में यह रक्तप्रदर, आसन्न गर्भस्राव तथा रजःक्षयज प्रदर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग, शिथिलता, दौर्बल्य तथा क्लैब्य में यह प्रयुक्त होता है।

मात्रा—शुक्रग्रन्थि (चूर्ण)-½-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—चूर्ण, सत्त्व।

(च) अधिवृक्क ग्रन्थि (Suprarenal or Adrenal gland)

परिचय

यह वृक्कों के ऊपर रहने वाली ग्रन्थि है। इसके दो भाग होते हैं। बहिर्भाग से एक अन्तःस्राव निकलता है जो यौन तथा मानसिक विकास में योग देता है। अंतःभाग से जो स्राव निकलता है उसका नाम अद्रिनिलीन (Adrenaline) है। इसका स्वतन्त्र नाडीमण्डल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह साम्वेदनिक नाडीमण्डल को उत्तेजित करता है। फलतः समस्त शरीर पर कुछ न कुछ कार्य करता है।

१. अन्तःभाग

गुणकर्म

बाह्य—यह रक्तरोधक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह लालास्राव को बढ़ाता है, आमाशय और अन्त्र की परिसरणगति को बढ़ाता है किन्तु बृहदन्त्र एवं गुदा की संकोचक पेशियों को संकुचित करता है। यकृत् की शर्कराजनन क्रिया असंतुलित हो जाने से रक्त तथा धातु में शर्करा की मात्रा अधिक हो जाती है और मूत्र में भी उसका निर्गम होने लगता है।

रक्तवहसंस्थान—हृदय पहले तीव्र, फिर मन्द और अन्त में पुनः तीव्र हो जाता है। सूक्ष्मधमनियों के संकोच से रक्तभार बढ़ जाता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासनलिकीय पेशियों को प्रसारित करने के कारण श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय को संकुचित करता है तथा गर्भाशयगत रक्तवह स्रोतों को भी संकुचित करता है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्कगत रक्तवाहिनियों के संकुचित होने से पहले तो मूत्र कम होता है किन्तु बाद में रक्तभार बढ़ने तथा रक्तवाहिनियों के पुनः प्रसारित होने के कारण मूत्र अधिक आने लगता है तथा उसमें शर्करा भी आती है।

सात्मीकरण—यह शरीर की सात्मीकरणक्रिया को २० प्रतिशत बढ़ा देता है।

नेत्र—नेत्र में इसका द्रव डालने से नेत्रगोलक बाहर की ओर निकल आते हैं। कनीनिका भी विस्फारित हो जाती है।

विषाक्त लक्षण—हृदयप्रसार, शोथ, हृद्द्रव, श्वासकष्ट, रक्तभाराधिक्य, कम्प, हृल्लास, वमन, भ्रम तथा अवसाद ये लक्षण होते हैं।

प्रयोग

बाह्य—यह विविध रक्तस्राव को रोकने के लिए दिया जाता है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह हृदयावसाद तथा स्तब्धता को दूर करने के लिए विसूचिका आदि में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का और श्वास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह रक्तप्रदर में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इन्सुलीन के प्रयोग से उत्पन्न शर्करात्पता में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोगविधि—यह मुख के द्वारा तथा अधस्त्वक् या अन्तःसिरीय निक्षेप से दिया जाता है। आकस्मिक हृदयावरोध में अन्तर्हार्दिक भी देते हैं।

प्रयोगनिषेध—यह धमनीकाठिन्य, फुफ्फुसीय या मस्तिष्कगत रक्तस्राव तथा फुफ्फुसीय शोथ में नहीं देना चाहिए।

मात्रा—चूर्ण-¼-१½ रत्ती; सत्त्व (Adrenaline) १०-२० बूंद।

विशिष्ट योग—चूर्ण (Desiccated Suprarenal gland), सत्त्व (Extract)।

× × × ×

२. बहिर्भाग

गुणकर्म

जीवन की सात्मीकरण-क्रियाओं को सन्तुलित रखना इसका प्रधान कर्म है। इसके हटा देने पर शिथिलता, क्षय, रक्तभार में कमी, त्वचा में नीलिका, वमन तथा अन्त में मृत्यु हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, इसके अभाव में शरीर की सात्मीकरण-क्रिया २५ प्रतिशत कम हो जाती है।

वहिर्भाग का सम्बन्ध यौनग्रन्थियों से भी है। इसकी वृद्धि से स्त्रीप्रजननग्रन्थियों, स्तन्यग्रन्थियों का विकास रुक जाता है।

प्रयोग

इसका प्रयोग ऐडिसन के रोग (Addison's disease) में होता है। इसके अतिरिक्त, नाडीदौर्बल्य, रक्तभाराल्पता, रक्तगतशर्करा का क्षय तथा ताप को कमी को दूर करने के लिए देते हैं।

(६) बीजकोश (Ovary)

बीजकोश शरीर में अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है। इसके तीन प्रमुख अन्तःस्राव होते हैं:—१. ईस्ट्रीन (Oestrin), २. प्रोजेस्टिन (Progestin)-यह बीजकोशस्थ पीतबिन्दु का अन्तःस्राव है। ३. आभ्यन्तरिक स्राव (Interstitial hormone)-यह पोषणक ग्रंथि के पश्चिम पिंड के स्राव को उत्तेजित करता है।

१. ईस्ट्रीन (बीजकोशज स्राव)

परिचय

यह बीजकोश, पीतबिन्दु, अपरा, जरायु, गर्भोदक तथा गर्भिणी स्त्रियों के मूत्र में उपस्थित होता है।

गुणकर्म

यह स्त्रियों के यौनलक्षणों के विकास में योग देता है। इसके कारण मासिक आर्त्तव-स्राव नियमित रूप से होता है तथा गर्भाधान होनेपर गर्भ का पोषण और स्थैर्य होता है।

प्रयोग

इसका प्रयोग रजोरोध, अनियमित आर्त्तव, रजःक्षयज उपद्रव, गर्भिणीवमन, वन्ध्यात्व

तथा यौनलक्षणों के पूर्ण विकास न होने पर किया जाता है। मुख, सूचीवेध तथा योनिवर्त्ति के द्वारा इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—बीजकोशचूर्ण ½–५ रत्ती।

विशिष्ट योग—बीजकोशचूर्ण (Desiccated ovary)।

२. प्रोजेस्टिन (पीतबिन्दुज स्राव)

कर्म

इसका कर्म ईस्ट्रिन के विपरीत है। यह गर्भाशय के संकोच को रोकता है, बीजाणुओं को स्थिर करने में योग देता है तथा गर्भावस्था में स्तन्यग्रन्थियों की वृद्धि में सहायक होता है।

प्रयोग

गर्भस्राव, काकवन्ध्या आदि व्यापदों में इसका प्रयोग होता है।

मात्रा—½–५ रत्ती।

विशिष्ट योग—चूर्ण।

(ज) स्तन्यग्रन्थि (Mammary glands)

प्रयोग

यह रक्तप्रदर, रजःक्षयज रक्तस्राव तथा स्तन्याल्पता में प्रयुक्त होती है।

मात्रा—१–२½ रत्ती।

विशिष्ट योग—चूर्ण।

(झ) अपरा (Placenta)

इसका प्रयोग प्रोजेस्टिन के समान तथा स्तन्यवृद्ध्यर्थ करते हैं।

(ट) पौरुषग्रन्थि (Prostate-glands)

यह नाडीदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—१–२ रत्ती।

विशिष्ट योग—चूर्ण।

२७. मस्तिष्क और सुषुम्ना (Brain & Spinal Cord)

बाह्य या आभ्यन्तरिक रक्तस्राव, मस्तिष्कदौर्बल्य, अपस्मार तथा वातव्याधि में इनके तरलसत्व का प्रयोग करते हैं। सूचीवेध द्वारा भी दिया जाता है।

मात्रा—३–६ माशे।

२८. दन्त (Teeth)

कर्म

यह लेखन है और विशेषतः इसका बाह्य प्रयोग होता है।

प्रयोग

गोदन्त अग्निकर्म के उपकरण में आता है। कुत्ता, गौ, अश्व, वराह, उष्ट्र के दांतों का लेप कुष्ठ में करते हैं। शूकर की दंष्ट्रा का लेप नीलिका में उपयोगी है। हस्तिदन्त की भस्म रोमसंजनन है। गोदन्तमसी लेख्याञ्जन के रूप में पित्त और कफ से विदग्ध दृष्टि में प्रयुक्त होता है।

'हस्तिदन्तमसीं कृत्वा मुख्यं चैव रसांजनम् । रोमाण्येतेन जायन्ते लेपात् पाणितलेष्वपि ॥'
(सु. चि. १)

'एडगजः सविडंगो मूलान्यारग्वधस्य कुष्ठानाम् ।
उद्दालनं श्वदन्ता गोश्ववराहोष्ट्रदन्ताश्च ॥' (च. चि. ७)

'लोहचूर्णानि सर्वाणि धातवो लवणानि च । रत्नानि दन्ताः श्रृंगाणि गणश्चाप्यवसादनः ॥'
(च. उ. १२)

'गैरिकं सैन्धवं कृष्णा गोदन्तस्य मसी तथा । चत्वार एते योगाः स्युरुभयोरञ्जने हिताः ॥'
(सु. उ. १७)

२९. नख

गुणकर्म

प्राणियों का नख लेखन और विषघ्न है ।

प्रयोग

उन्माद में उलूक, मार्जार, श्रृगाल तथा बस्त के नख का सेक, अञ्जन, धूप और नस्य विहित है । अपस्मार में हस्तिनख की भस्म का नस्य देते हैं तथा कुक्कुरनख का प्रदेह और धूपन करते हैं । स्कन्दापस्मार में हस्तिनख का धूपन उपयोगी है । व्याघ्र का नख तण्डुलोदक से पीसकर समस्त विषों में देते हैं ।

× × × ×

'शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकबस्तजैः ।''''''नखैश्चर्मभिरेव च ॥
सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् ।' (च. चि. ९)

'शुनः स्कन्धास्थिनखरान् पर्शुकांश्चेति पेषयेत् । बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात् सधूपनः ॥
(च. चि. १०)

'शार्दूलस्य नखश्चैव सुपिष्टं तण्डुलाम्बुना । हन्ति सर्वविषाण्येव वज्रिवज्रमिवासुरान् ॥
(च. चि. २३)

३०. खुर

गुणकर्म-प्रयोग

ग्राम्य-आनूप पशुओं के खुर की भस्म का लेप व्रणों में पाण्डुकरणार्थ करते हैं । खुर की भस्म श्वास और हिक्का में भी देते हैं । रोमसंजनन के लिए भी प्रयुक्त होता है ।

× × × ×

'एकद्विशफश्रृंगाणि चर्मास्थीनि खुरांस्तथा । सर्वाण्येकैकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम् ॥
चूर्णं लिहन् जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम् । (च. चि. १७)

'ग्राम्यानूपशफान् दग्धान् सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् । तैलेनानेन संसृष्टं शुक्लसालेपयेद् व्रणम् ॥'
(सु. चि. १)

३१. श्रृङ्ग

गुणकर्म-प्रयोग

पशुओं के श्रृङ्ग की भस्म, कास, श्वास और हिक्का में मधु घृत के साथ देते हैं । हिक्का, श्वास में धूम्रपान भी करते हैं । मृगश्रृङ्ग को घिस कर फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल तथा अन्य शोथवेदनायुक्त विकारों में लगाते हैं । इसका आभ्यन्तर प्रयोग भस्म के रूप

में हृदयशूल, ग्रन्थिशोथ, वातव्याधि, कास, श्वास, क्षय तथा पिष्टमेह में किया जाता है। लेख्याञ्जन के रूप में इसका नेत्र में भी प्रयोग होता है। रोगसञ्जनन के लिए भी प्रयुक्त होता है।

मात्रा—मृगश्रृङ्गभस्म २-८ रत्ती (मधु या घी के साथ)।

× × × ×

'एकद्विशफश्रृंगाणि········। सर्वाण्येकैकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम् ॥
चूर्णं लिहन् जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम्।' (च. चि. १७)
'युञ्ज्याद्धूमं शालनिर्यासजातं नैपालं वा गोविषाणोद्भवं वा।' (सु. उ. ५०)

३२. स्नायु

गुणकर्म-प्रयोग

गौ आदि पशुओं की स्नायु का धूम्रपान श्वासरोग में करते हैं।

× × × ×

'मधूच्छिष्टं सार्जरसं घृतं मल्लकसंपुटे। कृत्वा धूमं पिबेच्छृगं बालं वा स्नायु वा गवाम्॥'
(च. चि. १७)

३३. चर्म

गुणकर्म-प्रयोग

स्वेदनीय रोगों में सरोम चर्म से उपनाह करते हैं। उन्मादाधिकार के लशुनाद्यघृत में गोचर्ममसी का योग है। उलूक, मार्जार, श्रृगाल आदि के चर्म का सेक, अञ्जन, धूम, नस्य और प्रधमन उन्माद में किया जाता है। विडालचर्म का धूपन अर्श में करते हैं। श्वित्र में सिंह या हाथी का चर्म लेप करते हैं। व्रणों में रोमसञ्जनार्थ भी पशुओं के चर्म का लेप करते हैं। विषमज्वर में बकरी और भेड़ के चर्म का धूपन किया जाता है। पशुओं के चर्म की भस्म श्वासरोग में देते हैं।

× × × ×

'चर्मभिश्चोपनद्धव्यः सलोमभिरपूतिभिः।
उष्णवीर्यैरलाभे तु कौशेयाविकशाटकैः॥' (च. सू. १४)
'शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकबस्तजैः। मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च॥
सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत्।' (च. चि. ९)
'नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च।
अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम्॥ (च. चि. १४)
'एकद्विशफश्रृंगाणि चर्मास्थीनि खुरांस्तथा। सर्वाण्येकैकशो वापि दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम्॥
चूर्णं लिहन् जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम्।' (च. चि. १७)
'चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरश्रृंगास्थिभस्मना।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः॥' (सु. चि. १)
'द्वैपं दग्धं चर्म मातंगजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः।' (सु. चि. ९)
'अजाव्योश्चर्मरोमाणि वचा कुष्ठं पलंकषा। निम्बपत्रं मधुयुतं धूपनं तस्य दापयेत्॥ (सु.उ.३९)

३४. केश-रोम

गुणकर्म-प्रयोग

उलूक, मार्जार, श्रृगाल, बस्त आदि का रोम उन्माद में सेक, अञ्जन, नस्य, धूम और प्रधमन के रूप में व्यवहृत होता है। गोपुच्छलोम तथा बस्तलोम को जलाकर अपस्मार

में नस्य देते हैं। मनुष्य के केशों से अर्श में धूपन करते हैं। गोरोम का धूमपान श्वास में लाभकर है। उष्ट्र, अजा, भेंड़ तथा गौ के रोम का धूपन स्कन्दग्रह में और वृषभरोम तथा नृकेश का धूपन स्कन्दापस्मार में करते हैं। अजा और भेड़ के रोम का धूपन विषमज्वर में किया जाता है। पशुओं के चर्म, रोम, खुर, शृङ्ग और अस्थि की भस्म तैल के साथ रोमसंजननार्थ लगाते हैं। मेष, गौ आदि के रोम की अन्तर्धूम भस्म मधु-घृत के साथ हिक्का में प्रयुक्त होती है। भेंड़ की ऊन का प्रयोग स्वेदन के लिए करते हैं तथा उसकी अन्तर्धूम भस्म कष्टार्त्तव में लाभकर होती है।

× × × ×

'जलौकः शकृता तद्वद् दग्धैर्वा बस्तलोमभिः। खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः॥
कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्।' (च. चि. १०)
उष्ट्राजाविगवां चैव रोमाण्युद्धूपनं शिशोः।' (सु. उ. २८)
'तद्वच्छ्वाविन्मेषगोशल्यकानां रोमाण्यन्तर्धूमदग्धानि चात्र।
मध्वाज्याक्तं बर्हिपत्रप्रसूतमेवं भस्मौडुम्बरं तैल्वकं वा॥
......................'हन्ति लीढ्वाशु हिक्काम्।' (सु. उ. ५०)
'चतुष्पदानां त्वग्रोमखुरशृंगास्थिभस्मना।
तैलाक्ता चूर्णिता भूमिर्भवेद्रोमवती पुनः॥' (सु. चि. १)

(छ) विकार

३५. गोरोचन

परिचय

नाम—सं०-गोरोचना, रोचना; हि०-गोरोचन; अ०-हज़रुल्बकर; फा०-संग-गाब; उ०-गावरोहन।

स्वरूप—यह गाय या बैल के पित्ताशय में संचित पित्त से उत्पन्न अश्मरी है। इसका वर्ण धूसरपीत होता है। कुछ सुगंध भी होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और शोथहर है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और संज्ञाप्रबोधन है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन तथा पित्तसारक है।
रक्तवहसंस्थान—शोथहर है।
प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और अश्मरीनाशन है।
सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—श्वित्र, नीलिमा आदि तथा अर्श में लेप करते हैं। नेत्ररोगों में इसका अञ्जन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—२ माशे गोरोचन अर्क गुलाब में घिसकर प्रतिदिन पिलाने से अपस्मार में लाभ होता है और उसका आक्रमण पुनः नहीं होता।
पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, पाण्डु, कामला तथा जीर्णविबन्ध में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—शोथ और गलगण्ड में प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—रजःकष्ट एवं रजोरोध में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य, बालशोष में दिया जाता है।
मात्रा—२-६ रत्ती।
विशिष्ट योग—बालार्करस।

× × × ×

'कासीसतुत्थे च ततोऽत्र देये चूर्णीकृते रोचनया समेते।' (सु. उ. १९)

३६. फादजहर हैवानो

परिचय

नाम—अ०-फादजहर हैवानी (प्राणिज प्रतिविष); फा०-बादजहर हैवानी; अं०-बेजोर (Bezoar)।

स्वरूप—यह पहाड़ी हरिण, बकरी, नीलगाय, ऊँट आदि पशुओं के आमाशय या अंत्र में होने वाली एक पथरी है। यह गोल या लम्बगोल, धूसर मटमैले रंग का, पर्त्तदार होता है। वजन १ से १५ तोले तक होता है।

प्राप्तिस्थान—यह तैलंगाना, मैसूर, अरब और ईरान में अधिक पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

बाह्य—शोथहर और विषघ्न है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कबल्य है।
पाचनसंस्थान—यकृद्बल्य है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य है।
प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।
तापक्रम—शीतप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

बाह्य—शोथ, प्लेग की ग्रंथि तथा जांगम विषों में इसे लगाते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य में देते हैं।
पाचनसंस्थान—यकृद्विकार में उपयोगी है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में लाभकर है।
प्रजननसंस्थान—क्लैब्य में देते हैं।
तापक्रम—प्लेग और विसूचिका में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य और विषों में देते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अहित प्रभाव—अतिमात्रा में देने से दाह और रक्तपित्त होते हैं।

निवारण—पित्तशामक द्रव्य देना चाहिए।

३७. सीरम और वैक्सीन

आधुनिक चिकित्सा में रोग के जीवाणुओं, उनके विषों तथा उनसे ग्रस्त प्राणी की रक्तलसिका का प्रयोग विशिष्ट रोगों के प्रतिषेध और निराकरण के लिए किया जाता है। यथा मसूरिका, जलसंत्रास आदि वैक्सीन और डिप्थीरिया, टिटेनस आदि का सीरम। इनके विस्तृत विवरण के लिए आधुनिक आकर ग्रन्थों का अवलोकन करें।

तृतीय अध्याय

अण्डज द्रव्य

१. पित्त

अण्डज प्राणियों में मयूर, कच्छप तथा मत्स्य के पित्त का प्रयोग चिकित्सा में अधिक होता है। इनका वर्णन जरायुज प्राणियों के पित्त के प्रकरण में किया गया है, वहीं देखें।

२. धातु

रक्त, मांस आदि धातुओं का भी सामान्य वर्णन प्रसंगतः जरायुज द्रव्यों के साथ कर दिया गया है।

३. मल

मलों में पुरीष का प्रयोग अधिक होता है। इनमें भी कपोत, कक्कुट, पारावत, गृध्र, काक और उलूक के पुरीष का प्रयोग अधिक मिलता है। इनका वर्णन भी जरायुज प्राणियों के मल के प्रकरण में किया गया है।

४. पिच्छ

अण्डज प्राणियों के पिच्छ (वर्ह-पंख) का प्रयोग औषध में होता है। शुकबर्ह का प्रयोग प्रायोगिकी धूमवर्ति में है। गृध्र और काक के पक्ष का धूपन अपस्मार में किया जाता है। मयूरपिच्छ की भस्म हिक्का में लाभकर है। मयूर और कुक्कुट के पंख का धूम वृश्चिकविष में देते हैं।

× × × ×

'नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः। तुण्डैः पत्रैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद् भिषक्॥'
(च. चि. १०)

'शिखिकुक्कुटबर्हाणि सैन्धवं तैलसर्पिषी। धूमं हन्ति प्रयुक्तोऽयं शीघ्रं वृश्चिकजं विषम्॥'
(सु. क. ८)

'मध्वाज्याक्तं बर्हिपत्रप्रसूतमेवं भस्म......।......हन्ति लीढ्वाशु हिक्काम्॥' (सु. उ. ५०)

५. अण्ड

पक्षियों के अंडे आहार और औषध में प्रयुक्त होते हैं। संप्रति विशेषतः कुक्कुटाण्ड का प्रयोग देखा जाता है।

स्वरूप—अण्डा एक प्रकार का आमगर्भ है। इसके तीन भाग होते हैं:—(१) पीत भाग (जर्दी), (२) श्वेतभाग (सफेदी) और (३) कपाल या त्वक् (छिलका)। श्वेतभाग प्रत्येक अंडे में १½ तोले के लगभग होता है। ये तीनों भाग औषध में प्रयुक्त होते हैं।

रासायनिक संघटन—श्वेतभाग (Ovi albumen) में अलब्युमिन १५-१८ प्रतिशत, श्लेष्मा, वसा, शर्करा, सत्वद्रव्य, लेसिथिन और भस्म जिसमें क्षारीय लवण एवं जल ८२-८५% होते हैं। यह अलब्युमिन ईथर से जमता है। पीतभाग (Yolk-ovi vitellus) में जल ५०%, विटेलिन १६%, निरिन्द्रिय लवण १·५%, तैलबिन्दु, वसा ३०%, गंधक तथा फास्फोरस होते हैं। यह ताप तथा मद्यसार से जमता है। कपालभाग (Ovi testa) में कैलशियम कार्बोनेट, फास्फेट, गंधक, लौह, सेन्द्रियद्रव्य १-५% तथा पोटाशियम, मैगनिशिम और कैल्शियम के क्लोराइड, आयोडाइड, सलफेट और फास्फेट होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—पीतभाग उष्ण तथा श्वेतभाग शीत है।
अण्डकपाल रूक्ष तथा शीत होता है।

कर्म

दोषकर्म—अण्डा वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पीतभाग वेदनास्थापन, वातहर; श्वेतभाग दाहप्रशमन तथा कपालभाग व्रणावसादन और लेखन है।

पाचनसंस्थान—कपाल स्तम्भन है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तवर्धक है। कपाल शोथहर और रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—अंडा वृष्य और गर्भपोषक है।

तापक्रम—श्वेतभाग दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अंडे की जर्दी तथा उससे उत्पन्न तैल का पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में मालिश करते हैं। श्वेतभाग को दाह में लगाते हैं। अण्डकपाल का चूर्ण नेत्ररोगों में लेख्याञ्जन के रूप में तथा व्रणों में लेखन के रूप में प्रयुक्त होता है। सुखावती वर्त्ति, दृष्टिप्रदा वर्ति में कुक्कुटाण्ड-कपाल का योग है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अण्डत्वक् की भस्म अतिसार में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में अंडे का प्रयोग करते हैं रक्तपित्त, उरःक्षत में कपालभस्म देते हैं।

श्वसनसंस्थान—अण्डत्वक्भस्म जीर्णकास, श्वास तथा यक्ष्मा में देते हैं। अण्डे का तैल न्यूमोनिया में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—नपुंसकता में तथा गर्भपोषणार्थ अण्डा या उसका तैल देते हैं। श्वेतप्रदर तथा शुक्रमेह में कपालभस्म अतीव उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, इक्षुमेह में त्वक्भस्म प्रयुक्त होती है।

तापक्रम—दाहप्रशमनार्थ श्वेतभाग का प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय में दिया जाता है। बल्य, वृष्य यापनाबस्तियों में अण्डे का प्रयोग है।

मात्रा—त्वक्भस्म-२-४ रत्ती।

× × × ×

'नातिस्निग्धानि वृष्याणि स्वादुपाकरसानि च।
वातघ्नान्यतिशुक्राणि गुरूण्यण्डानि पक्षिणाम्॥' (भा. प्र.)
'धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि।
चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च॥
क्षीणरेतःसु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च।
मधुराण्यविदाहीनि सद्योबलकराणि च॥ (च.सू. २७)
'गर्भस्त्वामगर्भेण।' (च. शा. ६)
'निःस्राव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत्।
हंसबर्हिणदक्षाणां चैवमण्डानि भक्षयेत्॥' (च.चि. २)
'तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम्।
युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च॥
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद् वारुणीमण्डपो नरः।
य इच्छेदश्ववद् गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः॥' (च. चि. २)
'रक्तेऽतिवृत्ते दक्षाण्डं यूषैस्तोयेन ना पिबेत्।
चटकाण्डरसं वापि रक्तं वा छागजांगलम्॥ (च. चि. ११)
'कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत्।' (सु. चि. २६)
'नक्रमूषिकमंडूकचटकाण्डकृतं घृतम्।
पादाभ्यंगेन कुरुते बलं भूमिं तु न स्पृशेत्॥' (सु.चि. २६)
'कुक्कुटाण्डकपालानि सुमनोमुकुलानि च।
व्रणेषूत्सन्नमांसेषु प्रशस्तान्यवसादने॥' (सु.सू.३६)
'कुक्कुटाण्डकपालानि लशुनं कटुकत्रयम्।
करञ्जबीजमेला च लेख्याञ्जनमिदं स्मृतम्॥ (सु. उ. १२)

६. कच्छप

गुणकर्म

कच्छपमांस स्निग्ध, मधुररस, मधुरविपाक तथा शीतवीर्य है। यह वातपित्तशामक, कफवर्धक, मेध्य; चक्षुष्य, पुरीषजनन, बल्य और वृष्य है। कच्छपपृष्ठ की भस्म कासहर, रक्तपित्तशामक और बल्य है। इसमें खटिक का अंश अधिक होता है।

प्रयोग

कच्छपमांस मानसिक विकारों में तथा नेत्ररोग, पुरीषक्षय, दौर्बल्य, शोषरोग और शुक्रमेह में प्रयुक्त होता है। शीतमधुर होने से रक्तपित्त में भी लाभकर है। मांसरस की बस्ति भी दौर्बल्य में देते हैं।

कच्छपपृष्ठ की भस्म कास, श्वास, रक्तपित्त, उरःक्षत, यक्ष्मा और शोष में अतीव उपयोगी है। इसकी वैक्सीन का प्रयोग भी यक्ष्मा में होता है।

मात्रा—कच्छपपृष्ठ भस्म-२-८ रत्ती।

× × × ×

'बल्यो वातहरो वृष्यश्चक्षुष्यो बलवर्धनः।
मेधास्मृतिकरः पथ्यः शोषघ्नः कूर्म उच्यते ॥' (च. सू. २७)
'शंखकूर्मादयः स्वादुरसपाका मरुन्नुदः।
शीताः स्निग्धा हिताः पित्ते वर्चस्याः श्लेष्मवर्धनाः ॥' (सु. सू. ४६)
'रसाश्च पारावतशंखकूर्मजास्तथा यवाग्वोऽभिहिता घृतोत्तराः ॥' (सु. उ. ४५)

७. कर्कटक

परिचय

नाम—सं०-कर्कटक, कुलीर; हि०-केकड़ा; वं०-काँकड़ा; म०-खेंकड़ा; गु०-करचलो; फा०-पञपाय; अ०-सरतान; लै०-सिल्ला सिरेटा (Seilla Serrata)।

स्वरूप—यह पङ्कयुक्त जल में रहने वाला एक छोटा प्राणी है।

जाति—वर्णभेद से यह श्वेत और कृष्ण दो प्रकार का होता है। मीठे, बहते हुए पानी में रहने वाला (सरतान नहरी) बड़ा केकड़ा औषध के लिए लेना चाहिए।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक और कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन और मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—बल्य और कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण और सन्धानीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—वातव्याधि, आक्षेपक तथा पूतना में कर्कटास्थि का धूपन करते हैं। वातिक शिरोरोगों में इससे सिद्ध तैल का नस्य देते हैं।

पाचनसंस्थान—विबन्ध में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—उरःक्षत, जीर्णकास एवं यक्ष्मा में इसका प्रयोग करते हैं। इन रोगों में केकड़े की कृष्णभस्म (मसी) भी प्रयुक्त होती है। यह मसी हकीमों के यहाँ 'सरतान मुहरक' के नाम से प्रचलित है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। बस्ति भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, शोष में देते हैं।

मात्रा—कर्कटभस्म-२-४ रत्ती।

× × × ×

"कृष्णकर्कटकस्तेषां बल्यः कोष्णोऽनिलापहः। शुक्लः सन्धानकृत् सृष्टविण्मूत्रोऽनिलपित्तहा॥" (सु. सू. ४६)

'कर्कटो बृंहणो बृष्यः शीतलोऽसृग्गदापहः।' (ध. नि.)

'कर्कटकरसश्वटकाण्डरसयुक्तः समधुघृतशर्करो बस्तिः' इत्येते बस्तयः परमवृष्याः।' (च. सि. १२)

'कर्कटास्थि घृतं चैव धूपनं सर्षपैः सह।' (सु. उ. ३२)

८. कुक्कुट

नाम—सं०-कुक्कुट, ताम्रचूड़, चरणायुध; हि०-मुर्गा; अं०-कॉक (Cock)।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य है।

श्वसनसंस्थान—कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है। गर्भस्पन्दन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा तज्जनित वातव्याधि में उपयोगी है। कुक्कुटसिद्ध घृत ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद तथा कास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य और क्लैब्य में देते हैं। शुक्रप्रतिघात तथा शुक्राश्मरी में भी देते हैं। गर्भ जब स्पन्दनहीन होता है तब कुक्कुट का प्रयोग करते हैं। योनिशूल में भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में कुक्कुटमांस खिलाते हैं तथा कुक्कुटवसा की उत्तरबस्ति देते हैं।

त्वचा—त्वग्दोष में हितकर है।

तापक्रम—कुक्कुटमांस मद्य के साथ विषमज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय में प्रयुक्त होता है।

× × × ×

'कुक्कुटवसा विष्किरशकुनिवसानाम्।' (च. सू. २६)

'कुक्कुटो बल्यानाम्।' (च. सू. २७)

'स्निग्धाश्चोष्णाश्च वृष्याश्च बृंहणाः स्वरबोधनाः। बल्याः परं वातहराः स्वेदनाश्चरणायुधाः॥'
(च. सू. २७)

'स्निग्धोष्णोऽनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरबलापहः। बृंहणः कुक्कुटो वन्य स्तद्वद् ग्राम्यो गुरुस्तु सः॥
वातरोगक्षयवमीविषमज्वरनाशनः।' (सु. सू. ४६)

'न ना स्वपिति रात्रीषु निस्तब्धेन च शेफसा। तृप्तः कुक्कुटमांसानां भृष्टानां नक्रेतसि॥'
(च. चि. २)

'सुरां समण्डां पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधान्। तित्तिरींश्च मयूरांश्च प्रयुञ्ज्याद्विषमज्वरे॥'
(च. चि. ३)

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्त्तकाः। शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम्॥'
(च. चि. ५)

'कार्या वातरुगार्त्तायाः सर्वावातहरी पुनः। घृततैलावसेकांश्च तित्तिरींश्चरणायुधान्॥'
(च. चि. ५)

६. पारावत

नाम—सं०-परावत, गृहकपोत; हि०-परेवा, कबूतर; बं०-पायरा; अं०-पिजियन (Pigeon), डव (Dove)।

गुण

गुण—लघु, विशद, रूक्ष। **रस**—कषाय, मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर तथा गर्भस्राव में प्रयुक्त होता है।

× × × ×

'कषायमधुराः शीता रक्तपित्तनिबर्हणाः। विपाके मधुराश्चैव कपोता गृहवासिनः॥ (च.सू. २७)

'रक्तपित्तप्रशमनः कषायविशदोऽपि च। विपाके मधुरश्चापि गुरुः पारावतः स्मृतः॥ (सु. सू. ४६)

'योषितः सततं यस्या गर्भवत्याःस्रवत्यसृक्। पारावतपुरीषं तं पाययेत्तण्डुलाम्बुना'॥ (ग.नि.)

१०. सर्प

गुणकर्म

सर्पमांस मधुर, मेध्य, दीपन, अर्शोघ्न, कृमिघ्न, दूषीविषहर तथा चक्षुष्य होता है। राजयक्ष्मा में सर्पमांस खिलाने का विधान है। सर्प की वसा का अञ्जन तिमिर रोग में करते हैं। कृष्णसर्पविष उदररोग में अन्तिम औषध हैं। ऐसा लिखा है कि यदि सान्निपातिक उदर में सब औषधियाँ असफल हो जायँ तो अन्त में फल या इक्षुकाण्ड को कृष्णसर्प से दष्ट करा के रोगी को खिलावे। कृष्णसर्प की अन्तर्धूम दग्ध मसी बहेड़े के तेल के साथ श्वित्र में लगाया जाता है। सर्पशिर का धूम विष में देते हैं। सर्पनिर्मोक (केंचुल) का धूपन अर्श में तथा स्कन्दग्रह में करते हैं। प्रसव के बाद जब अपरा नहीं निकलती है तब सर्पनिर्मोक से योनिधूपन करते हैं। वस्त्रों का धूपन भी इससे करते हैं।

× × × ×

'दुर्नामानिलदोषघ्ना कृमिदूषीविषापहाः। चक्षुष्या मधुराः पाके सर्पा मेधाग्निवर्धनाः॥'
(सु. सू. ४६)

'वसाथ कृष्णोरगताम्रचूडजा सदा प्रशस्ता मधुकान्वितान्जने। (सु. उ. १७)
'वीर्यशब्देन चोरगान्।' (च. चि. ८)
'कृष्णस्य सर्पस्य मसी सुदग्धा बैभीतकं तैलमथ द्वितीयम्।
एतत् समस्तं मृदितं प्रलेपाच्छ्वित्राणि सर्वाण्यपहन्ति शीघ्रम्॥' (सु. चि. ८)
'यस्मिन् वा कुपितः सर्पो योजयेद्धि फले विषम्। भोजयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः॥
(च. चि. १३)

'इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत्।' (च. चि. १४)
'भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्या योनिं धूपयेत्।
धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानां च''सर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि स्युः।'
(च. शा. ८)

११. मयूर

मयूरमांस स्निग्ध, उष्ण तथा मेधा, चक्षु, श्रोत्र, अग्नि, स्वर, मांस, शुक्रबल और आयु को बढ़ाने वाला और वातशामक है। स्वेदजनन भी है। इसका प्रयोग विशेषतः वाजीकरणार्थ तथा विषमज्वर और विषों में होता है। मयूर के पादनाल की भस्म मधु से कास, श्वास और हिक्का में देते हैं। मयूरपिच्छभस्म छर्दि और हिक्का में उपयोगी है। विष में मयूरपिच्छ का धूम देते हैं। मायूरघृत शिरोरोग, ऊर्ध्वजत्रुगत रोग तथा स्वरभेद में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मांस, पिच्छ, पादनाल।

मात्रा—पिच्छ और पादनाल भस्म-२-५ रत्ती।

विशिष्ट योग—मायूरघृत, महामायूरघृत।

× × × ×

'दर्शनश्रोत्रमेधाग्निवयोवर्णस्वरायुषाम्। बर्ही हिततमो बल्यो वातघ्नो मांसशुक्रलः॥'
(च. सू. २७)

'मयूरः स्वरमेधाग्निदृक्श्रोत्रेन्द्रियदार्ढ्यकृत्। स्निग्धोष्णोनिलहा वृष्यः स्वेदस्वरबलावहः।'
(सु. सू. ४६)

'मयूरपादनालं वा'·····'दग्ध्वा क्षौद्रघृतान्वितम् ।
चूर्णं लिहन् जयेत् कासं हिक्कां श्वासं च दारुणम् ॥ (च. चि. १७)
'······'दग्धाः सघृतक्षौद्रशर्कराः । श्वासकासहराः बर्हिपादौ वा क्षौद्रसर्पिषा ॥' (च. चि. १८)
'मयूरपत्त्रं निर्दह्य तद्भस्म मधुमिश्रितम् । लीढा निवारयत्याशु छर्दिं सोपद्रवामपि ॥ (यो. र.)
'शिखिपिच्छभस्मकृष्णाचूर्णं मधुमिश्रितं मुहुर्लीढम् ।
हिक्कां हरति प्रबलां श्वासं चैवातिदुस्तरं छर्दिम् ॥' (यो. र.)

१२. मूषक

मूषक की वसा का लेप गुदभ्रंश में करते हैं । मूषकमांस को गरम कर बाँधते भी हैं । मूषक और दशमूल से सिद्ध तैल का अभ्यंग भी गुदभ्रंश और योनिभ्रंश में लाभकर है । मूषक से सिद्ध घृत ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में देते हैं । मूषक का शुष्क पुरीष दुग्ध के साथ रक्तप्रदर में प्रयुक्त होता है ।

प्रयोज्य अंग—वसा, मांस, पुरीष ।

मात्रा—शुष्कपुरीष–२–५ रत्ती ।

× × × ×

'मूषिकाणां वसाभिर्वा गुदभ्रंशे प्रलेपयेत् । स्विन्नमूषकमांसेन अथवा स्वेदयेद्गुदम् ॥ (यो. र.)
'आखोः पुरीषं पयसा विलीय वह्नेर्बलादेकमहर्द्वयहं वा ।
स्त्रियस्त्र्यहं वा प्रदरास्त्रनद्याः प्रसह्य पारं परमाप्नुवन्ति ॥' (यो. र.)
'आखुभिः कुक्कुटैर्हंसैः शशैश्चापि हि बुद्धिमान् ।
कल्पेनानेन विपचेत् सर्पिरूर्ध्वगदापहम् ॥' (च. चि. २६)

१३. मत्स्य

मत्स्य मधुर, उष्ण, कफपित्तवर्धक होते हैं । स्थिर जल में होने वाला मत्स्य अत्यग्नि में लाभकर है । घृतभृष्ट मत्स्यमांस वृष्य है । गर्भ की गति मन्द या बन्द होने पर मत्स्य का प्रयोग करते हैं । रजोरोध तथा रक्तगुल्म में उपयोगी है । रक्तगुल्म तथा पिच्छिल योनि में सुधाक्षीर और क्षार से भावित कटुक मत्स्य योनि में रखते हैं । नाभिस्थ वात में मत्स्य का प्रयोग करते हैं । सशूल व्रण में मछली की वसा लगाई जाती है । पूतिमत्स्य का धूम कृमिज शिरोरोग में करते हैं । कृमि तथा कुष्ठ में मछली निषिद्ध है । सब मछलियों में रोहित श्रेष्ठ तथा चिलचिम निकृष्ट है । बालुकामत्स्य (रेगमाही) नाडीबल्य तथा वाजीकरण है ।

कॉड नामक मछली के यकृत् से निकाला हुआ तैल (Cod-liver oil) बल्य, बृंहण और जीवनीय है । इसमें जीवनीय द्रव्य ए और बी, वसाम्ल, कोलेष्टरॉल, पित्ताम्ल, आयोडिन, ब्रोमिन, सोडियम, कैल्शियम, पोटाशियम, लौह, फास्फरस, अनेक क्षारतत्त्व, राल तथा रंजक द्रव्य होते हैं । इसका प्रयोग बाह्य और आभ्यन्तर रूप से जीर्ण, कास, क्षय, शोष, गलगण्ड आदि में करते हैं । अजीर्ण, छर्दि, अतिसार, तीव्रज्वर, तीव्र रक्तपित्त में इसका प्रयोग निषिद्ध है । २–६ माशे की मात्रा में दुग्ध, फलरस या मधु के साथ भोजन के बाद देना चाहिए ।

हैलिबट नामक मछली के यकृत् का तैल (Halibut-liver oil) भी चिकित्सा में व्यवहृत होता है । इसमें जीवनीय द्रव्य अधिक परिमाण में होते हैं । २–३ बूँद यह तैल उपर्युक्त तैल के एक चम्मच के बराबर होता है । इसका स्वाद भी उतना अप्रिय नहीं होता ।

'कफपित्तकराः मत्स्याः।' (भा. प्र.)

'गुरूष्णा मधुरा बल्या बृंहणाः पवनापहाः। मत्स्याः स्निग्धाश्च वृष्याश्च बहुदोषाः प्रकीर्त्तिताः॥
शैवलाहारभोजित्वात् स्वप्नस्य च विवर्जनात्। रोहितो दीपनीयश्च लघुपाको महाबलः॥'
(च. चि. २७)

'नादेया मधुरा मत्स्या गुरवो मारुतापहाः। रक्तपित्तकराश्चोष्णा वृष्याः स्निग्धाल्पवर्चसः॥'
'कषायानुरसस्तेषां शष्पशैवालभोजनः। रोहितो मारुतहरो नात्यर्थं पित्तकोपनः॥'
सामुद्रा गुरवः स्निग्धा मधुरा नातिपित्तलाः। उष्णा वातहरा वृष्या वर्चस्या श्लेष्मवर्धनाः॥
बलावहा विशेषेण मांसाशित्वात् समुद्रजाः।' (सु. सू. ४६)

'रोहितो मत्स्यानाम् (हिततमः), चिलचिमो मत्स्यानाम् (अहिततमः)' (च. सू. २६)

'बालुकासंभवं मत्स्यं सुपक्वं भक्षयेद् घृतैः।
षण्ढोऽपि जायते कामी वीर्यस्तम्भः प्रजायते॥' (र. र.)

१४. अम्बर

नाम—सं०-अग्निजार, तुन्दामय; अ०, हि०-अम्बर; फा०-शाहबू; अं०-अम्बर ग्रिस् (Ambergris)।

स्वरूप—यह कैचलॉट या स्पर्महेल नामक प्राणी के अन्त्र में उत्पन्न होने वाली एक विकारजन्य ग्रन्थि है। एक शृंगाकार वनस्पति खाने से यह रोग उसको होता है और इससे क्रमशः दुर्बल होकर जब वह मर जाती है तब यह ग्रन्थि आंतों से बाहर निकल कर समुद्र लहरों पर तैरती हुई किनारे आ जाती है। इसी का संग्रह और व्यवहार अम्बर के नाम से होता है। उस प्राणी का शिकार कर आंतों से भी प्राप्त होती है।

ताजे अम्बर में पुरीष के समान दुर्गन्ध होती है किन्तु धूप में सूखने पर उसमें हलकी भीनी सुगंध आ जाती है। यह देखने में बाहर श्यामवर्ण तथा भीतर कुछ श्वेताभ होता है। १४५° फारनहीट ताप पर वह पिघल जाता है तथा २१२° ताप पर वाष्प बनकर उड़ जाता या जल जाता है। यह जल में अविलेय किन्तु ईथर, गरम अलकोहल और तैल में विलेय है। गरम अलकोहल में मिलाने पर अम्बरीन (Amberein) नामक ८५% श्वेत दानेदार सत्त्व प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न विशेषतः कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क-ज्ञानेन्द्रिय एवं नाडियों के लिए बल्य और आक्षेपशामक है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

तापक्रम—शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषकर्म—त्रिदोषज विकारों, विशेषतः कफवातप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात, अर्दित, धनुःस्तंभ, उन्माद, अपस्मार, अपतंत्रक, मूर्च्छा आदि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—उदरशूल तथा ग्रहणी में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—शीतप्रधान रोग, जीर्णप्रतिश्याय आदि में उपयोगी है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती।

× × × ×

'अग्निजारस्त्रिदोषघ्नो धनुर्वातादिवातनुत्। वर्धनो रसवीर्यस्य दीपनो जारणस्तथा॥ (र. च.)

'स्यादग्निजारः कटुरुष्णवीर्यस्तुन्दामयो वातकफापहश्च।
पित्तप्रदः सोऽधिकसन्निपातशूलार्त्तिशीतामयनाशनश्च॥' (रा. नि)



चतुर्थ अध्याय

स्वेदज द्रव्य

१. मुक्ता

गण—नवरत्न (भा०)।

नाम—सं०-मुक्ता, मौक्तिक, शुक्तिज; हि०-म०-गु०-मोती; अ०-लूलू; फा०-मरवारीद; अं०-पर्ल (Pearl)।

स्वरूप—मुक्ता श्वेत, चमकदार, भारी, स्निग्ध, छिद्ररहित तथा सुडौल होती है।

प्राप्तिस्थान—यह फारस की खाड़ी, लंका तथा सौराष्ट्र (जामनगर) में पाया जाता है। समुद्र में होने वाली शुक्ति में यह उत्पन्न होता है और समुद्रतटवर्त्ती देशों में एकत्रित होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैलशियम प्रचुर मात्रा में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—मधुर।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न है। गुण से कफ, रसविपाक से वात तथा वीर्य से पित्त को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, यकृद्द्रव्य तथा ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है। शोथहर भी है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—स्वेदापनयन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—जीवनीय और सन्धानीय है। विषघ्न भी है।
नेत्र—चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुक्ता, प्रवाल आदि का चूर्ण मधु के साथ नेत्र रोगों में लेख्याञ्जन के रूप में व्यवहृत होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—स्मृतिदौर्बल्य, उन्माद, अपस्मार तथा कम्पवात आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है। शिरःशूल में भी देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार तथा रक्तातिसार, रक्तार्श और ग्रहणी में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्द्रव, रक्तपित्त तथा शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, उरःक्षत, पार्श्वशूल और यक्ष्मा में लाभकर है। यक्ष्मा में इससे ज्वर कम होता है, भूख बढ़ती, रात्रिस्वेद बन्द होता तथा शरीर का भार बढ़ता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा श्वेत और रक्तप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—स्वेदाधिक्य तथा अवसाद में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर और दाह में दिया जाता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोष, अस्थिभग्न में उपयोगी है। विषों में विशेषतः सीसविष में प्रयुक्त होता है। विशेष कर यह प्रदर, पांडु, व्रण, अतिसार से उत्पन्न दौर्बल्य में दिया जाता है।

नेत्र—दृष्टिदौर्बल्य में देते हैं।

मात्रा—पिष्टि या भस्म १-४ रत्ती।

विशिष्ट योग—मुक्तापंचामृत, मुक्ताद्यचूर्ण, वसन्तकुसुमाकर।

× × × ×

'मौक्तिकं शीतलं वृष्यं चक्षुष्यं बलपुष्टिदम्।' (भा. प्र.)
मौक्तिकं सुमधुरं सुशीतलं दृष्टिरोगशमनं विषापहम्।
राजयक्ष्मपरिकोपनाशनं क्षीणवीर्यबलपुष्टिवर्धनम्॥' (रा. नि.)
'कफपित्तक्षयध्वंसि कासश्वासाग्निमांद्यनुत्।
पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम्॥' (र. चू.)

२. शुक्ति

गण—उपरत्न (भा०)।

नाम—सं०-शुक्ति; हि०-सीप; फा०-सदफ मरवारीद; अं०-मदर ऑफ पर्ल (Mother of pearl)।

स्वरूप—यह श्वेत, बड़ी चमकदार होती है।

जाति—समुद्र में होने वाली शुक्ति जिससे मोती निकलता है मुक्ताशुक्ति कहलाती है नदियों में होने वाला तत्सदृश द्रव्य जलशुक्ति का कहा जाता है। हिन्दी लोकभाषा में इसे 'सितुहा' या 'सितुही' कहते हैं।

प्राप्तिस्थान—मुक्ताशुक्ति समुद्र में तथा जलशुक्ति नदियों और तालावों में पाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैल्शियम का अंश होता है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म मोती के समान किन्तु उससे न्यून होते हैं। अतः मोती के अभाव में इसका प्रयोग करते हैं।

× × × ×

३. प्रवाल

परिचयः—यह एक कीड़े का शव है जो समुद्रतल में पड़ा-पड़ा कठिन हो जाता है। लाली भी इसमें धीरे-धीरे प्रौढ होने पर आती है। नीचे का ठोस, स्थूल भाग प्रवाल मूल तथा ऊपर की पतली शाखायें 'प्रवाल शाखा' कहलाती हैं।

गण—महारत्न (भा०)।

नाम—सं०-प्रवाल, विद्रुमः हि० मूँगा; बं०-पला; म०-पोंवलें; गु०-परवाला; अ०-मर्जां (प्रवाल शाखा); बुसुद (प्रवालमूल); फा०-कामः मर्जा, मर्गां; लैं०-कोरेलियम रुब्रम, (Carallium rubrum); अं०-कोरल् (Coral)।

स्वरूप—उत्तम प्रवाल पक्व बिम्बीफल के सदृश रक्तवर्ण, गोलाकार, सरल, स्निग्ध, अक्षत तथा स्थूल होता है। कसौटी पर घिसने पर इसका रंग ज्यों का त्यों रहता है। इसके विपरीत जो पाण्डुर, धूसर, रूक्ष, क्षतयुक्त, खोखला, हलका और पतला हो, वह प्रवाल निकृष्ट है।

प्राप्तिस्थान—यह समुद्र में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैलशियम कार्बोनेट ८३%, मैगनीशियम कार्बोनेट ३.५%, तथा अल्प प्रमाण में लोह ४.५%, और सिकता होते हैं। सेन्द्रिय द्रव्य ८% होते हैं।

गुण

गुण—लघु; रूक्ष। **रस**—मधुर, किंचित् अम्ल।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। विशेषतः कफवातघ्न है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—अम्लतानाशक, दीपन, पाचन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदापनयन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज, विशेषतः कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्र रोगों में इसका चूर्ण लेख्यांजन के रूप में देते हैं। व्रणों के अवसादन के लिए भी इसका चूर्ण डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा नाडीदौर्बल्य में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अम्लपित्त, उदरशूल, रक्तातिसार, रक्तार्श और अन्त्रज व्रण में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण प्रतिश्याय, कास, श्वास एवं यक्ष्मा में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—अतिस्वेद तथा रात्रिस्वेद को रोकने के लिए दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय तथा विष में दिया जाता है।

मात्रा—१-३ रत्ती (पिष्टि या भस्म)।

विशिष्ट योग—प्रवालपंचामृत।

× × × ×

'पक्वबिम्बीफलच्छायं वृत्तायतमवक्रकम्। स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं सप्तधा शुभम्॥
पाण्डुरं धूसरं रूक्षं सव्रणं कोरकान्वितम्। निर्भारं च तथा सूक्ष्मं प्रवालं नेष्यतेऽष्टधा॥' (र.चू.)

'बालार्ककिरणारक्ता सागरसलिलोद्भवा लता यास्ति।
न त्यजति निजरुचिं निकषे घृष्टापि सा स्मृता जात्या॥' (भा. प्र.)

'प्रवालं सुमृतं क्षारं मधुरं लघु शीतलम्। दीपनं पाचनं चैव दृष्टिरोगनिषूदनम्॥
त्रिदोषशमनं बल्यं विशेषात् कफवातनुत्। क्षयकासहरं चैव रक्तपित्तप्रणाशनम्॥
स्वेदातिनिर्गमहरं रात्रिस्वेदहरं परम्। विषघ्नं भूतशमनं वीर्यवर्णविवर्धनम्॥' (र. त.)

४. शंख

परिचय—यह एक समुद्री प्राणी का बाह्य कोश है।

गण—उपरत्न (भा०)।

नाम—सं०-शंख, कम्बु; हि०-शंख।

स्वरूप—उत्तम शंख बड़ा, गुरु, श्वेत एवं अछिद्र होता है। इसके विपरीत लक्षण-वाला शंख त्याज्य है।

प्राप्तिस्थान—यह समुद्र में प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैल्शियम और अन्य क्षार होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण (शीतस्पर्श)।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अम्लतानाशन, दीपन, पाचन, भेदन (अनुलोमन), ग्राही है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्ररोगों में लेख्याञ्जन के रूप में प्रयुक्त होता है। शंखचूर्ण और हरताल मिलाकर रोमशातन के लिए लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, अम्लपित्त, गुल्म, ग्रहणी, यकृत् प्लीहा वृद्धि में इसका प्रयोग लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में देते हैं।

मात्रा—२-४ रत्ती।

विशिष्ट योग—शंखवटी, चन्द्रोदयावर्त्ति, कफकेतु।

× × × ×

'शंखः क्षारो हिमो ग्राही ग्रहणीरोगनाशनः। नेत्रपुष्पहरो वर्ण्यस्तारूण्यपिटिकाप्रणुत्॥'
(भा. प्र.)

५. कपर्दिका

परिचय—यह एक समुद्री जन्तु का अस्थिमय कोश है।

नाम—सं०-कपर्दिका, वराटिका; हि०-कौड़ी, अ०-बद्अ; फा०-कजक, खरमोहरा; लै०-सायप्रिया मौनेटा (Cyproea moneta)।

स्वरूप—उत्तम कौड़ी पीताभ, पृष्ठभाग पर ग्रन्थिल, दीर्घवृन्तयुक्त तथा ३-४ माशे वज़न की होती है। इसके विपरीत लक्षणवाली अग्राह्य है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैलशियम फास्फेट, कार्बोनेट, फ्लोराइड; मैगनीशियम फास्फेट, मैंगनीज और सोडियम क्लोराइड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, भेदन तथा ग्राही है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह नेत्ररोगों में लेख्याञ्जन तथा चर्मरोगों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। व्रण, कर्णशूल आदि में भी डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, परिणामशूल, ग्रहणी, गुल्म में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में देते हैं।

मात्रा—२-४ रत्ती।

विशिष्ट योग—बृहल्लोकनाथ रस।

× × × ×

'कपर्दः कटुतिक्तोष्णः कर्णशूलव्रणापहः। गुल्मशूलामयघ्नश्च नेत्रदोषनिकृन्तनः॥' (धा. नि.)

'परिणामादिशूलघ्नी ग्रहणीक्षयनाशिनी। कटूष्णा दीपनी वृष्या नेत्र्या वातकफापहा॥'
(र. चू.)

६. शम्बूक

परिचय—यह गढ़ो में एकत्रित जल में होता है तथा एक कीट का शंखाकार कोश है।

नाम—सं०-शम्बूक। हि०-घोंघा।

स्वरूप—यह कठिन, बाहर की ओर धूसर वर्ण, रेखांकित तथा भीतर की ओर श्वेत होता है।

प्राप्तिस्थान—भारत में सर्वत्र प्राप्त होता है। विशेषतः आनूप प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैल्शियम कार्बोनेट ८५-९५%, कैल्शियम, मैगनीशियम फास्फेट और सलफेट, लौह; स्फटिका तथा सिलिका होते हैं।

गुण-कर्म

शम्बूक कटु, उष्ण, दीपन, पाचन, अनुलोमन है। अजीर्ण, परिणामशूल तथा गुल्म की प्रसिद्ध औषध है। शम्बूककीट तथा कोशस्थ जल बालशोष में अतीव लाभकर है।

मात्रा—२-४ रत्ती।

विशिष्ट योग—शम्बूकादि गुटिका।

७. समुद्रफेन

परिचय—यह समुद्रज प्राणी की पीठ की अस्थि है। फेनवत् श्वेत तथा समुद्र की लहरों पर तैरने के कारण इसे 'समुद्रफेन' संज्ञा दी गई है।

नाम—सं०-समुद्रफेन; हि०-समुन्दरफेन, समुन्दरझाग; अ०-जुन्दुल् बहर; फा०-कफे दरिया।

स्वरूप—यह फेनवत् श्वेतवर्ण, ५-१० इञ्च लम्बा, चपटा, खुरदरा, हलका एवं भङ्गुर होता है।

प्राप्तिस्थान—समुद्रतटवर्त्ती प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैल्शियम कार्बोनेट ८०-८५% और कैल्शियम फास्फेट, सलफेट और सिलिका होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। रस—कषाय।
विपाक—कटु। वीर्य—शीत।

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—लेखन, स्तम्भन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—तिमिर, काच, नेत्रकण्डू आदि नेत्र रोगों इसका चूर्णांजन करते हैं। कर्णस्राव में इसका चूर्ण कान में डालते हैं। विषों में इसका लेप करते हैं। रक्तस्राव को रोकने के लिए भी इसका चूर्ण छिड़कते हैं। शोथ, चर्मरोग तथा दन्तरोगों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, यकृत्प्लीहा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—२-४ रत्ती।

विशिष्ट योग—सुखावती वर्त्ति, ज्वरधूमकेतु।

× × × ×

'समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलस्तथा। कषायो विषपित्तघ्नः कर्णरुक्कफहृल्लघुः ॥(भा.प्र.)

'समुद्रफेनः शिशिरः कर्णपाकनिवारणः। लेखनो नेत्ररोगाणां हितो विषविनाशनः ॥
चक्षुष्यो रक्तपित्तघ्नः गुल्मप्लीहहरः स्मृतः।' (ध. नि.)

'समुद्रफेनश्चक्षुष्यो लेखनः शीतलः सरः। कर्णस्रावरुजागुल्महरः पाचनदीपनः ॥' (भा. प्र.)

'अथातिप्रवृत्ते (रक्ते)···समुद्रफेनलाक्षाचूर्णैर्वा यथोक्तैर्व्रणबन्धनद्रव्यैर्गाढं बध्नीयात् ॥' (सु. सू. १४.)

८. नख

परिचय—यह एक समुद्री प्राणी के मुख का नखसदृश आवरण है।

गण—एलादि (सु०)।

नाम—सं०-नख; हि०-नख, अ०-अज्फारुत्तिब; फा०-नाखूनपरियाँ।

स्वरूप—यह गहरे भूरे रंग का तथा अनेक पर्तों का बना होता है। यह दुर्गन्धि होता है किन्तु तैल के साथ पकाने पर तैल सुगन्धित होता है।

जाति—यह दो प्रकार का होता है:—(१) बड़ा और (२) छोटा। बड़े को व्याघ्रनख और छोटे को नख कहते हैं।

प्राप्तिस्थान—समुद्रवर्ती प्रदेशों में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। रस—कटु, मधुर।
विपाक—कटु। वीर्य—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न, शोथघ्न और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पीचन, अनुलोमन और यकृदुत्तेजक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वर्णविकार, व्रण, कुष्ठ, कण्डू, शोथ, वातरक्त और विषों में लेप और धूपन करते हैं। इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अपस्मार, अपतंत्रक और मूर्च्छा में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—उदरशूल, अर्श और यकृद्विकार में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा कष्टार्त्तव और योनिशूल में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—विष में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—२-३ माशे।

विशिष्ट योग—शैलेयकादि तैल, अमृतादि तैल, महासुगंधहस्ती अगद।

× × × ×

'नखद्वयं ग्रहश्लेष्मवातास्रज्वरकुष्ठनुत्। लघूष्णं शुक्रलं वर्ण्यं स्वादुव्रणविषापहम्॥' (भा.प्र.)

'नखः स्यादुष्णकटुको विषं हन्ति प्रयोजितः। कण्डूकुष्ठव्रणघ्नश्च भूतविद्रावणः परः॥ (रा.नि.)

९. जलौका

नाम—सं०-जलौका, जलायुका; हि०-जोंक; अं०-लीच (Leech)।

प्राप्तिस्थान—यह तालावों में प्राप्त होता है।

गुणकर्म

यह पित्तदुष्ट शोणित को निकालने (अवसेचन) के लिए सुकुमार व्यक्तियों में शल्य-कर्म के प्रकरण में व्यवहृत होती है। एक जलौका प्रायः ३-६ माशे रक्त चूसती है। इसके शिर से हिरुडिन (Hirudin) नामक पदार्थ निकलता है जो रक्त के स्कन्दन को रोकता है। अपस्मार में जलौका के पुरीष को गोमूत्र के साथ नस्य देते हैं।

'नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परमसुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः।'

'शीताधिवासा मधुरा जलौका वारिसंभवा। तस्मात् पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने॥'
(सु. सू. १३)

'जलौकः शकृता तद्वद्दग्धैर्वा बस्तलोमभिः। कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम्॥'
(च. चि. १०)

१०. लाक्षा

परिचय—वट, पीपल आदि वृक्षों में कॉकस लक्का (Coccus Lacca) नामक कीट के द्वारा यह उत्पन्न होता है।

गण—लाक्षादि (सु०)।

नाम—सं०-लाक्षा, वृक्षामय, जतु; हि०-लाख, लाह; अ०-लुक; फा०-लाक; अं०-लैक (Lac)।

स्वरूप—यह लालरंग का एक पदार्थ हैं जिससे महावर, रंग आदि बनाये जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः जांगलप्रदेश में होता है। राँची में इसका बड़ा उत्पादन केन्द्र है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन, सवर्णीकरण, सन्धानीय और कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, सद्योव्रण, भग्न, कुष्ठ, दद्रु, नीलिका, विवृता-योनि, मुखरोग तथा व्रणों में सवर्णीकरणार्थ लेप करते हैं। ज्वर में इससे सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका और कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का, कास, उरःक्षत में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ और विसर्प में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—५-१० रत्ती।

विशिष्ट योग—लाक्षादि तैल।

× × × ×

'लाक्षा वर्ण्या हिमा बल्या स्निग्धा च तुवरा लघुः। अनुष्णा कफपित्तास्रहिक्काकासज्वरप्रणुत्॥
व्रणोरःक्षतवीसर्पकृमिकुष्ठगदापहा।' (भा. प्र.)

११. कोश

परिचय—यह रेशम के कीड़े का बाह्यकोश है जिसे वह स्वयं बनाता है और उसी के भीतर बन्द होकर मर जाता है।

नाम—सं०-कोश; हि०-रेशम का कोया, कोसा; अ०-इबरेशम; फा०-अबरेशम; अं०-सिल्कपॉड (Silk pod)।

स्वरूप—यह पीताभ श्वेत अण्डाकार कोश होता है जिसे कैंची से कतर, भीतर से कीड़ा निकाल कर चूर्ण किया जाता है। चूर्ण को हकीम लोग 'अबरेशम मुकर्रज़' कहते हैं।

प्राप्तिस्थान—यह कश्मीर, बिहार, बंगाल, मैसूर आदि स्थानों में पाया जाता है।

गुणकर्म

यह रूक्ष, उष्ण, मतिष्क, हृदय, यकृत्, फुफ्फुस और आमाशय को बल देने वाला, वर्ण्य, दोषविलयन, कफनिःसारक है। इसकी भस्म लेखन, रक्तस्तम्भन तथा व्रणरोपण है। मस्तिष्कदौर्बल्य, हृद्रोग, कासश्वास में दिया जाता है। इसकी भस्म रक्तस्राव, व्रण तथा नेत्ररोगों में लगाते हैं।

मात्रा—१-३ माशे।

१२. मक्षिका

मक्षिकाविट् का मधु के साथ प्रयोग छर्दि रोग में करते हैं।

× × × ×

'स्रोतोजलाजोत्पलकोलमज्जचूर्णानि लिह्यान्मधुनाभयां वा।
कोलास्थिमज्जाञ्जनमक्षिकाविड्लाजासितामागधिकाकणान् वा॥' (च. चि. २०)

१३. तैलमक्षिका

परिचय—यह एक प्रकार की मक्खी है।

नाम—सं०-तैलमक्षिका; हि०-तेलनी मक्खी; अ०-जरारीह; लै०-माइलेब्रिस चिकोरिआई (Mylabris chicorii), अं०-तेलिनी फ्लाइ (Telini fly)।

स्वरूप—यह लगभग एक इञ्च लंबी होती है तथा काले रंग के दो पर नारंगी रंग के बिन्दुओं से युक्त होते हैं।

प्राप्तिस्थान—यह काश्मीर एवं उत्तरीभारत में वर्षा में पाई जाती है। युरोप में इसकी विदेशी जाति कैन्थरिस वेसिकेटोरिया (Cantharis Vesicatoria) का प्रयोग होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कैन्थराइडिन (Cantharidin) नामक सत्त्व, २·९% उड़नशील तैल, कषाय द्रव्य और वसा होती है।

गुणकर्म

बाह्यप्रयोग से यह रक्तोत्क्लेशक और विस्फोटजनन है तथा इसका लेप तिलतैल में मिलाकर वाजीकरणार्थ शिश्न पर लगाते हैं। इसके अतिरिक्त, श्वित्रा, कुष्ठ, वातव्याधि,

व्यङ्ग, खालित्य में लेप करते हैं। आभ्यन्तर प्रयोग से वाजीकरण, मूत्रल और आर्त्तवजनन है तथा ध्वजभंग; मूत्राघात, कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—½-२ रत्ती।

१४. मधु

परिचय—कीड़ों (मधुमक्खियों) के द्वारा संग्रहीत पुष्परस उनके छत्तों से निचोड़ कर पृथक् कर लिया जाता है। यही मधु है। मधु निकालने के बाद छत्ते में जो बच जाता है उसे पानी में पकाने से मोम (मधूच्छिष्ट-Wax) तैयार होता है।

गण—वमनोपग (च०)।

नाम—मधु, क्षौद्र, माक्षिक; हि०-मध, शहद; अ०-अस्ल; फा०-शहद, अंगबीन; लै०-मेल (Mel); अं०-हनी (Honey)।

स्वरूप—यह पीताभ श्वेत या रक्ताभ गाढ़ा द्रव होता है। स्थानभेद से इसके वर्ण, गन्ध और स्वाद में अन्तर होता है। पुराना मधु जमने पर मिश्री के सदृश हो जाता है इसे 'मधुशर्करा' कहते हैं।

प्राप्तिस्थान—यह भारत के पर्वतीय प्रदेशों तथा समतल भूमि में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मधु में द्राक्षशर्करा, फलशर्करा, मोम, उड़नशील तैल, प्रोटीड, पिच्छिल द्रव्य, रंजक द्रव्य तथा भस्म होती है। इनके अतिरिक्त, जीवनीय द्रव्य, पाचन किण्वतत्व, कैल्शियम और लौह होते हैं।

गुणकर्म

यह लघु, रूक्ष, पिच्छिल, मधुर-कषाय, उष्ण तथा त्रिदोषशामक विशेषतः कफपित्त-शामक है। यह बाह्यतः संधानीय और चक्षुष्य है। आभ्यन्तर प्रयोग में मधु योगवाही है। नया मधु बल्य, बृंहण है तथा पुराना मधु लेखन है। मुखरोगों में लेप तथा नेत्र-रोगों में मधु का अंजन करते हैं। शिरःशूल में भी नेत्र में अञ्जन करने से लाभ होता है। स्थौल्य और मेदोरोग में मधूदक का अनुपान प्रशस्त है। मधु त्रिदोषज विकारों में अनुपान के रूप में व्यवहृत होता है। वमन योगों में मधु उष्ण कर दिया जाता है।

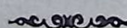
मधूच्छिष्ट (मोम) स्नेहन और व्रणरोपण है। मलहम बनाने में इसका प्रयोग होता है। विपादिका आदि रौक्ष्यजन्य विकारों में लगाते हैं। पीनस और श्वास में धूमपान करते हैं। व्रणशूल में देते हैं। वातरक्त में अभ्यंग करते हैं। उरःक्षत तथा अत्यग्नि में में मोम खिलाते हैं।

मात्रा—मधु-२-४ तो०।

विशिष्ट योग—मध्वासव।

× × × ×

'मधु संदधाति' 'मधुश्लेष्मपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २७)
'तल्लघुत्वात् कफघ्नं पैच्छिल्यान्माधुर्यात् कषायभावाच्च वातपित्तघ्नम्।
बृंहणीयं मधु नवं नातिश्लेष्महरं सरम्। मेदःस्थौल्यापहं ग्राहि पुराणमतिलेखनम्॥
दोषत्रयापहं पक्वमाममम्लं त्रिदोषकृत्। तद्युक्तं विविधैर्योगैर्निहन्यादामयान् बहून्॥
नानाद्रव्यात्मकत्वाच्च योगवाहि परं मधु।' (सु. सू. ४५)



पञ्चम अध्याय

उद्भिज्ज द्रव्य

१. इन्द्रगोप

परिचय—यह वर्षा में निकलने वाला एक रेंगनेवाला कीड़ा है।

नाम—सं०-इन्द्रगोप; हि०-बीरबहूटी; अ०-अरूसक; फा०-किर्मे मख्मल, कागन; लै०-म्युटेला ऑक्सिडेण्टलिस (Mutella Occidentalis)।

स्वरूप—यह रक्तवर्ण, मखमली लगभग ½ इञ्च लम्बा होता है किन्तु सूखने पर इसका रंग केसरिया हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह वर्षा के प्रारम्भ में उद्यान की लताओं पर पाया जाता है।

गुणकर्म

यह रूक्ष, उष्ण, कफवातशामक एवं वाजीकरण है। वातव्याधि तथा ध्वजभंग में इसका बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग करते हैं। मसूरिका के दानों को बाहर निकालने के लिए भी खिलाते हैं।

मात्रा—½-१ नग।

× × × ×

२. भूनाग

परिचय—यह वर्षाऋतु में होने वाला एक कीड़ा है।

नाम—भूनाग, गण्डूपद; हि०-केंचुवा, चेरा; म०-गांडवल; गु०-अणशलिया; अ०-खरातीन; फा०-किर्मे जमी; अं०-अर्थवर्म (Earth-worm)।

स्वरूप—यह लगभग ½ फुट लंवा, भूरे रंग का होता है।

प्राप्तिस्थान—यह विशेषतः आनूप देश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कुछ ताम्र होता है जो सत्वपातन विधि से प्राप्त किया जाता है।

गुणकर्म

यह स्निग्ध, उष्ण, मूत्रल, अश्मरीनाशन, वाजीकरण, बल्य तथा शोथहर है। मूत्रकृच्छ्र, क्लैब्य, क्षय, यक्ष्मा तथा शोथ में इसका प्रयोग करते हैं। ध्वजभंग में इसका तिला भी लगाते हैं। इसका सत्वपातन करके इससे ताम्र निकालते हैं जो विषघ्न है।

मात्रा—१-३ माशे (चूर्ण)।

प्रयोग विधि—हरिद्रा क्वाथ से धोकर तथा मिट्टी विष्ठा आदि साफकर सुखा ले और उसके बाद प्रयोग करे।

× × × ×

'भृष्टमत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद् गण्डूपदानपि।' (च. चि. ८)

३. मण्डूक

इससे सिद्ध तैल कर्णस्राव में देते हैं। चूर्ण लेख्याञ्जन तथा व्रणप्रतिसारण में दिया जाता है।



तृतीय भाग

भौम द्रव्य

प्रथम अध्याय

सामान्य परिचय

१. संज्ञा-निरुक्ति

भूमि से प्राप्त होने वाले द्रव्यों को 'भौम' या 'पार्थिव' कहते हैं यथा सुवर्ण, रजत, मनःशिला आदि ।[१]

२. धातु और लोह

प्राचीन काल में धातु और लोह शब्दों का प्रयोग भिन्न अर्थ में होता था । 'धातु' शब्द से 'दधाति लोहान्' इति (जो लोहों को धारण करे) व्युपत्ति के अनुसार उस द्रव्य का ग्रहण किया जाता था जिसमें लोह (स्वर्ण आदि द्रव्य) विद्यमान हों । इन्हें आजकल अंग्रेजी में 'ओर' (Ore) कहते हैं । 'लोह' शब्द से 'लुह्यते आकृष्यते धातुभ्यः इति' (जो धातुओं से निकाला जाय) व्युत्पत्ति के अनुसार स्वर्ण, रजत आदि द्रव्यों का ग्रहण किया जाता था जो पूर्वोक्त धातुओं से निकाले जाते थे । क्रमशः 'धातु' शब्द से साक्षात् स्वर्ण, रजत आदि द्रव्यों का ही ग्रहण होने लगा क्योंकि लोक में तथा चिकित्सा में इन्हीं द्रव्यों का विशेष व्यवहार होता है । इन्हें अंग्रेजी में मेटल (Metal) कहते हैं । 'लोह' शब्द धीरे-धीरे केवल 'लोह' (Iron) में सीमित हो गया ।

३. संहिताओं में भौम द्रव्य

चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं में भी भौम द्रव्यों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है किन्तु साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय ये द्रव्य अत्यन्त सीमित क्षेत्र में व्यवहृत होते थे क्योंकि उस समय प्रधानतः औद्भिद द्रव्यों का बाहुल्य से प्रयोग होता था । रसशास्त्र के विकास के साथ भौम द्रव्यों का प्रयोग तीव्रता से प्रचलित हुआ और व्यापकरूप से इनका प्रयोग प्रत्येक रोग के लिए होने लगा । ऐसी स्थिति में औद्भिद और जांगम द्रव्य सहकारी के रूप में प्रयुक्त होने लगे ।

४. भौमद्रव्यों का वर्गीकरण-प्राचीन और अर्वाचीन

प्राचीन संहिताओं में इन द्रव्यों के वर्गीकरण का कोई प्रयत्न नहीं मिलता । यहाँ तक कि 'रस' शब्द भी देखने में नहीं आता । रसशास्त्र का पृथक् विकास होने पर जब इन द्रव्यों का प्रयोग बाहुल्य से होने लगा तब परवर्त्ती लेखकों को वर्णन की सुविधा के लिए इनका व्यवस्थित वर्गीकरण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी । रसशास्त्र के अनुसार निघंटुओं में भी इन द्रव्यों का गुणकर्मात्मक वर्णन वर्गीकरणपद्धति से किया गया । निघंटुकारों ने अपने निघंटुओं में इन द्रव्यों के लिए 'धातुवर्ग' स्वतन्त्र ही स्थापित किया ।

---

१. 'सुवर्णं समलं पञ्च लोहाः ससिकताः सुधा । मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने ॥ भौममौषधमुद्दिष्टम् ।' (च. सू. १)
'पार्थिवाः सुवर्णरजतमणिमुक्तामनःशिलामृत्कपालादयः ।' (सु. सू. १)

भौमद्रव्यों के वर्गीकरण के संबन्ध में प्राचीन रसाचार्यों में प्रभूत मतभेद देखा जाता है। सामान्यतः इन द्रव्यों के रस, महारस, उपरस साधारणरस, लोह, रत्न, उपरत्न ये सात वर्ग मिलते हैं किन्तु किस वर्ग में कौन-कौन द्रव्य समाविष्ट होंगे इसका ऐकमत्य स्थापित नहीं हो सका। प्रत्येक आचार्य ने अपनी दृष्टि से जिस द्रव्य को जैसा महत्त्व दिया उसके अनुसार उस वर्ग में प्रतिष्ठापित किया। उदाहरणार्थ, हिंगुल को रसार्णव ने महारस में, आयुर्वेदप्रकाश ने उपरस में तथा रसेन्द्रचूडामणि ने साधारणरस में रक्खा है। द्रव्यों के आपेक्षिक महत्त्व के अनुसार वर्गीकरण में लेखकों को बड़ी स्वच्छन्दता से काम करने का अवसर मिला और लोगों ने इसका उपयोग भी पूरा-पूरा किया। परिणाम यह हुआ कि इन द्रव्यों का वर्गीकरण व्यवस्थित होने के बदले नितान्त विशृङ्खल हो गया। ऐसी गड़बड़ी महारस, उपरस, साधारणरस, उपरत्न के क्षेत्र में विशेष हुई क्योंकि यहाँ लेखकों ने वैज्ञानिक एकवाक्यता से काम न लेकर वैयक्तिक रूचि से विशेष काम लिया। दूसरा कारण यह भी था कि उस समय इन द्रव्यों के विशिष्ट रासायनिक संघटन के अध्ययन का कोई साधन नहीं था, फलतः इस आधार पर कोई वर्गीकरण संभव भी नहीं था। ऐसी स्थिति में, धातु और रत्न के अतिरिक्त शेष द्रव्यों को इन्हीं वर्गों में से किसी में स्थापित करना ही था।

आधुनिक रसायनशास्त्र के विकास तथा वैद्यसमाज में उसके प्रचार के साथ-साथ अर्वाचीन वैद्यों में इन द्रव्यों के नवीन रीति से अध्ययन, वर्गीकरण और प्रतिसंस्थान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी और अनेक लेखकों ने नवीन विज्ञान का आधार लेकर द्रव्यों का विशद और व्यवस्थित वर्णन किया। ऐसे ग्रन्थों में 'रसतरंगिणी' अति प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों में द्रव्यों का स्वरूप कुछ तो स्पष्ट हुआ किन्तु वर्गीकरण का क्षेत्र अधूरा ही रह गया। आगे चलकर समसामयिक लेखकों में आचार्य यादव जी ने अपने ग्रन्थ 'रसामृत' में इन द्रव्यों के वर्गीकरण का आमूलचूल प्रतिसंस्कार किया। इस नवीन प्रतिसंस्कार में उन्होंने नवीन विज्ञान के आधार पर अनेक द्रव्यों के रासायनिक संघटन के अनुसार उन्हें विभिन्न वर्गों में विभाजित किया। महारस, उपरस, साधारणरस वाली प्राचीन परिपाटी को बिलकुल समाप्त कर दिया। द्रव्यों के नवीन रासायनिक संघटन पर अधिक ध्यान रखने से कुछ सुविधा तो अवश्य हुई किन्तु व्यवस्था की दृष्टि से त्रुटि यह रही कि उन्हें अनेक छोटे-छोटे वर्ग बनाने पड़े। आर्सेनिक (Arsenic) कैल्शियम (Calcium) तथा सिलिका (Silica) के लिए उन्हें तीन वर्ग पृथक् पृथक् बनाने पड़े। गंधक का एक वर्ग अलग रखना पड़ा। मेरे विचार से, धातु–उपधातु, रत्न–उपरत्न के सदृश 'रस–उपरस' युग्म होना चाहिए और 'उपरस' एक वर्ग पृथक् रहना चाहिए जिसमें पारद-प्रक्रिया से घनिष्ठ संबन्ध रखने वाले द्रव्यों का समावेश किया जाय। हिंगुल, गंधक, ताल, मनःशिला तथा शंखविष ये उपरस में रक्खे जायँ। रस–उपरस, धातु–उपधातु, रत्न–उपरत्न, सुधा–सिकता, तथा लवण–क्षार इन दस वर्गों में समस्त भौमद्रव्यों का अन्तर्भाव हो जाता है। इसी क्रम से इस ग्रन्थ के पांच अध्यायों में इनका वर्णन किया गया है। महर्षि चरक के वर्णन में वर्गीकरण का यद्यपि स्पष्टतः उल्लेख नहीं मिलता किन्तु यदि सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो एक व्यवस्था का संकेत मिलता है—

यथा—

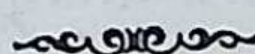
१. सुवर्णं समलाः पंचलोहाः (धातु)।
२. ससिकताः सुधाः (सुधा-सिकता)।
३. मनःशिलाले (उपरस)।
४. मणयः (रत्न-उपरत्न)।
५. लवणम् (लवण-क्षार)।
६. गैरिकाञ्जने (उपधातु)।

इनमें पारद का एक वर्ग मिलाने से दस वर्ग पूरे हो जाते हैं। मेरा अनुमान है कि इस सूत्र से परवर्त्ती लेखकों को अवश्य संकेत प्राप्त हुआ होगा।

अर्वाचीन औषधविज्ञान में भौमद्रव्यों के तीन वर्ग मिलित हैं—(१) धातु (Heavy metals), (२) लवण-क्षार (Alkalies & metals of alkaline earth) तथा (३) विशिष्ट प्रभावशाली द्रव्य (Chemotherapeutic agents) प्रथम वर्ग में स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि धातु; द्वितीय वर्ग में सोडियम, पोटाशियम आदि लवण-क्षार तथा तृतीय वर्ग में पारद, मल्ल आदि विशिष्ट कार्यकारी द्रव्य रखे गये हैं।

५. भौमद्रव्यों का अध्ययन

भौमद्रव्यों के औषधीय कर्मों का अध्ययन प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्रों में विभिन्न दृष्टियों से किया गया है। अर्वाचीन विज्ञान में उन द्रव्यों का मूलरूप में शरीर पर जो कर्म प्रत्यक्ष होते हैं उन्हीं के आधार पर गुणकर्म निरूपित किया है किन्तु प्राचीन शास्त्र में द्रव्यों के मूलरूप में अनेक दोष बतलाये गये हैं जिनके प्रयोग से शरीर पर अनेक हानिकर प्रभाव होते हैं। अत एव शोधन द्वारा उनके हानिकर दोषों का निवारण तथा मारण द्वारा उनको धातुओं में प्रवेश योग्य बनाने के बाद उनका प्रयोग औषध में किया जाता है। इन प्रक्रियाओं से उनके गुणधर्म में निश्चित परिवर्त्तन होते हैं और प्राचीन शास्त्र में भौमद्रव्यों का गुणकर्म लिखते समय इन परिवर्त्तनों को पूरा ध्यान में रक्खा गया है। किसी धातु का गुणकर्म पढ़ते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे गुणकर्म सुशोधित और सुमृत धातु के हैं और ये गुणकर्म अभीष्ट प्रमाण में तभी उपलब्ध होंगे जब धातु का शोधन-मारण विधिवत् किया जा चुकेगा। भौमद्रव्यों के औषधीय अध्ययन के प्रकरण में प्राचीन और नवीन विज्ञान के इस दृष्टिभेद को अवश्यमेव ध्यान में रखना चाहिए।



द्वितिय अध्याय

रस-उपरस

१. पारद

नाम—सं०-रस, रसेन्द्र, सूत, चपल, पारद,[१] शिव; हि०-बं०-म०-पारा; गु०-पारो; अ०-जीवक; ऐनुल् हयात; फा०-सीमाब, जीवः, लै०-हाइड्रार्जिरम् (Hydragyrum); अं०-मर्करी (Mercury)।

१. 'रसनादभ्रकादीनां धातूनां कीर्त्तितो रसः। अभ्रकाद्यधिराजत्वाद्रसेन्द्र इति कथ्यते॥ देहलोहमयीं सिद्धिं सूतेऽतः सूत उच्यते। स्वभावाच्चपलो यस्मात् ततोऽसौ चपलः स्मृतः॥ आतंकपंकमग्नानां पारदानाच्च पारदः।' (र. त.) शिवः कल्याणकारित्वात्।

स्वरूप—यह चाँदी के समान चमकदार, श्वेत और चंचल द्रव द्रव्य है। यह जल से १३½ गुना भारी होता है। इसका घनांक ३९·५° तथा क्वथनांक ३५८° से० है। नत्रिकाम्ल एवं उबलते गंधकाम्ल में विलेय है। भीतर से नीलाभ तथा बाहर सफेद और चमकदार पारा उत्तम तथा धूमिल या पाण्डुवर्ण निकृष्ट होता है।[1]

जाति—क्षेत्रभेद तथा वर्णभेद से इसकी अनेक जातियों का वर्णन प्राचीन रसज्ञों ने किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकांश हिंगुल के रूप में मिलता है। कहीं-कहीं स्वतन्त्ररूप में भी पाया जाता है। विशेषतः चीन और स्पेन से आता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, सर। **रस**—षड्रस।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—त्रिदोषघ्न है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह पूतिहर, जन्तुघ्न, रोपण और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क और नाडी के लिए बलप्रद है।

पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और कृमिघ्न है। अतिमात्रा में लालाप्रसेकजनन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तवर्धक तथा रक्तशोधक है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य, रसायन और योगवाही है।

शोषण और उत्सर्ग—इसका शोषण शरीर के प्रत्येक भाग से शीघ्र होता है और शोषित होकर यह वृक्क, यकृत् तथा अन्त्रभित्तियों में अलब्युमिनेट के रूप में संचित होता है जहाँ से शनैः शनैः इसका उत्सर्ग होता है। इसके सेन्द्रिय यौगिक मुख्यतः मूत्र-द्वारा तथा निरिन्द्रिय यौगिक पुरीष द्वारा बाहर निकलते हैं। १० मिलीग्राम से अधिक मूत्र द्वारा उत्सृष्ट होने पर यह वृक्कों को हानि पहुँचाता है। लाला, स्वेद, स्तन्य, पाचकरस तथा पित्त के द्वारा भी इसका कुछ अंश बाहर निकलता है। अपरा के द्वारा यह गर्भ में भी किंचित् पहुँचता है।

विशिष्ट प्रभाव—यह विशेष कर फिरंग के जीवाणुओं (Spirochaeta Pallida) को नष्ट करता है।

सहिष्णुता—युवा की अपेक्षा बालक तथा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक सहिष्णु होते हैं। वृक्करोग, क्षय, रक्तपित्त तथा ज्वरजन्य दौर्बल्य में इसकी प्रतिक्रिया गंभीर होती है।

---

१. शुद्धः सूतो मतस्त्वन्तः सुनीलो बहिरुज्ज्वलः। सूर्यप्रभश्चाविशुद्धो धूम्रो वा परिपाण्डुरः॥' (र. त.)

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जन्तुघ्न होने के कारण इसका घोल व्रण, पूयमेह, उपदंश, फिरंग, चर्मरोग, शोथ, गलगंड, कुनख तथा नेत्ररोगों में प्रक्षालनार्थ व्यवहृत होता है। रसकर्पूरद्रव शल्यकर्म में यन्त्र-शस्त्र तथा हाथों को साफ करने के लिए प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—मुग्धरस बच्चों के वमन और अतिसार में दिया जाता है। रसपुष्प पित्तविरेचन है। जलोदर और यकृदुदर में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में प्रयुक्त होता है। फिरंग के लिए यह विशिष्ट औषध है। इसकी प्रथम और द्वितीय अवस्था में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है। किन्तु वृक्कविकारों में नहीं देना चाहिए।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोष में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—शुद्धपारद $\frac{1}{4}$-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—रससिन्दूर, मकरध्वज, कज्जली, रसपर्पटी।

विषाक्त लक्षण—मुख, आमाशय में दाह, उदरशूल, वमन, अतिसार, लालाप्रसेक, रक्तपित्त, अलब्युमिनमेह, रक्तमेह, मूत्राघात, प्रलाप, संन्यास और अन्त में मृत्यु होती है।

निवारण—मांसरस पिलाकर वमन करावे तत्पश्चात् दुग्ध का पान करावे।

× × × ×

'पारदः षड्रसः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नो रसायनः। योगवाही महावृष्यः सदा दृष्टिबलप्रदः॥
सर्वामयहरः प्रोक्तो विशेषात् सर्वकुष्ठनुत्।' (भा. प्र.)

'ग्रहणीगजकर्षणदक्षतरं त्वतिसारहरं क्षयशोषहरम्।
जठरानलमान्द्यविनाशकरं परिशीलय सूतभवं भसितम्॥' (र. त.)

२. हिंगुल

नाम—सं०-हिंगुल, दरद, म्लेच्छ; हि०-सिंगरफ; अ०-जंजरूर शंजर्फ; फा०-शंगर्फ; अं०-सिनेबार (Cinnabar)।

स्वरूप—यह जपापुष्प के सदृश गाढ़े लालरंग का दानेदार चमकीला द्रव्य है।[1]

जाति—भावमिश्र ने इसकी तीन जातियाँ बतलाई हैं। व्यवहार में यह दो प्रकार का देखने में आता है:—(१) कठोर और (२) कोमल। कोमल में पारद

१. जपाकुसुमवर्णाभः पेषणे सुमनोहरः। महोज्ज्वलो भारपूर्णः हिंगुलः श्रेष्ठ उच्यते॥'(र.त.)

अधिक होता है, अतः इससे पारद निकाला जाता है और कठोर का प्रयोग औषधार्थ करते हैं। उत्पत्ति भेद से दो प्रकार का होता है—(१) खनिज और (२) कृत्रिम।

उत्पत्तिस्थान—खनिज हिंगुल खानों से प्राप्त होता है और कृत्रिम हिंगुल कृत्रिम विधि से कारखानों में बनाया जाता है। चीन और स्पेन से आता है।

रासायनिक संघटन—यह पारद और गंधक का यौगिक है। इससे पारा निकाला जाता है।

गुणकर्म

हिंगुल त्रिदोषघ्न, दीपन, वृष्य, ज्वरघ्न एवं कुष्ठघ्न है। त्रिदोषज विकारों में विशेषतः उदरविकार, शुक्रमेह, ज्वर, आमवात और कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—½–१ रत्ती।

विशिष्ट योग—हिंगुलेश्वर, मृत्युंजय, आनन्दभैरव।

× × × ×

'तिक्तं कषायं कटु हिंगुलं स्यान्नेत्रामयघ्नं कफपित्तहारि।
हृल्लासकुष्ठज्वरकामलाश्च प्लीहामवातौ च गरं निहन्ति॥' (भा. प्र.)
'हिंगुलः सर्वदोषघ्नो दीपनोऽतिरसायनः। सर्वदोषहरो वृष्यो मारणायातिशस्यते।' (र.चू.)

३. गिरिसिन्दूर

नाम—सं०-गिरिसिन्दूर (पहाड़ों में होने वाला सिन्दूर के सदृश रक्तवर्ण द्रव्य); हि०-सिपिचन्द; अ०-रेड ऑक्साइड ऑफ मर्करी (Red oxide of mercury)।

स्वरूप—यह शुष्क, रक्तवर्ण, पारद का एक यौगिक है जो पर्वतीय चट्टानों के बीच में पाया जाता है। संप्रति यह कृत्रिमरूप से बनता है।

प्रयोग

इसका प्रयोग मलहम बनाने में करते हैं जिसको फिरंग तथा चर्मरोगों में लगाते हैं।

× × × ×

'महागिरिषु चाल्पीयः पाषाणान्तःस्थितो रसः। शुक्तशोणः स निर्दिष्टो गिरिसिन्दूरसंज्ञया॥'
(र. चू.)

४. गन्धक

नाम—सं०-गन्धक, गन्धपाषाण, बलि, लेलीतक; हि०-गन्धक; अ०-किब्रीत; फा०-गोगिर्द; अं०-सलफर (Sulphur)।

स्वरूप—यह गंधयुक्त एक द्रव्य है जो ज्वालामुखी पर्वतों से प्राप्त होता है। स्वतंत्ररूप में तथा अन्य द्रव्यों के साथ मिश्रित भी पाया जाता है। भौमद्रव्यों (पारद, रजत, ताम्र, लोहा, सीसा आदि), जांगमद्रव्यों (अंडे की जर्दी, रक्त, दूध, पित्त आदि) तथा औद्भिद द्रव्यों (राई, सरसों, लसुन, प्याज आदि) में गंधक मिश्रित रहता है।

जाति—शास्त्र में यह वर्णभेद से चार प्रकार का बतलाया गया है—(१) श्वेत, (२) पीत, (३) रक्त और (४) कृष्ण। किन्तु संप्रति पीतगंधक का प्रयोग होता है जिसे आमलासार गंधक कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इटली, सिसली, जापान, भारत, नेपाल, अफगानिस्तान और बर्मा में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कटु, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—किसी स्निग्ध पदार्थ में मिला कर त्वचा पर लगाने से यह गन्धित (Sulphide) में बदल जाता है जो हलका क्षोभक और कृमिघ्न, कण्डूघ्न कर्म करता है। लेखन होने के कारण यह त्वचा में शोथ, लालिमा भी उत्पन्न करता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक तथा पित्तसारक है। आँतों में यह सलफाइड के रूप में परिणत होता है और उनकी गति को बढ़ाता है जिससे यह मृदुरेचन का कार्य करता है। इससे बिना शूल के मृदु पुरीष आते हैं। कृमिघ्न भी है। अधिक काल तक प्रयोग करने से अग्निमान्द्य तथा अन्त्रशोथ उत्पन्न हो जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—यह रसायन, विषघ्न और योगवाही है।

शोषण—सलफाइड तथा हाइड्रोजन सलफाइड गैस के रूप में शोषण होता है। यह गैस तीव्र विष है अतः अधिक मात्रा में गन्धक लेने पर रक्तक्षय, नीलिमा, संन्यास, कम्पवात आदि लक्षण होते हैं।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग सलफेट के रूप में मुख्यतः मूत्र से होता है तथा हाइड्रोजन सलफाइड के रूप में फुफुस, स्वेद और स्तन्य से होता है। इससे श्वास और स्वेद में दुर्गन्ध आने लगती है और शरीर पर पहने हुए रजत के आभूषण काले पड़ने लगते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वायुशुद्धि के लिए इसका धूपन करते हैं। कण्डू, कच्छू, कुष्ठ, विसर्प आदि में इसका द्रव या मलहम लगाते हैं। आमवात, गृध्रसी आदि में भी लेप करने से लाभ होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, अजीर्ण, शूल, यकृद्विकार, अर्श, भगन्दर तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—आमवात, सन्धिवात आदि अनेक रक्तविकारों में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प, विचर्चिका आदि अनेक चर्मरोगों में इसका सेवन करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। शीशविष के प्रतिषेध के लिए इसका प्रयोग करते हैं क्योंकि यह शीश का आँतों में शोषण नहीं होने देता।

मात्रा—शुद्धगंधक-४-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—गन्धकरसायन, गन्धकवटी, गन्धकद्रव ।

× × × ×

'गन्धकः कटुकस्तिक्तो वीर्योष्णस्तुवरः सरः । पित्तलः कटुकः पाके कण्डुवीसर्पजन्तुजित् ॥ हन्ति कुष्ठक्षयप्लीहकफवातान् रसायनः ।' (भा. प्र.)

५. मल्ल

नाम—सं०-मल्ल, फेनाश्म, गौरीपाषाण; हि०-संखिया; बं०-शंखविष, शंकोविष; म०-सोमल, सोमलखार; गु०-सोमल, शंखियो; अ०-सम्मुलफार; फा०-मर्गमूश; अं०-आर्सेनिक (Arsenic), ह्वाइट आर्सेनिक (White Arsenic), एसिडम आर्सिनिओजम (Acidum Arseniosum)

स्वरूप—यह एक भारी, गंधस्वादरहित, शंख के सदृश श्वेतवर्ण ठोस पदार्थ है। यह पारदर्शक और अपारदर्शक दोनों प्रकार का होता है। ६५ भाग जल में धीरे-धीरे घुलता है तथा अम्ल जल, तीव्र क्षारीय विलयन में पर्याप्त विलीन होता है। सुरासार में किंचित् विलेय है।

रासायनिक संघटन—यह आर्सेनिक ट्राइ ऑक्साइड (As_2O_3) है और शुद्ध आर्सेनिक या तद्युक्त धातुओं को वायु में जलाने से प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । **रस**—कटु ।
विपाक—कटु । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन है। त्वचा विशेषतः क्षत पर लगाने से व्रणशोथ एवं कोथ उत्पन्न करता है। स्वस्थ धातुओं की अपेक्षा विकृत धातु पर विशेष प्रभाव होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य है। अतिमात्रा में अवसादक है।

पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह आमाशयिक रक्तसंवहन और स्राव को बढ़ाता है, फलतः दीपन है। अधिक मात्रा में देने पर अन्ननलिका में तीव्र क्षोभ, शोथ और रक्तस्राव उत्पन्न करता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है तथा रक्तस्थित विभिन्न जीवाणुओं को नष्ट करता है। इससे प्रथम हृदय उत्तेजित होता है तथा बाद में अवसाद होता है। केशिकाओं का विशेषतः उदरस्थ का प्रसार होता है तथा रक्तभार कम हो जाता है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है। यह वर्ण्य है तथा त्वचा को पोषण प्रदान करता और अधस्त्वक् मेद को बढ़ाता है। चिरकालिक सेवन से त्वचा में कृष्णता आती है तथा कण्डू और विस्फोट होते हैं।

तापक्रम—विषमज्वरघ्न तथा शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और रसायन है

उत्सर्ग—यह मुख्यतः मूत्र से तथा कुछ पुरीष से उत्कृष्ट होता है। किंचित् परिमाण पित्त, स्वेद, लाला, अश्रु तथा स्तन्य के द्वारा बाहर निकलता है। सेवन के २–८ घंटे के बाद उत्सर्ग प्रारम्भ होता है तथा मन्द गति से चिरकाल तक होता रहता है। कई मास तक यह यकृत्, केश तथा बाह्यत्वक् में पाया जाता है। मुख द्वारा लेने पर मुख्यतः पुरीष से तथा सूचीवेध द्वारा लेने पर मूत्र से उत्सर्ग होता है। त्वचा से उत्सर्ग होने के कारण कण्डू, विस्फोट, मंडल आदि लक्षण होते हैं।

सहिष्णुता—चिरकाल तक सेवन करते रहने से इसका विषाक्त प्रभाव कम हो जाता है और व्यक्ति सहिष्णु हो जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह अर्बुद, ग्रन्थि तथा शोथ में लेप के रूप में दिया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह कम्पवात, सन्धिवात आदि वातव्याधि में उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, छर्दि, अतिसार, उदरशूल तथा प्लीहावृद्धि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, ग्रन्थिशोथ तथा श्लीपद में लाभकर है। फिरंग रोग में यह विशेषरूप से प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—श्वास तथा यक्ष्मा में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ इसका सेवन ताम्बूल के साथ करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विचर्चिका आदि त्वचा के रोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णविषमज्वर में यह प्रयुक्त होता है। कुनैन का अकेले जब कार्य नहीं होता तब इसको मिलाकर देने से सफलता मिलती है। इससे ज्वर दूर होता है तथा रोगी का बल बढ़ता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा पाण्डु में देते हैं।

मात्रा—शुद्ध मल्ल-$\frac{१}{१००}$-$\frac{१}{५०}$ रत्ती, फेनाश्मद्रव-१-५ बूँद।

विशिष्ट योग—मल्लसिन्दूर, मल्लचन्द्रोदय।

प्रयोगविधि—(१) चर्मरोगों की तीव्र व्रणशोथयुक्त अवस्था में प्रयोग न करें।

(२) भोजन के बाद पर्याप्त जल मिलाकर दें।

(३) त्वचा में कण्डू, दाह, नेत्रक्षोभ, पलकशोथ, आमाशयशूल, नाडीशूल ये लक्षण होते ही मात्रा $\frac{१}{४}$ या $\frac{१}{२}$ कर दे या एकदम बन्द कर दे।

(४) त्वचा में कण्डू आदि होने पर विरेचन दे।

(५) जीर्ण त्वग्रोगों में कुछ महीनों तक प्रयोग करे।

(६) बच्चे और बूढ़े अधिक मात्रा ले सकते हैं।

(७) आमाशय या अंत्र में क्षोभ के लक्षण हृल्लास, अग्निमांद्य आदि होने पर इसका प्रयोग निषिद्ध है।

तीव्र विषलक्षण—उदरशूल, छर्दि, अतिसार, पैरों में ऐंठन, तीव्र तृष्णा, अवसाद आदि विसूचिका के समान लक्षण होते हैं।

जीर्ण विषलक्षण—अग्निमांद्य, हृल्लास, वमन, शूल, अतिसार, नेत्रशोथ, संधिशोथ, नाडीशोथ, पक्षाघात, त्वचा में कृष्णता आदि लक्षण होते हैं।

निवारण—वमन कराने के बाद स्निग्ध और उत्तेजक औषध देते हैं।

× × × ×

६. हरिताल

नाम—सं०-हरिताल, ताल, आल, तालक; हि०-हरताल; अ०-जर्नीख अस्फर; फा०-जर्नीखे जर्द; अं०-ऐलो आर्सेनिक (Yellow arsenic), ऑर्पिमेण्ट (Orpiment)।

स्वरूप—यह पीतवर्ण का भारी पदार्थ है।

जाति—स्वरूपतः यह दो प्रकार का होता हैं:—(१) पत्रताल और (२) पिण्डताल। पत्रताल उत्कृष्ट होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह चीन और ईरान में खानों से निकलता है। कृत्रिम भी बनाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह आर्सेनिक ट्राइसल्फेट ($As_2 S_3$) है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—कटु, कषाय।

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—लेखन, जन्तुघ्न और रोमशातन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नाडीव्रण, भगन्दर, शोथ आदि में लेप करते हैं। चूना या शंखचूर्ण के साथ रोमशातन के लिए त्वचा पर लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, प्लीहा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, फिरंग, आदि रक्तविकारों में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ तथा चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्ण तथा विषम ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, शोष में हरताल भस्म देते हैं।

मात्रा—½-१ रत्ती शुद्ध हरताल।

विशिष्ट योग—रसमाणिक्य, तालकेश्वर रस, विद्याधर रस

× × × ×

'हरितालं कटुस्निग्धं कषायोष्णं हरेद्विषम्
कण्डूकुष्ठास्यरोगास्रकफपित्तकचव्रणान् ॥' (भा. प्र.)

७. मनःशिला

नाम—सं०-मनःशिला, मनोगुप्ता, नैपाली, कुनटी; हि०-मैनसिल; बं०-मनछाल; फा०-ज़र्नीख सुर्ख; अं०-आर्सेनिक रुब्रम (Arsenic rubrum); रियल गार (Real gar)।

स्वरूप—यह भारी, नारंगी रंग की और कोमल होती है। जल में नहीं घुलती।

उत्पत्तिस्थान—चित्रल, कुमायूँ, काश्मीर आदि में हरताल के साथ पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह आर्सेनिक बाइसलफेट ($As_2 S_2$) है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म हरिताल के समान हैं। विशेषतः चर्मरोग, कास, श्वास और ज्वर में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—½-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—शिलासिंदूर, चन्द्रप्रभावर्त्ति।

× × × ×

'मनःशिला गुरुर्वर्ण्या सरोष्णा लेखनी कटुः।
तिक्ता स्निग्धा विषश्वासकासभूतकफास्रनुत् ॥' (भा. प्र.)



तृतीय अध्याय

धातु-उपधातु

१. सुवर्ण

नाम—सं०-सुवर्ण, स्वर्ण, कनक, हिरण्य, हेम, हाटक, तपनीय, गांगेय, कलधौत, काञ्चन, चामीकर, शातकुम्भ, कार्त्तस्वर; हि०-सोना; म०-सोनें; गु०-सोनुं; अ०-जहब, इक्यान; फा०-तिला, जर; लै०-ऑरम (Aurum); अं०-गोल्ड (Gold)।

स्वरूप—उत्तम सुवर्ण रक्ताभपीत, स्निग्ध और कोमल होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व १९.४, द्रवणांक १०६४ तथा काठिन्य २½ होता है। यह अत्यन्त प्रसरणशील होता है जिससे इसके अत्यन्त पतले पत्र बन सकते हैं। अम्लराज में घुलता है।

प्राप्तिस्थान—यह स्वतन्त्र रूप में, चट्टानों में तथा रजत, ताम्र, लौह आदि धातुओं के साथ मिला रहता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध । **रस**—मधुर, कषाय । **विपाक**—मधुर ।
वीर्य—शीत । **प्रभाव**—त्रिदोषघ्न ।

कर्म-प्रयोग

सुवर्ण—मेध्य, नाडीबल्य, दीपन, हृद्य, वृष्य, बृंहण, ज्वरघ्न, रसायन और विषघ्न है ।

इसका प्रयोग—उन्माद, स्मृतिदौर्बल्य, वातव्याधि, उदररोग, हृद्रोग, प्रमेह, क्लैब्य, उरःक्षत, यक्ष्मा, ज्वर, शोष और विषों में करते हैं ।

उत्सर्ग—इसका ५० प्रतिशत उत्सर्ग मूत्र से होता है । कुछ पुरीष से निकलता है तथा शेष यकृत् और पेशी में चिरकाल तक सञ्चित रहता है ।

मात्रा—स्वर्णभस्म-$\frac{1}{8}$-$\frac{1}{4}$ रत्ती ।

विशिष्ट योग—स्वर्णसिन्दूर, स्वर्णपर्पटी, योगेन्द्र, मृगाङ्क आदि ।

× × × ×

'सुवर्णं शीतलं वृष्यं बल्यं गुरु रसायनम् । स्वादु तिक्तं च तुवरं पाके तु स्वादु पिच्छिलम् ॥ पवित्रं बृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम् । हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत् ॥ विषद्वये क्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोषजित् ।' (भा. प्र.)

'शीतं कषायं मधुरं विषघ्नं वर्ण्यं च मेधास्मृतिवर्धनं च ।
रसायनीयं लघु रुक्मसुक्तम्-' (र. वै. भा.)

२. रजत

नाम—सं०-रजत, रौप्य, तार; हि०-चाँदी; अ०-नुक्रा; फा०-सीम; लै०-अर्जेण्टम (Argentum); अं०-सिल्वर (Silver) ।

स्वरूप—उत्तम रजत मृदु, गुरु, स्निग्ध तथा शरच्चन्द्र के सदृश श्वेत होता है । इसका विशिष्ट गुरुत्व १०·५ तथा द्रवणांक ७६० है । यह अत्यन्त प्रसरणशील है अतः इसके बहुत पतले पत्र बनाये जा सकते हैं । शोरकाम्ल में यह विलेय है ।

जाति—यह सहज और कृत्रिम दो प्रकार का होता है ।

उत्पत्तिस्थान—सिन्ध, आगरा, दिल्ली, लाहौर आदि में खानों से यह निकलता है ।

गुण-कर्म

रजत स्निग्ध, कषायाम्ल, मधुरविपाक, शीतवीर्य और वातपित्तशामक है । यह लेखन, चक्षुष्य, स्तम्भन, मेध्य, हृद्य, वृष्य, बल्य और रसायन है ।

प्रयोग

बाह्य—इसके शोरकाम्लीय रजत द्रव का प्रयोग जीर्णव्रण, भगन्दर, उपदंश तथा नेत्र रोगों में करते हैं । पूयमेह, गर्भाशयशोथ, श्वेतप्रदर आदि में इसकी उत्तरवस्ति देते हैं ।

आभ्यन्तर—अपस्मार, उन्माद, अर्धावभेदक, जीर्णप्रवाहिका, हृद्रोग, शुक्रप्रमेह, कष्टार्तव, क्षय में इसका प्रयोग विशेषरूप से होता है ।

मात्रा—रजतभस्म-$\frac{1}{2}$-१ रत्ती ।

विशिष्ट योग—शोरकाम्लीयरजत, रजतसिन्दूर, काञ्चनाभ्र ।

उत्सर्ग—रजत पुरीष के साथ सलफाइड के रूप में निकलता है जिससे पुरीष का वर्ण गहरा भूरा हो जाता है। अन्त्रस्रावों तथा पित्त द्वारा भी निकलता है। कुछ अंश वृक्क और यकृत में सञ्चित रहता है।

विषाक्त लक्षण—अतिमात्रा में देने पर पाचननलिका में क्षोभ, वमन, अतिसार, अवसाद तथा मृत्यु होती है।

निवारण—स्निग्ध, मधुर पेय तथा सैन्धव का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'रूच्यं तिक्तं कषायाम्लं स्वादुपाकरसं सरम्। वयसः स्थापनं स्निग्धं लेखनं वातपित्तजित्॥
प्रमेहादिकरोगाँश्च नाशयत्यचिराद्ध्रुवम्।' (भा. प्र.)

३. ताम्र

नाम—सं०-ताम्र, औदुम्बर, शुल्व, म्लेच्छमुख, सूर्य; हि०-ताँबा; अ०-नुहास्; फा०-मिस्; लै०-क्युप्रम् (Cuprum); अं०- कॉपर (Copper)।

स्वरूप—उत्तम ताम्र मृदु, स्निग्ध तथा जपा-पुष्प के सदृश रक्तवर्ण होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ८ तथा द्रवणांक १०८०% है। यह प्रसरणशील तथा उत्तम विद्युद्वाहक है।

प्राप्तिस्थान—यह अमेरिका, साइबेरिया, युरोप, बर्मा, सिक्कम एवं सिंहभूम में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर, अम्ल।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म-प्रयोग

ताम्रभस्म कफपित्तहर, जन्तुघ्न, शोथहर, दीपन, पित्तसारक, श्वासहर, दोषसंशोधन तथा रक्तवर्धक है। इसका प्रयोग ग्रन्थिशोथ, यकृत्प्लीहावृद्धि, गुल्म, अर्बुद, उदररोग, श्वास, पूयवृक्क, विसूचिका, अम्लपित्त, विष, पाण्डु, ग्रहणी और प्रमेह में लाभकर है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग यकृत्, अन्त्र, मूत्र तथा लाला द्वारा होता है।

मात्रा—$\frac{1}{2}$-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—हृदयार्णव, स्वच्छन्दभैरव, जलोदरारि, ताम्रपर्पटी, सूर्यावर्त्तरस, पञ्चाननरस।

विषाक्तलक्षण—अपक्व ताम्रभस्म लेने से भ्रम, प्रलाप, छर्दि, ज्वर, अतिसार, शूल रक्तपित्त होते हैं।

प्रयोगनिषेध—बाल, वृद्ध, गर्भिणी, सूतिका, क्षतक्षीण, क्षय एवं अर्श के रोगियों को इसका सेवन नहीं कराना चाहिए।

× × × ×

'ताम्रं कषायं मधुरं च तिक्तमम्लं च पाके कटु सारकं च।
पित्तापहं श्लेष्महरं च सोष्णं तद्रोपणं स्याल्लघु लेखनं च॥
पाण्डूदरार्शोगरकुष्ठकासश्वासक्षयान् पीनसमम्लपित्तम्।
शोथं कृमिं शूलमपाकरोति प्राहुःपरे बृंहणमल्पमेतत्॥' (भा. प्र.)

'तत्तद्रोगहरानुपानसहितं ताम्रं द्विवल्लोन्मितम् ।
संलीढं परिणामशूलमुदरं शूलं च पाण्डुज्वरम् ॥
गुल्मप्लीहयकृत्क्षयाग्निसदनं मेहं च मूलामयम् ।
दुष्टां च ग्रहणीं हरेद् ध्रुवमिदं तत्सोमनाथाभिधम् ॥' (र. र. स.)

४. वंग

नाम—सं॰ वंग, रंग, त्रपु, पिच्चट । हि॰-राँगा; म॰-कथील; गु॰-कलई; अ॰-रसास, करदीर; फा॰-अरजीर; लै॰-स्टैनम (Stannum); अं॰-टिन (Tin)।

स्वरूप—यह एक प्रसिद्ध श्वेतवर्ण चमकीली धातु है । लोहे, तांबे आदि के पात्रों पर इसकी कलई करते हैं क्योंकि इस पर जलवायु तथा अम्लों का कोई प्रभाव नहीं होता। इसका विशिष्ट गुरुत्व ७·३ तथा द्रवणांक २३२. है । उत्तम वंग (खुरक) मृदु, स्निग्ध, चमकीला तथा शीघ्र पिघलने वाला होता है ।

जाति—खुरक और मिश्रक ये दो जातियाँ इसकी होती हैं । खुरक उत्तम और ग्राह्य है ।

प्राप्तिस्थान—यह टेनासेरिम और मोक्का में पाया जाता है ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण । **रस**—तिक्त ।
विपाक—मधुर । **वीर्य**—उष्ण ।

कर्म-प्रयोग

वंगभस्म कफवातशामक, मेध्य, नाड़ीबलदायक, दीपन, अनुलोमन, कृमिघ्न, रक्तशोधक त्वग्दोषहर, प्रमेहघ्न, वृष्य एवं आर्त्तवजनन है । इसका प्रयोग कफवातविकारों में विशेषतः मस्तिष्कदौर्बल्य, वातव्याधि, अग्निमांद्य, छर्दि, कृमि, विसर्प, जीर्ण चर्मरोग, मांसार्बुद, प्रमेह (सान्द्रमेह, अच्छ, इक्षुमेह, उदकमेह और शुक्रमेह), मूत्राशय दौर्बल्य, पौरुष-ग्रन्थिशोथ, शुक्रदौर्बल्य, स्वप्नदोष, नपुंसकता, वन्ध्यात्व, कष्टार्त्तव, क्षय एवं पाण्डु में करते हैं । प्रमेह की यह सर्वोत्तम औषध मानी जाती है । जीर्णव्रण पर इसका बाह्य प्रयोग करते हैं ।

मात्रा—१-२ रत्ती ।

विशिष्ट योग—बृ॰ वंगेश्वर, स्वर्णवंग ।

× × × ×

'वंगं लघु सरं रूक्षमुष्णं मेहकफक्रिमीन् । निहन्ति पाण्डुकं श्वासं चक्षुष्यं पित्तलं मनाक् ॥
सिंहो यथा हस्तिगणं निहन्ति तथैव वंगोऽखिलमेहवर्गम् ।
देहस्य सौख्यं प्रबलेन्द्रियत्वं नरस्य पुष्टिं विदधाति नूनम् ॥' (आ. प्र.)
'बल्यं दीपनपाचनं रुचिकरं प्रज्ञाकरं सोष्णकम् । सौन्दर्यैकविवर्धनं हितकरं नीरोगताकारकम् ॥
धातुस्थौल्यकरं क्षयिक्षयहरं सर्वप्रमेहापहम् । वंगं भक्षयतो नरस्य न भवेत् स्वप्नेऽपि शुक्रक्षयः ॥
(आ. प्र.)

५. नाग

नाम—सं॰-नाग, सीस, वप्र, योगेष्ट; हि॰-सीसा; अ॰-आनुक; रसाउल् अस्वदः; फा॰-उसरुब्, सुर्बः; लै॰-प्लम्बम (Plumbum); अं॰-लेड (Lead)।

स्वरूप—उत्तम सीसक भारी, मृदु, स्निग्ध, बाहर की ओर नीला तथा भीतर नीलाभ श्वेत, शीघ्र पिघलने वाला होता है । इसका विशिष्ट गुरुत्व ११·३ और द्रवणांक ३२६° है । नत्रिकाम्ल में विलेय है ।

प्राप्तिस्थान—यह बर्मा में बहुत पाया है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, तिक्त।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

यह त्रिदोषशामक है। बाह्यप्रयोग में यह स्तम्भन, वेदनास्थापन और कुष्ठघ्न है। आभ्यन्तर रूप से यह मेध्य, नाडीबल्य, स्तम्भन, अनुलोमन, शोथहर, वृष्य, बल्य और जीवनीय है।

प्रयोग

बाह्य—जीर्णव्रण, विचर्चिका, श्वेतप्रदर, कर्णस्राव, क्षत, शोथ, चर्मरोगों में इसके द्रव से प्रक्षालन करते हैं। गलशोथ में इससे गंडूष भी करते हैं।

आभ्यन्तर—भ्रम, संन्यास, पक्षाघात, वातव्याधि, अम्लपित्त, ग्रहणी, अतिसार, प्रवाहिका, अर्श, गुल्म, उदरशूल, अपची, गंडमाला, मांसार्बुद, कास, क्लैब्य, मधुमेह, अस्थिगतव्रण, पाण्डु और दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

शोषण और उत्सर्ग—पाचननलिका, त्वचा तथा श्वासमार्ग से इसका शोषण अलव्युमिनेट के रूप में अति मन्दगति से होता है। अशोषित भाग सलफाइड के रूप में पुरीष द्वारा निकलता है जिससे पुरीष का वर्ण काला होता है। शोषित भाग केन्द्रीय नाडीमंडल, वृक्क, यकृत् और अस्थियों में संचित होता है और मंद गति से मूत्र, पित्त, स्वेद, स्तन्य तथा आन्त्र से उत्सृष्ट होता है।

मात्रा—½-१ रत्ती।

विशिष्ट योग—नागसिन्दूर, नागेश्वर रस।

विषाक्त लक्षण—अपक्व नागभस्म से उदरशूल होता है। इसके अतिरिक्त, मुखशोष, तृष्णा, छर्दि, कोष्ठबद्धता, पक्षाघात, उन्माद, अन्धता, संन्यास तथा मृत्यु होती है।

निवारण—वमन कराने के बाद मधुर स्निग्ध पदार्थ देना चाहिए।

× × × ×

'अत्युष्णं सीसकं स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम्।
प्रमेहतोयदोषघ्नं दीपनं चामवातनुत्॥' (यो. र.)

'नागः समीरकफपित्तविकारहन्ता, सर्वप्रमेहवनराजिकपीटयोनिः।
उष्ण सरोरजतरंजनकृद्व्रणार्शोगुल्मग्रहण्यतिसृतिक्षणदांशुमाली॥' (बृ. यो. त.)

'नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति व्याधिं विनाशयति जीवनमातनोति।
वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति मृत्युं च नाशयति संततसेवितः सः॥' (आ. प्र.)

'अशीतिर्वातजान् रोगान् धनुर्वातं विशेषतः। कफरोगानशेषांश्च मूत्ररोगांश्च सर्वशः॥
श्वासं कासं क्षयं पाण्डुं श्वयथुं शीतिकाज्वरम्। ग्रहणीमामदोषं च वह्निमांद्यं सुदुर्जरम्॥
सर्वानुदकदोषांश्च तत्तद्रोगानुपानतः।' (र. र. स.)

६. यशद

नाम—सं०-यशद, रीतिहेतु, खर्परसत्त्व; हि०-जस्ता; अ०-शबः, खारसीन; फा०-जसद; लैं०-जिंकम् (Zincum); अं०-जिंक (Zinc)।

स्वरूप—यह नीलाभ श्वेत, स्निग्ध, मृदु, भारी, भंगुर तथा शीघ्र पिघलनेवाला एक धातु है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ७ तथा द्रवणांक ४१०° है। यह अम्ल में विलेय है।

प्राप्तिस्थान—सिलिसिया आदि स्थानों में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और स्तम्भन है।

आभ्यन्तर—यह स्तम्भन, शोथहर, श्वासहर, वृष्य और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण, पूयमेह, श्वेतप्रदर, कर्णस्राव तथा नेत्ररोगों में इसका द्रव डालते हैं। भस्म का मलहम व्रणों में लगाते हैं तथा अवचूर्णन करते हैं। नेत्ररोगों में इसके मलहम का अंजन भी करते हैं।

आभ्यन्तर—अन्त्रशोथ, ज्वर, गंडमाला, अपची, नाडीव्रण, भगन्दर, प्रमेह, श्वास, क्षय और पाण्डुरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—भस्म-½-२ रत्ती।

विशिष्ट योग—यशदामृतमलहर, गंधकाम्लीययशद्रव, वसन्तमालती।

शोषण और उत्सर्ग—यह शोषित होकर यकृत् में तथा कुछ प्लीहा, वृक्क और अवटुग्रंथि में संचित होता है। इसका उत्सर्ग मुख्यतः पुरीष से तथा कुछ पित्त और मूत्र से होता है।

विषाक्त लक्षण—जीर्णप्रतिश्याय, अजीर्ण, वातविकार, छर्दि, दौर्बल्य, भ्रम और प्रमेह ये लक्षण होते हैं।

निवारण—बला और हरीतकी का सेवन मिश्री से कराना चाहिए।[1]

× × × ×

'यशदं तुवरं तिक्तं शीतलं कफपित्तनुत्।
चक्षुष्यं परमं मेहान् पांडुं श्वासं च नाशयेत्॥' (र. चं.)

७. लौह

नाम—सं०-लौह, अयः; हि०-लोहा; अ०-हदीद; फा०-आहन; लै०-फेरम (Ferrum); अं०-आयरन (Iron)।

स्वरूप—यह चाँदी के सदृश और भारी धातु है। इससे एक विशिष्ट गंध आती है। यह जल और ऑक्सिजन के साथ शीघ्र संयुक्त हो जाता है जिससे जंग लग जाती है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ७.७ है तथा गन्धकाम्ल और लवणाम्ल में विलीन होता है। निरुत्थ लौहभस्म आमले पर डालने से रंग बदलता नहीं, अन्यथा काला दाग आ जाता है।

जाति—कान्त, तीक्ष्ण और मुण्ड तीन प्रकार का लौह मिलता है। कान्तलौह दुर्लभ है। अतः तीक्ष्णलौह का ही प्रयोग होता है।

प्राप्तिस्थान—बिहार में लोहा की खानें हैं। वहाँ से निकाल कर अनेक प्रक्रियाओं के बाद शुद्ध लोहा बनता है।

---

१. बलाभयां सितायुक्तां सेवते यो दिनत्रयम्।
यशदस्य विकारस्तु शान्तिमायान्ति नान्यथा॥'

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष। **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—रक्तस्तम्भन और जंतुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, ग्राही, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितास्थापन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य, लेखन और विषघ्न है।

शोषण और उत्सर्ग—यह आमाशय में क्लोराइड के रूप में तथा अन्त्र में फास्फोट, कार्बोनेट आदि अविलेय लवणों में परिणत होता है। ये लवण पुनः आहारद्रव्यों में उत्पन्न हाइड्रोजन सलफाइड तथा टैनिक एसिड से मिलकर सलफेट और टैनेट में बदल जाते हैं जो पुरीष के साथ बाहर निकलते हैं और जिससे पुरीष का रंग काला हो जाता है। लौह का शोषण मुख्यतः ग्रहणी और अंत्र से होता है तथा वहाँ से शोषित होकर यकृत्, प्लीहा और मज्जा में संचित रहता है। वहाँ से यह मुख्यतः पुरीष द्वारा तथा कुछ मूत्रद्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—गले के रोगों में इससे कुल्ला करते हैं। विसर्प आदि चर्मरोगों में लेप भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार और आमवात, वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी, गुल्म, यकृत्, प्लीहा, शूल और कामला हलीमक में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—पाण्डु, सर्वांगशोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—तमक श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—नपुंसकता में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विषों में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—१-२ रत्ती।

विशिष्ट योग—लोहासव, सर्वज्वरहर लौह, विषमज्वरान्तक लौह, नवायसलौह, धात्रीलौह।

विपाक्त लक्षण—आमाशयशूल, हृल्लास, छर्दि, तृष्णा आदि उपद्रव होते हैं।

निवारण—ताजा गाय का दूध और मक्खन का सेवन करना चाहिए।

अपथ्य—कूष्माण्ड, तिलतैल, उड़द, राई, मद्य तथा अम्ल द्रव्यों का सेवन लौहभस्म के सेवनकाल में नहीं करना चाहिए।

× × × ×

'रूक्षं स्यात् खरलोहकं सुमधुरं पाकेऽथ वीर्यं हिमम्।
तिक्तोष्णं कफपित्तकुष्ठजठरप्लीहामपाण्ड्वर्त्तिनुत्॥
सद्यः शूलहरं यकृद्क्षयजरामेहामवातापहम्।
दीप्तं चातिरसायनं बलकरं दुर्नामदाहापहम्॥' (र. र. स.)
'लोहं जन्तुविकारपाण्डुपवनक्षीणत्वपित्तामय-
स्थौल्यार्शोग्रहणीज्वरार्त्तिकफजित् शोफप्रमेहप्रणुत्॥
गुल्मप्लीहविषापहं बलकरं कुष्ठाग्निमांद्यप्रणुत्।
सौख्यालम्बि रसायनं स्मृतिहरं कान्तादिकं किट्टवत्॥' (र. र. स.)

'एवं तुलामुपयुज्य कुष्ठमेहमेदः श्वयथुपाण्डुरोगोन्मादापस्मारानपहत्य वर्षशतं जीवति।'
(सु. चि. १०)

८. मण्डूर

नाम—सं०-मण्डूर, लोहमल, लोहसिंघाणक; हि०-मण्डूर, लोहकीट, सिंघार; अ०-खुब्सूलहदीद।

स्वरूप—लोहे की खानों के पास या लोहे को गलाते समय जो मलभाग पृथक् होता है उसे मण्डूर कहते हैं। मण्डूर जितना ही पुराना होगा उतना ही उत्तम माना जाता है। १०० वर्ष का मण्डूर उत्तम, ८० वर्ष का मध्यम और ६० वर्ष का अधम और उससे कम समय का अग्राह्य होता है।[1] कालपरिणाम से उसमें लघुत्व आ जाता है। इसके अतिरिक्त, छिद्ररहित, स्निग्ध, दृढ़, रक्ताभ तथा ग्राम से दूरी पर होने वाला मण्डूर प्रशस्त होता है।

प्राप्तिस्थान—लोहे की खानों के पास पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह एक प्रकार का फेरोफेरिक ऑक्साइड (Ferro-ferric oxide) है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म लौह के समान ही होता है किन्तु लौह की अपेक्षा यह शीघ्र पाचित और शोषित होती है अतः शीघ्र कार्यकारी है। यह विशेष कर कामला, कुम्भकामला, पांडु, हारिद्रक, हलीमक, सर्वांगशोथ, यकृत् प्लीहा, अस्थिशोष, जीर्णज्वर, विषमज्वर, कृमि तथा अनार्त्तव में उपयोगी है।

मात्रा—१-२ रत्ती (भस्म)।

विशिष्टयोग—मण्डूराष्टक, पुनर्नवादिमंडूर।

---

१. शताब्दमुत्तमं किट्टं मध्यं चाशीतिवर्षिकम्।
अधमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम्॥' (रसार्णव.)

'तच्चूर्णं मधुना लीढं पांडु हन्ति सकामलम् ।' (रसार्णव)

'किट्टं कषायं शिशिरं पाण्डुश्वयथुशोथजित् ।
हलीमकं कामलां च हरते कुंभकामलाम् ॥' (वृ. यो. त.)
'मंडूरं शिशिरं रुच्यं पाण्डुश्वयथुशोषजित् ।
हलीमकं कामलां च प्लीहानं कुम्भकामलाम् ॥' (यो. र.)

९. विमल

नाम—सं०-विमल; अं०-आयरन पायराइट (Iron Pyrite)।

स्वरूप—विमल स्निग्ध, वर्तुल, कोणयुक्त (प्रायः षट्कोण या द्वादशकोण) तथा फलकयुक्त (पहलदार) होता है।

जाति—वर्णभेद से यह तीन प्रकार का होता है—(१) स्वर्णविमल (२) रौप्यविमल तथा (३) कांस्यविमल।

रासायनिक संघटन—यह लौह और गन्धक का यौगिक है।

गुणकर्म

यह कटु, तिक्त उष्णवीर्य, वातपित्तशामक, रक्तशोधक, रक्तवर्धक (शोणितास्थापन), शोथहर, ज्वरघ्न, दीपन, पाचन, अनुलोमन, पित्तसारक, वृष्य और रसायन है। इसका प्रयोग वातपैत्तिक रोगों में विशेषतः कुष्ठ, पांडु, कामला, शोथ, जीर्ण विषमज्वर, प्रमेह अर्श, ग्रहणी, उदरशूल तथा क्षयरोग में करते हैं। अनुपानभेद से अन्य विकारों में भी देते हैं।

मात्रा—भस्म-१-२ रत्ती।

× × × ×

'मरुत्पित्तहरो वृष्यो विमलोऽतिरसायनः।' (र. चू.)
'विमलं कटु तिक्तोष्णं त्वग्दोषव्रणनाशनम् ।' (रा. नि.)
'लीढो व्योषवरान्वितस्तु विमलो युक्तो घृतैः सेवितो
हन्याद्धातुगतान् ज्वरान् श्वयथुकं पाण्डुप्रमेहारुचीः।
मूलार्त्तिं ग्रहणीं च शूलमतुलं यक्ष्मामयान् कामलां
सर्वान् पित्तमरुद्भवान् किमपरं योगैरशेषामयान् ॥' (र. चू.)

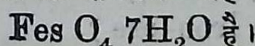
१०. काशीश

नाम—सं०-काशीश, खेचर, खग; हि०-कसीस, हीराकसीस; बं०-हिराकस; म०-हिराकस; अ०-जाजअख्जर; फा०-जाजसब्ज; अं०-आयरन सलफेट (Iron Sulphate)

स्वरूप—यह नीलाभ तथा हरित दानेदार पदार्थ होता है। गरम करने पर जलीयांश सूख जाता है और श्वेत हो जाता है। जल में विलेय है।

जाति—शास्त्र में इसके दो भेद बतलाये गये हैं:—(१) बालुकाकाशीश या चूर्ण काशीश (२) पुष्पकाशीश। प्रथम भेद श्वेत, पीताभ चूर्ण रूप में मिलता है तथा दूसरा भेद स्वच्छ हरे रंग का होता है। बालुकाकासीस प्रायः प्राकृत और पुष्पकाशीश प्रायः कृत्रिम होता है।

रासायनिक संघटन—यह लोहे और गन्धक का यौगिक है। इसका सूत्र $FeSO_4 7H_2O$ है।



गुणकर्म

यह कषाय, तिक्त, अम्ल, उष्णवीर्य, वातश्लेष्महर, चक्षुष्य, केश्य, रक्तवर्धक, रक्तशोधक, शोथहर, दीपन, पाचन, अनुलोमन, आर्त्तवजनन तथा विषघ्न है। पूयाभिष्यन्द, नेत्रव्रण आदि में इसका बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग होता है। पालित्य रोग में भी बाह्याभ्यन्तर प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त, अग्निमांद्य, ग्रहणी, शूल, गुल्म, पांडु, यकृत् प्लीहा, रक्तविकार तथा रजोरोध में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—१-२ रत्ती (भस्म)।

विशिष्ट योग—काशीशद्रव, काशीशाद्य तैल, रजःप्रवर्त्तिनी वटी।

× × × ×

'काशीशद्वयमम्लोष्णं तिक्तं च तुवरं तथा। वातश्लेष्महरं केश्यं नेत्र्यं कण्डुविषप्रणुत् ॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीश्वित्रनाशनं परिकीर्त्तितम्।' (आ. प्र.)
'...सोष्णं कषायाम्लमतीव नेत्र्यम्। विषानिलश्लेष्मगदव्रणघ्नं श्वित्रक्षयघ्नं कचरञ्जनं च ॥
सेवितं हन्ति वेगेन श्वित्रं पाण्डुक्षयामयम्। गुल्मप्लीहगदं शूलं मूलरोगं विशेषतः ॥
रसायनविधानेन सेवितं वत्सरावधि। आमसंशोषणं श्रेष्ठं मन्दाग्निपरिदीपनम् ॥
पलितं वलिभिः सार्धं विनाशयति निश्चितम्।' (र. र. स.)

११. गैरिक

नाम—सं०-गैरिक, गिरिज, गैरेय, रक्तधातु; हि०-गेरू; बं०-गिरिमाटी; म०-गेरू; गु०-गेरू; अ०-मग्रः, मग्रत; फा०-गिले सुर्ख; अं०-ऑकर (Ochre)।

स्वरूप और जाति—गैरिक दो प्रकार का है—(१) पाषाणगैरिक, (२) स्वर्णगैरिक। पाषाणगैरिक कठोर, रूक्ष तथा श्यामाभ रक्त या फीके रक्तवर्ण का होता है। स्वर्णगैरिक स्निग्ध, मृदु तथा अत्यन्त रक्त होता है।

रासायनिक संघटन—यह लोहा और ऑक्सिजन का यौगिक है।

गुणकर्म

गैरिक स्निग्ध, कषाय-मधुर, शीतवीर्य, कफपित्तशामक, चक्षुष्य, स्तम्भन, रक्तशोधक, और विषघ्न है। इसका प्रयोग रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, नेत्ररोग, विस्फोट, विसर्प, छर्दि, हिक्का, विष, व्रण एवं अग्निदग्ध में करते हैं।

मात्रा—शुद्धगैरिक १-३ माशे।

विशिष्ट योग—कामदुघा, वज्रदन्तमंजन।

× × × ×

'गैरिकद्वितयं स्निग्धं मधुरं तुवरं हिमम्। चक्षुष्यं दाहपित्तास्रकफहिक्काविषापहम् ॥' (भा.प्र.)
'गैरिकं मधुरं शीतं कषायं व्रणरोपणम्। विस्फोटार्शोऽग्निदाहघ्नं कण्डूवीसर्पनाशनम् ॥' (रा.नि.)
'स्वादु स्निग्धं हिमं नेत्र्यं कषायं रक्तपित्तनुत्। हिक्कावमिविषघ्नं च दाहघ्नं स्वर्णगैरिकम् ॥
पाषाणगैरिकं चान्यत् पूर्वस्मादल्पकं गुणैः।' (र. चू.)

१२. कान्तपाषाण

नाम—सं०-कान्तपाषाण, अयस्कान्त, लोहकर्षक, चुम्बक, चुम्बकपाषाण; हि०-चुम्बक पत्थर; अ०-मिक़नातीस; अं०-मैगनेटाइट (Magnetite), लोडस्टोन (Load-stone), मैगनेटिक आयरन ओर (Magnetic Iron-ore)।

स्वरूप—यह चुम्बकत्वयुक्त एक खनिज है जिससे उत्तम लौह निकाला जाता है।

रासायनिक संघटन—यह लौह और आक्सिजन का यौगिक है। इसका सूत्र Fe_3O_4 है।

गुणकर्म

यह शीतवीर्य, शोणितास्थापन, वल्य, वृष्य तथा लेखन है। इसका प्रयोग पांडु, क्षय, कास-श्वास, जीर्णज्वर, मूर्च्छा, रक्तपित्त, शुक्रदौर्बल्य, मेदोरोग और विष में करते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती (भस्म)

× × × ×

'चुम्बको लेखनः शीतो मेदोविषगदापहः।' (भा. प्र.)

१३. शिलाजतु

नाम—सं०-शिलाजतु, गिरिज, शैलनिर्यास, अश्मज; हि०-शिलाजीत; फा०-मोमिआई; अं०-ब्लैक बिटुमन (Black Bitumen); मिनरल पिच (Mineral Pitch)।

स्वरूप—ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की तीव्र किरणों से पर्वतशिलाओं से एक गाढ़ा स्राव बाहर निकलता है, इसे 'शिलाजतु' कहते हैं। उत्तम शिलाजतु मृदु, स्निग्ध, स्वच्छ तथा गुरु होता है तथा उससे गोमूत्र के सदृश गन्ध आती है। यह जल में विलेय है।

जाति—संहिताओं में यह चार प्रकार का बतलाया गया है:—(१) सौवर्ण, (२) राजत, (३) ताम्र और (४) आयस। सुवर्ण आदि धातुयुक्त खनिजों के संपर्क से ये चार प्रकार के शिलाजीत होते हैं। इनका वर्ण क्रमशः रक्त, पाण्डुर, नील और कृष्ण होता है। इसमें आयस शिलाजतु सर्वोत्तम होता है और संप्रति इसीका व्यवहार होता है। अन्य भेद दुष्प्राप्य हैं। शोधनपद्धति के भेद से भी यह दो प्रकार का होता है—(१) सूर्यतापी-जो सूर्य की किरणों से शुद्ध किया जाता है तथा (२) अग्नितापी-जो आग की आँच में शुद्ध किया जाता है। सूर्यतापी उत्तम माना जाता है।

प्राप्तिस्थान—यह विशेषतः नेपाल, भूटान, तिब्बत के पर्वतों से प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें अलब्युमिनॉयड्स, राल, वसाम्ल, बेञ्जोइक तथा हिप्युरिक अम्ल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष। **रस**—कटु, तिक्त, कषाय, ।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन, पित्तसारक, मृदुरेचन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक और शोथहर है। यह छोटी धमनियों को संकुचित करता है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न तथा मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य, रसायन, लेखन और योगवाही है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। पित्तसंशोधनार्थ भी दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अभिघात, शोथ और वेदना में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार तथा आमवात, सन्धिवात आदि वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—उदररोग, शूल, गुल्म, अर्श, कामला और कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, फिरङ्गोपदंश, वातरक्त, सन्धिशोथ, शोथ, श्लीपद, गण्डमला में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, कुकुरखाँसी, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में देते हैं। श्वेतप्रदर में भी लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, पूयमेह, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में दिया जाता है।

तापक्रम—जीर्ण विषमज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोष, मेदोरोग तथा गरदोष में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—१ रत्ती से बढ़ा कर क्रमशः ३–६ माशे तक।

विशिष्ट योग—चन्द्रप्रभा वटी, शिलाजत्वादि लौह, हृदि चिन्तामणि।

वक्तव्य—शोधन के पश्चात् ही इसका प्रयोग करना चाहिए। सेवनकाल में विदाही, गुरु द्रव्य तथा कुलत्थ का सेवन वर्जित है।

× × × ×

'शिलाजं कटुतिक्तोष्णं कटुपाकं रसायनम्। छेदि योगावहं हन्ति कफमेदोश्मशर्कराः॥
मूत्रकृच्छ्रं क्षयं श्वासं वातास्रार्शांसि पाण्डुताम्। अपस्मारं तथोन्मादं शोथकुष्ठोदरक्रिमीन्॥'
(भा. प्र.)

'तत् सर्वं तिक्तकटुकं कषायानुरसं सरम्। कटुपाक्युष्णवीर्यं च शोषणं छेदनं तथा।
मेहं कुष्ठमपस्मारमुन्मादं श्लीपदं गरम्। शोषं शोफार्शसी गुल्मं पाण्डुतां विषमज्वरम्॥
अपोहत्यचिरात् कालाच्छिलाजतु निषेवितम्। शर्करां चिरसम्भूतां निहन्ति च तथाश्मरीम्॥'
(सु. चि. १३)

'अनम्लं च कषायं च कटु पाके शिलाजतु। नात्युष्णशीतं……।
जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम्। मेधास्मृतिकरं चैव क्षीराशी तत् प्रयोजयेत्॥
वातपित्तकफघ्नैस्तु निर्यूहैस्तत् सुभावितम्। वीर्योत्कर्षं परं याति सर्वैरेकैकशोपि वा॥'
(च. चि. १)

'न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः शिलाह्वयं यं न जयेत् प्रसह्य।
तत्कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं स्वस्थस्य चोर्जां विपुलं ददाति॥' (च. चि. १)
'उपयुज्य तुलामेवं गिरिजादमृतोपमात्। वपुर्वर्णबलोपेतो मधुमेहविवर्जितः॥
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽमरसन्निभः।' (सु. चि. १३)

१४. अभ्रक

नाम—सं०-अभ्रक, अभ्र, गगन, व्योम; हि०-अभ्रक, अबरख; अ०-तलक, अं०-माइका (Mica), कृष्णाभ्र-बायोटाइट (Biotite)।

स्वरूप—उत्तम अभ्रक नीलाञ्जन के सदृश, स्निग्ध, चिकना, भारी, मृदु तथा जिसके दल आसानी से पृथक् किये जा सकें ऐसा होता है।[1]

जाति—अभ्रक वर्णभेद से चार प्रकार का होता है—श्वेत, पीत, रक्त और कृष्ण। कृष्ण अभ्रक भी चार प्रकार का होता है:—(१) पिनाक, (२) नाग, (३) मण्डूक और (४) वज्र। वज्र अभ्रक आग में रखने पर स्थिर रहता है। यही औषधकर्म में प्रशस्त माना गया है।

प्राप्तिस्थान—यह बिहार (हजारीबाग), राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा नेलोर में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें लौह, अलुमिनियम, मैगनीशियम, सोडियम, पोटाशियम और सिलिका होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—मधुर, कषाय।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—शीत। **प्रभाव**—त्रिदोषहर।

कर्म

अभ्रकभस्म बल्य और रसायन है अतः शरीर के सभी अंगों पर इसका बल्य कर्म होता है। विशेषतः यह मेध्य, नाडीबल्य, दीपन, अनुलोमन, हृद्य, शोणितास्थापन, शोथहर, कफघ्न, वृष्य, प्रमेहघ्न, ज्वरघ्न तथा रसायन है।

प्रयोग

इसका प्रयोग उन्माद, अपस्मार, भ्रम, वातव्याधि, ग्रहणी, अन्त्रशोष, अम्लपित्त, शूल, हृद्रोग, रक्तपित्त, अर्श, कुष्ठ, शोथ, ग्रन्थि, कास, श्वास, ध्वजभंग, प्रमेह, जीर्णज्वर, यक्ष्मा, क्षय, बालशोष में होता है।

मात्रा—भस्म-¼-१ रत्ती।

विशिष्टयोग—ज्वरार्यभ्र, महालक्ष्मीविलास, शृंगाराभ्र, नागार्जुनाभ्र।

वक्तव्य—सहस्रपुटी अभ्रभस्म को मधु में खूब खरल कर देना चाहिए। इससे उसका शोषण शीघ्र और उत्तम होता है।

× × × ×

'अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायुःकरं धातुविवर्धनं च।
हन्यात्त्रिदोषव्रणमेहकुष्ठप्लीहोदरग्रंथिविषकृमींश्च॥
रोगान् हन्ति दृढयति वपुर्वीर्यवृद्धिं विधत्ते।
तारुण्याढ्यं रमयति शतं योषितां नित्यमेव॥
दीर्घायुष्यान् जनयति सुतान् विक्रमैः सिंहतुल्या-
न्मृत्योर्भीतिं हरति सततं सेवमानं मृताभ्रम्॥ (भा. प्र.)

---

१. नीलांजनोपमं स्निग्धं भारपूर्णं महोज्ज्वलम्। निर्मोच्यपत्रं मृदुलं त्वभ्रं श्रेष्ठमिहोच्यते॥'
(र. त.)

'सृतं सत्वं हरेन्मृत्युं सर्वरोगविनाशनम् । क्षयं पाण्डुं ग्रहणिकां श्वासं शूलं सकामलम् ।
ज्वरान् मेहाँश्च कासांश्च गुल्मान् पंचविधानपि । मन्दाग्निमुदराण्येवमर्शांसि विविधानि च ॥
अनुपानप्रयोगेण सर्वरोगान् निहन्ति च ।
अभ्रसत्वगुणाः वक्तुं शक्यते न समाशतैः ॥' (र. प्र. सु.)

१५. पुष्पाञ्जन

नाम—सं०-पुष्पाञ्जन, रीतिज, रीतिपुष्प; हि०-जस्ते का फूल; फा०-सफेद ए काशगरी; अं०-जिंक ऑक्साइड (Zinc oxide) ।

स्वरूप—यह श्वेत, स्निग्ध चूर्ण होता है ।

प्राप्तिस्थान—यह कहीं कहीं खनिज रूप में प्राप्त होता है और कृत्रिम रूप से राजस्थान में बनता है ।

रासायनिक संगठन—यशद और आक्सिजन का यौगिक है। इसका सूत्र ZnO है।

गुणकर्म

यह शीतवीर्य, पित्तनाशन, व्रणरोपण, विषघ्न, ज्वरघ्न और हिक्कानिग्रहण है । इसका प्रयोग नेत्ररोगों में, व्रण, चर्मरोग, ज्वर, विष तथा हिक्का में करते हैं ।

मात्रा—२-५ रत्ती ।

× × × ×

'पुष्पाञ्जनं तु शिशिरं स्निग्धं पित्तप्रणाशनम् । अभिष्यन्दप्रशमनं परं दाहविनाशनम् ॥
विचर्चिकादित्वग्दोषशमनं व्रणरोपणम् । समाख्यातं विशेषेण हिक्कापंचकनाशनम् ॥ (र. त.)

१६. सिन्दूर

नाम—सं०-सिन्दूर, रक्तरेणु, नागज; हि०-सिन्दूर, सेंदुर; अ०-इस्रिंज, उसरज्; फा०-सिरिंज, सुरंज; लै०-प्लम्बाइ ऑक्सिडम रुब्रम् (Plumbi oxidum rubrum) अं०-रेड ऑक्साइड ऑफ लेड (Red oxide of lead) रेड लेड (Red Lead) ।

स्वरूप—यह लाल, चमकीला, भारी चूर्ण होता है ।

प्राप्तिस्थान—यह कृत्रिम रीति से बनाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—नाग और आक्सिजन के संयोग से बनता है। इसका सूत्र Pb_3O_4 है।

गुण-कर्म

यह उष्णवीर्य, व्रणशोधन, रोपण, कुष्ठघ्न, विषघ्न और सन्धानीय है । व्रण, चर्मरोग, विष आदि में इसका मलहम बनाकर लगाते हैं ।

वक्तव्य—इसका बाह्य प्रयोग ही होता है, आभ्यन्तर नहीं ।

विशिष्ट योग—सिन्दूराद्य तैल, सिन्दूराद्य मलहर ।

× × × ×

'सिन्दूरं क्षुद्रकुष्ठघ्नं त्वच्यं व्रणविशोधनम् । भग्नसंधानजननं तथैव व्रणरोपणम् ॥
पामाविचर्चिकासिध्मवीसर्पशमनं परम् । भूतघ्नं च विशेषेण रक्तदोषनिषूदनम् ॥' (र. त.)
'सिन्दूरमुष्णं वीसर्पकुष्ठकण्डूविषापहम् । भग्नसंधानजननं व्रणशोधनरोपणम् ॥' (भा. प्र.)

१७. मृद्दारशृंग

नाम—सं०-मृद्दारशृंग; हि०-मुरदासंग; गु०-बोदार; अ०-मुरदासंज; फा०-मुरदासंग, मुर्दारसंग; लै०-प्लम्वाइ ऑक्साइडम् (Plumbi oxidum); अं०-लेड मोनॉक्साइड (Lead monoxide), लिथार्ज (Litharge)।

स्वरूप—यह दलयुक्त, लोहिताभ पीत तथा भारी पदार्थ है। जल में नहीं घुलता है। हलके नत्रिकाम्ल तथा सिरकाम्ल में घुल जाता है।

प्राप्तिस्थान—यह गुजरात में आबूपर्वत के पास पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह नाग और ऑक्सिजन का यौगिक है। इसका सूत्र PbO. है।

गुण-कर्म

यह शीतवीर्य, लेखन, व्रणशोधन, रोपण, त्वग्दोषहर तथा केशरंजन है। अन्तःप्रयोग में यह कृमिघ्न और रेचन है। इसका बाह्यप्रयोग व्रण या चर्मरोग तथा पालित्य में करते हैं। अन्तः प्रयोग विबन्ध, उदररोग और कृमि में होता है।

मात्रा—४ र०-१ माशे।

विशिष्ट योग—मृद्दारशृङ्गाद्य मलहर।

'कृमिघ्नं रेचनं चैव व्रणशोधनरोपणम्। मृद्दारशृङ्गकं प्रोक्तं लेखनं केशरञ्जनम् ॥' (र. प्र. सु.)
'मृद्दारशृङ्गं शिशिरं परं वातकफापहम्। फिरङ्गव्रणहृत् केश्यं व्रणरोपणमुत्तमम् ॥
भग्नसन्धानजननं पामाकण्डूतिकादिनुत्। संकोचकं विशेषेण त्वग्दोषशमनं मतम् ॥' (र. त.)

१८. सफेदा

नाम—हि०-सफेदा; अ०-इस्फेदाज; फा०-इस्फेदाब; लै०-प्लम्वाइ कार्बोनस (Plumbi Corbonas); अं०-लेड कार्वोनेट (Lead Carbonate); ह्वाइट लेड (White lead)।

स्वरूप—यह श्वेत, स्निग्ध और भारी चूर्ण है।

प्राप्तिस्थान—कृत्रिम रूप से बनाया जाता है।

गुणकर्म

यह शोषण, व्रणरोपण, रक्तस्तम्भन और दाहप्रशमन है। व्रण, क्षत तथा अग्निदग्ध में इसका मलहम लगाते हैं।

वक्तव्य—इसका आभ्यन्तर प्रयोग नहीं होता।

१९. सौवीराञ्जन

नाम—सं०-सौवीराञ्जन, नीलाञ्जन; हि०-सुरमा, काला सुरमा; अ०-इस्मद, कोहल; फा०-सुरमा; अं०-लेड सलफाइड (Lead Sulphide), गैलेना (Galena)।

स्वरूप—यह बाहर की ओर श्यामवर्ण, तोड़ने पर चमकीला तथा घिसने पर अत्यन्त कृष्ण होता है।[1]

प्राप्तिस्थान—यह झेलम नदी के आस पास पर्वतों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह नाग और गन्धक के योग से बनता है।

---

१. 'बाह्यतः खलु धूमाभं भंगे त्वतिसमुज्ज्वलम्। घर्षे खलु मषीवर्णं सौवीराञ्जनमुच्यते ॥ (र. त.)

गुणकर्म

सौवीराञ्जन गुरु, स्निग्ध, शीतवीर्य, त्रिदोषघ्न, चक्षुष्य, ग्राही, व्रणशोधन-रोपण तथा रसायन और विषघ्न है। इसका प्रयोग नेत्ररोग, व्रण, रक्तपित्त, रक्तप्रदर, हिक्का एवं विष में करते हैं। सुवर्ण आदि धातुओं के मारण में भी प्रयुक्त होता है।

मात्रा—½–१ रत्ती।

विशिष्टयोग—तुहिनाञ्जन।

वक्तव्य—अन्तः प्रयोग में २-३ दिनों से अधिक सेवन न करावे।

× × × ×

'सौवीरं तु गुरु स्निग्धं नेत्र्यं दोषत्रयापहम्। रसायनं सुवर्णघ्नं लोहमार्दवकारकम्॥' (र.चू.)

'सौवीरमञ्जनं ग्राहि स्निग्धं च तुहिनोपमम्। रक्तपित्तप्रशमनं नेत्रामयहरं परम्॥

विषहिक्कापहं कामं व्रणशोधनरोपणम्। परं रजोरोधकरं रक्तप्रदरनाशनम्॥' (र. त.)

२०. पित्तल

नाम—सं०-पित्तल, आरकूट, रीति; हि०-पीतल; अं०-ब्रास (Brass)।

स्वरूप—यह पीले रंग का, चमकदार, मृदु तथा भारी उपधातु है। जो आग में तपाकर कांजी में बुझाने पर ताम्रवर्ण हो जाय वह उत्तम पित्तल समझना चाहिए।

रासायनिक संघटन—दो भाग ताम्र और एक भाग यशद को एकत्र मिलाने से पित्तल बनता है।

गुणकर्म

यह रूक्ष, तिक्त, लवण, किंचित् उष्ण, शोधन, लेखन, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न है। इसका प्रयोग रक्तविकार, कृमि, कुष्ठ, पांडु में होता है।

मात्रा—½–१ रत्ती (भस्म)।

विशिष्टयोग—पित्तलरसायन।

× × × ×

'रीतिकायुगलं रूक्षं तिक्तं च लवणं रसे। शोधनं पाण्डुरोगघ्नं कृमिघ्नं नातिलेखनम्॥'(भा.प्र.)

२१. कांस्य

नाम—सं०-कांस्य, घोष, कांसक; हि०-काँसा; अं०-बेल मेटल (Bell metal)।

स्वरूप—यह मृदु, स्निग्ध, दृढ, सुनाद, मिश्रलोह है जो अधिकतर घंटा आदि बनाने के काम में आता है।

रासायनिक संघटन—यह आठ भाग ताम्र और दो भाग वंग को एकत्र मिलाने से बनता है।

गुणकर्म

यह लघु, रूक्ष, तिक्त, कषाय, उष्णवीर्य, लेखन, चक्षुष्य, कृमिघ्न और कुष्ठघ्न है। इसका प्रयोग नेत्ररोग, कृमि, कुष्ठ में करते हैं।

मात्रा—½–१ रत्ती।

× × × ×

'कांस्यं कषायं तिक्तोष्णं लेखनं विशदं सरम्। गुरु नेत्रहितं रूक्षं कफपित्तहरं परम्॥' (भा.प्र.)

'कांस्यं लघु च तिक्तोष्णं लेखनं दृक्प्रसादनम्। कृमिकुष्ठहरं वातपित्तघ्नं भाजने हितम्॥' (र. चू.)

२२. माक्षिक

नाम—सं०-माक्षिक, ताप्य, तापीज, सुवर्णमाक्षिक; हि०-सोनामाखी; अ०-मारकशीशा; अं०-चेल्कोपायराइट (Chalcopyrite), कापर पायराइट (CopperPyrite)।

स्वरूप—उत्तम माक्षिक स्निग्ध, गुरु, बाहर से कृष्णाभ, तोड़ने पर भीतर स्वर्णवर्ण तथा कसौटी पर घिसने से सोने जैसा तथा कोणरहित होता है। जल में अविलेय तथा अम्ल में विलेय है।

जाति—माक्षिक वर्णभेद से मुख्यतः दो प्रकार का माना जाता है—(१) स्वर्णमाक्षिक (२) रौप्यमाक्षिक। कुछ लोग तीसरा भेद 'कांस्यमाक्षिक' भी मानते हैं।

रासायनिक संघटन—यह, ताम्र, लौह तथा गन्धक का यौगिक है। उत्तम स्वर्णमाक्षिक में $\frac{1}{3}$ ताम्र होता है।

गुणकर्म

माक्षिक लघु, मधुरतिक्तकषाय, शीतवीर्य तथा त्रिदोषहर है। यह शामक, स्तम्भन, रक्तप्रसादन, वल्य, रसायन और योगवाही है। शिरःशूल, भ्रम, अनिद्रा, मदात्यय, पित्ताभिष्यन्द, हृद्द्रव, शोथ, रक्तपित्त, अम्लपित्त, अर्श, विसूचिका, ग्रन्थिशोथ, प्रमेह, शुक्रदौर्बल्य, प्रदर, चर्मरोग, दौर्बल्य, पाण्डु, कामला और विष में इसका प्रयोग होता है।

मात्रा—१-२ रत्ती।

विशिष्ट योग—ताप्यादि लौह, गर्भविनोद।

× × × ×

'सुवर्णमाक्षिकं स्वादु तिक्तं वृष्यं रसायनम्। चक्षुष्यं वस्तिरुक्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरान्॥
अर्शः शोफमनिद्रां च त्रिदोषमपि नाशयेत्।' (भा. प्र.)
'माक्षिकं तिक्तमधुरं मेहार्शःक्षयकुष्ठनुत्। कफपित्तहरं बल्यं योगवाहि रसायनम्॥' (र. मं.)
'एवं च माक्षिकं धातुं तापीजममृतोपमम्। मधुरं काञ्चनाभासमम्लं वा रजतप्रभम्॥
पिबन् हन्ति जराकुष्ठमेहपाण्ड्वामयक्षयान्।' (सु. चि. १३)

२३. तुत्थ

नाम—सं०-तुत्थ, शिखिग्रीव, मयूरक, सस्यक, अमृतासंग; हि०-तूतिया, नीला थोथा; म०-मोरचूत; गु०-मोरथुथु; अ०-तूतियाए अख्जर; लै०-क्युप्राइ सल्फस (Cupri sulphas); अं०-कॉपर सलफेट (Copper sulphate); ब्लु विट्रिओल (Blue vitriol)।

स्वरूप—गुरु, स्निग्ध, चमकीला स्फटिकाकार तथा मयूरकण्ठ के समान नीलवर्ण तुत्थ होता है। यह तिगुने ठण्डे जल में विलेय है।

प्राप्तिस्थान—यह कहीं-कहीं प्राकृत और अधिकांश ताम्र, गन्धकाम्ल और जल के संयोग से बनाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह ताम्र, गन्धकाम्ल और जल का यौगिक है। इसका $CUSo_4$ $5H_2O$ है।

गुणकर्म

यह लघु, कटु, कषाय, क्षार, उष्णवीर्य, लेखन, भेदन, चक्षुष्य, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न, कृमिघ्न और विषघ्न है। इसका बाह्य प्रयोग दुष्टव्रण, पोथकी आदि नेत्ररोग तथा दद्रु आदि

चर्मरोगों में करते हैं। आभ्यन्तर प्रयोग रक्तविकार में तथा विषों में वमनार्थ करते हैं। विशेषतः स्फुरक विष में यह वामक और अगद दोनों रूप में कार्य करता है।

मात्रा—भस्म-⅛-१ रत्ती; वमनार्थ-२-५ रत्ती।

विशिष्ट योग—तुत्थकद्रव, तुत्थामृतमलहर, तुत्थामृतावटी, गर्भविलासरस।

शोषण और उत्सर्ग—इसका शोषण अत्यन्त मन्दगति से होता है और शरीर में जाकर यकृत्, वृक्क और प्लीहा में सञ्चित होता है। इसका उत्सर्ग मुख्यतः पुरीष से तथा कुछ पित्त, मूत्र, लाला और स्वेद से होता है।

विषाक्त लक्षण—इसके अधिक प्रयोग से पाचनसंस्थान में क्षोभ होने के कारण शूल, छर्दि, अतिसार आदि लक्षण होते हैं।

निवारण—वमन कराने के बाद मधुरस्निग्ध पेय देना चाहिए।

× × × ×

'तुत्थकं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु। लेखनं भेदनं चोष्णं चक्षुष्यं कफपित्तहृत्॥
विषाश्मकुष्ठकण्डूघ्नम्।' (भा. प्र.)
'तुत्थकं लेखनं भेदि कषायं मधुरं लघु। क्रिमिघ्नमथ चक्षुष्यं मेहमेदोहरं परम्॥
कफपित्तहरं बल्यं शूलहृत्कुष्ठनाशनम्। श्वित्रापहं त्वम्लपित्तहरं चैव रसायनम्॥
तुत्थं संकोचनकरं नाडीनां बलकृत्परम्। त्वग्दोषशमनं कामं विशेषाद्व्रचिरं मतम्॥ (र. त.)

चतुर्थ अध्याय

रत्न-उपरत्न

रमणीय होने से 'रत्न' संज्ञा है। रत्नों की संख्या नव है—(१) हीरक (२) माणिक्य (३) पुष्पराग (४) नील (५) तार्क्ष्य (६) वैदूर्य (७) गोमेद (८) मुक्ता (९) प्रवाल। ये क्रमशः शुक्र, सूर्य, गुरु, शनि, बुध, केतु, राहु, चन्द्र तथा मंगल के लिए विशिष्ट रत्न माने गए हैं। इनमें मुक्ता और प्रवाल जांगम द्रव्यों में हैं और उनका वर्णन वहीं किया गया है। शेष रत्नों का वर्णन यहाँ किया जायगा।

रत्नों का सामान्य गुणकर्म

रत्न सामान्यतः मधुर, सर, शीतवर्ण, चक्षुष्य, विषघ्न, वल्य और ग्रहदोषनाशन हैं। विशिष्ट ग्रहबाधा में विशिष्ट रत्न का धारण करते हैं।

मात्रा—⅛-½ रत्ती।

विशिष्ट योग—नवरत्नगर्भपोट्टली।

× × × ×

'रत्नानि भक्षितानि स्युर्मधुराणि सराणि च। चक्षुष्याणि च शीतानि विषघ्नानि धृतानि च॥
मांगल्यानि मनोज्ञानि ग्रहदोषहराणि च।' (भा. प्र.)

१. हीरक

नाम—सं०-हीरक, वज्र, कुलिश, भिदुर; हि०-हीरा, अ०-अल्मास; अं०-डायमण्ड (Diamond)।

स्वरूप—यह श्वेतवर्ण, अष्टकोण महारत्न है। इसका काठिन्य १०, विशिष्ट गुरुत्व ३·५२ और द्रवणांक १५३० है। कभी कभी गुलाबी, हरा, नीला भी मिलता है किन्तु

पीला और काला नहीं मिलता। जो हीरा कसौटी पर घिसने से बिलकुल न घिसे तथा दूसरे धातुओं को क्षत कर दे वह उत्तम हीरा माना जाता है।

रासायनिक संघटन—यह विशुद्ध कार्बन है।

गुणकर्म

हीरकभस्म षड्रस, त्रिदोषघ्न, मेध्य, वृष्य, बल्य, रसायन और योगवाही है। हृद्रोग, राजयक्ष्मा, प्रमेह, पाण्डु, क्लैब्य, शोष आदि में प्रयुक्त होती है।

मात्रा—$\frac{1}{32}$-$\frac{1}{16}$ रत्ती।

विशिष्ट योग—कन्दर्पकोकिल, हीरकरसायन।

× × × ×

'सुस्मृतं हीरकं हृद्यं परमं षड्रसान्वितम्। योगवाहि मतं चैतत् सर्वोत्कृष्टं रसायनम्॥
राजयक्ष्मप्रशमनं मेहमेदोविनाशनम्। पाण्डुशोथोदरहरं तथा क्लैब्यहरं परम्॥
वृष्यं महापुष्पमतीव नेत्र्यं त्रिदोषघ्नमतीव वर्ण्यम्।
मेध्यं विशेषाद् विविधामयघ्नं सुधोपमं स्यात् सस्मृतं तु हीरम्॥' (र. त.)

२. माणिक्य

नाम—सं०-माणिक्य, पद्मराग, सौगन्धिक; हि०-मानिक; अ०-याकूत सुर्ख; अं०-रूबी (Ruby)।

स्वरूप—माणिक्य लाल कमल के सदृश रक्तवर्ण, मृदु और स्निग्ध होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ४ और काठिन्य ९ है।

प्राप्तिस्थान—बर्मा, सीलोन, श्याम आदि में इसकी खानें हैं। बर्मा में मोगक स्थान की माणिक्य खानें प्रसिद्ध हैं।

रासायनिक संघटन—यह अल्युमिनियम, लौह और क्रोमियम का ऑक्साइड है। इसका सूत्र $रुफ_2$ $ऊ_3$ लो ऊ क्रो ऊ है।

गुणकर्म

यह मधुर, स्निग्ध, शीतल, वातपित्तशामक, हृद्य, मेध्य, वृष्य और रसायन है। इसका प्रयोग उन्माद, भ्रम, हृद्रोग, उरःक्षत, क्षय और रक्तपित्त में करते हैं।

मात्रा—$\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ रत्ती।

विशिष्ट योग—माणिक्यमिहिरोदय।

× × × ×

'माणिक्यं सुस्मृतं मेध्यं मधुरं तु रसायनम्। दीपनं वृष्यमायुष्यं वातपित्तहरं परम्॥' (र.त.)
'माणिक्यं मधुरं स्निग्धं वृष्यं हृद्यं च दीपनम्। मेध्यं रसायनं बल्यं वातपित्तक्षयार्त्तिनुत्॥'

३. पुष्पराग

नाम—सं०-पुष्पराग, पुष्पराज; हि०-पुखराज; फा०-याकूत जर्द; अं०-टोपेज (Topaz)।

स्वरूप—यह अमलतास के पुष्प के सदृश पीतवर्ण या पीताभ श्वेत, मृदु, स्निग्ध और चतुष्कोण होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ३·५ और काठिन्य ७ है।

प्राप्तिस्थान—यह उत्तरी एशिया और बर्मा में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह अल्युमिनियम और सिकता का यौगिक है। इसका सूत्र $रुफ_2$ $फ्_2$ शै ऊ $नो_3$ है।

गुणकर्म

यह लघु, शीतवीर्य, कफवातशामक, दीपन, पाचन, अनुलोमन, कुष्ठघ्न, दाहप्रशमन, रसायन और विषघ्न है। इसका प्रयोग अर्श, कुष्ठ, विष और मस्तिष्क-दौर्बल्य में करते हैं।

मात्रा—$\frac{1}{4}$-१ रत्ती।

× × × ×

'पुष्पराजं तु शिशिरं दीपनं पाचनं परम्। कफवातप्रशमनं कुष्ठछर्दिनिबर्हणम्॥
विषघ्नं दाहशमनं गुदजामयनाशनम्। मेध्यं बृंहणमायुष्यं रसज्ञैः परिकीर्तितम्॥' (र. त.)

४. नील

नाम—सं०-नील; हि०-नीलम; अ०-याकूत कबूद; अं०-सेफायर (Sapphire)।

स्वरूप—यह नीलवर्ण, स्निग्ध, श्लक्ष्ण, गुरु, षट्कोण महारत्न है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ४ और काठिन्य ९ है।

प्राप्तिस्थान—यह जम्मू, विजयानगरम्, स्याम, लंका और बर्मा में खानों से आता है।

रासायनिक संघटन—यह अल्युमिनियम, क्रोमियम, टिटैनियम और स्फुरक का यौगिक है। इसका सूत्र स्फ$_2$ ऊ$_3$ भा ऊ क्रो टि ऊ$_3$ है।

गुणकर्म

नीलम त्रिदोषघ्न, दीपन, हृद्य, वृष्य, बल्य और रसायन है। इसका प्रयोग मस्तिष्क-दौर्बल्य, हृद्रोग, क्षय, अर्श, कासश्वास तथा कुष्ठ में करते हैं।

मात्रा—$\frac{1}{8}$-$\frac{1}{2}$ रत्ती।

× × × ×

'नीलं तु सुमृतं वृष्यं बल्यं दीपनमुत्तमम्। त्रिदोषशमनं वर्ण्यं गुदजामयनाशनम्।
'त्वच्यं कुष्ठादिदोषघ्नं श्वासकासनिषूदनम्।
हृद्यं मेध्यं विषहरं विषमज्वरनाशनम्॥' (र. त.)

५. तार्क्ष्य

नाम—सं०-तार्क्ष्य, मरकत, गारुत्मत; हि०-पन्ना; अ०-जमुर्रद; अं०-एमेरॉल्ड (Emerald)।

स्वरूप—यह गुरु, कोमल, स्निग्ध, अष्टकोण, हरितवर्ण महारत्न है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २·७५ तथा काठिन्य ७·५ है।

प्राप्तिस्थान—यह विन्ध्यप्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह बेरिलियम्, सिलिका, अल्युमिनियम और ऑक्सिजन का यौगिक है। इसका सूत्र ३ बेरि स्फ$_2$ ऊ$_3$ ६ श ऊ$_3$ है।

गुणकर्म

यह दीपन, रसायन, ओजोवर्धन और विषघ्न है। इसका प्रयोग ज्वर, श्वास, अर्श, पाण्डु और शोथ में करते हैं।

मात्रा—$\frac{1}{4}$-१ रत्ती।

× × × ×

'मृतं मरकतं बल्यं विषघ्नं वह्निदीपनम्। ओजोविवर्धनं वृष्यं पाण्डुशोफनिषूदनम्॥
श्वासच्छर्दिप्रशमनं गुदजामयनाशनम्। समाख्यातं विशेषेण सन्निपातविनाशनम्॥' (र. त.)

६. वैदूर्य

नाम—सं-वैदूर्य, वैडूर्य, बिडालाक्ष; हि०-लहसुनिया; अं०-कैट् आइ (Cat's eye)।

स्वरूप—यह गुरु, स्निग्ध तथा बिडालनेत्र के सदृश श्यामाभ भूरे रंग का होता है। यह निष्कोण होता है तथा इसके गर्भ में रेखायें होती हैं। इसका विशिष्ट गुरुत्व २·५ तथा काठिन्य ७·५ है।

रासायनिक संघटन—यह कार्बन, मैगनिशियम का यौगिक है। इसका सूत्र ६ शै ऊ$_2$ मै ऊ है।

गुणकर्म

यह मधुर, शीतवीर्य, दीपन, अनुलोमन, मेध्य, बल्य, रसायन और पित्तशामक होता है। इसका प्रयोग नेत्ररोग, रक्तपित्त, मस्तिष्कदौर्बल्य तथा क्षय में करते हैं।

मात्रा—½–१ रत्ती।

× × × ×

'वैदूर्यं रक्तपित्तघ्नं प्रज्ञायुर्बलवर्धनम्। पित्तप्रधानरोगघ्नं दीपनं मलमोचनम् ॥' (र. चू.)
'सुस्मृतं खलु वैदूर्यं मधुरं शिशिरं परम्। दीपनं मेध्यमायुष्यं बल्यं च मलभेदनम् ॥
रक्तपित्तप्रशमनं चक्षुष्यं बृंहणं परम्। पित्तामयप्रशमनं समाख्यातं विशेषतः ॥' (र. त.)

७. गोमेद

नाम—सं०-गोमेद; हि०-गोमेद; अं०-सिनामन स्टोन (Cinnamon Stone); हेसोनाइट (Hesonite)।

स्वरूप—यह गौ के मेद (चर्बी) या गोमूत्र के सदृश पिङ्गलवर्ण, स्निग्ध, श्लक्ष्ण और गुरु होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व ३·५, काठिन्य ५·५ तथा द्रवणांक १७१०° है। यह अपारदर्शक और निष्कोण होता है।

रासायनिक संघटन—यह कार्बन, स्फटिक, लौह और मैगनशियम का यौगिक है। इसका सूत्र शै ऊ$_2$ स्फ$_2$ ऊ$_3$ लो ऊ मै ऊ है।

गुणकर्म

यह कफपित्तशामक, दीपन, पाचन, त्वग्दोषहर तथा बल्य है। अग्निमांद्य, मस्तिष्क-दौर्बल्य, चर्मरोग, पाण्डु और क्षय में इसका प्रयोग होता है।

मात्रा—¾–१ रत्ती।

× × × ×

'गोमेदं कफपित्तघ्नं क्षयपाण्डुक्षयंकरम्। दीपनं पाचनं रुच्यं त्वच्यं बुद्धिप्रबोधनम् ॥' (र. चू.)
'गोमेदकं रुचिकरं दीपनं पाचनं परम्। त्वग्दोषशमनं बल्यं कफपित्तप्रणाशनम् ॥
उष्णं पाण्ड्वामयहरं क्षयक्षयकरं परम्। समाख्यातं विशेषेण बुद्धिसंवर्धनं तथा ॥' (र. त.)

८. वैक्रान्त

नाम—सं०-वैक्रान्त, विकृन्तक, क्षुद्रकुलिश।

स्वरूप—यह अष्टकोण, अष्टफलक, षट्कोण, स्निग्ध, श्लक्ष्ण और गुरु तथा श्वेत, नील, रक्त, पीत, श्यामल, हरित, चित्रित तथा कृष्ण इन आठ वर्णों का होता है। कुछ

प्राचीन रसग्रन्थों में सात ही वर्ण बतलाये गये हैं। इसका विशिष्ट गुरुत्व ३ तथा काठिन्य ७·५ है।

जाति—वर्णभेद से यह सात या आठ प्रकार का है। इनमें कृष्ण वैक्रान्त सर्वोत्तम माना गया है।[1]

प्राप्तिस्थान—यह अभ्रक की खानों में तथा बर्मा, लंका आदि में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह अनेक तत्वों के मिश्रण से बनता है। इसका सूत्र शै ऊ$_2$ पां ऊ$_2$ स्फ$_2$ ऊ$_3$ टे लो ऊ उ$_2$ ऊ है।

वक्तव्य—वैक्रान्त अभी तक संदिग्ध द्रव्य है। आचार्य यादव जी इससे रत्नप्रकरण में 'तुरमलीन' तथा महारस प्रकरण में 'मैंगनीज' लेते हैं। स्व. डा. वा. ग. देसाई ने इसे फ्लोर स्पार (Flour spar) या फ्लोराइट (Flourite) माना है जिसका समर्थन प्रो. कुलकर्णी जी ने किया है। स्व. डा. पी. सी. राय इससे स्फटिक का ग्रहण करते थे और श्री हरिशरणानन्द ने भी इसी के अनुसार वैक्रान्त से स्फटिक (बिल्लौर) का ग्रहण किया है। वह लिखते हैं—'इसे चाहे आप स्फटिकमणि कहें, चाहे बिल्लौर या वैक्रान्त एक ही चीज है।' भस्मविज्ञान प्र. भा. पृ. १३४ प्रसंग न होने से इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जायगा।

गुणकर्म

यह हीरक के तुल्य गुणवान् है और उसके अभाव में प्रयुक्त होता है। वैक्रान्तभस्म षड्रस, त्रिदोषघ्न, मेध्य, रसायन और योगवाही है। इसका प्रयोग ज्वर, कुष्ठ, पाण्डु, शोष, उन्माद, प्रमेह, कासश्वास और विष में करते हैं।

मात्रा—१/२४–१/१ रत्ती (भस्म)।

विशिष्ट योग—वैक्रान्तरसायन।

× × × ×

'अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः। श्वेतो रक्तश्च पीतश्च नीलः पारावतच्छविः॥
श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बुरः सप्तधा स्मृतः।' (र. चू.)

'श्वेतो नीलस्तथा रक्तः पीतः पारावतप्रभः।
तार्क्ष्याभः कर्बुरः कृष्णो वर्णतश्चाष्टधा हि सः॥' (र. त.)

'वैक्रान्तस्तु त्रिदोषघ्नः षड्रसो देहदार्ढ्यकृत्। पाण्डूदरज्वरश्वासकासयक्ष्मप्रमेहनुत्॥' (भा. प्र.)

'तत्तन्महागदहरः परमश्च मेध्यो वह्निप्रदीपनकरोऽतिरसायनश्च।
दोषत्रयापहरणो बहुयोगवाही वैक्रान्तकस्तु मथितः खलु वज्रतुल्यः॥' (र. त.)

६. सूर्यकान्त

नाम—सं०-सूर्यकान्त, सूर्यमणि, वह्निगर्भ, दीप्तोपल; हि०-सूर्यकान्तमणि; अं०-सनस्टोन (Sun-stone)।

स्वरूप—यह काच के सदृश श्वेतवर्ण, फलकरहित एक उपरत्न है जिससे सूर्यकिरणों की उपस्थिति में अग्नि उत्पत्ति होती है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २·५ तथा काठिन्य ५·५ है।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र सै$_2$ ऊ स्फ$_2$ ऊ$_3$ ६ शै ऊ$_2$ चू ऊ है।

---

१. 'पुनरयं वैक्रान्तकः सप्तधा। यद्यप्यस्ति तथापि कृष्णसुषमं तद्वच्मि सर्वात्मना॥' (र.प.)

गुणकर्म

सूर्यकान्त उष्णवीर्य, मेध्य, रसायन तथा कफवातशामक है।

मात्रा—¼-१ रत्ती।

× × × ×

'रविकान्तो भवेदुष्णो निर्मलश्च रसायनः।
वातश्लेष्महरो मेध्यो धारणाद्रवितुष्टिदः'॥' (भा. प्र.)

१०. चन्द्रकान्त

नाम—सं०-चन्द्रकान्त, चन्द्रोपल, शशिकान्त; हि०-चन्द्रकान्तमणि; अं०-मून स्टोन (Moon-stone)।

स्वरूप—यह स्निग्ध, मृदु, पीताभ फलकरहित उपरत्न है जो चन्द्रमा की रश्मियों से जलार्द्र हो जाता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २·५ तथा काठिन्य ६ है।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र पां स्फ $शै_3$ $ऊ_8$ सैं ऊ है।

गुणकर्म

चन्द्रकान्त स्निग्ध, शीत, पित्तशामक और हृद्य है। रक्तपित्त, दाह, ज्वर तथा हृद्रोग में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—¼-१ रत्ती।

× × × ×

'चन्द्रकान्तोऽतिशिशिरः स्निग्धः पित्तापहः परम्। रक्तपित्तप्रशमनो हृद्यो दाहनिषूदनः॥
(र. त.)

११. पेरोजक

नाम—सं०-पेरोजक, पेरोज; हि०-पेरोजा; फा०-फीरोजः; अं०-टर्कोइज (Turquoese)।

स्वरूप—यह भस्मवर्ण या हरितवर्ण दाल के सदृश दानों के रूप में होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २ और काठिन्य ४·५ है।

जाति—वर्णभेद से यह दो प्रकार का होता है—(१) भस्मवर्ण, (२) हरित।

प्राप्तिस्थान—यह ईरान और दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र स्फ $ऊ_3$ लो ता फा है।

गुणकर्म

यह कषाय, मधुर, शीत, दीपन, अनुलोमन, हृद्य और विषघ्न है। इसका प्रयोग, उदरशूल, विष, हृद्रोग और दूषीविष में करते हैं।

मात्रा—¼-१ रत्ती।

× × × ×

'पेरोजं हरिताश्मा च भस्मांगं हरितं द्विधा। पेरोजं सुकषायं स्यात् मधुरं दीपनं सरम्॥
स्थावरं जागमं चैव संयोगाच्चापि यद् विषम्। तत्सर्वं नाशयेच्छीघ्रं मूलभूतादिदोषजम्॥'

१२. राजावर्त्त

नाम—सं०-राजावर्त्त, नृपोपल, नीलाश्मा; हि०-लाजवर्द; अं०-लैपिस लेज्युल (Lapis Lazule)।

स्वरूप—यह चमकीला, श्लक्ष्ण, गुरु, नीलवर्ण उपरत्न है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २·३८ तथा काठिन्य ५·५ है।

परीक्षा—इसका चूर्ण जल में देने पर जल का रंग न बदले तो इसे शुद्ध समझना चाहिए।

प्राप्तिस्थान—ईरान, अफगानिस्तान, मध्य एशिया तथा राजस्थान में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र सैं$_4$(सैं व$_3$ स्फ) स्फ$_2$ (शै ऊ$_4$) है।

गुणकर्म

राजावर्त्त स्निग्ध, कटु, तिक्त, शीतवीर्य, पित्तशामक, दीपन, पाचन, ग्राही, हृद्य, रक्तशोधक, आर्त्तवजनन, बल्य और रसायन है। मदात्यय, पांडु, प्रमेह, क्षय, शोष, फिरंग आदि रक्तविकार में प्रयुक्त होता है। बाह्य प्रयोग नेत्ररोग में तथा शोथ में करते हैं।

मात्रा—$\frac{1}{4}$-१ रत्ती।

× × × ×

'नृपोपलः कटुस्तिक्तो दीपनः पाचनस्तथा। शिशिरः पित्तशमनो बृंहणोऽतिरसायनः॥
पाण्डुप्रमेहहरणः क्षयशोषनिबर्हणः। मदात्ययात्ययकरश्छर्दिहिक्कानिवारणः॥' (र. त.)

१३. स्फटिक

नाम—सं०-स्फटिक, सितोपल, शिवप्रिय; हि०-स्फटिक; म०-काचमणि; फा०-बिल्लोर; गु०-फंटक, बिलोर; अं०-रॉक क्रिस्टल (Rock Crystal), पेबल (Pebal)।

स्वरूप—यह षट्कोण या द्वादशकोण, स्निग्ध और कठिन होता है। यह काच को काटता है। इसका वर्ण प्रायः श्वेत होता है किन्तु लाल, पीले, भूरे आदि अनेक वर्ण के स्फटिक मिलते हैं। इसका विशिष्ट गुरुत्व २·७ तथा काठिन्य ७ है तथा द्रवणांक १७१° है।

प्राप्तिस्थान—काश्मीर, नेपाल, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र आदि।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र शै ऊ$_2$ है।

गुणकर्म

यह मधुर, शीत, बल्य तथा पित्तशामक है। ज्वर, दाह, रक्तपित्त तथा दौर्बल्य में में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—२-४ रत्ती।

× × × ×

'स्फटिको मधुरो बल्यस्तुषारसमशीतलः। रक्तपित्तप्रशमनो ज्वरदाहादिनाशनः॥ (र. त.)

१४. संगे यशब

नाम—सं०-हरिताश्म; हि०-संगयशब, हौलदिल; अ०-यशब, हजरुलयशब; फा०-यशम, संगे यशब; अं०-जेड (Jade)।

स्वरूप—यह हरिताभ, कठिन पत्थर है। इसकी खरल बनाई जाती है।

प्राप्तिस्थान—यह यारकन्द और लद्दाख में होता है।

रासायनिक संघटन—यह उदजन, मैगनीशियम तथा सिलिका का यौगिक है।

गुणकर्म

यह रूक्ष, शीत, स्तम्भन, हृद्य और मूत्रल है। प्रवाहिका, हृद्रोग, शूल, मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—२-४ रत्ती।

१५. अकीक

नाम—सं०-रक्ताश्म; हि०-अ०-फा०-अकीक; अं०-ऐगेट (Agate)।

स्वरूप—यह श्वेत, पीत, रक्त, नील और कृष्ण आदि अनेक वर्णों का एक कठिन पत्थर है। इनमें लाल अकीक श्रेष्ठ माना जाता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व २·४ तथा काठिन्य ६ है।

प्राप्तिस्थान—यह विन्ध्यप्रदेश में प्राप्त होता है। वैडूर्य और गोमेद के साथ ही यह प्रायः मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र ६ शै ऊ$_२$ स्फ$_२$ ऊ$_३$ लो ऊ में ऊ है।

गुणकर्म

यह रूक्ष, शीत, स्तम्भन तथा मेध्य है। हृद्द्रव, रक्तपित्त, प्रदर, शुक्रमेह तथा मानसिक रोगों में प्रयुक्त होता है। शीताद आदि दन्तरोगों में इसका मंजन करते हैं।

मात्रा—२-४ रत्ती।

१६. कहरुबा

नाम—सं०-तृणकान्तमणि; फा०-कहरुबा (कह=सूखी घास, रूबा=खींचनेवाली—इसको खूब रगड़ कर सूखे तृण के पास ले जाने से उसे आकर्षित कर लेता है); अं०-ऐम्बर (Amber); लै०-सक्सिनम् (Succinum)।

स्वरूप—यह एक अश्मीभूत राल है। यह पीताभ एवं रक्ताभ पीतवर्ण का होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व १·१ तथा काठिन्य २·२ है। रगड़ने से इससे निंबु के सदृश गन्ध आती है।

गुणकर्म

यह रूक्ष, अनुष्णशीत, स्तम्भन और हृद्य है। इसका प्रयोग हृद्रोग, रक्तपित्त तथा उरःक्षत में करते हैं। क्षत पर लगाते भी हैं।

मात्रा—पिष्टि-१-२ माशे।

पञ्चम अध्याय

सुधा-सिकता

१. चूर्ण

नाम—सं०-चूर्ण, सुधा; हि०-चूना; अ०-किल्स, नूरा; फा०-आहक; अं०-कैल्शियम (Calcium), लाइम (Lime)।

स्वरूप—यह श्वेतवर्ण का कोमल चूर्ण होता है। इसे पानी में देने से पानी गरम हो जाता है।

प्राप्तिस्थान—चूनापत्थर से पका कर यह प्राप्त किया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह कैल्शियम का यौगिक है।

गुणकर्म

बाह्य—यह लेखन है। चूर्णोदक शामक और स्तम्भन है।

आभ्यन्तर—यह पाचन, स्तम्भन और अम्लतानाशक है। वल्य भी है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

बाह्य—ग्रंथि, मशक आदि पर कली चूने का लेप करते हैं। चूने का पानी अतसी तैल या तिलतैल में मिलाकर अग्निदग्ध में लगाते हैं। विचर्चिका आदि चर्मरोगों में लगाते हैं। श्वेतप्रदर, पूयमेह, कर्णस्राव तथा तन्तुकृमि में चूर्णोदक की पिचकारी देते हैं। चूना नौसादर मिलाकर अपस्मार, मूर्च्छा आदि में नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर—अजीर्ण, अम्लपित्त, उदरशूल, ग्रहणी, अतिसार, छर्दि में प्रयुक्त होता है। विशेषतः वालरोगों में दिया जाता है। बलवृद्धि के लिए विशेषतः वालशोष में देते हैं। विष विशेषतः मल्लविष में लाभकर है।

मात्रा—¼-१ तो०।

विशिष्ट योग—चूर्णोदक, वालामृत।

× × × ×

'चूर्णोदकं क्रिमिहरमतीसारहरं परम्। अम्लपित्तप्रशमनं विशेषाद् दुग्धपाचनम्॥
शूलं ग्रहणिकां हन्ति खटीवद् गुणकारकम्। द्रावकाशनसंभूतां निहन्ति च विषक्रियाम्॥'
(र. त.)

२. खटिका

नाम—सं०-खटिका, कठिनी, लेखनमृत्तिका; हि०-खडिया, खल्ली; अं०-क्रीटा (Creta), चॉक (Chalk)।

स्वरूप—यह श्वेतवर्ण, स्वादगंधरहित चूर्ण है।

जाति—यह दो प्रकार की है:—१. खटी, २. गौर खटी।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र $CaCO_3$ है।

गुणकर्म

यह मधुर, कषाय, तिक्त, शीतवीर्य, कफपित्तशामक है।

बाह्यकर्म—यह स्तम्भन और शोषण है।

आभ्यन्तर-कर्म—अम्लतानाशन, स्तम्भन है।

प्रयोग

बाह्य—चर्मरोग, विसर्प, अग्निमन्थ में इसका मलहम लगाते हैं। दन्तमंजनों में इसका योग देते हैं। कषाय होने से यह दाँतों को दृढ करता, रक्त बन्द करता तथा मलों को दूर करता है।

आभ्यन्तर—अतिसार, अम्लपित्त तथा दाहक विषों में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—१-२ माशे।

× × × ×

'खटिका दाहास्रजिच्छीता मधुरा विषशोथजित्।' (भा. प्र.)
'खटिका शिशिरा तिक्ता मधुरा शोथनाशिनी। पित्तप्रशमनी कामं विविधव्रणरोपणी॥
'कफदाहास्रदोषघ्नी नेत्रामयनिषूदनी। हरिद्ग्रगातिसारघ्नो स्वेदातिस्रावहारिणी॥' (र.त.)

३. गोदन्ती

नाम—सं०-गोदन्ती, गोदन्त, हि०-गोदन्ती; अं०-कैलशियम सलफेट (Calcium Sulphate); जिप्सम (Gypsum)।

स्वरूप—यह गोदन्त के सदृश श्वेतवर्ण पिण्डों या दलयुक्त खण्डों के रूप में मिलता है।

रासायनिक संघटन—यह कैल्शियम और गन्धक का यौगिक है।

गुणकर्म

गोदन्तीभस्म शीतवीर्य वातपित्तशामक, ज्वरघ्न, शूलहर तथा बल्य है। इसका प्रयोग पित्तज्वर, विषमज्वर, शिरःशूल, कास, श्वास, क्षय, उरःक्षत, पाण्डु, बालशोष तथा श्वेत प्रदर में करते हैं।

मात्रा—१-३ माशे।

'गोदन्तं सुमृतं शीतं पित्तज्वरनिषूदनम्। जीर्णज्वरहरं बल्यं दीपनं श्वासकासनुत्॥' (र.त.)

४. सफेद सुरमा

नाम—हि०-सफेद सुरमा; फा०-सुर्मए सफेद; अं०-कैल्साइट (Calcite)।

स्वरूप—यह श्वेत दलयुक्त पिण्ड के रूप में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसका रासायनिक सूत्र $CaCO_4$ है।

गुण-कर्म

गोदन्ती के समान इसके गुणकर्म हैं। विशेषतः पूयमेह, स्वप्नदोष, रक्तपित्त तथा यकृद्विकार में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—१-२ माशे।

५. सिकता

नाम—सं०-सिकता, वालुका, शर्करा; हि०-वालू, रेत; अ०-रमल; फा०-रेग; अं०-सैण्ड (Sand); लै०-सिलिका (Silica)।

स्वरूप—नदियों में स्वादगंधरहित, वालुका के महीन श्वेतकण पाये जाते हैं। इससे काँच खुरच जाती है।

रासायनिक संघटन—यह शुद्ध सिलिका होती है। लौह के मिश्रण से इसमें लाल, पीले आदि रंग उत्पन्न हो जाते हैं।

गुणकर्म

बालुका मधुर, शीतवीर्य तथा स्तम्भन है। पकी बालुका की पोटली बनाकर आमवात में स्वेदन करते हैं। इसका चूर्ण व्रण, उरःक्षत आदि देते हैं हैं।

मात्रा—१-३ माशे।

× × × ×

'बालुका लेखनी शीता व्रणोरःक्षतनाशिनी (भा. प्र.)

'बालुका मधुरा शीता संतापश्रमनाशिनी। स्वेदप्रयोगतश्चैव शाखाशैत्यानिलापहा॥' (ध. नि.)

६. दुग्धपाषाण

नाम—सं०-दुग्धपाषाण; हि०-संगजराहत, दूधिया खड़ी; अ०-हज्रुल जराहत; फा०-संगेजराहत; अं०-टाल्क (Talc), सॉफ्ट स्टोन (Soft Stone)।

स्वरूप—यह खटिका के सदृश श्वेत, चिकना और चमकीला पत्थर है।

रासायनिक संघटन—यह मैगनीशियम और सिलिका का यौगिक (मैगनीशियम सिलिकेट) है।

गुणकर्म

दुग्धपाषाण शीतवीर्य, पित्तशामक और स्तम्भन है। इसका प्रयोग पित्तज्वर, रक्तपित्त, अतिसार और छर्दि में करते हैं। क्षत और व्रण में इसका चूर्ण छिड़कते हैं। दन्तमंजनों में भी डालते हैं।

मात्रा—१-२ माशे।

× × × ×

'दुग्धपाषाणको ग्राही व्रणरोपणकारकः। शोणितास्थापनः शीतो दन्तरोगहरस्तथा॥

७. कौशेयाश्म

नाम—सं०-कौशेयाश्म; दक्षिणभारत-कल्नार; फा०-संगे रेशम; अं-ऐस्बेस्टस (Asbestos)।

स्वरूप—यह रेशम के सूत्रों के सदृश कोमल, रक्ताभ, पीत या श्वेत पत्थर है।

रासायनिक संघटन—यह मैगनीशियम सिलिकेट है।

गुणकर्म

यह शीत और स्तम्भन है। दन्तपूय, प्रमेह तथा प्रदर में इसकी भस्म देते हैं। दन्तमंजनों में इसका चूर्ण देते हैं।

मात्रा—१-२ माशे (भस्म)।

८. नागपाषाण

नाम—सं०-नागपाषाण, नागाश्म; हि०-जहरमोहरा; फा०-जहरमोहरा; अ०-फाद्-जहरमादनी; अं०-सर्पेण्टाइन (Serpentine), ओफाइट (Ophite)।

स्वरूप—यह स्निग्ध, हलका, पीतहरित, श्वेत पत्थर है।

प्राप्तिस्थान—यह चीन, तिब्बत, खोतान, नेपाल आदि के पहाड़ों में मिलता है।

रासायनिक संघटन—यह मैगनीशियम और सिलिका का यौगिक है।

गुणकर्म

यह रूक्ष, उष्ण, मेध्य, हृद्य और विषघ्न है। हृद्द्रव तथा विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—२-८ रत्ती (पिष्टि)।

९. हज्रल् यहूद

नाम—सं०-बदराश्म, अश्मभिद्; हि०-बेरपत्थर; अ०-हज्रुल यहूद; फा०-संगे यहूद।

स्वरूप—यह छोटे बेर की आकृति का, लम्बगोल पत्थर है। बाहर से यह भूरा, झुर्रीदार तथा भीतर से हरिताभ श्वेत होता है।

रासायनिक संघटन—यह कैल्शियम सिलिकेट है।

गुणकर्म

यह अश्मरीभेदन और मूत्रल है। अश्मरी रोग में इसे देते हैं। मूत्राघात में बस्तिप्रदेश में लेप भी करते हैं।

मात्रा—४-८ रत्ती (पिष्टि)।

१०. काच

नाम—सं०-काच; हि०-काँच; अं०-ग्लास (Glass)।

स्वरूप—यह स्फटिकाकार एक पारदर्शक पदार्थ है जो कृत्रिम विधि से बनाया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह बालुका (सिलिका डाइऑक्साइड), Cao, सैन्धव या मैगनीशियम ऑक्साइड के मिश्रण से बनता है।

गुणकर्म

यह वातशामक, नाड़ीबल्य, अश्मरीनाशन है तथा आमवात, पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में और अश्मरीरोग में दिया जाता है।

मात्रा—४-८ रत्ती (भस्म)।

षष्ठ अध्याय

लवण-क्षार

लवण

निरुक्ति—'लूयते अनेन इति लवणम्' जो छेनन कर्म करे वह लवण है।

नाम—सं० लवण, हि०-नमक, अ०—अं०-साल्ट (Salt)।

स्वरूप—यह लवणरसयुक्त एक द्रव्य है जो शरीर के लिए आवश्यक उपादान माना जाता है।

जाति—पाँच प्रकार का लवण प्राचीनों ने माना है:-(१) सैन्धव, (२) सामुद्र, (३) विड, (४) सौवर्चल और (५) औद्भिद। इसे 'पंचलवण' कहते हैं। इनके अतिरिक्त, एक छठा लवण भी है-जिसे सांभर या रोमक कहते हैं।

रासायनिक संघटन—यह सोडियम क्लोराइड है।

गुण

गुण—किंचित् गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। **रस**—लवण।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तप्रदोष तथा वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यान्तर-पाचनसंस्थान—यह क्लेदन, रोचन, पाचन और भेदन है। अतिमात्रा में देने से शोथजनन और वामक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तकोपक है तथा रक्तभार को बढ़ाता है।
श्वसनसंस्थान—छेदन और कफनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रघ्न है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—स्वेदजनन है।
सात्मीकरण—वातुनाशन, शैथिल्यकर तथा बलक्षयकारक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ और वेदनायुक्त स्थानों में लवण का मर्दन करते हैं तथा उष्ण लवणोदक से प्रक्षालन करते हैं। गले के शोथ में लवणोदक से कुल्ला करते हैं। वातव्याधि में लवण से स्वेदन तथा लवणोदक से स्नान और अवगाहन आदि कराते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण तथा विबन्ध में प्रयुक्त होता है। विषों में विशेषतः सोरकाम्लीय रजत में वमन के लिए देते हैं। तन्तुकृमि में इसकी बस्ति देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—विसूचिका में रक्त गाढ़ा होने पर लवण जल का निक्षेप सिरा द्वारा करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

उत्सर्ग—लवण का उत्सर्ग मुख्यतः मूत्र से पोटाशियम क्लोराइड के रूप में होता है। किंचित् पुरीष तथा स्वेद से भी निकलता है। वृक्कशोथ, फुफुसशोथ, शोथ तथा अर्बुद में इसका उत्सर्ग कम हो जाता है।

अहित प्रभाव—लवण के अतिसेवन से मानसिक और शारीरिक शैथिल्य, पित्त-प्रकोप, रक्तभाराधिक्य, रक्तपित्त, तृष्णा, मूर्च्छा, संताप, विदार, मांसकोथ, कुष्ठ, विष, शोथ, दन्तभंग, नपुंसकता, इन्द्रियनाश, वलि, पालित्य, खालित्य, अम्लपित्त, विसर्प, वातरक्त, विचर्चिका आदि चर्मविकार उत्पन्न होते हैं।

× × × ×

'लवणमन्नद्रव्यरुचिकराणाम्।' (च. सू. २५)
'रोचनं लवणं सर्वं पाकि स्रंस्यनिलापहम्।' (च. सू. २७)

'लवणो रसः पाचनो क्लेदनो दीपनः च्यावनः छेदनो भेदनः तीक्ष्णः सरो विकासी अधःस्रंसी अवकाशकरो वातहरः स्तम्भबन्धसंघातविधमनः सर्वरसप्रत्यनीकभूतः आस्यमास्रावयति कफं विष्यादयति मार्गान् विशोधयति सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति रोचयत्याहारमाहारयोगी।' (च. सू. २६)

'लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नमनतिगुर्वनतिस्निग्धमुपक्लेदि विस्रंसनसमर्थमन्नद्रव्यरुचिकरम्। आपातभद्रं प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसंचयानुबन्धम्। तद्रोचनपाचनोपक्लेदनविस्रंसनार्थमुपयुज्यते।' (च. वि. १)

'स एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति, तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान्

स्फोटयति, दन्तांश्च्यावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलीपलितखालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्तवीसर्पवातरक्तविचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीन् विकारान् उपजनयति।' (च. सू. २६)

'तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति।......ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्येन्द्रलुप्तपालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति।'
(च. वि. १)

१. सैन्धव

नाम—सं०-सैन्धव, शीतशिव, पाणिमन्थ, सिन्धुज। हिं०-सेंधा नमक; अं०-रॉक साल्ट (Rock Salt)।

स्वरूप—यह खान से निकलने वाला चमकीला पत्थर के सदृश एक प्रकार का लवण है। यह सभी लवणों में श्रेष्ठ माना जाता है। यह तिगुने शीतजल में विलेय है।

जाति—यह व्यवहार में दो प्रकार का मिलता है—(१) श्वेत (२) रक्ताभश्वेत।

प्राप्तिस्थान—पञ्जाब, सिन्ध में खानों से निकलता है।

रासायनिक संघटन—यह सोडियम क्लोराइड है।

गुण-कर्म

सैन्धव लवण शीतवीर्य होने के कारण त्रिदोषशामक, रोचन, दीपन, चक्षुष्य, अविदाही और हृद्य है। अरुचि, अजीर्ण, शूल, विबन्ध में देते हैं। विश्वाची आदि में सैन्धव का टुकड़ा हाथ में रखते हैं।

विशिष्ट योग—लवणोत्तमादि चूर्ण, सैन्धवाद्य तैल, सैन्धवाद्य चूर्ण।

× × × ×

'प्रायो लवणं पित्तलमचक्षुष्यमन्यत्र सैन्धवात्।' (अ. सं. सू. १८)
'रोचनं दीपनं वृष्यं चक्षुष्यमविदाहि च।
त्रिदोषघ्नं समधुरं सैन्धवं लवणोत्तमम्॥' (च. सू. २७)
'चक्षुष्यं सैन्धवं हृद्यं रुच्यं लघ्वग्निदीपनम्।
स्निग्धं सुमधुरं वृष्यं शीतं दोषघ्नमुत्तमम्॥' (सु. सू. ४६)
'सैन्धवं लवणं स्वादु दीपनं पाचनं लघु।
स्निग्धं रुच्यं हिमं वृष्यं सूक्ष्मं नेत्र्यं त्रिदोषहृत्॥' (भा. प्र.)

२. सामुद्र

नाम—सं०-सामुद्र, सागरज। हिं०-पाँगा नमक, समुद्री नमक; बं०-करकच; म०-मीठ; गु०-मीठुं।

स्वरूप—यह समुद्रजल से तैयार किया जाता है।

प्राप्तिस्थान—गुजरात, काठियावाड़ में बनाया जाता है।

गुण-कर्म

सामुद्र लवण किंचित् तिक्त-मधुर, मधुरविपाक, शीतोष्ण, दीपन, भेदन और अनुलोमन है।

विशिष्ट योग—सामुद्राद्य चूर्ण।

× × × ×

'सामुद्रं मधुरं पाके सतिक्तं मधुरं गुरु। नात्युष्णं दीपनं भेदि सक्षारमविदाहि च॥
श्लेष्मलं वातनुत्तिक्तमरूक्षं नातिशीतलम्।' (भा. प्र.)

'सामुद्रं मधुरं पाके नात्युष्णमविदाहि च।
भेदनं स्निग्धमीषच्च शूलघ्नं नातिपित्तलम्' ॥ (सु. सू. ४६)

३. बिड

नाम—सं०-विडलवण, नरसार, चुल्लिकालवण। हि०-नौसादर; फा०-नौशादर; अं०-अमोनियम क्लोराइड (Ammonium Chloride)।

स्वरूप—यह श्वेत, स्फटिकीय, निर्गंध, दानेदार चूर्ण के रूप में होता है। तिगुने जल में घुलता है और घुलने पर पानी ठंढा हो जाता है।

प्राप्तिस्थान—यह पशुओं की विष्ठा, मूत्र आफि से बनाया जाता है, अतः इसे बिड लवण रहते हैं। ईंटे के भट्टे से भी प्राप्त किया जाता है।

रासायनिक संघटन—यह अमोनियम क्लोराइड (NH_4 CL) है।

गुण

गुण—लघु, सूक्ष्म, तीक्ष्ण। **रस**—लवण।
विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—शुष्कावस्था में तीक्ष्ण, लेखन और आर्द्र विलयन में शैत्यकारक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—संज्ञाप्रबोधन, नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, अनुलोमन है। अतिमात्रा में क्षोभक है।

रक्तहसंस्थान—रक्तकोपक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

उत्सर्ग—यह अपने रूप में तथा अधिकांश युरिया के रूप में मूत्र से निकलता है।

प्रयोग

दोषकर्म—वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—शिरःशूल, मूर्च्छा, अपस्मार, अपतंत्रक, गलशोथ, आदि में चूने के साथ मिलाकर नस्य देते है। इसका विलयन अभिघातजन्य शोथ, व्रणशोथ, कोथ, शिरःशूल-मोच आदि पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अपतंत्रक, कम्पवात, नाडीदौर्बल्य, शिरःशूल आदि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, शूल और विबन्ध में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, पार्श्वशूल में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में खिलाते हैं तथा बस्तिप्रदेश पर लगाते हैं।

तापक्रम—ज्वर में दिया जाता है।

× × × ×

'विडं सक्षारमूर्ध्वाधः कफवातानुलोमनम्। दीपनं लघु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रुच्यं व्यवायि च॥ विबन्धानाहविष्टम्भोदर्दगौरवशूलनुत्।' (भा. प्र.)

'सक्षारं दीपनं सूक्ष्मं शूलहृद्रोगनाशनम्।
रोचनं तीक्ष्णमुष्णं च विडं वातानुलोमनम्॥' (सु. सू ४६)

'तैक्ष्ण्यादौष्ण्याद्व्यवायित्वाद् दीपनं शूलनाशनम्।
ऊर्ध्वं चाधश्च वातानामानुलोम्यकरं विडम्॥' (च. सू. २७)

४. सौवर्चल

नाम—सं०-सौवर्चल, रुचक, अक्षपाक, धातुमत् , हि०-सोंचर, कालानमक।

स्वरूप—यह काले रंग का विशिष्टगंधयुक्त लवण है।

जाति—प्राकृत और कृत्रिम दो प्रकार का होता है।

प्राप्तिस्थान—प्राकृत पंजाब में पहाड़ों से प्राप्त किया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें लौह और गंधक भी होता है।

गुण

गुण—लघु, विशद, सूक्ष्म, स्निग्ध। **रस**—लवण, कटु।

विपाक—मधुर। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म-प्रयोग

यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, उद्गारशोधन और हृद्य है। गुल्म, शूल, विबन्ध, उदावर्त्त तथा हृद्रोग में देते हैं।

विशिष्टयोग—सौवर्चलादिगुटिका।

× × × ×

'रुचकं रोचनं भेदि दीपनं पाचनं परम्। सस्नेहं वातनुन्नातिपित्तलं विशदं लघु॥ (भा. प्र.)

'लघु सौवर्चलं पाके वीर्योष्णं विशदं कटु। गुल्मशूलविबन्धघ्नं हृद्यं सुरभि रोचनम्॥' (सु. सू. ४६)

'सौक्ष्म्यादौष्ण्याल्लघुत्वाच्च सौगन्ध्याच्च रुचिप्रदम्। सौवर्चलं विबन्धघ्नं हृद्यमुद्गारशोधि च॥' (च. सू. २७)

५. औद्भिद

नाम—सं०-औद्भिद लवण, पांशुलवण; हि०-खारी नोन, खरिया नमक।

स्वरूप—यह मलिनाभ एक प्रकार का लवण है जो क्षारीय मिट्टी (रेह) से तैयार किया जाता है।

प्राप्तिस्थान—यह ऊसर भूमि में होता है।

गुणकर्म

यह लवण कटु-तिक्त, क्षारीय तथा उत्क्लेद उत्पन्न करने वाला है।

× × × ×

'सतिक्तं कटु सक्षारं विद्याल्लवणमौद्भिदम्।' (सु. सू. ४६)

'सतिक्तकटु सक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम्।' (च. सू. २७)

६. साम्भर

नाम—सं०-साम्भर, रोमक, गड, शाकम्भरीय; हि०-साँभर लवण, साँभर नून।

स्वरूप—साँभर झील के जल से प्रस्तुत किया हुआ एक लवणविशेष है।

प्राप्तिस्थान—राजस्थान के साँभर झील से प्राप्त होता है।

गुणकर्म

यह तीक्ष्ण, उष्ण, कटुपाक, दीपन, भेदन और मूत्रल है। वातशामक तथा पित्तवर्धक है।

× × × ×

'गडाख्यं लघु वातघ्नमत्युष्णं मेदि पित्तलम्।
तीक्ष्णोष्णं चापि सूक्ष्मं चाभिष्यन्दि कटुपाकि च॥' (भा. प्र.)
'रोमकं तीक्ष्णमत्युष्णं व्यवायि कटुपाकि च।
वातघ्नं लघु विष्यन्दि सूक्ष्मं विड्भेदि मूत्रलम्॥' (सु. सू. ४६)

क्षार

नाम—सं०-क्षार (क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः[1]-जो जलांश को आकर्षित करे तथा धातुओं को गलावे उसे क्षार कहते हैं)। हि०-खार; अं० अल्कली (Alkali)।

स्वरूप—यह श्वेताभ, श्लक्ष्ण, पिच्छिल द्रव्य है जो जल में शीघ्र विलीन हो जाता है तथा आशु कार्यकर होता है। इसलिए शल्यतन्त्र में शस्त्रानुशस्त्रों से प्रधान माना गया है।[2]

जाति—गुणभेद से यह तीन प्रकार का है—(१) मृदु, (२) मध्य, (३) तीक्ष्ण। प्रयोगभेद से भी दो प्रकार का होता है—(१) पानीय, (२) प्रतिसारणीय।[3] पानीयअन्तःप्रयोग में तथा प्रतिसारणीय बाह्य प्रयोग में व्यवहृत होता है। पानीय प्रायः मृदु और प्रतिसारणीय तीक्ष्ण होता है।

प्राप्तिस्थान—यह खान से तथा वृक्षों को जलाकर उनकी भस्म से प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—यह मुख्यतः सोडियम, पोटाशियम, अमोनियम, कैलशियम तथा मैगनीशियम के हाइड्रॉक्साइड, कार्बोनेट, बाईकार्बोनेट, एसिटेट, साइट्रेट, टार्टरेट, नाइट्रेट होते हैं।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, पिच्छिल, श्लक्ष्ण।

रस—कटु, **अनुरस**-लवण, तिक्त, कषाय, मधुर।[4]

---

१. सु. सू. ११

२. 'शस्त्रानुशस्त्रेभ्यः क्षारः प्रधानतमश्छेद्यभेद्यलेख्यकरणात् त्रिदोषघ्नत्वात् विशेषक्रियावचारणाच्च।' (सु. सू. ११)

'नैवातितीक्ष्णो न मृदुः शुक्लः श्लक्ष्णोऽथ पिच्छिलः।
अविष्यन्दी शिवः शीघ्रः क्षारो ह्यष्टगुणः स्मृतः॥' (सु. सू. ११)

३. 'अथेतरस्त्रिविधो मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णश्च।
स द्विविधः प्रतीसारणीयः पानीयश्च॥' (सु. सू. ११)

४ 'अम्लवर्जान् रसान् क्षारे सर्वानेव विभावयेत्।
कटुकस्तत्र भूयिष्ठो लवणोऽनुरसस्तथा॥' (सु. सू. ११)

विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।[१] **प्रभाव**—त्रिदोषघ्न।[२]

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण क्षार त्वचा पर लगाने से क्षोभ और लालिमा होती है अतः यह लेखन और पाचन है। यह त्वचा पिच्छिल-भाग को विलीन कर उसे मृदु और स्वच्छ बनाता है। अतः यह विलयन और शोधन है। जलांश का शोषण करने के कारण यह शोषण, स्तम्भन और रोपण है।

आभ्यन्तर-पाचन संस्थान—मृदु क्षार दीपन, पाचन, अम्लतानाशन, अनुलोमन और क्रमिघ्न है। यह लालास्राव को बढ़ाता है। आमाशय में जाने पर यह कफांश को विलीन करता, अत्यम्लता को नष्ट करता है[3] और कार्बनडाइ ऑक्साइड को उत्पन्न करता है जो पुनः आमाशयिक स्राव को बढ़ा कर दीपन-पाचन और अनुलोमन कार्य करता है। आमाशयिक कला में क्षोभ द्वारा रक्तसंवहन बढ़ने से भी स्राव उत्पन्न होता है। अधिक मात्रा में देने से वामक होता है। क्षारीयता के कारण यह अग्न्याशयिक स्राव के परिमाण को कम करता है किन्तु उसकी कार्यक्षमता को बढ़ा देता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तकोपक है तथा पेशियों को क्षीण करता है जिससे अधिक मात्रा में चिरकाल तक लेने से रक्तविकार, शोथ और कार्श्य-दौर्बल्य उत्पन्न होते हैं।

श्वसनसंस्थान—क्षार छेदन होने के कारण श्वासमार्ग के कफ को पतला बनाकर उसे बाहर निकालता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रघ्न है तथा अतिसेवन से क्लैब्य उत्पन्न करता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है। यह मूत्र को क्षारीय बनाता है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—लेखन और विषघ्न है।

उत्सर्ग—मुख्यतः मूत्र द्वारा होता है। इसका शोषण और उत्सर्ग अतिशीघ्र होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह दद्रु-मंडल आदि चर्मरोग, ग्रन्थि, अर्बुद, भगन्दर, अर्श, दुष्टव्रण, आदि में इसको लगाते हैं। जांगम विषों के दंशस्थानपर भी लगाते हैं। श्वेत प्रदर में उत्तर बस्ति देते हैं। उपजिह्विका, अधिजिह्विका आदि में भी इसको लगाते हैं।

---

१. 'शुक्लत्वात् सौम्यः, तस्य सौम्यस्यापि सतो दहनपचनदारणादिशक्तिरविरुद्धा।' (सु. सू. ११)

२. 'नानौषधिसमवायात् त्रिदोषघ्नः।
स खलु आग्नेयौषधिगुणभूयिष्ठत्वात् कटुकः उष्णः॥' (सु. सू. ११)

३. अम्लेन सह संयुक्तः स तीक्ष्णलवणो रसः। माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति॥
माधुर्याच्छममाप्नोति वह्निरद्भिरिवाप्लुतः। (सु. सू. ११)

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, गुल्म, उदर, आनाह, श्लैष्मिक तथा पैत्तिक उदरशूल, अर्श, छर्दि, कृमि में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्त में अम्लतावृद्धि होने (Acidosis) पर इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः सन्धिवात, विसूचिका, मधुमेहजन्य संन्यास, गर्भावस्था की छर्दि तथा क्लोरोफार्मविष में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, शर्करा एवं मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—विषों में देते हैं। मेदोरोग में भी उपयोगी है।

मात्रा—१-२ माशे।

अहित प्रभाव—इसके अतिसेवन से पालित्य-खालित्य, दृष्टिदौर्बल्य, हृद्दौर्बल्य, क्लैब्य, कार्श्य, शैथिल्य, शिरःशूल, छर्दि तथा कम्पवात होते हैं।[1]

निवारण—क्षार का वर्जन तथा अम्ल-मधुर-स्निग्ध द्रव्यों के प्रयोग से लाभ होता है।

प्रयोग निषेध—रक्तपित्त, तीव्र ज्वर, पित्तप्रकृति बाल, वृद्ध, दुर्बल, भ्रम-मद-मूर्च्छा-तिमिर रोगी को क्षार का सेवन न करावे।[2]

× × × ×

'स खलु''''''कटुक उष्णस्तीक्ष्णः पाचनो विलयनः शोधनो रोपणः शोषणःस्तम्भनो लेखनः कृम्यामकफकुष्ठविषमेदसामुपहन्ता पुंस्त्वस्य चातिसेवितः। स द्विविधः प्रतिसारणीयः, पानीयश्च। तत्र प्रतिसारणीयः कुष्ठकिटिभदद्रुकिलासभगन्दरार्बुदार्शोदुष्टव्रणनाडीचर्मकीलतिलकालकन्यच्छव्यंगमशकबाह्यविद्रधिकृमिविषादिषूपदिश्यते। सप्तसु च मुखरोगेषूपजिह्वाधिजिह्वोपकुशदन्तवैदर्भेषु तिसृषु च रोहिणीषु''''''। पानीयस्तु गरगुल्मोदराग्निसंगाजीर्णारोचकानाहशर्कराश्मर्याभ्यन्तरविद्रधिकृमिविषार्शःसूपयुज्यते।' (सु. सू. ११)

'क्षारः पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्यलाघवोपपन्नः क्लेदयत्यादौ पश्चाद् विशोषयति दहति, पचति, भिनत्ति संघातं, स पचनदहनभेदनार्थं प्रयुज्यते।' (च. वि. १)

१. यवक्षार

नाम—सं०-यवक्षार, यावशूक, पाक्य; हि०-जवाखार।

स्वरूप—यव के बालों को जलाकर क्षारविधि से प्रस्तुत यह एक पाण्डुरवर्ण क्षार है।

रासायनिक संघटन—इसमें मुख्यतः पोटाशियम क्लोराइड ५०·८, पोटाशियम सलफेट २०·२, पोटाशियम बाइकार्बनेट १२·६ तथा पोटाशियम कार्बोनेट ६·८ प्रतिशत है।

---

१ 'सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपद्यते,''तस्मात् क्षारं नात्युपयुञ्जीत।' (च. वि. १)

'Tonic doses of alkalies, or when Continued in large doses, Cause alkalosis giving rise to headache, Vomiting, general prostration and possibly tetany due to diminished Calcium in plasma.' (R. ghosh.)

२. 'अहितस्तु रक्तपित्तज्वरितपित्तप्रकृतिबालवृद्धदुर्बलभ्रममदमूर्च्छातिमिरपरीतेभ्योऽन्येभ्यश्चैवंविधेभ्यः।' (सु. सू. ११)

गुणकर्म

यवक्षार लघु, स्निग्ध, कटु, उष्णवीर्य और कफवातशामक है। आमदोष, अम्लपित्त, उदरशूल, गुल्म, अर्श, ग्रहणी, प्लीहा, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, कास, श्वास, हृद्रोग और विष में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—४-८ रत्ती।

विशिष्टयोग—क्षारघृत, क्षारगुटिका।

× × × ×

'निहन्ति शूलवातामश्लेष्मश्वासगलामयान्। पाण्ड्वर्शोग्रहणीगुल्मानाहप्लीहहृदामयान्॥' (भा. प्र.)

हृत्पाण्डुग्रहणीरोगप्लीहानाहगलग्रहान्। कासं कफजमर्शांसि यावशूको व्यपोहति॥' (च. सू. २७)

'यवक्षारः कटूष्णश्च कफवातोदरार्त्तिजित्। आमशूलाश्मरीकृच्छ्रविषदोषहरः सरः॥' (ध. नि.)

'यवक्षारः लघुः स्निग्धो दीपनः पाचनः परम्। गुल्मप्लीहामयहरः कफहा वातनाशनः॥
शूलानाहोदराध्मानमूत्रकृच्छ्रप्रणाशनः। कण्ठामयहरो हृद्यश्चाम्लपित्तहरः सरः॥
औपसर्गिकमेहोत्थफलशोथनिवारणः। स्वेदप्रवर्त्तकश्चैव भिषग्भिर्मूत्रलो मतः॥' (र. त.)

२. स्वर्जिकाक्षार

नाम—सं०-स्वर्जिकाक्षार, सुवर्चिका, हि०-सज्जीखार।

स्वरूप—यह भी यवक्षार के सदृश एक वानस्पतिक क्षार है। क्षुद्रदुरालभा (लाना) नामक वनस्पति को जला कर इसे बनाते हैं।

प्राप्तिस्थान—पञ्जाब और सिन्ध में यह बहुत होता है।

रासायनिक संघटन—यह सोडियम बाइकार्बोनेट (Nahco3) है।

गुणकर्म

यह कटु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, दीपन-पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न तथा दारण है। व्रण पर यवक्षार के साथ इसका लेप करने से वह फूट जाता है। शूल, गुल्म, आध्मान, विबन्ध, अर्श, प्लीहा, कृमि, ज्वर और कास-श्वास में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—३-१२ रत्ती।

× × × ×

'स्वर्जिकाऽल्पगुणा तस्माद् (यवक्षारात्) विशेषाद् गुल्मशूलहृत्।' (भा. प्र.)

'तीक्ष्णोष्णो लघुरूक्षश्च क्लेदी पक्ता विदारणः।
दहनो दीपनश्छेत्ता स्वर्जिक्षारोऽग्निसंनिभः॥' (च. सू. २७.)
'ज्ञेयौ वह्निसमौ क्षारौ स्वर्जिकायावशूकजौ।
शुक्रश्लेष्मविबन्धार्शो गुल्मप्लीहविनाशनौ॥' (सु. सू. ४६.)

३. टंकण

नाम—सं०-टंकण, सौभाग्य। हि०-सुहागा; फा०-तंकार; अं०-बोरैक्स (Borax)।

स्वरूप—गंधरहित, शुभ्र, पारदर्शक स्फटिकीय कणों के रूप में होता है। अशुद्ध टंकण पाण्डुवर्ण होता है। यह २५ गुने जल तथा समानभाग गिलसरीन में विलेय है। मद्यसार में अविलेय है।

प्राप्तिस्थान—यह भूटान, तिब्बत, नेपाल, ईरान आदि देशों में क्षारीय तालावों के किनारे पाया जाता है। तालावों के जल से भी इसे बनाते हैं।

रासायनिक संघटन—यह सोडियम बाइबोरेट ($Na_2 B_4 O_7$ lo H_2O) है। इस पर गंधकाम्ल की क्रिया से टंकणाम्ल (Boric acid) प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण। **रस**—कटु, लवण।
विपाक—कटु। **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, स्तम्भन, रोपण तथा दुर्गन्धनाशन है।

आभ्यन्तर—अम्लतानाशन, दीपन, अनुलोमन, कफनिःसारक, आर्त्तवजनन और मूत्रल और विषघ्न है। यह मूत्रगत जीवाणुओं को नष्ट भी करता है।

दोषप्रयोग—मुख्यतः कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका मलहम बनाकर व्रणों में लगाते हैं। दद्रु आदि चर्मरोगों में भी लगाते हैं। नेत्ररोगों में तथा श्वेतप्रदर, पूयमेह, कर्णस्राव आदि में इसके द्रव से प्रक्षालन करते हैं। पारदजन्य लालास्राव तथा मुख, गले के रोगों में इससे कुल्ला करते हैं। मुखपाक, गले एवं मसूड़ों के व्रण में मधु मे मिलाकर लगाते हैं। योनि एवं गुदकण्डू में इसके द्रव से प्रक्षालन करते हैं। अंगुलियों में पानी लगने से जो सड़न और दुर्गन्ध होती है, उसमें प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर—अजीर्ण, उदरशूल, कास-श्वास, रजोरोध, कष्टप्रसव, मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्रदुर्गन्ध तथा विष, विशेषतः वत्सनाभविष में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—४-८ रत्ती।

विशिष्टयोग—टंकणामृतमलहर, टंकणाम्लद्रव, सौभाग्यवटी, लवंगचतुःसम, रजःप्रवर्त्तनी, चन्द्रामृत।

विषाक्त लक्षण—अतिमात्रा में या चिरकालिक सेवन से, अग्निमांद्य, छर्दि, अतिसार, दौर्वल्य, अलब्युमिनमेह, खालित्य। कुष्ठ, शोथ आदि उपद्रव उत्पन्न करता है।

निवारण—मधुर-अम्ल-स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करे।

वक्तव्य—यवक्षार और स्वर्जिकाक्षार इन दोनों को एकत्र 'क्षारद्वय' तथा उसमें टंकण मिला देने से क्षारत्रय कहते हैं।

× × × ×

'टंकणः कटुरुष्णश्च रूक्षस्तीक्ष्णश्च सारकः। कफविश्लेषणो हृद्यो वातामयनिषूदनः॥
कासश्वासहरः कामं स्थावरादिविषापहः। अग्निदीप्तिकरश्चापि भृशमाध्माननाशनः॥
स्त्रीपुष्पजननो बल्यो विविधव्रणसूदनः। पित्तकृच्च समाख्यातो मूढगर्भप्रवर्तकः॥' (र. त.)
'टंकणं वह्निकृद्रूक्षं कफहृद्वातपित्तकृत्।' (भा. प्र.)

४. स्फटिका

नाम—सं०-स्फटिका, स्फटिकारिका, तुवरी, कांक्षी, सौराष्ट्री (सौराष्ट्र में उत्पन्न) हि०-फिटकिरी; अ०-शिब्ब; अं०-ऐलम (Alum).

स्वरूप—यह शुभ्र, पारदर्शक स्फटिकाकार खण्डों में होती है। जल तथा ग्लिसरीन में विलेय और मद्यसार में अविलेय है।

जाति—व्यवहार में दो प्रकार की मिलती है-(१) श्वेत (२) रक्ताभ।

प्राप्तिस्थान—यह कृत्रिम रीति से बनाई जाती है।

रासायनिक संघटन—अल्युमिनियम सलफेट तथा पोटाशियम सलफेट के योग से यह बनती है। इसके सत्त्वपातन से अल्युमिनियम प्राप्त होता है।

गुण-कर्म

कषाय, मधुर, अम्ल, लेखन, स्तम्भन, ज्वरघ्न, कृमिघ्न और विषघ्न है।

बाह्य-प्रयोग—रक्तस्राव, व्रण, क्षत, दंश, विचर्चिका, कण्डू, नेत्ररोग आदि में प्रयोग करते हैं। श्वेतप्रदर, पूयमेह, कर्णस्राव आदि में उत्तरबस्ति देते हैं। मुख और गले के शोथ में इससे कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-प्रयोग—अतिसार, रक्तातिसार, कृमि, विषमज्वर एवं विषों में देते हैं। विशेषतः नागविष में उपयोगी है। तन्तुकृमि में इसकी बस्ति देते हैं।

मात्रा—२-५ रत्ती।

विशिष्ट योग—फुल्लिका द्रव।

शोषण और उत्सर्ग—यह अलब्युमिनेट के रूप में शोषित होता है और मुख्यतः पुरीष तथा कुछ त्वचा, पित्त और मूत्र से निकलता है।

अहित प्रभाव—अति मात्रा (२-४ माशे) देने पर वमन, अतिसार, शूल आदि लक्षण होते हैं।

निवारण—मधुर-स्निग्ध-शामक पदार्थ देना चाहिए।

× × × ×

'स्फुटिका तु कषायोष्णा वातपित्तकफव्रणान्। निहन्ति श्वित्रवीसर्पान् योनिसंकोचकारिणी॥'
(भा. प्र.)

'कांक्षी कषाया कटुका च तिक्ता ख्याता तथोष्णा विषदोषहन्त्री।
वीसर्पकण्डूतिहरा च केश्या श्वित्रापहा वै व्रणरोपणी च॥
नेत्ररोगप्रशमनी विषमज्वरनाशिनी। रतिमन्दिरसंकोचकारिणी व्रणहारिणी॥
ग्राहिणी लेखनी स्निग्धा रुधिरस्रावरोधनी। मुखरोगहरा चैव दन्तदार्ढ्यकरा मता॥' (र. त.)

५. सोरक

नाम—सं०-सोरक, सौरक्षार, मृत्क्षार, कर्पूरशिलाजतु; हिं०-शोरा, कलमी शोरा; अ०-अब्कर; फा०-शोरः; अं०-पोटाशियम नाइट्रेट (Potassium nitrate), साल्ट पिटर (Salt petre)।

स्वरूप—यह श्वेत, स्फटिकीय षट्कोण दानों के रूप में होता है। चौगुने जल में विलेय है। ३३९° तापक्रम पर गल जाता है।

प्राप्तिस्थान—यह नत्रजनयुक्त क्षारीय भूमि से संग्रहीत होता है। सोडियम नाइट्रेट और पोटाशियम क्लोराइड के मिश्रण से बनता है।

रासायनिक संघटन—यह पोटाशियम नाइट्रेट ($K. No_3$) है।

गुणकर्म

यह लवण, कटु, तीक्ष्ण, उष्ण होता है। बाह्य प्रयोग शीतल एवं लेखन होता है। आभ्यन्तर रूप से यह दीपन, अनुलोमन तथा अधिक मात्रा में आमाशय का क्षोभक है।

यह हृदय को क्षीण और मन्द करता है, रक्तकणों की ओषजनीकरण-क्रिया कम करता है तथा रक्तस्कन्दन को रोकता है। यह श्लेष्महर, किंचित् स्वेदजनन, ज्वरघ्न एवं शोथहर है। इसकी वृक्कों पर विशिष्ट क्रिया होती है जिससे यह प्रभूत मूत्रल है।

प्रयोग

बाह्य—मूत्राघात में बस्तिप्रदेश पर इसका लेप करते हैं। श्वास, हिक्का में इसका नस्य लेते हैं।

आभ्यन्तर—आध्मान, अजीर्ण, आमवात, शिरःशूल, सन्धिवात, हिक्का, श्वास, पाण्डु, कामला, ज्वर, अश्मरी तथा मूत्राघात में दिया जाता है।

मात्रा—२-८ रत्ती।

विशिष्ट योग—श्वेत पर्पटी।

शोषण और उत्सर्ग—इसका शोषण शीघ्र होता है तथा उत्सर्ग उसी रूप में मुख्यतः मूत्र से तथा कुछ स्वेद और लाला से होता है। कुछ अंश नाइट्राइट में भी बदल सकता है।

अहित प्रभाव—अधिक मात्रा में लेने पर पाचनसंस्थान में क्षोभ होता है तथा रक्तवमन, रक्तातिसार, दौर्बल्य, मूर्च्छा, संन्यास और मृत्यु तक हो जाती है।

निवारण—मधुर-स्निग्ध पदार्थ देना चाहिए।

प्रयोगनिषेध—आमाशय, अन्त्र, मूत्राशय तथा वृक्क के शोथ में एवं हृद्दौर्बल्य में इसका प्रयोग निषिद्ध है।

× × × ×

'पाण्डुरं सिकताकारं कर्पूराद्यं शिलाजतु।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलापाण्डुनाशनम् ॥' (र. चू.)
'सोरकः कटुकस्तीक्ष्णो विदग्धाजीर्णनाशनः।
अश्मरीमूत्रकृच्छ्राग्निमान्द्यपाण्डुप्रमेहनुत् ॥' (र. त.)

६. मृत्तिका

नाम—सं०-मृत्तिका; हि०-मिट्टी; अं०-स्वायल (Soil)।

जाति—अनेक प्रकार की होती है।

प्राप्तिस्थान—सर्वत्र सुलभ है।

रासायनिक संघटन—इसमें अनेक क्षार मिले रहते हैं।

गुण-कर्म

यह रूक्षण, स्वेदन, दाहप्रशमन तथा शोथहर है। कच्ची गिली मिट्टी का लेप दाह में करते हैं। पक्की मिट्टी का प्रयोग स्वेदन के लिए करते हैं। वल्मीकमृत्तिका का लेप ऊरुस्तम्भ के लिए प्रशस्त माना गया है।[1]

---

१. वल्मीकमृत्तिका मूलं करंजस्य फलं त्वचम्।
पिष्ट्वा सर्षपमूलं तु व्युषितं स्यात् प्रलेपनम् ॥ (च. चि. २७)

ग्रन्थ में वर्णित द्रव्यों के विविध भाषाओं के नामों की अकारादिक्रम शब्दसूची



शब्दसूची



INDEX

A

संशोधित ! परिवर्द्धित !! द्वितीय संस्करण !!!

आयुर्वेदप्रदीप

(आयुर्वेदिक-एलोपेथिक गाइड)

लेखक—आयुर्वेदाचार्य राजकुमार द्विवेदी डी. आई. एम. एस.

संपादक—आयुर्वेदाचार्य श्री गङ्गासहाय पाण्डेय ए. एम. एस.

प्रोफेसर, आयुर्वेदिक कालेज, हिन्दूविश्वविद्यालय, काशी

पृष्ठ संख्या लगभग ९००, उत्तम कागज, चमकता टाईप, आकर्षक जिल्द। मूल्य १०)

यह पुस्तक बेजोड़ तथा अद्वितीय है। अभी तक राष्ट्र भाषा में लिखी हुई सामान्य चिकित्सकों के लिए उपयोगी चिकित्सा के निमित्त ऐसी कोई भी पुस्तक उपलब्ध नहीं है। इसमें प्राच्य तथा पाश्चात्य विषयों का समन्वयात्मक वर्णन है। इस पुस्तक में आयुर्वेद का इतिहास, उसका प्रसार तथा अन्य पद्धतियों का जनक होना स्पष्टतया वर्णित है। इस पुस्तक से सर्वसाधारण लाभ उठा सकते हैं, यह इसकी विशेष महत्ता है। इसमें शरीर-रचना, शरीर-क्रिया, प्रणाली विहीन ग्रन्थियों का विशद वर्णन, रक्त, रक्तपरिभ्रमण, मूत्र-परीक्षा, रोगी-परीक्षा, विटामिन, विभिन्न प्रकार के संक्रामक रोग तथा उनसे बचने के उपाय, पथ्यनिर्माण विधि, विभिन्न व्याधियों में प्रयुक्त होने वाले पथ्य, आयुर्वेदिक तथा एलोपैथिक पारिभाषिक शब्दों तथा संयोग विरुद्ध द्रव्यों का उल्लेख, त्रिदोषविज्ञान, मल, दोष, धातु विवरण, व्यवस्थापत्र लेखन विधि, वैक्सीन, सीरम, पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमायोसीन, सल्फाश्रेणी की ओषधियों का विशद वर्णन, ओषधि-निर्माण विधि, ओषधि तथा व्याधियों की हिन्दी, अंग्रेजी नामावली, स्वास्थ्यविज्ञान, प्रसूतिचर्या, शिशुचर्या, रोगी परिचर्या, शल्यकर्म विधि, संज्ञाहरण विधि, संज्ञाहारक ओषधियाँ, महामारी जैसे हैजा, प्लेग का प्रतिवन्ध तथा चिकित्सा, चूर्ण, क्वाथ, मलहम, लिनिमेण्ट, एक्वा, घोल, मिक्श्चर, पिल्स, टेब्लेट सीरप तथा वर्ति आदि का निर्माण, चिकित्सा प्रारम्भ करने का नियम, चिकित्सा सम्बन्धी आवश्यकीय उपकरण, चिकित्सक के वैधानिक कर्तव्य तथा अधिकार, व्यवहारायुर्वेद, स्वास्थ्य-विज्ञान तथा विषविज्ञान आदि का आयुर्वेदिक तथा एलोपैथिक पद्धतियों से वर्णन किया गया है। नाना प्रकार के स्नान, सेक, मूत्रनिरहरण, वस्ति, विसंक्रमण करने की विधि, जीवाणुनाशक ओषधियों का वर्णन भी यथा स्थान किया गया है। इनके अतिरिक्त नेत्ररोग, कर्णरोग, कण्ठरोग, तालुरोग, जिह्वारोग, दन्तरोग, ओष्ठरोग, चर्मरोग, स्त्रीरोग, बालरोग तथा शारीरिक व्याधियाँ जैसे गर्भपात, पाण्डु, संग्रहणी, अतिसार, प्रवाहिका, मलेरिया, कालाजार, रोमान्तिका, मसूरिका, श्वसनक ज्वर, टाइफाइड, फिरंग, पूयमेह, अजीर्ण, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, श्वास, कास, मूर्छा, अपस्मार, योषापस्मार, उदावर्त, शूल, गुल्म, वृक्करोग, मूत्राघात, अश्मरी, प्रमेह, शोथ, वृद्धि, श्लीपद, उन्माद तथा चर्मरोग प्रभृति नाना व्याधियों की उभय पद्धति के अनुसार योग, सूची तथा पेटेण्ट ओषधियों द्वारा चिकित्सा विस्तार से लिखी गई है। ये ओषधियाँ अनुभूत हैं जो विभिन्न चिकित्सकों के अनुभव से लाभप्रद सिद्ध हो चुकी हैं। इसकी महत्ता का जितना ही वर्णन किया जाय थोड़ा है।
